॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

स्थिति प्रकरण

पहला सर्ग

प्रसिद्ध चित्र से जगद्रूप चित्र की विलक्षणता

वर्णनपूर्वक सांख्य आदि के मतों का खण्डन कर ब्रह्ममात्रता का साधन।

उत्पत्ति प्रकरण में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक सब श्रुतिवाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में जगत के अध्यारोप प्रदर्शन द्वारा तटस्थलक्षणरूप से तात्पर्यदर्शनपूर्वक जगत और जीव के भेद का खण्डन कर प्रत्यग् ब्रह्मैकरसता का बोध कराया। अब 'येन जातानि जीवन्ति' (उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं), 'येन द्यौः पृथिवी दृढा' (जिससे द्युलोक और पृथिवी दृढ़ हैं), 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (हे गार्गि, इसी अक्षर की आज्ञा में नियमित होकर सूर्य और चन्द्रमा अपना-अपना कार्य करते हैं), 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवानन्दयाति' (यदि यह सर्व साक्षिभूत हृदयाकाश में स्थित बुद्धि गुहा में निहित आनन्दरूप आत्मा न होता, तो कौन निश्वास क्रिया करता और कौन उच्छ्वास क्रिया करता, यही आत्मा लोक को आनन्दित करता है) 'भीषास्माद्वातः पवते' (इसके भय से वायु बहता है), 'एको दाधार भुवनानि विश्वा' (जो अकेले सम्पूर्ण भुवनों को धारण करते हैं), 'य एको जालवानीशत ईशनीभिः परमशक्तिभिः' (जो अद्वितीय मायावी ईशनीनामक परमशक्तियों से इन लोकों के ऊपर शासन करता है), 'अनुज्ञाता ह्ययमात्मास्य सर्वस्य स्वात्मानं ददाति' (अनुज्ञा करनेवाला यह आत्मा इस सब जगत को अपनी आत्मा देता है यानी अपनी सत्ता से सत्तावान करता है) इत्यादि वर्तमान जगत की स्थिति के निर्वाह का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का और 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टि के पहले यह सत् ही था), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (यह जगत सृष्टि के पूर्व में अद्वितीय आत्मा ही था) इत्यादि प्रलयकाल में जगत की सत्ता के निर्वाह का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का भी पुरुषों की बुद्धि की विचित्रता से उत्पन्न हुए विविध तात्पर्यों के उत्प्रेक्षण से युक्त भ्रान्तिजनित वैचित्र्य के निरास द्वारा सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म में सच्चिद्रूपता के उपपादन द्वारा और तटस्थ लक्षण के तात्पर्य के प्रदर्शन द्वारा विस्तारपूर्वक उपपादित ब्रह्मैक्यज्ञान को स्थिर करने के लिए स्थिति प्रकरण का आरम्भ करते हुए भगवान श्रीवसिष्ठजी उत्पत्ति प्रकरण के साथ स्थिति प्रकरण की संगति दर्शाते हुए कहते हैं :

हे श्रीरामचन्द्रजी, उत्पत्ति प्रकरण के बाद आप इस स्थिति प्रकरण को सुनिये। उत्पत्ति स्थिति में

हेतु है, इसलिए इन दोनों प्रकरणों की हेतु मद्भाव संगति है। *एककार्यत्वरूप संगति भी दोनों की है, ऐसा कहते हैं।* जो स्थिति प्रकरण ज्ञात होने पर निर्वाणपद (मुक्ति) देता है ॥१॥

जगदुत्पत्ति में मिथ्यात्व दर्शाने के लिए पहले जो युक्ति दिखलाई हैं, वे स्थिति प्रकरण में समान हैं, ऐसा अतिदेश से दर्शाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जगतरूप से स्थित इस सम्पूर्ण दृश्य को और अहम् को आप आकाररहित भ्रान्तिमात्र और असन्मय जानिये ॥२॥ साधारण अन्य चित्र का कोई कर्ता होता है, वह रंग आदि उपकरणों से बनता है, भीत आदि आधार में बनाया जाता है, पर यह जगद्रूप चित्र अन्य चित्रों से विलक्षण है। न तो किसी कूँची, रंग आदि उपकरणों से युक्त कोई चितेरा है, न उपादानभूत रंजक पदार्थ हैं, न कोई आधार है, यह चित्र आकाश में उदित हुआ है। जिसका अनुभव होता है, वह चित्र अपने से भिन्न द्रष्टा के रहने पर ही अनुभूत होता है। इससे अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है, इसलिए जगतरूप चित्र द्रष्टारहित अनुभवरूप है। निद्रा होने पर ही स्वप्न दिखाई देता है, पर यह जगद्रूप चित्र निद्रारहित स्वप्नदर्शन है ॥३॥ चित्त में स्थित भावी नगर के निर्माण की तरह यह उदित हुआ है। बन्दरों द्वारा शीत की निवृत्ति के लिए कल्पित गुंजाफल और गेरु आदि के कंकरों के संचय रूप अग्नि के ताप के तुल्य असद् होता हुआ भी कार्यकारी है। उससे भी बन्दरों की शीतनिवृत्ति होती है, यह ऐतिह्य प्रमाण से सिद्ध है इस आशयसे असद् होता हुआ भी कार्यकारी है, यह कहा ॥४॥ यह जगद्रूप चित्र ब्रह्म से अभिन्न है फिर भी जल में आवर्त के तुल्य ब्रह्म में अन्य सा स्थित है। यह जगद्रूप होता हुआ भी आकाश में सूर्य के प्रकाश के समान सर्वथा शून्य है ॥५॥ आकाश में दिखाई दे रहे रत्नों की कान्ति के समूह के तुल्य यह भित्तिरहित है। गन्धर्वों के नगर के समान दिखाई देता हुआ भी सदा आधाररहित है ॥६॥ मृगतृष्णा के जल के समान असत्य है; परन्तु सत्य के समान प्रतीति कराता है। मनोरथ कल्पित नगर के समान विस्तृत है, खूब अच्छी तरह अनुभव में आता है, किन्तु है असन्मय ॥७॥ कवियों द्वारा कल्पित कथा के पदार्थभूत नगर, पर्वत आदि अवयवों की प्रतीति के समान इसका स्वरूप है, यह किसी देश या काल में स्थित नहीं रहता, इसलिए असत् है। यह स्वप्न में देखे गये पर्वत के तुल्य सारहीन होता हुआ भी अत्यन्त दृढ़ है ॥८॥ यह जगद्रूप चित्र उलटकर रक्खे हुए इन्द्रनील मणि के बड़े भारी कड़ाहे के तुल्य देदीप्यमान भूताकाश के सदृश शून्यरूप है। शरत्काल के मेघ के तुल्य जब तक सामने रहता है तभी तक धूप के निवारण आदि में समर्थ, काटने के अयोग्य और अविच्छिन्न है ॥९॥ यह जगद्रूपी चित्र आकाशतल की नीलिमा के समान दिखाई देता हुआ भी वास्तविक नहीं है। स्वप्नांगना के रति के तुल्य भोगरूप अर्थक्रियाकारी होता हुआ भी असत्य है ॥१०॥ चित्रलिखित उद्यान के समान यह जगद्रूपी चित्र मकरन्द आदि से रहित होता हुआ भी सरस प्रतीत होता है। चित्रलिखित तेजरहित सूर्य और अग्नि के तुल्य प्रकाशमान स्थित है ॥११॥ अनुभव में आरूढ़ मनोराज्य के समान यह स्वतः असत्य है और फलतः भी अवास्तविक है। चित्रलिखित कमलों से पूर्ण तालाब के समान मकरन्द, पराग और सुगन्धि से रहित है। आकाश में स्फुरित हुए विविध वर्णोंसे युक्त, कल्पित आकारवाले, मूर्ति से रहित, चारों ओर से शून्य इन्द्रधनुष के समान यह जगद्रूप चित्र उदित हुआ है ॥१२-१३॥ परमात्मा के थोड़े से विचार से सूख रहा महाभूतरूपी कोमल पल्लवों से बनाया गया, जड़, सारहीन यह जगद्रूपी

चित्र वायु, सूर्य और मनुष्यों के थोड़े से आघात से सूख रहे कोमल पत्तों से रचित जलमय निःसार केले के खम्भे के तुल्य है ॥१४॥ नेत्र रोग से (रतौंधी से) देखे गये अन्धकार के चक्र के तुल्य जिसका रूप अत्यन्त असम्भावित है, ऐसा यह जगत्‌रूपी चित्र प्रत्यक्ष के तुल्य स्थित है। जल के बुद्‌बुदों के समान इसने अपने आकार की कल्पना कर रक्खी है। भीतर में यह शून्य है। इसका स्वरूप दैदीप्यमान है। आपाततः रमणीय होता हुआ भी परिणाम में अत्यन्त कटु है। इसके जन्म और मरण अविच्छिन्न हैं ॥१५,१६॥ कुहरे के समान यह विस्तार युक्त है और गृहीत होने पर कुछ भी नहीं है। सांख्यवादियों ने केवल जड़रूप से इसकी कल्पना कर रक्खी है। वेदान्तियों ने इसको अविद्यारूप माना है। माध्यमिक इसे शून्य मानते हैं। योगाचार्य क्षणिक होने के कारण कालतः इसे परमाणु तुल्य मानते हैं। सौत्रान्तिक और वैभाषिकों के मत में कालतः और देशतः परमाणु तुल्य है। वैशेषिक और नैयायिक इसको केवल देशतः ही परमाणुवत् मानते हैं और जैनियों ने इसे अनियत स्वभाव परमाणु के तुल्य माना है। इस प्रकार वादियों ने इसकी विविधरूप से कल्पना कर रक्खी है ॥१७॥

बाह्य जगत में उक्त न्यायको आध्यात्मिक जगत में भी दिखाते हुए कहते हैं।

मैं किंचित् भूतमय हूँ, इस प्रकार शून्य और भौतिकरूप से स्थित, ग्रहण किया जाता हुआ भी असत् निशाचर के तुल्य यह जगद्रूप चित्र स्थित नहीं है ॥१८॥

यदि ऐसा है, तो जगत स्वतः तो सत्ता शून्य है, ब्रह्मसत्तासे जगत का कोई स्पर्श नहीं है, ऐसी अवस्था में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवाही श्रुतियों का और उक्त श्रुतियों के अनुसारी व्यास, कपिल आदि के सूत्रों का सामंजस्य कैसे होगा ?

ऐसा समझते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं : हे भगवन्, बीज में अंकुर के समान महाप्रलय होने पर दृश्य पर (ब्रह्म) में रहता है, फिर उसीसे यह उत्पन्न होता है, इस प्रकार जो व्यास आदि ने कहा है, उसकी संगति कैसे होगी, यह आप कृपाकर मुझसे कहिये ॥१९॥ भगवन्, प्रलय में अपनी सत्ता से कारण में जगत है, इस प्रकार के बोधवाले कपिल आदि क्या अज्ञानी हैं अथवा ज्ञानी हैं ? यह बात मुझसे स्पष्टरूप से सब संशयों की शान्ति के लिए यथा योग्य कहिये ॥२०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलय में बीज में अंकुर के तुल्य यह दृश्य रहता है ऐसी अज्ञान भरी बात जो कहता है, उसका यह जगत की सत्यता में दृढ़ विश्वासरूप बालकपन ही है ॥२१॥ आगे कही जाने वाली मेरी युक्तियों को सुनिये। उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य है ऐसा जो कहता है, उससे पूछना चाहिये कि वह सामान्यसत्ता से है अथवा बीजादि की सत्ता से है या अंकुरादिकी सत्ता से है ? प्रथम पक्ष में उस अंकुरादिका किससे सम्बन्ध नहीं होगा। यानि सामान्यसत्ता सर्ववस्तु साधारण है, इसलिए उत्पन्न होनेवाले अंकुर आदि का सब वस्तुओं से सम्बन्ध प्राप्त हो जायेगा। यदि कहो, हमें दृष्टापत्ति है, तो खेत में अथवा अंकुरित बीज में देखा गया ही अंकुरादि वास्तविक है और कोठिला में रक्खे गये बीज में अथवा पत्थर के टुकड़े में यह अवास्तविक है, यह कैसे होगा ? दूसरे पक्ष में भी बीज सत्ता से अंकुरसम्बन्धका और घट, पटादि के सम्बन्ध का स्वरूपतः विलक्षणता का निरूपण न होने से जिसके साथ बीजका सम्बन्ध न हो ऐसी कौन सी वस्तु न होगी यानी धान आदि के बीज में सम्पूर्ण जगत की सत्ता प्राप्त होगी। यदि कहिये, इष्टापत्ति है, तो अंकुरित बीज में अंकुर आदि ही वास्तविक है; घट, पट आदि वास्तविक नहीं हैं, यह कैसे होगा ? तीसरे पक्ष में अंकुर

की स्वरूपसत्ता से बीजसम्बन्ध का और घट आदि के सम्बन्ध का भेदनिरुपण न होने से जिसके साथ अंकुरसत्ता का सम्बन्ध न हो, ऐसी कौन वस्तु होगी अर्थात् सर्वत्र अंकुर के सद्‌भाव का प्रसंग होगा, यदि इष्टापत्ति मानिये, तो बीज आदि में अंकुर आदि वास्तविक हैं अन्यत्र नहीं हैं, यह कैसे होगा ? दूसरी बात यह भी है कि साधारण सत्ता से असाधारण अंकुर आदि है, कारण सत्ता से कार्य है और कार्यसत्ता से कारण है । इन तीनों पक्षों में भी पूर्वोक्त उक्तिका सम्भव नहीं घटता, इसलिए यह बोध विपरीत ही है। यह श्रोता और वक्ता दोनों को मोह में डालनेवाला है ॥२२॥

बीज में अंकुर के समान प्रलय में जगत है, यह दृष्टान्त विषम है; क्योंकि कूटस्थचिदेकरस आत्मा में बीजत्व का ही सम्भव नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

बीज में अंकुर के तुल्य प्रलय में जगत है, इस प्रकार की प्रलय में जगत सत्ता का दृष्टान्त देने के लिए जो बुद्धि है, वह भ्रान्ति है। कैसे भ्रान्ति है ? यह यदि कहिये, तो सुनिये ॥२३॥ स्वयं दृश्य बीज चित्तादि इंद्रियों का गोचर है, इसलिए तुषसहित जवादि धान्यों में अंकुर आदि की उत्पत्ति उचित है। जो स्वयम्भू पदार्थ पाँच इंद्रियों और छठे मन का अगोचर है और अत्यन्त अणु है, वह जगतों का बीज होने में कैसे समर्थ हो सकता है। भाव यह है कि जिसमें बीजत्व ही दुर्घट हो, उसमें जगतकी स्वसत्ता से स्थिति तो बहुत दूर की बात ठहरी ॥२४,२५॥ आकाश से भी सूक्ष्म सम्पूर्ण नामों से रहित परमात्मामें बीजता कैसी और कैसे हो सकती है ? ॥२६॥

इस प्रकार तत्त्वदृष्टि से बीजत्व का परमात्मा में असम्भव कहते हैं।

वस्तुतः सदेकरस भी वह सूक्ष्म होने के कारण नहीं दिखाई देने से असत् के तुल्य प्रतीत होता है, इसलिए असत् ही है। इस प्रकार के परमात्मा में बीजता कैसे और बीज के अभाव में जगदंकुर की उत्पत्ति कैसे ? आकाश की अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म शून्य उस परम पद में जगत, मेरु, समुद्र, आकाश आदि कैसे स्थित हैं ? ॥२७,२८॥ जो वस्तु कुछ भी नहीं है, उस वस्तु में कुछ भी कैसे रह सकता है ? यदि है तो वहाँ पर रहती हुई वह क्यों नहीं दिखाई देती ? 'अर्थात् आदेशों नेति नेति' इस श्रुति से सबके निषेधस्वरूप आत्मा से क्या वस्तु, कैसे और कहाँ से उत्पन्न होगी शून्यरूप घटाकाश से कहाँ, कैसे और कब पर्वत उत्पन्न हुआ यानी शून्यरूप घटाकाश से जैसे पर्वत का उत्पन्न होना असम्भव है वैसे ही सर्वनिषेधस्वरूप परमात्मा से इसकी उत्पत्ति का सम्भव नहीं है ॥२९,३०॥

चिदेकरससत्ता जड़ अनेकरससत्ता की विरोधिनी है, इसलिए भी चिदेकरससत्ता में जगतसत्ता की सम्भावना नहीं की जा सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे धूप में छाया नहीं रह सकती, जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं रह सकता और जैसे अग्नि में हिम नहीं रह सकता वैसे ही अपनी विराधी चिदेकरससत्ता में जगत की सत्ता कैसे रह सकती है ? यानी नहीं रह सकती है ॥३१॥

भले ही भेद से परमात्मा में जगत की स्थिति न हो, उसके साथ अभेद से तो उसकी स्थिति होगी ही, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

अणु में मेरु कैसे रह सकता है ? निराकार परमात्मा में यह जगत कैसे स्थित हो सकता है ? छाया और प्रकाश के तुल्य परस्पर भिन्न रूपों की एकता कहाँ हो सकती है ? ॥३२॥ साकार वटबीज आदि

में अंकुर है, यह बात तो युक्ति–युक्त है, लेकिन आकार रहित परमात्मा में यह विशालकाय जगत है, यह कहना तो अनहोनी है ॥३३॥

यहाँ पर यह विचार करना चाहिये कि सांख्यवादियों ने कारण में जगत की सत्ता की जो कल्पना कर रक्खी है, वह क्या लौकिक प्रमाण के बलसे कर रक्खी है अथवा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति के बल से कर रक्खी है, पहला पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो बुद्धि आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति से दृश्य यानी अनुभव के योग्य घट, पट आदि हैं, वे अपने अधिकरण देश से अन्य देश में या अपने अधिकरणकाल से अतिरिक्त काल में स्वयं द्रष्टा रहने या अन्यपुरुष के द्रष्टा रहने और न रहने पर तत्–तत् प्रकार के प्रत्यक्ष, अनुमान आदि बुद्धिवृत्तिरूप बोध में नहीं हैं यानी भासित नहीं होते हैं। अतः उक्त दृश्य के अदर्शन आदि के योग्य अनुपलब्धि से कुछ भी नहीं हैं यानी असत् ही हैं, ऐसा सब लौकिक प्रामाणिक कहते हैं, इसलिए प्रलय में जगत के सद्भाव की कल्पना सब लौकिकों की अनुपलब्धि से विरुद्ध है, यह भाव है ॥३४॥

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से विरोध होगा। यहाँ पर यह विचार करना चाहिये कि क्या कार्य ही सत् है, कार्य की सत्ता ही कारणता में आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है या कारण ही सत् है, कारण की सत्ता ही कार्य में आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है अथवा सत् ही सत् है, सत् की सत्ता ही कार्य और कारण दोनों में आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है ? तीन पक्षों में सांख्य का बोध यदि प्रथम पक्ष के अनुसार हो, तो वह भ्रम ही है, क्योंकि उस पक्ष में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि कार्य को असत् कहनेवाली श्रुति अनुकूल नहीं है और कारण को असत् कहने से अपने सिद्धान्त का भी बाध होता है, ऐसा कहते हैं।

कारण के गुणों के असत्य होने से वह महदादि कार्य किन कारणों से उत्पन्न होगा। जब कारण ही नहीं है तब कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अतएव कारण ही सत् है कारण की सत्ता ही कार्य में आरोपित है, यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य के अभाव में तद्घटित तत्–तत् कारणता का निरूपण नहीं हो सकता। अतः परिशेषात तीसरा ही कल्प उचित है और युक्ति–युक्त भी है, ऐसा उत्तर श्लोक से कहते हैं ॥३५॥ इसलिए यानी कार्य और कारण के भेद की सत्यता श्रुतिसम्मत नहीं है। अतः सांख्यवादियों द्वारा कल्पित कार्यकारण भाव को उनके सहकारी कारण, निमित्त, प्रयोजन आदि भेदों के साथ दूर करके (ये असत् हैं यों खण्डन करके) जो कुछ अवशिष्ट आदि, मध्य और अन्त से रहित सन्मात्र वस्तु है, वही जगद्रूप से अब स्थित है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, ऐसा जानिये ॥३६॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

युक्तियों से स्वरूपभेदवश जगत की स्थिति का खण्डन करके
अवशिष्ट पूर्णानन्दस्वरूपमात्र की स्थिति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, प्रलयकाल में इस जगत का पृथक् अस्तित्व मानने में दोषों को कहता हूँ।

यदि कोई शंका करे कि यदि प्रलय में जगत नहीं है, तो सृष्टि ही सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उत्पत्ति क्रिया किसी कर्ता से होती है। कर्ता भी नहीं है। यदि कहिये ब्रह्म ही सत् होने से कर्ता है, तो वही उत्पन्न होगा न कि जगत उत्पन्न होगा। कूटस्थ ब्रह्म का उत्पत्ति आदि विकारों से सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए उत्पत्ति की सिद्धि के लिए प्रलय में जगत की सत्ता अवश्य माननी चाहिये, इस आशंका का अनुवाद कर खण्डन करते हैं।

सब कल्पनाओं से रहित निर्मल महाचिदाकाश में यदि जगदादि अंकुर है, तो प्रलय के बाद में किन सहकारी कारणों से वह उदित होता है, उन्हें आप कहिये। सहकारी कारणों के अभाव में जगद्रूप अंकुर की उत्पत्ति वन्ध्या की कन्या के समान किसी ने कहीं पर नहीं देखी है ॥१-३॥ यदि सहकारी कारणों के अभाव में भी रज्जुमें सर्पादि के समान जगद्रूपी अंकुर आविर्भूत हुआ है, ऐसा मानते हैं, तो हे श्रीरामचन्द्रजी, मूलकारण ही भ्रान्तिवश जगत्स्वभावता को प्राप्त हुआ है, वस्तुतः जगत की सृष्टि नहीं हुई है; इसलिए प्रलय में जगत की कल्पना व्यर्थ है ॥४॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि रूप से यथा स्थित निराकार ब्रह्म ही अपने स्वरूप में स्थित होता है, इसलिए जन्य-जनक सम्बन्ध कहाँ ? ॥५॥

यदि कोई कहे, प्रलय में सम्पूर्ण जगत की सत्ता का स्वीकार करने से सहकारी कारणों की दुर्लभता नहीं है, क्योंकि जगत के अन्तर्गत पृथिवी आदि से परस्पर का उपकार हो सकता है, इस शंका का खण्डन करते हैं।

यदि पृथिवी आदि अथवा अन्य कोई जगत की उत्पत्ति में उपकार करते है तो पृथिवी आदि की सहकारिकारणता पृथिवी आदि की उत्पत्ति के बाद होगी, ऐसी अवस्था में पृथिवी आदि की उत्पत्ति की सिद्धि होने पर उनकी सहकारिता की सिद्धि होगी और सहकारिता की सिद्धि होने पर उत्पत्ति की सिद्धि होगी, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष यहाँ पर उपस्थित है ॥६॥

इस प्रकार सांख्य आदि की कल्पना बालक की कल्पना के तुल्य है, यों उपसंहार करते हैं।

इसलिए प्रलयकाल में प्रकृतिसहित पुरुष में जगत तिरोहित रहता है और सहकारी कारणों द्वारा वह चित्त से आविर्भूत होता है, यह उक्ति बालक की ही है, विद्वान की नहीं ॥७॥

अन्य मत के खण्डित होने पर अब अवशिष्ट अपने सिद्धान्त को दिखलाते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत न तो था, न है और न होगा। चिदाकाश ही शीघ्र अपने में इस प्रकार स्फुरित हुआ है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब इस जगत का अत्यन्त अभाव ही है, तब सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यही श्रुति का तात्पर्य है ॥९॥ श्रुति के निषेध से पहले जगत के घट, पट आदि मुद्‌गर प्रहार आदि से नाश द्वारा और अन्य वस्तु के रूप से अन्योन्याभाव द्वारा जो शान्त होते हैं यानी 'यह इस समय नष्ट हो गया 'घट, पटादि यह नहीं है' इस प्रकार ग्रहण किये जा रहे अभाव को प्राप्त होते हैं, वे शान्त नहीं होते यानी वह उपशम नहीं; किन्तु तिरोहित होने से चक्षु आदि द्वारा दृश्यता का उपराममात्र है, क्योंकि चित्त में वासनारूप से वे शान्त होते ही नहीं है। इसी न्याय को प्रागभाव और अत्यन्त अभाव में भी लगाना चाहिये। अपनी सत्ता से अथवा ब्रह्मसत्ता से सत् घट आदि

की बाध के बिना कहीं पर भी असत्ता नहीं होती, क्योंकि मिट्टी का पिण्ड, भूतल आदि में घट के अदर्शन की तिरोधान से भी उपपत्ति हो सकती है ॥१०॥ जब दृश्य काम, कर्म, वासना आदि बीजों के साथ नष्ट हो जाता है तब इस जगत का आत्यन्तिक उच्छेद होता है। चित्त यदि रहे तो काम आदि भावनाओं का उच्छेद न हो सकने के कारण दृश्य शान्त होता ही नहीं, इसलिए ज्ञान के बिना दृश्यता कहाँ शान्त हो सकती है ? अर्थात् दृश्य की शान्ति दुर्लभ ही है। ॥११॥ दृश्य के उपशम में अधिष्ठान साक्षात्कार से दृश्य का सर्वथा बाध होना ही एकमात्र युक्ति है। इसके सिवा दूसरी युक्ति दृश्यरूप अनर्थ के क्षय में यानी मोक्ष में है ही नहीं ॥१२॥ जब जगत के तत्त्व के साक्षात्कार से चिदाकाश का बोध हो जाता है यानी बोधैकरस चिदात्मा ही है, अणुमात्र भी अचिद्रूप नहीं है, ऐसा परिनिष्ठित ज्ञान हो जाता है तब (देवदत्त नामक) विशिष्ट माता–पिता से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञायमानदेह ही मैं हूँ, परकीय देह, दीवार आदि मैं नहीं हूँ, इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध पामर जनों का व्यवहार चित्रकथा के तुल्य हो जाता है। अर्थात् जैसे दीवार में लिखा गया चित्र सभी की दृष्टि में परमार्थरूप से एकमात्र दीवाररूप ही है तथा चित्रगृह की दीवार में यह दीवार है, ऐसा व्यवहार नहीं होता वैसे ही यह पूर्वोक्त व्यवहार है ॥१३॥

पृथिवी आदि में भी चित्रकथान्याय को ही दर्शाते हैं।

ये पर्वत आदि, ये पृथिवी आदि, ये वर्ष आदि, यह कल्प, यह क्षण, ये जन्म–मरण, यह प्रलय का आडम्बर, यह महाकल्पान्त, पुराण आदि में प्रसिद्ध सृष्टव्य आकाश आदि का सृष्टिक्रम, ये कल्पों के लक्षण, ये वर्तमान करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये अतीत करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये पुनः उत्पन्न हुए करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये चौदह प्रकार से भिन्न देव, मनुष्य आदि के भिन्न–भिन्न लोक, ये सप्त द्वीपआदि देशों की तथा कृत, त्रेता, द्वापर आदि कालों की कल्पनाएँ अनन्त, अनावृत महा चिदाकाश ही हैं। इस प्रकार से वर्णित चित्रकथा के न्याय से परमाकाश ही अपने में स्वयं स्फुरित होता है। वह यथा पूर्वस्थित और शान्त है। जैसे झरोखे के छिद्र से भीतर आये हुए परमाणुओं में सूर्य की प्रभा परिच्छिन्न है वैसे ही मन से निकले हुए करोड़ों ब्रह्माण्डों में परिच्छिन्न ये चित्त की प्रभाएँ हैं। जैसे आकाश में विस्तृत सूर्य प्रकाश में विभिन्न परमाणुओं के भ्रमण आदि नहीं दिखाई देते वैसे ही महाचितपरमाकाश में इनका भ्रमण नहीं दिखाई देता है ॥१४–१८॥

ऐसी अवस्था में मनरूप परिच्छेद से पीड़ित हुई चिति अपने अन्तर्गत जगत को मानों उगलती है, ऐसा कहते हैं।

चिति स्वयं ही अपने अन्दर विद्यमान जो जगद्रूप चमत्कार है, उसको उगलती है। वही सृष्टिरूप से प्रतीत होती है। यह रूपरहित और भित्ति रहित है ॥१९॥

स्फटिक शिला के भीतर नेत्र–दोष से दिखाई दे रही रेखाओं के तुल्य पदार्थ भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे महाशिलाओं के अन्दर रेखाओं के अमिट स्वरूप दिखाई देते हैं वैसे ही ये सृष्टियाँ दिखाई देती हैं। न तो ये उत्पन्न होती हैं और न नष्ट होती हैं, न आती हैं और न जाती हैं ॥२०॥ जैसे निराकार आकाश में निराकार आकाशभाग स्फुरित होते हैं, वैसे ही निर्मल आत्मा में ये सृष्टियाँ अपने–आप स्फुरित होती हैं। जैसे आकाश से आकाश भाग की पृथक् सत्ता नहीं है वैसे ही आत्मा

की सत्ता से इन सृष्टियों की पृथक् सत्ता नहीं है, यह दर्शाने के लिए 'नभसीव' दृष्टान्त दिया है ॥२१॥ जल के द्रवत्व के समान, वायु स्पन्द के समान, समुद्र के आवर्तों के समान, गुणी के गुणों के समान, उत्पत्ति और विनाश से युक्त यह सारा जगत उक्त दृष्टान्तों के अनुसार सर्वत्र व्याप्त शान्त ब्रह्म ही विस्तृत है, भाव यह है कि जैसे द्रवत्व जल से पृथक् नहीं है, स्पन्द वायु से पृथक् नहीं है, आवर्त समुद्र से पृथक् नहीं है और गुण गुणी से पृथक् नहीं है वैसे ही यह उत्पत्ति विनाशशील जगत अनन्त, शान्त ब्रह्म ही है, उससे पृथक् नहीं है ॥२२,२३॥

ऐसी अवस्था में सहकारी कारणों के न रहने पर कर्ता के विद्यमान रहने पर भी उत्पत्ति आदि की सिद्धि नहीं होती है, अतः सांख्यों की जो कल्पना है, वह उन्मत्त की चेष्टा के तुल्य है, यों उपसंहार करते हैं।

उत्पत्ति के पहले पृथक्रूप से स्वीकृत भी पदार्थ सहकारी आदिकारणों के अभाव में शून्यकल्प प्रधान से उत्पन्न होता है, यह कथन उन्मत्तपुरुषों के फूत्कार के तुल्य है ॥२४॥ जिनका सम्पूर्ण पदार्थों की कल्पनारूपी कलंक दूर हो गया है, सब पदार्थों के स्वप्नदर्शन में कारण होने से विकल्परूपी शय्या जिन्होंने छोड़ दी है तथा जिन्होंने विकल्परूपी शय्या बिछानेवाली अविद्या को आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से हटा दिया है, ऐसे ज्ञानवान आप निर्भय तथा ब्रह्मवेत्ताओं की सभा भूमि को भूषित करनेवाले होइये ॥२५॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

जगत की विवर्तरूपता का स्थापन करके बोधदृष्टि से उसके बाध का प्रदर्शन तथा अज्ञ पुरुष की दृष्टि में जगत की अनन्तता का वर्णन।

यद्यपि बाह्य घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति में उत्पत्तिकर्ता से अतिरिक्त सहकारी कारणों की अपेक्षा हो सकती है, तथापि जगत को आपने हिरण्यगर्भ के मनः संकल्प से जन्य उनकी स्मृति तथा मनोराज्य के तुल्य बतलाया है। स्वप्नराज्य में तो सहकारी कारण की अपेक्षा कहीं नहीं देखी गई है। इस तरह प्रलयकाल में अपनी सत्ता में छिपकर विद्यमान ही मनोरूप प्रजापति स्मृतिरूप ही उत्पन्न होता है, तो सहकारी कारणों के अभाव में जगत की उत्पत्ति में क्या विरोध है ? इस गुढ़ अभिप्राय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवन्, महाप्रलय के अनन्तर सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम यह प्रजापति स्मृतिरूप उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति में सहकारी कारणों की अपेक्षा नहीं है, यह भाव है ॥१॥

यह ठीक है, परन्तु प्रलयकाल में जगत की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि स्वप्न, मनोरथ और स्मृति के विषयों की अपने काल में भी जब सत्ता नहीं रहती है, तब स्मृति के बल से प्रलयकाल में उसकी सत्ता की कल्पना नहीं हो सकती, इस गूढ़ अभिप्राय से ही श्री वसिष्ठजी अभ्युपगमपूर्वक समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, महाप्रलय के बाद सृष्टि के आरम्भ में इसी तरह (जैसा कि

आप कहते हैं) यह जगत स्मृतिरूप ही है, पहले–पहल सर्वप्रथम प्रजापति स्मरणरूप से ही उत्पन्न होता है ॥२॥ इस कारण उसका संकल्पभूत यह जगत स्मृतिरूप ही है, प्रजापति का प्राथमिक संकल्प का नगर ही इस जगतरूप से भासित होता है ॥३॥

अस्तु, मन से अतिरिक्त बाह्यविकार विषयरूप से यह जगत भले ही सत्य न हो; परन्तु मनोविकाररूप से तो सत्य ही है, जैसे चित्रांकित घोड़ा मांसविकाररूप से सत्य नहीं है; परन्तु रंग के विकाररूप से तो सत्य ही है, श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी शंका को लक्षणों से पहचान कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की स्मृति नहीं हो सकती है। भाव यह है कि स्मरणकर्ता के रहने पर स्मृति आदि मन के परिणाम हो सकते हैं। सांख्यवादियों द्वारा परिकल्पित प्रधान स्मृतिकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिट्टी आदि की तरह अचेतन है। पुरुषों में भी स्मृतिकर्तव्य का सम्भव नहीं है, क्योंकि सांख्यवादियों ने उन्हें असंग, उदासीन एवं निर्विकार माना है। यदि पुरुषों में स्मृति का सम्भव नहीं है, तो परस्पर भेदक धर्म के न मानने के कारण भेद की सिद्धि न होने से परमात्मा के साथ उनका भेद होने से उनमें सुतरां स्मृति का सम्भव नहीं है। और *'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि श्रुतियों ने* परमात्मा के मन का निषेध किया है। मन के निषेध द्वारा स्मृतिकर्तव्य का भी निषेध सिद्ध हुआ। चूँकि स्मृति का जन्म ही असम्भव है और जन्म के अभाव से जन्ममूलक उसके विकार जगत का भी सम्भव नहीं है, इसलिए आकाश में महावृक्ष के तुल्य स्मृति के विकारभूत जगत कहाँ और कैसे हो सकते हैं ? ॥४॥

जैसे प्रतिदिन की सुषुप्ति है वैसे ही प्रलय भी है। सुषुप्ति अवस्था में लीन मन के जाग्रतकाल में आविर्भाव के तुल्य प्रलयकाल में लीन मन का सृष्टि के आरम्भ में आविर्भाव होने से तदव्यच्छन्न प्रजापति अथवा अन्य के स्मर्ता होने में क्या विरोध है ? इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैः

हे ब्रह्मन्, सृष्टि के आरम्भ में पूर्वकल्पीय स्मृति क्यों नहीं हो सकती ? महाप्रलय के प्रबल सम्मोह से पूर्वकल्पीयस्मृति कैसे नष्ट हो जाती है ? ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी के अभिप्राय का प्रकाशन करते हुए श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, क्या यह आपकी शंका हिरण्यगर्भरूप एक ही जीव अपने मन से अनेक जीव, शरीर आदिके भेद की कल्पना कर संसार को प्राप्त होता है। इस मन से है अथवा अनेक जीव अपने–अपने उपभोग के योग्य प्रपंच की कल्पना करते हुए अपनी बुद्धि के अनुसार सबकी सृष्टि करनेवाले हिरण्यगर्भ की भी कल्पना करते हैं इस मत से हैं। इस दोनों कल्पों में से द्वितीयकल्प में *'महाकल्पान्तसर्गादौ प्रथमोऽसौप्रजापतिः'* इत्यादि आपकी शंका के उपक्रम से विरोध है तथा प्रथम कल्प में बहुत श्रुतियों की अनुकूलता है, अतः प्रथम कल्प ही उचित होने से परिशिष्ट रहता है। इस पक्ष में जो पूर्वकल्पीय जीव तथा जगत महाप्रलयकाल में हिरण्यगर्भ की मुक्ति से मुक्त हो गये, वे सभी ब्रह्मीभूत हो गये। यदि अन्य कोई जीव अवशिष्ट रहा नहीं, तो हे सुव्रत, बतलाइये, पूर्वोत्पन्न कौन स्मर्ता है ? क्योंकि स्मर्ता के मुक्त हो जानेसे स्मृति निर्मूलता को प्राप्त हो गई है। इसलिए क्या स्मरणकर्ता के अभाव से किसी तरह स्मृति उत्पन्न हो सकती है ? महाप्रलय में सब लोग अवश्य मोक्ष के भागी हो गये, इसलिए इस सर्ग की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥६–८॥ पूर्वकल्पीय सर्ग स्मृतिरूप ही हैं,

वे भी सिद्ध नहीं होंगे, इसलिए अनुभूत या अननुभूत स्वतःसिद्ध चिदाकाश में जिसकी आपने स्मृतिरूपसे आशंका की है, वह प्रौढ़ एवं दृश्य जगत्स्थितचित्प्रभा ही है और वह सदा स्थित है। यही सत्कार्यवादी श्रुतियोंका आशय है, यह भाव ॥९॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट कहते हैं।

जो यह जगतरूप से और स्वयंभूरूप से (उत्पत्ति के पहले पृथक्सत्ता से माने गये पदार्थरूप से) स्थित है, वह अनादि, अनन्त प्रकाशमान यह चेतन की प्रभा ही भासित होती है ॥१०॥

अनादि काल से सिद्ध जो ब्रह्म के स्वरूप का भान है, वही ब्रह्माण्ड शरीर का उपादानकारण जगताकार सूक्ष्म शरीर है, वह परमात्मा ही है। इस तरह ब्रह्म ही सूक्ष्म-स्थूल भावों के आरोप के द्वारा जगद्रूप से भासित होता है, यह भाव है ॥११॥

जगत का स्वभाव अव्यवस्थित है, इसलिए भी जगत की सत्ता जगद्रूप से नहीं है, किन्तु ब्रह्मरूपसे ही है, इस आशय से जगत के अव्यवस्थित स्वभाव का उपपादन करते हैं।

जंगल, मेघ, आकाश आदि पदार्थों के सहित तथा देश, काल, क्रिया, द्रव्य, दिन और रात्रि के क्रम से युक्त ये तीनों जगत परमाणु में भासित होते हैं ॥१२॥ उस पूर्व परमाणु के अन्तर्गत अन्य विस्तृत परमाणु है, वह भी पूर्व परमाणु के सदृश ही है तथा उसमें भी वैसा ही जंगल, मेघ, आकाश आदिके साथ प्रकाशमान पर्वतसमूह आदि जगत भासित होता है। उस परमाणु के भीतर भी वैसा ही विस्तृत परमाणु है, उसमें भी उसी तरह जंगल, मेघ आकाशआदि से विस्तृत यह दृश्य जगत् भासित होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह केवल भानरूप ही है। सत्य नहीं है ॥१३,१४॥

तत्त्वज्ञों के प्रति सन्मात्रदृष्टि जैसे स्वतः अनन्त है वैसे ही अज्ञों के प्रति असत्, अनृत जगत की दृष्टि संख्या से अनन्त है, यह कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह परम अभ्युदय यानी आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त ज्ञानी के प्रति इस सद्दृष्टि का अन्त कहीं नहीं है और अज्ञ के प्रति इस असत् जगत की दृष्टि का अन्त कहीं नहीं है ॥१५॥

इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करके दिखलाते हैं।

यह जगत् ज्ञानी के प्रति केवल, शान्त, अविनाशी ब्रह्म ही है और अज्ञों के प्रति बुद्धिमात्र से भासमान नाना लोकों से युक्त है ॥१६॥ ब्रह्माण्ड में वृद्धि को प्राप्त यह भासमान जगत जैसे भासित हो रहा है वैसे ही करोड़ों हजारों अन्यान्य जगत भी एक-एक अणु में भासित होते हैं ॥१७॥ जैसे स्तम्भ के (खम्भेके) अन्दर प्रतिमा रहती है, उस प्रतिमा के अंगों में भी प्रतिमा रहती है तथा उसके अंग में भी प्रतिमा रहती है, वैसे ही ब्रह्मस्तम्भ में अणु-अणु में त्रैलोक्यरूपी प्रतिमा है ॥१८॥ जैसे पर्वत में परमाणु पर्वत से अभिन्न तथा असंख्य हैं वैसे ही ब्रह्मरूपी महामेरुपर्वत में त्रैलोक्यरूपी परमाणु न तो उससे भिन्न हैं और न गिनने योग्य है यानी असंख्य तथा ब्रह्म से अभिन्न हैं ॥१९॥ यदि सूर्य आदि की किरणों में छोटे-छोटे परमाणुओं की गणना हो सके, तो चिद्रूप आदित्य में जो त्रैलोक्यपरमाणु उत्पन्न होते हैं, उनकी भी गणना हो सकेगी। अर्थात् वे सूर्यकिरणों में दिखाई देनेवाले परमाणुओं की तरह असंख्य हैं ॥२०॥

जैसे सूर्य की दीप्ति में, जल में तथा धूलिपुंज में परमाणु भ्रमण करते हैं वैसे ही चिदाकाश में त्रैलोक्यरूपी परमाणु भ्रमण करते हैं ॥२१॥

यदि कोई कहे कि निष्प्रपंच कूटस्थ ब्रह्म का सविकार सृष्टि रूप से भान कैसे होता है ? तो नीरूप, अशून्य आकाशका जैसे स्वरूपविरुद्ध शून्यरूप से या नीलरूप से भान होता है वैसे ही कूटस्थ ब्रह्म का भी सर्गरूप से भान होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वास्तव में पूर्ण (अशून्य) और नीरूप इस भूताकाश का आवरणाभाव (शून्य) और असत्य नीलरूप से अनुभव होता है वैसे ही चिदाकाश का सर्गरूप से अनुभव होता है ॥२२॥ सृष्टिरूप में समझी गई यह सृष्टि अधोलोकको प्राप्त कराती है। श्रुति ने भी कहा है : 'उदरमन्तरं कुरुते अथतस्य भयं भवति' अर्थात् इस ब्रह्म में जो जरा सा भी भेद करते है यानी' यह अन्य है, मैं अन्य हूँ' ऐसा भेद देखता है, उस भेद के दर्शन से उस अनात्मदर्शी पुरुषको भय होता है। ब्रह्मरूप से समझी गई यह सृष्टि परम मंगलमय हो जाती है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मदर्शी पुरुष शोक को प्राप्त नहीं होता है) ऐसी श्रुति है ॥२३॥

जैसा कि नैयायिक परमात्मा को तटस्थरूप (निमित्तमात्ररूप) मानते हैं वैसे तटस्थ रूप से ज्ञात ब्रह्म क्या मंगलमय नहीं है ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

जो विज्ञानस्वरूप जीव है और जो इस विश्व का परम कारण ईश्वर है, वे दोनों परमार्थ दृष्टि से परिशोधन करने पर पूर्ण, चेतन, एकरस, चिदाकाश ब्रह्म ही हैं। जिस ब्रह्म से बाह्य तथा आन्तर दोनों उपाधियाँ उत्पन्न हैं।' *(तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः)'* इत्यादि न्याय से जो जिससे उत्पन्न है, वह तद्रूप ही है, इस तरह सभी वेद्य प्रपंच को स्वात्मबोध होने पर शुद्ध, सम्बोधस्वरूप चिन्मात्र ही समझना चाहिये। भाव यह है कि परमार्थदृष्टि से जगन्मात्र को ब्रह्म जानने से ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि 'उतरमन्तरं कुरुते' ऐसी श्रुति है ॥२४॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

इन्द्रिय युक्त मन ही जगत की स्थिति का मूल है,
उसका समूल उच्छेद होने पर दृश्य का असंभव देखने से जगत शून्य हो जाता है, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियसमूह के ऊपर विजयप्राप्तिरूपी पुल से संसाररूपी सागर तरा जा सकता है, अन्य किसी भी कर्म से इसका तरण नहीं हो सकता है। ॥१॥

इन्द्रियों पर विजय पाने के लिए विवेक श्रेष्ठ उपाय है। विवेक की प्राप्ति में एकमात्र सज्जन और शास्त्रों में निष्ठा रखना उत्तम उपाय है, इस आशय से कहते हैं।

बार–बार शास्त्रपर्यालोचन और सत्संगति करने से विवेकशील और जितेन्द्रिय हुआ पुरुष इस दृश्य का अत्यन्त अभाव जानता है ॥२॥

किये गये इन्द्रिय विजय का प्रकृत में सम्बन्ध कहने के लिए पूर्वोक्त पदार्थ का पुनः स्मरण करते हैं।

हे रूपवान पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, ये संसार सागर की श्रेणियाँ जैसे प्राप्त होती हैं और विनष्ट होती हैं, वह सब स्वरूप मैंने आपसे कहा ॥३॥ इस विषय में बहुत कहने से क्या मतलब है, मन ही कर्मरूपी वृक्ष का अंकुर है। मन के नष्ट होने पर भोक्ता के भोग्य भोगाकार में परिणत विहित और

निषिद्ध कर्मरूप शरीरवाला जगतरूपी वृक्ष कट जाता है ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सारा जगत मन ही है। मन का प्रतीकार होने पर सब जगजंजालरूपी रोग का प्रतीकार हो जाता है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि मन की चिकित्सा होने पर भी देहाधीन सुख और दुःख होंगे ही ? उस पर कहते हैं।

जैसे मन का मननरूप ही स्वप्न कार्य में समर्थ होता है वैसे ही मन का देह के आकार से मननरूप ही देह, जो कि कार्य करने में समर्थ है, उत्पन्न होती है, भला बताइये तो सही, मन से भिन्नरूप से देह कहाँ दिखाई देती है ?॥६॥

तो मन की चिकित्सा के लिए कौन औषधि उपयुक्त है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

दृश्य की अत्यन्त असंभावना (बाध) के सिवा दूसरे किसी भी उपाय से मनरूपी पिशाच का विनाश एक कल्प में तो क्या सैकड़ों कल्पों में भी नहीं हो सकता है ॥७॥

यदि कोई शंका करे कि मनरूपी रोग आभ्यंतर है, दृश्य तो बाह्य है ऐसी अवस्था में बाह्य पदार्थों के अत्यन्त बाध से आभ्यन्तर मन की चिकित्सा कैसे हो सकती ? इस पर कहते हैं।

यह दृश्य का अत्यन्त अभावरूप सर्वोत्तम परम औषधि मनरूपी व्याधि की चिकित्सा में अमोघ उपाय है ॥८॥

बाह्य दृश्य का अत्यन्त अभाव मनकी चिकित्सा में कैसे उपाय होता है, इसे कहते हैं।

मन की आभ्यन्तरता और पदार्थों की बाह्यता वास्तविक नहीं है, किन्तु मन ही द्वैविध्यआदि की कल्पना द्वारा मोह को प्राप्त होता है, मरता है, उत्पन्न होता है यानी जन्म, मृत्यु, बन्ध, मोक्ष आदि की कल्पना करता है, अर्थात् विषयचिन्तन के प्रभाव से बन्धन में पड़ता है और आत्मतत्त्व के विचार के प्रताप से मुक्त होता है ॥९॥

यह कैसे प्रतीत हुआ ? ऐसा प्रश्न होने पर अन्वय-व्यतिरेक से हमने यह जाना है, यह कहते हैं।

जैसे विशाल आकाश में शून्य ही (असत् ही) गन्धर्वों का नगर स्फुरित होता है, वैसे ही विषयों के चिन्तन से वृद्धि को प्राप्त मन में यह सम्पूर्ण संसार स्फुरित होता है ॥१०॥

और विचार करने पर जगत मन का धर्म ही है, इसलिए धर्मी मन के निवृत्त होने पर वह रह नहीं सकता है, इस आशय से दृष्टान्तों को कहते हैं।

जैसे फूलों के गुच्छे में सुगन्धि स्फुरित होती है और उसमें रहती भी है वैसे ही मन में यह विशाल जगत स्फुरित होता है और रहता भी है, धर्मों में धर्मी का भेद वास्तविक में नहीं है, यह द्योतन करने के लिए अन्तिम श्लोक में इवकार है ॥११॥ जैसे तिलों में तेल रहता हैं अथवा जैसे गुणी में गुण रहता है या जैसे धर्मी में धर्म रहता है वैसे ही यह जगत चित्त में स्थित है। जैसे सूर्य में किरणों का समूह है, जैसे तेज में प्रकाश है और जैसे अग्नि में उष्णता है वैसे ही मन में यह जगत है। जैसे बरफ में ठण्डक है, जैसे आकाश में शून्यता है और जैसे वायु में चंचलता है वैसे ही मन में यह जगत है ॥१२-१४॥

मन और जगत का धर्मी और धर्मभाव अभेद होने पर भी धर्मी मन का नाश होने से ही जगत का नाश हो जाता है, विपरीतता से नहीं होता यानी धर्म जगत का नाश होने पर धर्मी मन का नाश नहीं होता, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है, इस आशय से उपसंहार करते।

मन ही सम्पूर्ण जगत है और सम्पूर्ण जगत ही मन है। वे दोनों सदा ही परस्पर अविनाभूत हैं। उन दोनों में से मन के अत्यन्त नष्ट होने पर जगत नष्ट हो जाता है, पर जगत के नष्ट होने पर मन नष्ट नहीं होता है ॥१५॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

भृगु ऋषि के समाधिस्थ होने पर पर्वत पर खेल रहे शुक्राचार्य के,
अप्सरा को देखने पर, मोहवश प्राप्त अप्सरोभाव का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आप सकल धर्मों के ज्ञाता हैं, पूर्वापर के ज्ञाताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए कृपया यह बतलाइये कि यह विशाल संसार मन में कैसे स्थित है ? ॥१॥ हे पुण्यचरित, प्रकाश हो रहा यह विशाल संसार जैसे मन में स्फुरित होता है वैसे स्पष्ट दृष्टान्त के प्रदर्शन द्वारा आप मुझसे कहिये ॥२॥

पूर्वोक्त ऐन्दव आदि के जगत ही इसमें दृष्टान्त हैं, ऐसा कहते हुए श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्थूल शरीर से रहित भी ऐन्दव ब्राह्मणों के मन में दृढ़ता को प्राप्त अनेक जगत स्थित थे वैसे ही यह जगत मन में स्थित है ॥३॥ इन्द्रजाल से व्याकुल चित्तवाले राजा लवण को जिस प्रकार चण्डालत्व प्राप्त हुआ था वैसे ही यह जगत मन में स्थित है ॥४॥

शुक्राचार्य का उपाख्यान का भी यहाँ पर दृष्टान्तरूपसे उपक्षेप करते हैं।

जैसे शुक्राचार्य की चिरकाल तक स्वर्ग के भोगों को भोगने की इच्छा से अप्सराओं के उपभोग में स्पृहा, संसारिता (अप्सराओं के भोग के लिए स्वर्गादि गमनरूप जन्मान्तर) एवं स्वर्ग में अप्सराओं का भोग हुआ वैसे ही यह जगत मन में स्थित है। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, महर्षि भृगु के पुत्र शुक्राचार्य को स्वर्गीय भोगों को भोगने की इच्छा से अप्सराओं के उपभोग में स्पृहा और स्वर्गगमनरूप अन्य जन्म कैसे प्राप्त हुआ ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, प्राचीन काल में मन्दराचल के शिखर पर, जो कि तमाल के वृक्षों से खूब हरा भरा था, महर्षि भृगु और काल का जो संवाद हुआ था उसे आप सुनिये। प्राचीन काल में मन्दराचल के विविध फूलों से व्याप्त किसी एक शिखर पर भगवान श्री भृगुजी कठोर तपस्या करते थे। उनके पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर, प्रकाश के समान दैदीप्यमान, तेजस्वी, महामति पुत्र श्री शुक्राचार्य, जो कि तब बालक ही थे उनकी सेवा–शुश्रूषा करते थे। महर्षि भृगु उस उत्तम वन में वहाँ के पत्थर को काट–छाँटकर बनाई गई प्रस्तरमूर्ति के सदृश निश्चल हो सदा समाधि में ही स्थित रहते थे। बालक शुक्राचार्य फूलों की शय्याओं में, चाँदी तथा सोने की वेदियों पर और मन्दाराचल के बड़े बड़े हिंडोलों पर खेलते थे। उस समय शुक्राचार्य जैसे राजा त्रिशंकु द्युलोक और पृथिवी के मध्य में स्थित हुए थे वैसे ही पारमार्थित आत्मतत्त्वदृष्टि और पामर आदि में प्रसिद्ध जगतसत्यतादृष्टि इन दोनों के बीच में स्थित थे, अतएव वे राग आदि से व्याकुल रहते थे, किसी समय जब कि उनके पिता श्री भृगुजी निर्विकल्प समाधि में बैठे थे, जिसने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली हो, ऐसे राजा के तुल्य वे

अन्य विषयों से अविक्षिप्त चित्तवाले हुए। वहाँ पर उन्होंने जैसे भगवान ने क्षीरसागर के मध्य से मन्थन द्वारा उत्पादित श्री लक्ष्मीजी को देखा था वैसे ही क्षीरसागर के मध्य से मंथनपूर्वक उत्पादित आकाश मार्ग से जा रही एक अप्सरा को देखा। वह मन्दार की मालाओं से विभूषित थी, मन्द-मन्द वायु से उसके अलक हिल रहे थे, हार से उसका गमन झंकारसे पूर्ण था, उसने आकाशमें वायु को सुगन्धित कर दिया था, वह ऐसी सुन्दरी थी कि उसे यदि लावण्यरूपी वृक्ष की लता कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी, मद से उसके नेत्र चढ़े हुए थे तथा अपने शरीररूपी चन्द्रमा से उदित हुई किरणों से उसने उस प्रदेश को अमृतमय कर दिया था। उस सुन्दरी को देखकर शुक्राचार्य का मन, जिसने निर्मल पूर्ण चन्द्रमा देखा है, ऐसे समुद्र के शरीर के तुल्य उल्लास को प्राप्त हुआ और चंचल हुआ। वह अप्सरा भी शुक्राचार्य का मुख देखकर वैसे ही परवश हुई (मोहित हुई) ॥५-१८॥ शुक्राचार्यजी अप्सरा को देखने के पश्चात कामदेव के बाणों से घायल हुए मनको यथाशक्ति विवेक द्वारा समझा-बुझाकर यानी प्रेयसी के अनुसरण आदि शारीरिक व्यापारों को रोककर, एकाग्रता को प्राप्त करके भी एकमात्र अप्सरा में एकाग्रचित्त होने के कारण वे अप्सरा के रूप से अप्सरामय हो गये ॥१९॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

शुक्राचार्य का मन से स्वर्ग में गमन वहाँ पर इन्द्र का उन्हें सम्मान के साथ अपने समीप में बैठाना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ पर नेत्र बन्द करके मन से उसी अप्सरा का ध्यान कर रहे अकेले श्री शुक्राचार्य ने आगे कहे जानेवाले इस मनोराज्यका आरम्भ किया ॥१॥ यह आकाशमें मेरे आगे आगे जा रही अप्सरा इन्द्रलोक जाती है। इसका अनुगमन कर रहा यह मैं स्वर्ग में, जो कि इधर-उधर घूमनेसे कुछ चंचल हुए देवताओं से बड़ा मनोहर है, आ पहुँचा हूँ ॥२॥ कोमल मन्दार के फूलों की शिरोमालाओं और कर्णफूलों से विभूषित ये देवता हैं, इनके शरीर बह रहे सुवर्ण के द्रव के समान सुन्दर है ॥३॥ प्रत्यक्ष देखे गये नीलकमलों के तुल्य जिनकी दृष्टियाँ हैं, मनोहर हास से विभूषित लतारहित शावाक्षी ये वे कान्ताएँ हैं ॥४॥ फूलों से बनाई गई मालाओं से जगमगा रहे, परस्पर एक दूसरे में प्रतिबिम्बित अतएव विश्वरूप सर्वाकार भगवान हरि के आकार के सदृश तथा खूब सन्तुष्ट और दीप्तिमान ये देववृन्द हैं ॥५॥ ऐरावत के कपोलों के मदजल की अतिसुगन्धि में भी आसक्तिरहित हुए (मदजल तक का त्याग करके) भँवरों द्वारा सुने गए, अत्यन्त मधुर और अस्पष्टध्वनि से गाये गये, ये देवताओं के गीत है ॥६॥ यह मन्दाकिनी है, इसके स्वर्णमय कमलों पर ब्रह्माजी के हंस और सारस घूम रहे हैं, तीर के उद्यानों में मुख्य-मुख्य देवगण विश्राम ले रहे हैं ॥७॥ ये यम, चन्द्र, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, जल और वायु लोकपाल हैं, इन्होंने अपने शरीर की कान्ति से चारों ओर दीप्त अग्नि की ज्वालाएँ फैला रक्खी है ॥८॥ युद्धों में शस्त्रास्त्रों के प्रहारों से जिसका मुँह खुजलाया गया है ऐसा यह ऐरावत है, इसने संग्राम में अनेक दैत्यों को अपने दांतों में पिरो दिया था ॥९॥ ये भूतल से आकाशमें तारे रूप बने हुए विमान से चलनेवाले सिद्ध लोग है, जिनके शरीर और विमान की कान्तियाँ संचरणशील सुन्दर सुवर्णमय सी प्रतीत हो रही हैं ॥१०॥ मन्दार के फूल जिनमें व्याप्त हैं, ऐसी ये गंगा जल की लहरें है, इन्होंने

मेरुपर्वत के पत्थरों पर टकराने के कारण जल बिंदुओं से देवताओं को भर दिया है ॥११॥ ये इन्द्र के नन्दनवन की वीथियाँ हैं, गिरी हुई मन्दारमंजरी के गुच्छों से ये पीली हो गई हैं और अनेक अप्सराएँ इनमें झूला झूल रहीं हैं ॥१२॥ चन्द्रमा की किरणों की नाईं आनन्द देनेवाले शीतलता और मन्दता आदि से युक्त, कुन्द और मन्दार के मकरन्द से सुगन्धित ये पारिजात के वायु हैं ॥१३॥ फूलों, केसरों और हिम तथा मकरन्द के कणों और वस्त्रों को सुगन्धित करनेवाले परागों से जो एक दूसरे से परस्पर ताड़नरूप संग्राम है,उसमें आसक्त लताओं और अंगनाओं से व्याप्त यह नन्दनवन है ॥१४॥ सुन्दर गान की ध्वनि से आनन्दपूर्वक देवांगनाओं को नचानेवाले वीणा के समान मधुर स्वरवाले ये नारद और तुम्बरु ऋषि हैं ॥१५॥ ये अनेक पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो विविध भूषणों से विभूषित होकर आकाश में उड़ रहे विमानों में स्थित हैं ॥१६॥ मद से उत्पन्न कामदेव से मत्त अंगवाली ये देवांगनाएँ जैसे वनलताएँ वन की सेवा करती हैं वैसे ही देवराज इन्द्र की सेवा कर रही हैं ॥१७॥ इन्द्रनील मणियाँ ही जिनके फूल हैं, चिन्तामणियाँ जिनके कलियों के गुच्छे हैं तथा पके हुए फलों के गुच्छों से लदे हुए ये कल्पवृक्ष हैं ॥१८॥ यहाँ पर सिंहासन पर विराजमान इन देवराज इन्द्र को, जो दूसरे त्रिलोकी स्रष्टा के (ब्रह्मा के) तुल्य हैं, मैं अभिवादन करता हूँ ॥१९॥ यह सोचकर उन शुक्राचार्य ने मन से ही शचीपति इन्द्र को आकाश में स्थित दूसरे महर्षि भृगु के तुल्य अभिवादन किया ॥२०॥ तदुपरान्त इन्द्र ने सिंहासन से उठकर शुक्राचार्य का आदरपूर्वक पूजन किया। उनका हाथ पकड़कर उन्हें अपने समीप में लाकर बैठाया ॥२१॥

हे श्रीशुक्राचार्य, यह स्वर्ग आपके शुभागमन से धन्य होकर सुशोभित हो रहा है, हे प्रभो, आप चिरकाल तक यहाँ निवास कीजिये, – यों शुक्राचार्य से इन्द्र ने स्वर्ग में रहने का अनुरोध किया ॥२२॥ तदुपरान्त सुन्दर मुखकमलवाले श्री शुक्राचार्यजी ने वहाँ पर बैठकर सोलहों कलाओं से युक्त निर्मल चन्द्रमा की शोभा को हर लिया ॥२३॥ सब देववृन्दों से अभिवन्दित एवं देवराज इन्द्र के समीप में बैठे हुए श्री शुक्राचार्य को चिरकालतक युक्त सन्तोष प्राप्त हुआ और वे नृपतियों में सर्वश्रेष्ठ देवराज इन्द्र के पुत्र आदि के तुल्य लालनीय हुए ॥२४॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

स्वर्ग में शुक्र का पुनः अपनी प्रिया को देखना और परस्पर के प्रेमाधिक्य से दोनों का संगम होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त मनोराज्य के प्रभाव से शुक्राचार्य देवलोक में पहुँचकर अपने पुण्यप्रताप से मरण–दुःख के बिना ही अपने प्राक्तन भाव को (शुक्राचार्य को) भूल गये ॥१॥ इन्द्र के समीप में एक मुहूर्त भर विश्राम कर श्री शुक्राचार्य स्वर्ग में चलनेवाले देवताओं से उत्साहित होकर स्वर्ग में विहार करने के लिए उठ खड़े हुए ॥२॥ स्वर्ग की शोभा को और अपनी सुन्दरता को स्त्रीजनों की अत्यन्त अभीष्ट जानकर जैसे सारस कमलिनी को बेधने के लिए जाता है वैसे ही वे अप्सराओं के समूह को देखने के लिए गये ॥३॥ श्री शुक्राचार्यजी ने वन के मध्य में स्थित आम्रलता के समान वहाँ पर अप्सराओं के मध्य में बैठी हुई मृगनयनी उस पूर्वदृष्ट अप्सरा को देखा ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह अप्सरा भी श्री शुक्राचार्य को देखकर मोहित हो गई और शुक्राचार्य भी

स्फुरित हो रहे चंचल हावभावरूपी विलासों से सराबोर आकारवाली उसको देखकर मोहित हो गए। जैसे चाँदनी को देखकर चन्द्रकान्तमणि के सब अवयव गलने लगते हैं वैसे ही उसे देखकर मारे पसीने के शुक्राचार्य के सब अवयव तर हो गये ॥५॥ पसीने से सराबोर शरीर वाले शुक्राचार्यजी ने उस सुन्दर अप्सरा को ऐसे देखा, जैसे कि चन्द्रकान्तमणि आकाश में शोभित होनेवाली शीतल चाँदनी को देखती है ॥६॥ रात्रि में वियोग होने के उपरान्त रोदन करनेवाली चक्रवाकी जैसे प्रातःकाल में चक्रवाक द्वारा देखी जाती है वैसे ही शुक्राचार्य के प्रति अनुरक्त वह भी शुक्राचार्य से देखी गई। अत्यन्त प्रेम होने के कारण उसकी शोभा का ठिकाना न रहा। परस्पर एक दूसरे पर अनुरक्त हुए सूर्य और कमलिनी की प्रातःकाल में जो शोभा होती है, वही उन दोनों की हुई ॥७,८॥ चूँकि स्वर्गरूप देश संकल्पित अर्थ को देनेवाला है, अतएव सम्पूर्ण अंग को विवश करके उसके द्वारा वह काम के लिए अर्पित हुई ॥९॥ जैसे कमलिनी के पत्तों पर मेघों की धाराएँ गिरती हैं वैसे ही उसके कोमल अंगो पर काम के एक-आध नहीं अनेकों बाण गिरे ॥१०॥ कामदेव से कम्पित तथा भँवर के तुल्य चंचलकंकणों से युक्त वह मन्द-मन्द वायु से हिलाई गई भँवरों से व्याप्त मंजरी के सदृश हुई ॥११॥ जैसे मदोन्मत्त हाथी कमलिनी को रौंद डालता है वैसे ही नीलकमल के सदृश नयनवाली तथा हंस और सारस के समान चलनेवाली उस सुन्दरी को कामदेव ने क्षोभित कर डाला ॥१२॥ तदनन्तर सफल संकल्पवाले शुक्राचार्य ने उस सुन्दरी की वैसी दशा देखकर जैसे रुद्र प्रलयकाल में अन्धकार का संकल्प करते हैं वैसे ही अन्धकार का संकल्प किया ॥१३॥ जैसे भूलोक के अन्धकार से लोकालोक पर्वत का तट भर जाता है वैसे ही शुक्राचार्य द्वारा संकल्पित अन्धकार से स्वर्ग का नन्दनवनरूपी प्रदेश भर गया ॥१४॥ लज्जारूपी अन्धकार के लिए सूर्यस्वरूप यानी लज्जारूपी अन्धकार का निवारण करनेवाली उक्त अन्धकार राशि के नन्दनवन में स्त्री पुरुषों के जोड़े के तुल्य स्थिरता को प्राप्त होने पर तथा उसकी सब सखियों के सायंकाल के समय भूलोक में चिड़ियों की नाईं उस प्रदेश से अपने-अपने अभिमत स्थानों में चले जाने पर बड़े-बड़े और चंचल नेत्रप्रान्तवाली तथा बढ़ी-चढ़ी कामपीड़ावाली वह जैसे मयूरी मेघ के समीप जाती है वैसे ही भृगुपुत्र श्रीशुक्राचार्य के समीप में आई ॥१५-१७॥ जैसे श्रीविष्णु भगवान क्षीरसागर में प्रवेश करते हैं वैसे ही शुभ्रभवन के मध्य में स्थित सजे-सजाये पलंग पर भार्गव ने प्रवेश किया ॥१८॥ वह सुन्दरी भी भृगुपुत्र के हाथों को पकड़कर वहाँ पर प्रविष्ट हुई। मारे लज्जा के नतवदन वह सुन्दरी ऐरावत के हृदय में लगी हुई पद्मिनीके समान सुशोभित हुई ॥१९॥ प्रेम और स्नेह से सराबोर वाणी से उसने यह मधुर वचन कहा। उसके उस मधुर वचन में प्रत्येक अक्षर आनन्द के विलास से व्याप्त था ॥२०॥

हे चन्द्रवदन, देखिये, यह कामदेव अपने धनुष को पूर्णरूप से तानकर मुझ अबला को पशोपेश में डाल रहा है ॥२१॥ इसलिए हे नाथ, आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं अबला हूँ और दीन हूँ। आप ही यहाँ पर मेरे शरण हैं। हे सज्जनशिरोमणे, दीनों को आश्वासन देना सच्चरित्र लोगों का व्रत है, ऐसा आप जानिये ॥२२॥ हे महामते, स्नेहदृष्टि को न जाननेवाले मूढ़जन ही अत्यधिक प्रीति की अवहेलना करते हैं, रसज्ञ लोग कदापि प्रीति की अवहेलना नहीं करते हैं ॥२३॥ हे प्रियतम, एक-दूसरे पर अनुरक्त हुए स्त्री-पुरुषों का विच्छेद, अपराध गणना आदि की शंका से रहित उत्पन्न हुआ प्रेम, अमृत बरसानेवाले आनन्ददायक चन्द्रमा से बढ़-चढ़ कर है, जिलानेवाले और आनन्द देनेवाले एक दो नहीं हजारों

चन्द्रमाओं से भी प्रियतम का प्रेम बढ़ा–चढ़ा यह भाव है ॥२४॥ यह त्रिलोकी का ऐश्वर्य चित्त को वैसा आनन्द नहीं देता जैसा कि पहले–पहल अनुकृत हुए प्रियतमों का परस्पर आनन्द देनेवाला प्रेम सुख देता है ॥२५॥ हे सम्मान करनेवाले शुक्राचार्यजी, जैसे रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से संस्पृष्ट कमलिनी विकास को प्राप्त होती है वैसे ही आपके चरणों से स्पर्श से यह मैं आश्वासन को प्राप्त हुई हूँ ॥२६॥ हे सुन्दर, जैसे चपलचकोरी चन्द्रमा की किरणों के रसपान से जीवित रहती है वैसे ही मैं आपके स्पर्शरूपी अमृतपान से जीवित हो रही हूँ ॥२७॥ हे प्राणनाथ, चरणों में लीन हूई इस भ्रमरी रूप मेरे हाथरूपी पल्लवों से आलिंगन कर आप मुझे स्नेह–दयारूपी अमृत से भरे हुए अपने कमलरूपी हृदय में धारण कीजिये ॥२८॥ यह कहकर कल्पवृक्ष की मंजरी के तुल्य जिसके नयनरूपी भँवर मद से घूम रहे थे, तथा फूलों के तुल्य कोमल अंगवाली शुक्र के वक्षस्थल पर गिर गई ॥२९॥ जैसे केसर से पीले हुए वायु से कम्पित पद्मिनी में परस्पर अनुरक्त भँवरी और भँवर प्रवेश करते हैं वैसे ही हावभाव आदि विलासों से अधिक कान्तिवाले वे दम्पती उन वनस्थलियों में प्रविष्ट हुए ॥३०॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

स्वर्गीय विविध सुखों के भोग के अनन्तर भूलोक में आये हुए
शुक्र का वासनावश अनेक जन्मों का तथा तपस्विता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्री रामचन्द्रजी, इस प्रकार चित्त के विलास से चिरकाल तक कल्पित प्रिय प्रणयों से अप्सरा का सुन्दर समागम श्री शुक्राचार्यजी की मनस्तुष्टि के लिए हुआ ॥१॥ मन्दार के फूलों की मालाओं से लदी हुई तथा देवताओं के उपभोग योग्य अमृत या मदिरा से मस्त हुई उस अप्सरा के साथ दूसरे निर्मल चन्द्रमा के तुल्य उक्त शुक्राचार्य ने मन्दाकिनी के तटों पर, जिनमें मदोन्मत्त हंस भ्रमण करते थे और सोने के कमल खिले थे, चारण और किन्नरों के साथ विहार किया ॥२,३॥ चन्द्रमा की कलाओं से निर्मित शरीरवाले देवताओं के साथ उस विलासी ने पारिजात की लताओं के निकुंजों में रसायन का पान किया ॥४॥ झूला झूलने के लिए व्यग्र हुई विद्याधरियों के साथ कुबेर के मनोहर चैत्ररथ नामक उद्यान में लीला के लिए लताओंसे बने हुए सुन्दर झूले से चिरकाल तक क्रीड़ा की ॥५॥ जैसे मन्दराचल समुद्र में अवलोडन करता है वैसे ही उसने श्री शिवजी के पार्षदों के साथ नन्दनवन के एक छोर से दूसरे छोर तक खूब परिभ्रमण किया ॥६॥ नूतन–नूतन सुवर्ण की लताओं से व्याप्त सुमेरू पर्वत की नदियों और भूमियों में उसने इस प्रकार भ्रमण किया जिस प्रकार कि उन्मत्त हाथी कमलों से भरे हुए तालाब में भ्रमण करते हैं ॥७॥ उस विलासी ने उस अप्सरा के साथ कैलासवन के कुंजों में श्रीशिवजी के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा से सदा (कृष्णपक्ष में भी) चाँदनी रातें शिवजी के गणों के गीतों के साथ बिताई ॥८॥ श्री शुक्राचार्य ने गन्धमादन पर्वत के ऊपर के शिखरों पर विश्राम लेकर उस सुन्दरी को सिर से लेकर पैर तक सुवर्ण के कमलों से विभूषित किया ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, लोकालोक पर्वत के तटों के आसपास की भूमियों में, जो विविध आश्चर्यों से भरपूर थी, हँसते हुए उसने उस अप्सरा के साथ क्रीड़ा की ॥१०॥ मन्दराचल के मध्यवर्ती जलप्राय शीतल प्रदेशों में उसने मृगों के साथ अपने मन

से कल्पित देवमन्दिरों में साठ वर्षों तक निवास किया ॥११॥ स्त्री के साथ निवास करनेवाले श्री शुक्राचार्य का क्षीरसागर के तटों में श्वेतद्वीप के लोगों के साथ आधा सत्ययुग बीत गया ॥१२॥ गन्धर्वनगर के उद्यानों की क्रीड़ाओं के निर्माण से एकमात्र मनोरथ द्वारा अनन्त संसारों की सृष्टि का सर्जनहार होकर शुक्र काल की समता को प्राप्त हुआ ॥१३॥

तदनन्तर श्री शुक्राचार्य ने उस मृगनयनी के साथ पुनः स्वर्ग में सुखपूर्वक आठ चौकड़ियों तक निवास किया ॥१४॥ तदुपरान्त स्वर्ग से पतन के स्मरण के भय से जिनका दिव्य शरीर गल गया था, ऐसे श्री शुक्राचार्य पुण्यक्षय से उस सुन्दरी के ही साथ भूमि पर गिर पड़े ॥१५॥ जिनके सब दिव्य अंग–प्रत्यंग कट गये थे और विमान, नन्दनवन तथा वस्त्र, आभूषण आदि के उपभोग के साधन जिनसे छीने गये थे एवं चिन्ताग्रस्त श्री शुक्राचार्य युद्ध में मारे गये योद्धा की नाईं नीचे गिर गये ॥१६॥ दीर्घ चिन्ता के साथ भूमण्डल पर गिरे हुए उनके शरीर के शिला के ऊपर गिरे हुए झरने की धार के समान सौ टुकड़े हो गये ॥१७॥ उन दोनों के खण्ड–खण्ड हुए दो शरीरों के लिंग शरीर दुःख से मलिन होकर जिनके घोंसले नष्ट हो गये हों, ऐसे पक्षियों के तुल्य आकाश में घूमने लगे ॥१८॥ आकाश में वे दो लिंग शरीर चन्द्रमा की किरणों में प्रविष्ट हुए। तदनन्तर तुरन्त ओस की बूँद बनकर धान के रूप में परिणत हो गये ॥१९॥ पके हुए उन धानों को दशार्ण देश निवासी ब्राह्मण ने खाया। वह शुक्राचार्य वीर्य बनकर उस ब्राह्मण की भार्या का पुत्र हुआ ॥२०॥ ब्राह्मण के घर जन्म लेने के अनन्तर मुनियों के साथ संगति होने से घोर तपस्या में स्थित हुआ वह पुण्यवान एक मन्वन्तर तक मेरुपर्वत के गहन वन में रहा ॥२१॥ वहाँ पर उसका शापवश मृगी बनी हुई उस अप्सरा से नराकार पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र के स्नेह से वह फिर भी तुरन्त अत्यन्त मोह को प्राप्त हो गया ॥२२॥ मेरे इस पुत्र के धन हो, बड़े उत्तम गुण हों, बड़ी आयु हो इस प्रकार सदा बनी रहनेवाली चिन्ताओं से उसने ध्यान आदि की निष्ठा का परित्याग कर दिया ॥२३॥ पुत्र के लिए भोगों की चिन्ता से धर्म के चिन्तन से विमुख होने के कारण क्षीणायु हुए उसको मृत्यु ने ऐसे ग्रसा जैसे कि साँप वायु को ग्रसता है ॥२४॥ एकमात्र भोगों की चिन्ता के साथ उसके प्राणपखेरू उड़े थे, अतएव वह मद्रदेशाधिपति का लड़का बनकर समय आने पर मद्रदेश का शासक बना ॥२५॥ मद्रदेश में चिरकाल तक निष्कण्टक राज्य करके जैसे कमल हिमरूपी वज्र को प्राप्त होता है वैसे ही वह बुढ़ापे को प्राप्त हुआ ॥२६॥ तप की वासना के यानी वानप्रस्थ के धर्मचिन्तन के साथ उसने वह सुन्दर मद्रराज का शरीर छोड़ा था, इस कारण वह तपस्वी का लड़का और स्वयं तपस्वी हुआ ॥२७॥ हे श्रीरामजी, शान्ति आदि से राग आदिसन्तापों का निरास कर चुके उस महामति तपस्वी ने समंगा नाम की महानदी के तट पर पहुँचकर तपस्या की ॥२८॥ वह पूर्वोक्त शुक्राचार्य नाना प्रकार की वासनाओं से वासित होकर उन वासनाओं के अनुसार प्राप्त होनेवाली विविध जन्म दशाओं को प्राप्त कर, शरीर परम्पराओं का भलीभाँति अनुभव कर भाग्यवश प्राप्त हुई वैराग्य आदि की साधन सम्पत्ति से समंगा नाम की बड़ी नदी के सुन्दरतट पर विक्षेपशून्य हो, दृढ़ वृक्ष के समान यानी छेदन, भेदन आदि हजारों विक्षेप होने पर भी अचल रहने वाले वृक्ष के तुल्य स्थित रहा ॥२९॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

भृगु ऋषि के समीप में स्थित मृतप्राय शुक्र शरीर के पतन और सूखने का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार पिता के आगे मनोराज्यों से कल्पना कर रहे श्री शुक्राचार्य का अनेक वर्ष का लम्बा समय बीत गया ॥१॥ इसके अनन्तर अधिक समय बीतने के कारण वायु और धूप से जर्जरित हुआ शुक्राचार्य का शरीर, जिसकी जड़ कट गई हो, ऐसे वृक्ष के तुल्य, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२॥ किन्तु चंचल शरीरवाले मन ने तो पुनः पुनः अपने से कल्पित स्वर्गगमन आदि–आदि विचित्र धाराओं में जैसे अत्यन्त विचित्र वनश्रेणियों में मृग भ्रमण करता है वैसे ही भ्रमण किया ॥३॥ उसके मन को, जिसने विविध भोगों की कल्पनाओं से भ्रमण किया, जन्म–मरण परम्पराओं की कल्पना से चक्र में रक्खे हुए की तरह व्याकुलतापूर्वक चारों ओर ऊपर नीचे चक्कर काटा, समंगा नदी के तट पर विश्रान्ति मिली ॥४॥

शुक्राचार्य अपने शरीर की कुछ भी परवाह न कर अनन्त वृत्तान्तों से भरी हुई मन की कल्पनामात्र होने के कारण अत्यन्त कोमल तथा यह सत्य है, इस भ्रान्तिवश पूर्व देह के विस्मरण से अत्यन्त दृढ़ उस संसार दशा का अनुभव करते रहे ॥५॥ उस धीमान का मन्दराचल के शिखर पर स्थित वह स्थूल शरीर ताप की अधिकता से सूखकर बाहर केवल चर्मशेष रहा और भीतर केवल हड्डी ही उसमें रह गई ॥६॥ वह शरीर अभिमान दुःख के क्षय से प्राप्त आनन्द के कारण शरीर के छिद्रों मे बह रहे वायु से, बाँस के छिद्रों में बह रहे वायु की वेणुध्वनि के तुल्य सीत्कारों से हुई काकली से (मीठी महीन तान से) देह की ऐसी गति होती है, यों देह की चेष्टाओं को मानों गाता था ॥७॥ वह शरीर संसार भूमियों में भोगाशारूपी गड्ढे में पूर्वोक्त रीति से गिरे हुए बेचारे मन का सफेद मेघों के सदृश सफेद दन्तपंक्ति से मानों उपहास करता था ॥८॥ वह शरीर मुखमण्डलरूपी अरण्य में पुराने अंधे कुओं के तुल्य नाक, आँख, मुँह आदि के गड्ढों की शोभा से जगत की स्वाभाविक असद्रूपता को (शून्यता को) विवेकी पुरुषों के चर्मचक्षुओं के सामने दर्शाता हुआ–सा स्थित था ॥९॥ पहले सूर्य संताप से तपाया गया, ताप से तपने के बाद वर्षाऋतु की मूसलाधार वृष्टि से सींचा गया वह शरीर मानों अपने बन्धुरूप पूर्व पूर्व शरीरों की परम्परा के स्मरण से उत्पन्न हुए दुःख से या आनन्द से बढ़नेवाले बाष्प को छोड़ता था ॥१०॥

चण्डालिन के (तेज आँधी के) विलास से वनभूमियों में इधर–उधर लुढ़कता था और वर्षाऋतु के आने पर वृष्टि की धाराओं के निपात से ताड़ित होता था, पर्वत की नदी के तट पर वर्षाऋतु के झरने के तुल्य गेरु आदि धातुओं के रंग से रंगा गया था, आँधी से उड़ी हुई धूलि से, जो पाप के सदृश थी, वह सना था। सूखे काठ के समान वह चंचल था, वायु बहने पर आकाश में भाँजने से उत्पन्न हुआ तलवार का सा शब्द करता था, तेज वायु की साँय–साँय से भरे हुए वन में मानों वह तपस्या करता था। वह शुक्राचार्य का शरीर टेढ़ा हो गया था, उसके आँतरूपी तन्तु सूख गये थे, वह प्राणियों को डरानेवाली भीषण ध्वनि करता था, वह अलक्ष्मी के तुल्य था, आहार से शून्य था, अतएव उसके पेट में केवल चमड़ा ही बच गया था ॥११–१४॥ उस पवित्र आश्रम में राग–द्वेष की कहीं गन्ध भी न थी और महर्षि भृगुजी महातपस्वी थे, अतएव शुक्राचार्य के शरीर को मांसाहारी पशु–पक्षियों ने नहीं खाया ॥१५॥

शुक्राचार्य का चित्त, जिसने कि यम और नियमों से अपनी शरीरयष्टि को कृश बना डाला था, तपस्या करता था और उनका वह पूर्वशरीर, जिसके रुधिर को वायु ने सुखा दिया था, बड़ी-बड़ी शिलाओं पर चिर काल तक बराबर लुढ़कता रहा ॥१६॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

पुत्र का शरीर देखने से भृगुजी का कालके प्रति क्रोध तथा
काल का आत्मविद्या से भृगुजी को बोधित करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर देवताओं के हजार वर्ष बीतने पर भगवान भृगुजी भगवान का साक्षात्कार करानेवाली समाधि से उठे ॥१॥ उन्होंने विनय से अवनत, सैकड़ों सद्‌गुणों के आकार, मूर्तिमान पुण्यके सदृश पुत्र श्री शुक्र को अपने आगे नहीं देखा किन्तु उन्होंने पुत्र के बदले अपने आगे देहधारी दुर्भाग्य के सदृश तथा मूर्तिमान दारिद्र्य के तुल्य शुक्राचार्य का केवल महान देहपंजर (शव) देखा ॥२,३॥

उक्त नर कंकाल का ही वर्णन करते हैं।

धूप से उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया था, उसके चमड़े के छेदों में तीतर फुदक रहे थे, उदररूपी गुहा की, जिसकी आँतें सूख गई थी, छाया में मेंढक आराम कर रहे थे, आँखों के गड्ढों में नये-नये कीड़े सटे थे, बच्चे देने से उनकी संख्या कहीं अधिक बढ़ गई थी और पसलीरूपी पिंजड़े में मकड़ियों के दल के दल गुँथे थे ॥४,५॥ वह कंकाल वर्षा की धाराओं से धोई हुई अँतड़ी से और खूब सूखी हुई हड्डियों की माला से भला और बुरा फल देनेवाली पूर्व काल की भोगवासना का अनुकरण करता था एवं सफेद, चिकने तथा चन्द्रमा के समान प्रकाशमान सिररूपी घड़े से कपूर से लिप्त शिवलिंग के सिर की शोभा का अनुकरण करता था ॥६,७॥ वह सीधी गर्दन से, जिसकी नसें सूख गई थी, एक मात्र हड्डी शेष रह गई थी एवं जो वासना से व्याप्त आत्मा का अनुसरण सा कर रही थी, अपने आकार को ऊँचा कर रहा था ॥८॥ वह कमल की जड़ के तुल्य सफेद नासिका के अग्रभाग की छोटी हड्डी से, जिसका कि वृष्टि धाराओं से मांस गिर गया था, मुँह में सीमा जानने के लिए गाड़े हुए पत्थर आदि के आकार को धारण करता था ॥९॥ वह कंकाल ऊँची गर्दन से, जिसने उसके मुँह को ऊँचा किया था, मानों आकाश में उठे हुए प्राणपखेरुओं को देख रहा था ॥१०॥ दीर्घ परलोकमार्ग के परिश्रम से उसे भय था, अतएव फूल कर दुगने हुए आठ अंगों से जाँघ, घुटनों, बाहुदण्डों और उरुओं से आठ दिशाओं के प्रति प्रस्थान करता हुआ सा वह स्थित था। भाव यह कि उनसे पृथक् होकर वह भागना चाहता था ॥११॥ अत्यन्त रिक्त, सूखे हुए एवं चमड़ा ही जिसमें शेष है, ऐसे उदर से अज्ञानी के हृदय की शून्यता को मानों वह दर्शा रहा था ॥१२॥ अपने दुःखरूपी हाथी के बन्धनस्तम्भ के तुल्य उस सूखे हुए कंकाल को देखकर पूर्वापर का विचार न करते हुए भृगु उठ खड़े हुए ॥१३॥ तदनन्तर पुत्र के कंकाल को देखते ही भृगु के मन में तुरन्त यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि क्या मेरे लड़के के प्राण पखेरू चिरकाल से उड़ गये हैं ! ॥१४॥ अवश्यम्भावी वस्तु का विचार न कर रहे महर्षि भृगु को पुत्र को मरा देखकर तुरन्त काल के

प्रति बड़ा गुस्सा आया ॥१५॥

हे क्रूर काल, अकाल में ही तुमने मेरे पुत्र को क्यों मारा ? यों कुपित हुए भगवान भृगु काल को शाप देने के लिए तैयार हुए ॥१६॥ मुनिजी के शाप देने के लिए उद्यत होने पर लोगों को कवलित करनेवाला रूपरहित भी यह काल आधिभौतिक शरीर धारण कर मुनिजी के पास आया ॥१७॥ उसकी शोभा अद्‌भुत थी, उसके हाथ में खड्ग और पाश था, वह कुण्डलों से विभूषित था और कवच पहने था। प्रत्येक ओर उसकी छः भुजाएँ (बारह मासरूप बारह भुजाएँ) थी, छः (ऋतुरूपी) मुख थे, अपनी बड़ी भारी किंकरों की सेना से वह घिरा था। उस समय उसके शरीर से उत्पन्न हुई और चारों ओर फैल रही ज्वालाओं से फूले हुए पलाश के वृक्षों से पूर्ण पर्वत की शोभा को आकाश धारण करता था। उसके हाथमें स्थित त्रिशूल के शिखरों से बाहर निकल रही अग्नि की ज्वालाओं से, जो सुवर्ण के कुण्डलों के तुल्य प्रतीत होती थी, दसों दिशाएँ सुशोभित हुई ॥१८–२०॥ उसके तेज श्वासवायु से छिन्न–भिन्न शिखरवाले हुए पर्वत झूले में बैठे हुए की तरह इधर–उधर झूलते और चक्कर काटकर गिर पड़ते थे ॥२१॥ उसके तलवार के मण्डल की चमक से काला हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रलयकाल में जले हुए जगत के धुएँ से व्याकुल हुआ सा मालूम पड़ता था ॥२२॥ हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, वह काल कुपित हुए भृगुजी के पास आकर प्रलयकाल में क्षुब्ध हुए समुद्र के तुल्य गंभीर स्वरसे शान्तिपूर्वक उनसे बोला ॥२३॥ हे मुनिजी, लोक की मर्यादा को जाननेवाले एवं पूर्वापर व्यवहारों को देखे हुए उत्तम लोग दूसरे से अपराध होने पर भी मोह को प्राप्त नहीं होते। अपराधरूप हेतु के न रहने पर तो कहना की क्या है ? ॥२४॥ भगवन्, आप महातपस्वी ब्राह्मण हैं। हम नियम का पालन करनेवाले हैं, हे साधो, आप पूज्य हैं, इसलिए हम आपकी पूजा करते हैं। शाप के भय आदि से उत्पन्न हुई इच्छा से हम आपकी पूजा नहीं करते ॥२५॥ हे बुद्धिरहित ❊ मुनिजी, आप तप का नाश न कीजिये। जो मैं प्रलयकालरूपी महाग्नियों से भी नहीं जलाया गया, उसको आप अपने शाप से क्या जलायेंगे ? ॥२६॥ हमने संसार की पंक्तियों की पंक्तियाँ निगल डाली हैं, करोड़ों रुद्र चबा डाले हैं, एक नहीं, हजारों विष्णुओं को ग्रस डाला है। हे मुनिजी, किस विषय में हम समर्थ नहीं हैं ? उसे जरा उदाहरणरूप से उपस्थित तो कीजिये ॥२७॥ हे ब्रह्मन्, हम लोग भोक्ता हैं और आप लोग हमारे भोजन हैं, यह स्वाभाविक मर्यादा है। इच्छा, द्वेष आदि किसी अन्य निमित्त से हम लोगों का यह भोग्य–भोक्तृत्व व्यवहार नहीं है ॥२८॥ अग्नि अपने–आप ऊपर की ओर चलती है जल स्वभावतः नीचे की ओर बहता है, भोजन स्वभावतः भोक्ता के पास आता है और विनाशकाल भी जितने जन्य पदार्थ हैं उनके पास स्वभावतः आता है ॥२९॥

यदि कोई प्रश्न करे कि आपकी यह सर्वभोक्तृता कहाँ से आई और आपका क्या स्वरूप है तो उस पर कहते हैं।

यह मूर्तामूर्त जगत परमात्मारूप मेरा यों भोज्यरूप से ही अपने में कल्पित रूप है, क्योंकि परमात्मा अपने में स्वयं ही जगतरूप से विकास को प्राप्त होता है, अतः स्वयं ही इसका उपसंहार करता है, यह भावार्थ है ॥३०॥

यह भी औपनिषदव्यवहार दृष्टि से कहा है, परमार्थदृष्टि से तो कहते हैं।

❊ बुद्धि के ज्ञान से बाधित होने के कारण हे अबुद्धे यानी हे अविद्यमान बुद्धे यों मुनि की प्रशंसा ही की है।

कलंकरहित दृष्टि से (परमार्थदृष्टि से) न तो यहाँ कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता है, किन्तु कलंक युक्त दृष्टि से (कर्मकाण्डियों की दृष्टि से) यहाँ पर बहुत से कर्ता हैं ॥३१॥ हे ब्रह्मन्, कर्तृत्व और अकर्तृत्व असम्यग् दृष्टि पुरुष से केवल कल्पित हैं। आपको तो तत्त्वसाक्षात्कार हो चुका है। आपकी दृष्टि में कर्तृत्व और अकर्तृत्व हैं ही नहीं ॥३२॥

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'(भगवान मनुष्यों के कर्तृत्व और शुभाशुभ कर्मों की सृष्टि नहीं करते हैं) इत्यादि भगवान द्वारा प्रदर्शित पक्ष का अवलम्बन करके कहते हैं।

विविध वृक्षों में रंग-बिरंगे फूलों की तरह इन भुवनों में प्राणी स्वयं आते हैं और जाते हैं। इस विषय में कर्ता आदि शब्दों से काल ही कल्पित होता है ॥३३॥ जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के चलन में कर्तृता और अकर्तृता परमार्थ दृष्टि से उसका अभाव होने के कारण सत्य नहीं हैं और व्यवहारदृष्टि से संवाद होने के कारण वे असत्य भी नहीं हैं वैसे ही सृष्टियों में कालरूप परमात्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व परमार्थदृष्टि से सृष्टि का अभाव होने से सत्य नहीं हैं और व्यवहार दृष्टि से असत्य भी नहीं हैं ॥३४॥ जैसे दूषित दृष्टिवाला पुरुष रस्सी में सर्पत्व की कल्पना करता है वैसे ही मन ने मिथ्याभ्रम में कर्तृत्व और अकर्तृत्व रूप कल्पना कर रक्खी है ॥३५॥ हे मुनिजी, पूर्वोक्त रीति से मेरे अपराध का संभव न होने से आप व्याकुल होकर कोप न कीजिये। आपत्तियों का ऐसा ही क्रम है। जो जैसा है वह वैसा होकर ही रहेगा, इसे आप सत्य समझिये ॥३६॥

राग, अभिमान आदि के कारण यदि मैंने आपके पुत्र का विनाश किया होता तो वैसी स्थिति में मुझमें अपराधिता हो सकती थी, पर वे मुझमें हैं ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे पूज्य, भ्रान्ति से कल्पित ख्याति, पूजा आदि में अनुराग रखनेवाले हम लोग नहीं हैं और न अभिमान के ही वशीभूत हैं। आपके समीप में हमारा आगमन भी आपके क्रोध के भय से नहीं हुआ है किन्तु तपस्वियों का सम्मान करना चाहिए इस नियम के कारण ही हुआ है, हे तात, हम स्वयं भी अपने वश में नहीं हैं केवल नियति के वशमें स्थित हैं ॥३७॥

मेरी नियति की वशवर्तिता उचित है, क्योंकि सब प्राज्ञ पुरुष उसका अनुसरण करते हैं और आपको क्रोध, अभिमान और अज्ञान का वशवर्ती होना उचित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

सब प्राज्ञ पुरुष जगत की मर्यादा के पालक ईश्वर की इच्छारूप महानियति के बल से आन्तर प्रकृतव्यवहारेच्छारूप नियति का अनुवर्तन करते हैं, अभिमानरूप महातम का अनुवर्तन नहीं करते ॥३८॥ व्यवहारचतुर पुरुषों को अपनी-अपनी उचित मर्यादा का अवश्य पालन करना चाहिये। आप तमोवृत्ति का अवलम्बन करके कदापि उसका नाश न कीजिये ॥३९॥ आपकी वह ज्ञानमयी दृष्टि कहाँ, वह महत्त्व कहाँ, वह धैर्य कहाँ ? सब प्राज्ञ पुरुषों के परिचित मार्ग में भी आप अन्धे की नाईं क्यों मोह में पड़े है ? ॥४०॥ हे मुनिजी, अपने कर्म के फल की परिणामरूप दशा का विचार न करके हे सर्वज्ञ, मूर्ख की नाईं आप मुझे व्यर्थ शाप देना चाहते हैं ॥४१॥ हे मुनिजी, आप क्या नहीं जानते हैं कि यहाँ पर सब प्राणियों के दो प्रकार के शरीर होते हैं। उनमें से एक स्थूल शरीर है और दूसरा मननामक सूक्ष्म शरीर है ॥४२॥ उनमेंसे देह अत्यन्त जड़ और थोड़े से भी निमित्त से नष्ट होनेवाला है एवं मन मोक्ष तक स्थिर रहनेवाला और प्रातिभासिक है। वही आपका मनरूप सूक्ष्म शरीर क्रोध आदिसे पीड़ित

हो रहा है ॥४३॥ हे सज्जनशिरोमणे, जैसे अभिमान से कुछ कर रहे चतुर सारथि द्वारा रथ चलाया जाता है वैसै ही अभिमान से 'इस प्रकार का' यों विशेषरूप जो नहीं कहा जा सकता, ऐसे आभ्यन्तर व्यापार को कर रहे मन द्वारा यह शरीर चलाया जाता है। जैसे बच्चा कच्चे मिट्टी के खिलौने को, जो विद्यमान नहीं है, बनाता है और पहले से बने हुए का नाश करता है वैसे ही यह मन असत् (अविद्यमान) देह का संकल्प करता है और पूर्व विद्यमान देह का नाश करता है ॥४४,४५॥ इस लोक में चित्त ही पुरुष है उसका किया हुआ ही कृत कहा जाता है। वह चित्त असत् संकल्परूप कल्पना से बद्ध है। कल्पना का विनाश होने पर विमुक्त हो जाता है। मन की देह कल्पना इस प्रकार है : 'यह देह है, इसमें स्थित यह अंग है, यह सिर है', यों विविध विकारों से वह मन ही इन रूपों में कहा जाता है। मनही पूर्व जीव से अन्य जीव की संज्ञावाला होता है। (एक ही मन जैसे पूर्वपूर्व जीव से अन्य जीव की संज्ञावाला होता है वैसा जीवटोपाख्यान में कहा जायेगा।) उसके बाद मन से संकल्पित अर्थ में निश्चय होने से मन बुद्धि होता है। मन ही अभिमान करने के कारण अहंकार होता है। इस प्रकार मन स्वयं ही नानात्व को प्राप्त होता है। मन देह की वासना से अन्य या अपने पार्थिव शरीरों को, जो कि विद्यमान नहीं है, इच्छा से देखता है ॥४६–४९॥

मन की यह देह आदि कल्पना आत्म–साक्षात्कार तक ही होती है, उसके बाद नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

यदि मन सत्य तत्त्व का साक्षात्कार करता है, तो उस समय असत्य शरीर भावना का त्याग कर परम निवृत्ति को प्राप्त होता है ॥५०॥

इस प्रकार भृगु को ज्ञानोपदेश देकर एकमात्र मनोविलास से किये गये उनके पुत्र के वृत्तान्त को कहते हैं।

आपके समाधि में स्थित होने पर आपके पुत्र का मन अपने मनोरथ के मार्ग से बहुत दूर चला गया। वह इस भार्गव शरीर का मन्दराचल की कन्दरा में त्यागकर स्वर्ग में ऐसे चला गया जैसै कि घोंसले से उड़ा हुआ पक्षी आकाश में जाता है। हे मुनिजी, वहाँ पर मन्दराचल के निकुंजों में, पारिजात वृक्षों के तले, नन्दनवन के उद्यानों में और लोकपालोंके नगरों में महातेजस्वी आपके पुत्र ने आठ चौकड़ी तक विश्वाची नामक अप्सराओं का ऐसे सेवन किया जैसे भ्रमर पद्मिनी का सेवन करते हैं ॥५१–५४॥

स्वर्ग की तरह पुण्य के क्षय से स्वर्ग से पतन भी मन की कल्पना से ही हुआ, इस आशय से कहते हैं।

तीव्र वेग से उत्पन्न अपनी कल्पना से कल्पित पुण्यक्षय रात्रि के कुहरे की तरह प्राप्त होने पर उसके पुष्पों की शिरोमालाएँ म्लान हो गयी। अंक के अवयवों का उल्लास धीमा पड़ गया। वह काल से पके हुए फल की नाईं उस अप्सरा के साथ स्वर्ग से गिरा। उस दिव्य शरीर का आकाश में ही परित्याग कर वह भूताकाश में आया। तदुपरान्त पृथ्वी में उत्पन्न हुआ ॥५५–५७॥ पहले वह दशार्ण देश में ब्राह्मण हुआ। तदनन्तर कोसल देश में वह राजा हुआ। उसके बाद महाटवी में वह धीवर हुआ। धीवरयोनि के उपरान्त वह गंगाजी के तट पर हंस हुआ। तदनन्तर सूर्यवंश में पौंड्र देश का राजा हुआ। सौरशाल्व देश में दूसरों को उपदेश देनेवाला मन्त्र सिद्ध हुआ। एक कल्प तक वह सुन्दर विद्याधर

हुआ। तदनन्तर वह सुन्दर बुद्धिमान मुनिपुत्र वासुदेव इस नाम से प्रसिद्ध समंगा नामक नदी के तट पर स्थित रहा। वासनावश और भी विचित्र और विषम अन्यान्य योनियों में आपका पुत्र भ्रमण करता रहा ॥५८–६१॥ फिर विन्ध्य पर्वत में वह किरात हुआ, तदनन्तर कैकट नगर में किरात हुआ। किरात योनि के वाद सौवीर देशमें वह सामन्त राजा हुआ। उस योनि में किये गये पापों से उसे तिर्यक्, स्थावर आदि अनेक जन्म भोगने पड़े, सामन्त होने के बाद त्रिगर्त देश में गधा हुआ। किरात देश में बाँस की कोठी हुआ। चीन के जंगल में हरिण हुआ, फिर ताड़ के वृक्ष में साँप हुआ। तमाल के वृक्ष में मृग हुआ ॥६२,६३॥ हे मुनिजी, आपके इस पुत्र ने मन्त्रवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ होकर विद्याधर नगर में पहुँचानेवाली विद्या का पहले जप किया था। इसलिए हे ब्रह्मन्, यह आकाशमें श्रेष्ठ विद्याधर हुआ, जो कि हार, केयूर आदि भूषणों से एवं विविध लीलाओं से स्त्रियों को आह्लाद देने वाला हुआ ॥६४,६५॥ दूसरे कामदेव की नाईं नायिकारूपी नलिनियों को प्रकाशित करनेवाला विद्याधरियों का अत्यन्त प्रिय एवं गन्धर्व नगर का भूषण हुआ ॥६६॥ कल्पर्रूपी अवधि को प्राप्त कर प्रलयकाल के एक साथ उदित हुए बारह आदित्यों की ज्योति में जैसे पतंगा अग्नि में भस्मता को प्राप्त होता है वैसे ही वह भस्मशेष हो गया। तदनन्तर जैसे घोंसले से रहित चिड़िया आकाश में घूमती है, वैसे ही उसकी वासना जगन्निर्माण रहित विशाल आकाश में घूमती थी। तदनन्तर समय पाकर विचित्र–विचित्र विविध कर्म करनेवाले संसार की सृष्टि के आरम्भ से युक्त ब्रह्मा का प्रातःकाल होने पर हे मुनिजी, आपके पुत्र की वह वासना वायु से परिचालित होकर सत्ययुग में ब्राह्मणता को प्राप्त होकर इस भूमण्डल में उत्पन्न हुई ॥६७–७०॥ हे मुनिजी, वह ब्राह्मण का कुमार वासुदेवनाम से उत्पन्न हुआ, विद्वान लोगों के बीच में उसने समस्त वेदों का अध्ययन किया। हे महामुने, एक कल्प तक विद्याधर होकर वह आपका पुत्र इस समय समंगा नदी के किनारे बैठ कर तप करता है ॥७१,७२॥ मुने, वह जिस जगत में विविध विषयों की वासनाओं के अनुवर्तन से खैर और करौंदे के काँटों से भीषण पर्वत की गुफाओं के तुल्यविभिन्न गर्भाशयों में तथा घनी लता और झाड़ियों से अत्यन्त व्याप्त वनस्थलियों में भी भटका ॥७३॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

महर्षि भृगु के योगदृष्टि से भलीभाँति पुत्रवृत्तान्त प्रदर्शन से तथा
काल के संवाद से जगत की स्थिति मन का खेल है, यह वर्णन।

काल ने कहा : हे मुनिजी, समंगा नदी के तट पर, जहाँ बड़ी–बड़ी तरंगो की पंक्तियों की गंभीर ध्वनियों से वायु प्रतिध्वनित होते हैं, आपका पुत्र तपस्या कर रहा है। उसने जटा धारण कर रक्खी है, रुद्राक्ष की मालाओं के कंकण पहन रक्खे हैं और सब इन्द्रियों के अपने–अपने विषयों में भ्रमण को रोक दिया है। इस प्रकार की गतिविधि से युक्त वह आठ सौ वर्षों से वहाँ पर अटल तपस्या में स्थित है ॥१,२॥ हे मुनिजी, यदि आप पुत्रचरित्ररूप पुत्र के मनोभ्रम को, जो स्वप्न के तुल्य है, देखना चाहते हैं, तो योगदृष्टि को भलीभाँति खोल कर शीघ्र उसे देखिये ॥३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जगतों के एकमात्र अधिपति सर्वत्र समदृष्टि कालके

यों कहने पर महर्षि भृगु ने योगदृष्टि से पुत्र के चरित्र का ध्यान किया ॥४॥ उन्होंने ध्यानवश एक क्षण में बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित पुत्र के वृत्तान्त को आदि से लेकर अन्त तक सम्पूर्ण देख लिया ॥५॥ फिर समंगा नदी के तट से आकर मन्दराचल के शिखर पर कालके आगे स्थित अपने स्वस्थ शरीर में भृगु ने प्रवेश किया (✍) ॥६॥ आश्चर्य से विकसित सुन्दर दृष्टि से राग–द्वेषशून्य काल को देखकर पुत्र के प्रति रागरहित हुए मुनि भृगुजी ने यह वचन कहा ॥७॥ हे भगवन्, हे भूत और भविष्य के अधिपति, हम लोगों का चित्त स्नेह आदि से मलिन है, इसलिए हम लोग अज्ञानी हैं। हे देव, आप जैसे त्रिकालज्ञ पुरुषों की ही बुद्धि भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों को साफ–साफ देखती है ॥८॥ तरह–तरह के विकारों से भरी हुई और असत्य स्वरूपवाली यह जगत् स्थिति सत्य–सी प्रतीत होती हुई विद्वान को भी भ्रमयुक्त करती है ॥९॥

विषयभूत जगत–स्थिति की तरह कारणभूत मन का रूप भी हम लोगों के लिए दुर्ज्ञेय है, ऐसा कहते हैं।

हे देव, इस मनोवृत्ति का जो स्वरूप आपके अन्दर रहता है और इन्द्रजाल के तुल्य माया और मोह की सृष्टि करता है, उसे आप ही जानते हैं ॥१०॥ भगवन्, मेरे इस पुत्र की महाकल्प तक मृत्यु नहीं है ऐसा मुझे ज्ञात था। इसीलिए उसे मृत देखकर मुझे यह व्यामोह हुआ है ॥११॥ हे देव, मेरे पुत्र की आयु अभी क्षीण नहीं हुई है फिर भी काल उसे ले गया, इस प्रकार मेरी तुच्छ इच्छा भगवदिच्छा से उत्पन्न हुई ॥१२॥ हे विभो, यद्यपि हम लोग संसार की गति को भलीभाँति जान चुके हैं तथापि भगवदिच्छावश हम आपत्तियों और सम्पत्तियों के हर्ष और क्रोध के वशीभूत होते हैं ॥१३॥ भगवन्, अपकार या अनुचित कार्य करनेवाले व्याक्ति पर क्रोध करना चाहिए और उचित कर्मकारी पर प्रसन्नता प्रगट करनी चाहिए, इस प्रकार का नियम संसार में चिरकाल से चला आ रहा है, इसलिए मैंने आपके प्रति क्रोध किया है ॥१४॥ जब तक यह अवश्य करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए यों इष्ट और अनिष्ट साधनों का फल सत्य है, ऐसी प्रतीति रहती है तभी तक जगत की भ्रान्ति है, हे जगत्गुरो, इस समय उस भ्रान्ति का तत्त्वज्ञान से त्याग हो चुका है, इसलिए क्रोध और प्रसन्नता करना चाहिये, यह नियम भी हेय हो गये है। इस समय आप पर क्रोध करना अनुचित ही है ॥१५॥

पूर्व वर्णित रीति से अपराध के रहते भी क्रोध करना उचित नहीं है, यदि अपराध बिलकुल न हो, उसे अपराध मानकर क्रोध किया जाय, तो क्रोध करनेवाले को ही दण्ड देना उचित है, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, केवल आपके एकमात्र नियम परिपालनरूप कार्य का विचार न कर यानी आप केवल नियम का परिपालन करते हैं किसी के प्रति राग–द्वेष से किसी का हनन नहीं करते इसका विचार न कर

(✍) यहाँ पर भृगु अपने शरीर से निकलकर उन–उन समंगातटपर्यन्त सब प्रदेशों में क्रमशः पुत्र के वृत्तान्त को देखकर फिर वापिस आकर अपने शरीर में प्रविष्ट हुए, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये क्योंकि योगबल से अपने स्थान में सब कुछ देखा जा सकता है और निकल कर घूमने पर भूत और भविष्य वृत्तान्त का दर्शन योगदृष्टि के बिना नहीं हो सकता। इसलिए 'समंगा नदी के तट से आकर अपने शरीर में प्रविष्ट हुए' इस उक्ति का तात्पर्य उसके चिन्तन को छोड़कर उन्होंने केवल शरीर का संधान किया, इसमें समझना चाहिये।

जब हम आपके लिए क्रुद्ध हुए तब हम ही आपके दण्डनीय हो गये हैं ॥१६॥ हे देवाधिदेव, आपने इस समय मुझे मेरे पुत्र के चरित्र का स्मरण कराया है, इस कारण समंगा नदी के तीर पर योगदृष्टि से मैंने अपने पुत्र को देखा है ॥१७॥ इस जगत में मन ही भौतिक शरीर की कल्पना करता है, इसलिए सर्वत्र जानेवाले मन ही प्राणियों के स्थूल और सूक्ष्म शरीर है। मन से इस जगत की भावना होती है ॥१८॥ इस तरह विनयपूर्ण वार्तालाप से एवं अपने द्वारा उपदिष्ट सूक्ष्मतत्त्व के ग्रहण से काल सन्तुष्ट हुए थे, अतएव उनकी उक्ति की प्रशंसा करते हुए काल ने कहा : ब्रह्मन्, आपने मन ही शरीर है, ऐसा जो कहा है, वह बहुत ठीक कहा है, क्योंकि जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है, वैसे मन संकल्प से देह का निर्माण करता है ॥१९॥ जैसे बालक अज्ञानवश अविद्यमान वेताल की कल्पना करता है वैसे ही मन संकल्प से पूर्व में नहीं बनाये गये आकार का क्षणभर में निर्माण करता है और पूर्वकृत आकार का क्षणभर में विनाश करता है ॥२०॥

मन की असत् पदार्थ के निर्माण की शक्ति सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

देखिये न भ्रम, स्वप्न, मिथ्याज्ञान आदि से भासुर तथा गन्धर्वनगर के तुल्य आकारवाली शक्तियाँ मन मे देखी गई हैं ॥२१॥ हे महामुनिजी, इस स्थूल दृष्टि की अवस्था का अवलम्बन कर पुरुष के मनरूप सूक्ष्मशरीर और स्थूल शरीर दो देह हैं, ऐसा कहा जाता है ॥२२॥

तब सूक्ष्म दृष्टि कौन है ? इस शंका पर कहते हैं।

हे मुनिजी, एकमात्र मनन से बने हुए ही ये तीनों जगत हैं, क्योंकि ये मन के सदृश ही न सत् हैं और न असत् हैं यानी मन के सदृश ही सत्त्व और असत्त्व से अनिर्वचनीय रूप से बड़े आटोप के साथ उदित हैं, ये मन से अतिरिक्त नहीं हैं ॥२३॥ जैसे अज्ञानवश आकाश में द्विचन्द्रता का उदय होता है वैसे ही चित्तरूपी देह की अवयवभूत लता के तुल्य फैल रही बढ़ी-चढ़ी भेदवासना से यह जगत्भेद उदित हुआ है ॥२४॥ भेदवासना से पदार्थ समूह को देख रहा मन सब जगह घट, गर्त, वस्त्र आदि को भिन्न-भिन्न देखता है ॥२५॥ मैं दुबला-पतला हूँ, मैं बड़ा दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ इन भावनाओं की तथा इनसे अतिरिक्त अन्यान्य अनेक भावनाओं की भावना कर रहा मन अपने ही विकल्प से आविर्भूत हुई संसारिता को प्राप्त होता है ॥२६॥

मन का संसार में आने का क्रम दर्शा कर अब मन की संसार से निवृत्ति का उपाय कहते हैं।

मनन मेरा बनावटी रूप है, कारण कि यह मैं मन ही हूँ, इस प्रकार बनावटी रूप के परित्याग से चित्त शान्त सनातन ब्रह्म ही है। कृत्रिम मननरूप का त्याग करने पर अकृत्रिम स्वरूप स्थिति स्वयं अर्थतः प्राप्त है, यह तात्पर्य है ॥२७॥ जैसे फैली हुई अनेक लहरों से भरपूर, अनेक बड़े-बड़े कल्लोलों से शोभित होने वाले तथा दूरगमनरूप स्पन्दन होने के कारण स्पन्दनरहित विशाल समुद्र में, जो जलमय, सम, स्वच्छ, शुद्ध, स्वादु, शीतल, अविनाशी विस्तारयुक्त महामहिमाशाली और प्रत्यक्ष है, छोटी तरंग अपने स्वभाव के अनुसार अपने स्वरूप की भावना करती हुई अपने विकल्प से मैं छोटी हूँ, ऐसी भावना करती है। बड़ी तरंग अपने स्वभाव से अपने स्वरूप की भावना करती हुई अपने विकल्प से मैं बड़ी हूँ, ऐसी भावना करती है , छोटी तरंग पाताल की भावना करती हुई मेरा स्वरूप परिभ्रष्ट हो रहा है, यों पतन के भय से अपनी उक्त भावना वश तटभूमि को प्राप्त होती है। उत्पन्न होकर थोड़े समय

के बाद मैं भोगयोग्य जन्म को प्राप्त हुई हूँ, ऐसा अभिमान करती हुई भाग्यवश पर्वत की नाईं उज्जवल मणियों की किरणों से विभूषित होकर दीप्त कान्ति से शोभा पाती है। मैं भूषित हूँ, यों समझकर प्रसन्न होती है, यह अर्थ है ॥२८–३३॥

उसकी और भी अनेक हर्ष और भय की अवस्थाओं को दिखलाते हैं।

चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में उपाधिरूप से स्थित होकर उक्त तरंग अपने को शीतल समझती है, तटवर्ती पर्वत की वनाग्नि के प्रतिबिम्ब से युक्त वह जलते हुए स्वरूपवाली होकर मैं जल गई हूँ, यों समझकर भयभीत होती है और मौन धारण कर काँपती है। समुद्र के तटवर्ती पर्वत के तटों के परों के तुल्य वनवृक्ष जिसमें प्रतिबिम्बित हैं, ऐसी वह तरंग राज्यप्राप्तिरूप फलवाले कार्याडम्बर से मैं कृतार्थ हूँ, यों सुशोभित होती है। अपने स्वरूप में घुस रहे चंचल वायु से खूब तहस–नहस अतएव चंचल शरीरवाली वही तरंग मैं टुकड़े–टुकड़े हो गई हूँ, यों रोती हुई सी ध्वनियुक्त होती है ॥३४–३७॥

दृष्टान्त में पूर्वोक्त रीति से आरोप कह कर अपवाद दिखलाते हैं।

जलसमूहरूप सागर से वे तरंगें पृथक् नहीं हैं, इनका न तो सन्मय और न असन्मय कोई एक रूप है और न ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण उनमें हैं और न उन गुणों में तरंगें ही हैं ॥३८॥ तरंगें समुद्र में स्थित नहीं हैं। 'समुद्र में स्थित नहीं है' ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानरूप से समुद्र में उनकी सत्ता है, विर्वतरूप से तो प्रतियोगी की सिद्धि न होने से ही उनके अभाव की सिद्धि नहीं होती। तब वे तरंगें क्या हैं ? इस शंका पर कहते हैं कि केवल अपने स्वभाव में स्थित संकल्प से कल्प ली गई हैं यानी परिच्छेदकृत भेद से कल्पित हैं ॥३९॥ ये तरंगें नष्ट होकर फिर उत्पन्न होती हैं, उत्पन्न हो–होकर फिर–फिर समुद्र में नष्ट होती हैं, परस्पर के सम्मेलन से अत्यन्त भेद को प्राप्त नहीं होती हैं। वे एकमात्र जलमय और निर्विकार ही हैं। वैसे ही इस सर्वव्यापक, ज्योतिस्वरूप, शुद्ध, निर्विकार, एकमात्र निरंकुश बृहणस्वभाववाले अतएव 'ब्रह्म' शब्द से पुकारे जानेवाले परिपूर्णरूप सर्वशक्तिसम्पन्न, जन्म–नाशशून्य परम तत्त्व में आश्चर्यपूर्ण विचित्र जन्म–मरण आदि व्यापारों से चंचल जगत, जो उससे पृथक् नहीं है, पृथक् के तुल्य स्थित हैं। विविध विचित्र शक्तिवाला ब्रह्म ही अपने शरीर में भिन्नता को प्राप्त होता है ॥४०–४३॥ जैसे जल में अनेक लहरें वृद्धि को प्राप्त होती हैं वैसे ही ब्रह्म में ब्रह्म ही जगत रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूप से ब्रह्म ही परिवर्तित होता है।४४॥ ब्रह्म से भिन्न जगत नाम की न तो कोई कल्पना कभी थी, न है और न होगी। जगत का ब्रह्म से रत्तीभर भी भेद नहीं है ॥४५॥ यह सब ब्रह्म ही है, जगत एकमात्र ब्रह्म ही है, ऐसी भावना प्रयत्नपूर्वक कीजिये और सबका परित्याग कीजिये ॥४६॥

अन्य के परित्याग में उपायरूप से सबके अधिष्ठान सन्मात्र का बोध कराते हैं।

नानारूपवाली होने पर भी एकरूपवाली, अपने सैकड़ों विकृतरूप धारण करनेवाली होने पर भी सदा सर्वत्र एकरूपवाली सत्ता पदार्थों में अधिष्ठानरूप से विद्यमान है ॥४७॥

यदि कोई शंका करे कि जड़ और अजड़ पदार्थों में अधिष्ठानरूप से विद्यमान सत्ता सदा सर्वत्र एकाकार कैसे हो सकती है ? तो इस पर चित्त द्वारा कल्पित जड़ और अजड़ के विकल्पों से सन्मात्र की एकरूपता की क्षति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

चिदाभास के चित्त को प्राप्त होने पर उससे व्याप्त अहंकार को ही आत्मरूप से तथा उससे अतिरिक्त को अनात्मरूप से मान रहा मन अनाध्यात्मिक जड़ है और आध्यात्मिक अजड़ है, ऐसा भेद करता है। यह चित्त की भेदवासनारूपिणी शक्ति यदि अधिष्ठानसन्मात्र से अतिरिक्त मानी जाय, तो मिथ्या हो जायेगी, इसलिए वह आत्मा का स्वरूप ही है, इसलिए सत्ता की एकरसता की हानि नहीं हैं ॥४८॥

इस प्रकार पूर्ववर्णित दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की समता अक्षुण्ण रही, ऐसा कहते हैं।

हे निष्पाप मुनिजी, इससे सिद्ध हुआ कि जैसे पूर्ण सागर ही भाँति-भाँति की लहरों, आवर्तों और बुद्‌बुदों से विकसित होता है, वैसे ही ब्रह्म ही विशाल आकारवाले इस जगत रूप से विकसित होता है ॥४९॥ जैसे समुद्र के जल में समुद्र का जल विविध प्रकार की गतिविधियों से अपने आप भेद को प्राप्त करता है वैसे ही आत्मा में आत्मा ही अपने-आप ही नाना प्रकार के विचरणों से नानात्व (भेद) को धारण करता है ॥५०॥ जैसे विविध आकार-प्रकार की लहरें जल से भिन्न नहीं है, वैसे ये समस्त कल्पनाएँ परमात्मा से भिन्न नहीं है ॥५१॥ जैसे एक बीज में शाखा, फूल, लता, पत्ते, फल, कली की स्थिति है, वैसे ही परमात्मा में सदा सर्वशक्तिता विद्यमान है ॥५२॥

परिणामवाद के दृष्टान्तों से ब्रह्म से जगत की अभिन्नता का उपपादन कर अब विवर्तवादमें प्रसिद्ध दृष्टान्त से भी ब्रह्म-जगत के अभेद का उपपादन करते हैं।

जैसे तेज धूप में विचित्र वर्णता दिखाई देती है, वैसे ही परमात्मा में सदसन्मयी विचित्रशक्तिता है ॥५३॥ जैसे एक रंग के मेघ से रंग-बिरंग के इन्द्रधनुष की उत्पत्ति होती है वैसे ही विचित्रतारहित, कल्याणमय परमात्मा से विचित्ररूपवाली यह जगत्स्थिति उत्पन्न होती है ॥५४॥

चेतन से अचेतन की उत्पत्ति में भी परिणामवाद और विवर्तवाद इन दोनों वादों के अनुरूप दो दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे चेतन मकड़ी से अचेतन मकड़ी के जाले की उत्पत्ति होती है और जैसे चेतन पुरुष से स्वप्न के रथ आदि उदित होते हैं, वैसे ही अजड़ परमात्मा से जड़ता की भावनावश जड़ता उदित होती है ॥५५॥

यदि कोई शंका करे कि जब चित् का एक रूप है, तब उसके कार्यभूत अचित् में भेद कैसे सिद्ध हुआ ? इस पर कहते हैं।

जैसे रेशम का कीड़ा अपने बन्धन के लिए तन्तुओं का लच्छा फैलाता है, वैसे ही आत्मा अपने बन्धन के लिए अपनी इच्छानुसार अचित् चित्त की वासना की विचित्रता का विस्तार करता है ॥५६॥ हे ब्रह्मन्, जैसे रेशम का कीड़ा तन्तुजाल की रचनाकर अपने कठिन बन्धन की स्वयं रचना करता है, वैसे ही यह आत्मा अपनी इच्छा से अपने स्वरूपकी विस्मृति की भावना कर अपने कठिन बन्धन की सृष्टि करता है ॥५७॥ जैसे हाथी अपने बन्धनस्तम्भ से छुटकारा पाता है वैसै ही आत्मा अपनी इच्छा से अपने पूर्ण स्वरूप का अनुभव कर संसार से मुक्त होता है ॥५८॥ आत्मा सदा जैसी भावना करता है, स्वयं वैसा हो जाता है और महान होता हुआ भी मन की शक्ति से वैसा पूर्ण हो जाता है ॥५९॥ जैसे वर्षा ऋतु का विपुल कुहरा सम्पूर्ण आकाश को अपने रूप में रंग देता है वैसे ही भावित शक्ति (वासना) व्यापक आत्मा को एक क्षण में अपने रूप को प्राप्त कर देती है ॥६०॥ जैसे छः ऋतुओं में जो ऋतु जिस समय रहती है, उस समय वृक्ष तन्मय हो जाता है, वैसे ही जो शक्ति

उदित होती है आत्मा शीघ्र तन्मय बन जाता है ॥६१॥

यह बन्ध और मोक्ष की कल्पना अज्ञ की दृष्टि से है, तत्त्वदृष्टि से तो उनकी संभावना ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो लोक में मोक्ष कहा जाता है, वह परमात्मा का मोक्ष नहीं है और बन्धन भी आत्मा का बन्धन नहीं है। न मालूम ये बन्धन–मोक्ष दृष्टियाँ लोक में कहाँ से टपकी ? अर्थात् बन्धन–मोक्ष की कथा ही नहीं है ॥६२॥ वास्तव में न तो मोक्ष है और न बन्धन है, फिर भी यह आत्मा बन्धन–मोक्षरूप विकारों से युक्त–सा भ्रान्ति से प्रतीत होता है; क्योंकि इसका नित्य, पूर्ण परमात्मरूप अनित्य अविद्याजनित भोक्ता, भोग्य आदि भाव से तिरोहित है, वही मायामय जगत है ॥६३॥ इस अखण्ड आत्मा ने जब भी चित्त की कल्पना की, उसी समय जैसे रेशम के कीड़े को रेशम के तन्तु लपेट लेते हैं वैसे ही इसको चित्त ने लपेट लिया यानी बाँध दिया ॥६४॥ परस्पर मिलते–जुलते रूपवाली, सर्वथा विकल्पित आकारवाली ये करोड़ों मन की शक्तियाँ इस परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है ॥६५॥ जैसे समुद्र से उत्पन्न हुई और समुद्र में ही विद्यमान तरंगें समुद्र से पृथक् सी प्रतीत होती हैं और जैसे चन्द्रमा से आविर्भूत और चन्द्रमा में स्थित किरणें चन्द्रमा से पृथक् सी स्थित रहती हैं, वैसे ही ये मन की शक्तिरूप सृष्टियाँ परमात्मा से उत्पन्न हैं और उसी में स्थित हैं फिर भी पृथक् सी प्रतीत होती हैं ॥६६॥

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के भेद अथवा तामस और सात्त्विक भेद से सृष्टि–विभाग को कहने के लिए यहाँ पर क्रमशः दो दृष्टान्त दिये गये हैं, यह समझना चाहिये।

मुख्य और अमुख्य बन्धनरूप उपाधिवाले जीवरूप संविद् भेदों को ही नाम–रूप–क्रिया के वैचित्र्य से विस्तारपूर्वक दर्शाने के लिए भूमिका रचते हैं।

इस स्पन्दमय, विशाल, परमात्मरूप महासागरमें, जिसमें चैतन्य ही जल है और जिसका विशाल आकार है एवं एकमात्र चिद्रस से जो सुशोभित होता है, कोई स्थिर जीवनामक संवित्भेद ब्रह्मा, विष्णु हुए हैं, कोई रुद्रत्व को प्राप्त हुए हैं, कोई कोई पुरुषत्व को प्राप्त हुए हैं और कोई देवत्व को प्राप्त हुए हैं ॥६७,६८॥

[अपने स्वभाव से जिन्होंने अपने स्वरूप की कल्पना की है, ऐसी कोई ये लहरें यम, महेन्द्र, सूर्य, अग्नि, कुबेर आदि रूप से स्फुरित होती हैं। चंचल वृत्तिवाली ये लहरियाँ आपस में एक दूसरे का विनाश करती हैं, स्वोचित व्यवहार करती हैं और अपना स्वरूप बनाये रखती हैं। किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर, देव आदि कोई लहरियाँ ऊपर को उठती हैं और कोई नीचे गिरती हैं। कोई कुछ स्थिर आकारवाली है जैसे कि ब्रह्मा आदि और कुछ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है, जैसे देवता, मनुष्य आदि ॥१–३१/२॥]

महासागर में जल के बुद्बुदों की तरह कृमि, कीट, पतंग, सर्प, गाय, मच्छर, अजगर आदि कोई जीवसंवित् इस चैतन्यरूपी महासागर में अत्यल्प समयके लिए स्फुरित होती है ॥६९॥ पर्वत के कुंजों में तथा समुद्र की तीर भूमि के वन में वृक्ष, लता आदि के तुल्य चंचल कोई मनुष्य, मृग, गीध, सियार आदि रूपवाली जीवसंवित् कुछ समय के लिए आविर्भूत होती हैं ॥७०॥ इन जीवसंविदों में किन्हींकी आयु बहुत लम्बी है, कोई बहुत थोड़े दिनों तक जीवित रहती हैं, किन्हींकी शरीर कल्पना विशाल है, किन्हीं का शरीर अत्यन्त तुच्छ है। इस संसाररूपी स्वप्न में कोई अपने चिरस्थायित्व की भावना करती हैं, कोई

दृढ़ विकल्पों से मोहित होकर जगत को स्थिर समझती हैं। कुछ दीनता आदि दोषों से आक्रान्त होकर अपने जीवन की अत्यन्त अल्पता की भावना करती हैं। मैं दुबला हूँ, अत्यन्त दुःखी हूँ और अत्यन्त मूढ़ हूँ, इस तरह दुःखों से परवश होकर कोई जीव स्थावरता को प्राप्त हुए हैं कोई देवत्व को प्राप्त हुए हैं, कोई पुरुषता को प्राप्त हुए हैं और कोई मोहसागरता को प्राप्त हुए हैं ॥७१-७४॥ सागर से उत्पन्न हुई लहरी के समान चंचल कुछ जीव, जिनका कि मनन दूसरा नाम है, ब्रह्मरूपी सागर से उत्पन्न हुए हैं। उनमें विशाल शरीरवाले कुछ तो सैकड़ों कल्प तक जगत में रहते हैं और कुछ ज्ञानरूपी अमृत से पूर्ण होने के कारण चन्द्रमा के तुल्य स्वच्छ होकर स्वरूपस्थितिरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥७५॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

समुद्र और तरंग के दृष्टान्त से प्राप्त हुई आत्माविकारिता के
वारणपूर्वक मोह से उत्पन्न हुई विचित्रता की विवर्तरूपता का वर्णन।

पहले सब जीवों की ब्रह्मैकता और भेदक प्रपंच की असत्यता का उपपादन करने के लिए कहते हैं।

काल ने कहा : हे मुनिजी, देव, असुर और नर के आकारवाले ये जीव ब्रह्मरूपी सागर से अभिन्न हैं, यही बात सत्य है, इससे अतिरिक्त मिथ्या है ॥१॥

यदि उससे अभिन्न हैं, तो क्यों वैसा (हम अभिन्न हैं यों) अनुभव नहीं करते ? इस पर कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, अपने विकल्प से कलंकित वे जीव देह में आत्मत्व की भ्रान्ति से हम ब्रह्म नहीं हैं, इस आन्तरिक निश्चय द्वारा शोचनीय दशा को प्राप्त हुए हैं। यानी यद्यपि वे ब्रह्मरूपी सागर में स्थित हैं, तथापि ब्रह्म से अपनी भिन्नता की (परिच्छिन्नता की) भावना करते हुए नरक के तुल्य योनियों में घूमते हैं ॥२,३॥ जो ये ब्रह्मसंविद्रूपी जीव हैं, वे एकमात्र देहात्मभाव के पुनः पुनः अनुसन्धान से कलंकित हैं, वही देहात्मभाव का अनुसन्धान पाप और पुण्य की प्रवृत्तियों का बीज है। देहात्मभाव के अनुसन्धान से कलंकित होने पर भी उन जीवों को आप निर्विकार ब्रह्म ही जानिये ॥४॥ हे मुनिजी, संकल्परूपी इस कल्पना से ही, जो कराल विविध कर्मरूपी कंजों के बीजों की मुट्ठी के तुल्य है, जगत में विस्तीर्ण हुई ये शरीररूपी लताओं की पंक्तियाँ स्थित हैं, इधर-उधर चलती-फिरती है, रोती और हँसती हैं। जैसे वायु अपने स्पंदनों द्वारा उल्लास को प्राप्त होती है और लीन हो जाती है, वैसे ब्रह्मा से लेकर वृक्षपर्यन्त ये शरीर पंक्तियाँ भी उल्लास को प्राप्त होती हैं, तिरोहित हो जाती हैं, म्लान हो जाती हैं और हँसती हैं ॥५-७॥ इनमें से कोई ये जीव अत्यन्त निर्मल हैं, जैसे कि विष्णु, हर आदि। कोई ज्ञानाधिकार की योग्यता के पाने से अल्प मोह में स्थित हैं, जैसे नाग, मनुष्य और देवता आदि। कोई अत्यन्त मोह मे स्थित हैं, जैसे वृक्ष, तृण आदि। कोई अज्ञान से मोह युक्त होकर कृमि और कीड़ों की योनियों को प्राप्त हुए हैं। कृमि-कीटों में इष्ट और अनिष्ट में प्रवृत्ति और निवृत्ति की क्षमता होने से स्थावर योनियों के तुल्य अत्यन्त मोह नहीं है, यह भाव है ॥८,९॥

कुछ जीव शास्त्रप्रतिकूल प्रवृत्ति से ब्रह्मरूपी महासागर के यानी मुक्ति से दूर बहाये जाते हैं, उन्हें भूमिका प्राप्त नहीं होती है। वे हैं सर्प, वृक्ष आदि ॥१०॥ इस संसार में आने के क्रम से मनुष्यआदि भाव

को प्राप्त हुए कुछ जीव संसार में आने से उत्पन्न हुए परिश्रम की विश्रान्ति में हेतुभूत योगभूमिका के अस्तित्व को शास्त्र से सुनकर योगसाधना में बार–बार उन्मुख होकर भी कालरूपी बूढ़े चूहे से पीड़ित होते हैं ॥११॥ कुछ विष्णु, ब्रह्मा, हर आदि जीव ब्रह्मतत्त्वरूप महोदधि से कुछ भेदक विशुद्ध ज्ञानोपाधि को पाकर कार्यों के साथ ब्रह्म महासागरता को प्राप्त हुए हैं यानी जीवन्मुक्त हो गये हैं ॥१२॥ अल्पमोहवाले कोई जीव, जिसकी सीमा नहीं है ऐसी पूर्णतावाले, उसी ब्रह्मरूपी महासमुद्र का समाधि से अवलम्बन करके स्थित हैं ॥१३॥ कुछ जीव, अवश्य भोगने योग्य जन्मसमूहों से जिन्होंने करोड़ों जन्मों का भोग कर लिया है फिर भी मोक्ष की प्राप्ति न होने से वन्ध्य तथा अधिकारी देह की प्राप्ति से प्रकाश में भी राग आदि से अन्धे होने के कारण तामसिक वृत्तिवाले होकर स्थित हैं। कोई जीव ऊपर से नीचे गिरते हैं जैसे हाथ से बड़ा भारी फल गिरे, कोई ऊपर से और अधिक ऊपर चढ़ते हैं और कोई नीचे से और नीचे गिरते हैं ॥१४,१५॥

बहुत प्रकार के सुख–दुःख देनेवाले जन्मों की आकाररूप, ज्ञान के बिना कभी क्षीण न होनेवाली यह जीवता परमपद का स्मरण न करने से संसारिता को प्राप्त हुई है। जैसे भगवान विष्णु के स्मरण से गजेन्द्र की पीड़ा नष्ट हुई थी वैसे ही परमपद के ज्ञान से वह नाशको प्राप्त होती है ॥१६॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

मन की शक्तियों का वर्णन करके भृगु और काल का शुक्र के समीप में जाने के लिए उठना।

पूर्वोक्त जीवजातियों में से जीवन्मुक्त ही कृतकृत्य हैं और नहीं, ऐसा कहते हैं।

काल ने कहा : हे भृगुजी, सागर से उत्पन्न हुई लहरों की भाँति और वसन्त ऋतु में उत्पन्न हुई विविध विचित्र लताओं के तुल्य इन जीव–जातियों में जिन्होंने मन के मोह पर विजय पा ली है और लोक के ऊँच–नीच विविध व्यवहार देख लिये हैं, ऐसे जीवन्मुक्त अतएव कृतकृत्य यक्ष, गन्धर्व, किन्नर (卐) जगत में भ्रमण करते हैं ॥१,२॥ और उनसे अतिरिक्त जो चराचर प्राणी हैं, वे काठ और दीवार के तुल्य मूढ़ हैं पुनः–पुनः जन्ममरण को प्राप्त होते हैं और दूसरे क्षीणमोह (तत्त्वज्ञानी) हैं। साधनचतुष्टय से युक्त अज्ञानी ही शास्त्रविचार के अधिकारी हैं तत्त्वज्ञानी अधिकारी नहीं हैं ॥३॥

वे किस लिए देहधारण करते हैं? ऐसी यदि शंका हो तो उस पर शास्त्र–रचना द्वारा अज्ञानियों के उद्धार के लिए ही वे देहधारण करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

लोक में जो लोग आत्मज्ञान के लिए जागरुक हैं, उन प्राणियों की आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए ज्ञानी महात्माओं द्वारा रचे गये शास्त्र इस संसार में विहार करते हैं, गरजते हैं ॥४॥

पापकर्म का क्षय होने पर पुरुष को ज्ञानप्राप्ति होती है, इस अर्थवाले स्मृतिवचन के बल से शास्त्र भी जिनका चित्त शुद्ध हो गया है, ऐसे पुरुषों के प्रति ही फलदायक होते हैं, औरों के लिए नहीं, ऐसा कहते हैं।

(卐) यहाँ पर यक्ष आदि तीनों का ग्रहण केवल उदाहरण के लिए हैं परिगणन के लिए नहीं है, क्योंकि मनुष्य आदि में भी जीवनमुक्तों का संभव है।

पापों का विनाश होने पर जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन्हींकी निर्मल बुद्धि शास्त्रविचार में प्रवृत्त होती है ॥५॥ जैसे सूर्य के आकाशमें भ्रमण करने से रात्रि का अन्धकार मिट जाता है वैसे ही आध्यात्मिक सत्शास्त्रों के विचार से मनरूपी मैल नष्ट हो जाता है ॥६॥ क्षीणता को प्राप्त न होता हुआ मन मोह के लिए ही होता है, न कि सिद्धि के लिए। वह कुहरे के समान ढककर बेताल के समान नाचता है यानी कुहरा जैसे आकाश को आवृत कर देता है वैसे ही अक्षीयमाण मन तत्त्व को आवृत कर देता है और जैसे वेताल नाच द्वारा विक्षेप करता है वैसे ही वह विक्षेप करता है ॥७॥ मुनिजी, देहात्मता को प्राप्त हुए (देह में आत्मबुद्धि करनेवाले) सभी जीवों का सुख-दुःख आदि का भाजन मनोरूप शरीर ही है, मांसमय शरीर उक्त सुख-दुःखआदि का भाजन नहीं है ॥८॥ जो यह मांस और हड्डियों का समूहरूप पांचभौतिक देह दिखाई देती है, यह एकमात्र मन की कल्पना है। वह देह वास्तविक नहीं है ॥९॥ हे मुनिजी, आपके पुत्र ने मनरूपी शरीरसे जो कुछ किया, उसी को वह प्राप्त हुआ। इस विषय में हमारा तनिक भी अपराध नहीं है ॥१०॥ जो आदमी अपनी वासना से जो जो कर्म करता है, वह वैसे ही उसको प्राप्त होता है, उसमें अन्य किसी की कर्तृता नहीं है ॥११॥ प्राणी अपनी केवलमनोवासना से (अनुसन्धानमात्र से) अपने मन में सोचे गये जिसका एक क्षण में निर्माण करता है; कौन ऐसा भुवनों का अधिपति है, जिसे उसे करने की सामर्थ्य है यानी लोकाधिपति हम लोग बड़े प्रयत्न से चिरकाल से भी उसे नहीं कर सकते हैं, इसलिए भी हम लोगों का अपराध नहीं हो सकता ॥१२॥ जो सृष्टियाँ, जो नरकों के विस्तार और जो जन्म-मरण की इच्छाएँ हैं, वे सब मनके स्फुरण से हैं, वह मन का किंचिन्मात्र स्फुरण भी दुःखदायी है ॥१३॥ इस विषयमें केवल शब्दों का श्रवण करानेवाले (न कि तत्त्वप्रदर्शक) बहुत कथन से क्या लाभ है ? भगवन्, आप उठिये, वहाँ चलें, जहाँ पर आपका लड़का तपस्या में स्थित है ॥१४॥ स्वर्ग के सब भोगों को चित्तशरीरसे एक क्षण में भोग कर तदुपरान्त आकाश आदिके क्रम से भूमि में अवतीर्ण हुआ आपका पुत्र शुक्र चन्द्रमा की किरणों के सम्बन्ध से औषधियों में प्रवेशकर अन्न आदि के रूप से जन्मपरम्परा को पाकर समंगा के तट पर तपस्वी बनकर बैठा है ॥१५॥

चन्द्रमा की किरणों के सम्बन्ध से, ऐसा जो कहा है, उसे स्पष्ट करते हैं।

शुक्र का प्राणवायु चेतनशक्ति से संमुर्च्छित होकर नीहाररूप से चन्द्रमा की किरणों के साथ सम्पर्क होने से चन्द्रकिरण के तुल्य होकर धान द्वारा उसका फल चावल आदि होकर पुरुष में प्रविष्ट हो वीर्य बनकर स्त्री के गर्भ में स्थित हुआ ॥१६॥ यह कहकर जगत की स्थिति पर हंस रहे भगवान काल ने हाथ फैलाकर अपने हाथ से भृगुजी को ऐसे पकड़ा, जैसे सूर्य चन्द्रमा को पकड़े ॥१७॥ भगवदिच्छारूप नियति की व्यवस्था बड़ी विचित्र है, ऐसा धीरे-धीरे कह रहे भगवान भृगु उदयाचल से सूर्य के तुल्य उठ खड़े हुए ॥१८॥ तमाल के वृक्षों के झुण्ड से युक्त मन्दराचल में एक ही साथ खड़े हुए वे दोनों तेज के निधान उस समय बादलों से युक्त, निर्मल आकाश में विहार करने के लिए एक साथ उदित हुए पूर्णचन्द्र और सूर्य के समान सुशोभित हुए ॥१९॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : श्रीमुनिजी के इतना कह चुकने पर दिवस बीत गया, सूर्य भगवान अस्ताचल को चले गये, ऋषियों की सभा महामुनि को नमस्कार करके सायंकालकी सन्ध्याविधि आदि के लिए स्नानार्थ चली गई। दूसरे दिन रात बीतने पर सूर्य के उदय होने के साथ फिर आ गई ॥२०॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

समंगा नदी के किनारे पर जाकर काल और भृगु ऋषि का शुक्राचार्य को समाधि से जगाना, पूर्व वृत्तान्त का स्मरण दिलाना और वहाँ से आने की इच्छा का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर काल और भृगु ये दोनों देवता मन्दराचल की कन्दरा से पृथ्वीतल में उतरकर समंगा नदी के तट पर जाने के लिए तत्पर हुए ॥१॥ पर्वत से उतर रहे उन दोनों महातेजस्वियों ने अभिनव, सुवर्णमयी लताओं के समूहों के निकुंजों में सोये हुए देवताओं और पक्षियों को देखा जो गगनांगण में लताओं से वेष्टित झूलों के द्वारा क्रीड़ा कर रहे थे। वे हरिणियों के तुल्य मनोहर अपने कटाक्षों से कमल का स्मरण करा रहे थे ॥२,३॥ ऊँचे शिलाखण्डरूपी आसन पर बैठे हुए तथा लीला से तीनों जगतों को देखनेवाले सिद्धों को भी देखा जो शरीरधारी उत्साह के तुल्य थे ॥४॥ जिनमें निरन्तर फूल गिर रहे थे, ऐसे धारा के प्रवाहों में, जो नहा चुके थे तथा ताल वृक्ष की तरह लम्बे, मोटे और ऊपर उठाये हुए सूँड़वाले गज यूथपों को देखा, वे मद के आधिक्य के कारण आलस्य से झपकी ले रहे थे, मूर्तिधारी मद के तुल्य थे और फूलों के केसरों से रंजित पवन से उनकी पूँछ लाल हो गई थी ॥५,६॥ एवं चंचल और मनोहर चमरों को देखा जो पर्वतराजके चँवर के तुल्य प्रतीत होते थे। जिनमें निरन्तर फूल गिर रहे थे, ऐसे धारा के प्रवाह में निमज्जन किये हुए किन्नरों को, शाखापर्यन्त सीधे हुए उत्तम जाति के खजूर वृक्षों को और खजूर के फलों से परस्पर ताड़नरूपी क्रीड़ा द्वारा बाँस को भी फलयुक्त बनानेवाले बन्दरों को भी देखा जिनके विरूप मुख गेरु के तुल्य लाल थे और जो उछलने–कूदने में मस्त थे। पर्वत के शिखरभाग के उपवन में जिनके मन्दिर लताओं के विस्तार से ढके हुए थे, जिन्हें रतिकालका सूचन करने के लिए देवांगनाएँ मन्दार के फूलों से मार रही थी, ऐसे सिद्धों को भी देखा और उन पर्वत के प्रपात देशों को भी देखा, जो गेरु से लाल और सघन बादल के समूहों से आच्छन्न तथा मनुष्यों के संचार से शून्य थे, उनकी बौद्धों संन्यासियों से तुलना की जा सकती है, क्योंकि वे भी गेरू आदि से लाल और सघन वस्त्र से आवृत रहते हैं और जन संसर्ग से शून्य होते है; कुन्द और मन्दार के फूलों से जिनकी लहरें आच्छन्न थी, ऐसी नदियों को, जिन्होंने मानों समुद्ररूपी कान्त के प्रति अत्यन्त उत्सुकता के कारण मधुमाससम्बन्धी पुष्प, पल्लव आदि अलंकार धारण किये हैं तथा फूलों के भार से आच्छन्न पवन से हिलते हुए वृक्षों को भी देखा, मानों वे वृक्ष मधुमास के (वसन्त के) प्राप्त होने पर चंचल भ्रमररूपी नेत्रों से युक्त थे, अतएव मद्य पीने पर नशे में चढे हुए नेत्रवाले पागल से लगते थे ॥७–१२॥ इस तरह वे दोनों इधर–उधर बढ़ी–चढ़ी पर्वत की शोभा को देखते हुए गाँव तथा शहरों से सुशोभित पृथ्वीतल को प्राप्त हुए ॥१३॥ पृथिवी पर क्षणमात्र में फूलों से चंचल तरंगों से युक्त समंगा नदी पर पहुँचे। मालूम होता था कि वह सम्पूर्णतः पुष्पों से ही बनी हुई है ॥१४॥ वहाँ पहुँचने के अनन्तर समंगा नदी के किनारे कहीं पर भृगु ऋषि ने अपने पुत्र को देखा, उसने दूसरी देह का परिवर्तन किया था, अतएव वह शुक्राचार्य से विलक्षण भाव को प्राप्त हुआ था, उसकी इन्द्रियाँ शान्त हो गई थी, समाधिस्थ होने से उसका मनरूपी मृग स्थिर हो गया था, मानों वह पुरुष अनादि संसारश्रम को दूर करने के लिये बहुत दिनों से विश्राम ले रहा था तथा अनादिकाल से भुक्त,

थोड़े ही दिनों से परित्यक्त और हर्ष, शोक से भरी हुई संसार सागर की गतिओं का विचार कर रहा था, मानों अवश्य ही वह अनन्त जगद्रूपी आवर्त में अतिशय भ्रमण से जोर से घुमाये हुए चक्र के तुल्य निश्चल हो गया था ॥१५-१८॥ वह एकान्त में अकेला स्थित था, शरीर कान्ति से अत्यन्त कमनीय था। उसकी सारी चेष्टाएँ शान्त हो गई थी, अतएव उसके चित्त के सम्भ्रम का समागम नष्ट हो गया था ॥१९॥ वह निर्विकल्प समाधि में स्थित था, अतएव शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व की वृत्तियों से शून्य था। मानों वह अपनी शान्त बुद्धि द्वारा सम्पूर्ण लोकव्यवहार का उपहास कर रहा था ॥२०॥ सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ उससे पृथक् हो गई थी, सम्पूर्ण कर्मफलों से वह शून्य था और उसने सम्पूर्ण कल्पनाजाल का परित्याग कर दिया था, अतएव अपरिच्छिन्न आत्मसुख से वह पूर्ण था ॥२१॥ वह अनन्त सुखपूर्ण व्यापक आत्मतत्त्व में विश्रान्त था अतएव प्रतिबिम्ब का ग्रहण नहीं कर रही स्वच्छ मणि के तुल्य स्थित था ॥२२॥ 'यह अग्राह्य है' तथा 'यह ग्राह्य है' इस संकल्प-विकल्प से शून्य तथा आत्मबोध को प्राप्त हुए अपने धीर पुत्र को भृगुजी ने देखा ॥२३॥ उस भृगु के पुत्र को देखकर काल ने भृगुजी से समुद्र के निर्घोष के तुल्य गम्भीर स्वर से कहा : 'यही आपका पुत्र है' ॥२४॥ जैसे मेघ के गम्भीर स्वर से मोर जाग जाता है वैसे ही 'जागो' इस वाणी से वह भृगुपुत्र समाधि से धीरे-धीरे जाग उठा ॥२५॥ उसने आँखें खोलकर समीप में आये हुए एक साथ उदित हुए सूर्य और चन्द्रमा तुल्य काल और भृगु को देखा ॥२६॥ कदम्ब लता के आसन से उठकर उसने एक साथ आये हुए, विप्रवेषधारी विष्णु शिव के तुल्य समान कान्तिवाले उन दोनों को प्रणाम किया ॥२७॥ तत्कालोचित परस्पर अभिनन्दन आदि व्यवहार कर लेने पर वे लोग शिला पर सुमेरु पीठ पर जगत्पूज्य ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर के तुल्य बैठे ॥२८॥

तदनन्तर हे श्रीरामचन्द्रजी, समंगा के तट में समाधि से विरत उस ब्राह्मण ने इन दोनों से (काल और भृगु से) अमृतबिन्दु के तुल्य सुन्दर शान्त वचन कहा ॥२९॥ हे भगवन्, इस लोक में एक साथ आये हुए चन्द्रमा और सूर्य के समान आप लोगों के दर्शन से आज मैं परम सुख को प्राप्त हुआ हूँ ॥३०॥ जो मनोमोह शास्त्राभ्यास, तपश्चर्या, उपासना तथा ब्रह्मज्ञान से नष्ट नहीं हुआ था, वह मेरा मनोमोह आप लोगों के दर्शन से दूर हो गया। (उन लोगों की प्रशंसा के लिये यहाँ पर अतिशयोक्ति है) ॥३१॥ निर्मल अमृत की वृष्टि अन्तरात्मा को वैसा सुखी नहीं बनाती है जैसा कि आप महात्माओं की केवल यह दृष्टि सुखी बना रही है ॥३२॥ हे भगवन्, आकाश को चन्द्रमा और सूर्य के तुल्य इस हमारे देश को अपने चरणों से पवित्र बनानेवाले महातेजस्वी आप लोग कौन हैं ? ॥३३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुक्र के यह कहने पर भृगुजी ने जन्मान्तर के अपने पुत्र से कहा : तुम अपना स्मरण करो, क्योंकि तुम ज्ञानी हो, मूढ़ नहीं हो ॥३४॥ भृगुजी द्वारा बोध को प्राप्त हुए उसने ध्यान से दिव्य चक्षु खोलकर क्षणभर अपनी जन्मान्तर की अवस्था का स्मरण किया ॥३५॥ तदनन्तर वक्ताओं में श्रेष्ठ उसने आश्चर्य के दर्शन से विकसित मुख होकर वितर्क से मन्द वचन कहा। उस समय उसका मन अत्यन्त प्रसन्न था ॥३६॥ इस संसार में कर्मफल का नियन्त्रण करनेवाली परमात्मा की मायाशक्ति का व्यापार किसी को ज्ञात नहीं है जिसके कारण यह विशाल जगद्रूपी चक्र चल रहा है ॥३७॥ मेरे अनन्त जन्म बीत गये हैं, जिनका मुझे ज्ञान भी नहीं है तथा प्रलयकाल में प्राप्त वर्ष, वायु और धूप आदि से उत्पन्न हुए दुःख, मोह आदि के तुल्य मरण, मूर्छा आदि दुर्दशाओं के फलभूत अनेक दुःख, मोह

आदि भी बीत गये हैं ॥३८॥ मैंने कठिन क्रोध और उद्योग से भरे हुए राजाओं को देखा, धनोपार्जनार्थ विविध भ्रमणों का अनुभव किया तथा बहुत दिनों तक शोक से शून्य सुमेरुपर्वत की भूमियों में विहार किया ॥३९॥ सुमेरुपर्वत के समीप की भूमियों में मन्दार के फूलों के केसरों से रंजित अतएव सुगन्धपूर्ण तथा सन्ध्याकाल में खिलनेवाले कमलों से युक्त मन्दाकिनी के जल का मैंने पान किया ॥४०॥ फूली हुई सुवर्णलताओं की पंक्तियों से पूर्ण मन्दराचल के निकुंजों में मैंने भ्रमण किया ॥४१॥ ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका मैंने भोग न किया हो, ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जो मैंने नहीं की हो और ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मैंने अनुकूल या प्रतिकूल दशा में न देखी हो यानी सब कुछ किया, सबका भोग किया और सब कुछ देखा ॥४२॥

एक आत्मा के साक्षात्कार से भी सबका ज्ञान दर्शाते हैं।

इस समय जानने योग्य सारी बातें मैंने जान ली हैं, देखने योग्य सम्पूर्ण वस्तुएँ अच्छी तरह देख ली हैं, बहुत दिनों से थका हुआ मैं अब विश्राम ले रहा हूँ और मेरे सम्पूर्ण भ्रम दूर हो गये हैं ॥४३॥ हे पिताजी, उठिये चलें, सूखी हुई वनलता की नाई सूखे हुए मन्दराचल पर स्थित उस शरीर को देखें ॥४४॥

यदि शंका हो कि उस शरीर से तुम्हें क्या करना है ? तो इस पर कहते हैं।

इस संसार में न तो मेरा कुछ अभीष्ट है और न अनिष्ट है, केवल नियति की रचना देखने के लिए मैं इस जगत में विहार कर रहा हूँ ॥४५॥

यदि कोई शंका करे कि नियति की रचना देखने के लिए विहार करते हुए आपकी उसमें आसक्ति होने से पहले की तरह अप्सरा के मनोरथ द्वारा अनुगमनरूप संसार की प्राप्ति हो जायेगी ? तो इस पर दृढ़तर तत्त्वज्ञान से अज्ञानानुवृत्तिमात्र का बाध हो जाने से अब पहले की तरह अभिनिवेश की प्रसक्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

चूँकि मैं एकात्मता के दृढ़ निश्चय से अत्यन्त शुभालय, जीवन्मुक्त महापुरुषों से सेवित चरित्र का ही स्थिरता पूर्वक अनुसरण करता हूँ न कि मूढ़ों के चरित्रों का, इसलिए मेरी तथा आपकी अभीष्ट जो पूर्वदेह में अवस्थितिरूप बुद्धि है, वह रहे, उससे कोई भी क्षति नही होगी उस बुद्धि से बचे हुए प्रारब्ध का भोग करानेवाले व्यवहार का ही आचरण मैं करूँगा, न कि मूढ़ों की तरह आसक्ति को प्राप्त होऊँगा, यह अर्थ है ॥४६॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

पूर्व शरीर को देखकर शुक्र का विलाप तथा विलाप में हेतु विशेष कथनपूर्वक शरीर के स्वभाव का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इस प्रकार के तत्त्वज्ञानी, जिनके प्राण चंचल थे, संसार की गतिविधि का विचार करते हुए उस समंगा नदी के तट से भृगुजी के आश्रम के प्रति चले (चंचल शब्द, यह कथन प्राणक्रिया से ही उनमें चलन क्रिया हुई आत्मा में क्रिया नहीं है, यह सूचन के लिए है।) ॥१॥

क्रमशः आकाश को आक्रान्त कर मेघच्छिद्रों से बाहर निकलकर वे सिद्धमार्ग से क्षणभर में मन्दराचल की गुफा में पहुँच गये। उस पर्वत की ऊँची भूमि में शुक्र ने अपने पूर्व जन्म के सूखे शरीर

को देखा जो कि हरे पत्थरों से ढका था ॥२-३॥

शुक्र ने यह कहा : हे तात, वही यह कृश शरीर है, जिसका आपने सुखदायक भोगों से पहले लालन-पालन किया था ॥४॥ वह यह मेरा शरीर है, जिसके अवयवों में स्नेहमयी धाई ने कपूर, अगरू, चन्दन आदि से बहुत दिनों तक लेप किया था। वह यह मेरा शरीर है, जिसके लिए मेरुपर्वत की उद्यान भूमियो में मन्दार के पुष्पों से शीतल शय्या रची गई थी। देखिये, पहले मदोन्मत्त देवांगनाओं द्वारा लालित मेरा यह शरीर है, जो इस समय साँप, बिच्छू आदि कीड़ों के डँसने से छिद्रयुक्त होकर पृथिवी पर गिरा हुआ है। मेरे जिस शरीर ने चन्दन के उद्यानों में चिरकाल तक क्रीड़ा की थी, वही यह आज शुष्क कंकालता को प्राप्त हो गया है। अप्सरा के संसर्ग से तीव्र कामवेगवाली चित्तवृत्ति से रहित मेरा शरीर आज सूख रहा है, उन-उन देवोद्यान आदि प्रदेशों में हुए विलासों में, उन-उन बाल्य, यौवन आदि विचित्र अवस्थाओं में पूर्व अनुभूत तत्-तत् सौन्दर्य, अलंकार, गीत, हास्य आदि विलास आदि भावनाओं के सम्बन्ध से युक्त होकर भी हे देह, आज तुम कैसे स्वस्थ हो ! यानी तुम क्यों नहीं उसका शोक करते हो ॥५-१०॥ हे शरीर, तुम्हारा नाम शव पड़ गया है, सूर्य के सन्ताप से तुम शोषको प्राप्त हो गये हो और कंगालता को प्राप्त हो गये हो, हे दुर्भाग्य, तुम इस समय मुझे डरा रहे हो, जिस देह से मैं विविध विलासों के समय प्रसन्न हुआ था, इस समय कंकालता को प्राप्त हुए उसी से मैं डर रहा हूँ। जिस शरीर में पहले ताराओं के समूह के तुल्य हार सुशोभित हुआ था उसी मेरे शरीर के वक्षस्थल में इस समय चींटियाँ घुस रही हैं, इसे आप देखिये ॥११-१३॥ जिस पिघले हुए सुवर्ण के समान रमणीय मेरे शरीर से सुन्दर-सुन्दर अंगनाएँ काम से मोहित हुई थी, देखिये, वही इस समय कंकालता को धारण कर रहा है ॥१४॥ ताप से जिसका चर्म सूख गया है एवं जिसका मुँह खुला है ऐसा मेरे कंकाल का विकृत मुख वन में मृगों को भयभीत कर रहा है ॥१५॥ मेरे शव की उदररूपी गुहा सूख जाने के कारण भीतर प्रविष्ट हुई प्रकाशमान सूर्य की किरणों के समूह से ऐसे शोभित हो रही है मानों विवेक से शोभित हो रही हैं, ऐसा मैं देख रहा हूँ ॥१६॥ मेरा यह सूखा शरीर पर्वत की शिला पर चित पड़ा है। यह अपनी तुच्छता से यानी विकृतरूप के प्रदर्शन से सज्जन पुरुषों के हृदय में वैराग्य का मानों उपदेश दे रहा है ॥१७॥ शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध की अभिलाषा से रहित मेरा यह शरीर इतने समय तक मेरे परोक्ष में और इस समय मेरे प्रत्यक्ष में भी मानों निर्विकल्प समाधि में बैठकर पर्वत में सूख रहा है ॥१८॥ यह चित्तरूपी पिशाच से मुक्त हो गया है, अतएव बड़े सुख के साथ स्वस्थ सा स्थित है। देवताओं से रची गई विपत्तियों से अब तनिक भी इसे भय नहीं है ॥१९॥ चित्तरूपी वेताल के शान्त होने पर शरीर को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह सम्पूर्ण जगत के राज्य से भी प्राप्त नहीं होता ॥२०॥ यह शरीर, जिसके सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो गए हैं और सब कौतुक जिससे चले गए हैं, कल्पनाओं का जिसने निरास कर दिया है, वन में कैसे सुख से सो रहा है, इसे आप देखिए ॥२१॥ चित्तरूपी बन्दर की काम आदि चपलता से क्षुब्ध हुआ यह शरीररूपी वृक्ष जिस प्रकार अपने विवेक, सद्वासना आदि शाखा, पल्लवों का विनाश हो, वैसे वेग से नहीं चलता, किन्तु जैसे जड़ के साथ उखड़ जाय वैसे चलता है।

भाव यह है कि जिन स्थावर आदि योनियों में विवेक का अधिकार नहीं है, उन्हीं योनियों में जीव को गिराता है।

इस सुन्दर पर्वत में मेरा यह शरीर चित्तरूपी अनर्थ से मुक्त होकर आज गजघटाओं और सिंहों के गर्जन, तर्जन आदिरूप वैर को नहीं देखता, पहले कौतुक दर्शनरूप परमानन्द में स्थित हुआ सा यह जैसे बाहर के कौतुक दर्शन से प्रसन्न होता था वैसा आज नहीं होता (📖) ॥२२,२३॥ सम्पूर्ण आशारूपी ज्वरों के कारणरूप मोहरूपी कुहरे के लिए शरदागमनरूप औचित्य के सिवा दूसरा श्रेय प्राणियों में मैं नहीं देखता हूँ यानी चित्तभाव सम्पूर्ण आशारूपी ज्वरों के हेतुभूत मोह का नाश कर देता है, अतएव वही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ श्रेय है। वे ही ब्रह्मा के आनन्दपर्यन्त विषय सुखों की परमावधिरूप भूमानन्द को प्राप्त हुए हैं, जो शान्तबुद्धि पुरुष अपरिच्छिन्न ब्रह्मसाक्षात्काररूप महाबुद्धि से मनोनाश को प्राप्त हुए हैं। मैं अपने भाग्योदय से सब दुःखदशाओं से रहित और सन्तापशून्य इस शरीर को संकल्प–विकल्प से रहित जीवन्मुक्त के शरीर के तुल्य वन में देख रहा हूँ॥२४–२६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्मों के तत्त्वों को जाननेवाले हैं, कृपया यह बतलाइये कि शुक्राचार्यजी ने उस समय बारबार अनेक शरीरों का उपभोग किया था जैसा कि आप पहले कह आये हैं, फिर उन्हें भृगु से उत्पादित उसी शरीर में अत्यन्त स्नेह कैसे हुआ ? और उसीके लिए उन्होंने विलाप क्यों किया ? ॥२७,२८॥

शुक्र के आधुनिक ब्रह्मपद में अधिकार के कारणभूत पूर्वकल्प में किये गये कर्म, जो कि पूर्व शरीर से उत्क्रान्ति के समय इस कल्प में होनेवाले भृगु द्वारा उत्पाद्य शरीराकार से परिणत हुए थे, भृगु से उत्पाद्य शरीर की वासना से ही प्रलयों में चिरकाल तक रहे थे, आकाश आदि के क्रम से इस कल्प में भृगु के शरीर की उत्पत्ति होने पर अन्न द्वारा उनके शरीर में प्रवेश कर वीर्यरूप में परिणत होकर चिरकाल के अभ्यास से खूब दृढ़ हुए पूर्व जन्म के काम, कर्म वासनाओं के अनुसार ही शुक्राचार्य के शरीर की उत्पत्ति हुई थी। उस शरीर से कतिपय कर्मों के भोग होने पर भी अवश्य भोक्तव्य बहुत से प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने से उसमें उनका स्नेहातिशय हुआ, अन्य देहों में नहीं हुआ, क्योंकि अन्य देहों में भोगने योग्य कर्म शेष नहीं थे, इस आशय से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, शुक्राचार्य की कर्मात्मक जो यह वासना थी, वह जीवदशा को प्राप्त होकर भृगु से उत्पाद्य भार्गवरूप से उत्पन्न हुई ॥२९॥ प्रलयकाल में अवशिष्ट मायाशबलित ईश्वर से इस कल्प के सर्वप्रथम शरीररूप से जल में भिगोने से फूले हुए बीजों के अन्दर अंकुर शक्ति की नाईं तनिक आविर्भूत होकर, क्रमशः तत् तत् भूतों की समता को प्राप्त होकर वायु से वृष्टि द्वारा अन्न आदि भाव से अन्तर्भावित हुई वही कर्मात्मक वासना प्राण और अपान के प्रवाह से महर्षि भृगु के हृदय में प्रवेश कर क्रम से वीर्य बनकर शुक्राचार्य की देह बनी है॥३०,३१॥ उस जन्म में उसके ब्राह्मण जन्मोचित गर्भाधान आदि सब संस्कार विधिपूर्वक किये गये थे, वहाँ पर समाधिस्थ पिता के आगे विद्यमान वह शुक्राचार्य की देह एक लम्बे अरसे से सूखे हुए कंकाल के रूप में परिणत हो गई ॥३२॥ चूँकि यह शरीर ब्रह्म से पूर्वोक्त रीति के अनुसार पहले–पहल इसी शुक्राचार्य के रूप में

(📖) जैसे परमानन्द में स्थित पुरुष, हाथी, मेघ, सिंह, आदि के शरीर को नहीं देखता है वैसे ही चित्तरूप अनर्थ से मुक्त हुआ मेरा यह शरीर पर्वत की स्फटिक शिलाओं में प्रतिबिम्बित हाथी, मेघ और सिंहों की मूर्ति को नहीं देखता है, ऐसा दूसरा अर्थ भी हो सकता है।

आविर्भूत हुआ था, इसलिए शुक्राचार्य ने इस शरीर के लिए विलाप किया ॥३३॥ यद्यपि शुक्राचार्य वीतराग थे, उन्हें किसी प्रकार की अभिलाषा भी न थी और समंगा नदी के तीर में तपस्या निरत ब्राह्मण का रूप उन्होंने धारण कर रक्खा था फिर भी उन्होंने देह के लिए विलाप किया; क्योंकि देह का ऐसा ही स्वभाव है। भाव यह कि ज्ञानी भी प्रारब्ध कर्म का उल्लंघन नहीं कर सकते, उन्हें भी उसका भोग करना ही पड़ता है ॥३४॥ चाहे ज्ञानी की देह हो चाहे अज्ञानी की देह हो, जब तक जीवन रहेगा सदा यह नियम चलेगा ही, इसमें रत्तीभर भी उलट-फेर नहीं हो सकता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि ज्ञानी का यह दैहिक लोकव्यवहार अनासक्ति से होता है और अज्ञानी का आसक्ति से होता है ॥३५॥

अतएव अन्य व्यवहारों में उनकी समानता ही है, ऐसा कहते हैं।

जिन लोगों को तत्त्वज्ञान हो गया है और जो पशुओं के सदृश आचरणवाले अज्ञानी हैं, वे दोनों ही लोकव्यवहारों में जैसा लोक का जाल है, उसी के अनुसार स्थित हैं यानी आचरण करते हैं ॥३६॥ लोकव्यवहार में अज्ञानी जैसा आचरण करता है, पूर्ण ज्ञानी भी ठीक वैसा आचरण करता है।

शंका : यदि लौकिक व्यवहार में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की तुल्यता ही है तो एक बन्धन में पड़ता है दूसरे को मुक्त मिलती है, यह अन्तर कैसे ?

समाधान : उनको बन्ध-मोक्ष देने में एकमात्र कारण वासना का भेद है ॥३७॥

जिसकी बुद्धि विषय पर आसक्त नहीं है, ऐसे विद्वान तत्त्वज्ञ पुरुष जब तक शरीर रहता है तब तक दुःख के निमित्त के प्राप्त होने पर दुःख का और सुखहेतु के प्राप्त होने पर सुख का अज्ञानी के तुल्य अभिनय करते हैं ॥३८॥ महात्मा लोग सुख निमित्तों की प्राप्ति होने पर सुखी की तरह और दुःखनिमित्तों की प्राप्ति होने पर दुःखी की तरह केवल लौकिक व्यवहार के विषय में ही अज्ञानी के सदृश बर्ताव करते हैं, आत्मतत्त्व में तो वे सुस्थिर रहते हैं, अज्ञानी के तुल्य व्यवहार नहीं करते हैं ॥३९॥

एक ही पुरुष का एक समय स्थिर और अस्थिर वृत्तियों के विरोध का निवारण करने के लिए दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सूर्य के जल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब शरीर ही चंचल होते हैं, किन्तु आकाश में स्थित बिम्बशरीर चंचल नहीं होता, वैसे ही आत्मज्ञान में स्थिर तत्त्वज्ञानी भी लोकव्यवहारों में स्थिर-अस्थिर रूप से विद्यमान रहता है ॥४०॥ जैसे प्रतिबिम्बों में स्थित सूर्य वस्तुतः स्वस्थ होता हुआ भी अस्वस्थ-सा, चंचल सा प्रतीत होता है, वैसे ही जिसने सम्पूर्ण लौकिक व्यवहारों का त्याग कर दिया है, ऐसा ज्ञानी पुरुष ही व्यवहार स्थिति में अज्ञानी होता है ॥४१॥

तब तो अज्ञ के समान विहित और निषिद्ध कर्मों से उसका भी बन्धन होगा, ऐसी आशंका करके ज्ञानेन्द्रियों से आसक्तिपूर्वक किये गये कर्म ही बन्धक होते हैं, अन्य कर्म नहीं, इस आशय से कहते हैं।

जिसकी ज्ञानेन्द्रियों ने संग छोड़ दिया है, उसकी कर्मेन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने पर भी वह मुक्त है। यदि कर्मेन्द्रिय विषयों में आसक्ति रहित हैं और ज्ञानेन्द्रिय विषयों के आधीन हैं, तो वह बद्ध है ॥४२॥ लोक में सुख-दुःख दृष्टि और बन्धमोक्ष दृष्टि की हेतु ज्ञानेन्द्रिय ही हैं, जैसे कि किसी वस्तु के प्रकाशन में तेज हेतु है। बाहर लोकोचित व्यवहारवाले और भीतर लोकोचित आचार से रहित, सम्पूर्ण इच्छाओं से शून्य और विषमता रहित होकर आप स्थित होईये ॥४३,४४॥ ब्रह्म में स्थित,

सम्पूर्ण कर्मफलों की आसक्ति से रहित मन से आप कर्म कीजिये क्योंकि कर्म देह की स्थिति है, स्वभाव है। भगवान ने भी कहा है : 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' अर्थात् देहधारी कर्मों का निःशेष त्याग नहीं कर सकता है ॥४५॥ मानसिक दुःख, शारीरिक दुःख, जन्ममरणरूपी गर्तों से भरे हुए संसार के मार्गभूत तथा अत्यन्त सन्ताप देनेवाले इस ममतारूपी भीषण अन्धकूप में आप मत गिरिये। न तो आप दृश्य वस्तु देहादि में विद्यमान हैं और न आप में ये देहादिभाव हैं। हे कमलनयन, शुद्ध–बुद्ध स्वभाववाले आप अपने स्वरूप में स्थित होइये। आप निर्मल शुद्ध ब्रह्म है। आप सबका निर्माणकरनेवाले और सर्वात्मक है। सारा विश्व शान्त अज है, ऐसी भावना करते हुए आप सुखी होइये ॥४६–४८॥ हे महात्मन्, सकल इच्छाओं की निवृत्ति करनेवाले, पूर्णानन्दरूप, अविद्यादि दोषों से रहित पद को सम्यक् ज्ञान से प्राप्त कर ममतारूपी महाअंधकार से रहित हुए आप यदि चित्त के नाश में समर्थ हुए, तो अपरिमितबुद्धि, महान से महान्, परिपूर्ण परमार्थ सत्यब्रह्मरूप आपको नमस्कार है यानी आप हम लोगों के भी सदा के लिए वन्दनीय हो जायेंगे ॥४९॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

काल के चले जाने पर काल की आज्ञानुसार शुक्राचार्य का
अपने शरीर में प्रवेश करना तथा उनकी दैत्यों की गुरुता और जीवन्मुक्ति का वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर भृगु तथा भृगुपुत्र शुक्राचार्य के विलापवचन को बीच में ही रोककर गम्भीर ध्वनि से युक्त भगवान काल ने वचन कहा ॥१॥

काल ने कहा : हे परकार्य साधक भृगुपुत्र, समंगा नदी के तट के इस तपस्वी शरीर का परित्याग कर जैसे राजा नगरी में (राजधानी में) प्रवेश करता है वैसे ही आप इस देह में प्रवेश कीजिये ॥२॥ हे निष्पाप शुक्राचार्यजी, ग्रहाधिकार को प्राप्त करानेवाले प्रारब्ध के उदयकाल में सर्वप्रथम उत्पन्न हुई उस देह से फिर तप करके आप दैत्यराजों का आचार्यत्व कीजिये ॥३॥ महाकल्परूप ब्रह्मा के दिन का (हजार चौकड़ी का) अन्त होनेपर आप भृगुजी से उत्पन्न देह का, पुनः अन्य शरीर का ग्रहण न करने के लिए, उपभुक्त अतएव मुरझाये हुए फूल की नाईं त्याग कीजिये ॥४॥ हे महामते, पूर्वकल्प में उपार्जित कर्मों से प्राप्त शरीर द्वारा जीवन्मुक्तिरूप पद पाकर बड़े–बड़े दैत्यराजों का आचार्यत्व करते हुए आप स्थित होईये ॥५॥ आप लोगों का कल्याण हो, मैं अपनी अभिमत दिशा को जा रहा हूँ।

(दिशा का 'अभिमत' जो विशेषण है, वह अनभिमत की व्यावृत्ति के लिए नहीं है, क्योंकि पूर्ण आत्मा के लिए अनभिमतवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं है। जिसे 'यह अभिमत है' और 'यह अनभिमत है' यह विकल्प होता है अनभिमत का त्यागकर अभिमत को प्राप्त कर रहा वह चित्त अवास्तविक है; इसलिए 'अभिमत दिशा' इस वाक्य का 'परमप्रेमास्पद आत्मभाव में अवस्थित' यह अर्थ है, इस तरह के स्वाभिप्राय का सूचन करने के लिए 'अभिमत' इस विशेषण का उपादान किया गया है, यह दर्शाते हुए कहते हैं।)

जिसको अभिमत नहीं होता ऐसा जो चित्त है, वह कुछ भी नहीं है, यानी अवास्तविक है ॥६॥ यह कहकर भगवान काल जैसे सूर्य सन्तप्त अंगवाले आकाश और पृथ्वी की उपेक्षा कर अपनी किरणों के

साथ अन्तर्हित हो जाते हैं वैसे ही स्नेह से आँसू बहा रहे भृगु और शुक्राचार्य की उपेक्षा कर अन्तर्हित हो गये ॥७॥ उस भगवान कृतान्त के चले जाने पर भृगुपुत्र शुक्राचार्य ने अवश्यभाविनी कर्मगति तथा अनिवार्य ईश्वर की इच्छा की गति का विचार कर हेमन्त और शिशिर काल के कारण सूखी हुई भावी पुष्प-फल के उदयवाली लता में वसन्तऋतु के तुल्य बहुत काल बीत जाने के कारण सूखी हुई भावी अभ्युदय से युक्त उस देह में प्रवेश किया ॥८,९॥ वासुदेव नामवाली समंगातटवर्ती तपस्वी ब्राह्मण की देह , जिसका मुख तथा सम्पूर्ण अंग विकृत वर्णवाले हो गये थे, जिसकी जड़ कट गई हो ऐसी लता की भाँति काँप कर शीघ्र ही गिर पड़ी ॥१०॥ उस पुत्र के शरीर में जीव के प्रवेश कर लेने पर महामुनि श्री भृगु ने कमण्डलु के जल के साथ मन्त्रों से उस शरीर का आप्यायन (बढ़ानेवाला अभिषेक) किया ॥११॥ अभिषेक के अनन्तर उस शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियाँ ऐसे दीप्त हो उठी जैसे वर्षा ऋतु में जल प्रवाह से पूरित कोटरवाली नदियाँ दीप्त हो जाती हैं ॥१२॥ जब वह शरीर वर्षा ऋतु में कुमुदिनी की भाँति तथा वसन्त ऋतु में अभिनव लता की भाँति पूर्ण हो गया, तब उसके अंगुली, नख, केश आदि पल्लव के तुल्य उदित होकर सुशोभित होने लगे ॥१३॥ तदनन्तर शुक्राचार्य जल तथा वायु के संयोग से सर्वतः पूर्ण मेघ के तुल्य प्राणवायु के संचार से युक्त होकर उठ खड़े हुए ॥१४॥ सामने उपस्थित पवित्रमूर्ति पिता का नामगोत्रोच्चारणपूर्वक ऐसे अभिवादन किया जैसे मानों नूतन मेघ अपने गर्जन से पर्वत का अभिवादन कर रहा हो ॥१५॥

तदनन्तर स्नेह से आर्द्र चित्तवाले पिता ने (भृगुजी ने) पुत्र शरीर की यौवन सौन्दर्य आदिसे युक्त प्राक्तन मूर्ति का बहुत देर तक ऐसे आलिंगन किया जैसे आर्द्रवृत्तिवाले मेघ पर्वत के प्रान्त का आलिंगन करता है ॥१६॥ पहले की भाँति यौवन, सौन्दर्य आदिसे युक्त वह नूतन पुत्र की देह स्नेह पूर्वक महामति भृगुजी ने देखी तथा तत्त्वदृष्टि से अनुचित जानकर हँस रहे भी उन्होनें यह शरीर मुझसे उत्पन्न है, ऐसी धारणा की ॥१७॥ उस समय यह मेरा पुत्र है, इस स्नेह ने परमज्ञानी भृगुजी का भी आकर्षण कर लिया। देह में अत्यन्त आत्मीयता जीवनभर प्रबल प्रारब्ध के कारण अवश्य ही रहती है ॥१८॥ तदनन्तर वे दोनों पिता-पुत्र रात्रि के अन्त में प्रसन्न हुए सूर्य और कमल समूह की भाँति परस्पर सुशोभित हुए ॥१९॥ चिरकाल के बाद हुए संगम से सम्बद्ध (मिले हुए) चकवी-चकवा के जोड़े के तुल्य तथा वर्षा ऋतु के समागम से स्नेह युक्त मयूर और मेघ के तुल्य उन दोनों महामुनियों ने चिरकाल के वियोग से, जिनकी समागम की उत्कण्ठा दृढ़ हो गई थी, पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार उस समान आनन्द की योग्यता से वहाँ क्षण भर जड़ की नाई स्थिर होकर तदनन्तर उस समंगातटवर्ती ब्राह्मण की देह का वहाँ दाह किया। कौन ऐसा व्यक्ति है, जो संसार के सदाचार का अनुविधान नहीं करता है ? आचार का पालन मात्र ही यहाँ देहादि कृत्यों का फल है, इतर फल नहीं है, यह भाव है ॥२०-२२॥ इस तरह उस पवित्र वन में वे दोनों तपस्वी भृगु तथा भृगुपुत्र शुक्राचार्य आकाश में चन्द्रमा और सूर्य की भाँति दीप्त होते हुए स्थित हो गये ॥२३॥ तदनन्तर जगत के गुरु वे दोनों जीवन्मुक्त होकर भ्रमण करने लगे। उन्होंने विज्ञेय आत्मतत्त्व को जान लिया था तथा देश और काल की शुभ और अशुभ दशाओं में वे समानभाव से रहते थे, क्योंकि वे अपने स्वरूप में स्थिर हो गये थे ॥२४॥ तदनन्तर समय आने पर शुक्राचार्यजी ने दैत्यों का आचार्यत्व तथा ग्रहपति का अधिकार प्राप्त किया। भृगुजी भी अपने योग्य निरामय आत्मतत्त्व में स्थित हो गये ॥२५॥

पूर्वोक्त शुक्राचार्य की स्थिति का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

यह उदार कीर्तिवाले शुक्राचार्य पहले उस सत्यपरमात्म तत्त्व से पूर्वोक्त आकाशादिक्रम से उत्पन्न हुए। तदनन्तर शीघ्र ही स्मरण में आरूढ़ अप्सरा के निमित्त से उत्पन्न अपने मनोराज्य के विभ्रम से अन्यान्य विविध दिशाओं में इन्होंने भ्रमण किया ॥२६॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

शुद्ध चित्तों की सत्यसंकल्पता का वर्णन।

शुक्राचार्यजी का अप्सरा, स्वर्ग, आदि मनोरथ चिरकाल के उपभोग से जैसे सफल सा हुआ था वैसे और लोंगो के मनोरथ सफल क्यों नहीं होते ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, भृगुपुत्र शुक्राचार्य के मनोरथ की प्रतिभा जैसे स्वर्ग आदि के अनुभव से सफल हुई वैसे औरों की मनोरथ की प्रतिभा क्यों नहीं सफल होती ? ॥१॥

प्रतिभाओं के फलोपभोग द्वारा सफल होने में दो कारण हैं, एक तो सत्यसंकल्पता के योग्य चित्तशुद्धि और दूसरा उत्क्रमणकाल में उद्बुद्ध परिपक्व भावी जन्म में भोग देनेवाले कर्मों की उत्कटता। उनमें से मनोरथ की सफलता का चित्तशुद्धिरूप पहला कारण शुक्राचार्य में था, यह दर्शाते हुए समाधान करते हैं।

शुक्राचार्यजी के प्रथम कल्प के सब दोषों का उस कल्प के अन्तिम जन्म में किये गये कर्म और उपासनाओं से क्षय हो गया था, इस कल्प में उनका यह शरीर पहले-पहल उत्पन्न हुआ था, इसलिए इस कल्प के दोष भी उसमें न थे। ब्रह्मपद से ही अधिकार भोग के लिए ब्रह्मा के संकल्प से वह उत्पन्न हुआ था, अतएव ब्रह्मा के सांकल्पिक दोष भी उसमें न थे। दोनों कुलों में शुद्ध ब्राह्मण जाति का था, अतएव बीज, गर्भ, जाति आदि के दोष भी 'उसमें न थे, यही सब कारण हैं कि उनमें असत्य संकल्प की प्राप्ति न थी, यही औरों से उनमें विशेषता है ॥२॥

अन्य ब्रह्मवेत्ताओं के भी सत्यसंकल्पत्व में राग आदि दोषों के क्षय से होनेवाली शुद्ध चिति की सत्यात्मभावापत्ति ही हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

सम्पूर्ण एषणाओं की (वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा आदिकी) निवृत्ति होने पर शुद्ध चित्त पुरुष की जो स्थिति है, वही सत्य आत्मतत्त्व कहा जाता है, वही निर्मल चिति कही गई है॥३॥ निर्मल सत्त्वरूप मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है, जैसे जल आवर्तरूप हो जाता है, वैसे ही शीघ्र वैसा हो जाता है ॥४॥

और लोगों में चित्त की शुद्धि न होने से सत्यसंकल्पता की असिद्धि से प्रथम कल्प का सम्भव न होने पर भी द्वितीय कल्प के अनुसार पूर्व देह के मरण के समय उद्भूत कर्मों की वासना आदिके अनुगुण सुख-दुःख के भोग के अनुकूल जगत के प्रतिभान में शुक्राचार्य की समता है ही, इस आशय से कहते हैं।

जैसे शुक्राचार्य को अपने-आप भ्रान्ति हुई थी, प्रत्येक जीव में वैसी भ्रान्ति है ही, इस विषय में शुक्राचार्य ही दृष्टान्त हैं ॥५॥ जैसे बीज के भीतर स्थित अंकुर, पत्ते आदि अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं यानी चमत्कार को प्राप्त होते हैं, वैसे ही सब प्राणियों के भ्रान्ति से उत्पन्न द्वैतभेद अपने को प्रकट करते हैं ॥६॥ जो यह जगत हम लोगों को दृष्टिगोचर हुआ है, वैसा ही सारा जगत प्रत्येक जीव में मिथ्या

ही उदित है और मिथ्या ही अस्त को प्राप्त होता है। परमार्थ दृष्टि से तो किसी का कोई भी जगत न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। यह केवल भ्रान्ति मात्र है, एकमात्र माया ही उन्मत्त की नाईं उल्लास को प्राप्त होती है ॥७,८॥

यदि प्रत्येक जीव के संसार प्रत्येक में अलग अलग उदित हुए हैं, तो वे प्रतीत क्यों नहीं होते, इस पर प्रतीत होते ही हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे हमारे स्फुट अनुभव में स्थित हमारा मिथ्या संसार है, वैसे ही अन्य जीवों के मिथ्या हजारों संसार हैं ही ॥९॥

यदि कोई शंका करे कि सब लोग सब के संसारों को अलग-अलग क्यों नहीं देखते, तो इस पर कहते हैं।

जैसे अन्य के स्वप्न और मनोरथ के नगरों के व्यवहार अन्य को दृष्टिगोचर नहीं होते, वैसे ही अन्य के ये संसाररूपी भ्रम भी पृथक्-पृथक् नहीं दिखाई देते। भाव यह कि जैसे अन्य का स्वप्न अन्य पुरुषको दिखाई नहीं देता, वैसे ही अन्य का संसार भी अन्य को नहीं दिखाई देता ॥१०॥ इसी प्रकार संकल्परूपी आकाश में अनेक जगद्रूपी नगर हैं; पर वे ज्ञानदृष्टि के बिना मिथ्या प्रतीत नहीं होते ॥११॥ इसी प्रकार के संकल्पमात्र शरीरवाले सुख-दुःखमय पिशाच, यक्ष, राक्षस भी हैं। भाव यह कि पिशाच आदि भाव केवलमात्र संकल्प से कल्पित हैं, किन्तुः सुख-दुःख देते हैं ॥१२॥ हे रघुनन्दन, शुक्र के तुल्य ही अपने संकल्परूप आकारवाले मिथ्या को सत्य समझनेवाले ये तुम लोग भी उत्पन्न हुए हैं। हिरण्यगर्भ में भी इसी प्रकार की यह सृष्टि परम्परा विद्यमान है, यह वास्तविक नहीं है, अवस्तु में वस्तुता अन्धपरम्परा से ही स्थित है ॥१३,१४॥ जैसे एकमात्र वसन्त ऋतु का रस ही वन, लता, गुल्म आदिरूप से उदित होता है वैसे ही एक मात्र परब्रह्म ही प्रत्येक में मिथ्या विश्वरूप से उदित हुआ है। भाव यह है कि सम्पूर्ण जीवों के आकाररूप से ब्रह्म ही उदित हुआ है ॥१५॥

अपना प्राथमिक संकल्प ही जगदाकार प्रतीति को प्राप्त हुआ , यह कैसे जाना जा सकता है ? इस पर कहते हैं।

प्रथम संकल्प ही जगदाकार प्रतीति को प्राप्त हुआ है, यह अत्यन्त परमार्थदृष्टि से ही ज्ञात होता है ॥१६॥ अपने अनादि अज्ञान के मध्य में स्थित चित्त ही इस प्रकार के विविध व्यापारों से युक्त, प्रत्येक जीव में उदित यह जगत है, यों जानता हुआ स्वयं विनष्ट हो जाता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥१७॥

यह जगत्सत्ता प्रतिभासकाल में ही रहती है, वास्तविक अधिष्ठान का दर्शन होने पर यह रह नहीं सकती, ऐसा कहते हैं।

भ्रान्तिवश इसकी सत्ता है और अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार से इसका अस्तित्व मिट जाता है। चित्तरूपी हाथी का बन्धनस्तम्भरूप यह जगज्जाल एक दीर्घ स्वप्न ही तो है ॥१८॥

चित्तरूपी हाथी का बन्धनस्तम्भरूप यह जगज्जाल है, ऐसा जो पहले कहा था, उसी को स्फुट करते हैं।

चित्त की सत्ता ही जगत है और जगत की सत्ता ही चित्त है। एक के अभाव से दोनों का ही नाश हो जाता है, या सत्य तत्त्व के विचार से नाश होता है ॥१९॥

चित्त की सत्ता से जगत की सत्ता कहाँ देखी गई है, ऐसा यदि कहिये, तो सुनिये, शुद्ध चित्तवालों के सत्य संकल्प से उत्पन्न वस्तु में देखी गई है, ऐसा कहते हैं।

जैसे युक्तिपूर्वक मलिन मणि को साफ करने से शुद्ध प्रकाश निकलता है, वैसे ही चित्त का प्रतिभास सत्य होता है। चिरकाल तक एकाग्रता के दृढ़ अभ्यास से चित्त की शुद्धि होती है। संकल्पों से अनाक्रान्त यानी शुद्ध चित्त से स्वच्छता जनित प्रकाशमयता उदित होती है ॥२०,२१॥ जैसे मलिन वस्त्र में सुन्दर रंग नहीं टिकता, वैसे ही अज्ञान मलिन चित्त में अद्वैतात्मज्ञानरूप एक दृष्टि स्थिर नहीं होती ॥२२॥

आपने वासनानुसारी जगद्‌भ्रम होता है, ऐसा कहा है, उस वासनानुसार जगद्‌भ्रम में पहले अननुभूत स्वर्ग, अप्सरा और जन्मपरम्परा आदिकी विचित्रता में वासनारूप बीज का संभव नहीं है, इसलिए शुक्र का उनमें आरोपक्रम कैसे हुआ, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवन्, शुक्र के चित्त के प्रातिभासिक कल्पनारूप जगत में ये उदय और अस्त से युक्त काल–क्रियाक्रम किस कारण हुए ? उदयअस्तमय इससे प्रातिभासिक उदय और अस्त का प्रतिभासकाल में ग्रहण नहीं हो सकता, प्रतिभास से भिन्नकाल में उनका अनुभव ही नहीं है, इसलिए तद्विषयक वासना सिद्ध नहीं होती और वासना की सिद्धि न होने पर क्रम की सिद्धि भी नहीं हो सकती, यह सूचित किया ॥२३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, पिता से उत्पन्न चक्षु आदि से या पिता के वचन से और शास्त्र से जैसे उत्पत्ति–विनाश विशिष्ट यह जगत् है, ऐसा शुक्रने जाना था, ऐहिक पारलौकिक सम्पूर्ण वृत्त उनके चित्त में वैसा ही संस्काररूप से स्थित हो गया, जैसेकि मयूर के अण्डे में मयूर रहता है। भाव यह कि पिता के वचन, शास्त्र आदि प्रमाण और प्रमाणाभासों से ही वासना का उदय शुक्र को था। उत्पत्ति–नाश के क्रम का संस्कार साक्षी से ही सिद्ध हो जाता है ॥२४॥ चैतन्य से अधिष्ठित सजीव अविद्या में स्थित यह सब पिता और शास्त्र के कारण ही क्रम से ऐसे उदित हुआ, जैसे कि बीज से अंकुर, पत्र, लता, पुष्प, फल आदि उदित होते हैं ॥२५॥ जीव जिस वासना से बद्ध रहता है, उसी को अपने अन्दर देखता है, स्वप्न में अपने से कल्पित शरीर इसमें दृष्टान्त है, यह जगत भी तो दीर्घ स्वप्न ही है ॥२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह संसारभेद रात्रि में सैनिक पुरुष द्वारा स्वप्न में देखे गये सैनिकों के समूह के तुल्य अपनी आत्मा में प्रत्येक जीव में उदय हुआ है। भाव यह है कि जैसे दिन में सैन्यवासना से वासित सैनिक पुरुष रात्रि में स्वप्न में प्रत्येक सेना को अपनी–अपनी वासना से कल्पित नाना सेनाओं के रूप में देखते हुए भी सैन्यगत एकत्व को मानते ही हैं, वैसे ही प्रत्येक जीव में ये संसारभेद उत्पन्न हुए हैं ॥२७॥

यदि ऐसा है, तो मनुष्य और उसके संसार को अन्य लोग नहीं देख सकेंगे, ऐसी अवस्था में गुरुजनों की शिष्यों के उद्धार के लिए प्रवृत्ति और शास्त्ररचना स्वप्न में किये गये परोपकार के तुल्य शिष्यों को प्राप्त न होगी, ऐसी अवस्था में उपदेश न मिलने के कारण शिष्य को मोक्ष की प्राप्ति न होगी, इस प्रकार अनिर्मोक्ष प्रसंग हो जायेगा, यों यह कल्पना मूलघातिनी ही हुई, इस आशय से रामचन्द्रजी पूछते हैं :

हे भगवन्, उदित हुए ये संसार यदि स्वयं परस्पर नहीं मिलते, तो पूर्वोक्त अनिर्मोक्षप्रसंगरूप दोष प्राप्त होता है। यदि मिलते हैं, तो यह सर्वसाधारण संसार अलग–अलग एक–एक के ज्ञान से बाधित नहीं हो सकेगा, इस प्रकार उभयतःपाशारज्जु प्रतीत होती है। कृपा कर आप मेरे इस सन्देह

को यथार्थ रीति से दूर कीजिये ॥२८॥

उक्त दोनों दोष जिस प्रकार प्राप्त न हो, उस प्रकार की व्यवस्था से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मलिन मन शुद्ध मन में परस्पर सम्बन्धरूप मेल को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह शुद्ध मन के साथ सम्बन्ध के योग्य सूक्ष्मता से सवीर्य (शुद्ध में मिलने योग्य सूक्ष्मतारूप सामर्थ्य से युक्त) है। शुद्ध चित्त तत्त्व परस्पर एक दूसरे से ऐसे मिलते हैं जैसे एकरूपवाले जल परस्पर एकता को प्राप्त होते हैं, किन्तु अशुद्ध चित्त कलुषित जलों के तुल्य एकता को प्राप्त नहीं होते। भाव यह निकला कि सवीर्य होने के कारण ही देवताओं का जैसे दूसरे के स्वप्न में प्रवेश करके वरदानरूप अनुग्रह देखा जाता है, वैसे ही शिष्य के मन से कल्पित जगत में प्रवेश द्वारा गुरु का मन उपदेश देने में समर्थ है, इसलिए आपके द्वारा उद्भावित प्रथम दोष का खण्डन हो गया। जगत की सर्वसाधरणता तो हम मानते नहीं, अतः दूसरा दोष भी न रहा ॥२९,३०॥

चित्तशुद्धि की चरम सीमा दर्शाते हुए उसकी प्राप्ति से ही तत्त्वज्ञता और दृढ़ परमप्राप्ति प्रतिष्ठित होती है, अन्यथा नहीं, यो उपसंहार करते हैं।

वासना का आत्यन्तिक क्षय ही, जो एकरूप है और संवेदन से रहित है, चित्त की परम शुद्धि है। चित्त की शुद्धि से पुरुष शीघ्र प्रबुद्ध हो जाता है। प्रबुद्धपुरुष चित्त की पूर्वोक्त चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धि की प्राप्ति से परम कैवल्यरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥३१॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

मलिन चित्तों का मलिन चित्तों के साथ सम्बन्ध, जाग्रत आदि अवस्थाओं के शोधन से चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धि का लाभ और ज्ञानी की मोक्षप्राप्ति का वर्णन।

शुद्ध मनोराज्य का शुद्ध और मलिनों के साथ सम्मेलन प्रकार पहले कहा जा चुका है, अब मलिनों का मलिनों के साथ मेलन प्रकार तथा जाग्रदादि अवस्थाओं और द्रष्टा, दृश्य आदि के शोधन द्वारा पूर्व सर्ग के अन्तिम श्लोक में कही गई चित्त की चिन्मात्रपरिशेषरूप सिद्धि की प्राप्ति और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्ति बतलाने के लिए पूर्वोक्त जाग्रदादि प्रपंचभेद को आत्मा के असाधारण प्रतिभास के अधीन प्रतिभास से सिद्ध करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सब जीवों की अपने-अपने द्वारा कल्पित संसाररूप सृष्टि के टुकड़ों में स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप प्रपंच की प्रत्येक जीव में जो भिन्नता कही गई है, वह स्वयं प्रकाश चिदेकरस आत्मा की प्रतिनियताकार कल्पना से ही है, वस्तुतः नहीं है ॥१॥

यह कैसे जाना जाता है ? ऐसी शंका पर कहते हैं।

चूँकि सकल जीव संघात की सुषुप्ति के अनन्तर अव्यवहित उत्तर काल में अनादि द्वैतव्यवहार के लिए जो प्रवृत्ति से जो निवृत्ति है, वह सभी चिदेकरसकी चारों ओर की व्याप्ति से ही होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिए पूर्वोक्त प्रपंच की भिन्नता स्वप्रकाश चिदेकरस आत्मा के प्रतिभास से है, यह ज्ञात होता है ॥२॥ प्रवृत्तिमार्ग में व्यवहार करनेवाले जो जो जीव हैं, वे सबके सब चिन्मात्र से ही

पदार्थों के प्रकाशवाले हैं किसी अन्य ज्योति से नहीं। भले ही ऐसा हो, तथापि अन्य को अन्य के मनोराज्य की प्रदर्शन सिद्धि कैसे हुई ? ऐसा यदि कहिये, तो सुनिये, स्व–स्वसाक्षी चिन्मात्र केउपाधि संयोग से या ब्रह्मैक्यदार्ढ्य से एकत्व की प्राप्ति होने के कारण जीव परस्पर की सृष्टियोंको देखते हैं, अन्यथा नहीं देख सकते ॥३॥ विचित्र सृष्टिरूपी विविध जलाशय पूर्वोक्त चिन्मात्ररूपी एक मार्ग से परस्पर एक दूसरे से मिलते हैं और दूसरे के व्यवहार के संवाद आदि से सत्यत्व भ्रान्ति की दृढ़ता होने के कारण चारों ओर से निबिड़ जड़ता को प्राप्त होते हैं ॥४॥ कोई सृष्टिरूपी जलाशय दूसरी सृष्टि में मिले बिना ही पृथक् स्थिति को प्राप्त है और अन्य सृष्टियों में मिले बिना ही लय को प्राप्त हुए हैं। कोई परस्पर संमिलित हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्डरूपी गुंजाफल अक्षुण्ण स्थित हैं ॥५॥

जिसमें प्रत्येक अणु में असंख्य हजारों ब्रह्माण्डरूपी गुंजाफल एक दूसरे से मिले बिना स्थित हैं, वह ब्रह्म मायाशबल नाम का वन है। ये जगद्रूपी गुंजाफल परस्पर मिलने से निबिड़ता को (साधारण व्यवहार योग्यता को) प्राप्त हो गये हैं।

शंका : क्या सब पदार्थ सबके दर्शन योग्य हैं ?

समाधान : नहीं सब पदार्थ सबके दर्शन योग्य नहीं हैं। जिस प्राणी का जिस प्रकार के कर्मों का भोगानुकूल फल जहाँ पर जैसा रहता है, वहाँ पर उतना ही वह देखता है। अन्य लोक में स्थित अधिक का उसे दर्शन नहीं होता ॥६,७॥

इसीलिए चित्तों का भेद और चित्तोपाधिक जीवों का भेद सिद्ध होता है, इस आशय से कहते हैं।

एक मन की दूसरे मन में वर्तमान मनोराज्यों के प्रति उसके दर्शन, उपभोग आदि की असमर्थतारूप निष्फलता को प्राप्त हुई जो स्थिति है, उसी को आप मन के भेदमें हेतु जानिये। उसी से जीव भेद भी जानिये ॥८॥ इस प्रकार तुल्य कर्म, वासना आदि वाली विभिन्न मनोराज्यरूप सृष्टियों का एक साथ फलोन्मुखता द्वारा सम्बन्ध होने से व्यष्टि–समष्टि स्थूल देहों का अस्तित्व भी बद्धमूल है, ऐसा जानिये। उक्त देहसत्ता की विस्मृति होने पर तो देह का अभाव ही स्वाभाविक है ॥९॥

स्थूलदेहता के बद्धमूल होने पर जीव की स्वाभाविक आत्मस्थिति विस्मृत हो जाती है और काल्पनिक संसार स्थिति को वह स्वीकार कर लेता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अपने स्वरूप की विस्मृतिवाला सोना शुद्ध कटकता को प्राप्त होता है, वैसे ही अपने स्वरूप की विस्मृतिवाले चैतन्यरूपी सुवर्ण ने देहत्व के बद्धमूल होने के कारण कटकत्व के सदृश केवल संसाररूप अविद्या का मिथ्या ही अनुभव किया है ॥१०॥

इस प्रकार कहीं पर अशुद्धों के भी परस्पर सम्बन्धकी उपपत्ति बतलाकर शुद्धों के अन्य के मनोराज्य के परिज्ञान में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे हठयोग के अभ्यास से शुद्ध हुआ प्राणवायु दूसरे के शरीर में प्रवेश द्वारा दूसरे के प्राणों और देहेन्द्रियों में अपनी स्वाधीनता के परिज्ञानवश उनसे ज्ञेय शब्द आदि विषयों को जानता है, वैसे ही शुद्ध मन भी अन्य सृष्टि के मनोराज्य को जानता है ॥११॥

यदि मनोराज्यों के परस्पर संमिलन से ही स्थूल देह की सत्ता बद्धमूल हुई है, तो संमिलन न होने पर देह ही नहीं रहेगी, अतः –

नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेनं। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥

अर्थात् जाग्रदवस्था को नेत्र में स्थित जानें, स्वप्न को कण्ठदेश में स्थित समझें, सुषुप्त को हृदय में स्थित जानें और तुरीय अवस्था को मस्तक में स्थित समझें। इस प्रकार श्रुति द्वारा बोधित देह के विभिन्न प्रदेशों में अवस्थिति के अधीन जाग्रदादिअवस्था भी नहीं होगी, ऐसी आशंका करके कहते हैं।

सम्पूर्ण जीवों का आत्मा जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिनामक तीन अवस्थाओं को प्राप्त है। इनमें देह कारण नहीं है , भाव यह कि जीवत्व के स्वभाव से ही तीन अवस्थाओं की कल्पना है। देह के कारण उनकी कल्पना नहीं है, क्योंकि जाग्रत की कल्पना के बिना देह की सिद्धि न होने से अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होगा। श्रुति तो दूसरे की दृष्टि से सिद्ध देह के अनुवाद द्वारा उसके एक देश में दिखाई देने के कारण जाग्रदादि प्रपंच विस्तार सत्य नहीं है, यह तात्पर्य प्रकट करती है, देहजाग्रदादि अवस्थाओं का हेतु है, यह तात्पर्य प्रकट नहीं करती ॥१२॥ इस प्रकार जाग्रदादि तीन अवस्थारूप इस आत्मा में देहता जल में लहर की तरह स्फुरित नहीं होती। भाव यह कि जैसे जल ही तरंग आदिरूप से प्रकट होता है, तत्त्वदर्शन होने पर तो जल से पृथक् तरंग आदि कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही जीव ही तीन अवस्थावाला आत्मा है, ऐसा विचार होने पर जीव से अन्य देहता कोई वस्तु बाकी नहीं रहती ॥१३॥ इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता पुरुष सुषुप्ति अवस्था के अवसानभूत तुरीय पद में, जो कि अपना स्वरूप है, स्थित चैतन्यैकरसस्वभाव को ज्ञान से प्राप्त कर जीवभाव से निवृत्त होता है, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी नहीं है वही अपनी कल्पना से फिर देहादि की आकारकल्पनारूपसृष्टि में प्रवृत्त होता है ॥१४॥

तो क्या ज्ञानी और अज्ञानी की सुषुप्ति भी भिन्न है ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की सुषुप्ति समान ही है, क्योंकि अज्ञानी की भी सुषुप्ति श्रुति में निरतिशयानन्दरूप मोक्ष के दृष्टान्तरूप से कही गई है।

शंका : तब वह सुषुप्ति क्यों एक की सृष्टि की कारण होती है और अन्य की नहीं होती ? उसमें अन्तर क्या आया ?

समाधान : इन दोनों में जो सुषुप्ति-अवस्थापन्न अज्ञानी है, वह वास्तव आत्मज्ञान से रहित है और देहादि में आत्मतत्त्व भ्रान्ति की वासना से वासित भी है। इसी भेद के कारण अज्ञानी पुनः सृष्टि भाजन होता है ॥१५॥

सृष्टियों में और भी अवान्तर भेद कहते हैं।

चित् के सर्वव्यापक होने के कारण कोई पुरुष दूसरे सर्ग के भीतर पहुँचाया जाता है। प्रत्येक सर्ग में और भी दूसरे-दूसरे सर्ग अलग-अलग विद्यमान हैं ॥१६॥ उनमें जैसे कदली के खम्भों में एक के बाद एक पर्त रहते हैं, वैसे ही भीतर स्थित बहुत से सर्गों के समूह हैं। विस्तारयुक्त पत्तों से मानों बृहत्, बाहर और अन्तर के सम्पूर्ण सर्गों के समूह हैं। उनसे रहित ब्रह्म केले के पत्तों के मण्डप के तुल्य स्वभाव शीतल है ॥१७॥ जैसे सैकड़ों पत्तों के होने पर भी केले में भेद नहीं है, वैसे ही सैकड़ों सृष्टियों के रहते भी ब्रह्मतत्त्व में भेद नहीं है ॥१८॥

इस प्रकार जगद्भाव को प्राप्त हुए ब्रह्म की पुनः स्वभाव की प्राप्ति में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे वट आदि का बीज ही जल आदिके सम्पर्क से वृक्ष बनकर वृक्ष के शाखा-प्रशाखाओं के

विस्तार, फलआदि द्वारा फिर पूर्वतन बीज होता है, वसे ही ब्रह्म भी काम, कर्म आदि रूप जल के सम्पर्क से मन बनकर जन्म–मरण आदिकल्पना द्वारा अधिकारी देह की प्राप्ति होने पर श्रवण, मनन आदि के क्रम से ज्ञानोत्पत्ति होने के कारण प्राक्तन ब्रह्मभाव से आविर्भूत होता है ॥१९॥

जल के सम्पर्क से उक्त बीज की भी जैसे पुनः वृक्षभावापत्ति होती है, वैसे ही मुक्त की भी पुनः जीवभावापत्ति होगी, इस प्रकार यदि बीज को दृष्टान्त न मानों, तो रस ही दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

रसकारणवाला बीज फल रूप से विकास को प्राप्त होता है और ब्रह्मकारणवाला जीव जगद्रूप से विकास को प्राप्त होता है ॥२०॥

ऐसा होने पर ब्रह्म का कारण क्या है, इस प्रकार की शंका का भी अवसर नहीं आता, ऐसा कहते हैं।

जैसे रस का कारण क्या है, यह कहना उचित नहीं है, वैसे ही ब्रह्म का कारण क्या है, यह भी कहना युक्त नहीं है ॥२१॥

यदि कहिये जैसे पत्ते, शाखा, फूल, फल आदि में सरसता दिखाई देने के कारण उनका स्वभावभूत रस उनका कारण है, वैसे ही जगत का कारण ब्रह्म भी जगद्धर्मस्वभाव ही होगा, ऐसी अवस्था में ब्रह्मकारणता स्वभावकारणतावाद ही ठहरी, ऐसी शंका करके कहते हैं।

पर ब्रह्म परमात्मा निर्विशेष होने के कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता। भाव यह है कि कार्य के साथ उत्पन्न होनेवाले असाधारण कर्मविशेषरूप कार्यस्वभाव का कारण में सम्भव नहीं हो सकता ॥२२॥

तब तो चेतन ब्रह्ममात्र कारण से जगत में जाड्यादिस्वभावत्व की असिद्धि हो जायेगी, अतः ब्रह्म में जड़ता, दुःखादि स्वभाववाले जगत के अन्य कारण का और जगत में वैचित्र्य के हेतु अन्य निमित्तों को स्वीकार करना पड़ेगा, यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

निर्विकार, अद्वितीय, असंग होने के कारण वस्तुतः अकारण सम्पूर्ण प्रपंच के आरोप के आदि कारण ब्रह्म में कारण, निमित्त आदिवस्तु का भी संभव नहीं है। भाव यह कि ब्रह्मस्वभावसे विरोध होने के कारण ही अकारणविवर्तरूप जगत मिथ्या ही है।

शंका : जड़, अनृत, दुःखरूप जगत का जड़, असत्य दुःखरूप ही आदि कारण होना उचित है, उसी का विचार करना चाहिए। जो जगत का कारण नहीं है, उस ब्रह्म के विचार से क्या लाभ ?

समाधान : सार वस्तु का (ब्रह्म का) ही विचार करना उचित है, ब्रह्म के अतिरिक्त असार वस्तु के विचारों से कौन पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? ॥२३॥

ब्रह्म निर्विकल्प, अद्वितीय और असंग होने से कारण नहीं है और आदि कारण है, ऐसा जो कहा, उसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए पूर्वोक्त बीजरूप दृष्टान्त की अपेक्षा ब्रह्म में जो भेद है, उसे कहते हैं।

लोक में बीज अपने आकार का त्याग करके अंकुर आदिरूप फल में परिणत देखा जाता है; ब्रह्म वैसा नहीं है, ब्रह्म अपने आकार का त्याग किये बिना ही जगद्रूप विवर्त का कारण होता है, वहाँ पर फल और बीज दोनों उपस्थित रहते हैं। इसलिए जगद्विवर्त के उपादान ब्रह्म को अपनी तुल्य सत्तावाले कार्य के न होने से अकारण कहा, यह भाव है ॥२४॥

बीज की अपेक्षा ब्रह्म में और भी भेद दर्शाते हुए निर्विशेष ब्रह्म की बीज से जो समता दिखाई गई है,

वह गौणी वृत्ति से है। वस्तुतः ब्रह्म और बीज की तुलना नहीं है ऐसा कहते हैं।

बीज के अवयव, गुण आदि सभी स्वरूप आकारयुक्त अहं यानी अन्य से व्यावृत्ति करनेवाले जाति, विशेष प्रकार की गठन आदि से युक्त हैं। इसलिए आकृतिरहित परमपदरूप ब्रह्म की बीज से तुलना नहीं की जा सकती। वस्तुतः कल्याणरूप ब्रह्म में कोई उपमा है ही नहीं ॥२५॥

तब गौणी वृत्ति से उपमा देने का क्या फल है ? इस पर कहते हैं।

ब्रह्म ही अनात्मा के तुल्य उत्पन्न होता है, यह दर्शाने के लिए गौणवृत्ति से उपमा दी गई है। वस्तुतः ब्रह्म अन्य की तरह उत्पन्न नहीं होता, इसलिए न तो ब्रह्म को उत्पन्न हुआ जानिये और न अनुत्पन्न ही जानिये, अतः जगत शून्य है ॥२६॥

यदि अपने को ही जगत के तुल्य देखता है, तो उसे अनर्थ की प्राप्ति कैसे हुई, जिससे कि उस अनर्थ के परिहार के लिए शास्त्र सफल हो, इस शंका पर कहते हैं।

अपने को दृश्यरूप से देख रहा दृष्टा अपनी यथार्थ आत्मा को नहीं देखता। इसी से उसे अनर्थ की प्राप्ति हुई है। जिसकी बुद्धि प्रपंच से आक्रान्त हो, ऐसे किस पुरुष को अपनी यथार्थ स्थिति ज्ञात होती है ? ॥२७॥

यद्यपि उसकी पूर्णानन्द स्वप्रकाशता स्वाभाविक है, तथा विभ्रान्ति पैदा होने पर वह व्यर्थ हो गई, इस आशय से कहते हैं।

यदि मरुभूमि की मृगतृष्णा में जलभ्रान्ति है, तो यह मृगतृष्णा है, यह अभिज्ञता कहाँ ? यदि यह जल नहीं है, यह अभिज्ञता है, तो मृगतृष्णा कहाँ ? भाव यह कि भ्रान्ति होने पर अभिज्ञता रह नहीं सकती ॥२८॥

निर्मल, स्वप्रकाश, सर्वगत होने से आत्मा यद्यपि सदा सबके स्पष्टरूप से दर्शन योग्य है, तथापि कभी कोई भी उसको यथार्थरूप से नहीं देख सकता, यह बहिर्मुख लोगों की भ्रान्ति की प्रबलता पर महान आश्चर्य है, ऐसा कहते हैं।

जैसे नेत्र बहिर्मुख होने के कारण अपने स्वरूप को नहीं देख सकता, वैसे ही सम्पूर्ण अंगों से युक्त आकाश की तरह निर्मल द्रष्टा भी बहिर्मुख होने के कारण साक्षात अपने स्वरूप को नहीं देख पाता, यह भ्रम की बड़ी विस्मयकारिता है ॥२९॥

यदि कोई शंका करे बहिर्मुख पुरुष भीतर अपने आत्मा को भले ही न देखे, पर बाहर के और लोगों के आत्मा को उसे देखना चाहिए, इस पर कहते हैं।

जैसे सर्वथा भ्रमशून्य मुक्त पुरुष दृश्यता को प्राप्त हुए द्वैत को नहीं देखता, वैसे ही सर्वांगपूर्ण आकाश के तुल्य निर्मल द्रष्टा बहिर्मुख होने के कारण अपने आत्मा की तरह बाहर के सब लोगों के भी परमार्थिक स्वरूप को नहीं देखता है ॥३०॥ आकाश के तुल्य निर्मल ब्रह्म यत्न से भी प्राप्त नहीं होता। दृश्य को दृश्य रूप से देखने पर तो उसका लाभ बहुत दूर है, इसलिए दृश्य को दृश्य रूप से नहीं देखना चाहिये, किन्तु दृक्मात्र रूप से देखना चाहिये, यह भाव है ॥३१॥

यदि कोई शंका करे, द्रष्टा को अन्तरात्मा विषयाभिमुख द्रष्टा द्वारा भले ही न देखा जाय, किन्तु घटादि विषयों का अधिष्ठानभूत आत्मा तो बाह्यवृत्तिव्याप्ति से दिखाई देना चाहिए, क्योंकि उसमें

प्रत्यंमुखता का कोई उपयोग नहीं है, इस पर कहते हैं।

घटादि विषय प्रदेश में वृत्त्यवच्छिन्न द्रष्टा की वृत्ति के बाह्य घटादि के आकार में परिणत हो जाने से जहाँ द्रष्टा की भी घटादिस्वरूप प्राप्ति के बिना घटादि नहीं देखे जा सकते। वहाँ पर द्रष्टा की दृश्यता दूरतः अपास्त ही है, इसी अर्थ को बतलाने के लिए 'सूक्ष्मस्य' यह विशेषण दिया है। भाव यह है कि विषयाकारवृत्ति के साथ तादात्म्यापन्नस्वरूप से अतिरिक्त सूक्ष्म चिन्मात्र का दर्शन नहीं हो सकता है ॥३२॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य ही दिखाई देता है, द्रष्टा दिखाई नहीं देता।

शंका : यदि द्रष्टा सर्वथा नहीं देखा जाता है, तो चित्त की पूर्वोक्त चिन्मात्र परिशेषरूप शुद्धि के लाभ से मोक्ष प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान : केवल एक मात्र द्रष्टा ही है, दृश्य तो यहाँ कुछ है ही नहीं। जो कुछ दिखाई देता है एकमात्र भ्रान्ति का विलास है। इसलिए चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धि के लाभ से मोक्ष की प्राप्ति में कौन बाधा है ? ॥३३॥

द्रष्टृता भी वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यदि सर्वस्वरूप द्रष्टा दृश्य में स्थित है तो द्रष्टृता कहाँ रही ? भाव यह कि दृश्य प्रदेश में जो स्थित नहीं है, उसकी द्रष्टृता नहीं हो सकती और 'सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता' इत्यादि श्रुति भी है, इससे द्रष्टा को सर्वात्मा और दृश्य में स्थित अवश्य कहना चाहिये। ऐसा यदि है, तो उसके आत्मभूत सम्पूर्ण दृष्ट में, अपने में क्रिया का विरोध होने से द्रष्टृता कैसे होगी ? यदि कहिये कि सर्वशक्तिमान होने के कारण राजा की तरह वह दृश्य को उत्पन्न कर उसका वैसा अनुभव करता हुआ द्रष्टा होता है, तो अपने से अतिरिक्त उपकरण की अपेक्षा होने पर शक्ति संकोच मानना पड़ेगा; अतः स्वयं अविकृत ही वह तत्–तत् दृश्य रूपसे उदित होता है, यहीं पर अवशिष्ट रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रष्टृतारूप अतिरिक्त वस्तु की सिद्धि नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

राजा के समान सर्वशक्तिमान द्रष्टा जिस जिस वस्तु को जैसे प्राप्त होता है, वैसे ही शीघ्र उसका अनुभव करता है। सर्वशक्तिमान द्रष्टा ही दृश्यरूप में उदित होता है ॥३४॥ जैसे वसन्तरस का उल्लास अपनी रसता का त्याग न करता हुआ ही फल, पुष्प और लतारूप से उन्नत दैदीप्यमान वनखण्ड होता है, वैसे ही चित का उल्लास भी अपनी चिन्मात्रता का त्याग किये बिना ही जीव और तदनन्तर देह होता है। स्वानुभवरूप ही वह इक्षुविकार रूप रस में शर्करा की नाईं अहन्तादि रसवाले अपने में दर्शन, दृश्य रूप जगत स्वप्न को देखता है। जैसे ईख का रस ईख के रस से भिन्न विविध सैकड़ों शर्करा–खण्ड आदि के रूप से उदित होता है, वैसे ही चेतन भी अपने स्वरूप से अभिन्न विविध जगद्रूप से निश्चय उदित होता है ॥३५–३८॥ अपने में अपने–आप स्फुरित हो रहे दृश्यरूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त चिद्रसउल्लास वृक्षों का यहाँ पर अन्त नहीं जाना जाता, क्योंकि 'नानाखण्डसहस्त्रौधैः इससे ब्रह्माण्डों की अनन्तता दर्शाई गई है ॥३९॥

उन–उन ब्रह्माण्डों में भोग चमत्कार भी अनन्त हैं, ऐसा कहते हैं।

यह ब्रह्माण्डरूप वन खण्ड जैसे–जैसे अपने रस के चमत्कार का प्रत्येक को अनुभव कराता है,

वैसे-वैसे यह चेतन अपनी पृथक् स्थिति को देखता है ॥४०॥

चमत्कृति की विचित्रता में चमत्कृति की कल्पना करनेवाले तत्-तत् जीवों के विचित्र संस्कार का उद्बोध ही कारण है ऐसा कहते हैं।

इस जीवशक्ति को जो-जो अपनी सृष्टि जैसे उदित होती है, वह आत्मचिद्रूप उस-उस भुवन स्थिति को वैसे ही प्राप्त होती है ॥४१॥

समान वासनाओं का आविर्भाव होने पर अज्ञानी जीवों की भी सृष्टियाँ परस्पर मिलती हैं, ऐसा जीवसृष्टियों का मिलन जो पहले कहा गया, उसका उपसंहार करते हैं।

कोई जीवरूप संसार परस्पर मिलते हैं और इस संसार में स्वयं विहार करके चिरकाल में शान्त हो जाते हैं ॥४२॥

तब मेरे दूसरों की हजारों संसृतियों को देखने के लिए क्या उपाय है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आप पूर्वोक्त शुद्धचित्त लोगों के दर्शनोपाय से परमाणुओं के भीतर में भी हजारों जगत्परम्पराओं को देखिये। जैसे सारे तिल में तेल रहते है, वैसे ही चित्त में, आकाश में, शिलाओं में, ज्वाला में, वायु में तथा जल में लाखों संसार विद्यमान हैं ॥४३,४४॥ जब चित्त सिद्धि को प्राप्त होता है, तब जीव चित् हो जाता है, वह चित् शुद्ध और सर्वगत है, अतएव उसका परस्पर अन्यों से मिलन होता है ॥४५॥

मिलन भी स्वकीय परकीय स्वप्नों के दैवात् कहीं संवाद के तुल्य अपने-अपने अन्तःकरण का कल्पनामात्र ही है, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मा आदि सब का स्वसत्ता से कल्पितभ्रम का प्रतिरूप यह जगद्रूप बड़ा भारी स्वप्न अन्दर उदित हुआ है ॥४६॥ कई भूतपरम्पराएँ एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाती हैं। स्वप्न परम्परा में भ्रमण करने से दीवार आदि के तुल्य ठोस परमात्मरूप वस्तु में इस संसाररूप दीर्घ स्वप्न की प्राप्ति होती है और संसाररूपी स्वप्न की वासना की दृढ़ता से वह दृढ़तर है ॥४७॥ चिति जहाँ पर जिसकी भावना करती हैं, वहाँ पर वह शीघ्र ही उत्पन्न होता है। उसने स्वप्न में भी जिसको देखा, वह स्वप्न के समय में सत्य ही है, इसीलिए उसमें चित् सत्ता के संबन्ध का अनुभव होता है ॥४८॥ जैसे बीज के अन्दर सूक्ष्मरूप से पत्ते, लता, फूल, फलरूप अणु रहते हैं वैसे ही चिद् अणु के अन्दर सब सूक्ष्म अनुभव यानी जगत के आकार की वासनाएँ विद्यमान हैं ॥४९॥ परमाणुरूप जगत् के अन्दर चित् परमाणु विद्यमान है, ऐसी अवस्था में चित् और जगत के सम्पूर्ण रूप से परस्पर अन्दर प्रवेश को आश्चर्य मानता हूँ, यह अर्थ है। अथवा यह आश्चर्य नहीं हैं, क्योंकि चिदाकाश ही, जो कि जगद्भ्रमों के द्वारा भेद से गृहीत था, अपने में लय हो जाता है, इसी आशय से कहते हैं, आकाश आकाश में लीन हो गये, अतः आप द्वैत या एकत्व के भ्रम का त्याग कीजिये ॥५०॥

पूर्वोक्त का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

चेतन देश, काल, और क्रियारूप अपने ही सूक्ष्म अंशों से आत्मभूत अणुओं का ही अन्य की तरह अपने अन्दर अनुभव करता है, वस्तुतः अन्यों का अनुभव नहीं करता है, अन्यों का तो संभव ही नहीं है ॥५१॥ ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़े तक सर्वसाधारण तत्-तत् अन्तःकरणरूप की उपाधि के कारण परिच्छिन्न हुआ चिदणुखण्ड प्रलयकाल में यद्यपि अस्फुट रहता है तथापि सृष्टि का स्वप्न प्राप्त होने

पर स्फुट होकर तत्–तत् देहदृष्टि से अनुभव को प्राप्त कराया जाता है ॥५२॥

जिसका सबको अनुभव होता है वह क्या है ? ऐसी यदि किसी को जिज्ञासा हो, तो उस पर कहते हैं।

यह जो स्फुरित हुआ है (दृष्टिगोचर हुआ है), यह अनिर्वचनीय ही है।

शंका : फिर वह है क्या ?

समाधान : चित्परमाणु (जीव) साक्षात् सत्य आत्मा को ही द्वैतरूप से आस्वादन करते हैं। भाव यह कि जैसे कोई भ्रान्तपुरुष स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने की इच्छा करता है, वैसे ही चित्परमाणुरूप जीव भी सत्य आत्मस्वरूप को ही द्वैत मानते हुए भ्रान्तिवश उसका अनुभव करता है ॥५३॥ चिद्रूपी परमाणु खूब विकसित शरीर होकर नेत्र आदिरूप पुष्प द्वारों से संविद्रूपी सुगन्धि को बिखेरते हुए स्वयं स्फुरित हुए हैं ॥५४॥ कोई व्यष्टिरूप चिद्घट (घड़े के सदृश स्थूलदेह के परिचछेद से चेतन ही मानों घट ठहरा यानी जीव) दृश्य के हेतुभूत चेतन के सर्वव्यापक और अविनाशी होने के कारण देशतः और कालतः बाह्यरूप से जगत को देखता है ॥५५॥ कोई समष्टिरूप (विराट्) जगत को साफ–साफ अपने अन्दर ही देखता है। वहाँ पर चिरकाल के अभ्यास से तादात्म्य अभिमान होने से लीन होता है और फिर आविर्भूत होता है ॥५६॥ जगत में एक स्वप्नरूप जगत से दूसरे स्वप्नरूप जगत को एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न के समान पुनः–पुनः देख रहा वह पर्वत की चोटी से गिरी हुई शिला के समान गर्तरूप मिथ्या योनियों में लुढ़कता है ॥५७॥ स्फुरित हो रहे कोई शरीर परस्पर सम्मिलित हैं, कोई भ्रमशून्य आत्मा में स्थित हैं, कोई आत्मज्ञान के विस्तार में मग्न हैं ॥५८॥

जो अपने अन्दर दृश्य को देखनेवाले हैं, उनका द्वैतमिथ्यात्वज्ञान विशेष है, ऐसा कहते हैं।

जो जगद्रूपी जीवभ्रम को स्वयं अपने अन्दर देखते हैं, उन थोड़े–से महापुरुषों ने चारों ओर व्याप्त दृश्य को स्वप्न के समान असत् जान लिया है ॥५९॥

उन लोगों की दृष्टि में भीतर ही विश्व का उदय होने पर भीतर ही विश्व की सत्ता का हेतु है। किन्हीं की दृष्टि में बाहर उसका दर्शन होने पर बाहर ही उसकी सत्ता का हेतु है, ऐसी बीज की व्यवस्था मन में रखकर कहते हैं।

चित्स्वभाव सर्वरूप है, इसलिए वह दृश्य आत्मा में आत्माभिमान रूप से सत्य ही है। जहाँ सर्वव्यापी आत्मा है, वहाँ पर सब कुछ उदित होता है ॥६०॥

जीव के अन्दर दूसरे जीव का, दूसरे जीव के अन्दर फिर दूसरे जीव का, फिर दूसरे जीव का यों अव्यवस्थित, सप्रपंच जीव के उदय में भी उसमें स्थित चैतन्य में अज्ञानसहित तत्–तत् सत्ता ही हेतु है। उसका ज्ञान होने पर कुछ भी कहीं पर न अवशिष्ट था, न है और न रहेगा, इस आशय से कहते हैं।

जीव के अन्तर्वर्ती सम्पूर्ण प्रतिभास के अन्दर जीवसमूह का उदय होता है, उसके अन्दर पुनः दूसरा जीवसमूह उदित होता है, उसके अन्दर फिर दूसरा जीव, जीव के अन्दर फिर जीव, उसके अन्दर भी जीव उत्पन्न होता है केले के पत्तों की तरह जीव के अन्दर सर्वत्र जीव ही है ॥६१,६२॥ बुद्धि के विषयाभिमुखता का त्यागकर अर्न्तमुख होने पर एक ही साथ आन्तर और बाह्य दृश्य परिज्ञात होकर विनष्ट हो जाता है, जैसे कि तत्त्वतः परिज्ञान होने पर कटकत्व आदि सुवर्ण में विनष्ट हो जाते हैं ॥६३॥

इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्काररूप चिन्मात्रपरिशेषलक्षण शुद्धिलाभ को दर्शाकर उसकी प्राप्ति और स्थिति के इन्द्रियजन्य आदि से लेकर विचारपर्यन्त उपायों को आगे–पीछे (सिलसिले के बिना) आरम्भ करते हैं।

जिस पुरुष के मन में 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत क्या है', ऐसा दृढ़ विचार नहीं उठता है, उसके अन्दर यह बड़ा भारी जीवज्वरभ्रम नहीं छूटता ॥६४॥ जिस सद्‌बुद्धि पुरुष की विचार करने से संसारिक विषयभोगलिप्सा दिन प्रतिदिन घटती जाती है, उसके विचार को सफल जानना चाहिए। भाव यह कि वैराग्यपूर्वक ही विचार फलप्रद होता है। यदि कोई रागी पुरुष विचार करे, तो उसे विचारफल भोगवासना–तानव (क्षीणता) तनिक भी प्राप्त नहीं हो सकता है ॥६५॥

इन्द्रिय विजय में अभ्यास करके यदि वैराग्य हो, तो वही वैराग्य विवेक का कारण होता है, अन्य नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे पथ्य भोजन आदि नियमों से सेवित औषधि आरोग्य करती है, वैसे ही इन्द्रियजय का अभ्यास हो जाने पर विवेक फलीभूत होता है ॥६६॥

विवेक भी यदि वैराग्य, मुमुक्षा की उत्कण्ठा होने से संन्यास, श्रवण आदि फल में पर्यवसन्न हो, तो वही तत्त्वदर्शन रूप तन्मात्रयुक्ति की उत्पत्ति और स्थिति के उपयोगी होता है, केवल वाणीमात्र से विकसित विवेक उक्त फल नहीं दे सकता है, ऐसा दर्शाते हैं।

चित्र में दैदीप्यमान अग्नि के समान जिसके वचन में ही केवल विवेक है, मन में नहीं है; उस पुरुष के द्वारा अपरित्यक्त अविवेकिता केवल दुःख के लिए ही है। यानी जैसे चित्र में स्थित प्रकाशमान अग्नि से दाह आदि नहीं होते, वैसे ही वचनमात्र विवेक से फल सिद्ध नहीं होता है ॥६७॥

तब विवेक के मन में स्थित होने की क्या पहचान है ? इस शंका पर वैराग्य ही एकमात्र उसकी पहचान है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्पर्श से वायु सत्ता को प्राप्त होता है वाणी से नहीं, वैसे ही एकमात्र इच्छा के दूर होने से यानी वैराग्य से ही विवेक जाना जाता है। जैसे प्रत्यक्ष स्पर्श वायु का लक्षण है, वचनमात्र स्पर्श उसका लक्षण नहीं है, यह भाव है ॥६८॥

रागी पुरुष द्वारा वाणीमात्र से प्रदर्शित विवेक अविवेक की शाखा–प्रशाखारूप होने से अविवेक ही है, ऐसा दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, चित्र में लिखित अमृत या जल को आप अनमृत या अजल ही जानिये, चित्र में लिखित अग्नि को आप अनग्नि ही जानिये एवं चित्र में लिखित स्त्री स्त्री नहीं है, इसी प्रकार वचन से प्रदर्शित विवेक भी अविवेक ही है ॥६९॥ पहले विवेक से राग (विषयेच्छा) घटता है, इसमें सन्देह नहीं है, राग के घटने से वैर समूल नष्ट हो जाता, तदनन्तर इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के अनुकूल प्रवृत्ति, ज्ञान का उदय होने से मूलोच्छेद होने के कारण, अवश्य नष्ट हो जाती है। इसलिए जिसमें विवेकिता है, वही पुरुष तत्त्वदर्शनरूप तन्मात्रयुक्ति की स्थिति का योग्य भाजन है यानी पवित्र है ॥७०॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

उपासनाओं के अनुसार फल की प्राप्ति, ज्ञानोपाय से सत्य आत्मा में अवस्थान और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्था में स्थिति का वर्णन।

यदि जीवों के अन्दर जीवपरम्परा की कल्पना की जायेगी, तो बाह्य जीव ही आन्तरजीवों के अधिष्ठान होंगे। इस तरह आन्तर–आन्तर जीवों की मुक्ति स्वाधिष्ठानभूत बाह्य–बाह्य जीवात्म–भावचिन्तन से बाह्य–बाह्य जीवात्मभावप्राप्ति द्वारा बाह्य जीवों के अधिष्ठानभूत ब्रह्मात्मभावबोध का उदय होने पर बाह्य जीवों की मुक्ति से ही सिद्ध हो सकती है, न कि साक्षात् ब्रह्मात्मावबोध से उनकी मुक्ति सिद्ध हो सकती है, क्योंकि जीवों के मध्य में ब्रह्मसत्ता के असन्निधान से अधिष्ठानत्वरूप आन्तरजगत्बीजता का ब्रह्म में असम्भव है। यदि आन्तरजगद्बीजता का ब्रह्म में सम्भव हो, तो सभी आन्तर–बाह्य जीव तुल्य ही हैं। जीवों के आन्तरत्व की कल्पना असम्भव हो जायेगी, ऐसी आशंका करके जीवोदरवर्ती जगज्जालों का भी ब्रह्म ही अधिष्ठान बीज है, यह सिद्ध करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवों का अधिष्ठानरूप बीज ब्रह्म ही सब जगह आकाश की भाँति स्थित है, सब जगह स्थित रहने के कारण ही जीवोदरवर्ती जगत में भी अनेक जीव स्थित हैं ॥१॥ जैसे केले के पत्ते एक के भीतर एक रहते हैं और और जैसे धरातल के गर्भ में नाना प्रकार के कीड़े रहते हैं, वैसे ही आनन्दघन, एक अवकाशरहित आत्मस्वरूप होने के कारण जीव के भीतर भी अनेक जीवजातियाँ रहती हैं। एक के भीतर एक उसके भी भीतर एक इस परम्परा की कल्पना में दृष्टान्त केले के पत्ते दिये हैं। एक के भीतर अनेक की स्थिति कल्पना में दृष्टान्त धरातल के कीड़े दिये गये हैं ॥२॥

यदि कोई कहे आन्तर और बाह्य सभी जीवों का समान ही अधिष्ठान है, ऐसी स्थिति में आन्तरत्व की कल्पना निर्मूल है, इसका क्या परिहार है ? इस पर कहते हैं।

जैसे ग्रीष्मकाल में शरीरान्तर्वर्ती मल और पसीने के कारण जो–जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे शरीर के मल या पसीने के भीतर ही होते हैं। उसी दृष्टान्त से शुद्धचित्त्व भी आन्तर अथवा बाह्य जो–जो जहाँ पर दृश्य होता है, उस–उस का भोक्ता जीव वहाँ पर हो जाता है ॥३॥

अथवा पुरुष के पूर्व जन्म के प्रयत्नरूप कर्म से सब व्यवस्थाओं की सिद्धि होती है, इस आशय से कहते हैं।

वे जीव अपनी सिद्धि के लिए जैसे जैसे प्रयत्न करते हैं, शीघ्र ही विविध प्रकार की उपासना के क्रम से वैसे ही हो जाते हैं ॥४॥

कर्म और उपासना के तारतम्य के अनुसार देवताओं के सायुज्य में भी तत्–तत् देवतारूपी जीवों के भीतर ही तारतम्यरूप से भोग की प्रसिद्धि शास्त्ररूप प्रमाण से सिद्ध है, इस आशय से कहते हैं।

देवताओं की पूजा करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, यक्षों की पूजा करनेवाले यक्षों को प्राप्त होते हैं और हिरण्यगर्भ और परब्रह्म की उपासना करनेवाले हिरण्यगर्भ और परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

इनमें से किसको प्राप्त करना चाहिये ? इस पर कहते हैं।

जो तुच्छ न हो यानी सर्वोत्तम हो, उसीका आश्रय करना चाहिये ॥५॥

भार्गवोपाख्यान भी पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

जो प्रथम दृष्ट अप्सरारूप दृश्य से चित्त के स्वभाव वश शीघ्र बद्ध हो गया था, वह भृग-पुत्र अपनी संवित् के (ज्ञान के) निर्मल हो जाने से मुक्त हो गया ॥६॥

इसी तरह यह अव्युत्पन्न, मूढ़ संवित् जैसी व्युत्पत्ति से युक्त की जाती है, वैसी ही हो जाती है, इसलिये इसे वास्तविक ब्रह्मरूप से ही व्युत्पन्न करना चाहिए, मिथ्या जीवआदि भाव से नहीं, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

यह बाल संवित् संसार के व्यसन तथा संताप से जब तक मलिन न हुई हो, उसके पहले ही सर्वप्रथम जिस भाव को प्राप्त होती है तद्रूप हो जाती है, कोई अन्य वस्तु नहीं होती ॥७॥

संवित् कब बाल रहती है और कब प्रौढ़ होती है, यह विशेषता जानने के लिए जाग्रत और स्वप्न दशाओं की विलक्षणता का हेतु श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जाग्रत और स्वप्न दशाओं का भेद आप कहिये और यह भी बतलाइये कि प्रत्यक्ष के अवभास में कोई विशेषता न रहने पर भी जाग्रत किस कारण से सत्य व्यवहार का हेतु होता है और स्वप्न जाग्रत के आकार का भ्रम कहा जाता है ? ॥८॥

बार-बार संवादयुक्त प्रतीति से प्राप्त स्थिर प्रतीति की योग्यता ही जाग्रत के पदार्थों में सत्यत्वव्यवहार की हेतु है, इस तरह श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो स्थिर प्रतीति से युक्त होता है, उसे जाग्रत कहते हैं और जो अस्थिर प्रतीति से युक्त होता है, वह स्वप्न कहा गया है ॥९॥ यदि स्वप्न भी कालान्तर में स्थित है, तब तो जाग्रतरूप होने से क्षणमात्र में यह जाग्रत ही है, यह प्रत्यक्ष अनुभव से ही दृष्ट हो जायेगा। यदि जाग्रत भी कालान्तर में स्थित नहीं है, तो वह स्वप्न ही है। इस तरह जाग्रत स्वप्नता को और स्वप्न जाग्रद्भाव को प्राप्त होता है ॥१०॥ स्थिरता और अस्थिरता के बिना जाग्रत और स्वप्न की दशाओं में भेद नहीं है, क्योंकि इन दोनों दशाओं में सम्पूर्ण अनुभव सदा सब जगह समान ही होता है ॥११॥ स्वप्न भी स्वप्न के समय में स्थिर होने के कारण जाग्रतभाव को प्राप्त होता है और जाग्रत के मनोरथ भी जाग्रत के समय में अस्थिर होने से स्वप्न ही हैं, क्योंकि वैसा बोध होता है ॥१२॥ स्वप्न भी, हरिश्चन्द्र के बारह वर्षवाले स्वप्न की भाँति जिसकी स्थिरता जाग्रद्बुद्धि से ग्रहण करने योग्य हो, वह जाग्रद्रूप हो जाता है।

तो वह स्वप्न कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं।

उसमें स्वप्नता तो स्वप्न बुद्धि से है, क्योंकि स्वप्नरूप से ही उसका ज्ञान स्थिर था ॥१३॥

जब तक जो वस्तु स्थिर समझी जाय तब तक वह जाग्रत कही जाती है। क्षणमात्र में उसका भंग होने पर वह जिस प्रकार स्वप्न हो जाता है, उसे सुनिये ॥१४॥

प्रतिज्ञात विषय के वर्णन की भूमिका के रूप में स्वप्नद्रष्टा की जीव की सत्ता को सिद्ध करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शरीर के भीतर जीव वस्तु विद्यमान है, जिससे लोगों का जीवन रहता है। 'येन जीव्यते' इससे यह दर्शाया कि जीवित रहना ही जीव के अस्तित्व में प्रमाण है। तेज यानी शरीर

की गर्माहट, वीर्य यानी शरीर के व्यापार का कारण बल, जीवधातु यानी जीवन में हेतु निर्विशेष प्रेम और आदि पद से 'अहम्' इत्यादि अभिमान का निमित्त ज्ञान आदि जिसके नाम हैं यानी तेज, बल, प्रेम और ज्ञान ये सब जीव की सत्ता से ही हैं। इसलिए जीव के सद्भाव में ये सब प्रमाण हैं ॥१५॥

यदि कोई कहे देह में जीव रहे, पर उसकी रूप आदि की दशा के लिए प्रवृत्ति में क्या हेतु है ? इस पर कहते हैं।

जिस समय यह शरीर मन, वचन और कर्म से व्यवहार करनेवाला होता है, उस समय प्राणवायु से प्रेरित जीव चेतन, तालाब से नाली आदि के द्वारा जल के सदृश, हृदय से निकलकर बाहर संचार करता है, फैलता है ॥१६॥ जीव चेतन के भीतर सब नाड़ियों में संचार करने पर सब संवित् (ज्ञान) उदित होती है। पहले अनुभूत होने के कारण संवित् जिसमें जगतरूप भ्रम अन्दर छिपा हो, ऐसे चित्त को प्राप्त होती है यानी उनमें वासनाओं की उत्पत्ति होने के कारण स्वप्न देखती है ॥१७॥ नेत्र आदि छिद्रों में संचार कर रही संवित् नाना प्रकार के आकार और विकारों से सम्पन्न बाह्यरूप को अपने में देखती है वैसी ही वह स्थिर होने के कारण जाग्रत कही जाती है। भाव यह है कि यद्यपि अनुभव के समय प्रतीति स्वप्न के सदृश ही होती है, उससे भिन्न नहीं होती, फिर भी प्रतिदिन के प्रत्यभिज्ञान के बाद स्थिरत्व कल्पना जाग्रत है, यह ज्ञान होता है। जाग्रत का क्रम इस प्रकार आपसे मैंने कहा, अब आप सुषुप्ति आदि के क्रम को सुनिये ॥१८,१९॥

वाचिक और कायिक विक्षेप की निवृत्ति होने पर स्वप्न का उदय होता है, मानसिक विक्षेप की भी यदि निवृत्ति हो जाय, तो सुषुप्ति होती है, इस आशय से कहते हैं।

जिस समय शरीर, मन, वचन और कर्म से क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है, उस समय यह जीव चेतन शान्तस्वरूप और स्वस्थ होकर रहता है ॥२०॥ जैसे कि विक्षेपशून्य प्रकाश का एकमात्र निमित्त दीपक निर्वात (वायुरहित) घर में क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है वैसे ही सुषुप्ति को प्राप्त हुआ पुरुष समता को प्राप्त वायुओं से हृदयाकाशमें तनिक भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ॥२१॥ उससे शरीर के भीतर स्थित नाड़ियों में संवित् का संचार नहीं होता; अतः पुरुष विक्षोभ को प्राप्त नहीं होता है। इससे स्वप्न के निमित्त का अभाव दर्शाया।और वह संवित् इन्द्रियाँ आदि छिद्रों में भी नहीं आती; अतएव इन्द्रियों द्वारा बाहर भी नहीं आती। इससे जाग्रत के निमित्त का अभाव दिखलाया ॥२२॥

यदि कोई शंका करे कि 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतोभवति' (हे सौम्य, सुषुप्ति के समय जीव 'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म से एकीभूत हो जाता है, अपने पारमार्थिक रूप को प्राप्त होता है) इस श्रुति से सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म में लय सुना जाता है, फिर उस समय आप जीव की दीप के तुल्य स्थिति कैसे कहते हैं ? इस पर कहते हैं।

'मैं जीव हूँ' इस संस्कार से युक्त ही वह तिल में तैलसंवित् के तुल्य, बर्फ में शीतसंवित् के तुल्य और घृत में स्नेह संवित् के तुल्य ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर स्फुरित होता है ॥२३॥

यदि शंका हो कि तब ''तीर्णो हि तदा सर्वांछोकान् हृदयस्य भवति

(हृदय में स्थित बुद्धि से सब शोकों को तर जाता है), 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति'(उस समय सजातीय भेदशून्य और विजातीय भेदशून्य एकमात्र द्रष्टा होता है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा कहे गये

आत्यन्तिक ब्रह्मैक्य की क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं।

जीव के आकार की जो कोई चिति है, वह चेतन की कला उपाधि का विनाश होने से स्वच्छतावश ब्रह्मात्मा में पृथक् चेतनशून्य, प्राणवायु से किये गये विक्षेप से शून्य सुषुप्ति दशा को प्राप्त होती है, इस अंश को लेकर वे श्रुतियाँ प्रवृत्त हुई हैं, भेदवासना के विलय के अभिप्राय से प्रवृत्त नहीं हुई हैं, यह भाव है ॥२४॥

प्रसंगतः जीव की तुर्यावस्था दिखलाते हैं।

चित्त के उपरत होने पर सकल व्यवहारों के उपराम से युक्त चित्त में शास्त्र से अविषमता का ज्ञान कर विचार और एकाग्रता से साक्षात्कार को प्राप्त हुआ योगी प्रसिद्ध जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तियों में अथवा पूर्वोक्त भूमिका हो तो उसमें व्यवहार करता हुआ और समाधि में स्थित रहता हुआ भी ज्ञान की दृढ़ता से तुर्य आत्मस्वभाव से च्युत न होकर सदा ही तुर्यावस्थावान कहा जाता है ॥२५॥

प्रस्तुत सुषुप्ति का ही अनुवाद करके उससे पहले पूर्वोक्त स्वप्नावस्था का विस्तार करने के लिए चित्त की उत्पत्ति कहते हैं।

सौम्यता को प्राप्त हुए प्राणों से युक्त वह जीव चेतन जब भोग करानेवाले अदृष्ट के परिपाक से विषमता को प्राप्त किये गये प्राणों द्वारा ही संचालित होता है, तब वह जीव चेतन तत्–तत् भोगों के अनुकूल पूर्वजन्म के संस्कारों के उद्बुद्ध होने के कारण चित्तरूप से उदित होता है ॥२६॥

उससे स्वप्नदर्शन को कहते हैं।

उस समय जैसे योगी बीज में स्थित वृक्ष को अपनी यौगिक शक्ति से आगे होनेवाले विस्तार से युक्त देखता है वैसे ही भाव और अभावरूप क्रमिक भ्रमों से अपने हृदय में स्थित जगज्जाल को अपने भीतर ही तुरन्त देखता है ॥२७॥ सुप्त जीव चेतन जब प्राण वायुओं से थोड़ा बहुत क्षुब्ध होता है तब 'मैं हूँ' ऐसा अपने को अहंकारयुक्त देखता है; किन्तु जब अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है तब आकाश में अपना गमन देखता है ॥२८॥ जैसे फूल अपनी सुगन्धि का अपने अन्दर ही अनुभव करता है वैसे ही जब–जब नाड़ी के अन्दर स्थित श्लेष्मा के जल से प्लावित होता है तब अपने अन्दर ही जलआदि के भ्रम को देखता है ॥२९॥ जब यह जीवचेतन नाड़ी के अन्तर्गत पित्त से आक्रान्त होता है, तब बाहर की तरह सम्पूर्ण ग्रीष्म आदि के भ्रम का अपने अन्दर ही अनुभव करता है ॥३०॥ नाड़ी के अन्दर स्थित रुधिर से आप्लावित होकर गेरु आदि धातुओं से व्याप्त प्रदेशों को और लाल बादलों से भरे हुए सन्ध्या आदि कालों को बाहर के सदृश अपने अन्दर ही देखता है, अनुभवरूप होने से उन्हीं में निमग्न हो जाता है ॥३१॥ वह जीवचेतन जिस–जिस वासना का सेवन करता है यानी जिस वासना से वासित अन्तःकरणवाला होता है, निद्रावस्था में उसी वासना को प्राणवायु से क्षुब्ध होकर नेत्र आदि छिद्रों से बाहर के पदार्थों की तरह अपने अन्दर देखता है ॥३२॥ प्राणवायु से भीतर ही क्षुब्ध हुआ, अतएव इन्द्रियच्छिद्रों पर अपने आक्रमणों से रहित जीव अपनी संवित् से आन्तर पदार्थों का तुरन्त अनुभव करता है, वही स्वप्न कहा जाता है ॥३३॥ जब वायु से क्षुब्ध हुआ जीव इन्द्रिय छिद्रों का आक्रमण करनेवाला होकर बाहर शब्द आदि को देखता है, तब वह दर्शन जाग्रत कहलाता है ॥३४॥

जाग्रदादि भेदों से विस्तार को प्राप्त हुए जगत में सत्यता बुद्धि ही आसक्ति का कारण होने से

अनर्थ है; इसलिए उसी का त्याग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार ज्ञान को प्राप्त हुए अतः प्रथित महाबुद्धिवाले आपको भी इस असत्य जगत में सत्य दृष्टि नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह सत्य दृष्टि आध्यात्मिक निमित्तों से मरण के हेतुभूत दोषों की जननी है ॥३५॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

संसार सत्य आत्मा का अवलम्बन न करनेवाली चित्त की भ्रान्ति है,
सत्य आत्मा का अवलम्बन करने पर तो चित्त और संसार आत्मा ही है, यह वर्णन।

पूर्ववर्णित जाग्रदादिस्वरूप कथन का प्राकृत में सम्बन्ध दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे यह जाग्रदादि स्वरूप का वर्णन मन के यथार्थ ज्ञान के लिए किया है, इसका और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है ॥१॥

इस वर्णन से मन का कैसा स्वभाव ज्ञात हुआ, यदि यह कोई शंका करे, तो दृढ़रूप से भावित पदार्थ के आकार को धारण करना ही मन का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अग्नि के सम्बन्ध से लोहे का गोला आग बन जाता है, वैसे ही दृढ़ निश्चयवाला चित्त जिस वस्तु की बार-बार भावना करता है उसी के आकार को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

इससे सत् और असत्‌रूप हेय और उपादेय प्रतीति के विषय सभी पदार्थ एकमात्र मन से कल्पित होने के कारण सत् और असत् से विलक्षण (अनिर्वचनीय) है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

भाव, अभाव, उपादान, त्याग आदि प्रतीतियाँ चेतन में कल्पित हैं। न तो सत्य हैं और न असत्य हैं। मन की चपलता ही इनकी जननी है ॥३॥

व्यष्टिरूप से मन भ्रान्तिजनक है और समष्टिरूप से भ्रान्ति के विषय जगत का उपादान है, ऐसा भेद कहते हैं।

मन भ्रान्ति का तो कर्ता है और जगत की स्थिति का कारण है। समष्टिव्यष्टिरूप से मलिन मन ही इस जगत का विस्तार करता है ॥४॥

यदि कर्ता-अंश शुभ मार्ग में लगाया जाय, तो उपादानांश में स्थित अणिमा आदि विभूतियाँ और तत्त्वज्ञान भी वश में हो जाते है, ऐसा कहते हैं।

मन ही पुरुष है, उसको शुभमार्ग में लगाकर एकमात्र उसकी जय से अवश्य प्राप्त होनेवाली जगत में स्थित सब विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥५॥

यदि कोई कहे कि देह ही पुरुष हो, मन पुरुष न हो, तो इस पर कहते हैं।

यदि शरीर पुरुष होता, तो महामति शुक्राचार्य विविध आकारवाले अन्यान्य सैकड़ों जन्म रूप भ्रमों को कैसे प्राप्त होते ? ॥६॥

इसलिए शरीर पुरुष नहीं हो सकता, घड़े, दीवार आदि के तुल्य वह चेत्य ही है; ऐसा कहते हैं।

इसलिए चित्त ही पुरुष है, शरीर तो विषय है। चित्त जिसकी भावना करता है, उसको निश्चय ही

प्राप्त होता है ॥७॥

मन सब पदार्थों की प्राप्ति में समर्थ हो, उससे मेरा क्या काम ? ऐसी यदि शंका हो, तो उस पर कहते हैं ।

जो वस्तु अतुच्छ है, आयास रहित है, उपाधिशून्य है और भ्रमहीन है, प्रयत्न के साथ आप उसका अनुसन्धान कीजिये। उससे आप तत्स्वरूपता को प्राप्त होंगे। भाव यह है कि मोक्ष के लिए प्रयत्न करने पर आपको मोक्ष की प्राप्ति होगी ॥८॥

पहले कहे गये अर्थ का ही संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

मन के इच्छित स्थान या विषय को शरीर प्राप्त होता है। शरीर से किये गये स्थान या विषय को मन नियमतः प्राप्त नहीं होता, इसलिए हे सुभग, मन की इच्छित सिद्धि होने पर देह, इन्द्रिय आदि के नियमन में समर्थ होने के कारण आपका भी मन परमार्थभूत आत्मतत्त्व को प्राप्त हो, अन्य असत्य द्वैत भ्रमों का त्याग करे ॥९॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

विशुद्ध पुरुष में कल्पक का अभाव होने से मन की कल्पना नहीं होती और
अविशुद्ध में मन की सिद्धि होने से अनेक मत-मतान्तरों की कल्पनाएँ होती हैं, यह कथन।

जो वस्तु तुच्छ नहीं है, आयासरहित है, उपाधिशून्य है और भ्रमरहित है उसका यत्न से अनुसन्धान करो, ऐसा गुरुजी के कहने पर अपने बुद्धि कौशल से उसका अनुसन्धान कर उसमें मन की कल्पना की योग्यता को न देख रहे श्रीरामचन्द्रजी पूर्वोक्त मन की कल्पना में विश्वास न रखते हुए अर्धविकसित बुद्धि होकर पूछने के लिए गुरुजी को अपनी ओर आकृष्ट कर संशय दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे सम्पूर्ण धर्मों के मर्मज्ञ, सागर में चंचल कल्लोल की तरह मेरे हृदय में जो यह बड़ा भारी संशय घूम रहा है, उसे आप कृपाकर दूर कीजिये। देशकृत परिच्छेद न होने के कारण सर्वत्र व्याप्त, कालकृत परिच्छेद न होने के कारण नित्य और वस्तुकृत परिच्छेद न होने के कारण निर्दोष परमात्मा में मन नाम की विषयाकार कलुषित यह संवित् कौन है और कहाँ से आई है ? यदि कहिये, अनादि अविद्यावश यह उपस्थित हुई है, तो उसकी भी संभावना नहीं है, क्योंकि जिससे भिन्न दूसरी वस्तु न तो है, न थी और न होगी, उसमें किसी दूसरे निमित्त से या स्वतः अथवा दूसरे प्रकार से कलंक कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥१-३॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजी के पूछने पर श्रीवसिष्ठजी तत्त्वपदार्थ के परिचय से चमत्कारयुक्त श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि की पहले प्रशंसा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वाह आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया। नन्दनवन की मंजरी के समान मकरन्दनिस्यन्दरूपी अनुभव चमत्कारवाली आपकी बुद्धि मोक्षभागिनी हो गई है ॥४॥ आपकी बुद्धि पूर्वापर विचार में तत्पर है, इसलिए शंकर आदि देवताओं ने जो पद प्राप्त किया है, उस ऊँचे पद को आप प्राप्त होंगे ॥५॥

शुद्ध चिदात्मा में अविद्या का कलंक युक्त नहीं है, यह प्रश्न जो पुरुष शुद्धात्मा का अनुभव कर चुका है, उसे शोभा देता है; लेकिन उसके प्रति तो हम मन का निरूपण कर नहीं रहे हैं, जिससे कि उसे पूछने का अवसर मिले, किन्तु जिसने शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं किया है, ज्ञाता को ही आत्मा समझता है, उसे अपने अनुभव से विरुद्ध आत्मा की शुद्धि कैसे है ? यही शंका करनी चाहिए, अनुभव से विरुद्ध शुद्धि स्वीकार कर शुद्ध में मालिन्य कैसे है ? इस तरह के प्रश्न का अज्ञ के उपदेश के समय में विज्ञ के समान अवसर नहीं है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय आपके इस प्रश्न का अवसर ही नहीं है। निर्वाण प्रकरण में जबकि आत्मदर्शन समाधि की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जायेगी, अनुभव में आरूढ़ इसी अर्थ को मैं अपने अनुभव के संवाद के लिए कहूँगा, वहाँ पर आपके इस प्रश्न का समाधान दिया जायेगा। सिद्धान्त के समय आपको यह प्रश्न मुझसे पूछना चाहिए। मुझसे समाहित इस प्रश्न से सिद्धान्त आपको हस्तामलकवत् हो जायेगा ॥६,७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वर्षा ऋतु में मयूर की वाणी सुशोभित होती है, शरत काल में हंस की वाणी भली लगती है, मयुर की वाणी भली नहीं लगती, वैसे ही सिद्धान्त काल में ही आपका यह वचन सुशोभित होगा ॥८॥

इस समय यह आपका प्रश्न वर्षा ऋतु में आकाश की स्वाभाविक नीलिमा के वर्णन के तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

वर्षा ऋतु के बीत जाने पर आकाश की स्वाभाविक नीलिमा सुशोभित होती है; किन्तु वर्षा ऋतु में तो उस पर बड़े बड़े विशालकाय बादलों की घटा छाई रहती है ॥९॥

इस प्रकार श्री रामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत विषय के श्रवण में श्रीरामचन्द्रजी को प्रवृत्त करते हैं।

हे सुन्दर व्रतवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रकृत में इस उत्तम मनोनिर्णय का मैंने आरम्भ किया है, जिसके कारण लोगों का जन्म होता है, उस मन को आप सुनिये ॥१०॥ पूर्वोक्त रीति से चैतन्य में मलिनता अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध है। उस मालिन्य से उपहित वह चैतन्य प्रकृतिरूप होता है, मनन धर्मयुक्त होकर मन होता है, सुनता हुआ कान और देखता हुआ नेत्र होता है, क्योकि 'पश्यंश्चक्षुः श्रृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इत्यादि श्रुति है। तथा कर्मेन्द्रियाँ को प्राप्त हुआ यह चेष्टा से धर्माधर्मरूप कर्म भी स्वयं ही होता है, ऐसा मुमुक्षु लोगों ने श्रुति आदि प्रमाणों से निर्णय कर रक्खा है ॥११॥

बहुत से वादी अपने–अपने अभिमत नाम–रूप और आकार से उसी की अन्य–अन्यरूप से कल्पना करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

वक्ताओं में श्रेष्ठ वादियों की भाँति–भाँति की शास्त्रदृष्टियों से वही उनके अभिमत आकृति को दर्शन भेद से प्राप्त हुआ है, इसे आप सुनिये ॥१२॥

यदि एक ही मूल है, तो वादियों के सिद्धान्तभेद कैसे हुऐ ? इस शंका के समाधान के बहाने 'वही कर्म है, ऐसा मुमुक्षुओं ने निर्णय किया है' ऐसा जो पहले कहा था, उसीकी व्याख्या करते हैं।

मनन से चंचल हुआ मन जिस जिस भावना से उत्पन्न हुए भाव को प्राप्त होता है, जैसे सुगन्ध, दुर्गन्ध, उत्कट गन्धवाले फूलों के भीतर स्थित वायु सुगन्ध, दुर्गन्ध और उत्कट गन्ध को प्राप्त हो जाता

है वैसे ही उक्त मन भी तत्स्वरूपता को प्राप्त होता है ॥१३॥ इसलिए अपनी–अपनी वासना से कल्पित का ही युक्ति से निर्णय कर उसी का पुनः पुनः विकल्प करते हुए, अपने द्वारा कल्पित पदार्थ से स्वीयतारूपी रंग से अपने अहंकार को रंगते हुए यानी उसके आकार को प्राप्त करते हुए उसके निश्चय को प्राप्त होकर वह मन उसीमें पुनः पुनः आस्वादनरूप चमत्कार को प्राप्त होता है। शरीर में जैसा मन होता है उसके बाद बुद्धि और इन्द्रियों में भी वैसा ही हो जाता है ॥१४,१५॥ जैसे सुगन्धित पदार्थ के भीतर स्थित वायु सुगन्धिता को प्राप्त होता है, वैसे ही मन जिस प्रकार के भाव से युक्त होता है, उसके बाद उसका वशवर्ती शरीर भी तन्मय हो जाता है ॥१६॥ ज्ञानेन्द्रियों के आविर्भूत होकर अपने–अपने विषय में प्रवृत्त होने पर उनसे कर्मेन्द्रियसमूह स्वतः ही ऐसे स्फुरित होता है, जैसे कि धूलिमिश्रित वायु में पृथ्वी (तदन्तर्ग धूलिरूप पृथिवी) अपने–आप आविर्भूत होती है ॥१७॥ क्षुब्ध हुए कर्मेन्द्रिय के अपनी क्रियाशक्ति को प्रकट करने पर वायु में धूलि समूह की तरह प्रचुर कर्म की निष्पत्ति होती है ॥१८॥

मन की कर्मरूपता प्राप्ति का उपसंहार करते हुए कर्म और मन की परस्पर बीजरूपता और अभिन्नसत्ता को कहते हैं।

इस प्रकार मन से कर्म की उत्पत्ति हुई है। मन का भी कर्म ही बीज कहा गया है। इन दोनों की सत्ता फूल और सुगन्ध की सत्ता के समान अभिन्न ही है ॥१९॥

इस प्रकार वासना, कर्म और उसके फलरूप अनुभवों की भी समान रूप होने से एक ही सत्ता है, ऐसा कहते हैं।

दृढ़ाभ्यास होने के कारण मन जैसे भाव का ग्रहण करता हैं वैसे ही स्पन्दनाम की, कर्मनाम की शाखाओं को पैदा करता है, वैसे ही क्रियारूप उसके फल को बड़े आदर से उत्पन्न करता है, तदनन्तर उसी के स्वाद का अनुभव कर शीघ्र बन्धन में पड़ता है ॥२०,२१॥ मन जिस जिस भाव को प्राप्त होता है, उसी उसी को वस्तुरूप से प्राप्त होता है, वही श्रेय है, उससे अतिरिक्त श्रेय नहीं है, ऐसे निश्चय को प्राप्त हो जाता है। भाव यह कि इसीलिए निःसार अपने–अपने अभिमत वस्तु में प्राणियों और वादियों का पक्षपात देखा जाता है ॥२२॥ अपनी ही प्रतीति से अत्यन्त अनुविद्ध हुए मन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिऐ सदा ही प्रयत्न करते हैं। भाव यह कि अपने निश्चयानुसार जिसका मन जिस प्रकार के निर्णय से युक्त होता है, वह उसी के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है ॥२३॥ उन वादियों में कपिलजी के अनुयायियों का मन विवेकी होने से असंग, चिन्मात्र त्वंपदार्थविषयक अपनी प्रतिपत्ति से निर्मल ही है। तत्पदार्थ के विषय में वे श्रुति का अवलम्बन नहीं करते, इसलिए मोह वश अपनी बुद्धि से ही सुखदुःख मोहरूप जड़ जगत का सुखदुःख मोहरूप जड़ त्रिगुणात्मक प्रधान ही उपादान हो सकता है, ऐसा स्वीकार कर पुनः पुनः उसी के आस्वादन से वही एकमात्र तत्त्व है, ऐसा निर्णय कर उन्होंने ऐसी ही शास्त्रदृष्टियों की कल्पना की है ॥२४॥ हमने जो उपाय कहा है, उसके बिना किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, इस प्रकार के निश्चय से युक्त चित्तवाले लोग अपने कल्पित नियम रूपी भ्रमों से भ्रम में स्थित और अन्य उपायरूपी मतों से विमुख होकर ग्रन्थ रचना आदि द्वारा अपनी दृष्टि को औरों की बुद्धियों में संक्रान्त करते हैं ॥२५॥

ऐसे ही वेदान्तवादी भी हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रुतिरूप प्रमाण से अध्यारोप और अपवाद द्वारा यह जगत ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त अणुमात्र भी कुछ नहीं है, यों बद्धमूल हुई बुद्धि से निर्णय करके सर्वानर्थनिवृत्ति और वास्तविक निरतिशयानन्द अपरिच्छिन्न ब्रह्मात्मभाव के आविर्भाव रूप से अपने स्थान में ही प्राप्त हुई, न कि अर्चिरादि मार्ग से दूरगमन द्वारा प्राप्त हुई मुक्ति है, यों वेदान्तियों ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्टता से समर्थन किया है ॥२६॥ हमारे उपाय के बिना किसी को भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, इस प्रकार के निश्चय से युक्त चित्तवाले वे अपने द्वारा कल्पित नियमों से अपनी कल्पना का व्याख्यान करते हैं। नियम भ्रम इससे यह सूचित किया कि वेदान्तियों का एकमात्र उपाय तत्त्व ही वास्तविक है, उपाय आदि की प्रक्रियाएँ तो पाणिनिजी की तरह कल्पित ही है ॥२७॥ विज्ञानवादियों ने अपनी अत्यन्त भ्रम के प्रवाह से पूर्ण बुद्धि से सांवर्तिक उपद्रव के उपशम और इन्द्रिय द्वारों के संवरण से युक्त मुक्ति है, यों निर्णय करके मुक्ति की कल्पना कर रक्खी है ॥२८॥ हममें परिकल्पित उपाय के बिना किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार के निश्चय से युक्त वे अपने ही द्वारा कल्पित नियम भ्रमों से यानी तप्तशिलारोहण आदि साधन नियमभ्रमों से अपनी दृष्टि को प्रकाशित करते हैं ॥२९॥ आर्हत (अरिहंत) आदि अन्यान्य लोगों ने भी अपनी अभिमत इच्छा से (卐) जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध, मोक्षआदि पदार्थों की कल्पना द्वारा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि सप्तभंगी न्याय की कल्पनाओं से और नंगे रहना, भिक्षा करना आदि विचित्र आचारों से विचित्र शास्त्र दृष्टियों की कल्पना कर रक्खी है ॥३०॥ बिना किसी निमित्त के उठे हुए निर्मल जल के बुद्बुदों के समूहों की तरह उदित हुए अपने निश्चयों से ही ये नाना प्रकार की रीतियाँ प्रौढ़ता को प्राप्त हुई हैं। भाव यह कि सब विचित्र विचित्र कल्पनाओं की जड़ प्रमाण या प्रमेय नहीं हैं; किन्तु चिरकाल के अभ्यास से दृढ़ हुई मन की कल्पना ही इनकी जड़ है ॥३१॥ हे महाबाहो, इन सभी रीतियों का एक मात्र मन ही आगार है, जैसे कि मणियों का सागर आगार है ॥३२॥ नीम और ईख ये दोनों कडुवे या मीठे नहीं हैं। चन्द्रमा और अग्नि शीत और गर्म नहीं हैं। जिसका जैसा अभ्यास हुआ, वैसा ही अनुभूत होता है अतएव चन्द्रमण्डल और सूर्य, अग्नि आदि के मण्डलों में निवास करनेवाले देवताओं को शीत

(卐) जैनों के मत में जीव से लेकर मोक्षपर्यन्त सात पदार्थ हैं। उनमें जीव चेतन शरीर परिमाण है। पत्थर आदि अजीव हैं, इन्द्रियवर्ग आस्रव कहलाता है, कोई लोग विवेक को संवर कहते हैं और कोई यम, नियमादि को संवर कहते हैं। केशलुंचन आदि तपस्या निर्जर कहलाती है। बार-बार जन्म-मरण बन्धन है। बन्धन के उच्छेद से अलोकाकाश में सदा ऊर्ध्वगमन मोक्ष है। इन सात पदार्थों का साधक सप्तभंगी न्याय है। सद्वादी, असद्वादी, सदसद्वादी, अनिर्वचनीयवादी, इस प्रकार चार प्रकार के वादी हैं। अनिर्वचनीयवाद में भी सत् आदि के भेद से फिर तीन प्रकार के वादी होते हैं, यों कुल मिलाकर सात प्रकार के वादी हैं सद्वादी यदि आर्हत से पूछे, तुम्हारे मत में मोक्ष आदि है ? तो वह कहते है स्यादस्ति, 'स्यात्' तिंत प्रतिरूपक अल्पार्थक या कथंचिदर्थक अव्यय है असत्वादी आदि के प्रति पूछने पर क्रमशः 'स्यान्नास्ति' आदि उत्तर होते हैं। इससे पूछनेवाले चुप हो जायेंगे, यह आर्हतों का मनोरथ है।

और उष्ण आदि की पीड़ा नहीं होती ॥३३॥

यदि इस प्रकार के तुच्छ फल में भी दृढ़ अभ्यास की अपेक्षा है, तो अनादि सांसारिक विपरीत भावना से तिरस्कृत, अकृत्रिम आनन्दस्वरूप मोक्ष के फल में दृढ़ अभ्यास की अपेक्षा है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

जो अकृत्रिम आनन्द है, उसके लिए प्रयत्नशील हुए मनुष्यों को अपना मन अकृत्रिम आनन्दमयता को प्राप्त कर देना चाहिये, जिससे कि वह प्राप्त हो जाय ॥३४॥

मुक्ति के लिए किस वस्तु का दृढ़ अभ्यास करना चाहिये, ऐसी कोई यदि शंका करे, तो उस पर दृश्यमार्जन का ही अभ्यास करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

भली-भाँति आलिंगन करके बालक की तरह स्नेह से दृश्य को उत्पन्न करनेवाला अपना मन उस दृश्य का त्याग करता हुआ दृश्य से उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःखों से किसी प्रकार आकृष्ट नहीं होता ॥३५॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, अपवित्र, असद्रूप, मोह में डालनेवाले, भय के कारण, प्रतीतिमात्र सिद्ध विशाल आकार के दृश्य को आप अपना बन्धन समझिये ॥३६॥ यह द्रश्य माया है, अविद्या है, भय देनेवाली भावना है। मन की जो दृश्यमयता है, विद्वान लोग उसीको बन्धन में डालनेवाला कर्म कहते हैं ॥३७॥ मन को एक मात्र दृश्य में तत्पर देखकर आप दृश्य को मोह में डालनेवाला जानिये, उस अत्यन्त मलिन कर्दमरूप असत्यदृश्य का परिमार्जन कीजिये ॥३८॥

यदि कोई शंका करे कि दृश्य ने क्या बिगाड़ा है, जिसके परिमार्जन के लिए आप कहते है, तो इस पर कहते हैं।

स्वभाव में स्थित जो यह दृश्यतन्मयता अनुभूत होती है, वही संसार को मत्त करनेवाली अविद्या कही जाती है ॥३९॥ जैसे पटल नामक रोग से अन्ध बना हुआ पुरुष सूर्य के दैदीप्य आलोक को नहीं देखता, वैसे ही इस अविद्या से उपहत लोग अपना कल्याण नहीं जानते ॥४०॥ आकाश में वृक्ष की तरह संकल्प से वह अविद्या स्वयं उत्पन्न होती है। हे महामते, भावना के असंकल्पमात्र से उस के समाधि के अभ्यास से दृढ़ श्रवण, मननरूप विचार से अपने-आप क्षीण होने पर सब पदार्थों में अनासक्ति स्थिर हो जाती है ॥४१,४२॥ सत्यदृष्टि के प्राप्त होने पर असत्य जगत के क्षीण होने पर निर्मलस्वरूप निर्विकल्प चिद्रूप परमार्थ सत्य वह आत्मा प्राप्त होता है ॥४३॥ जिसकी न व्यक्तता है, न अव्यक्तता है, न सुख है और न दुःखिता है, अपने हृदय में जिसका केवल अद्वैतभाव अपने अनुभव से ही प्राप्त होता है ॥४४॥ न तो अकल्याणकारिणी भावना से और न चित्त, इन्द्रियदृष्टियों से जिसकी उपलब्धि होती है, जैसे आकाश अनन्त मेघपंक्तियों से रहित है, वैसे ही जो अपने से अपृथक् अनन्त वासनाओं से रहित है ॥४५॥ जैसे यह रस्सी है या नहीं, इस प्रकार रस्सी में सन्देह होने पर सर्पत्वभ्रम होता है वैसे ही बन्धनरहित चिदाकाशरूप आत्मा ने अपने में बन्धन की कल्पना कर रक्खी है ॥४६॥ जैसे एक ही आकाश रात और दिन में अन्यस्वरूपता को प्राप्त होता है। वैसे ही कल्पितवस्तु में सम्बन्ध होने से प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म ही नाना प्रकार की विचित्रता को प्राप्त हुआ सा दुःखमय संसाररूप से ज्ञात होता है ॥४७॥ जो तुच्छ नहीं है, क्लेशशून्य है, उपाधिरहित है, भ्रम से शून्य है और तत्-तत् कल्पनाओं से रहित है, वह एकमात्र सुख के लिए ही है ॥४८॥ जैसे कोठिले के सिंह आदि से रहित

रहने पर भी इसमें सिंह है, ऐसा भय होता है, वैसे ही शून्य शरीर में भी मैं भीतर बद्ध हूँ, ऐसा भय होता है, जैसे खाली कोठिले में देखने पर सिंह नहीं मिलता, वैसे ही यह संसाररूपी बन्धन जब विचार पूर्वक देखा जाता है, तो प्राप्त नहीं होता।' यह जगत् है' 'यह देहसंघात मैं हूँ' इस प्रकार का गाढ़ भ्रम ऐसे ही उत्पन्न हुआ है, जैसे बच्चों को मन्द–मन्द अन्धकार के समय वेताल के आकार की छाया दिखाई देती है ॥४९–५१॥ जीव की कल्पना के कारण धन–वैभव और दारिद्र्यरूप शुभ और अशुभ भाव एक क्षण में तिरोभाव को प्राप्त हो जाते हैं और फिर क्षण भर में आविर्भूत हो जाते हैं ॥५२॥ माता ही यदि गृहिणी के भाव से गृहीत होकर गले लगती है, तो सुरतानन्द देनेवाली गृहिणी का कार्य करती है। स्त्री ही मातृभाव से गृहीत होकर यदि गले लगती है, तो, मातृभाववश कामदेव को निश्चित भूला देती है ॥५३,५४॥ समस्त पदार्थ जातों को भावानुरूपी फल देनेवाले जानकर इस संसार में ज्ञानी पुरुष पदार्थों में एक रूप कभी नहीं कहता ॥५५॥ दृढ़भावना से चित्त जिस पदार्थ की जैसी खूब भावना करता है, उस समय तदाकार तत्–तत् फल को देखता है ॥५६॥ वह वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मिथ्या न हो। जिसका जिसने जिस प्रकार निर्णय किया, वह उसको उस प्रकार दिखाई देता है। जिस मन ने अपने में आकाशगज की भावना की है, वह आकाशगज के रूप से आकाश स्थित आकाशवन की हथिनी के पीछे कामातुर होकर चलता है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुषुप्ति में स्थित होकर सब पदार्थमय संकल्प का त्याग कीजिये, अपने पारमार्थिक अद्वितीयानन्द आत्मरूप से स्थित होइये। अपारमार्थिक दुःखरूप से स्थित न होइये ॥५७–५९॥

यदि कहिये, मैंने संकल्पों के साथ यद्यपि द्वैतभाव का त्याग कर दिया है तथापि जैसे शुद्ध मणि में प्रतिबिम्बों का निवारण नहीं किया जा सकता, वैसे ही इच्छा न होने पर भी उन द्वैतभावों का मुझ में वारण नहीं किया जा सकता, तो इस पर कहते हैं।

मणि जड़ है, अतएव वह प्रतिबिम्बों का निषेध नहीं कर सकती। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तो चेतन हैं, इसलिए आपकी जड़ मणि के साथ समानता नहीं हो सकती ॥६०॥

चित्त का निरोध करने पर भी यदि दैव योग से द्वैत का प्रतिबिम्ब हो भी जाय, तो उसे मिथ्या समझकर तद्रूपतानुरंजन का त्याग करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके स्वच्छ आत्मा में जो जगत का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसको अवस्तु समझकर आप उसके अनुरंजन को प्राप्त न होइये ॥६१॥

अथवा उसका चिदात्मा के साथ एकता के अनुसन्धान द्वारा प्रविलापन करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

हे राघवजी, वह सत्य ब्रह्म ही है अथवा परमात्मा से अभिन्न ही है, ऐसा अपने हृदय में निश्चय कर आप जन्म–विनाशरहित आत्मा की अपने से भावना कीजिये ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके चित्त में जिन भावों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वे स्फटिक की भाँति आपको रंजित न करें क्योंकि आप आत्मतत्त्व में संलग्न हैं ॥६३॥

अथवा द्वैत की प्रतीति हो, तथापि निर्विकार आत्मा का बोध होने के कारण स्फटिक के समान स्वच्छ आपका स्फटिक की तरह उनसे अनुरंजन न हो, ऐसा कहते हैं।

जैसे प्रतिबिम्बित पदार्थों की पुनः पुनः प्राप्ति होने पर भी उनके राग आदि के संसर्ग से रहित स्फटिक में भाँति-भाँति के रंग प्रकटरूप से प्रविष्ट नहीं होते हैं, वैसे ही प्रतिबिम्बित पदार्थों का पुनः पुनः अनुसंधान होने पर भी राग आदि की वासना के आधान से रहित आप में प्रारब्ध भोग के उचित जगद्व्यवहार की इच्छाएँ प्रकटरूप से प्रविष्ट न हों ॥६४॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

दृढ़ बोध हो जाने पर सब दोषों के विनाश,
मन की प्रसन्नता और विशुद्ध आत्मतत्त्व के साक्षात्कार का वर्णन।

ज्ञान की फलभूत जीवन्मुक्तावस्था के अनुभव का प्रकार बतलाने के लिए श्रवण, मनन आदि के वृद्धि क्रम से जैसे-जैसे ज्ञान दृढ़ होता है वैसे -वैसे अधिकाधिक दोषों का क्षय होता है, यह पहले दर्शाते हैं।

जो नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से सम्पन्न है, जिसका चित्त वृत्तियों को त्याग रहा है, जो समाधि के अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्तकर क्रम से बाह्य तथा आन्तर मनन का त्याग कर रहा है, जिसका मन कुछ विशुद्ध आत्माकाररूप से परिणत हो गया है, जो दृश्य और अज्ञान की भूमिकाओं का परित्याग कर रहा है, जो उपादेय यानी ज्ञान की भूमिकाओं को प्राप्त हो चुका है, जो द्रष्टा यानी प्रमाता को भी साक्षी चित् से वेद्य यानी दृश्यभूत देख रहा है, *जो भासक चित् से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं देख रहा है, जो 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' इस भगवद्वाक्य के अनुसार* जागरण के उचित परम तत्त्व में ही जाग रहा है तथा निबिड़ अज्ञान के विकारभूत संसार मार्ग में सोया हुआ है और जो सम्पूर्ण तुच्छ सुखों से लेकर हिरणयगर्भ पद पर्यन्त सुखों में अत्यन्त वैराग्य होने के कारण क्रमिक मोक्षरूपी सुख से युक्त तथा उसकी हीन एवं भोगकालतक ही रमणीय ऐहिक भोग के साधन, माला, चन्दन आदि में विरक्त अतएव लोकसंग्रह के लिए क्रियमाण कर्मफल तथा प्रारब्ध कर्म से प्राप्त भोगों में निस्पृह है, ऐसे अधिकारी पुरुष का अनादि जड़ अज्ञानरूपी आकाश के परमात्मरूपी जल के साथ ऐक्य को प्राप्त होने पर, आसक्तिहीन अज्ञानाकाश के नमक के टुकड़े के समान रसावशेष होने पर नहीं, किन्तु धूप में बर्फ समूह की भाँति निरवशेष गल जाने पर तथा जैसे वर्षाकाल के व्यतीत हो जाने पर बड़ी-बड़ी तरंगों से भरे हुए जल से चंचल मध्यभागवाली तरंगयुक्त नदियाँ शान्त हो जाती हैं, वैसे ही बड़ी-बड़ी तरंगों से भरे हुए जल के तुल्य चंचल स्वरूपवाली विविध विषयरूपी तरंगों से युक्त तृष्णाओं के शान्त होने पर तथा जैसे चूहे के द्वारा चिड़ियों के जाल काटे जाते हैं, वैसे ही वैराग्य के आवेग से संसारवासनारूपी जाल के तोड़ने पर अतएव हृदय की ग्रन्थि के ढीली पड़ जाने पर जैसे कतक के फल से (निर्मली से) जल स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही विज्ञान की दृढ़ता से स्वभाव यानी मन प्रसन्नता को (स्वच्छता को) प्राप्त हो जाता है ॥१-८॥ जैसे पक्षी पिंजड़े से मुक्त होता है, वैसे ही कामनाओं से रहित, विषयों में आसक्त करनेवाले विषय के गुणों के चिन्तन से शून्य, भार्या आदि प्रियजनों के सम्पर्क से विहीन और बार-बार भोग के लाभ की भूमि से रहित मन मोह से निर्मुक्त हो जाता है। भाव यह कि मन पहले

कामना आदि से छुटकारा पाता है, तदनन्तर अज्ञान से छुटकारा पाता है ॥९॥

अज्ञान से विनिर्मुक्त मन की कैसी स्थिति होती है, उसे कहते हैं।

संशयरूपी दुष्टता के शान्त होने पर कौतुकभ्रम से निर्मुक्त, परिपूर्ण अन्तर्भागवाला मन पूर्ण चन्द्र के तुल्य प्रकाशमान हो जाता है ॥१०॥ जैसे वायु के शान्त होने पर समुद्र में समता (निश्चलता) उदित होती है, वैसे ही मन के शान्त होने पर सब जगह सर्वोत्तम सुख पैदा करनेवाली, अज्ञानरूपी मल से विमुक्त, उन्नत समदृष्टिता उदित होती है ॥११॥ जड़ता से जर्जरित स्वरूपवाली, अन्धकारमयी, बोधजनक वाक्य के व्यवहार से शून्य यह संसार की वासना सूर्योदय होने पर रात्रि के तुल्य क्षीणता को प्राप्त होती है ॥१२॥ चिद्रूपी आदित्य का दर्शन कर लेने पर गुरुसेवा, श्रवण, समाधि का अभ्यास आदिरूप पुण्यपल्लववाली प्रज्ञापद्मिनी हृदयरूपी सरोवर में ऐसे खिलती है जैसे कि प्रातःकाल में निर्मल प्रकाश से युक्त अतएव सुन्दर प्रकाश खिलता है ॥१३॥ सम्पूर्ण लोकों को आनन्दित करने में समर्थ, सत्त्वगुण की वृद्धि से प्राप्त हुई मनोहर प्रज्ञाएँ पूर्णचन्द्रमा की किरणों की भाँति बढ़ती हैं ॥१४॥ अधिक कहने से क्या लाभ ? जिसने ज्ञातव्य परमात्मतत्त्व को जान लिया है, ऐसा महामति पुरुष वायु आदि चारों भूतों से रहित आकाश के तुल्य न तो उल्लास को प्राप्त होता है और न अस्त होता है ॥१५॥

उसके महाप्रभाव का वर्णन करते हैं।

जिसने विचार से स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिसे आत्मा का प्रकाश हो गया है, ऐसे महापुरुष के इस संसार में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शंकर भी अनुकम्पनीय (करुणा के पात्र) है, क्योंकि उनमें भी अवतार धारण आदि अधिकार के क्लेश देखे जाते हैं ॥१६॥

प्रमादवश पहले की तरह पुनः प्राप्त विक्षेपप्रसक्ति का वारण करते हैं।

आकारमात्र से प्रकट होने पर भी जिनका चित्त भीतर अहंकार से शून्य है, उस पुरुष को विकल्प ऐसे नहीं पाते हैं, जैसे मृगतृष्णा को मृग नहीं पाते हैं ॥१७॥ चित्त की वासना से ये लोक तरंगों की भाँति उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, वे अज्ञ प्राणियों को ही अपनाते हैं न कि तत्त्वज्ञ को। मरण–जन्म यानी आविर्भाव–तिरोभावरूपी संसार तत्त्वज्ञ पर अपना असर नहीं डालता, यह जानकर तत्त्वज्ञानी इस आविर्भाव और तिरोभावों से माया से निर्मित व्याघ्रादि कौतुक के दर्शन के तुल्य रमण (क्रीड़ा) करते हैं और अज्ञानी उनसे बन्धन में पड़ते हैं ॥१८,१९॥ जैसे घट में घटाकाश न उत्पन्न होता है और न मरता है, वैसे ही इस संसार में शरीर के भूषित या दूषित होने पर भी आत्मज्ञानी भूषित या दूषित नहीं होता यानी घटाकाश के तुल्य अविकृत ही रहता है ॥२०॥ भ्रमरूपी मरुस्थल में उत्पन्न हुई मिथ्या संसारवासना शीतल विवेक का उदय होने पर चन्द्रमा के सहित प्रदोषकाल के आने पर मरुस्थलमें उत्पन्न हुई मृगतृष्णा की भाँति नष्ट हो जाती है ॥२१॥ 'मैं कौन हूँ' 'ये शरीरादि कैसे प्राप्त हैं' यह जब तक विचार नहीं किया गया, तभी तक यह अन्धकार के तुल्य संसार आडम्बर स्थित है ॥२२॥

तो कैसी स्थिति से संसाररूपी अन्धकार से शून्य, पूर्ण आत्मा को पुरुष देखता है ? इस पर उस स्थिति को कहते हैं।

मिथ्या भ्रमसमूह से उत्पन्न, आपत्तियों के आश्रयभूत इस शरीर को जो आत्मभावना से 'नेदं शरीरम्' (यह शरीर नहीं है) इस तरह बाधित देखता है, वह पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२३॥

देशवश उत्पन्न जो आधिभौतिक, काल वश उत्पन्न जो आधिदैविक तथा शरीर में उत्पन्न जो आध्यात्मिक सुख–दुःख हैं, वे मेरे नहीं हैं, इस तरह जो भ्रमरहित दृष्टि से देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२४॥ असीम जो आकाश, दिशा, काल आदि हैं और उनमें वर्तमान परिच्छिन्न उत्पत्ति, गति आदि क्रियाओं से युक्त वस्तु हैं, उन सबमें 'मैं ही हूँ' ऐसा जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२५॥ करोड़ों अंशों में विभक्त जो बाल के अग्रभाग का लाखवाँ भाग है, मैं उससे भी सूक्ष्म और व्यापक हूँ, ऐसा जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२६॥ आत्मरूप से प्रसिद्ध जीव तथा उससे दृश्य सकल पदार्थ चित्प्रसादमात्र है, इस तरह नित्य ऐक्यदृष्टि से जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२७॥ यह अद्वितीय चित् सर्वशक्ति, अनन्तात्मरूप तथा सम्पूर्ण पदार्थों में अन्तः स्थित है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२८॥ मनोव्यथा, दैहिक व्यथा और भय से उद्विग्न होनेवाला जरा, मरण और जन्म से युक्त देह मैं हूँ' जो बुद्धिमान इस तरह नहीं देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२९॥ मेरी महिमा तिरछे, ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त है, मुझसे अन्य कोई नहीं है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥३०॥ सूत में मणियों की भाँति सम्पूर्ण जगत मुझमें ही गुँथा है और चित्त भी मैं नहीं हूँ, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥३१॥

'मैं ही हूँ' इस तरह जो देखता है, ऐसा करने पर चित् के परित्याग से अहंकार मात्र परिगृहित न हो, इसलिए अहंकार के साथ जगत के निषेध से चिदेकरस ब्रह्म का ही परिशेषकर दर्शन करना चाहिये, यह कहते हैं।

न मैं हूँ और न अन्य ही है, किन्तु एकमात्र निरामय ब्रह्म ही हैं, इस तरह व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थों के मध्य में जो देखता है, वही पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३२॥

जो भी कुछ यह त्रैलोक्य है, वह समुद्र में तरंग की भाँति मेरे ही अवयव है, इस तरह जो अपने अन्दर देखता है, वही पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३३॥ स्वतः सत्ताशून्य होन से शोचनीय यह त्रिलोकी मुझसे ही अपनी सत्ता के प्रदान द्वारा पालनीय है, यह मेरी छोटी बहन है, दृष्टिमात्र से पीड़ित होने के कारण अत्यन्त सुकुमार है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३४॥ आत्मता–परता, त्वत्ता–मत्ता ये जिस महात्मा के देहादि से निश्चितरूप से विवेक तथा बोध द्वारा निवृत्त हो गये, वही सुलोचन महापुरुष पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३५॥ दृश्य के सम्बन्ध से रहित अतएव निर्विघ्न स्वभाव की स्फूर्ति से जगज्जाल को, अंधकार को प्रकाश की तरह, व्याप्त करनेवाले विशाल चिन्मय आत्मशरीर को जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥३६॥ सुख, दुःख देह, उस देह में विद्यमान गुरु, देवता तथा शास्त्र में श्रद्धा उसमें नित्य–अनित्य आदि का विवेक, उससे उत्पन्न श्रवण आदि के क्रम से आत्मज्ञान में तारतम्य के भेद, ये जो हैं, वो मैं ही हूँ, इस तरह जो निश्चय के साथ देखता है, वह भी आत्मतत्त्व से च्युत नहीं होता है ॥३७॥ निरतिशय आनन्दघन आत्मसत्ता से आपूर्ण यानी आनन्दलवमात्र के अर्पण से तृप्त, ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्तजगत में अंशमात्र से वर्तमान ऐहिक, पारलौकिक भोग्य वस्तु से मुझे क्या दुःख है कि जिससे वह हेय हो अथवा अन्य क्या सुख है कि जिससे वह उपादेय हो, इस तरह देखता हुआ पुरुष सुदृक् यानी अभ्रान्तदृष्टि

है ॥३८॥ यह जगत पूर्णरूप से तर्क से अगम्य, वृत्तिके परिणाम से रहित यानी निर्विशेष सन्मात्र ही है, यह जानकर जिस पुरुष की हेय और उपादेयभावना नष्ट हो गई है वही पुरुष है ॥३९॥ जो आकाश की भाँति एकात्मा है और सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त होता हुआ भी उन भावों में अनुरक्त नहीं होता है, वह महात्मा पुरुष निरतिशय स्वानन्द के उपभोग में समर्थ साक्षात शिव है ॥४०॥ सुषुप्ति, जाग्रत, स्वप्न इन अवस्थाओं से मुक्त, मृत्यु का भी परम आत्मीय यानी मृत्यु से भी उद्विग्न न होनेवाला जो सौम्य, समदृष्टि तथा तुरीयावस्था में स्थित है उस परमात्मपद को प्राप्त पुरुष को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४१॥ सम्पूर्ण जगत में एक ब्रह्म ही है, इस बुद्धि से युक्त जिस पुरुषकी ब्रह्माकार दृष्टि संसार में स्थित विचित्र और सुन्दर विभवों से युक्त सृष्टि, प्रलय और स्थिति में सदा ही अपरिच्छिन्न है, उस परम बोध से युक्त जीवन्मुक्त शरीरवाले साक्षात शिव को नमस्कार है ॥४२॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

ज्ञानी का शरीररूपी नगर में राज्यवर्णन, आसक्तिरहित सद्भोगों से विनोद और मनोजयरूपी सुख के उदय का वर्णन।

जीवन्मुक्त के शरीररूपी नगरी राज्य का वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के तदुपयोगी प्रश्न का उत्थान कराते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे घटोत्पत्तिरूप कार्य हो जाने पर भी कुम्हार का चक्र जब तक वेग रहता है तब तक घूमता रहता है वैसे ही जब तक प्रारब्ध का क्षय न हो जाय तब तक देह धारण–व्यवहार में स्थित जीवन्मुक्तिरूप उत्तम पद में वर्तमान जो जीवन्मुक्त पुरुष शरीररूपी नगरी में राज्य करता हुआ भी उसके फल से लिप्त नहीं होता। क्रीड़ाविनोद हेतु होने के कारण उपवन के सदृश यह शरीररूपी महापुरी उस ज्ञानी के भोग और मोक्ष के लिए है। एकमात्र सुख ही इससे होता है, राजधानी में रहनेवाले राजा के तुल्य दुःख नहीं होता ॥१,२॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, यह शरीर नगरी कैसे है ? और इसमें रहनेवाला योगी एकमात्र सुख का ही भागी कैसे होता है ? ॥३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की देहनगरी बड़ी मनोहर है। सब गुणों से युक्त है, अनन्त विलासों से भरपूर है, आत्मज्योतिरूपी सूर्य से वह प्रकाशित है ॥४॥ इसमें नेत्ररूपी झरोखों में स्थित इन्द्रियरूपी दो दीपों से अन्यान्य भुवन प्रकाशमान हैं, भुजारूपी सड़कों के विस्तार से पादरूपी उपवन प्राप्त हैं, रोमराजि ही लताओं की झाड़ियाँ हैं, त्वचा में स्थित विविध नसों से यह व्याप्त है, इसमें एड़ी और पैर की अंगुलियों में जंघा और उरुरूपी खम्भे खड़े है, सामुद्रिक शास्त्र में कही गई रेखाओं से विभक्त पादतलरूपी शिला की नींव से यह निर्मित है। इसके बाहर त्वचारूपी सीमा, भीतर मर्मस्थानरूपी सीमा, बीच–बीच में नसों की शाखारूपी सीमा और हड्डियों में सन्धिरूपी सीमा हैं, इन सीमाओं से यह मनोरम है ॥५–७॥ इसमें बड़ी–बड़ी जंघाओं और शरीर के मध्यभाग की सन्धि के अग्रभाग में उपस्थेन्द्रिय ही नगर मध्य की नदी बनाई गई है। चमक रहे केशावलीरूपी काँच के तुल्य

नीले पत्तों से युक्त क्रीड़ा शैल के सदृश सिर, मूँछ, दाढ़ी और काँख के रोमों से यह व्याप्त है ॥८॥ नील पत्तों के तुल्य भौंहों से, सफेद नूतन पत्तों के तुल्य ललाट से और फूलों के तुल्य ओठों से अत्यन्त सुन्दर मुखरूपी उद्यान से यह सुशोभित है। इसमें कटाक्षरूपी कमलों से व्याप्त कपोलस्थलरूपी विशाल दो विहार स्थलियाँ हैं ॥९॥ वक्ष स्थलरूपी सरोवर में सटे हुए स्तनरूपी कमल की कलियों से यह युक्त है। इसमें स्कन्धरूपी क्रीड़ाशैलघन रोमावली से आच्छन्न हैं ॥१०॥ इसमें उदर रूपी गर्त में रक्खे हुए अपने प्रारब्ध से प्राप्त अन्न ही धन, अन्न, धान्यआदि और वसन, आभरण आदि प्रिय वस्तुएँ हैं। अनिषिद्ध उपभोग का विस्तार करनेवाले जिह्वा, श्रोत्र आदि इसमें सिररूपी महल के झरोखों में बैठे हुए नागरिक हैं। विशाल और ऊपर को मुख किया हुआ जो गले का छिद्र है, उसके द्वारा ऊपर को निकलता हुआ जो प्राणवायु है, उसके शब्द से यह मुखरित है ॥११॥ हृदय में स्थित विचाररूपी जौहरियों द्वारा परीक्षा करके खरीदे गये और चक्षु आदि द्वारा प्राप्त जो शब्द आदि अर्थ हैं, वासनारूपी उन विक्रेय वस्तुओं से यह भूषित है। इसमें प्राणरूपी नागरिक नौ दरवाजों से निरन्तर संचार कर रहे हैं ॥१२॥ मुख में हाथी के दाँत के एक भाग की तरह थोड़े देखे गये दाँत रूपी हड्डी के टुकड़ों से यह व्याप्त है। मुँह में रहनेवाली चारों ओर घूम रही जिह्वारूपी काली ने इसमें भोज्य, चोष्य, लेह्य आदि चार प्रकार के खाद्यों का आस्वाद लिया है ॥१३॥ यह रोमरूपी लम्बे-लम्बे तृणों से आच्छादित है। कान का गर्त ही इसमें कुआँ है। कटिपृष्ठभागरूपी श्रृंखला पर पृष्ठरूपी विस्तीर्ण जंगल इसमें स्थित हैं ॥१४॥ इसमें मूत्रस्थानरूपी घटीयन्त्र के प्रान्तप्रदेश में गुदाद्वार से निकलने वाला मलरूपी कीचड़ बह रहा है। इसमें चित्तरूपी उद्यानभूमि में सदा खेल रही आत्मविचाररूपी पुरस्वामिनी स्थित है ॥१५॥ इसमें बुद्धिरूपी रस्सी से चपल इन्द्रियरूपी बन्दर बँधे हैं। बदनरूपी उद्यान के हास्यरूपी पुष्पों के विकास से यह मनोहर है। सकल सौभाग्यों से सुन्दर यह देह तत्त्वज्ञानी के परमसुख और उपदेश आदि द्वारा परोपकार के लिए है, दुःख के लिए नहीं है ॥१६-१७॥ अज्ञानी की यह देह अनन्त दुःखों की खान है, परन्तु ज्ञानी की देह अनन्त सुखों की खान है ॥१८॥

यह शरीररूपी महानगरी ज्ञानी के अनन्तसुख के लिए है, यह जो कहा था, उसीको विशद करते हैं।

हे शत्रुतापन, उसके नष्ट हो जाने पर ज्ञानी की एक नगण्य तुच्छ वस्तु का नाश हुआ और इसके रहने पर सब भोग-मोक्ष सुख स्थित रहा, इसलिए यह ज्ञानी के लिए सुखावह है ॥१९॥ ज्ञानी इसमें बैठकर संसार में सम्पूर्ण भोग और मोक्ष के लिए खूब विहार करता है, इसलिए यह ज्ञानीरथ कही गई है ॥२०॥ शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि विषय, बन्धु-बान्धव और मोक्ष इसी शरीररूपी महानगरी से प्राप्त होते हैं, इसलिए यह ज्ञानी को लाभ देने वाली कही गई है ॥२१॥ यह सुख-दुःखमय क्रियाओं का जाल स्वयं धारण करती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सर्वज्ञ के भोग और मोक्ष के उपायभूत सब वस्तुओं का संग्रह करने में समर्थ कही गई है ॥२२॥ जैसे इन्द्र अपनी नगरी में निश्चिन्त होकर राज्य करता है, वैसे ही उस शरीररूपी नगरी में राज्य करता हुआ ज्ञानी निश्चिन्त और स्वस्थ रहता है ॥२३॥ वह योनिगर्त में ही पराक्रमवाले काम के विषय में मनरूपी मत्त घोड़े को प्रेरित नहीं करता। लोभरूपी विषवृक्ष को शुल्करूप से लेकर प्रज्ञारूपी पुत्री को मोह, धर्म आदि दुष्कुल में उत्पन्न हुए लोगों को नहीं देता ॥२४॥ अज्ञानरूपी परराष्ट्र उसके छिद्र को नहीं देखता और वह संसाररूपी शत्रु के भय

के मूल स्नेहों को उखाड़ फेंकता है ॥२५॥ काम–भोगरूपी दुष्टग्राह से युक्त सुखलेश रूपी दुःखों से रुलानेवाले इस तृष्णा नदी के प्रवाह के बड़े भारी आवर्त में बहिर्मुख होकर वह निमग्न नहीं होता ॥२६॥ वह मानस ब्रह्माकारवृत्ति में आरूढ़ होकर बाहर और भीतर परमात्मा के दर्शन से आधिभौतिक और आध्यात्मिक नदियों के संगम तीर्थों में सदा स्नान करता है।

कहा भी है :

स्नातं तेनसमस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि।
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः ॥
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः सर्वस्व पूज्यो ह्यसौ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्तं हि धैर्यं मनः॥

(जिसका ब्रह्मविचार में एक क्षण भी मन स्थिर हुआ उसने सब तीर्थ जलों में स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वी का दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर डाले, दशों हजार देवताओं की पूजा की, संसार से अपने पितरों का उद्धार कर दिया और सबका पूज्य बन गया) ॥२७॥ इन्द्रियरूपी सब लोगों से आपाततः देखे जानेवाले विषयों में सुख की दृष्टि से विमुख हुआ वह ध्यान नामक अन्तःपुर के भीतर नित्य सुखपूर्वक बैठा रहता है ॥२८॥ जैसे इन्द्र की अमरावती नगरी सुखदायक और भोग–मोक्षप्रद है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता की यह देहरूपी महानगरी नित्य सुख देनेवाली और भोग–मोक्षप्रद है ॥२९॥ जिस बड़ी भारी देहरूपी नगरी के रहने से सब यानी भोग–मोक्ष स्थित रहता है और नष्ट होने से कुछ नष्ट नहीं होता, वह सुख आदि की साधन क्यों न होगी ? ॥३०॥ जैसे घड़े के नष्ट होने पर जिसने घटाकाश को अपने में मिला लिया, ऐसे आकाश का कुछ भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही इस देहरूपी नगरी के नष्ट होने पर ज्ञानी का कुछ भी नष्ट नहीं हुआ ॥३१॥

जिस शरीररूपी नगरी का विद्यमान दशा में भी भलीभाँति स्पर्श नहीं होता, उसका नाश होने पर स्पर्श नहीं होता, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा दृष्टान्त से कहते हैं।

जैसे वायु विद्यमान घड़े का कुछ स्पर्श करता है, अविद्यमान घड़े का स्पर्श कुछ नहीं करता, वैसे ही देही विद्यमान ही अपनी इस शरीर नगरी का कुछ स्पर्श करता है। उसके अविद्यमान होने पर तो कुछ भी स्पर्श नहीं करता ॥३२॥ सर्वव्यापक होकर भी इस शरीररूपी महानगरी में स्थित हुआ आत्मारूपी पुरुष विश्व के द्वारा रचे गये विविध प्रारब्ध भोगों का भोग करके पहले से ज्ञात आत्मरूप परम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है ॥३३॥ व्यवहार दृष्टि से कर्म करता हुआ भी परमार्थ दृष्टि से कुछ न करता हुआ समस्त पदार्थों की क्रिया में उन्मुख ज्ञानी कभी व्यवहार प्राप्त सम्पूर्ण कार्यों को करता है ॥३४॥

उसकी देहनगरी में कान्तादिभोगरूप फल कहते हैं।

अव्याहतगति यह आत्मा कभी भोगकौतुकवाले निर्मल अपने मन का विनोद करने के लिए चंचल विमान के तुल्य हृदयकमल में आरूढ़ होता है ॥३५॥ उक्त शरीररूपी महानगरी में स्थित हुआ वह हृदयकमल में आरूढ़ होकर सदा शीतल शरीरवाली लोकमनोहर मैत्रीरूपी प्रिया के साथ नित्य क्रीड़ा करता है ॥३६॥ जैसे चन्द्रमा के दोनों बगलों में दो विशाखा ताराएँ चित्त को प्रसन्न करनेवाली स्थित रहती हैं, वैसे ही सत्यता और एकता ये दो कान्ताएँ उसके दोनों पार्श्वों मे स्थित रहती हैं ॥३७॥

जैसे स्वर्गीय लोग नारकीय लोगों के दुःख को देखते हैं वैसे ही ज्ञानी अज्ञानियों के दुःख को देखते हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में उदित हुआ सूर्य वन बगैरह को देखता है वैसे ही वह लताओं से वन की तरह परस्पर वेष्टित होकर स्थित हुए तथा दुःखरूपी आरे से काटे हुए सब पीड़ित लोगों को देखता है ॥३८॥ जिसके सम्पूर्ण मनोरथ चिरकाल तक पूर्ण हो गये है एवं सब सम्पत्तियों से सुन्दर ज्ञानी पुरुष परिपूर्ण स्वरूपवाले चन्द्रमा के समान पुनः क्षीण न होने के लिए शोभित होता है ॥३९॥ विविध भोगों का यद्यपि वह सेवन करता है, तथापि वे इसके पुनर्जन्म आदि दुःख के लिए नहीं होते। देखिए न कालकूट (विष) भगवान श्रीशंकरजी के कण्ठ में क्लेश देना तो दूर रहा, बल्कि शोभा ही करता है ॥४०॥ यह नश्वर है, क्षणिक है, यों पहले ज्ञात होकर उपभुक्त हुआ भोग तृप्तिदायक होता है, शत्रुता को प्राप्त नहीं होता ॥४१॥ समाज का विघटन होने पर दूर जानेवाले समाज के नरनारीरूपी नटों के समूह की यात्रा के समान इस सुन्दर भोग्य पुत्र, धन आदि की शोभा को ज्ञानी देखता है ॥४२॥ जैसे बटोही लोगों को अवान्तर ग्राम की यात्रा अतर्कित प्राप्त होती है, वैसे ही अज्ञानी लोग भी व्यवहारमय क्रियाओं को अतर्कित प्राप्त हुई जानते हैं ॥४३॥ जैसे बिना किसी यत्न के बनाये हुए पर्वत, वन, तालाब आदि में स्थित पेड़, झाड़ी, कमल आदि पदार्थों में ममता न होने से उनका छेदन, भेदन, अपहरण आदि देखने पर भी दुःख न होने के कारण उनमें आँख प्रेम रहित ही गिरती है, वैसे ही विद्वान पुरुष की बुद्धि भी अपने पुत्र, मित्र आदि के व्यवहार कार्यों में भी अनुराग रहित ही रहती है ॥४४॥

यदि ऐसा है, तो ज्ञानी प्रवृत्ति मे क्यों पड़ता है ? इस पर कहते हैं।

इन्द्रियों को प्रारब्ध से प्राप्त हुए विषय का ही कभी वरण नहीं करता और अप्राप्त वस्तु को प्रयत्न के साथ ग्रहण नहीं करता यानी यथा प्राप्त के उपयोग से अपनी आजीविका चलाता है, इस प्रकार ज्ञानी परिपूर्ण होकर स्थित रहता है ॥४५॥

क्यों ऐसा करता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे पर्वत को चंचल मोरपंख के आघात नहीं कँपाते हैं, वैसे ही ज्ञानीपुरुष को अप्राप्तप्राप्ति की चिन्ता और प्राप्त पदार्थों की उपेक्षा विचलित नहीं करती ॥४६॥ सम्पूर्ण सन्देहों के कारण अज्ञान के नष्ट होने से ही जिसके सम्पूर्ण सन्देह शान्त हो गये हैं, सब भोगों में मिथ्यादृष्टि होने के कारण भोग भोगने का सारा कौतुक जिससे चला गया है, इस दोनों की कल्पना के हेतु स्थूल और सूक्ष्म शरीर जिसके क्षीण हो गये हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष सम्राट की (राजसूययज्ञ के फल स्वराज्य को प्राप्त हुए की) नाईं विराजमान होता है ॥४७॥

पामरों की दृष्टि से स्वराज्य दृष्टान्त हो सकता है, तत्त्वज्ञ की दृष्टि से तो वह दृष्टान्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें परिच्छेद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे अपार क्षीर सागर सागर में ही वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही परिपूर्ण अपरिच्छिन्न आत्मज्ञानी आत्मा में ही नहीं समाता, आत्मा में आत्मा से ही वृद्धि को प्राप्त होता है ॥४८॥ जैसे शान्तपुरुष मत्तों का उपहास करता है, वैसे ही प्रशान्तचित्त ज्ञानी पुरुष भोगों की इच्छा से दीन-हीन जन्तुओं की हँसी करता है और दयनीय इन्द्रियों की भी हँसी करता है ॥४९॥ जैसे अन्य के द्वारा परित्यक्त स्त्री की इच्छा

कर रहे पुरुष की प्रवृत्ति का अन्य पुरुष उपहास करता है, ऐसे ही भोगों की इच्छा कर रही इन्द्रियों की प्रवृत्ति का तत्त्वज्ञ पुरुष उपहास करता है ॥५०॥

यदि कोई शंका करे जिसका ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ, ऐसा पुरुष विषयों में दौड़ रहे मन का निग्रह कैसे करें ? तो इस पर कहते हैं।

सौम्य आत्मसुख का त्याग कर विषयों की ओर दौड़े हुए मन को, गजराज को अंकुश की तरह, विचार से वश में लायें ॥५१॥ जो भोगतृष्णा मनोवृत्ति का भोगों में प्रसार करती है, जैसे विष वृक्ष के अंकुरोद्रम का ही विनाश कर दिया जाता है, वैसे ही उसका भी पहले ही नाशकर देना चाहिये ॥५२॥

यदि कोई कहे दण्ड देने से पीड़ित हुआ मन रुठे हुए बालक की नाईं आत्मा में भी अनुरक्त नहीं होगा, तो उस पर कहते हैं।

पहले खूब ताड़ित हुए मन का पीछे जो थोड़ा सा सन्मान है, वह भी असीम हो जाता है। देखिये न, ग्रीष्म ऋतु में खूब सन्तप्त हुए धान के पौधों के लिए साधरण सा जल भी अमृत का काम कर देता है। भाव यह है कि चिरकाल तक उन्माद से लालित मन का एक बार निग्रह करने पर फिर निग्रह का त्याग करने पर ऐसा होता है, चिरकाल के निग्रह से निराश किये हुए मन का बालक की नाईं रूठना सम्भव नहीं है ॥५३॥

उक्त भाव को ही पुनः विशद करते हैं।

जैसे भरी हुई नदियों का वर्षाकाल का थोड़ा सा प्रवाह सुशोभित नहीं होता, वैसे ही जब तक पुरुष पीड़ित न हो तब तक उसको सम्मान या बहुमान प्रतीत नहीं होता ॥५४॥ परिपूर्ण हुआ भी प्राकृत पुरुष फिर भी अधिक की इच्छा करता है। संसार के भरने योग्य जलवाला समुद्र और जल चाहता ही है ॥५५॥ खूब निगृहीत हुए मन की पीछे भिक्षा जलादि विषयों के अर्पण से थोड़ी बहुत जो लालना है, उसी थोड़ी बहुत लालना को, क्लेश में होने के कारण, बहुत मानता है ॥५६॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं।

बन्धन से युक्त हुआ राजा एक कौर भोजन से भी सन्तुष्ट हो जाता है, किन्तु जो शत्रुओं द्वारा गृहीत नहीं है और आक्रान्त नहीं है, वह विशालराज्य को भी अपर्याप्त मानता है ॥५७॥

इसलिए चिरकाल के निग्रह से और तत्त्वबोध से समूल मन की जय के लिए पहले इन्द्रिय जय ही सम्पूर्ण प्रयत्न से करना चाहिये ऐसा कहते हैं।

हाथ को हाथ से दबाकर, दाँतो को दाँतों से पीसकर, अंगों से ही अंगों को तोड़-मरोड़ कर इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे ॥५८॥

केवल मन पर विजय पाने के लिए ही नहीं, बाह्य शत्रुओं के ऊपर जय पाने के लिए भी इन्द्रियों पर विजय पाना आवश्यक है, ऐसा कहते हैं।

औरों पर विजय पाने के लिए प्रोत्साहित हुए विद्वान लोगों को पहले हृदय स्थित शत्रु होने के कारण इन्द्रियों पर विजय अवश्य प्राप्त करना चाहिये ॥५९॥

जिसने मन पर विजय प्राप्त की है, उसकी प्रशंसा और वन्दना द्वारा इन्द्रिय निग्रह के फलरूप मनोविजय की प्रशंसा करते हैं।

इतने बड़े भूमण्डल पर वे ही साधु चित्तवाले पुरुष धन्य हैं, वे ही पुरुषों के बन्ध–मोक्ष कौशलों में गणनीय हैं, जिन पर उनके चित्त ने विजय नहीं पाई ॥६०॥ हृदयरूपी बिल में की गई कुण्डलाकार कल्पना से गर्वीला हुआ मनरूपी अजगर जिस पुरुष का शान्त हो गया है, अपने स्वरूप से आविर्भूत अत्यन्त निर्मल उस तत्त्ववेत्ता को मैं प्रणाम करता हूँ ॥६१॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

इन्द्रियों की प्रबलता, उन पर विजय पाने के उपाय तथा
उनसे प्रसाद और बोध द्वारा वासनाक्षय का वर्णन ।

इन्द्रियों की विजय में उपाय और प्रयत्न की अधिकता बतलाने के लिए उनकी दुर्जयता कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियरूपी शत्रु बड़े दुर्दान्त है, वे तपन, अवीचि, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र नामवाले महानरकरूपी साम्राज्य पर एक–एक करके अभिषिक्त हैं, मतवाले पापरूपी हाथियों से युक्त हैं तथा तृष्णारूपी बाण की शलाकाओं से भरपूर है ॥१॥ जो कृतघ्न सर्वप्रथम अपने आश्रयभूत शरीर का नाश करते हैं, पापरूपी धनराशि से सम्पन्न वे स्वेन्द्रियरूपी शत्रुगण अत्यन्त दुर्जय हैं ॥२॥ अनिषिद्ध तथा निषिद्ध कर्मरूपी प्रचण्ड पंखों से युक्त, विषयरूपी मांस के लोभी इन्द्रियरूपी गीध शरीररूपी घोंसले को पाकर बड़ा पराक्रम दिखलाते हैं ॥३॥ जैसे पाश (फन्दा) गजघटा का विनाश नहीं कर सकता वैसे ही जिस पुरुष ने विवेकरूपी सूत के जालसे उन चालबाज इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय पा ली है, उसके शान्ति आदिरूपी अंगों का वे विनाश नहीं करते ॥४॥

उन शत्रुओं पर विजय पाने के लिए पहले विवेकरूपी धन का संचय करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जो पुरुष विवेकरूपी धन से युक्त होकर इस शरीररूपी निन्दित नगर में आपात रमणीय विषयों में रमण करता है, वह अन्यस्थ इन्द्रियरूपी शत्रुओं से अवश होकर अभिभूत नहीं होता। उस पुरुष के तुल्य वह राजा भी सुखी नहीं है जो मिट्टी से बनी हुई नगरी का सेवन करता है, जैसे कि अपना शरीररूपी नगरी का ईश्वर, जिसका मन अपने अधीन है, वह सुखी होता है। मृन्मय और उग्र ये जो पुरी के विशेषण दिये गये हैं, वे शरीररूपी पुरी उससे विलक्षण है, अतएव उत्कृष्ट है, यह बोधन करने के लिए है ॥५,६॥

इन्द्रिय आदि के निग्रह का फल कहते हैं।

जिसने इन्द्रियरूपी चाकरों को आक्रान्त कर लिया है तथा मन रूपी शत्रु का निग्रह कर लिया है, उस पुरुष की विशुद्ध बुद्धि ऐसे बढ़ती है, जैसे वसन्त ऋतु में फूलों के गुच्छे बढ़ते हैं ॥७॥ जिसके चित्त का अभिमान क्षीण हो गया है, जिसने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को निगृहीत कर लिया है, उस पुरुष की भोगवासनाएँ हेमन्त ऋतु में कमलिनी की भाँति नष्ट हो जाती हैं ॥८॥ अज्ञानान्धकार के वेतालरूपी ये वासनाएँ तभी तक पराक्रम दिखलाती हैं, जब तक परमात्मतत्त्व के दृढ़ाभ्यास द्वारा यह मन विजित नहीं हुआ ॥९॥

स्वदेहरूपी नगरी के साम्राज्य में चाकर, मन्त्री, सामन्तआदि के कार्य का शुद्ध मन ही सम्पादन करता है, ऐसा कहते हैं।

विवेकी पुरुष का मन ही अभिमत कार्य करने से चाकर है, उत्तम कार्य का सम्पादन करने से मन्त्री है और इन्द्रियों पर आक्रमण करने से सेनापति है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥१०॥ मनीषी पुरुषों का मन ही लालन (उपसेवन) करने से स्नेहयुक्त ललना है, पालन करने से पवित्र पिता है तथा उत्तम विश्वास के कारण मित्र है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥११॥

मन के पिता होने में दूसरा हेतु भी कहते हैं।

शास्त्र द्वारा दिखाई गई देवता की भावना से इनका शासन अनुल्लंघनीय है' यों देखा गया और स्नेह बुद्धि से अपने हृदय में अनुभूत पिता जैसे स्वरूपभूत अपनी देह का त्याग कर स्वोपार्जित धनरूप सिद्धि देता है, वैसे ही शास्त्र के ज्ञान से चिन्मात्र दृष्टि से देखा गया विवेकबुद्धि से अपने हृदय में अनुभव किया गया मन अपने स्वरूप का त्यागकर तत्त्वज्ञानरूप सिद्धि देता है ॥१२॥ भाग्यवश खान में देखी गई, सान की खराद से स्वच्छ की गई, प्रकाशक रस से प्रक्षालन द्वारा अच्छी तरह चमकीली बनाई गई, हजारों घनों के भी आघात से अभेद्य, सुन्दर सूतवाले सुवर्ण के हार आदि में लगाई गई मनोहर मणि जैसे हृदय में शोभित होती है, वैसे ही शास्त्रदर्शित परीक्षा द्वारा अच्छी तरह देखा गया, आचार्य, सहाध्यायियों की सहायता से आत्मानुभवपर्यन्त ज्ञात हुआ, निदिध्यासन से दृढ़ हुआ तथा पंचम आदि भूमिका भेदों में लगाया गया उत्तम मन भासित होता है ॥१३॥

मणि के साथ मन के रूपक प्रस्ताव के प्रस्तुत रहते ही मध्य में श्रीरामचन्द्रजी की 'मन्त्री सत्कार्यकारणात्' ऐसा पहले जो कहा था उसमें वह सत्कार्य कौन है ? ऐसी विशेष जिज्ञासा को ताड़कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

मनरूप मन्त्री शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त पुरुष के अनर्थ परम्परारूप जन्म वृक्षों का छेदक तथा निरतिशय आनन्द के आविर्भाव के साधनभूत साधन चतुष्टय से लेकर साक्षात्कारपर्यन्त कर्मों का उपदेश करता है ॥१४॥

इस तरह रामचन्द्रजी का समाधान करके प्रस्तुत मणिरूपक कह उपसंहार करते हैं।

इस तरह हे श्रीरामचन्द्रजी, असंख्यवासनारूपी पंक से मलिन मनोमणि को सिद्धि प्राप्ति के लिए विवेकजल से धोकर आत्मप्रकाश से युक्त होइये ॥१५॥

इस तरह विवेक को निरतिशय उत्तम फल देनेवाला बतलाकर अत्यन्त अनर्थ परिणामवाले विवेक-प्रमाद से श्रीरामचन्द्रजी को निवृत्त करते हैं।

नीचे गिरानेवाले राग आदि अनर्थों से परिपूर्ण, भीषण भवभूमियों में विवेकहीन होकर निवास करते हुए आप साधारण प्राणी की भाँति विवश होकर नीचे न गिरिये ॥१६॥ सैकड़ों अनर्थों से व्याप्त, महामोहरूपी कुहरे से पूर्ण, उदित हुई इस संसार माया की महारोग की भाँति आप उपेक्षा न कीजिये अर्थात् उससे सावधान हो जाइये ॥१७॥

प्रस्तुत इन्द्रिय रूपी शत्रुओं के जयोपाय के उपदेश का उपसंहार करते हैं।

परम विवेक को प्राप्त, बुद्धि से सत्य का अवलोकन कर तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओं को अच्छी तरह

जीतकर आप संसार सागर से पार हो जाइये ॥१८॥

यदि कोई कहे कि उत्पत्ति प्रकरण में तो इन्द्रियों की असत्यता बतलाई है। तो क्यों यहाँ उसकी जय के उपाय का उपदेश करते हैं, उस पर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं :

हे श्रीरामचन्द्रजी, असत्य इस शरीर में तथा असत्य सुख-दुःखों में आपको दाम-व्याल-कट न्याय की प्राप्ति न हो ॥१९॥

तत्त्वदृष्टि से यद्यपि ये असत्य हैं, तथापि मोहदृष्टि से उनकी सत्यता अनुभव सिद्ध है, इसलिए उनकी चिकित्सा के बिना वासना की दृढ़ता से दाम, व्याल और कट के न्याय से अनर्थ की प्राप्ति दुर्वार है। विवेक आदि के अभ्यास से उनकी चिकित्सा हो जाने पर तो भीम, भास और दृढ़ की स्थिति से अनर्थ की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

भीम-भास-दृढ़ स्थिति से आप विशोकता को प्राप्त हो जायेंगे ॥२०॥ हे महामते, यह दृश्यभूत देह आदि मैं हूँ, इस मिथ्या अभिमान को स्वतत्त्वनिश्चय के द्वारा अच्छी तरह दूर और जो दृश्यभूत वस्तु से अतिरिक्त प्रत्यक् एकरस आत्म वस्तु है, उसी का अवलम्बन कर तत्स्वभाव होने के कारण मनोरहित होकर गमन कीजिए, पान कीजिए, भोजन कीजिए, यों आप बद्ध नहीं होंगे। गमनादि व्यवहार करते हुए भी मुक्त ही है, यह भाव है ॥२१॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

देवताओं द्वारा शम्बर के सेनापतियों की हत्या; दाम, व्याल और कट नामक सेनापतियों की उत्पत्ति और उनसे देवताओं पर विजय पाने की आशा का वर्णन।

वासनारहित पुरुष में भी धीरे धीरे वासनाओं का संचय होने से देहादि का अभिमान होने पर जन्म-मरण परम्परा होती है, फिर विवेक से कुछ क्षीण वासनावाले पुरुष की होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस कैमुतिक न्याय के प्रदर्शन द्वारा जिनमें थोड़ा सा आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, जिन्हें पूर्णनिष्ठा प्राप्त नहीं हुई है, उन मन्द और मध्यम अधिकारियों को वासना के उच्छेद के लिए अवश्य दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये, यह दर्शानेवाली दाम-व्याल-कट की आख्यायिका को कहने वाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी में उक्त आख्यायिका को सुनने की इच्छा उत्पन्न करने के लिए पूर्वोक्त का ही पुनः अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, आप में लोग विश्राम लेते हैं, आप बुद्धिमानों में सर्वश्रेष्ठ है, कल्याण के लिए प्रयत्न कर रहे हैं शम, दम आदि उत्तम पदार्थों को अपने में प्रकाशित करने का आपका स्वभाव है, इस लोक में विहार कर रहे आपका दाम-व्याल-कट-न्याय न हो और भीम-भास-दृढ़ स्थिति से आप शोकरहित होइये ॥१,२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, संसार के ताप को दूर करनेवाले आपने ऐसा जो कहा कि तुम्हारा दाम-व्याल-कट न्याय न हो, वह क्या है ? हे प्रभो, संसार ताप को दूर करनेवाले आपने भीम-भास दृढ़ स्थिति से आप शोकरहित होइये, यह क्या कहा ? जैसे मेघ वर्षा ऋतु में मयूर को उल्लासित करता है वैसे ही इन दो कथाओं का वर्णन करनेवाली तथा

भवताप को दूर करनेवाली अपनी उदार वाणी से शुद्ध तत्त्व का बोध मुझे कराइये ॥३–५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, दाम – व्याल– कट न्याय को और भीम–भास दृढ़ स्थिति को आप सुनिये, उन्हें सुनकर जो आपको अभिमत हो, उसे कीजिये ॥६॥ सम्पूर्ण आश्चर्य वस्तुओं से मनोहर पातालगर्त में शम्बर नामक दैत्यराज था। उसे मायारूपी मणियों का यदि महार्णव कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी ॥७॥ उसने आकाश में कल्पित नगरों के उद्यानों में राक्षसों से मन्दिर बना रक्खे थे, बनावटी उत्तम चन्द्रमा और सूर्य से उसने अपने प्रदेश को विभूषित कर रक्खा था, पत्थर के टुकड़ों की नाईं सर्वत्र सुलभ पद्मराग आदि मणियों से वह देवपर्वत मेरु के तुल्य हो गया था। असीम धनसम्पत्तियों के निर्माण से उसने सब दानवों को मालामाल कर दिया था। घर में स्थित रत्नरूप स्त्रियों के गान से उसने अप्सराओं की गानध्वनि को जीत लिया था। उसके क्रीड़ा के उपवन के वृक्ष चन्द्रबिम्ब की कलाओं से पूर्ण थे ॥८–१०॥ खिले हुए नील कमल की राशियों से उसने अपने क्रीड़ा के घर को कामियों के लिए भयंकर बना दिया था। रत्नभूत हंसों की ध्वनि से स्वर्णकमल के सारसों का आह्वान किया था। स्वर्णवृक्षों की शाखाओं के अग्रभागमें कमल की कलियाँ गुँथ रक्खी थी। कुंजों के वृक्षों के ऊपर से मन्दार के फूल गिरते थे। कैंची के तुल्य अनन्त दैत्यों से उसने इन्द्र पर विजय प्राप्त की था। बर्फ के समान ठंडी अग्नि की ज्वालाओं से उसने अपना उद्यानमण्डप बना रक्खा था, सर्वज्ञ बने हुए फूलों के बगीचों से आनन्ददायी नन्दनवन को उसने जीत लिया था। वह अपनी माया से मलयाचल के सब चन्दन के वृक्षों को साँपों के साथ हर लाया था। उसके अन्तःपुर की अंगनाएँ स्वर्ण की कान्ति और सब लोगों की सुन्दरता को नीचा दिखानेवाली थी। विविध पुष्पों की राशियों से उसके घर का आँगन घुटनों तक भरा था। क्रीड़ा के लिए बनाये गये मिट्टी के शंकरजी ने भगवान श्रीकृष्ण को जीत लिया था। सदा ऊपर को छिटक रही जुगनू की तरह घूम रही रत्नराशियों की प्रभा रूपी तारों से उसके नगर का मध्यभाग भरपूर था। सब रात्रियों में सारे पाताल में आकाश सौ चन्द्रमाओं से युक्त रहता था। उसका युद्ध पराक्रम ऐसा था कि उससे रचे गये प्रतिमारूपी लोग उसके प्रबन्ध का गुणगान करते थे। माया से रचित ऐरावत आदि गजराजों से देवताओं के ऐरावत आदि का उसने मानमर्दन कर दिया था। तीनों लोकों मे स्त्री, हाथी, घोड़े आदि में सर्वोत्कृष्ट रत्नरूप स्त्रीरत्न आदि से उसने अन्तःपुर को परिपूर्ण कर दिया था ॥११–१८॥

वह सकल सम्पत्तियों से महासौभाग्यशाली था और ऐश्वर्य उसे प्रणाम करते थे उसके उग्र शासन को सब दैत्य सामन्त नतमस्तक होकर ग्रहण करते थे। उसकी महाभुजाओं के वन की छाया में सब असुर आराम से रहते थे। वह सब बुद्धियों का आधार था और समस्त रत्नों के मण्डल से विभूषित था। दुःसह और भीषण आकृतिवाले उस दैत्य की, जिसने देवताओं को नष्ट–भ्रष्ट कर डाला था, देवताओं का विनाश करनेवाली विशाल वाहिनी थी ॥१९–२१॥ मायाबलवाले उस दैत्य के सो जाने पर और देशान्तर चले जाने पर अवसर पाकर देवताओं ने उसकी सेना को बड़े वेग से मार डाला ॥२२॥ देवताओं के द्वारा उसकी सेना का विनाश होने पर शम्बरासुर ने मुण्डी, क्रोध, द्रुम आदि सेनापतियों को अपनी सेनाओं में रक्षा के लिए नियुक्त किया ॥२३॥ भयानक देवताओं ने अवसर पाकर जैसे आकाश में स्थित बाज पक्षी व्याकुल हुई गौरैयों को मार डालता है, वैसे ही उनको भी मार डाला ॥२४॥ असुर श्रेष्ठ शम्बर ने जैसे सागर चंचल और उग्र शब्द करनेवाली तरंगों की सृष्टि करता है, वैसे ही चंचल और

उग्र शब्द करनेवाले अन्य सेनापतियों को पुनः उत्पन्न किया ॥२५॥ देवताओं ने उन्हें भी जल्दी ही मार डाला, इससे उसके कोप की सीमा न रही। वह देवताओं से भरे हुए स्वर्ग में देवताओं के नाश के लिए गया ॥२६॥ शम्बरासुर की माया से भयभीत हुए देवता देवीजी के वाहन सिंह से भयभीत हुए मृगों की नाईं स्वर्ग से भागकर सुमेरु पर्वत की झाड़ियों में छिप गये ॥२७॥

शम्बरासुर ने स्वर्ग में जाकर स्वर्ग को, जिसमें क्षुद्र-क्षुद्र देवगण रो रहे थे और अप्सराओं के मुखमण्डल आँसुओं से लथपथ थे, प्रलयकाल में नष्ट-भ्रष्ट हुए जगत के तुल्य शून्य देखा ॥२८॥ क्रुद्ध हुए शम्बरासुर ने वहाँ पर इधर-उधर भ्रमण किया, जो रत्न आदि सुन्दर वस्तुएँ थी, उन्हें हर कर और लोकपालों की नगरी को जलाकर वह अपने स्थान को चला गया ॥२९॥ इस प्रकार देवता और दानवों के मनोमालिन्य के दृढ़ होने पर देवता स्वर्ग का परित्याग कर इधर-उधर दिशाओं में छिप गये ॥३०॥ किन्तु शम्बरासुर जिन-जिन को अपनी सेनाओं के अधिपति बनाता था, उन्हें देवता प्रयत्नपूर्वक मार डालते थे ॥३१॥ देवता बराबर तब तक ऐसा करते जब तक कि कुपित शम्बरासुर अत्यन्त उद्वेग को प्राप्त होकर तृणाग्नि के समान उच्छवास लेता हुआ अत्यन्त प्रज्वलित नहीं हुआ ॥३२॥ जैसे पापी पुरुष निधि को नहीं पा सकता, वैसे ही बड़े प्रयत्न से तीनों लोकों को खोजकर भी वह देवताओं को न पा सका ॥३३॥ फिर तो उसने अपनी सेना की रक्षा के लिए मूर्तिमान तीन कालों की तरह उदित हुए महाबली बड़े भीषण तीन असुरों की माया से सृष्टि की ॥३४॥ माया से बने हुए अतएव बड़े मायावी, बलरूपी वृक्षों को धारण करनेवाले वे भयंकर सेनापति अपने परों से क्षुब्ध हुए सेना की तरह वृक्षों को धारण करनेवाले बड़े भयानक पर्वतों की तरह उत्पन्न हुए ॥३५॥ दाम (शत्रुओं का दमन करनेवाला), व्याल (साँप की तरह शत्रुओं को लपेटनेवाला) और कट (शत्रुओं के शस्त्रों से अपनी सेना को सुरक्षित रखनेवाला) इन नामों से युक्त वे जो प्राप्त हो जाय, उसे करनेवाले एकमात्र चेतना धर्मवाले थे ॥३६॥ प्राक्तन कर्मों का अभाव होने से वे प्राक्तन (पूर्वसिद्ध जीव) न थे और न उनकी वासनाएँ थी, वे भय, शंका, पलायन आदि विकल्पों से रहित चिन्मात्र के सन्निधान के कारण देह क्रियावाले थे ॥३७॥

यदि कोई शंका करे कि यदि उनके कर्म, काम और वासनाएँ नहीं थी, तो उनका जन्म ही नहीं होना चाहिये था, क्योंकि जन्म के हेतुओं का अभाव था। यदि कहिये, बीज न होने पर भी जन्म होगा, तब तो मुक्तों का भी पुनर्जन्म होगा। आगे स्वयं कहेंगे भी 'विद्यतेवासना यत्र तत्र सा याति पीनताम्' (जहाँ पर वासना रहती है वहीं पर वह स्थूलता को प्राप्त होती है) इसलिए उनके कर्म आदि का अभाव कहना संगत प्रतीत नहीं होता इस पर कहते हैं।

ये दाम, व्याल और कट स्वतन्त्र जीव न थे, किन्तु निमित्तभूत अन्तर्यामी चैतन्य से कर्मजीवरूप शम्बर की कौशलरूप, कर्म, वासना आदि से वृद्धि को प्राप्त न हुई, माया कल्पनारूप अतएव भोगसाररहित थोड़ी सी सृष्टि संकल्पवृत्ति को लेकर आविर्भाव को प्राप्त हुए थे। ऐन्द्रजालिकों द्वारा रचे गये अन्य पुरुषों की तरह स्वतन्त्र कर्मों का अभाव होने पर भी आविर्भाव रूप जन्म हो सकता है। यह भाव है ॥३८॥ वासनाशून्य वे योद्धा काकतालीय न्याय की तरह अन्धपरम्परा से ही प्रस्तुत क्रिया का अनुवर्तन करते हैं। भाव यह है कि जब तक उनकी वासना वृद्धि नहीं हुई, तब तक योगियों की तरह उनका व्यवहार हुआ ॥३९॥

यदि कहिये, जिनकी वासना उद्भूत नहीं हुई, उनका व्यवहार कहाँ देखा गया है, तो सुनिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे आधे सोये हुए बालक अपने अंगों से ही चेष्टा करते है, वैसे ही वासना और आत्माभिमान से रहित उन लोगों की केवल अंगों से चेष्टा हुई ॥४०॥ न तो वे युद्ध के समय शत्रुओं के अभिमुख आगमन को जानते थे, न विश्रान्त और निःशंक शत्रुओं के अकस्मात आक्रमण को जानते थे, न भागना ही जानते थे, न जीवन जानते थे, न मरण जानते थे, न युद्ध जानते थे और न जय–पराजय जानते थे ॥४१॥

यदि नहीं जानते थे, तो स्वयं शत्रुओं के ऊपर आक्रमण कैसे करते थे ? इस पर कहते हैं।

अपने प्रहार से पर्वतों को चूर–चूर करनेवाले वे शस्त्र प्रहार करने के लिए उद्यत अपने आगे देखे गये शत्रुसैनिकों पर केवल आक्रमण करते थे। भाव यह है कि जाकर प्रहार करना चाहिए। इस प्रकार की शम्बरासुर की वासना ही उनका शरीर था। सामने शत्रु को देखने से उतना ही उनको ज्ञात होता था, इसलिए वे आक्रमण करते थे ॥४२॥शम्बरासुर ने अत्यन्त प्रसन्न होकर ऐसा विचार किया कि माया से निर्मित दाम आदि असुरों से सुरक्षित मेरी सेना अवश्य शत्रुओं पर विजयी होगी ॥४३॥ अत्यन्त बलशाली असुरों के बाहुरूपी वृक्षों से सुरक्षित मेरी यह सेना शत्रु का प्रहार होने पर भी दिग्गजों के दाँतों का प्रहार होने पर भी जैसे मेरु पर्वत की सुवर्ण शिला स्थिर ही रहती है विचलित नहीं होती, वैसे ही अत्यन्त स्थिरता को प्राप्त होगी ॥४४॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

देवताओं के साथ पाताल से निकले हुए दाम, व्याल और कट आदि के घोर संग्राम का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, दैत्यराज शम्बरासुर ने इस प्रकार विचारकर दाम, व्याल और कट से अधिष्ठित देव विनाशिनी अपनी सेना को भूलोक में भेजा ॥१॥ भीषण सिंहनादवाले आयुधधारी दैत्यसागर से, सागर तट की झाड़ियों से, पर्वतों की कन्दराओं से आशय यह है कि जहाँ जिसे मार्ग मिला, पक्षधारी पर्वतों के आटोप से ऊपर आये ॥२॥ दाम, व्याल और कट से बलशाली हुए दानवों ने अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्यवर्ती आकाश को ठसाठस भर दिया, जिसमें उनके मुक्कों के प्रहारों से सूर्य निस्तेज हो गया था ॥३॥ इसके बाद मेरुपर्वत के निकुंजों से और कन्दराओं से प्रलयकाल की तरह क्षुब्ध और भयंकर देवताओं के गण युद्ध के लिए उतर आये ॥४॥ उन देव और असुर सेनाओं का वन के मध्य में वह युद्ध अकाल में हुए दुःसह प्रलय के समान भीषण हुआ ॥५॥ इसके बाद कुण्डलों की कान्तियों के तेज से अन्धकार का नाश कर चुके मस्तक, प्रलयकाल में नष्ट हो गये हैं आश्रयभूत चन्द्रमा और सूर्य जिनके ऐसी दीप्तियों की तरह, धड़ों से गिरने लगे ॥६॥ प्रलयकाल के वायुओं के महाप्रवाहों से पड़ी हुई दराररूपी हँसी से युक्त तथा दुर्दान्त योद्धाओं से छोड़े गये सिंहनादों से मुखरित पर्वत काँपने लगे ॥७॥ पर्वत की शिलाओं के तुल्य शस्त्रास्त्रों के आघात से जिनकी दीवारें ढह गई थी। भयभीत सिंह जिनमें विश्राम ले रहे थे ऐसे हिमालय आदि कुलपर्वतों के तट गूँजने लगे ॥८॥ परस्पर के प्रहारों से नष्ट हुए शस्त्रास्त्रों से निकली हुई चंचल आग की चिनगारियाँ प्रलयकाल में आकाश से टूटे हुए

तारों की तरह उड़ने लगी ॥९॥ रक्त-मांस की राशि से पूर्ण एकमात्र सागरके तटपर बैठे हुए, प्रलयकाल के उत्पातभूत तालवृक्षों के समान ऊँचे करताल बजाकर नाच रहे वेताल इधर-उधर विलास करते थे ॥१०॥ इधर-उधर फैलती हुई रुधिर की धाराओं से बादलों के समान धूलि जिसमें शान्त हो गई थी, ऐसे आकाश में आयुधों के प्रहारों से चूर-चूर किये गये मस्तकों के करोड़ों कुण्डल सूर्य के आकार से युक्त हो गये थे। अपने प्रहारों से हिमालय आदि पर्वतराजों को छिन्न-भिन्न करनेवाले, प्रहार करने के लिए उखाड़े हुए कल्पवृक्षों को धारण करनेवाले, सूर्य के आकारके सदृश आकारवाले दैत्यों से युक्त दिशाएँ ऐसी पट गई, कहीं पर एक छिद्र भी दिखाई न देता था ॥११,१२॥ चल रही तलवार की धारों के वायु से जिनकी दीवारें गिरा दी गई थी अतएव प्रलयकाल की अग्नि से तहस-नहस किये गये से पर्वत धूली के ढेर बन गये ॥१३॥

अश्वमेघ यज्ञों से वृद्धि को प्राप्त हुए से देवता लोग भी अस्त्रों से रहित हुए असुरों के पास ऐसे आये जैसे मेघों के समीप वायु आते हैं ॥१४॥ तदनन्तर जैसे बिल्लियाँ झपट कर बूढ़े चूहों को पकड़ती हैं, वैसे ही उन्होंने राक्षसों के ऊपर आक्रमण कर उन्हें पकड़ा और राक्षसों ने भी देवताओं को ऐसे पकड़ा जैसे वृक्षों पर चढ़े हुए उन्मत्त आदमियों को भालू पकड़ते हैं ॥१५॥ जिनके बाहुरूपी वृक्षों पर शस्त्रास्त्ररूपी फूल खिल रहे थे और शस्त्र रूपी पल्लव शोभित हो रहे थे, ऐसे सुर और असुर वन में हिल रहे फूले हुए वृक्षों की तरह सुशोभित हुए ॥१६॥ जैसे वायु सुमेरु पर्वत पर फूलों के समूहों से वनों को भर देता है वैसे ही परस्पर के प्रति फेंके गये शस्त्र समूहों से उन लोगों ने दशों दिशाएँ भर दी ॥१७॥ अन्तरिक्ष और पृथ्वी के अवकाशरूपी गूलर के फल के अन्दर रहनेवाले महामशकों के संघ के तुल्य देवता और दानवों की सेनाओं का घोर युद्ध हुआ ॥१८॥

दिग्गज आदि द्वारा कुचले जा रहे लोगों के रण कोलाहल का वर्णन करते हैं।

इसके अनन्तर ऊँचे तालों के समान विशालकाय लोकपालों के दिग्गजों से प्रलयकालमें मेघों से वृद्धि को प्राप्त हुए कोलाहल के आकार का बड़ा भीषण रण कोलाहल हुआ ॥१९॥ वह कहीं पर आकाश में अत्यन्त घन होने के कारण मानों गज बनाता हुआ सा, कहीं पर मुट्ठी में पकड़ने योग्य सा और कहीं पर जलभार से भरे हुए मेघों के उदर के समान गम्भीर था ॥२०॥ रथ के ऊपर पड़ने से पीसे गये शस्त्रों से पर्वतों में शब्द करता हुआ वह कोलाहल नाचनेवाले नट के समान ताल और लय के अनुसार था, जिनके हृदय मारे भय के फट रहे थे, ऐसे बलहीन पुरुषों के करुण क्रन्दन से उसमें घरघराहट हो रही थी ॥२१॥ वह प्रलयकाल के हेतुभूत अग्नि, वायु आदि से उल्लसित होनेवाले, ब्रह्मा के दिन-भूत सृष्टिकाल के अन्त में होनेवाले कोलाहल की प्रतिध्वनि के तुल्य था और बारह सूर्यों के सम्मेलन से पिघल रहे सुवर्ण पर्वत के शब्द के तुल्य था ॥२२॥

ब्रह्माण्डरूपी दीवार में टकराकर लौटने से बढ़ा हुआ और उद्गम स्थान से भी निकलता हुआ वह कोलाहल प्राणियों से ताड़ित एवं प्राणियों के आगारभूत महास्रोत के जलप्रवाह की ध्वनि के तुल्य था जो किसी पर्वत आदि से टकरा कर रुका हो और अपने उद्गम स्थान से भी निकलता हो ॥२३॥ इधर-उधर उड़ रहे पक्षधारी पर्वतराजों के पंखों के वायु से मानों उसमें ध्वनि हो रही थी, उसने कर्णकटु शब्द प्रवाह से व्याप्त हिमालय आदि पर्वतों की कन्दराओं को फूट रहे कानों की तरह बना दिया था ॥२४॥

मन्दराचल से अमृतमन्थन के समय अमृतोत्पत्ति होने पर अमृत के प्रति आसक्ति होने के कारण अमृतोत्पत्ति को सुन रहे देवता और असुरों का हर्षोत्कर्ष होने पर घंघम् शब्द के सदृश ताल ठोकना आदि के शब्दों से उसने सातों द्वीप रूपी प्राणी निवासभूमि को व्याप्त कर रक्खा था ॥२५॥ क्षुब्ध हुई दोनों सेनाओं का ऐसा भीषण युद्ध हुआ कि उनमें नगर, ग्राम, पर्वत, वन और मनुष्य पीसे गये थे, बड़े–बड़े उद्धत दानव विद्यमान थे, सैकड़ों बड़े–बड़े आयुधों से काटे गये दानवरूपी पर्वतों से सब दिशाएँ भरी थी, परस्पर तहस–नहस किये गये अस्त्र आदि के चूर्णों से आकाश का मध्यभाग भरा था, भुशुण्डी नामक अस्त्र समूह के शब्दों से मेरुपर्वत के सैकड़ों शिखर ढह रहे थे, बाणरूपी आँधी से दैत्य और देवताओं के मुखरूप कमल कटे थे और दोनों सेनाओं के प्रहाररूपी कल्लोलों के संचार से आकाश व्याप्त था ॥२६–२९॥

उस युद्ध में आयुधरूपी आँधी से पीसे गये वैमानिकों के समूह गिर रहे थे, अस्त्र से उत्पन्न हुए समुद्रों के जल के प्रवाह से आकाश में स्थित अमरावती आदि नगर आप्लावित थे, महास्त्रों के संपात से तलवार, शूल, शक्ति आदि रूप सैकड़ों नदियाँ बह रही थी, पर्वतों के समीप में घोर योद्धाओं के ताल ठोकने के शब्दों से ब्रह्माण्डरूप मण्डप काँप रहा था, दैत्यों की एड़ियों के प्रहारों से लोकपालों के लोक गिर रहे थे और स्त्रियों के हल–हल शब्द के साथ मन्दिरो में कंकण बज रहे थे ॥३०–३२॥ वह युद्ध गिर रही दैत्य सेना से उत्पन्न हुई अथाह रक्त–राशिरूप जल से युक्त था। उसमें खून से लथ–पथ मनुष्यों द्वारा छोड़े गये घोर सिंहनाद से लोग इधर–उधर भाग रहे थे, वह लोकपालों के सेनापतिरूपी कमलो में भौंरे के समान कभी मरते हुए लोगों के प्राण हरने के लिए छिपे हुए और कभी युद्ध के लिए प्रकट यम से युक्त था, सुर और असुरों द्वारा भागने के समय किये गये प्रहारों से ताड़ित अतएव फिर लौटकर प्रहार कर रहे सैन्यसमूह से व्याप्त था, पंखवाले पर्वतों के आकार के सदृश आकारवाले दानवरूपी पर्वतों के गमनागमन से हो रहे साँय–साँय शब्द की भनभनाहटों से भीषण था तथा आयुधों के अग्रभागों से छिन्न–भिन्न भयंकर दैत्यरूपी पर्वतों के झरने के सदृश रक्तप्रवाहों से समस्त पृथ्वी, सागर और पर्वत उससे लाल हो गये थे ॥३३–३६॥

राष्ट्र, नगर, वन ग्राम और गुफाएँ सब के सब नष्ट हो गये थे, असंख्य असुर, हाथी, घोड़े और मनुष्यों के शवों से सब मेरु आदि पर्वत पूर्ण हो गये थे, उसमें सुन्दर ताल के समान ऊँचे बाणों की पंक्तियाँ से हाथी चमक रहे थे। मुट्ठियों के प्रहारों से मत्त ऐरावत आदि गजराजों के कुम्भस्थल पीसे गये थे। प्रलयकाल के तुल्य विशाल मेघपटल की मुसलाधार वृष्टियों से पर्वत विदीर्ण हो गये थे और बड़े भारी वज्र के गिरने से खूब पीसे गये कुलाचल (पर्वत) उड़ गये थे ॥३७–३९॥ उसमें कुपित हुई अग्नि की जलती हुई विविध ज्वालाओं से दानव जलाये गये थे, एक अंजलिपुट से लाये गये समुद्र से देवताओं द्वारा जलाई गई अग्नि राक्षसों द्वारा बुझाई गई थी, प्रचण्ड दैत्यों द्वारा शैल, शिला आदि बोझदार वस्तुओं के फेंकने से देवताओं द्वारा जलाई गई अग्नि रोक दी गई थी, वनसमूहरूप इन्धनों से सुलगाई गई अग्नि की ज्वालाओं से पिघलाये गए पर्वत जड़मय हो गये थे उस युद्ध में कभी अस्त्रों से रचित निबिड़ अन्धकार से प्रलयकाल की रात्रि हो गई थी, कभी माया के सूर्य समूह के प्रकाशोंसे घोर अन्धकार पटल नष्ट कर दिया गया था, माया की अग्नि की वृष्टि से माया के कौशल से बनाये गये मेघों की वृष्टि

नष्ट कर दी गई थी, सीत्कार के साथ अग्नि उगलनेवाले शस्त्रों के परस्पर संघट्टन की वृष्टि हो रही थी। शैलवृष्टिरूपी अस्त्रों से शैलवृष्टिरूपी अस्त्रों का विलास नष्ट किया गया था, निद्रास्त्र और प्रबोधास्त्रों के युद्ध से वह पूर्ण था, शत्रु के अभिभवरूपी अवग्रह (वर्णप्रतिबन्धक वायु विशेष) से वह युक्त था। उसमें क्रकचास्त्र और वृक्षास्त्र चल रहे थे, जल और अग्नि के व्यामोह से वह अन्धकारित था, ब्रह्मास्त्र के युद्ध से भीषण था एवं अंधकारास्त्र और तैजसास्त्र से कर्बुरित था ॥४०-४५॥

असुर और पिशाचों के अस्त्रों से उत्पन्न किये गये तोमर, मुद्गर, मुसल आदि अस्त्रों की परम्परा से सारे आकाश में तिल रखने की भी जगह न थी, शिलाओं की वृष्टि से वह छिन्न-भिन्न था, अग्नि की वर्षा से प्रकाशमान था, अपनी पताकाओं से जिन्होंने चन्द्रमा का स्पर्श कर रक्खा था, चक्रों के चित्काररूपी गर्जन से युक्त रथों ने उसमें एक मुहूर्त में उदयाचल और अस्ताचल पर्वत को लाँघ दिया था, वज्र के प्रहार से निरन्तर महाअसुर मर रहे थे और शुक्राचार्य जी की अमरनामक मृतसंजीवनी महाविद्या से महाअसुर पुनः जीवन पा रहे थे। कहीं पर देवताओं की सेना भाग रही थी, कहीं पर विजय से देवता लोग हर्ष मना रहे थे, कहीं पर इधर-उधर शुभग्रह और महाकेतु की पंक्तियों के दर्शन के लिए लोग ऊपर को गर्दन किये थे और कहीं पर उत्पातों के और मंगलों के दर्शन के लिए गर्दन ऊपर किये हुए थे। पर्वत, आकाश, पृथ्वी और द्युलोक सहित सारा जगत ही उसमें रुधिर का समुद्र बन गया थे, वह युद्ध दुर्वार वैर से सम्पूर्ण जगत को ही फूला हुआ एकमात्र पलाश का वन बना रहा था एवं पर्वतों के सदृश असंख्य शवों से भरा महासागर था ॥४६-५१॥

सब वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग में बड़े-बड़े चंचल शव झूल रहे थे।

बाणराशि के वन रूप से निरूपण करने के लिए विशेषण देते हैं।

उसमें सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्बरूपी पल्लवों से दैदीप्यमान, अपने वेग के वायु से चंचल, कंक आदि पक्षियों के पंखरूपी फूलों से युक्त, लोहाग्रभागरूपी चमकीले फलवाले, तालों से भी अधिक ऊँचे बाणसमूहरूपी वनों से सारा आकाशमण्डल व्याप्त था, पर्वत के सदृश विशाल, असंख्य, नाच रही कबन्धों की सैकड़ों बाहुओं से मेघ, विमान, देवता और तारे गिराये गये थे और बाण, शक्ति, गदा, भाले, पट्टिश से पर्वत आच्छन्न हो गये ॥५२-५४॥ उसमें सातों लोकों से गिरे हुए दीवार के टुकड़ों सा सारा आकाश व्याप्त था, कल्पकाल के भीषणमेघों के गर्जन-तर्जन तुल्य निरन्तर दुन्दुभि बज रही थी, इस प्रकार के सैकड़ों शब्दों से पाताल में रहनेवाले हाथी प्रतिगर्जन कर रहे थे, विनायकों के द्वारा हाथों से विशाल दानवरूपी पर्वत खींचे जा रहे थे, दिशाओं का विभाग करनेवाले सूर्य आदि के एक दिशा में मिलने पर सिद्ध, साध्य और मरुद्गण असुरों के भय से सन्त्रस्त अतएव निश्चल थे तथा गन्धर्व, किन्नर, देवता और चारण भाग रहे थे ॥५५-५७॥

अब औत्पातिक आँधी का वर्णन करते हैं।

वज्रों के गिरने से जिनके अंग खण्डित हो गये थे और जिन्होंने पत्थरों के टुकड़ों को चूर-चूर कर दिया था, प्रलय के समय को सूचित करनेवाले तथा कल्पवृक्ष में रहनेवाले भ्रमर, कोकिल आदि की ध्वनियों को विलीन कर देनेवाले प्रचण्ड वायु (आँधी) दिशाओं में बहे ॥५८॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

दाम, व्याल और कट से पराजित होकर शरण में आये हुए
देवताओं से ब्रह्माजी का चिरकाल तक वासना वृद्धिरूप दैत्यवधोपाय कथन।

उस घोर संग्राम के घटाटोप के चलने पर देवताओं तथा दैत्यों के शरीरों पर हुए व्रणों से जैसे आकाश से मेघों के मध्य में गंगा के प्रवाह बहते हैं वैसे ही खूनों के नाले बहने पर, दाम नामक दैत्य के देवताओं को वेष्टितकर सिंहनादरूपी महाध्वनि करने पर, व्याल के अपने हाथों द्वारा आकर्षण से सब देवताओं के निवासों को चूरचूर कर देने पर, कट के भीषण संग्राम में देवताओं को छिन्न–भिन्न करने पर, ऐरावत के मूक होकर भागने पर जैसे मध्याह्न में सूर्य की प्रखरता बढ़ जाती है, वैसे ही दानवों की सेना के वृद्धि को प्राप्त होने पर, कटे हुए अंगो की व्यथा से पीड़ित, रुधिर बहा रही देवताओं की सेनाएँ, जिसका बाँध टूट गया हो ऐसी जलराशि के समान भागी। दाम, व्याल और कट ने चिरकाल तक छिपी हुई देवसेनाओं का गर्जन–तर्जन के साथ ऐसे पीछा किया, जैसे अग्नि लकड़ियों का पीछा करती है ॥१–६॥ जैसे सिंह निबिड़ लतादि जालों से भरे हुए वन में दौड़कर गये हुए हरिणों को नहीं पाते हैं, वैसे ही असुर बड़े प्रयत्नसे खोजने पर भी देवताओं को न पा सके ॥७॥ देवताओं के न मिलने पर उस समय प्रसन्न हृदय हुए दाम, व्याल और कट पाताल के मध्य में स्थित अपने प्रभु शम्बरासुर के पास गये ॥८॥ तदुपरान्त दैत्यों से जीते गये अतएव उदास हुए वे देवता क्षणभर आराम कर अमित तेजस्वी ब्रह्माजी के पास विजय के उपाय पूछने के लिए गये ॥९॥ देवताओं के, जिनकी मुखशोभा रुधिर से लाल हुई थी, सन्मुख जैसे सन्ध्या के समय लाल बादलों से लाल जलवाले सागरों के सन्मुख चन्द्रमा प्रादुर्भूत होता है वैसे ही ब्रह्माजी आविर्भूत हुए ॥१०॥ उन देवताओं ने ब्रह्माजी को प्रणाम करके दाम, व्याल और कट की सृष्टिरूप शम्बरासुर का अनर्थकारी कार्य भलीभाँति उनसे कहा ॥११॥ विचार करने में कुशल ब्रह्माजी ने वह सब वृत्तान्त सुनकर और विचार कर देव सेना से यह आश्वासनकारी वचन कहा ॥१२॥

श्रीब्रह्माजी ने कहा : हे देव श्रेष्ठों, एक लाख वर्षों के बाद संग्राम के अधिपति श्रीहरि के हाथ से शम्बर का मरना बदा (निश्चित) है। आप लोग उस काल की प्रतीक्षा कीजिये। आप लोग इस समय तो इन दाम, व्याल और कट नामक दानवों को माया युद्ध से लड़ाते हुए भागिये ॥१३,१४॥ युद्धाभ्यास के कारण इनके हृदय में अहंकार का चमत्कार ऐसे प्राप्त होगा, जैसे दर्पणों के अन्दर प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। हे देवताओं, जैसे जाल में फँसे हुए पक्षी सरलता से पकड़े जा सकते हैं वैसे ही वासना युक्त हुए ये दाम, व्याल और कट नामक असुर आप लोगों के सुजेय हो जायेंगे ॥१५,१६॥ सुख–दुःख से रहित ये आज तो शम्बर के संकल्पानुसार वासनारहित हैं, इसलिए हे देवताओं, धैर्यपूर्वक शत्रुओं के ऊपर प्रहार कर रहे ये दुर्जय हो गये हैं ॥१७॥ जो लोग वासनातंतु से बँधे हैं और आशारूपी पाश के वशीभूत हैं, वे रज्जु में बँधे हुए पक्षियों की तरह लोक में औरों की पराधीनता को प्राप्त होते हैं ॥१८॥ जिन धीर पुरुषों की वासनाएँ नष्ट हो गई हैं और जिनकी बुद्धि सभी जगह आसक्त नहीं है, वे न तो कहीं हर्ष को प्राप्त होते हैं और न कहीं पर शोक को प्राप्त होते हैं, उन महाबुद्धियों पर विजय पाना कठिन है ॥१९॥

जिस पुरुष के भीतर वासनारूपी रज्जु की गाँठ बँधी है, वह महान क्यों न हो, बहुज्ञ ही क्यों न हो, उसे बालक भी जीत लेते हैं ॥२०॥ यह देहादि ही मैं हूँ, यह जय-पराजय, पूजा, जीवन आदि मेरा है इस प्रकार की कल्पनाओं से युक्त पुरुष जैसे सागर जलों का आश्रय होता है, वैसे ही आपत्तियों का आश्रय बनता है ॥२१॥

सब दुर्वासनाओं में से आत्मा की देहादितादात्म्य से परिच्छिन्नतारूप भ्रान्त वासना ही महामूर्खता, कृपणता और जन्म-मरण आदि की बीज होने से सबसे महा अनर्थ है, ऐसा कहते हैं।

जिसने यह आत्मा केवल देहमात्र परिच्छिन्न है, यह भावना की, वह सर्वज्ञ क्यों न हो, सर्वत्र ही परम दीनता को प्राप्त होता है ॥२२॥ जिसने अनन्त, अप्रमेय उस आत्मा की सीमा की कल्पना की, उसने अपने आत्मा से ही अपने आत्मा को विवश कर दिया यानी संसाररूपी अनर्थ से विह्वल कर दिया ॥२३॥ यदि तीनों जगतों में आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु हो, तो उसमें ग्राह्यरूप से ग्रहण करने के लिए वासना होगी, पर वैसा तो कुछ है ही नहीं, यह भाव है ॥२४॥ ज्ञानी लोग आसक्ति को अनन्त दुःखों की खान कहते हैं तथा सर्वतः केवल अनासक्ति को सम्पूर्ण सुखो की खान कहते हैं ॥२५॥ जब तक दाम, व्याल और कट इस संसार में आसक्ति रहित हैं, तब तक जैसे मच्छरों के लिए अग्नि अजेय होती है वैसे ही वे आपके अजेय होंगे ॥२६॥ देहादि के विनाश द्वारा अपने नाश की संभावना से दीनता को प्राप्त हुई, भीतर स्थित देहादि में अहंभाव ग्रहण करनेवाली वासना से जन्तु जीता जा सकता है, अन्यथा तो मच्छर भी अमर और अचल है ॥२७॥ जहाँ पर वासना रहती है वहीं पर वह पीनता (स्थूलता) को प्राप्त होती है, क्योंकि धर्मी के रहने पर पीनत्व नामक गुण होता है और उपचय के बिना पीनता की सिद्धि नहीं होती और उपचय भी दूसरे अवयव की सिद्धि होने पर होता है। द्वितीयता भी सत् ही पदार्थ की होती है, असत् की नहीं ॥२८॥ हे इन्द्र, जिस उपाय से दाम, व्याल और कट अपने अंतःकरण को यह देह आदि ही प्रसिद्ध मैं हूँ और यह जय-पराजय, पूजा, जीवन आदि मेरा है, इस प्रकार वासनायुक्त समझें, उस उपाय को आप कीजिये ॥२९॥

मनुष्य की जो-जो विपत्तियाँ हैं और जो भाव और अभाव दशाएँ हैं, वे सब तृष्णारूपी करंज लता के कड़वे और कोमल बौर हैं ॥३०॥ वासनारूपी रस्सी से बँधा हुआ जो पुरुष आवागमन करता है, उस पुरुष की वृद्धि को प्राप्त हुई वह वासना अतिदुःखदायी होती है और नाश को प्राप्त हुई वह सुख के लिए होती है ॥३१॥ जैसे सिंह शृंखला से बाँधा जाता है वैसे ही अत्यन्त धीर, अत्यन्त बहुज्ञ, कुलीन और महान पुरुष भी तृष्णा से बाँधा जाता है ॥३२॥ यह तृष्णा क्या है यह शरीररूपी वृक्ष पर बैठे हुए हृदयरूपी अपने निवास में जानेवाले चित्तरूपी पक्षी का जाल बुना हुआ है ॥३३॥ वासना से दीन लोगों को यमराज इस प्रकार खींचता है जैसे बालक रज्जु से विवश और खूब श्वास छोड़ रहे पक्षी को खींचता है ॥३४॥ आयुधों के समूह की कोई आवश्यकता नहीं है एवं युद्ध में घूमने की भी कोई जरूरत नहीं है, आप केवल दाम, व्याल और कट की वासना के (शम्बर के संकल्प से उत्पन्न हुई निरभिमान वासना के) विपरीतता यानी अभिमान की वृद्धि युक्तिपूर्वक प्रयत्न से कीजिये ॥३५॥ हे देवराज, शत्रु के हृदय में अक्षुभित धैर्य के रहने पर न शस्त्र जीत सकते हैं, न अस्त्र जीत सकते हैं और न शुक्राचार्य आदि द्वारा प्रणीतनीति शास्त्र ही जीत सकते हैं ॥३६॥ वे मत्त दाम, व्याल और कट युद्धाभ्यास से ही अहंकारमयी

वासना का ग्रहण करेंगे ॥३७॥

तत्त्वज्ञों की अपेक्षा उनमें कौन सी कमी है ? जिससे वे वासना ग्रहण करेंगे ? इस पर कहते हैं।

शम्बरासुर से निर्मित वे अत्यन्त अज्ञ पुरुष थे, अतः जब वे वासना का ग्रहण करेंगे, तब आप लोगों के सुजेय हो जायेंगे ॥३८॥ इसलिए हे देवताओं, आप लोग सर्वप्रथम युक्ति युद्ध से उन्हें व्यवहार कार्यों में जागरुक कीजिये, व्यवहार कार्यों में अभ्यस्त होने के कारण वे वासना युक्त हो जायेंगे। वासनाओं के बद्धमूल होने पर वे आप लोगों के वशीभूत हो जायेंगे, कोई भी पुरुष यदि तृष्णा से बद्ध अंतःकरणवाले न हो, तो वे सहज में सुजेय नहीं होते ॥३९,४०॥ जैसे जलाशय के अन्दर अत्यन्त चंचल तरह–तरह की लहरियों की अधिकता जलरूप से स्थित है, वैसे ही अपनी वासना के मध्य में स्थित यह सम और विषम समस्त जगत प्रवाह से नित्यता को प्राप्त हुआ स्थित है, इसलिए एकमात्र स्ववासना की ही चिकित्सा करनी चाहिए ॥४१॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

विश्राम को प्राप्त हुए देवता और दानवों का,
वासनोदय होने तक चिरकालीन युद्ध का पुनः विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र की तरंग तीर भूमि के तट पर शब्द करके अन्तर्हित हो जाती है, वैसे ही भगवान ब्रह्मा देवताओं को यह उपदेश देकर वहीं पर अन्तर्हित हो गये ॥१॥ जैसे वायु कमलों की सुगन्ध लेकर अपनी–अपनी अभिमत वनपंक्तियों को जाते हैं, वैसे ही देवता लोग भी उनके वचन सुनकर अपनी अभिमत दिशा को गये ॥२॥ जैसे भ्रमर सुन्दर कमलों पर विश्राम करते हैं, वैसे ही देवताओं ने स्थिर कान्तिवाले अपने सुन्दर मन्दिरों में कुछ दिन विश्राम लिया ॥३॥ अपना अभ्युदय करनेवाले किसी शुभ अवसर को पाकर देवताओं ने प्रलयकाल के मेघ की ध्वनि के सदृश ध्वनिवाला दुन्दुभिघोष किया ॥४॥ दुन्दुभिघोष सुनकर दैत्यों के ऊपर आने पर अन्तरिक्ष में पातालवासी उन दैत्यों के साथ देवताओं का दीर्घ समय बितानेवाला घोर युद्ध फिर शुरु हुआ ॥५॥

सर्ग की समाप्ति तक युद्ध का ही वर्णन करते हैं।

दोनों ओर से तलवार, बाण, शक्ति और मुद्गरों के समूह, मूसल, गदा, कुल्हाड़े, भीषण चक्र, शंखाकार शस्त्र, वज्र, पहाड़, शिलाएँ, अग्नि, वृक्ष तथा साँप, गरूड़ आदि के सदृश मुखवाले अनेक आयुध आकाश में चलने लगे ॥६॥ माया से रचे गये आयुध ही जिसमें बड़ा भारी निबिड़ जल प्रवाह था, शीघ्र बहनेवाली, पत्थर, पर्वत लाखों साधारण वृक्ष और प्रधान वृक्षों से क्षुब्ध हुए जल प्रवाह से घन शब्द करनेवाली नदी तुरन्त चारों दिशाओं में बहने लगी ॥७॥

पूर्वोक्त नदी का ही फिर वर्णन करते हैं।

जिसके मध्यप्रवाह में उल्मुक (अधजली लकड़ियाँ), त्रिशूल, पर्वत, भाले, तलवार, बर्छियाँ, बाण, तीर और मुद्गरों की राशियाँ बह रही थी, ऐसी वह नदी जिसने जल की नाईं देव मन्दिरों को नष्ट कर दिया था, ऐसे वज्र आदि आयुधों की वृष्टि से हुए तटभंग से गंगा के सदृश थी यानी मेरु आदि पर्वतों पर

बहने वाली गंगा के तुल्य थी ॥८॥

अब सुर और असुरों को परस्पर मोह में डालने के लिए विचित्र माया निर्माण, प्रतीकारों से उसकी शान्ति, फिर उसके तुल्य अन्य मायाओं के निर्माण और उनके उपशम को कहते हैं।

पृथिवीमयी, जलमयी, तेजोमयी, वायुमयी, आकाशमयी सी (जिसमें जैसे पृथ्वी घूमती–सी थी, गिरती–सी थी, तथा जिसमें लोग जल में डूबते से थे, अग्नि से जलाये–से जाते थे, वायु से उड़ते–से थे, महागर्तरूप आकाश में गिरते–से थे) माया और पिशाच आदि शरीरमयी–सी माया (जैसे पिशाचों के शरीर गिरते हैं, दौड़ते हैं, युद्ध करते हैं, इस प्रकार की दारुण शरीरमयी माया), जिसमें दूसरे के प्रहारों का ग्रहण करना और स्वयं प्रहार करना बार बार होता था, ऐसी दूसरी माया तथा शत्रुओं से दुर्दमनीय ढेर की तरह बहुत्व को प्राप्त हुए प्रत्येक योद्धा के शरीर से युक्त, इस प्रकार की भी माया, ये सब मायाएँ प्रयुक्त हो, सुर, असुर और सिद्धों द्वारा प्रतीकारों से विनष्ट होकर शान्त होती थी, फिर वैसी ही माया उदित होती थी, वह क्या पहले उत्पन्न हुई माया ही है अथवा वह नहीं है, किन्तु अन्य ही है, यों यथार्थरूप से उसे जानना कठिन था ॥९॥

उस युद्ध में दिशाओं के मुख शैलसदृश हथियारों से तहस–नहस किये गये पर्वतों से पूर्ण, रक्तरूपी जल के प्रवाह से भरे हुए महासागरों से युक्त एवं देव और असुरों में श्रेष्ठ लोगों के शवरूपी पर्वतों पर गड़े हुए भाले रूपी ताड़–वनवाले हुए ॥१०॥ लोहमय आयुधरूपी सिहों की सृष्टि गिरी जिसमें चलाये हुए भाले, बाण, शक्ति, गदा, तलवार और चक्रों द्वारा सुर और दानवों से छोड़े गये पर्वत अनायास निगले गये थे, कटने के कारण चमक रहे आरों के दाँत ही जिनकी नखपंक्तियाँ थी, दूसरे के जीव के हरण करने के कारण जो जीवयुक्त थी ॥११॥ ज्वालाएँ उगल रही नेत्रों की विषाग्नियों के सन्ताप समूह से उत्पन्न दिशाओं के दाह से युगान्त में एक साथ उदित हुए बारह सूर्यों की समानता जिसने दर्शायी थी, ऐसी विषधर साँपों की पंक्ति चारों ओर उड़ रहे सर्वतः दीर्घ ऊँचाई में बहुत बड़े पर्वतों से व्याप्त समुद्र के तुल्य सुशोभित हुई ॥१२॥ विविध शस्त्रास्त्रों की नदी के प्रवाहों से, जिन्होंने मेरु पर्वत को वेष्टित कर रख्खा था, खूब शब्द कर रहे, वज्र आदि रत्नों से और मगरों के समूह से कठिन तथा भीतर क्षुब्ध हुए समुद्र की लहरों से सारा–का–सारा जगत परिवर्तनों द्वारा पीड़ित हुआ ॥१३॥ सुर और असुरों का युद्ध भूमिरूप आकाश शूलरूपी अस्त्रों, शस्त्रों, मायारचित गरुड़ों से और उखाड़कर फेंकी गयी चट्टानों से पूर्ववर्णित दृष्टि विषवाले नागों से रहित होकर क्षणभर में समुद्रों से भर जाता था, क्षणभर में अग्नि की ज्वालाओं से पूर्ण हो जाता था, क्षणभर में सूर्यों से पट जाता था और क्षण भर में अन्धकार पटलों से व्याप्त हो जाता था ॥१४॥ गरुड़ास्त्र से उत्पन्न हुए गरुड़ों से और उनकी गुड़ गुड़ ध्वनियों से व्याप्त आकाश में फैले हुए आयुधरूप अग्नि के पर्वतों के प्रवाहों से भी सारा–का–सारा जगत असह्य प्रलयकाल की तरह जिसमें स्वर्ग और भूतल का मध्यभाग जला हो, ऐसा हो गया ॥१५॥ जैसे पर्वत के तट से पक्षी ऊपर को उड़ते हैं, वैसे ही दैत्य भूमितल से आकाश की ओर ऊपर को उठते थे और प्रलयकाल में वायु से चलाई गई शैलशिलाओं के समान देवता बड़े वेग से ऊपर से नीचे को गिरते थे ॥१६॥ जिनके शरीर में गड़े हुए ऊँचे–ऊँचे आयुधरूपी वृक्षों से बनी हुई वनपंक्तियों में महान अग्निदाह हो रहा था, ऐसे असुरों ने आकाश के

बीच प्रलयकाल में वायु से झकझोरे गये पर्वत की शोभा प्राप्त की ॥१७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वत चारों ओर आकाश सुर और असुररूपी उत्तम पर्वतों के शरीरों से निकले हुए, चारों ओर घूम रहे, रक्तप्रवाहों से पूर्ण सन्ध्यारूपी नायिका के नखक्षतों को धारण करता था अथवा पूर्वोक्त रक्तप्रवाहों से पूर्ण गंगा को धारण करता था ॥१८॥ वे देव और असुर एक ही साथ एक दूसरे पर पर्वतों की वृष्टि, जल की वृष्टि, विविध भीषण आयुधों की वृष्टि, विषम वज्रों की वृष्टि और अग्निवृष्टि करते थे, नीतिमार्ग को जाननेवाले वे देव और असुर, जिन्होंने सबल श्रेष्ठ पर्वतों के शिखर तोड़ दिये थे, चारों ओर एक साथ हाथियों के कुम्भस्थलों पर विशेष उत्सव में क्रीड़ा के लिए पिचकारी आदि से कुंकुम, चन्दन आदि रस की वृष्टि के समान उर्पयुक्त वृष्टियों की सृष्टि करते थे ॥१९,२०॥

परस्पर युद्धोत्साह का त्याग न कर रहे देवता और असुर परस्पर शरीरों को काटने के लिए व्यग्र, अस्त्रों से युक्त हाथवाले होकर ऐरावत आदि दिग्गजों की सन्ततिरूप हाथियों की सेनाओं की बड़ी–बड़ी पीठों के सदृश विशालपीठों को पीसने की तरह पीड़ा करनेवाले बड़े भारी सामग्री के साथ सवारी करने से शोभा को प्राप्त होकर आकाश में घूमते थे ॥२१॥ कटे हुए सिर, हाथ, भुजा और उरुओं के समूहों से, जो आकाश और दिशाओं में उत्पातसूचक टिड्डियों के तुल्य घूम रहे थे, मेघों की घटाओं की तरह सारा जगत का मध्यभाग, ऐसा हो गया कि उसमें सूर्य, दिशाओं के तट और शैल समूह ये सब के सब आच्छादित हो गये ॥२२॥ भलीभाँति छोड़े गये, सिंहनाद कर रहे योद्धाओं के टकराने से समर में टूट रहे तथा परस्पर के टकराने से टुकड़े टुकड़े होकर गिर रहे आयुधों से और क्षेपिणी आदि यन्त्रों द्वारा फेंके गये पत्थर, पर्वत आदि से समूहों के छिन्न–भिन्न हुई पृथिवी चूर–चूर हो गयी ॥२३॥ परस्पर आयुध शिला, पर्वत, वृक्षों की वर्षा से तथा मेरु के समान विशाल कठिन शरीरों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुए बड़े भारी भीषण उग्र नादों से जिसमें चटचट शब्द से आकाश फूट रहा था, ऐसा वह रण प्रलय के समान हुआ ॥२४॥ जिसमें प्रचण्ड आँधी से नीचे जल और अग्नि क्षुब्ध थे तथा ऊपर सूर्य क्षुब्ध थे ऐसे दो कपालवाला, माया से बढ़े हुए सुर और असुरों के समूह से पूर्ण, जिसके प्रान्तभाग की दीवारों के कोने खण्डित हो गये थे, ऐसा ब्रह्माण्ड अकाल में हुए प्रलय के समान भीषण हुआ ॥२५॥ अपने सदृश विशाल और निबिड़ आयुधों से आहत अतएव खूब घूम रहे, घूमने में शब्द कर रहे, विशाल गुहाओं के तेज वायु रूपी पीड़ा से कराह रहे–से, दीर्घ हो रहे प्राप्त सिंह के शब्दों से रो रहे–से स्थित हुए पर्वतों के शिखरों से दिशाओं के तट भर गये ॥२६॥ वायु से व्याप्त वन के पत्ते की नाईं भीतर ही भीतर घूम रहे माया निर्मित नदी, समुद्र, योद्धा, निबिड़ अग्निदाहों से, वृक्षों से, देवता ओर असुरों के शवों से, पर्वतों से, चट्टानों से तथा बाण, तलवार, चोखी–चोखी शक्तियों, गदाओं और शस्त्रास्त्रों से दिशाओं के तट भर गये ॥२७॥ मेरु पर्वत के नीचे के पर्वतों के सदृश परिमाणवाले अतएव मनुष्यादि के संचार के निरोधक होने से गमनागमन के अयोग्य पूर्वोक्त दुर्दान्त हस्ति सेनाओं के शवों से दिशाओं के तट भर गये थे और गिर रहे योद्धाओं के शरीररूपी पर्वत और वायु से ढहे हुए देवनगरों से सब दिक्तटों के सागरों के समूह पूर्ण हो गये थे ॥२८॥ उस समय ब्रह्माण्ड की उदरगुहा निबिड़ घुंघुम ध्वनि से परिपूर्ण आकाशवाली, खून से धोये हुए पर्वत, पृथिवी, पाताल आदि से युक्त, खून का तालाब ही

जिनका आहार है, ऐसे पिशाचादि की तरह वृत्तिवाली होकर आकुल हो गई ॥२९॥ इन्द्रादि देवताओं के विस्तृत भय आदि का विकार करानेवाली (अविद्यापक्ष में त्रिविध परिच्छेद शून्य आत्मचैतन्य में फैले हुए जगद्रूप विकार को करानेवाली क्षयोन्मुख और उदयोन्मुख लोगों के लिए सुख और दुःख को कहनेवाली, प्रसिद्ध सूर और असुरों के (अविद्यापक्ष में अशास्त्रीय चित्तवृत्ति रूप असुरों के और शास्त्रीय चित्तवृत्तिरूप सुरों के) परस्पर समागम से संकटाकीर्ण रणक्रिया अविद्यादि संसार के सदृश हुई ॥३०॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

दाम आदि के, जिन्हें देवताओं के प्रयत्न से देहाभिमान प्राप्त हो गया था,
युद्ध में विषाद का, तदनन्तर पलायन और पराजय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, इस प्रकार के व्यग्रता बहुल रणारम्भवाले अत्यन्त क्रोधयुक्त प्राणग्राही असुरों ने बड़ा भारी संग्राम सहसा आरम्भ किया। उस युद्ध को देवताओं ने किसी समय एक मात्र वाग्युद्ध से, किसी समय दानादि उपाय द्वारा सन्धि से, किसी समय पलायन से, किसी समय धैर्य से, छिपकर अपने लोगों की रक्षा करने से, किसी समय कृपण के सदृश शरणागति की याचना आदि से, किसी समय अस्त्रयुद्ध से और बार-बार अपने अन्तर्धानों से तीस वर्ष तक चलाया, दूसरा युद्ध पाँच वर्ष आठ महीने दस दिन चलाया और तीसरा युद्ध बारह वर्ष तक चलाया। तब तक लगातार दोनों सेनाओं में पेड़ों, अग्नियों, आयुधों और मुख्य-मुख्य वज्रों और पर्वतों की वृष्टियाँ गिरी ॥१-४॥ इतने समय तक अहंकार का दृढ़ अभ्यास होने के कारण वासना से ग्रस्तचित्त हुए दाम, व्याल और कट ने 'अहम्' ऐसा अभिमान ग्रहण कर लिया ॥५॥

अभिमान का अभ्यास अहंकार की दृढ़ता का हेतु है, इसे दृष्टान्त द्वारा दर्शाते हैं।

जैसे अत्यन्त निकटता होने के कारण दर्पण बिम्ब से युक्त हो जाता है वैसे ही कल्पना का अभ्यास होने के कारण वे अहंकार को प्राप्त हुए ॥६॥ जैसे दूर स्थित वस्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित नहीं होती वैसे ही अभ्यास का त्याग करने के कारण पदार्थ में वासना उत्पन्न नहीं होती ॥७॥ जब अहंकार ही आत्मा है, ऐसी वासनावाले दाम आदि हुए, तब मेरा जीवन रहे, मेरा धन हो, इस प्रकार के आशयवाले वे दीनता को प्राप्त हुए ॥८॥

तदनन्तर विहित-निषिद्ध प्रवृत्ति की वासना से वे ग्रस्त हुए। तदनन्तर मेरा शरीर नीरोग, दृढ़ और भोगसमर्थ हो, इत्यादि मोहवासना से ग्रस्त हुए। तदनन्तर आशारूपी पाशों से बँधे हुए वे मुग्धा के समान कृपणता को प्राप्त हुए। तदनन्तर जैसे रस्सी में सर्पत्व की कल्पना होती है ऐसे ही अहंकारशून्य दाम, व्याल और कट ने ममता की कल्पना की ॥९-१०॥ पैर से लेकर मस्तक तक मेरा सारा शरीर कैसे स्थित हो, 'मेरा' इस प्रकार की तृष्णा से कृपण हुए वे दीनता को प्राप्त हुए ॥११॥ मेरा शरीर स्थिर हो, मेरे सुख के लिए धन हो, इस प्रकार की बद्धमूल हुई बुद्धि से युक्त उन लोगों का धैर्य छिप गया ॥१२॥ दाम आदि दैत्यों के वासनायुक्त होने के कारण शरीर में अल्प सामर्थ्य होने से पहले जो प्रहार करने में तत्परता थी, वह तुरन्त मिटाई हुई लिपि के समान कार्य में असमर्थ हो गई ॥१३॥ हम

इस जगत में कैसे अमर हों, इस चिन्ता से विवश हुए वे जल से निकाले गये कमलों की तरह दीनता को प्राप्त हुए ॥१४॥ अपने में अहंकारवाले दाम, व्याल और कट की स्त्री, अन्न–पान से विषयों की भावना में स्थित अतएव संसार को प्राप्त करानेवाली भीषण आसक्ति हुई ॥१५॥ तदनन्तर जैसे मत्त हाथियों से खूब कुपित हुए वन में हरिण अपने जीव के विषय में प्रयत्नशील होते हैं वैसे ही उस रण में भय के कारण वे अपने जीवन में प्रयत्नशील हुए॥१६॥ वे लोग हमें मारेंगे, हमें मारेंगे, इस चिन्ता से आहत हृदय होकर कुपित ऐरावतवाले रण में धीरे–धीरे घूमने लगे ॥१७॥ मरण से भयभीत हुए एकमात्र शरीर को चाहनेवाले उनके सिर पर अल्प बल होने के कारण शत्रुओं ने पैर रख ही दिया ॥१८॥ जैसे लकड़ियों के जल जाने पर अग्नि चरु को नहीं जला सकती वैसे ही क्षीण बल होने के कारण वे अपने सन्मुख आये हुए योद्धा को मारने में समर्थ नहीं हुए ॥१९॥ प्रहार कर रहे देवताओं के सामने मच्छररूपता को प्राप्त हुए क्षत–विक्षत शरीरवाले वे अन्यान्य साधारण योद्धाओं की नाईं स्थित हुए ॥२०॥ बहुत क्या कहे, मरण से भयभीत चित्तवाले वे दाम आदि दैत्य देवताओं के आक्रमण करने पर समरभूमि को छोड़कर भाग निकले ॥२१॥ स्वर्ग में ख्याति प्राप्त किये हुए दाम–व्याल–कट नामक उन दैत्यों के भयभीत होकर चारों ओर भागने पर भागी हुई सारी दैत्य सेना आकाश से इधर–उधर ऐसे गिरने लगी, जैसे कि प्रलयकाल के प्रचण्ड वायु से उठाया गया तारा समूह आकाश में इधर–उधर चारों ओर गिरता है ॥२२,२३॥ सुमेरु पर्वत के कुंजों में, पर्वतों के शिखरों की चट्टानों पर, समुद्रों के तटों पर, मेघों की घटाओं में, सागर के भँवररूप गर्तों में, अन्यान्यगर्तों में, बाढ से बढ़ी हुई नदियों में, जंगलों में, जलते हुए दिशा के प्रान्त प्रदेशों में, जलते हुए वनों में, देवता और असुरों के बाणों से ध्वस्त हुए देशों में, ग्रामों और नगरों में, सिंह, व्याघ्र आदि के निवासभूत गहन अटवियों में, मरुभूमियों में, लोकालोकपर्वत के प्रान्त देशों में, पर्वतों में, तालाबों में, आन्ध्र, द्रविड़, कश्मीर और पारसीक नगरों में, नाना (卐) समुद्रों में जिनकी तरंगे गिरती हैं, ऐसे गंगाजल के मुहानों में, अन्यान्य द्वीपोंमें, मछलियों को पकड़ने के लिए फैलाए हुए जालों में, जम्बूखण्डनामक देशों की लताओं में, मतलब यह कि सब ओर पर्वत के आकारवाले वे दैत्य गिरे। उनमें किसी के शरीर और पैर छिन्न–भिन्न थे तो किसी के हाथ और भुजाएँ कट गई थी, किन्हीं के आँतड़ीरूपी ताँतें शाखाओं में लगी थी, और वे सब के सब शरीर से खून की धारा की वर्षा कर रहे थे उनके मस्तक के माला, आभरण आदि अस्त–व्यस्त हो गये थे, उनके चरण अत्यन्त कट–फट गये थे, आँखों से क्रोध टपक रहा था ॥२४–३०॥ वे लोग आयुधों से युक्त थे, सेनाओं ने माया द्वारा और बाणों द्वारा उनके कवच और आयुध नष्ट–भ्रष्ट कर दिये थे, दूर भागने से अस्त–व्यस्त हुए एक प्रकार के उनके अस्त्र और वस्त्रों की श्रेणियाँ गिर रही थी, गले में लटके हुए शिरस्त्राणों के चटचट शब्द से उन्हें बड़ा भय हो रहा था, सैकड़ों शिखाओं से, जिनके अग्रभाग में गाँठें थी, वे पर्वत की चोटियों की शिलाओं में गुँथे गये थे, अतएव उनके शरीर लटक रहे थे, काँटेदार सेमल के पेड़ों में जोर से गिरने पर चुभ रहे काँटों से वे बड़े संकटाकीर्ण हो गये थे, बड़ी–बड़ी शिलारूपी फलकों में टकराने से उनके मस्तक के सैकड़ों टुकड़े हो गये थे ॥३१–३३॥ जैसे वर्षाऋतु में जल में

(卐) गंगाजी हजार मुँहों से समुद्र में प्रवेश करती हैं, इसलिए एक भी समुद्र प्रदेशभेद से नाना कहा गया है।

धूलिकण नाश को प्राप्त होते है, वैसे ही इस प्रकार सभी असुरनायक सब शस्त्रों के समाप्त होने के अनन्तर ही दिशाओं में नाश को प्राप्त हो गये॥३४॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

पाताल में यमराज से जलाये गये दाम आदि की काश्मीर देश में मछली होने तक जन्मपरम्पराओं के वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह दानवों के नष्ट हो जाने पर और देवताओं के सन्तुष्ट होने पर अत्यन्त खिन्न हुए दाम, व्याल और कट शम्बर के भय से व्याकुल हो गये ॥१॥ शम्बरासुर की सारी सेना नष्ट हो गयी थी, अतएव जल रही प्रलयकाल की अग्नि की तरह कुपित हुआ वह 'कहाँ गये' यों दाम, व्याल और कट के प्रति जल उठा ॥२॥ तदनन्तर दाम, व्याल और कट शम्बर के भय से अपने देश को छोड़कर सातवें पाताल में चले गये ॥३॥

वहाँ पर भी क्या उन्हें शम्बर का भय नहीं था ? इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं।

जहाँ पर नरकरूपी समुद्र की रक्षा करनेवाले यमराज के सेवक स्वेच्छा से रहते थे। वे काल की तरह औरों को भयभीत करने में समर्थ थे, अतएव वहाँ पर शम्बर का भय न था, यह भाव है ॥४॥ तदनन्तर भयरहित यमराज के सेवकों ने शरण में आये हुए उन तीनों को अभय देकर मूर्तिमती चिन्ताओं की तरह क्रम से तीन कन्याएँ दी ॥५॥ अनन्त कुवासनाओं को प्राप्त हुए उन दाम आदि ने वहाँ पर दस हजार वर्ष पर्यन्त शेष आयु यमराज के सेवकों के साथ बिताई ॥६॥

उन कुवासनाओं को ही विस्तार से दिखलाते हैं।

यह मेरी स्त्री है, यह मेरी कन्या है और यह मेरी प्रभुता है, इस प्रकार दुरूह स्नेह बन्धन से युक्त उनका समय बीता ॥७॥ तदुपरान्त किसी समय यमराज अपनी इच्छा से महानरकों के कार्य का विचार करने के लिए उस प्रदेश में आये ॥८॥ छत्र, चामर आदि चिह्नों को न देखने के कारण वे यमराज को नहीं पहचान सके, अतएव साधारण सेवक के समान उन तीनों असुरों ने अपने विनाश के लिए उन्हें प्रणाम नहीं किया ॥९॥ तदुपरान्त यमराज ने अपने एकमात्र भ्रकुटि चढ़ाने से ही उन्हें जलती हुई रौरवादि भीषण नरक भूमियों में पहुँचा दिया ॥१०॥ जैसे वनाग्नि द्वारा छोटे-छोटे वृक्ष जलाये जाते हैं, वैसे ही वहाँ पर करुण क्रन्दन करनेवाले वे अपने इष्ट मित्र, स्त्री, बन्धु-बान्धवों सहित रौरवादि नरकों की अग्निज्वालाओं से जलाये गये ॥११॥ तदनन्तर वध और बन्धनकर्म करनेवाले यम किंकरों के साथ सहवास होने के कारण वे उसी अपनी क्रूर वासना से वध और बन्धन कर्म करनेवालों के आकार के राजकिंकर किरात हुए ॥१२॥ किरात जन्म का त्याग करके गर्तों में कौए हुए, कौओं के जन्म के बाद उन्हें गीध का जन्म मिला, उसके बाद वे सुग्गे हुए, फिर त्रिगर्त देश में वे सूकर हुए और पर्वतों में मेघ हुए। तदनन्तर उन कुबुद्धियों ने मगध देश में कीटता धारण की ॥१३,१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्य विविध योनिपरम्पराओं का भोग कर अब वे काश्मीर देश के जंगल की तलैया में मछली बनकर स्थित हैं ॥१५॥ सूखे हुए कीचड़ से लथ-पथ शरीरवाले और वनाग्नि से खौलाया हुआ थोड़ा-थोड़ा कीचड़

के तुल्य गन्दा जल पीनेवाले वे न तो मरते हैं और न जीते ही हैं ॥१६॥ जैसे समुद्र में तरंगें हो होकर नष्ट हो जाती हैं वैसे ही विचित्र योनियों में भ्रमण का अनुभव कर पुनः पुनः हो होकर वे पुनःनष्ट हुए ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी जलधि में पड़े हुए वे वासनारूपी तंतुओं से प्रेरित होकर देहरूप तरंगों से तृण की तरह चिरकाल तक विविध प्रदेशों में पहुँचाये गये। यहाँ भी वे अपरिच्छेद्य फलरूप शान्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं। वासना की भीषण महाअनर्थरूपता को इसी दृष्टान्त से आप सर्वत्र देखिये ॥१८॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

अहंकार से अर्थहानि और अनर्थ प्राप्ति कहकर दामादि की सत्ता और असत्ता का निराकरण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इसलिए हे महामति श्रीरामचन्द्रजी, आपको सरलता से समझाने के लिए दाम–व्याल–कट–न्याय आपका न हो, ऐसा मैं कहता हूँ ॥१॥ विवेक का अनुसन्धान न होने से चित्त इस प्रकार की आपत्ति को अनन्त जन्मरूपी दुःख के लिए अनायास ग्रहण करता है ॥२॥ कहाँ तो देवताओं का विनाश करनेवाली शम्बरासुर की सेनाओं का सेनापतित्व और कहाँ वनाग्नि के ताप से तपी हुई कीचड़राशि में जीर्ण–शीर्ण मलिनता ? भाव यह कि पहले की निरभिमानिता से पीछे के अभिमान में फलतः बड़ा अन्तर है ॥३॥ कहाँ देवताओं की सेना को भगानेवाला वह महान धैर्य और कहाँ किरात राज की क्षुद्र सेवकता ? ॥४॥ कहाँ निरहंकार चिन्मय सत्त्व की उदार धीरता और कहाँ मिथ्या वासना के आवेश से अहंकार की कुकल्पना ? ॥५॥ शाखाओं के विस्तार से गहन, चारों ओर फैली हुई, भौंरों से भरी हुई संसार रूपी यह विषलता अहंकाररूपी अंकुर से ही आविर्भूत होती है ॥६॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने अन्तःकरण से अहंकार को प्रयत्नपूर्वक हटा दीजिये। मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी भावना कर सुखी होइये। भाव यह कि जड़ दृश्य में सर्वत्र चिन्ता का ही दर्शन होता है, अतः उसमें अहन्त्व का योग नहीं है, अहंकार आदि सबके साक्षी द्रष्टास्वरूप में अभिमानरूप धर्म का सम्भव न होने से अहन्त्व हो नहीं सकता। द्रष्टा और दृश्य से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए अहन्त्व का आश्रय कुछ भी नहीं है, ऐसी यथार्थ रूप से भावना कर सुखी होइये ॥७॥

अहंकार की अनर्थ हेतुता कह कर वह पुरुषार्थ का विघात भी करती है, ऐसा कहते हैं।

अहंकाररूपी मेघ से आच्छादित, आनन्दैकरस, तीनों तापों से रहित पुरुषार्थरूपी चन्द्रमण्डल अदृश्य हो गये है ॥८॥ माया के माहात्म्य से दानव बने हुए दाम, व्याल और कट ये तीनों यद्यपि जन्म–मरण प्रवाह की सत्ता से रहित थे तथापि अहंकाररूपी पिशाच से पीड़ित होकर जन्म–मरण प्रवाह की सत्ता को प्राप्त हुए ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय वे काश्मीर देश में गहन वन की तलैया में सेवार के टुकड़ों के अभिलाषी मत्स्यरूप से स्थित हैं ॥१०॥

असन्तोऽपि गतास्सत्ताम् यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसकी अनुपपत्ति की शंका करतें हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, असत् पदार्थ की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं होता, यह प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में असत् वे दाम आदि कैसे सत्ता को प्राप्त हुए, यह कृपाकर मुझसे कहिये ॥११॥

अपने विशेष अभिप्राय को कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी पहले श्रीरामचन्द्रजी की शंका का स्वीकार कर उसका परिहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : महाबाहो, जैसा आप कहते हैं वैसा ही है। सत्य वस्तु कहीं कभी भी कुछ भी असत् नहीं हो सकती, किन्तु सत् ही सूक्ष्म आविर्भाव से बृहत् होता है, वही उसकी उत्पत्ति है। बृहत् तिरोभाव से सूक्ष्म हो जाता है, वही उसका विनाश है, यह भाव है ॥१२॥

भले ही ऐसा हो, पर ऐसी अवस्था में अनात्मवस्तुओं में सत्ता और असत्ता के विभाग का निरुपण ही करना कठिन हो जायेगा, ऐसा कहनेवाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से पूछते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कौन वस्तु सत् है अथवा कौन असत् है, यह बतलाइये, मैं भलीभाँति दृष्टान्त से ही आपको समझाऊँगा ॥१३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, ये हम लोग सत् होकर ही स्थित है। असत् भी दाम आदि सत् है, ऐसा आप कहते हैं। भाव यह है कि हमलोगों की सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध है। माया मात्र होने से दाम आदि की असत्ता स्वयं आपने ही कही है, फिर पूर्वापर विरुद्ध उनकी सत्ता आप कैसे कहते हैं, कृपया बतलाइये, आपका क्या अभिप्राय है ? ॥१४॥

यदि व्यावहारिक प्रमाणों के व्यवहारयोग्य होने के कारण हम लोगो के शरीरों की आप सत्ता मानते हैं, तो दाम आदि की भी वह सत्ता समान ही है। यदि तत्त्वज्ञान से बाध्य होने के कारण या दुर्निरूपणीय होने के कारण असत्ता कहते हैं, तो वह भी उनकी हमारे तुल्य ही है, इसलिए मेरे कथन में कुछ विरोध नहीं है, इस आशय से वसिष्ठजी उत्तर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दाम आदि मृगतृष्णा के जल के प्रवाह के सदृश मायामय होने से असत्य होते हुए भी सत्य के सदृश स्थित हैं वैसे ही देवता, असुर तथा दानवों के सहित ये हम लोग भी असत्य होते हुए ही बोलते हैं, जाते हैं और आते हैं ॥१५,१६॥ स्वप्न में अनुभूत अपना मरना जैसे अलीक (अवास्तविक) है, वैसे ही अनुभूत होता हुआ भी असद्रूप आपका भाव (राम शरीर भाव) अलीक ही है और मेरा भाव (वसिष्ठ शरीर भाव) भी अलीक ही है ॥१७॥ जैसे मरा हुआ अपना बन्धु स्वप्न में दृष्टिगोचर भी हो जाय, तो भी यह मर गया है, ऐसा यदि ज्ञान हो, तो वह असन्मय ही है वैसे ही अनुभूत यह जगत् भी असन्मय ही है ॥१८॥ जिसे जगत की सत्यता का पूर्ण निश्चय है, वह अत्यन्त मूढ़ है, उसके प्रति यह जगत की असत्यता का कथन सुशोभित होता ही नहीं। परमार्थ तत्त्व के विचार के अभ्यास के बिना 'जगत सत्य है' इस अनुभव का अपलाप उदित नहीं होता ॥१९॥

इसी प्रकार पूर्वोत्पन्न कुसंस्कारों का नाश शास्त्रार्थ तत्त्व के अभ्यास के बिना उदित नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

हृदय में आरूढ़ हुआ जो निश्चय प्राप्त हो गया, इस लोक में कभी किसी का भी वह निश्चय शास्त्राभ्यास के बिना नष्ट नहीं होता ॥२०॥

अतएव अनधिकारी पुरुष में उपदेशवचन उन्मत्त के प्रलाप के तुल्य होने से अज्ञ और अभिज्ञ दोनों के उपहास के योग्य होता है, ऐसा कहते हैं।

यह जगत असत्य है, ब्रह्म सत्य है, ऐसा जो अनधिकारी के प्रति कहता है, उन्मत्त और विमूढ़ पुरुष भी उसका उन्मत्त के तुल्य उपहास करता है ॥२१॥

यदि अज्ञों को उपदेश न दे और अज्ञोंके साथ अज्ञचेष्टा से ही ज्ञानी भी व्यवहार करे, तो वह भी अज्ञ ही हो जायेगा, ऐसी अवस्था में अज्ञ और ज्ञानी की एकता हो जायेगी, ऐसी आशंका पर कहते हैं।

जैसे मदिरा के नशे में मत्त और नशे से रहित पुरुषों की, अन्धकार और प्रकाश की एवं छाया और प्रकाश की एकता नहीं हो सकती वैसे ही बोध विषय में अज्ञ और ज्ञानी की भी एकता यहाँ नहीं हो सकती ॥२२॥

इसलिए भी अज्ञ को उपदेश नहीं देना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

जैसे शव अपने चरणों से भ्रमण नहीं कर सकता वैसे ही अज्ञ पुरुष को चाहे कितने ही अधिक प्रयत्न से क्यों न समझाइये, तथापि वह भीतर मन, बुद्धि आदि के भेद से और बाहर रूप, रस आदि के भेद से अनुभूत द्वैतरूप अर्थ का सत्य अधिष्ठान में 'नेति नेति' से बाध नहीं कर सकता और अध्यस्त पदार्थ के बाध के बिना अधिष्ठान तत्त्व का बोध नहीं किया जा सकता, इसलिए उसको बोध का उपदेश देना व्यर्थ है ॥२३॥

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन' इस श्रुति से ज्ञान में अधिकार की सिद्धि के लिए तप आदि का विधान है, इसलिए भी तप, उपासना आदि से असंस्कृत अज्ञ उपदेश के योग्य नहीं, ऐसा कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत ब्रह्म है ऐसा उपदेश देने के लिए अज्ञ योग्य नहीं है, क्योंकि तप, विद्या आदि का अनुभव न होने पर यानी अनुभव प्रयुक्त संस्कार न होने पर इस अज्ञ ने संसारी देहात्मभाव का ही अनादिकाल से अनुभव किया है, कभी भी असंसारी आत्मभाव का अनुभव नहीं किया ॥२४॥

तब कहाँ पर उपदेश वचन सुशोभित होते हैं, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह उपदेश वाणी अपने प्रबुद्ध के विषय में ही सुशोभित होती है। जो पुरुष पूर्ण प्रबुद्ध हो गया। उसको तो 'अस्मि' (मैं हूँ), इस प्रकार अहंकारास्पदरूप से परामर्श करने के लिए कुछ भी नहीं है, इसलिए वह भी उपदेश के योग्य नहीं है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में कहा भी है। 'नाऽत्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्।' अर्थात् वह जो न अत्यन्त अज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी है, वह इस शास्त्र में अधिकारी है ॥२५॥

'मैं हूँ', यह बोध करने की शक्ति न होने से जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यार्थ बोध में पूर्ण ज्ञानी का अधिकार नहीं है वैसे ही निषेध्य वस्तु के न होने से नेति नेति इस अपह्नव वाक्यार्थ बोध में भी ज्ञानी का अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह सब शान्त परम ब्रह्म ही है, ज्ञानी इस प्रकार अनुभव करता है। उसकी अपनी अनुभूति का अपलाप कौन कर सकता है ? ॥२६॥

यदि कोई शंका करे सुवर्ण में अँगूठी के अपलाप की तरह अहंकार का ही ब्रह्म में अपलाप ज्ञानी क्यों नहीं करता है ? तो इस पर कहते हैं।

आत्मा में परब्रह्म से अतिरिक्त स्वर्ण में अँगूठी आदि के समान प्रातीतिक भी अहंपद वाच्य ज्ञानी के लिए कुछ नहीं है, क्योंकि अद्वितीय आत्मा में अज्ञ आदमी के समान विशिष्टता भ्रान्ति से भी नहीं है, जिसमें विशेषण का अपलाप किया जाय ॥२७॥

ज्ञानी की दृष्टि से जगत की तरह अज्ञानी की दृष्टि से परमार्थ भी अत्यन्त असत् है, इसलिए उसे परमार्थ तत्त्व का अस्तित्व समझना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है ऐसा कहते हैं।

मूढ़ पुरुष आत्मा में पंचभौतिक कार्यकारण मात्र से अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, इसलिए अँगूठी की बुद्धि में सुवर्ण की तरह अज्ञानी में परमार्थता नहीं है ॥२८॥

उक्त विषय को ही संक्षेप से स्पष्टतया कहते हैं।

मूढ़ मिथ्या अहंकारमय है और ज्ञानी एकमात्र सत्यतत्त्वमय है, इन दोनों के स्वभाव का अपलाप कहीं पर कोई भी नहीं कर सकता। जिसका जैसा स्वभाव रहता है, उसमें उसका अपलाप कैसे हो सकता है ? पुरुष का 'मैं घट हूँ' यह वाक्य उन्मत्त प्रलाप नहीं तो और क्या है ? ॥२९,३०॥

जिसे अन्य आत्मा का (संसारी देहात्मा का) निश्चय है उसे अन्य आत्मा का (असंसारी आत्मा का) उपदेश तो व्यर्थ है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

ये प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहे वसिष्ठ, राम आदि देहरूप से प्रसिद्ध हम लोग एवं दाम आदि शास्त्र दृष्टि से भी सत्य नहीं है, वे और ये हम लोग विद्वदनुभव दृष्टि से भी सत्य नहीं है। हम लोगों का सम्भव है ही नहीं यानी यौक्तिकदृष्टि से भी हम लोग असत्य हैं ॥३१॥

तब क्या सत्य है ? उसे कहते हैं।

शुद्ध, सर्वगत, शान्त, निर्विकार चिदाकाश ज्ञान के समान शास्त्रदृष्टि से भी सत्य है, विद्वानों के अनुभव से भी सत्य है और यौक्तिकदृष्टि से भी वही अन्तरहित उदय से युक्त है ॥३२॥

सारा जगत उपरत हो गया।

शंका : क्या ऐसा उपरत हुआ कि शून्य ही शेष रह गया ?

समाधान : नहीं शून्यरहित उपरत हुआ।

शंका : तब उपरत कैसे हुआ ?

समाधान : सर्वशून्य की तरह (न कि शून्य ही) सन्मात्र पूर्णभाव से स्थित है।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस चिदाकाश में ये अपनी अन्यथा रूप से प्रथारूपी सृष्टियाँ शोभित होती हैं ॥३३॥ जैसे तिमिर रोग से पीड़ित आँखवाले पुरुष की स्वाभाविक ही दृष्टियाँ केशों के वर्तुलाकार गोलों की तरह मालूम होती हैं वैसे ही उसमें ये सृष्टियाँ शोभित होती है ॥३४॥ वह सत्यात्मा अपने आत्मा को जिस-जिस प्रकार से जानता है ठीक उसी प्रकार से एक क्षण में अनुभव करता है। इसलिए सत्यात्मा के दृष्टिबल से असत्य वस्तु भी एक क्षण भर में सत्य सी हो जाती है ॥३५॥

यदि सत्यात्मा के दृष्टि बल से असत्य भी सत्य हो जाता है, तो जगत का क्या स्वरूप है इस पर कहते हैं।

इसलिए तीनों जगतों में न कुछ सत्य है न असत्य है। चेतनरूप आत्मा जिसको जैसे जानता है, वह उस प्रकार उदित होता है। इसमें सन्देह नहीं ॥३६॥ जैसे दाम आदि उत्पन्न हुए हैं वैसे ही हम लोग भी उत्पन्न हुए हैं। उन्हींके प्रति सत्य असत्य की कल्पना क्यों ? यह अनन्त चिदाकाश सर्वगामी सर्वव्यापक और निराकार है। जो चिति अन्तःकरण में जैसे उदित होती है, वैसे ही वहाँ पर प्रतीत होती है। जहाँ पर संवित् दामादि के रूप से स्वयं ही विकास को प्राप्त हुई, वहाँ पर वह वैसे आकार के अनुभव से वैसी ही

बन गई ॥३७–३९॥ जहाँ पर हम लोगों के स्वरूप से संवित् स्वयं उदित हुई, वहाँ पर वह वैसे आकार के अनुभव से वैसी ही बन गई ॥४०॥ जैसे मरुस्थल की सूर्यकिरण के ताप की मृगतृष्णारूपता होती है वैसे ही अपने स्वप्न के तुल्य चिदाकाश के शून्य शरीर का चिदाकाश ने ही जगत यह नाम रख छोड़ा है ॥४१॥ जगत के विषय में जागरूक 'बाह्यपदार्थज्ञानरूप' जो चिदाकाश है, उसका उसीने दृश्य नाम रखा है, अद्वितीय प्रकाशरूप अपने आत्मा में सोया हुआ यानी बाह्य उपलब्धिरहित जो चिदाकाश है, उसका उसीने मोक्ष नाम रक्खा है। श्रुति भी है, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्व मात्मैवाऽभूत तत्केन कं पश्येत्' (जिस अवस्थामें द्वैत–सा होता है, उस अवस्था में अन्य को अन्य देखता है, जहाँ पर सब इसका स्वरूप ही हो गया, उस अवस्था में कौन किसको किससे देखे ?) ॥४२॥

ये तो दूसरे को समझाने के लिऐ दो अवस्थाएँ सादृश्य की कल्पना से कही गई है, वास्तविक जो स्थिति है, उसे तो अब कहते हैं।

वह चिदाकाश न तो कभी सोया है और न कभी जागा है, चिदाकाश ही दृश्य जगत है, ऐसा आप निश्चय जानिये ॥४३॥

जब एकमात्र चिदाकाश ही दृश्य है, तब सृष्टि और मोक्ष का भेद ही न रहा ऐसा कहते हैं।

निर्वाण ही सृष्टि है तथा सृष्टि ही निर्वाण है। घट, कलश पर्याय शब्दों के समान इन दोनों शब्दों का अर्थ भिन्न नहीं है ॥४४॥ जैसे तिमिर रोग से पीड़ित नेत्र केशों का वर्तुलाकार गोला सा देखता है वैसे ही अज्ञानोपहित आत्मा स्वयं अपने परमार्थ और जगत यों दो रूप जानता है ॥४५॥ किन्तु वह केशों का वर्तुलाकार गोला कुछ भी नहीं है, वह दृष्टि ही वैसी स्थित है, इसी प्रकार यह दृश्य कुछ नहीं है, यह चिदाकाश ही इस प्रकार इस रूप से स्थित है। अध्यारोपदृष्टि में सर्वगामी चिदाकाश में सबका आरोप हो सकने से सर्वत्र यथानुभूत यह सब है। अपवाद दृष्टि में तो यह अनुभूत कहीं पर कुछ नहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों प्रकारों में यह जगत भेदरहित अतएव अद्वितीय सत् पूर्ण है, इसलिए आप भी शोक, भय और भेद का त्याग कर पूर्ण होइये ॥४६,४७॥ स्फटिक शिला के मध्य भाग के समान शून्याकार प्रतीत होता हुआ भी घन, शान्त, निर्मल महाचिति का यह रूप उसमें प्रतिबिम्बित वन, नगर, नदी आदि के स्वरूप के समान है। नहीं है, इस दृष्टि में तो कहीं नहीं है और जो प्रतिभानमात्र से है, वह चिद्रूप ही स्पष्टरूप से वैसा भासित होता है ॥४८॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

मछली ओर सारस के जन्म की प्राप्ति से वियुक्त हुए दाम आदि की
राजमहल में मच्छर आदि के शरीरों में ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, बालकों के यक्ष और पिशाच की नाईं अज्ञानियों की दृष्टि से सत् होते हुए भी वास्तव में असत् दाम, व्याल और कट के दुःख का अन्त कब होगा ? ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्री रामचन्द्रजी ! दाम, व्याल और कट के बान्धवरूप उन यम किंकरों ने उसी समय यम से विनती की। उनके विनय करने पर यम ने यह कहा, उसे सुनिये ॥२॥ जब ये दाम

आदि वियोग को प्राप्त होंगे और शम्बर की माया से कल्पित जीवभावरूपता तथा वासनारहित अद्वितीय चिन्मात्ररूपता की अपनी कथा को सुनेंगे, तब ये अपने यथार्थ तत्त्व को जानकर मुक्त हो जायेंगे ॥३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, वे अपने इस वृत्तान्त को कहाँ, कब कैसे और किससे सुनेंगे ? इसे आप क्रम से कहने की कृपा कीजिये ॥४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, काश्मीर देश में बड़ेभारी कमलों के तालाब के तीर की तलैया में बार–बार मछली की योनियों का भोग करके ग्रीष्म ऋतु में भैंस, सूअर आदि से जिनकी तलैया रौंदी गई थी, अतएव चंचल तथा समय पाकर काल के शिकार हुए वे उसी कमल के तालाब में सारस होंगे ॥५,६॥ वहाँ पर श्वेत कमल की पंक्तियों से युक्त भाँति–भाँति के कमलों की श्रेणियों में, सुन्दर सेवाल की लताओं में, तरंगों में, हिल रहे फूलरूपी झूलों से युक्त नील कमल की लताओं में तथा शीतल आवर्त्तों में स्थित अतएव जलबिन्दुओं को बरसा रही मेघपंक्तियों में विविध सरस भोगों को भोग कर बहुत दिनों तक खूब विहार कर शुद्ध हुए भुवनभूषण वे सारस जैसे विवेकदृष्टि से पर्यालोचित होने पर सत्त्व, रज और तम मुक्ति के लिये भेद को प्राप्त होते हैं वैसे ही विचारबुद्धि को प्राप्त हो स्वेच्छा से मुक्ति के लिये विवेक को प्राप्त कर विमुक्त होंगे ॥७–१०॥ उक्त काश्मीर देश के मध्य में पर्वतों और वृक्षों से सुशोभित बड़ा सुन्दर अधिष्ठान नाम का नगर होगा ॥११॥ जैसे कमल के बीच में कर्णिका होती है वैसे ही उस नगर के मध्य में प्रद्युम्न शिखर नाम का लाँघन योग्य छोटा शिखर होगा, उस पर्वत के शिखर पर अन्य घरों के राजा के समान कोई घर होगा, उसकी आकाश को छूनेवाली अट्टालिका होगी, अतएव वह पर्वत के शिखर पर स्थित दूसरे शिखर के समान होगा। उस घर के ईशान कोण में ऊँची दीवार की दरार में एक घोंसला है, निरन्तर बह रहे वायु से उसके आस–पास के तृण हिलाये जाते हैं, ऐसे अपने घोंसले में व्याल नामक दानव गौरिया बनेगा, जिसने पहले थोड़ा–सा शास्त्र पढ़ा हो, ऐसे ब्राह्मण के समान उसकी ची–ची कूची आदि ध्वनि अर्थ रहित होगी ॥१२–१५॥ उसी समय उस महल में स्वर्ग में दूसरे इन्द्र के समान श्रीयशस्कार नाम का राजा होगा ॥१६॥ दाम नाम का दानव उसी राजा के महल में विशाल स्तम्भ की पीठ के छेद में मृदु ध्वनिवाला मच्छर होगा ॥१७॥ उसी अधिष्ठान नाम के नगर के अन्दर उस समय रत्नावली विहार नाम का विहार (क्रीड़ागृह) भी होगा ॥१८॥ उसमें उस राजा का मन्त्री रहेगा, जो नरसिंह नाम से विख्यात होगा और जिसे बन्ध और मोक्ष श्रुति, युक्ति, गुरु उपदेश और अपने अनुभव से करामलक के समान निश्चय होगा ॥१९॥ मायामय असुर कट उस मन्त्री के घर में उसका क्रीड़ा साधन एक मैनारूप होगा, चाँदी के पिंजड़े में उसका निवास होगा ॥२०॥

राजमन्त्री वह नरसिंह श्लोकों से रची गई, दाम, व्याल और कट आदि की यह उत्तम कथा कहेगा ॥२१॥ उस मैनारूपधारी कट का, जिसे उस कथा को सुनकर अपरिच्छिन्न आत्मा का स्मरण हो जायेगा, शम्बर द्वारा कल्पित जीवरूप बाधित हो जायेगा, इस तरह वह आवागमनशून्य परम निर्वाण को प्राप्त होगा ॥२२॥ प्रद्युम्न नामक शिखर के एक प्रदेश में रहनेवाला गौरिया वहाँ पर रहनेवाले लोगों के मुँह से उक्त कथा को सुनकर परम निर्वाण को प्राप्त होगा ॥२३॥ राजमहल के स्तम्भरूप लकड़ी की दरार में रहनेवाला मच्छर भी प्रसंगवश लोगों द्वारा कही जा रही अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्तों से युक्त ब्रह्मकथा को सुनकर शान्ति को प्राप्त होगा ॥२४॥ इस प्रकार हे

श्रीरामचन्द्रजी, प्रद्युम्न शिखर से गौरिया, राजमहल से मच्छर और रत्नावली विहारनामक क्रीड़ागृह से मैना ये तीनों मुक्त हो जायेंगे ॥२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे इस प्रकार यह दाम, व्याल और कट की कथा का क्रम सम्पूर्ण कहा। इस प्रकार संसार से शून्य होती हुई भी संसाररूप से अत्यन्त दैदीप्यमान यह माया ही मृगतृष्णा में जलबुद्धि की तरह ज्ञानवश पुरुषों को चक्कर में डालती है ॥२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इससे मोहित हुए मूढ़ लोग दाम, व्याल औ कटकी नाईं अज्ञानवश अन्यान्य पदों की अपेक्षा उन्नत अपरिपक्व अज्ञानदशारूपी पद से नीचे गिरते हैं ॥२७॥

निर्वासनिकता से प्राप्त पूर्वजन्म के उत्कर्ष की अपेक्षा पीछे के मच्छर आदि जन्म का बड़ा भारी अन्तर दिखलाते हैं।

कहाँ भ्रुकुटि मात्र से मन्दिर और मेरु के घरों को चूर–चूर करना, कहाँ राजा के महल के स्तम्भ की दरार में मच्छररूप से रहना, कहाँ हाथ के थप्पड़ से सूर्य और चन्द्रमा के बिम्बों के गिराने की सामर्थ्य, कहाँ प्रद्युम्न नाम के शिखर में स्थित घर की दीवार की दरार में गौरिया बन के रहना, कहाँ फूल के समान चंचल हाथ से मेरु को तौलना, कहाँ पर्वत के शिखर पर नरसिंह के घर में मैना का बच्चा बनके रहना ? ॥२८–३०॥

अब राजस अहंकार से चिदाकाश के देहादि के आकार का अभिमान प्रकार दिखाते हैं।

चिदाकाश 'मैं' इस प्रकार रजोगुण से रंजित होता है, रजोगुण से रंजित होकर वह अपने स्वाभाविक स्वप्रकाशता का त्याग न करता हुआ ही अहंकार, प्राण, देह, इंद्रिय आदि को आत्मा समझता है ॥३१॥ असत्य होती हुई भी सत्य की तरह प्रतीत हो रही अपनी ही वासना की भ्रान्ति से मृगतृष्णा में जलबुद्धि के तुल्य जीव चिद्रूप से मानों भिन्नता को प्राप्त होता है ॥३२॥

इस समय उस भेद से पार पाने का उपाय कहते हैं।

जो लोग महावाक्यरूप शास्त्र से दृश्य 'आगन्तुक है' इस प्रकार निर्वाण में स्थित हैं, वे प्रत्यगात्मा में उन्मुख बुद्धि से ही संसार सागर को पार करते हैं ॥३३॥ जैसे जल गड्ढे की ओर जाते हैं वैसे ही जो नाना दुःख देनेवाले शुष्क तार्किक मतों की ओर जाते हैं, वे पारमार्थिक आत्मभाव में स्थिति रूप परमपुरुषार्थ प्राप्ति का विनाश करते हैं। इसलिए तर्क से ही उसका निर्णय हो जायेगा, महावाक्यों के अवलम्बन की क्या आवश्यकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, यह भाव है ॥३४॥

औपनिषद मार्ग के साथ अपने अनुभव का भी संवाद है, तार्किक मतों के साथ अनुभव का संवाद नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने अनुभव से प्रसिद्ध श्रुति के अनुसारी मार्ग से परम गति को जा रहे लोगों का विनाश नहीं होता ॥३५॥

किससे तब पुरुषार्थ का विनाश होता है ? इस पर कहते हैं।

हे महामते, यह मेरे हो, यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार की बुद्धिवाले पुरुष का अपनी दुर्भाग्य प्रयुक्त दीनता से नष्ट हुए पुरुषार्थ की भस्म भी शेष नहीं रहती ॥३६॥

इस प्रकार अभिलाषा की अनर्थकारिता कह कर वैराग्य की सर्वअनर्थनिवर्तकता कहते हैं।

जो उदार पुरुष त्रैलोक्य को भी नित्य तृण समझता है, उसे आपत्तियाँ इस प्रकार छोड़ देती है

जिस प्रकार कि साँप पुरानी केंचुल को छोड़ देते हैं ॥३७॥

विरक्त पुरुष को यदि थोड़ी भी ज्ञान कणिका प्राप्त हो, तो उसकी आपत्तियाँ तो दूर हुई, बल्कि सब देवता अपने आधारभूत ब्रह्माण्ड की तरह उसकी सदा रक्षा करते हैं, ऐसा कहते हैं।

जिसके अन्दर सदा सत्यस्वरूप ब्रह्म का चमत्कार स्फुरित होता है, उसका लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्ड के समान पालन करते हैं ॥३८॥ घोर आपत्ति में भी कुमार्ग में पैर रखना ही नहीं चाहिये। देखिये न, अनुचित रीति से अमृतपान करता हुआ भी महाबली राहु मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥३९॥ जो पुरुष उपनिषदादि सत्शास्त्र और उनके अनुसार चलनेवाले साधु-सज्जन पुरुषों के सर्म्पकरूपी सूर्य का, जो कि परमात्मा के साक्षात्कार का हेतु है, अवलम्बन करते हैं, वे मोहरूपी गाढ़ अन्धकार के वशवर्ती नहीं होते ॥४०॥ जिसने गुणों के द्वारा यश प्राप्त किया, वश में न आनेवाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं, सब आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और अक्षय कल्याण प्राप्त हो जाता है। जिनका गुणों के विषय में सन्तोष (अहंबुद्धि) नहीं है, जिनका शास्त्र के प्रति अनुराग है और जो सत्य के व्यसनी हैं, वे ही वस्तुतः नर है, उनसे अतिरिक्त निरे पशु हैं। जिनके यशरूप चन्द्रमा की चाँदनी से प्राणियों का हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित है, क्षीरसमुद्ररूप उनके शरीर में निश्चित भगवान हरि का निवास है ॥४१-४३॥

अब जगत के हितैषी पिता-माता से भी बढ़कर आप्त श्रीवसिष्ठजी अनादि संसार में पुनःपुनः सब अनर्थ परम्पराओं के फलों के साथ अनुभूत विषयों में और दृश्य कौतुकों में कुछ भी अपूर्व वस्तु अवशिष्ट नहीं है, यह दर्शाते हुए एवं वैराग्य और शास्त्रीय आचार में निष्ठा की ही प्रशंसा करते हुए उनकी ओर जनता को अभिमुख करते हैं।

भोक्तव्य सब वस्तुओं का भोग कर लिया, दृष्टव्य वस्तुएँ देख ली। आगे होनेवाले जन्मों में अपने विनाश के लिए फिर भी भोगों में लालच करना क्या ठीक है ? ॥४४॥ अपने अधिकार के अनुसार, उक्त अधिकारी की चित्तशुद्धि के अनुकूल शास्त्र के अनुसार और पहले-पहले के आचार्यों से प्रवर्तित सम्प्रदाय के अनुसार, एक-एक भूमिका में जब तक भूमिका का परिपाक न हो तब तक स्थिति का त्याग न कर सब लोगों को रहना चाहिए। अवास्तविक भोग समूह का अपने हृदय से त्याग करना चाहिए ॥४५॥ स्वर्ग तक प्रसिद्ध हुए गुणों से प्राप्त हुई कीर्ति से साधु जनों के मुख से वाहवाही लेना चाहिए। ये कीर्ति और सज्जनों की वाहवाही मृत्यु से रक्षा करती हैं, तुच्छ भोग कभी भी मृत्यु से त्राण नहीं देते ॥४६॥ अप्सराएँ जिनके चन्द्रमा के समान शुभ्र यश का आकाश के समान सब देश और कालों में व्याप्त गीतों से गान करती हैं, वे लोग ही जीते हैं और सब मरे हैं ॥४७॥

किस प्रकार यश का सम्पादन किया जा सकता है ? इस पर कहते हैं।

परमपौरुष-यत्न का अवलम्बन कर, सुन्दर उद्योग का ग्रहण कर उद्वेग के बिना शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धि प्राप्त नहीं करता ? ॥४८॥ शास्त्रानुसार कार्य कर रहे पुरुष को सिद्धियों के लिए त्वरा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चिरकाल में परिपक्व हुई सिद्धि उत्तम फल देती है ॥४९॥ शोक, भय और क्लेश को त्याग कर शीघ्रता के आग्रह को छोड़कर शास्त्रानुसार व्यवहार करना चाहिए अपना विनाश नहीं करना चाहिए ॥५०॥ प्रचुर पदार्थों में आसक्तिवाले आप लोगों का

जीव इस समय इन्द्रियरूपी रस्सी से मानों मृत्यु को प्राप्त होकर संसाररूप अन्धे कुएँ में विनष्ट न हो ॥५१॥ इस समय से लेकर फिर नीचे से नीचे आप मत जाईये। सैकड़ों तीक्ष्ण बाणों से जिसमें हाथी काटे गये हैं, ऐसे युद्ध में शीघ्र प्राप्त हुए महाभय, मृत्यु आदि आपत्तियों का निवारण करनेवाले अस्त्ररूप इस मोक्षशास्त्र का विचार कीजिये ॥५२,५३॥ ग्रीष्म ऋतु में उबले हुए तालाब के दुर्गन्धपूर्ण कीचड़ के सदृश संसार में पुनःपुनः मरकर जीवित हुए बूढ़े मेढक के समान जीने की आशा क्या है ! यानी अति तुच्छ है, इसलिए हृदय से भोगवासना हटा देना चाहिए। भोग के उपायभूत धन की क्या आवश्यकता है, इसलिए हे श्रेष्ठ पुरुषों, इन सबका त्याग कर मोक्षशास्त्र का ही अवलोकन कीजिये ॥५४॥ विषयाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बत चिदाभासों का अन्तःकरण अवच्छिन्न चैतन्य बिम्ब है और अन्तःकरणरूप उपाधि उपहित चिदाभास का तो शुद्ध ब्रह्म चैतन्य ही बिम्ब है। प्रतिबिम्ब और उसकी उपाधि असत्य हैं, बिम्ब तो सत्य है। अन्तःकरणरूप उपाधि के असत्य होने पर तदवच्छिन्न बिम्ब चैतन्य का और तत्समानाधिकरण चिदाभास के बिम्बभूत ब्रह्म चैतन्य का भेद मिथ्या ही है। इस प्रकार अखण्ड सत्यप्रत्यगभिन्न ब्रह्म चैतन्य ही अन्त में अवशिष्ट रहता है, ऐसा विचार करना चाहिये।

शंका : सांख्य, पातंजल, गौतम, बुद्ध, अर्हत् आदि अन्य वादी उक्त प्रतिबिम्बता प्रक्रिया को नहीं मानते, किन्तु अन्यथा–अन्यथा निरूपण करते हैं और उसी में लोगों को प्रेरित करते हैं। उनकी प्रेरणा भी क्या उपादेय है या नहीं ?

समाधान : दूसरे की प्रेरणारूप बुद्धि से पशुओं के समान मत चालिये। भाव यह है कि 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्' (जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होता हुआ भी घटादिभेद से भिन्न जलों में अनुगमन कर रहा बहुत्व को प्राप्त होता है वैसे ही अद्वितीय यह आत्मा भी उपाधियो में बहुत्व को प्राप्त होता है।) इत्यादि स्वतन्त्र श्रुतिरूप प्रमाणों का अनुसरण करनेवाले लोगों को औरों की प्रेरणा से पशुओं के समान अनुगमन उचित नहीं है ॥५५॥

इस प्रकार शास्त्रार्थ के विचार का विधान कर अब जीवन, धन, पशु, पुत्र आदि सांसारिक विचार की और अन्य दर्शनों के विचार की त्याग के लिए निन्दा करते हैं।

परिणाम में दुर्भाग्य देनेवाली, विचार के समय कृपणता की हेतु होने के कारण निवेश कराने के कारण गाढ़ और दीर्घ महानिद्रारूप धन, जीवन आदि की विचारणा तथा अन्य दर्शनों की विचारणा छोड़ देनी चाहिये और बोधरूप आलोकप्राप्त करना चाहिये ॥५६॥ जैसे बूढ़ा कछुआ तालाब में सोया रहता है, वैसे सोये रहना ठीक नहीं है। जरा, मरण आदि दुःखों की निवृत्ति के लिए उद्योग करना चाहिये ॥५७॥ धनसम्पत्ति अनर्थों की जननी है और विविध भोग संसाररूपी रोग के हेतु हैं। आपत्तियाँ ही सब सम्पत्तियाँ हैं और सब वस्तुओं की अवहेलना ही विजय है ॥५८॥ लोकव्यवहारी पुरुषों के विचार से लोकव्यवहार के अविरोधी तथा शास्त्र और सदाचार के अनुकूल कर्म से सत्फल के लिए सदा उत्थान का अंगीकार करना चाहिए ॥५९॥ जिसका चरित्र सदाचार से सुन्दर है, बुद्धि विवेकशील है और संसार के सौख्यफलरूपी दुःखदशाओं में जिसे लालच नहीं है, उस पुरुष के यश, गुण और आयु ये तीनों लक्ष्मी के साथ ही सत्फल के लिए वसन्त ऋतु की लताओं के समान विकसित होते हैं ॥६०॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

शुभ उद्यम, साधु और सत्शास्त्र के माहात्म्य का वर्णन तथा
अहंकार की बन्धकता और उसके त्याग से मुक्ति प्राप्ति का वर्णन।

आगे कहे जानेवाले शुभ उद्यम आदि के अभ्यास द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने पर फल की अवश्यम्भाविता दिखाने के लिए साधारण न्याय दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सब साधनों का अतिशय अभ्यास सफल होता है, यह नियम है। अतः लोकदृष्टि कृषि, सेवा आदि साधनों में तथा शास्त्रीय मोक्ष-साधन में अपने-अपने अनुरूप फल अवश्य होता ही है, कदापि वे विफल नहीं जाते। इसलिए मोक्षलाभार्थी आप भी शुभ उद्यम को कदापि न छोड़िये ॥१॥

शास्त्र प्रतिपादित शुभ उद्यम का असाध्य तो कुछ भी नहीं है, यह दर्शाने के लिए नन्दीश्वरोपाख्यान आदि का संक्षेप से उल्लेख करते हैं।

इष्ट-मित्र और आत्मीय बन्धु-बान्धवों को आनन्द देनेवाले नन्दी ने तालाब के किनारे शिवजी को आराधना द्वारा प्राप्त करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की थी (📖) ॥२॥ सेना और धन-धान्य से सम्पन्न बलि आदि दानवों द्वारा जैसे हाथियों द्वारा कमल के सरोवर कुचले जाते हैं वैसे ही कुचले गये देवता अतिशय प्रयत्न से सर्वोत्कृष्ट हो गये ॥३॥ राजा मरुत्त के यज्ञ में संवर्तनामक महर्षि ने ब्रह्मा की तरह सुर और असुरों से पूर्ण दूसरी सृष्टि की (🔥) ॥४॥ शास्त्रीय महान शुभ उद्योग से युक्त विश्वामित्रजी ने बार-बार की गई कठोर तपस्या से दुष्प्राप्य ब्राह्मणता प्राप्त की ॥५॥ रोने चिल्लाने आदि प्रयत्न से प्राप्त होने के कारण दुष्प्राप्य पानी में घोले हुए आटे को रसायन की तरह पी रहे, इस

(📖) उक्त कथा लिंग पुराण मे इस प्रकार वर्णित है : शिलाद नाम के एक मुनि थे। सर्वज्ञ पुत्र की इच्छा से उन्होंने भगवान शंकरजी को कठोर तपस्या द्वारा प्रसन्न किया। चिरकाल की तपस्या से प्रसन्न हुए भगवान शंकरजी उन्हें वरदान देने के लिए बोले : 'मुझसे अन्य तो कोई सर्वज्ञ हो नहीं सकता, इसलिए मैं ही अपने अंश से अवतार लेकर आपका पुत्र होऊँगा, किन्तु मेरे अंश से उत्पन्न हुआ वह आपका लड़का सोलहवें वर्ष में मर जायेगा। शिलाद ऋषि में भगवान के वचन को उलटने की शक्ति तो थी नहीं, अतएव भगवान की शरण में गये हुए उन्होंने 'ऐसा ही हो' यों भगवान के वचन का अनुमोदन किया। वरदान पाने के बाद शिलाद मुनि का नन्दी नामक सर्वज्ञ पुत्र हुआ। वह जब बालक ही था, अपने पिता से अपनी भावी मृत्यु को सुनकर तभी से उसने तपस्या द्वारा भगवान शंकर की आराधना करना प्रारम्भ कर दिया। तदनन्तर सोलहवें वर्ष में तालाब के किनारे शिवलिंग का पूजन करते समय मृत्यु ने पाशों से उसे बाँधा, वहीं पर आविर्भूत हुए भगवान शिव ने मृत्यु को लात मार कर तथा मृत्यु के फन्दे को काटकर उसे जरा-मृत्युरहित अपना अनुचर बना लिया।

(🔥) यद्यपि महाभारत में यह कथा यों प्रसिद्ध है - मरुत्त के यज्ञ में विघ्न डालने की इच्छा कर रहे देवताओं की सेना के साथ संवर्त ने अपने संकल्पमात्र से वशीभूत कर देवताओं के साथ यज्ञ का परिचारक बना डाला, तथापि दूसरे पुराणों में उनकी देवता और असुरों की दूसरी सृष्टि भी सुनी जाती ही है, दूसरे कल्प की कथा होने से महाभारत से इसका विरोध नहीं है।

प्रकार के भाग्यहीन उपमन्यु ने भी तपस्या से प्रसन्न हुए भगवान शंकर के प्रसाद से क्षीरसागर प्राप्त किया (इसकी कथा महाभारत में प्रसिद्ध है) ॥६॥ तीनों लोकों में महाबली रूप से विख्यात विष्णु, ब्रह्मा आदि देवाधिदेवों को भी तृण की नाईं निगल रहे काल को अत्यन्त दृढ़ भक्ति से श्वेत ऋषि ने अपने वश में कर लिया। (यह भी लिंग पुराण में प्रसिद्ध है) ॥७॥ राजकुमारी सावित्री ने पति के प्राणों का अनुगमन तथा स्तुति आदिरूप से प्रसन्नता के उपाय से यम को अपने वश में कर 'सत्यवान के प्राणों को छोड़कर और कोई वर माँगो' इस प्रकार के यम के वाक्य का सत्यवान से मेरे सौ लड़के हो, इस वर प्रार्थना रूप अपने वचन से सामंजस्य स्थापित कर अपने पति सत्यवान को परलोक से लौटा लिया ॥८॥ इस लोक में ऐसा कोई शास्त्रीय सुउद्योग का उत्कर्ष नहीं है, जिसका स्फुट फल हो।

शंका : विविध उद्योग आपने दिखलाये हैं, उसमें से मुझे किसमें अधिक प्रयत्नवान होना चहिए।

समाधान : अधिकारी आपको मूढ़ की नाईं क्षुद्र फलों की प्रार्थना से व्यर्थ नहीं होना चाहिए, किन्तु मन में फल के तारतम्य का विचारकर सबसे उत्कृष्ट फल की प्राप्ति से सर्वोत्कृष्ट शुभ प्रयत्न से सुशोभित होना चाहिये ॥९॥ आत्मज्ञान सम्पूर्ण सुख–दुःख, जन्ममरण आदि अवस्थाओं की भ्रमदृष्टियों का मूलोच्छेद करनेवाला है, इसलिए आत्मज्ञान में ही आपको शुभोद्योग का अभ्यास करना चाहिये ॥१०॥

पहले भोग, राग आदि की द्रष्टियों के विनाश के लिए तत् तत् विषयों में तो, दृष्टियों का अन्वेषण करना चाहिये। ऐसा कहते हैं।

क्षुधा, प्यास आदि आपत्ति से युक्त पुरुषों का विषय प्रदान द्वारा अनुग्रह करनेवाली भोगदृष्टि के नाश के लिए पहले उसकी विरोधिनी विषयदोष दृष्टियों का अवश्य अन्वेषण करना चाहिये।

शंका : भोगदृष्टि की विरोधिनी विषयदोषदृष्टियों का अन्वेषण करने पर विषय त्याग होने से तुरन्त दुःख होगा ?

समाधान : वैराग्य, अभ्यास आदि दुःख के बिना भूमानन्दरूप चैतन्य क्या कहीं पाया जा सकता है ? अर्थात् भूमानन्दस्वरूप चित् की प्राप्ति के लिए विषयत्यागरूप दुःख उठाना ही पड़ेगा ॥११॥

यदि कोई कहे, सम्पूर्ण विषय के दुःखपूर्वक त्याग का भी अंगीकार करके वैराग्य से राग आदि दोष का शमन अवश्य सम्पादनीय होता, यदि प्राप्त होनेवाला ब्रह्म शम के साथ ही पुरुषार्थ होता। ऐसा तो है नहीं, क्योंकि शम भी सात्त्विक चित्वृत्ति का भेद ही है, अतः अद्वितीय ब्रह्म में उसका संभव नहीं हो सकता। एकमात्र सुखरूप ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ दृश्य ही है, इसलिए शम परम पुरुषार्थ के अन्तर्गत भी नहीं आ सकता। इस शंका को आधा स्वीकार करके परिहार करते हुए शम की आवश्यकता दिखलाते हैं।

ठीक है, यद्यपि शमरहित चिदात्मा ही परम ब्रह्म है, तथापि शम भी कारणसहित संसार की निवृत्तिरूप परम पुरुषार्थ है ही। यद्यपि इस प्रकार दोनों तुल्य हैं, यह प्राप्त हुआ, तथापि इस प्रशम को भूमानन्द ब्रह्मसुख देनेवाला जानिये। जिसमें सुख की अभिव्यक्ति नहीं होती, वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसलिए इसमें पुरुषार्थ की उपयोगिता अधिक है ॥१२॥

अब शम का उपाय कहते हैं।

अभिमान का त्याग कर, स्थिर शम का अवलम्बन कर और बुद्धि से मोक्ष के योग्य उत्तमकुल में जन्म आदिरूप अपनी श्रेष्ठता का विचार कर सज्जनों की सेवा करे ॥१३॥

चित्तशुद्धि के लिए किये गये तप आदि भी संत–साधुओं की सेवा द्वारा ही ज्ञानोपयोगी होते हैं, स्वतन्त्ररूप से ज्ञानोपयोगी नहीं होते हैं, इस आशय से कहते हैं।

संसाररूप सागर को पार करने के लिए सज्जन की सेवा के बिना न तो तप ज्ञानप्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं, न तीर्थसेवन ज्ञानजनक होते हैं और न शास्त्राभ्यास ही ज्ञान उत्पन्न करा सकते हैं ॥१४॥

सज्जन का लक्षण कहते हैं।

जिसके सेवन से प्रतिदिन लोभ, मोह और क्रोध क्षीण होते हैं और जो अपने कर्मों में शास्त्रानुसार आचरण करता है, वह सज्जन है ॥१५॥

सदा सज्जन की सेवा में तत्पर पुरुष की कभी आत्मज्ञानी के साथ भी अवश्य संगति हो जाती है, जिससे ज्ञानप्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

सज्जनों की संगति से सज्जनसेवी पुरुष का आत्मज्ञानी के साथ संग होता है, जिससे इस दृश्य का अत्यन्तअभाव ही उसे दिखाई देता है ॥१६॥

उससे इसकी पुरुषार्थसिद्धि भी होती है, ऐसा कहते हैं।

दृश्य के अत्यन्त अभाव से तो एकमात्र परब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, अन्य वस्तुओं का अभाव होने से उसीमें जीव शीघ्र लीन हो जाता है ॥१७॥

परब्रह्म ही केवल अवशिष्ट रहता है, ऐसा जो पहले कहा, उसका दृश्य के अत्यन्त अभाव की उपपत्ति द्वारा समर्थन करते हैं।

न तो यह दृश्य उत्पन्न हुआ है, न पहले था ही और न आगे होगा ही, अतएव वर्तमान में भी यह नहीं है, एकमात्र अखण्ड ब्रह्म ही है ॥१८॥

जैसे इस जगत के उत्पत्ति आदि नहीं हो सकते वैसे उत्पत्ति प्रकरण में भी अनेक युक्तियों द्वारा उपपादन किया जा चुका है और आगे भी उपपादन किया जायेगा ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार हजारों युक्तियों से जगत के जन्म आदि का अभाव पहले दिखाया जा चुका है, और दिखा भी रहे है। जैसे सब विद्वानों ने उसका अनुभव किया है वैसे मैं इस त्रिजगत संविद्रूपी चिदाकाश को इस समय आपके लिए दिखाऊँगा। यह त्रिजगत शान्त, निर्मल चिदाकाश ही है, यह चित्त परमार्थस्वरूप है, इसमें मायिक आकाश आदि का सम्भव कहाँ से और कैसे हो सकता है ? प्रश्न उठता है आकाश आदि की उत्पत्ति सत् से है अथवा असत् से हैं ? माया से है ? आदि के दो तो अविकारी हैं, इसलिए उनसे जगत की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है, यदि माया से जगत की उत्पत्ति मानी जाय, तो भी मिथ्या ही होगी। इसलिए परिशेष से जगत का अनुत्पत्ति पक्ष ही स्थिर रहता है। छिद्ररहित कूटस्थ नित्यचिदात्मा में छिद्रस्वरूप आकाश का हजारों घनों से भी उत्पादन नहीं हो सकता, भाव यह है ॥१९,२०॥

यदि यह जगत उत्पन्न नहीं हुआ तो जगत नाम से सबको इसका बोध कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

निश्चल आत्मा में कल्पित चंचलता से चंचल, माया में प्रतिबिम्बित तन्मय जगत की जो सुन्दर कल्पना करता है, उसीको वही जगतरूप से जानता है ॥२१॥

यदि कोई शंका करे कि जगत्बोधरूपी चैतन्य सविकल्प है और ब्रह्मचैतन्य निर्विकल्प है, इस

तरह जगद्रूपी भेद को छिपाने के लिए तत्पर हुए आपका चैतन्य में भी भेद प्राप्त हो गया । इस पर कहते हैं ।

तीनों लोकों में जितना द्वैत अनुभव है, वह सब ब्रह्मचैतन्य रूप सूर्य के किरण समूह की तरह है, अतएव वस्तुतः उससे भिन्न नहीं है। किरण समूह और किरणवान का भेद कैसे हो सकता है ? विकल्पों के मिथ्या होने पर त्रैलोक्य में जो द्वैत का अनुभव है, उसे भी निर्विकल्पक ही कहिये ॥२२॥ इस निर्विकल्पक चिद्वृत्ति का यानी चरम साक्षात्कार का जो उन्मेष है, वही जगत के अनुभव का अस्तमय है और जो इस चरम साक्षात्कार का जो निमेष अनादि भाव है, वही जगत अनुभव का उदय है ॥२३॥

इसलिए निमेष ही प्रत्यगात्मा का अविद्यारूपी मल है और उन्मेष निर्मलतारूपी मोक्ष है, इस आशय से कहते हैं।

अपरिज्ञात अहंकार चिदाकाश में अविद्यारूपी मल है । परिज्ञात अहमर्थ तो चिदाकाश हो जाता है ॥२४॥

यदि कोई शंका करे कि अहमर्थ अहंकार है, वह परिज्ञात होकर भी कैसे चिदाकाश होगा ? तो इस पर कहते हैं।

जब तक अहंकार का यथार्थरूप परिज्ञान नहीं होता, तभी तक वह अहंकार है। यथार्थभावरूप से उसके परिज्ञात होने पर तो वह निश्चय अहंकार नहीं रहता। जैसे जल के साथ जल एकता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही वह चिदाकाशरूपी आत्मा के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है ॥२५॥

दृश्य अहमादि जगत वस्तुतः है ही नहीं यानी बाधित है।

शंका : परिज्ञात होने पर अहमादि जगत का बाध हो जाता है, तो क्या रहता है ?

समाधान : यह अहं पदार्थ क्या है ? यों प्रमाणपूर्वक विचार करने से उत्पन्न हुए ज्ञान से वह चिदाकाश अवश्य ही परिशिष्ट रहता है, उसका बाध नहीं होता ॥२६॥

निर्मल बुद्धिवाले पुरुषों की अपिशाच में पिशाच बुद्धि बाधित हो जाती है । किन्तु जिनकी बुद्धि थोड़ी बहुत मार्ग में आई हो, ऐसे बालकों को तो हजारों बार यह पिशाच नहीं है, यह उपदेश देने पर भी संशय होता ही है। यह पिशाच नहीं है, ऐसा बोध नहीं होता ॥२७॥

जैसे बालकों का मोह ज्ञान का बाधक होता है वैसे ही प्रौढ़ पुरुषों का अभिमान भी ज्ञान निवर्तक है, इस आशय से कहते हैं।

जब तक अन्तःकरण में चैतन्यरूपी चाँदनी अहंकाररूपी मेघ से आवृत रहती है तब तक वह परमार्थरूपी कुमुदिनी को विकसित नहीं करती ॥२८॥

अहं इस अभिमान का विनाश होने पर भय, राग और मुमुक्षु से होनेवाले द्वेष और राग के विषयभूत नरक, स्वर्ग और मोक्ष की तृष्णा भी हट जाती है, ऐसा कहते हैं।

अहं पद तथा अहं पद के अर्थ के परिमार्जित होने पर अहंकार के बिना नरक, स्वर्ग और मोक्ष की तृष्णा की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥२९॥ जब तक हृदय में अन्धकाररूपी घनघटा आटोप के साथ बिराजमान रहती है तभी तक तृष्णारूपी कुटज की मंजरी विकास को प्राप्त होती है ॥३०॥ ज्ञान का आवरण कर अहंकाररूपी मेघ के सदा स्थित रहने पर अज्ञान की ही जड़ जमती है, ज्ञानालोक

कदापि स्थिरता को प्राप्त नहीं होता, बालक के भ्रम से कल्पित यक्ष के समान स्वयं भ्रान्ति से कल्पित अतएव असत् यह अहंकार दुःख के लिए ही है, इससे आनन्द कुछ भी प्राप्त नहीं होता ॥३१,३२॥ जैसे व्यर्थ कल्पित अहंभाव ने दाम, व्याल और कट में असंख्य जन्म-मरण देनेवाला मोह उत्पन्न किया था वैसे ही व्यर्थ ही कल्पित हुआ अहंकार अभिमान से दूषित अन्तःकरण अनन्त जन्म-मरण देनेवाले मोह को उत्पन्न करता है ॥३३॥

यह देह मैं हूँ, इस प्रकार का भ्रम सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ है ऐसा कहते हैं।

यह देह मैं हूँ, इस प्रकार के प्रबल अज्ञान से बढ़कर अनर्थकारी दूसरा अज्ञान न इस संसार में हुआ और न होगा ॥३४॥ इस संसार में जो कुछ भी सुख-दुःखरूपी विकार प्राप्त होता है, वह अहंकाररूपी चक्र का मुख्य विकार है ॥३५॥ जिस पुरुष ने अहंकाररूपी दुष्ट वृक्ष के अंकुर को विचार से संस्कृत मनरूपी हल से जोतकर उखाड़कर फेंक दिया, उसके आत्मारूपी खेत में संसार का विनाश करनेवाला सैकड़ों शाखाओं से युक्त अतएव दुरुच्छेद्य ज्ञानरूपी सस्य (वृक्षों का फल) वृद्धि को प्राप्त होकर फलता है ॥३६॥ अहंकार ज्ञानरूपी कुठार के बिना कभी नष्ट न होनेवाले जन्मरूपी वृक्षों का अंकुर है और 'यह मेरा है', यह उनकी हजारों बड़ी-बड़ी शाखाएँ है ॥३७॥ वासना आदि पदार्थ बड़े ध्यान से सुनने योग्य शब्दवाले सेमल के पके हुए फलों के तुल्य कौओं के थोड़े उड़ने से भी नष्ट होनेवाले और तरंगों की सुन्दर पंक्तियों के तुल्य क्षणभंगुर हैं ॥३८॥ वस्तुतः आत्मा अहंभाव से वर्जित ही है, पर आत्मा का तिरोभाव करनेवाली अहंभावना से वह स्वयं ही संसाररूपी चक्र में भ्रमण को प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है। जब तक जन्मरूपी अरण्य में अहंकारूपी अन्धकार अपना सिक्का जमाये रहता है तब तक चिन्तारूपी मत्त पिशाचिकाएँ इधर उधर दौड़ती रहती हैं ॥३९,४०॥ जिस अधम पुरुष को अहंकाररूपी पिशाच ने चंगुल में फँसा लिया, उसके अंहाकाररूप पिशाच को निवृत्त करने के लिए न शास्त्रों में सामर्थ्य है और न मन्त्रों में ही ॥४१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, किस उपाय से अहंकार नहीं बढ़ता ? हे ब्रह्मन् संसाररूपी भय की निवृत्ति के लिए आप वह उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥४२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त आत्मस्वभाव के सदा स्मरण से आत्मा को चिन्मात्र दर्पण की तरह निर्मल रखने पर अहंकार नहीं बढ़ता ॥४३॥ यह जगत रूपी इन्द्रजाल मिथ्या है मुझे इसमें स्नेह और वैराग्य से क्या प्रयोजन है, ऐसा मन में ध्यान करने से अहंकार उत्पन्न नहीं होता ॥४४॥ जिन पुरुष की आत्मा में अहंकार नहीं है और दृश्य शोभाएँ भी नहीं है ऐसी स्थिति से स्वयं ही निवृत्त हुए व्यवहार से अहंकार नहीं बढ़ता ॥४५॥ अन्दर 'अहं' बाहर जगत यों हेय-उपादेय की निमित्तभूत दृष्टियों का क्षय होने पर अविषमतारूप प्रसन्नता के प्राप्त होने पर अहंभाव नहीं बढ़ता ॥४६॥ मैं यानी द्रष्टा, चित् यानी दर्शन और जगत यानी दृश्य इस त्रिपुटी ज्ञान के, उसमें भी यह शत्रुभूत है यह मित्रभूत है इस सृष्टि के, क्षीण होने पर सर्वात्मकतारूप समता के सिद्ध होने पर अहंभाव नहीं बढ़ता ॥४७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, इस अहंकार का क्या आकार है और कैसे देहमात्र में अहंभावरूप तथा देह से अतिरिक्त बुद्धिमात्रोपाधिक अहंकाररूप इसका त्याग होता है एवं इसका त्याग होने पर क्या फल होता है ॥४८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस त्रिलोकी में तीन प्रकार के

अहंकार हैं, उनमें शास्त्रीय दो अहंकार यानी सूक्ष्मात्मविषयक और सर्वात्मविषयक अहंकार श्रेष्ठ हैं और तीसरा अशास्त्रीय अहंकार त्याज्य है, आप सुनिये, मैं उन्हें आपसे कहता हूँ ॥४९॥ 'मैं यह सब विश्व हूँ', इस प्रकार कार्यब्रह्मविषयक तथा 'मैं कभी च्युत न होनेवाला परमात्मा हूँ', इस प्रकार कारणब्रह्मविषयक अथवा तत्पद के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ विषयक अहं से अतिरिक्त जगत में कुछ नहीं है, इस प्रकार का जो अहंकार है, उसे आप परम अहंकार जानिये। ये अहंकार जीवन्मुक्तपुरुष की मोक्षप्राप्ति के लिए हैं, बन्धन के लिए नहीं है। बाल के अग्रभाग का सौवाँ हिस्सा बनाया गया यानी शोधन द्वारा निरवयव किया गया मैं सबसे अतिरिक्त हूँ, इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह दूसरा शुभ अहंकार है। वह भी छठी भूमिका में स्थित पुरुष के मोक्ष के लिए ही है, बन्धन के लिए नहीं है ॥५०-५२॥ जो लोग सप्तम भूमिका में स्थित हैं, उनमें अहंकार के बिना जीवन की अनुपपत्ति होने से अहंकार की केवल कल्पना होती है, वस्तुतः वह नहीं है, क्योंकि कल्पना करनेवाले और जाननेवाले जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, इसलिए सर्वथा असत्य होने से अहंकार इस नाममात्र के शेष रहने से वह अहंकाराभिधान मात्र है।

तीसरे अहंकार को दर्शाते हैं।

यह हाथ-चरणादिरूप देह ही मैं हूँ, इस प्रकार का मिथ्याभिमान तीसरा अहंकार है, वह लौकिक एवं तुच्छ ही है। यह दुष्ट अहंकार अवश्य त्याग के योग्य है, क्योंकि वह पहले सिरे का शत्रु ही कहा गया है ॥५३,५४॥ विविध प्रकार की मानसिक दुश्चिन्ता आदि दुःख देनेवाले इस बलवान शत्रु से आहत हुआ जीव अपरिच्छिन्न स्वभाव से फिर आविर्भूत नहीं होता ॥५५॥ स्वभाव से ही चिरकाल से पीछे पड़ी हुई इस दुष्ट अहंकृति से दुर्वासनाओं द्वारा दुष्कर्मों में प्रवृत्त करने से पीड़ित हुआ पुरुष संकटों में ही मग्न रहता है ॥५६॥

किससे फिर जन्तु मुक्त होता है ? इस पर कहते हैं।

अवशिष्ट पूर्वोक्त शुद्ध अहंकारों से युक्त होकर जो पुरुष ममता से उत्पन्न हुए राग आदि दोषों को नष्ट करता हुआ इस सर्वात्मभावरूप अहंकार उसमें भी लोकप्रसिद्ध देहात्मभावरूप अहंकार की तरह दृढ़ होकर हिरण्यगर्भ या ईश्वर मैं हूँ, इस भावना से युक्त होता है, वह देहाहंभाव से मुक्त हो जाता है ॥५७॥

यही प्रणाली अन्य ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के भी अभिमत है, ऐसा कहते हैं।

देहात्मभावरूप अहंकार की तरह बद्धमूल हुए पूर्वोक्त दो अहंकारों को पहले स्वीकार कर 'मैं देह नहीं हूँ' यों विचार से भी निश्चय कर देह में आत्मभावरूप अहंकार का त्याग करना चाहिये, ऐसा प्राचीन महापुरुषों का मत है ॥५८॥

उक्त सिद्धान्त का ही फिर अनुवाद कर उपसंहार करते हैं।

देहात्मभावरूप अहंकार की तरह बद्धमूल हुए आदि दो अहंकारों का पहले अंगीकार कर तीसरी लौकिक अहंकृति का, जो अत्यन्त दुःखदायिनी है, त्याग कर देना चाहिये ॥५९॥

उसमें पूर्वोक्त उपाख्यान का भी दृष्टान्तरूप से उल्लेख करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस दुरहंकार से ही दाम, व्याल और कट उस दशा को प्राप्त हुए, जिसे कथा में भी सुनकर दुःख होता है ॥६०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, इस तीसरे लौकिक अहंकार को

चित्त से हटाकर किस प्रकार की स्थितिवाला पुरुष अपने हित परम तत्त्व को प्राप्त होता है ? ॥६१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह तीसरा अहंकार त्यागने योग्य है, दुःख देनेवाले इस लौकिक अहंकार का त्याग कर सर्वाहंभाव से या शुद्धाहंभाव से श्रवण, गुरुसेवा आदि में तत्परता से ये सात भूमिकाओं में जिस जिस प्रकार से पुरुष स्थित रह सकता है वैसे वैसे स्वरूपसुख की अभिव्यक्ति के उत्कर्ष प्राप्ति से परम तत्त्व को प्राप्त होता है ॥६२॥

इसी बात को विशद करते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रथम इन दो अहंकार दृष्टियों की भावना करता हुआ पुरुष यदि स्थित रहे, तो परमपुरुषार्थ प्राप्त हो जाता है ॥६३॥ तदनन्तर उन दो अहंकारों का भी त्याग करके सब अहंकारों से रहित होकर यदि स्थित रहे, तो वह अति उन्नत पद में आरूढ़ होता है ॥६४॥

पथ्य वचन सैकड़ों बार कहना चाहिए, इस न्याय से फिर देहात्मभावना के त्याग के गुणों को कहते हुए लौकिक अहंकार के त्याग की आवश्यकता दर्शाते हैं।

इस बुद्धि से तथा सदा सब प्रयत्नों से लौकिक दुष्ट अहंकार का परमानन्द के बोध के लिए त्याग करना चाहिये। शरीर में आसक्तिरूप जो दुष्ट अहंकार है, उसका त्याग अत्यन्त श्रेष्ठ कल्याण है और यही परमपद है ॥६५,६६॥ विचार से इस स्थूल लौकिक अहंकार का त्याग करके पुरुष चाहे चुपचाप बैठा रहे या लौकिक व्यवहार करे, फिर भी उसका अधःपतन नहीं होता ॥६७॥ हे महामति श्रीरामचन्द्रजी, जिस पुरुष का अहंकार नष्ट हो गया, उसको भोगरूपी रोग इस प्रकार स्वाद नहीं देते, जैसे खूब तृप्त पुरुष को विषमिश्रित षड्रस स्वाद नहीं देते ॥६८॥ भोगों के स्वाद न देने पर परम कल्याण पुरुष के सामने स्थित-सा हो जाता है, क्योंकि उसके प्रतिबन्धक की निवृत्ति हो जाती है। अन्धकार के तुल्य अग्रहण और अन्यथा ग्रहण में निमित्तभूत मन के अहंकार के नष्ट होने पर और क्या प्रतिबन्धक शेष रह जाता है, जिससे परमपद की प्राप्ति में विघ्न हो ? ॥६९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अहंकार के स्मरण के त्याग से, धैर्य से और श्रवण आदि प्रयत्न से संसाररूपी सागर पार किया जाता है ॥७०॥ महात्मा पुरुष पहले सब मैं ही हूँ, ये सभी मेरे हैं, ऐसा समझ कर तदनन्तर देहादि मैं नहीं हूँ, देह के सम्बन्धी कुछ भी मेरे नहीं है, ऐसा विचार कर उससे सब प्रतिबन्धकों का नाश होने से प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए, परम श्लाघनीय, पहले विस्तारपूर्वक कहे गये आत्मज्ञान को मन में प्राप्त होकर, क्रम से सात भूमिकाओं में स्थित होकर, अपरिच्छिन्न आत्मा स्वयं होकर विदेह कैवल्यरूप परमपद को प्राप्त होता है ॥७१॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

भीम, भास और दृढ़ द्वारा छिन्न-भिन्न हुए देवताओं से प्रार्थित
भगवान हरि का शम्बर को मारना और वासनारहित उनका मुक्त होना।

ज्ञान और विवेक के अभाव में विद्यमान निर्वासनिकता भी दुरभ्यास से नष्ट हो जाती है। ज्ञान और विवेक की दृढ़ता में तो 'तस्य ह न देवाश्च नाऽभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति' (देवता उसके अकल्याण के लिए समर्थ नहीं होते, वह उनका आत्मा हो जाता है) इस श्रुति में कही गई रीति से देवता

भी बन्धन में नहीं डाल सकते, इस विषय में भीम, भास और दृढ़ का न्याय दृष्टान्त रूप से दर्शाते हैं।

दाम आदि दानवों के चले जाने पर सम्पत्ति से मेरुपर्वत के तुल्य शम्बर के नगर में जो कुछ वृत्तान्त हुआ, उस विषय में मैं आपसे कहूँगा, आप सुनिये ॥१॥ पूर्वोक्त रीति से शम्बर की सारी सेना कि जिसकी स्थिति बिगड़ चुकी थी, आकाश से गिर कर शरत्काल के मेघों की घटा के समान नष्ट होने पर, देवताओं से जिसकी सेना जीती गई थी, ऐसा वह दानव कुछ वर्ष बिताकर फिर देवताओं के वध के लिए उद्यमशील हो विचार करने लगा। मैंने माया द्वारा जिन दाम आदि असुरों का निर्माण किया था, उन्होंने मूर्खतावश युद्ध में व्यर्थ ही दुष्ट अहंकार की भावना की ॥२-४॥ अब मैं माया से रचे हुए अन्य दानवों की सृष्टि करता हूँ और उन्हें अध्यात्मशास्त्र के ज्ञाता और विवेकशील बनाता हूँ। तत्त्वज्ञानी होने के कारण मिथ्याभावना से रहित वे अहंकार को प्राप्त नहीं होगें और उन देवताओं पर विजय प्राप्त करेंगे ॥५,६॥ दैत्यराज शम्बर ने बुद्धि से ऐसा विचार कर जैसे सागर बुद्बुदों को उत्पन्न करता है वैसे ही उस प्रकार के दानवों को माया से उत्पन्न किया, वे सर्वज्ञ थे, वेद्य आत्मतत्त्व उन्होंने जान लिया था, वे विरक्त और निष्पाप थे, जो कुछ प्रभु की आज्ञा होती थी एकमात्र उसीको करते थे, सदा आत्मनिष्ठ रहते थे, इस प्रकार के उत्तम वे दानव भीम, भास और दृढ़ इन नामों से युक्त थे। निर्मल आशयवाले वे तीनों जगत को तृण के तुल्य देखते थे ॥७-९॥ गरज रहे और अस्त्र रूपी बिजली से युक्त उन दैत्यों ने ऊपर के लोकों में आकर वर्षा ऋतु के मेघों की तरह आकाश को ढक दिया ॥१०॥ बहुत वर्षों तक देवताओं के साथ उन्होंने युद्ध किया फिर भी विवेकवश वे कभी अहंकार को प्राप्त नहीं हुए ॥११॥ उनके हृदय में यह मेरे है, ऐसी वासना जब भी उदित होती थी, तभी यह मैं कौन हूँ, इस प्रकार के विचार से वह असत्यता को प्राप्त हो जाती थी ॥१२॥

जिनसे डरना चाहिये और जिसके लिए डरना चाहिये, वे दोनों ही मिथ्या है, इस प्रकार से उनमें भय का उदय नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं।

शरीर और देवता दोनों ही असत् हैं और मैं कौन हूँ, इस विचार से उनमें भय आदि की उत्पत्ति नहीं हुई ॥१३॥ असत् यह शरीर है ही नहीं, आत्मा में शुद्ध चित् स्थिर है, अहं नाम का कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ऐसा निश्चय करके ही असुर लोग युद्धार्थ गये ॥१४॥ तदनन्तर अहंकाररहित, जरा-मरण से निर्भय, जो वस्तु प्राप्त हो उसे करनेवाले, वर्तमान का अनुसरण करनेवाले, धैर्यशाली, नित्य आसक्तिरहित बुद्धिवाले, दूसरों को मारकर भी हन्तृत्व का अभिमान न करने से हन्तृत्व से निर्मुक्त, अज्ञानी अपने प्रभु शम्बर की दृष्टि से यह कार्य करना चाहिये, यों युद्ध में सन्नद्ध हुए, राग-द्वेषशून्य, सदा सर्वत्र समदृष्टि, भीम, भास और दृढ़ आदि दानवों द्वारा जैसे भोक्ता पुरुषों से अपनी-अपनी खाद्य वस्तुओं की शोभा नष्ट होती है, उपभुक्त होती है, वैसे ही उसके द्वारा देवताओं की सेना नष्ट हुई, उपभुक्त हुई, हरी गई और जलाई गई ॥१५-१८॥ भीम, भास और दृढ़ से नष्ट की गई देवताओं की सेना हिमालय से गिरी हुई गंगा की तरह बड़े वेग से भागी। भागी हुई वह देवताओं की सेना जैसे वायु से छिन्न-भिन्न की गई मेघ पंक्ति पर्वत की शरण में जाती है वैसे ही क्षीरसागरशायी भगवान विष्णु की शरण में गई ॥१९,२०॥ जैसे व्यभिचारी पुरुषों के उपभोग से आक्रान्त अतएव भयभीत अकेली नायिका को नायक आश्वासन देता है वैसे ही भयभीत हुई उस देवसेना को भगवान श्रीहरि ने आश्वासन

दिया ॥२१॥ तदनन्तर वह देवसेना तब तक श्वेतद्वीप में रही। जब तक कि भगवान ने शम्बर के विनाश के लिए प्रयत्न किया ॥२२॥ तदनन्तर भगवान विष्णु और शम्बर का बड़ा दारूण युद्ध हुआ, जिसमें प्रलय की तरह अकाल में ही बड़े-बड़े कुलाचल (पर्वत) उड़े थे ॥२३॥ उस युद्ध में शम्बरासुर अपनी सेना, सवारी आदि के साथ शान्त (कालकवल) हो गया। नारायण के हाथ से मरा हुआ वह वैकुण्ठ को चला गया ॥२४॥ उस विषम संग्राम में वे भीम, भास और दृढ़ तो जैसे वायु से दीपक शान्त हो जाते हैं वैसे ही भगवान विष्णु द्वारा ही शान्त (विदेहमुक्त) किये गये ॥२५॥

यदि कोई कहे कि शम्बर की तरह भीम आदि का भी वैकुण्ठ आदि लोकान्तर में गमन क्यों नहीं हुआ ? तो इस पर उसका निषेध करते हैं।

वासनारहित वे शान्ति को प्राप्त हुए तब बुझ रहे दीपकों की तरह उनकी गति किसी को मालूम नहीं हुई। वासना ही लोकान्तरगमन का कारण है, 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषक्तमस्य' (इसलिए वासनायुक्त पुरुष, जो कर्मफल की आसक्ति से किया, उस कर्म के साथ फल को प्राप्त होता है, जिसमें कि इसका लिंगरूप मन पहले आसक्त हुआ।) ऐसी श्रुति है। वे वासनारहित थे, अतएव उनकी गति किसी को ज्ञात नहीं हुई, यह अर्थ है ॥२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वासना से युक्त मन बन्धन को प्राप्त होता है और वासनारहित मन मुक्ति को प्राप्त होता है, इसलिए आप विवेकपूर्वक निर्वासनिकता का अवश्य सम्पादन कीजिये ॥२७॥

निर्वासनिकता की प्राप्ति में जो उपाय है, उसे बतलाते हैं।

जैसे यथाभूत वस्तुविषयक सम्यग् दर्शन से रत्नतत्त्व का साक्षात्कार होता है वैसे ही चिरकाल के विचार और समाधि से जनित सत्य आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से वासना नष्ट हो जाती है। वासना के विलीन होने पर चित्त दीपक की नाईं नष्ट हो जाता है ॥२८॥

अब सम्यग् दर्शन का प्रकार दर्शाते हैं।

अत्यन्त परिपूर्ण परमार्थ सत्य चिदात्मा जो इस दृश्य की भावना करता है, वह कुछ भी सत्य नहीं है। इसलिए उस दृश्य का दर्शन भी है ही नहीं। इसलिए परिशेष से यह स्वप्रकाश चिन्मात्रदर्शन ही सम्यग् दर्शन है ॥२९॥ यह सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है, इसलिए कौन किस वस्तु की कहाँ पर भावना करे ? भावना भी है ही नहीं, इसलिए स्वप्रकाश चिन्मात्र का ही दर्शन सम्यग् दर्शन है ॥३०॥ वासना और चित्त नाम के अर्थ युक्त दो शब्द जहाँ परमार्थ सत्य के दर्शन से विलीन हो गये, वह परम पद है ॥३१॥ वासना से युक्त चित्त यहाँ पर चित्तरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ है। वही वासना से मुक्त होकर जीवन्मुक्त कहा जाता है। विविध घट, पट के आकारों से चित्त स्थिति को (सत्ता को) प्राप्त हुआ है। बालक के उदित हुए यक्ष के समान उसीका शीघ्र विनाश कर देना चाहिये ॥३२,३३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी,

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्। आत्मन्येव भवेद् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥

अर्थात् जैसे देहात्मज्ञान अज्ञानियों में बद्धमूल होता है वैसे ही बद्धमूल ज्ञान, जो कि देहात्मज्ञान का बाधक है, जिसकी आत्मा में उत्पन्न हो जाता है, वह मुक्ति की इच्छा न रहने पर भी मुक्त हो जाता है। इस न्याय से जैसे दाम, व्याल और कट की देहात्मभावना से उनका चित्त वासना से वासित हुआ था

वैसे ही ब्रह्मात्मभावना से भीम, भास और दृढ़ का न्याय आपके हृदय में अचल हो ॥३४॥ हे रघुवर, आपको दाम, व्याल और कट का न्याय प्राप्त न हो। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह दाम आदि का वृत्तान्त मेरे पिता ब्रह्माजी ने पहले मुझसे कहा था। चूँकि आप मेरे प्रिय शिष्य तथा अत्यन्त बुद्धिमान है, अतः यह वृत्तान्त मैंने आपसे कहा है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दाम, व्याल और कट की स्थिति आपकी न हो। हे अनघ, आपकी सदा भीम, भास और दृढ़ की स्थिति हो ॥३५,३६॥ पूर्वोक्त प्रकार से भीम, भास और दृढ़ की तरह व्यवहार कर रहे आपको सम्पूर्ण व्यवहारों में निरन्तर अनासक्ति से ही तत्त्व बोध परिपाकरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर अविरल सुख और दुःखों से व्याप्त, जन्म–मरण परम्पराओं में त्रिविध तापों के भोग के लिए आपकी यह भवपदवी मूलोच्छेदपूर्वक नष्ट हो रही है अन्यथा नहीं ॥३७॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

चित्त की शान्ति के उपाय का और भोगेच्छा के त्याग का वर्णन,
जो कि सत्संगति, विवेक और आत्मबोध से उत्पन्न समाधि से प्राप्त होता है।

उसमें मन का निग्रह ही मुख्य उपाय है और सब उपाय मन के निग्रह के लिये हैं, इस आशय से पहले मनोनिग्रह की ही प्रशंसा करते हुए सर्ग का आरम्भ करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वे साधुजन महाबली हैं और सबके वन्दनीय है, जिन्होंने अविद्या के विपुल विलासों से विषयों की ओर अभिमुख हुआ अपना मन अपने वश में कर लिया। विविध उत्पात देनेवाले दुःखरूपी इस संसार की अपने मन का निग्रहरूप एक ही चिकित्सा है ॥१,२॥

मनोनिग्रह के उपायों में भोगेच्छा का त्याग ही मुख्य उपाय है, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानसर्वस्व का श्रवण कीजिये और श्रवण कर उसे हृदय में धारण कीजिये। भोग की इच्छा ही बन्धन है और भोग की इच्छा का त्याग मोक्ष कहा जाता है ॥३॥

विषयों में दोषदर्शन से घृणा भोगेच्छा की भी चिकित्सा है, ऐसा कहते हैं।

अन्य शास्त्र निबन्धोंसे क्या करना है, एकमात्र यही कीजिये। इस लोक में जो–जो वस्तु स्वादु है, उन सबको विष अग्नि के समान देखिये ॥४॥

विचार के बिना सहसा विषयों का त्याग दुःखदायी होता है। विचार कर गुरु और शास्त्र की आज्ञा के अनुसार विषयों का त्याग आरंभ में कटु होने पर भी परिणाम में महासुखदायी होता है, ऐसा कहते हैं।

विचार के बिना विषयों के त्याग दुःखदायी होते हैं, इसलिए पुनः–पुनः विचार कर सहन के अभ्यासक्रम से भोगवासनाओं का त्यागकर सेवन किये जा रहे विषय सुखदायक होते हैं ॥५॥

भोगवासनाओं के रहने पर क्या हानि होती है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उस पर कहते हैं।

जिस भूमि में काँटे के बीज बिखरे हैं, वह भूमि जैसे काँटों को उत्पन्न करती है वैसे ही वासनाओं से युक्त बुद्धि बड़े–बड़े राग आदि दोषों को उत्पन्न करती है ॥६॥ इसलिए जिस मति में वासनाओं के समूह का सम्बन्ध नहीं है, अतएव जिसमें राग और द्वेष दृष्टि नहीं हैं, इसीलिए जो जंजाल से रहित है, वह धीरे–धीरे परम शम को प्राप्त होती है ॥७॥ शुभ मति जिनसे दुःख नहीं होता ऐसे शम, दम आदि

सद्‌गुणों से युक्त ज्ञान, समाधि और विश्रान्तिरूप मोक्ष फल देनेवाले अंकुरों को समय पर ऐसे उत्पन्न करती है, जैसे धरती धान आदि फलों को देनेवाले अंकुरों को समय पर उत्पन्न करती है ॥८॥

अब क्रम से दया, दाक्षिण्य, क्षमा आदि शुभ भावों के अभ्यास से लेकर समाधिपर्यन्त मन की विश्रान्ति के साधनों को कहते हैं।

शुभ भावों के अनुसन्धान से मन के प्रसन्न होने पर, मिथ्या–ज्ञानरूप घन मेघ के धीरे–धीरे शान्त होने पर, सौजन्य के शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान दिन–पर–दिन बढ़ने पर, आकाश में सूर्य के तेज के समान पुनीत विवेक के फैलने पर, अन्तःकरण में इंद्रिय निग्रह से उत्पन्न धैर्य से बाँस में मोतियों के समान बढ़ने पर, हृदय में आत्मसुख की प्राप्ति से मन के बसन्त ऋतु में चन्द्रमा के समान कृतकृत्य होने पर, शीतल छायावाले सत्संगरूप फलदार वृक्ष के फलने पर और आनन्द से सुन्दर रसवाले समाधिरूपी सरल वृक्ष के मधु टपकाने पर मन निर्द्वन्द, निष्काम और निरूपद्रव हो जाता है। उसके चपलतारूपी अनर्थ, शोक, मोह और भयरूपी रोग शान्त हो जाते हैं। शास्त्रार्थ विषयक संदेह कट जाते हैं। सब कौतुक (विचित्र वस्तुओं को देखने की उत्कण्ठा) नष्ट हो जाते हैं। सब कल्पनाएँ हट जाती हैं। मोह नष्ट हो जाता है। उसमें वासना का लेप नहीं रहता। वह आकांक्षारहित, निन्दारहित, प्रवृत्युन्मुख अवस्था से रहित, दुश्चिन्ताओं से शून्य, शोकरूपी नीहार से रहित, आसक्तिरहित और ग्रन्थियों से विहीन हो जाता है ॥९–१५॥

इस प्रकार का मन क्या करता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

आत्मा कौन है, किस तरह का है, किन साधनों से प्राप्त हो सकता है, ज्ञान से अथवा कर्म से, ज्ञान किस प्रकार का है, उसके साधन कौन हैं ? इस प्रकार विविधवादियों से अन्यान्य प्रकार से निरूपण करने के कारण बहुत प्रकार के सन्देहरूपी अविनीत पुत्रवाला, शाखाओं के तुल्य विविध मनोरथों से युक्त तथा तृष्णारूपी स्त्रियों और स्थूल देह से युक्त मन अपने स्वरूप का विनाश करके अपने ईश्वररूप प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध रखने वाले जीवन्मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ को सिद्ध करता है ॥१६॥

मन इस प्रकार अपने स्वरूप का विनाश करता है ऐसा यदि कोई कहता हो तो इस पर कहते हैं।

पहले मन विकल्पों में अपने उत्पादन के समान अपने विनाश में भी अपनी सामर्थ्य का विचारकर अपनी पुष्टि के हेतु शत्रु, मित्र, साधु, असाधु आदि विकल्पों का त्याग करता है। तदनन्तर देहाकार अपने कल्पितरूप का तृण के समान त्याग करता है। भाव यह है कि जब तक देह में अहंभाव से वासना युक्त मन देहाकार होता है तभी तक देह के अनुकूल और प्रतिकूल विषयों में राग और द्वेष आदि से होनेवाले हजारों विकल्पों से वृद्धि को प्राप्त होता है। उसके क्षीण होने पर क्षीण हो जाता है ॥१७॥

यदि कोई शंका करे, अपना नाश तो अभ्युदय है नहीं, प्रत्युत वह अनर्थ ही है, उसमें मन की प्रवृत्ति कैसे होगी ? तो उस पर कहते हैं।

मन का अभ्युदय नाश है और मनका नाश महान अभ्युदय है। भाव यह है कि मन की स्वतन्त्रता से कोई अभ्युदय नहीं चाहता, किन्तु आत्मरूप से सब अभ्युदय चाहते हैं। आत्मभाव का मनोभाव अनर्थ रूप ही है, मनोभाव का नाश तो सम्पूर्ण अनर्थों की हानि रूप होने से और निरतिशय आनन्दस्वरूप का परिशेष होने से अभ्युदय ही है। प्रत्यगात्मा का स्वरूपलाभ से महान अभ्युदय होता है। यह निर्विवाद है।

शंका : तो देहाहंकारमात्र का त्याग करना चाहिये, ब्रह्मात्मताज्ञान से क्या प्रयोजन है ?

समाधान : जिसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो गया है, उसका मन नष्ट हो जाता है और अज्ञानी का मन अज्ञानरूप मल के नष्ट न होने पर वृद्धि को प्राप्त ही है यानी फिर फिर उगता ही है, इसलिए ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान की आवश्यकता है ॥१८॥

फिर–फिर उगे, इसमें क्या हानि है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

मनोमात्र ही जगतों का समूह है, मन ही पर्वतों का मण्डल है, मन ही आकाश है, मन ही देवता है, मन ही मित्र है और मन ही शत्रु है। भाव यह कि मन के पुनः–पुनः उगने पर उक्त जगत की प्राप्ति ही नहीं है ॥१९॥

इस मन का क्या स्वरूप है जिसका कि अवश्य उच्छेद करना चाहिये। इस प्रश्न पर कहते हैं।

चित्तत्त्व की विविध विकल्पों से कलुषित हुई जो स्वरूप विस्मृति है, वही मन शब्द से कही जाती है। वही विविध जन्म को देनेवाली वासना है। भाव यह कि आत्मस्वरूप की विस्मृति से होनेवाली विविध विकल्प वासनाएँ ही मन का स्वरूप है ॥२०॥

इस प्रकार का मन हो, पर उसके द्वारा बन्धन में डाले जानेवाले जीव का स्वरूप क्या है ? ऐसा यदि कोई पूछे तो उस पर कहते हैं।

मन में विषय का वासनारूप से जो प्रवेश है, उससे परिच्छिन्न चिन्मात्र में स्थित अतएव विकल्पों की थोड़ी वासना से कलुषित चित्तत्त्व ही (ब्रह्म ही) जीव कहा जाता है ॥२१॥ विषयों में वासनारूप से गिरा हुआ तथा चिरकाल के अभ्यास से विषयों में ही दृढ़ आत्मत्वाभिमान वाले स्वरूप विस्मरण को प्राप्त हुआ जीवस्वरूप ही हजारों विकल्पों से गाढ़ मोह में पड़ने के कारण सारभूत सुखस्वभाव के हट जाने से जब अधिक निःसार होता है तब जीवोपकरण मनरूप से कल्पित होता है ॥२२॥

इस प्रकार जीव और जीव की उपाधि दिखलाकर उनसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूप को दर्शाते हैं।

आत्मा न तो वस्तुतः जीव स्वभाव है, न शरीर है और न रुधिर है। शरीर आदि सब जड़ हैं; किन्तु देही आकाश के समान निर्लेप है ॥२३॥

शरीर में जड़ता आदि को ही स्पष्टरूप से विशद करते हैं।

शरीर के टुकड़े–टुकड़े करने पर रुधिर आदि से अन्य कुछ भी नहीं है, जैसे कि केले के खम्भे को काटने पर पल्लवों से बनी हुई छाल के अतिरिक्त और कुछ चीज नहीं रहती। ।२४॥ मन ही जीव है, वही जब साकार हो जाता है, तब उसे नर जानिये। वह अपने विकल्पों से कल्पित अपने स्वरूप का अपने आप ग्रहण करता है ॥२५॥ जैसे रेशम का कीड़ा अपने बन्धन के लिए जाल की रचना करता है वैसे ही जीव मन में विकल्प वासनाओं को उत्पन्न करके अपने बन्धन के लिए दृढ़ जाल की रचना करता है ॥२६॥

जीव की देहात्मकता के अभाव में युक्ति कहते हैं।

जीव इस वर्तमान देह भ्रम का त्याग करके पुनः दूसरे देश और दूसरे काल में अन्य देह भाव को धारण करता है, जैसे कि अंकुर पल्लवता को धारण करता है ॥२७॥

शरीर वासनामय है, इसमें युक्ति कहते हैं।

यह मन जैसी भावनावाला होगा, वैसा ही शरीर उत्पन्न होगा। चित्त जैसा होकर सोता है, रात के

समय स्वप्न में वही बनकर रहता है ॥२८॥

विषयों के वासना स्थापन में दृष्टान्त कहते हैं।

इमली का बीज शहद के रस से यदि सींचा जाय, तो अंकुर आदि के क्रम से वृक्ष बनकर फलने के समय भी शहद से अनुरंजित होकर मधुर होता है, वही बीज विष के प्रतिनिधिभूत धत्तूर, कंच आदि के रस से सींचा जाय, तो फलने के समय में भी कडुवा पैदा होता है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है ॥२९॥ महती शुभवासना से चित्त महान होता है। मनुष्य 'मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकार का मनोरथ होने पर इन्द्रतारूपी स्वप्न से युक्त होता है ॥३०॥ क्षुद्र वासना से चित्त तुच्छ क्षुद्रता को देखता है। पिशाच की भ्रान्ति से मनुष्य रात्रि में पिशाचों को देखता है ॥३१॥

निर्मलता का सम्पादन करने पर भी फिर व्युत्थान होने पर द्वैत के दर्शन से मलिनता की प्राप्ति होगी, ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

जैसे अत्यन्त निर्मल तालाब में मलिनता को स्थान नहीं मिलता, वैसे ही अत्यन्त मलिन तालाब में स्वच्छता को स्थान नहीं मिलता। इस श्लोक के उत्तरार्ध से थोड़े विवेक आदि से निर्मलता की स्थिति की प्राप्ति का वारण किया गया है ॥३२॥ मन यदि अत्यन्त कलुषित हो, तो फल भी वैसा ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मन यदि अत्यन्त निर्मल हो, तो फल भी निर्मल ही होता है ॥३३॥

यदि कोई कहे कि दुर्भिक्ष आदि देशोपद्रव से समाधि का भंग हो जाने पर फिर मलिनता की प्राप्ति होगी ? तो इस आशंका पर कहते हैं।

जैसे विरत उद्योगशील चन्द्रमा पूर्ण होने की आशा को नहीं छोड़ता वैसे ही दरिद्रता आदि से पीड़ित उद्योगशील उत्तम पुरुष भी समाधि आदि चित्तप्रसन्नता की गति को कभी नहीं छोड़ता ॥३४॥

अथवा तत्त्वज्ञान से बाधित होने के कारण ही हजारों उपद्रवों के रहते भी कलुषिता की प्राप्ति नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

न तो यहाँ बन्धन है, न मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है और न बन्धनवत्ता है। यह माया इन्द्रजाल की लता की तरह मिथ्या ही उत्पन्न हुई है ॥३५॥ गन्धर्वनगर के समान, मृगतृष्णा के तुल्य एवं द्विचन्द्रभ्रम के तुल्य यह माया उदित हुई है। यह सब द्वैत और एकत्वरहित ब्रह्मसत्ता ही है, इस प्रकार की जो प्रतीति है, वह परमार्थता है। मैं असन्मय अतएव निःसार हूँ, मैं अपरिच्छिन्न नहीं हूँ अतएव क्षुद्र हूँ, इस प्रकार के दूषित निश्चय से उत्पन्न हुआ यह संसार परिस्फुरित हो रहा है। मैं अपरिच्छिन्न हूँ, अतएव सर्वशक्तिशाली हूँ, इस निश्चय से वह विलीन हो जाता है ॥३६-३८॥ सर्वव्यापक, स्वच्छ, आत्मा में 'मैं यह देह मात्र हूँ' इस प्रकार की जो भावना है, यह लोक में अपने विकल्पों से कल्पित उसका बन्धन है ॥३९॥ बन्धन-मोक्ष अवस्थाओं से रहित, द्वित्व-एकत्व से शून्य यह सब ब्रह्मसत्ता ही है, इस प्रकार की जो प्रतीति है, वह परमार्थता है ॥४०॥ निर्मलता की अधिकता से जिसे स्वविनाशप्रायः प्राप्त हो गया है, अतएव अमनस्ता को प्राप्त, सम्पूर्ण द्वैतद्रष्टियों में आसक्तिरहित मन इस अधिकारी शरीर में ही ब्रह्म का दर्शन करता है, अन्यथा नहीं कर सकता है ॥४१॥ समाधि के अभ्यास से उत्पन्न धर्मवृद्धि रूप जल से निर्मलता को प्राप्त हुआ मन इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदर्शन का ग्रहण करता है, जिस प्रकार सफेद वस्त्र रंग का ग्रहण करता है ॥४२॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्दजी, सब कुछ मेरी आत्मा है, इस प्रकार

की सर्वात्मभावना से हेयोपादेयरूपी बल के विनष्ट होने पर बन्ध की अपेक्षा रखनेवाले मोक्ष का भी आप त्याग कीजिये ॥४३॥ शुद्ध मन का उत्तम स्फटिक मणि के तुल्य अधिकारी-अनधिकारी शरीररूप का अभिमान होने से पहले शरीररूप से, तदनन्तर सत्शास्त्रों के श्रवण का अभिमान होने से शास्त्ररूप से तथा वैराग्यरूप से, तदनन्तर आत्मबोध होने से बोधरूप से जो विविध प्रकाश है, वही संसार है ॥४४॥

द्वैतदर्शन के समय ही बन्धनप्राप्ति को और आत्मदर्शन के क्षण में तुरन्त मोक्षप्राप्ति को हाथ में स्थित आँवले के समान पृथक् करके दिखलाते हैं।

बाह्य पदार्थों के साथ एकता को प्राप्त मन आत्मा के साथ एकता को प्राप्त नहीं होता। बाह्य पदार्थों में एकता को आप क्षण में विनष्ट होनेवाली असत्य ज्ञानदृष्टि समझिये ॥४५॥ बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के साथ सब दृश्य दृष्टि का त्यागकर जब मन स्थित होता है तब परम पद को प्राप्त हो उसमें लीन होकर स्थित होता है ॥४६॥ जो यह स्फुट दृश्य दृष्टि है वह अवश्य असन्मयी है, मन के स्वरूप को भी आप उक्त असत् दृश्यमय ही जानिये। दृश्य से अतिरिक्त मन का कोई स्वरूप नहीं है ॥४७॥

दृश्य और दृष्टि असन्मय कैसे हैं ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आदि और अन्त में असद् होने के कारण मध्य में भी वह असन्मय ही है। इस प्रकार मन असद् है, ऐसा जिसने नहीं जाना, उस पुरुष की दुःखिता हाथ में स्थित ही है, उसको खोजने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥४८॥

यह जगत आत्मा ही है, इस प्रकार के बोध के बिना यह दृश्य शोभा दुःखदायिनी है। उक्त बोध होने पर तो यह भोग-मोक्ष देनेवाली है ॥४९॥

लोकव्यवहार के समान ही शास्त्र में भी ज्ञानिता और अज्ञानिता का बोध करना चाहिये। वे कोई अपूर्व नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

जल पृथक् है और तरंग पृथक् है, इस प्रकार के नानात्व से अज्ञानिता होती है। जल ही तरंग है, इस प्रकार के एकत्व से ज्ञानिता होती है ॥५०॥

नानात्व का क्यों परित्याग करना चाहिये और एकत्व का क्यों ग्रहण करना चाहिये ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

हेयोपादेयरूपी जो नानात्व है, वह असत् है, इसीलिए वह जन्म-मरण आदि दुःख की ओर ले जाता है; अतः वह हेय है। नानात्व के न रहने से आत्मतत्त्व का ज्ञान होने के कारण अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व ही अवशिष्ट रहता है, अतः एकत्व उपादेय है, यह अर्थ है ॥५१॥

यदि कोई कहे, अत्यन्त प्रिय, मन बुद्धि आदि द्वैत के सत्य होने से और आत्मा के उपकरण होने से उनका नाश होने पर धनादिनाश के समान शोक ही होगा ? तो इस पर कहते हैं।

मन का स्वरूप संकल्प से कल्पित है, इसलिए वह असन्मय है। हे श्रीरामचन्द्रजी, भला बतलाइये तो सही, असन्मयवस्तु का नाश होने पर क्या कभी किसी को शोक हो सकता है ?॥५२॥

राग और द्वेष के रहने पर इष्ट वस्तु के वियोग से और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से शोक होता है। राग और द्वेष का त्याग करके उदासीन दृष्टि से तीनों देहों को देख रहे पुरुष को उनसे शोक प्राप्ति नहीं हो सकती, इस आशय से भी कहते हैं।

जिस बन्धु में स्नेह नहीं है, वह बन्धु जैसे रागद्वेषरहित बुद्धि से देखा जाता है वैसे ही आप पृथिवी आदि भूततत्त्वरूप अपने त्रिविध शरीर को राग–द्वेषरहित बुद्धि से देखिये ।।५३।। जैसे स्नेह रहित बन्धु के मिलने से पुरुष को न तो सुख होता है और न उसके वियोग से दुःख होता है वैसे ही यथार्थरूप से ज्ञान होने के कारण भूतसमूहमात्र स्वभाववाले अपने देह पिंजर से पुरुष को न सुख होता है और न दुःख होता है ।।५४।।

जिस अधिष्ठान में मन का क्षय हो जाता है, उसका स्वरूप कहते हैं।

वह वस्तु अनादि नित्य निरतिशयआनन्दरूप द्रष्टा और द्रश्य का मध्य यानी दृग्रूप ज्ञान है। उस सत्य में मन वायु के नष्ट होने पर धूलि कणों के समान शान्त हो जाता है ।।५५।।

मन के नष्ट होने पर स्थूल देह भी असत् हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

मनरूपी वायु के नष्ट होने पर स्थूलदेहरूपी धूलि भी नष्ट हो जाती है। फिर संसार के नगर के तुल्य अधिष्ठानभूत परमात्मा में कुहरे के समान आवरण करनेवाली अविद्या नष्ट होने के कारण कदम नहीं रखती ।।५६।।

अविद्या के क्षय के प्रकार का ही शरत्काल के रूपक से वर्णन करते हैं।

वासनारूपी वर्षा ऋतु का क्षय होने पर मन के स्वरूपस्थिति में विहार को प्राप्त होने पर हृदय को कँपानेवाली अज्ञानिताके हृदयको कँपानेवाले शैत्य से युक्त कीचड़ के समान नष्ट होने पर, तृष्णारूपी गड्ढों के सूखने पर, हृदयरूपी जंगल के रागादिरूपी झाड़ियों के छटने के कारण विरल और शान्त होने पर, इन्द्रियसमूहरूपी कदम्बवृक्षों के फलरहित होने पर तथा मिथ्याज्ञानरूपी मेघ के छिन्न–भिन्न होने पर मोहरूपी कुहरा प्रभात होने पर रात्रि के समान नष्ट हो जाता है। जैसे मन्त्र से हटाया गया विष न मालूम कहाँ चला जाता है वैसे ही वह जड़ता न मालूम कहाँ चली जाती है। देहरूपी पर्वत पर भयरूपी क्षुद्र नदियाँ बिलकुल नहीं बहती। चमकीले पंखवाले संकल्परूपी बड़े–बड़े मोर नहीं नाचते। संविद्रूपी आकाश अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त होता है। अत्यन्त स्वच्छ अतएव महान अभ्युदय को प्राप्त हुआ जीवरूपी आदित्य अत्यन्त सुशोभित होता है, मेघरूपी निबिड़ अज्ञान से छोड़ी गई अतएव परम शुद्धता को प्राप्त हुई तृष्णारूपी महादिशाएँ समाधिरूपी सूर्योदयकाल में धूलि से अदूषित होकर प्रकाशित होती हैं। निर्मल पुण्यफल का अनुसरण करनेवाली चित्तवृत्ति रूप चित्ताकाश की मंजरी, जिसने दिग्मण्डलों को शीतल कर दिया, शरत्काल के आकाश में चाँदनी के समान खूब शोभित होती है। खूब परिशोधित विवेकरूपी भूमि सब विषयानन्दों को अपने में अन्तर्भूत करके परम आनन्द का प्रकाश करनेवाले आत्मरूपी फल से खूब सफलता को प्राप्त होती है ।।५७–६४।। पर्वत और वनों की विशालता से युक्त भुवनान्तर के तुल्य शरीर आत्मप्रकाशरूपी सूर्य–चन्द्रमा से अत्यन्त सुन्दर, त्रिविध ताप से शून्य, चिदाभास की छाया से युक्त तथा अत्यन्त निर्मल हो जाता है ।।६५।। परिच्छेद के हट जाने से विस्तारित, विवेकररूपी जल की वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त किया गया, रजोगुणरहित हृदयरूपी कमलकोशवाला, स्फटिक की आकृति के तुल्य स्वच्छ हृदयरूपी सरोवर सुन्दर पुष्पों से युक्त हो जाता है यानी खिल जाता है। हृदयरूपी पद्माकाश से मलिन और चंचल अपना अहंकारूपी भ्रमर फिर दर्शन न देने के लिए ही न मालूम कहाँ चला जाता है ।।६६,६७।। वासनारहित और शान्तचित्त हुआ अपने

देहरूपी नगर का अधिपति यानी जीव संकोचरहित, सर्वव्यापक और सबका अधिपति हो जाता है ॥६८॥

वासनाक्षय के फलों को विस्तार से कहकर उन्हीं से जीवन्मुक्ति की स्थिति दिखलाते हैं।

चित्त के सर्वथा विगलित होने पर अपने दोषों का तिरस्कार कर धीर हुई बुद्धि से युक्त तथा मृत्यु और जन्मों में पारलैकिक और इहलौकिक गतियों को नीरस देख रहा पुरुष विचार द्वारा आत्मरूपी दीपक पाकर जीवन्मुक्त और तापरहित होकर देहरूपी नगर में विराजमान होता है ॥६९॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

अपने-आप स्थित असक्त ही चित् की सर्वत्र स्थिति है तथा
चित् की ही सर्वत्र स्थिति से संपूर्ण पदार्थों की स्थिति है, उनकी पृथक् स्थिति नहीं है, यह वर्णन।

अब जगत स्थितिरूप प्रकरण के मुख्य अर्थ को जानने के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, विश्वातीत इस चिदात्मा में यह इस प्रकार विश्व, जिसका कि पहले वर्णन कर चुके हैं, जैसे स्थित है, उसे ज्ञानवृद्धि के लिए पुनः मुझसे कहिये ॥१॥

ब्रह्मसत्ता से ही जगत की स्थिति है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। प्राणियों को पृथक् अपनी सत्ता से जो जगत की स्थिति प्रतीत होती है, वह ब्रह्मस्वरूप स्थिति के ज्ञात न होने के कारण ही है, यों समाधान करने के लिए श्रीवसिष्ठजी समाधानानुरूप दृष्टान्त कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे होनेवाली अनभिव्यक्त तरंगें जल में अभिन्नरूप से स्थित हैं, भिन्नरूप से उनकी सत्ता नहीं है वैसे ही चित्तत्त्व में ये सृष्टियाँ सद्रूप आत्मा से पृथक्रूप से स्थित नहीं हैं, क्योंकि उनकी स्वतः सत्ता नहीं है। उसकी सत्ता से ही स्थित है ॥२॥

जब आत्मस्थिति से ही सबकी स्थिति है, तो आत्मा का सर्वत्र दर्शन क्यों नहीं होता ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे सर्वव्यापक आकाश आदि भी सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता वैसे ही निरवयव शुद्ध चेतन सर्वव्यापक होने पर भी नहीं दिखाई देता ॥३॥ जैसे मणि के अन्दर प्रतिबिम्ब भली-भाँति स्थित-सा चारों ओर प्रतीत होता है, वह न तो सत्य है और न असत्य है, वैसे ही आत्मा में यह सृष्टि है ॥४॥ जैसे अपने आधारभूत और अपने में स्थित मेघों से आकाश स्पृष्ट नहीं होता वैसे ही चित् में स्थित और अन्योन्याध्यासवश चित् की आधारभूत सृष्टियों से परम चित्त्व स्पृष्ट नहीं होता ॥५॥

यदि कोई कहे ऐसी अवस्था में सूक्ष्म चिति घट आदि की तरह देह में भी नहीं दिखाई देनी चाहिये; पर दिखाई देती है, इसमें क्या कारण है ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल में संयुक्त किरण स्पष्ट नहीं दिखाई देती, प्रतिबिम्बरूप से तो स्पष्ट दिखाई देती है वैसे ही पुर्यष्टकरूप (卐) देहों में ही चिति दिखाई देती है, घटादि में नहीं दिखाई देती ॥६॥

卐 भूतेन्द्रिय मनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिशत्तमैः॥
पुर्यष्टकशब्द से श्लोकोक्त भूत आदि आठ कहे जाते हैं।

उस चिति की प्रतिबिम्बता प्रतिबिम्बाधीन काम, संकल्प, नाम और रूप से युक्त होने के कारण वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

वह चिति सब संकल्पों से रहित, सब नामों से शून्य और अविनाशी स्वरूप है।

शंका : तब उसकी जीवादि संज्ञा किसके कारण हुई।

समाधान : उसके आधीन चेत्य तथा चिदाभास से ही उसकी जीवादि संज्ञा हुई है ॥७॥

चिति की सूक्ष्मता और स्वच्छता का विचार करने पर आकाश भी उसकी अपेक्षा सौगुना स्थूल और सौगुना मलिन प्रतीत होता है, इस प्रकार विद्वानों के अनुभव से कहते हैं।

ज्ञानियों के अनुभव में तो सारे संसारस्वरूप को निष्कल बनानेवाला, ऐकात्म्यदर्शनशील आकाश से भी सौगुना स्वच्छ वह चित्तत्त्व निष्कलरूपी ही है ॥८॥

इसीलिए उसमें भ्रान्ति से देखे गये भावों के विकार पृथक् नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे जलरूप सागर में तरंगादिमयी प्रचुर भिन्नता जल से अतिरिक्त विकारवाली नहीं है वैसे ही चिद्रूप सागर में त्वत्ता–अहन्तामयी प्रचुर भिन्नता चिन्मात्र से पृथक् नहीं ही प्रकाशित होती है ॥९,१०॥ चिति विषय की अभिवृद्धि करती है, ऐसा यदि मानते हो, तो चिति चिति की वृद्धि करती है, ऐसा समझो, क्योंकि चेत्य (विषय) कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। इस प्रकार मनन करने से चिति का अपने में व्यापार न होने से यह चित्स्वरूप आत्मा में ही स्थित है कुछ अभिवृद्धि नहीं करता, ऐसा निष्कर्ष निकलता है, यह परमार्थ दृष्टि है। जो अज्ञानी होता हुआ भी अपने को ज्ञानी समझता है, उसीकी दृष्टि से सृष्टियों में चित् से अतिरिक्त प्राप्त हुआ था और है, ऐसी कल्पना है ॥११॥

उसी चिति को ज्ञानी और अज्ञानी की कल्पना से फिर विभाग करके कहते हैं।

अज्ञानियों में यह चिति असत्स्वभाव भीषण जन्म–मरणरूप संसार परम्पराओं को अपने गर्भ में धारण करनेवाली है। ज्ञानियों की दृष्टि में तो सब की एक आत्मा होकर प्रकाशरूप ही है ॥१२॥

वही चिति जगत को प्रकाश, भोग और जन्म देनेवाली है, ऐसा कहते हैं।

उस चित्तत्त्व का दूसरा नाम अनुभूति है, उक्त अनुभूति से ही वह सूर्य चन्द्रादि को प्रकाशित करता है, सब प्राणियों के विषयभोग में निमित्त है और संसार का भोग करनेवाले जीवों के जन्म आदि में भी वही निमित्त है, क्योंकि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' ऐसी श्रुति है ॥१३॥

अज्ञानियों की दृष्टि से जन्म आदि की निमित्त होने पर ज्ञानियों की दृष्टि से वह कूटस्थ अपरिच्छिन्न एकरूप ही है, ऐसा कहते हैं।

उक्त चित्तत्त्व न तो नाश को प्राप्त होता है, न उदित होता है, न उत्थान को प्राप्त होता है, न स्थित होता है, न आता है, न जाता है, न यहाँ पर है और न यहाँ पर नहीं है, किन्तु सर्वत्र एक रूप से स्थित है ॥१४॥ यह निर्मल चिति स्वयं अपने स्वरूप में स्थित है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जगतनामक प्रपंच से विवर्त रूप में स्थित है ॥१५॥

चिति का विवर्त भी परमार्थदृष्टि से चिद्रूप ही है, इस आशय से दो दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे तेज के पुजों से तेज ही स्फुरित होता है और जैसे जल के प्रवाहों से जल ही स्फुरित होता है वैसे ही अपने स्पन्दरूप सर्गभ्रान्तियों से चित्तत्त्व ही स्फुरित होता है ॥१६॥

स्वतः शुद्ध का अविद्या द्वारा सर्गभ्रमरूप से परिस्फुरण ही सृष्टि कर्तृत्व है, अन्य प्रकार की सृष्टिकर्तृता उसमें नहीं है, यह दर्शाने के लिए उसके उपयोगी दो रूप दिखलाते हैं।

व्यवहारतः सर्वव्यापक, आत्मरूप से उदित हुए अतएव परमार्थतः प्रकाशरूप, मैं नहीं जानता हूँ इस प्रकार के व्यवहार से अप्रकाश एवं परमार्थतः निरंश और व्यवहारतः अंशधारी, अविद्या में अपने प्रतिबिम्बरूप कृत्रिम वेष से अनन्त (परम अपरिच्छिन्न) स्वरूप का त्याग करते हुए 'यह मैं हूँ' इस अभिमान से शनैः शनैः जीवपद को प्राप्त हो रहे चित् नामवाले अपने स्वभाव से इस विभिन्नता के बद्धमूल होने पर, संसार के साथ–साथ यह है, यह नहीं है, यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, इस प्रकार के इष्ट और अनिष्टों के ग्रहण और त्याग के स्थानभूत देहात्मभाव की स्थिति को प्राप्त होने पर सैकड़ों शरीरों से विहित और निषिद्ध कर्मों से भोग्य जगत को वह चित्तत्त्व बनाता है और वस्तुतः नहीं भी बनाता है। वही चैतन्य पृथिवी के अन्दर स्थित अंकुरों के समूहरूप से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१७–२०॥

पृथ्वी के अंकुररूप से बढ़ने में अन्य आकाशादि भूतों के रूप से वही अनुकूलता का आचरण करता है, यह बतलाते हैं।

यदि आकाश सम्पूर्ण मूर्त पदार्थों के अविरोधी छिद्र को न दे, तो निरवकाश होकर अंकुर बाहर न निकले, इसलिए आकाशरूप से वह छिद्र देता है। स्पन्दात्मक वायुरूप से वह उसका आकर्षण करता है जिससे अंकुर बाहर निकलता है। जलरूप होकर रसरूप से अंकुर को स्नेह युक्त करता है, दृढ़ पृथिवीरूप से अपनी दृढ़ता को देकर वह अंकुर के ऊपर अनुग्रह करता है, तेजरूप से अपना रूप देकर अंकुर को प्रकट करता है, इसी प्रकार सकलजगतरूप से वह तत्–तत् कार्यों का स्थिति और अविद्या द्वारा अनुग्राहक है। हेमन्तादि कालरूप से भी वह जव आदि के अंकुरों के विरोधी दोषों की उत्पत्ति को रोकने और फल के अंकुरों की उत्पत्ति के अनुकूल होने से उनका अनुग्राहक है ॥२१,२२॥ पुष्पों में धीरे–धीरे केसर का संचय कर चित्तत्त्व ही गन्धता को प्राप्त होता है। मिट्टी के अन्दर स्थित रसस्वरूपता को प्राप्त हुआ चित्तत्त्व ही वृक्ष की वृद्धि द्वारा वृक्ष के मूल के तने के आकार को प्राप्त होता है ॥२३॥ मूल में स्थित सुन्दर रसभाव को प्राप्त हुआ चित्तत्त्व ही फलरूपता को प्राप्त होता है वैसे ही मूल में स्थित रस पल्लवों में प्रविष्ट हो रेखा बनकर पत्र आदि के रूप को प्राप्त होते हैं ॥२४॥ इन्द्रधनुष के वृक्षों में नवीनता का सम्पादन करता हुआ वह चित्तत्त्व ही अवयवों से और समूह से जो–जो भाव निरन्तर होते हैं उन पर अनुग्रह करता है ॥२५॥

ऋतु के रूप से भी चित्तत्त्व ही कार्यों पर अनुग्रह करता है, ऐसा दर्शाते हैं।

फूल और पल्लवों की राशियाँ वसन्त को प्राप्त होती हैं यानी वसन्त बनकर चित्तत्त्व ही फूल, पल्लव आदि की राशियों को उत्पन्न करता है। सूर्य के तेज की तापशक्तियाँ ग्रीष्म ऋतु को प्राप्त होती हैं यानी चिति ही ग्रीष्म ऋतु बनकर सूर्य की तापशक्तियों को उत्पन्न करती है। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिए। नीली मेघघटाएँ वर्षा ऋतु चाहती हैं तथा सब धान आदि की फलराशियाँ शरद् ऋतु का अनुसरण करती हैं। हेमन्त ऋतु में दशों दिशाएँ हिम यानी बर्फ रूपी हारसे युक्त होती हैं और शिशिर ऋतु में शितल वायु जल को पत्थर बना देते हैं ॥२६–२८॥

वर्ष, युग आदिरूप से भी चित्तत्त्व ही सृष्टि आदि की मर्यादा रखता है, ऐसा कहते हैं।

वर्ष आदिरूप कालरूप से वही अपनी इस युगमयी मर्यादा को नहीं छोड़ता सृष्टियाँ नदियों की तरंगों के समूहों की तरह जाती हैं ॥२९॥

नियति आदिरूप से भी वही (चित्तत्त्व ही) जगत की मर्यादा का स्थापन करने वाला है, ऐसा कहते हैं।

स्थिरता रूप चतुरता को करनेवाली नियतिरूप से वही स्थिति को प्राप्त होता है। उसी के कारण सब जनों की आधारभूत और धीर पृथिवी प्रलय तक स्थिर रहती है ॥३०॥ चौदह भुवनों के अन्दर चौदह प्रकार के प्राणी, जिनके विविध प्रकार के आचार-व्यवहार हैं और विविध रचनाएँ हैं, पुनः-पुनः लीन होते हैं और पुनः-पुनः उत्पन्न होते हैं। तत्त्वज्ञान से प्राणियों की जन्म-मरणप्रवाह परम्परा ऐसे दूर होती है, जैसे कि जल के बिना बुद्बुद ॥३१,३२॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही विस्तारपूर्वक उपसंहार करते हैं।

पूर्वजन्म के संकल्पों की वासनाओं के कारण उत्पन्न हुई विविध प्रकार की अभिलाषावाली अतएव मुग्ध इसलिए काल से विवश करोड़ों ब्रह्माण्डरूप और उनके अन्तर्गत प्राणीरूप बेचारी जनता उन्मत्त के समान इस लोक में जन्मों द्वारा आती है, परलोक में जाती है, स्थावर आदि अनेक जन्मों द्वारा यहाँ पर चारों ओर रहती है, भोगों की उत्कण्ठा से ऐहिक और पारलौकिक भोगों के उपायरूप धन, धर्म आदि स्वार्थों का उपार्जन करती है। इस प्रकार जन्म और नाशों से संसार में वह घूमती है ॥३३॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

अविद्या, काम और कर्म से आत्मा के अनात्मभाव की प्राप्ति,
तदनन्तर ज्ञान का, मन का अभाव और निष्कर्मता से स्वरूपावस्थिति का वर्णन।

चिद्रूपस्थिति ही जगत की स्थिति है, क्योंकि चित् का ही जगद्रूप से अवस्थान है, यह कहने के लिए पूर्वोक्त विषय का अनुवाद करते हैं।

इस प्रकार चारों ओर स्थित, स्थिर आकारवाली, ब्रह्म की स्वभावभूत ये सब संसार पंक्तियाँ फिर आती और जाती हैं ॥१॥ परस्पर एक-दूसरे के प्रति कारणता को प्राप्त हुआ यह सारा जगत अधिष्ठान चैतन्य से ही उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार एक-दूसरे से परस्पर नष्ट होता हुआ यह अधिष्ठानचैतन्य में ही लीन हो जाता है। जैसे अगाध जल के मध्य में जल से अव्याप्त प्रदेश के न होने के कारण जल का स्पन्दन भी स्वतः अस्पन्दन ही है वैसे ही असत् और सत् यानी जड़ जगत और जीवरूप से यह चिति ही प्रतीत होती है ॥२,३॥ जैसे निराकार आकाश में धूप से मृग मरिचिका दिखाई देती हैं वैसे ही निराकार चित्तत्त्व में ये सृष्टियाँ दिखाई देती हैं। जैसे नशे के कारण चक्कर न खाता हुआ भी अपना आत्मा चक्कर खाता हुआ-सा प्रतीत होता है वैसे ही चित् होने के कारण चिन्मय वही वस्तु अचित्-सी स्थित हैं ॥४,५॥

पूर्वोक्त अर्थ को हृदयंगम करने के लिए जगत् की अनिर्वचनीयस्वभावता दर्शाते हैं।

असत् से ही जगत अपना वेष धारण करता है; इसलिए उसकी असत्ता नहीं कही जा सकती। उसका बाध होता है, अतएव सत्ता भी नहीं कही जा सकती, इसलिए यह जगत न तो सत् है, और न

असत् है, किन्तु अनिर्वचनीय है। जैसे कि कटक आदि में सुवर्णता उनसे अतिरिक्त नहीं है और उनसे अतिरिक्त भी है ॥६॥

यदि कोई शंका करे कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है, ऐसा सुना जाता है। प्रत्यक् चैतन्य का तो वह विवर्त नहीं सुना जाता, तो इस पर प्रत्यक् चैतन्य ही ब्रह्म है ऐसा दर्शाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होता है वही यह प्रत्यगात्मा परब्रह्म सबको व्याप्त करके स्थित है।

येन रूपंरसंगन्धं शब्दान्स्पर्शांश्चमैथुनान।
एतैनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वै तत्॥

(जिस देहादि व्यतिरिक्त अपरोक्ष साक्षिभूत आत्मा से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और स्त्रीसंसर्गजन्य सुखविशेष को सब लोग स्पष्टरूप से जानते हैं, देह आदि से व्यतिरिक्त इसी आत्मा से देहादि लक्षण रूप आदिको भी जानते हैं। इस लोक में उस आत्मा से अतिरिक्त कौन वस्तु अवशिष्ट रहती है अर्थात् सभी वस्तु को आत्मरूप से समझना चाहिए। जिस आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु परिशिष्ट नहीं रहती, वही परमपद है) इस काठक श्रुति में ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह भाव है ॥७॥

यदि कोई शंका करे, प्रत्यगात्मा बहुत हैं, ब्रह्म एक है, इसलिए उन दोनों की एकता कैसे ? तो इस पर नानात्व और एकत्व मिथ्या है, इसलिए उक्त शंका उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

बहुत्व और एकत्व से परे, सर्वव्यापक, निर्मल आत्मा से अतिरिक्त कहीं कोई दूसरी कल्पना नहीं है। भाव यह कि नानात्व और एकत्व यदि सत्य होते, तो उनकी एकता न हो सकती। वे मायिक हैं, अतएव उक्त दोष नहीं है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्य वस्तु का अस्तित्व और अभाव, शुभ और अशुभ सृष्टियाँ मायिक दृष्टि से अनात्मभूत माया में ही वासनावश कल्पित हैं अथवा परमार्थदृष्टि से एकमात्र आत्मा होने के कारण आत्मा में ही वासनावश कल्पित हैं ॥९॥

पूर्वोक्त पद्य में 'अथवाऽऽत्मनि' से जो दूसरा पक्ष कहा गया है, उसकी युक्ति और प्रयोजन द्वारा गद्यों से उपपत्ति करते हैं।

आत्मा से अतिरिक्त वस्तु के सिद्ध होने पर उसमें इच्छा होती है यानी जब आत्मरूप सृष्टि आत्मा में ही है यह पक्ष है, तब आत्मा से अन्य सृष्टि नहीं है। इच्छापूर्वक ही सृष्टि होती है, क्योंकि *'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'* इत्यादि श्रुति है। आत्मा में आत्मा की इच्छा का होना असिद्ध है, आत्मा से पृथक् कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, जिसकी इच्छा से आत्मा सृष्टि करके भी किस फल के लिए आत्मा प्रयत्न करे और प्रयत्न करके भी क्या फल पाये ? ॥१०॥ इसलिए यह अभीष्ट है और यह अनिष्ट है, इस प्रकार के विकल्प आत्मा को स्पर्श नहीं करते। इसलिए इच्छा न होने पर आत्मा कुछ भी नहीं करता। करे भी कैसे ? कर्ता, करण और कर्म सभी एक ही हैं और न कहीं पर स्थित होता है, क्योंकि आधार और आधेय एक ही है। नैष्कर्म्य की सिद्धि भी कर्म का फल नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म की सिद्धि होने पर नैष्कर्म्य सिद्धिरूप फल होता है। इच्छारहित में कर्म की सिद्धि ही नहीं है, इसलिए इच्छारहित आत्मा का नैष्कर्म्य भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि कर्म आदि दूसरी कल्पना का अभाव है ॥११॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रकारों से अन्य साफल्य आदि की कल्पना है ही नहीं। यही ब्रह्म संस्थिति है। यदि इसमें आप

अन्य कल्पना को जानते हैं, तो सब द्वन्द्वों से रहित और सब सन्तापों से शून्य होते हुए भी आप कर्ता (संसारी) बनिये, मैं आपको रोकता नहीं हूँ, यह भाव है ॥१२॥

अज्ञानितादशा में भी भौतिक शरीर ग्रहण द्वारा कर्तृत्व होने पर भूतों से भूतों का निर्माण कर भौतिक फल प्राप्त किये जाते हैं, असंग उदासीन आत्मरूप नहीं। ज्ञान दशा में तो कर्म और उसके फल का असंभव है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए कर्तृत्व में आपकी आस्था होना उचित नहीं है, इस आशय से गद्यों में कहे गये अर्थ के समर्थन के लिए पद्य का अवतरण करते हैं।

हे रामचन्द्रजी, और भी सुनिये, आपको कर्तुत्व के आग्रह से बार-बार कार्य करके विषयों द्वारा देहभूतों के उपाय से अतिरिक्त क्या फल प्राप्तव्य है ? जो फल नित्य निरतिशयानन्दरूप आपके लिए उचित हो, उसे आप कहिये। इसलिए सब कर्तृत्वाभिनिवेश का त्यागकर स्वरूपोचित अकर्तृत्व से ही श्रुति और गुरु के वचनों से आत्मज्ञानी हुए तथा अधिकारयुक्त आपकी आस्था हो। इससे आप निर्वात सागर की तरह निश्चल और स्वच्छ हो आत्मस्वरूप में स्थित होइये ॥१३॥

विस्तारपूर्वक कहे गये अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

जिस साधन से अपरिच्छिन्न सुखलाभ द्वारा पूर्णकामता प्राप्त होती है, वह साधन बड़े वेग से दिशाओं के अन्त तक भी घूमकर प्रचुर यत्न करनेवाले पुरुष को भी प्राप्त नहीं होता। ऐसा निश्चयकर आप मन से भी बाह्य पदार्थों की ओर कदम न उठाइये। इस प्रकार सब क्रियाओं का त्यागकर अपने स्थान में ही आपको परम पुरुषार्थ प्राप्त हो जायेगा, आप केवल पराग्रूप से पृथक् ही नहीं हैं वरन परमार्थरूप से दृष्ट पूर्णानन्द चिदात्मा परम पुरुष भी हैं ॥१४॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

असंग आत्मा को जो नहीं जानता, उसके मन के संग से कर्तृत्व तथा
आत्मतत्त्वज्ञानी के अकर्ता और अभोक्ता होने से बन्ध के अभाव का वर्णन।

यदि कोई शंका करे कि तत्त्वज्ञानियों की भी लौकिक और शास्त्रीय कर्मों में कर्तृता देखी जाती है। वह अवश्य ही इष्ट और अनिष्ट के भोग को प्राप्त करायेगी, ऐसी अवस्था में अज्ञानी से तत्त्ववेत्ताओं में क्या अन्तर है ? इस पर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुख और भोगदेनेवाले कर्मों में या समाधि की अभ्यास परिपाकरूप भूमिकाओं में तत्त्वज्ञानियों का यह कर्म दिखाई देता है, वह असत् है, मगर मूर्खों का वह असत् नहीं है, यही तत्त्वज्ञानी और मूर्खों में अन्तर है ॥१॥ पहले विचार करना चाहिये कि कर्तृत्व किसे कहते हैं। शारीरिक क्रिया तो कर्तृत्व है नहीं, क्योंकि जो चेष्टा अबुद्धिपूर्वक की जाती है उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। किन्तु पूर्व-पूर्व कर्तृत्व की वासना से अनुरक्त मनोवृत्ति से उत्पन्न हुई, यह कार्य है, इस प्रकार की चित्तवृत्तिरूप से परिणत मानसिक क्रिया ही कर्तृता है ॥२॥

भोक्तृत्व भी उक्त कर्तृत्व के अधीन चेष्टावश तत्-तत् वासनानुरूप फलास्वाद से उत्पन्न वासना ही है, ऐसा कहते हैं।

चेष्टावश वासनानुरूप फलभोक्तृत्व होता है, क्योंकि वासना के अनुसार ही पुरुष चेष्टा करता है और चेष्टा के अनुसार ही फल भोगता है। कर्तृत्व से फल भोक्तृत्व होता है, ऐसा सिद्धान्त है ॥३॥

उक्त अर्थ में श्लोक को उद्धृत करते हैं।

कहा भी है : पुरुष चाहे कार्य करे या न करे फिर भी उसका मन जिस प्रकार की वासना से युक्त होता है, उसका स्वर्ग अथवा नरक में अनुभव होता है ॥४॥

भले ही वासना ही कर्तृता और भोक्तृता हो, फिर भी ज्ञानी और अज्ञानी के अन्तर की सिद्धि कैसे हुई, इस पर कहते हैं।

इसलिए जिन पुरुषों को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ, वे चाहे कर्म करें या न करें उनमें कर्तृता होती है, किन्तु जिन लागों को तत्त्व का परिज्ञान हो चुका, वासना रहित होने के कारण वे चाहे करें या न करें, उनमें कर्तृता नहीं होती ॥५॥

ज्ञानी में जो विशेषता पहले कही गई थी, उसीका उपपादन करते हैं।

जिस पुरुष को तत्त्व का परिज्ञान हो चुका, उसकी वासना शिथिल हो जाती है। अतएव वह कर्म करता हुआ भी कर्म के फल की आकांक्षा नहीं करता। आसक्ति रहित वह केवल चेष्टामात्र ही करता है। प्राप्त हुए कर्मफल को भी यह सब आत्मा ही है, यों अनुभव करता है। किन्तु भोग में आसक्त मनवाला अज्ञानी कर्म न करता हुआ भी कर्म करता है यानी कर्तृत्व से लिप्त होता है ॥६॥ मन जो करता है, वही कृत होता है। जो नहीं करता, वह कृत नहीं होता, इसलिए मन ही कर्ता है, देह कर्ता नहीं है ॥७॥ चित्त से ही यह संसार प्राप्त हुआ है, अतएव यह चित्तमय ही है। चित्तमय क्यों ? बल्कि केवल चित्तमात्र है तथा चित्त में ही स्थित है, ऐसा पहले विचारपूर्वक निर्णय किया जा चुका है। सब विषय और सब चित्तवृत्तियाँ ये दोनों जब शान्त होकर वासनारूप हो जाते हैं, तब वासना से उपहित जीव ही रहता है ॥८॥ उन जीवों में आत्मज्ञानियों का वह मन वर्षा ऋतु में मृग तृष्णा के जल की तरह विनष्ट होकर एवं तेज धूप में बर्फ के सदृश विलीन होकर तुरीय दशा को प्राप्त हो तुरीयारूप से स्थित रहता है, यह ज्ञानी में अज्ञानी की अपेक्षा विशिष्टता है ॥९॥

पूर्वोक्त मन की दशा का वर्णन करनेवाले श्लोक को उद्धृत करते हैं।

विद्वान लोग ज्ञानियों के मन को न तो विषयानन्द में आसक्त जानते हैं न स्वरूपानन्दशून्य, न चंचल, न पत्थर आदि के समान जड़, न स्थिर, न सत् न असत् और न उक्त आनन्द, निरानन्द, चल, अचल, सत्, असत् की सन्ध्यावस्थारूप ही जानते हैं, किन्तु उसे परिशेष एकमात्र भूमा आत्मसुखरूप जानते हैं ॥१०॥

ज्ञानी और अज्ञानियों की दूसरी विशेषता भी कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष जैसे हाथी छोटी तलैया में नहीं डूबता वैसे ही वासनामय चेष्टा रस में मग्न नहीं होता। मूर्ख का मन तो विषय भोगों को ही देखता है, परमार्थतत्त्व को नहीं देखता ॥११॥

अज्ञानी के मन के दुर्वासना दुःख में मग्न होने में स्वप्न दृष्टान्त है, ऐसा कहकर उसका उपपादन करते हैं।

अज्ञानियों के दुर्वासना दुःख में निमग्न होने का यह दूसरा दृष्टान्त है। पुरुष गड्ढे में न गिरता हो,

शय्यारूप आसन पर स्थित हो, फिर भी उसका चित्त गर्तपतन की वासना से वासित हो, तो वह गड्ढे में गिरने के दुःख का अनुभव करता है, दूसरा पुरुष तो भले ही गड्ढे में गिर रहा हो, मगर उसका मन परमशान्ति को प्राप्त हो चुका हो, तो वह शय्यारूप आसन के सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार इन शय्या और गर्तपतनों में एक पुरुष गर्तपतन का अकर्ता होता हुआ भी चित्तवश कर्ता बन गया और दूसरा पुरुष गर्तपात का कर्ता होता हुआ भी अकर्ता हो गया। इसलिए जिस तरह का चित्त होता है, वैसा ही पुरुष हो जाता है, ऐसा सिद्धान्त है ॥१२॥ इसलिए चाहे आप कर्म कीजिये या न कीजिये। आपका चित्त कर्मों में सदा आसक्तिरहित हो। आत्मतत्त्व से अतिरिक्त कुछ भी नही है, जिसमें कि तत्त्वज्ञानी आपकी आसक्ति की संभावना हो। इस जगत में यह जो कुछ भी है, वह सब शुद्धचित् होने के कारण केवल चित् का आभास ही है, ऐसा आप जानिये ॥१३॥ इस प्रकार जिस पुरुष को ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान हो चुका, उस पुरुष का आत्मा सुख और दुखों का विषय नहीं होता, ऐसा निश्चय होने पर, आत्मा से अतिरिक्त आधार और आधेय दृष्टियाँ नहीं है, यह निश्चय होने पर, अकर्ता, अभोक्ता, सब पदार्थों से अतिरिक्त बालके अग्रभाग के हजारवें हिस्से की तरह सूक्ष्म मैं हूँ। ऐसा निश्चय होने पर अथवा जो कुछ यह सब है, वह सब मैं ही हूँ, यह निश्चय होने पर, मैं सब पदार्थों का प्रकाशक सर्वगामी स्थित ही रहता हूँ, ऐसा निश्चय होने पर मैं सुख-दुःखों का विषय नहीं हूँ, यह निश्चय होने पर इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के चिन्तारूपी ज्वर से रहित होने के कारण चित्तवृत्ति आत्मा में ही प्रारब्ध भोग के लिए लीला प्रकट करती हुई व्यवहारों में स्थित रहती है ॥१४॥

इसलिए तत्त्वज्ञानी को संकटों में भी दुःख नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत आनन्द ही रहता, ऐसा कहते हैं।

इसलिए तत्त्वज्ञानी की चित्तवृत्ति संकटों में भी आनन्दित ही रहती है। केवल चाँदनी की तरह भुवनता को अलंकृत करती है यानी जैसे चाँदनी भुवनता को अलंकृत करती है वैसे ही वह भी जीवभाव को अलंकृत करती है, क्योंकि चित्त के बिना ज्ञानी कर्म करता हुआ भी अकर्ता है। वह मन के लेपक न होने के कारण हस्त-पाद आदि के विक्षेपरूप प्रयत्न से किये गये कर्म के फल का भी अनुभव नहीं करता ॥१५॥

सब कार्य, मन, बुद्धि उनके विषय और उनकी गतियों का मन ही बीज है, इसलिए मन का त्याग होने पर सब संसार का त्याग सिद्ध हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार मन सब कर्मों का, सब चेष्टाओं का, सब पदार्थों का, सब लोकों का और सब अवस्थाओं का बीज है। उसके चले जाने पर सब चेष्टाएँ चली जाती हैं। सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। सब पाप-पुण्य कर्म लीन हो जाते हैं। मानसिक कर्म से और शारीरिक कर्म से भी ज्ञानी आक्रान्त नहीं होता, न विवश होता है। उसमें शारीरिक या मानसिक कर्म का रंग नहीं चढ़ता, क्योंकि परमार्थतः उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥१६॥

कृत के भी अकृतत्व में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे बालक मन से नगर का निर्माण और निर्मित नगर का परिष्कार करता हुआ भी मन से किये गये नगर निर्माण का लीला से अकृत की तरह अनुभव करता है, उपादेयरूप से अनुभव नहीं करता। उनके सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ भी यह दुःख नहीं है, यों जानता है, इसी प्रकार ज्ञानी करता हुआ भी परमार्थतः लिप्त होता ही नहीं है ॥१७॥

इस प्रकार कर्तृत्व का विचार करके दुःख के कारण का विचार करते हैं।

जगत में हेयता और उपादेयता द्वारा व्यवहार के विषय सब पदार्थों में दुःख का कारण क्या है ? हेय तो दुःख का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि त्याग उपादान पूर्वक होता है, हेय के उपादेय न होने से ही उससे दुख की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये परिशेष से उपादेय ही दुःख का हेतु है, ऐसा मानना पड़ेगा। किन्तु उपादेय भी दुःख का कारण नहीं हो सकता। पहले यह बतलाइए, विनाशी उपादेय से दुःख होता है, या अविनाशी से ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि विनाशी अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, ऐसी अवस्था में वह किसी का कारण हो, यह सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपादेय जगत में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो आत्मा से अतिरिक्त और अविनाशी हो।

अतोऽन्यदार्तम्' इत्याति श्रुति से आत्मा से अतिरिक्त सब विनाशी कहा गया है, भाव यह कि आत्मा हानि और उपादान के अयोग्य है और आत्मा से अतिरिक्त उपादेय नश्वर है। इस तरह भोग्य दुःख के कारण निरूपण न होने से आत्मा अकर्ता और अभोक्ता है। कर्तृत्व का अनुभव होता है, वह अवास्तविकरूप से अध्यारोपित है। उस कर्तृत्व का जीवित पुरुष से निवारण नहीं हो सकता यानी जीवित पुरुष में कर्तृत्व अवश्य रहेगा ही, क्योंकि : 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य शेषतः' ऐसा भगवद्वाक्य है। उक्त कर्तृत्व सम्यग् ज्ञान के अभाव से है, वस्तुतः नहीं है। तत्त्ववस्तु के विचार से तो कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं हैं। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों के विषयों द्वेष, अभिलाषा आदि से एवं उसके निमित्तभूत पुण्य–पापरूप अदृष्टों से विवश बुद्धिवाले अज्ञानियों के ही वे (कर्तृत्व–भोक्तृत्व) देखे जाते हैं। इन्द्रियों के विषयों में द्वेष्य अभिलाषा आदि से तथा उनके निमित्तभूत पुण्य–पापरूप अदृष्ट से जिनकी बुद्धि विवश नहीं है, ऐसे ज्ञानियों के वे नहीं दिखाई देते ॥१८,१९॥

इसलिये तत्त्वज्ञानियों की मोक्ष कल्पना भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जिसका मन पूर्ण आत्मा में ही संलग्न है, उस ज्ञानियों की दृष्टि से संसार में मोक्ष नहीं है। आत्मा में जिनका मन संलग्न नहीं है, ऐसे देहाध्यासदृष्टि को प्राप्त लोगों की दृष्टि से तो यह बन्ध–मोक्ष आदि सब है ही ॥२०॥

ज्ञानी की दृष्टि तब क्या है। इस पर कहते हैं।

ज्ञानी की दृष्टि में केवल यथास्थित आत्मतत्त्व ही उल्लसित होता है।

शंका : यदि ज्ञानी की दृष्टि में आत्मतत्त्व ही उल्लसित होता है, तो उसकी व्यवहार सिद्धि कैसे होती है ?

समाधान : आत्मतत्त्व ही तत्त्वज्ञानी के जीवन आदि व्यवहार की सिद्धि के लिए द्वित्व–एकत्ववादियों की दृष्टि से सिद्ध द्वित्व और एकत्व को जीवन आदि के व्यवहारके समय करता है। सत्त्व और असत्त्व भी करता है तथा शक्ति समूह से अभिन्न सर्वशक्तिता भी दिखाता है ॥२१॥

अब पद्य द्वारा फलितार्थ कहते हैं।

न बन्धन है, न मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है और न बन्धन के कारण काम–कर्म आदि हैं। तत्त्व के अज्ञान से ही यह दुःख है, ज्ञान से लीन हो जाता है ॥२२॥

उक्त पूर्णात्मनिष्ठा का उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के लिए उपदेश देते हैं।

जगत में संकल्पित मोक्षबुद्धि असत्य ही है, जगत में संकल्पित बन्धबुद्धि भी असत्य ही है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बन्ध–मोक्ष आदि सबका त्यागकर अहंकारशून्य, आत्मनिष्ठ अतएव धीर बुद्धि से व्यवहार करते हुए भूलोक में स्थित होइये ॥२३॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

ब्रह्म की सर्वशक्तिता, श्रीरामचन्द्रजी के मोह का विस्तार,
उनके बोध के लिए श्री वसिष्ठजी के विचार आदि का वर्णन।

अज्ञदृष्टि में ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी गुरुवचनों में विश्वास होनेके कारण परोक्षरूप से ही पूर्णता स्थिति का आलोचन करके परस्पर विरोध का अनुभव करते हुए शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपके कथनानुसार बन्ध–मोक्ष आदि का असंभव रहने पर और एकमात्र परब्रह्म के ही विद्यमान रहने पर आधार के बिना ही चित्ररूप इस सृष्टि का आगमन कहाँ से हुआ ? हे महात्मन्, उसे आप कृपापूर्वक मुझसे कहिये ॥१॥

क्या ये अज्ञदृष्टि में रहकर शंका करते हैं, अथवा थोड़ी बहुत अभिज्ञता को प्राप्त होकर अज्ञता–अभिज्ञता के मध्यवर्ती होकर शंका करते हैं, ऐसी परीक्षा करने के लिए श्रीवसिष्ठजी सर्वशक्तितावाद के स्वीकार द्वारा श्रीरामचन्द्रजी की शंका को दूर करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राजकुमार, ब्रह्मतत्त्व का ही यह विवर्त है, वह ब्रह्म सर्वशक्ति है, कार्य से ही ब्रह्म में सर्वशक्तिता का अनुमान होता है ॥२॥

जिनमें शक्ति नहीं है, उन्हीं में विरोध होता है, सर्वशक्तिशाली में तो कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

ब्रह्म में सत्त्व–असत्त्व, द्वित्व–एकत्व, अनेकत्व, आद्यत्व और अन्तत्व सब कुछ है, किन्तु वे उससे अतिरिक्त नहीं हैं। जैसे समुद्र का जलप्रवाह चन्द्रोदय आदि से हुए अपने उल्लास द्वारा विकसित होकर तरंग ही नृत्य से अपने नानाकारता को दिखलाता हुआ प्रकट होता है, वैसे ही चिद्घन ब्रह्म चित्तोपाधि जीवभाव का तथा उसके चिदाभासरूप से चित्त होने के कारण कर्म, वासनामयी, मनोमयी सब शक्तियों का एक–एक करके संचय करता है और संचितों को फल द्वारा प्रकट करता है, उपभोग द्वारा धारण करता है, पैदा करता है, तिरोभाव से विनाश करता है ॥३–५॥

उक्त अर्थ में श्लोकों को उद्धृत करते हैं।

सभी जीवों की, सभी चारों ओर की दृष्टियों की, सभी पदार्थों की ब्रह्म से ही निरन्तर उत्पत्ति होती है ॥६॥ सागर में तरंगों के समान परमात्मा से सब उत्पन्न होते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं और चित् होने के कारण निरन्तर तन्मय ही हैं ॥७॥

इस प्रकार शक्तिवाद द्वारा श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान करने पर भी श्रीरामचन्द्रजी अग्नि में शैत्यशक्ति की तरह, जल में दाहशक्ति की तरह चिद्रूप ब्रह्म में विरुद्ध जाड्यशक्ति, अदृश्य ब्रह्म में दृश्य शक्ति तथा नित्यब्रह्म में अनित्यशक्ति की असम्भावना करते हुए फिर शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन् विरुद्ध होने के कारण आपके वाक्यार्थ का समझमें आना बड़ा कठिन है। अब तक भी मैं आपके वाक्यार्थ को नहीं समझ सका हूँ॥८॥ मन और इन्द्रियों की वृत्ति से परे ब्रह्मतत्त्व कहाँ ! उससे उत्पन्न हुई क्षणभंगुर पदार्थ शोभा से युक्त यह सृष्टि कहाँ ? यदि पदार्थ सृष्टि ब्रह्म से आई है, तो इसे ब्रह्म के सदृश ही होना चाहिए, विरुद्ध नहीं होना चाहिए ॥९॥ लोक में जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसके सदृश ही होता है, जैसे दीपक से दीपक, पुरुष से पुरुष तथा अन्न से अन्न। यदि यह ब्रह्म से अतिरिक्त है, तो निष्कलंक परमेश्वर की जो जगद्भावपत्ति आपने कही है, यह कलंकापत्ति की ही उक्ति कही जायेगी। यह सुनकर भगवान श्रीवसिष्ठजी ने कहा ॥१०–१३॥

तत्त्वदृष्टि से श्रीवसिष्ठजी जगत के चिद्भाव को एवं अविकारता को देखते हुए समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह ब्रह्म ही है, यहाँ पर मल नहीं है। सागर में तरंगसमूहरूप से जल ही स्फुरित होता है, धूलि तरंग समूहरूप से स्फुरित नहीं होती। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे अग्नि में एकमात्र उष्णता के सिवा दूसरी कल्पना नहीं है, वैसे ही एकमात्र ब्रह्म के सिवा यहाँ पर दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥१४,१५॥

अज्ञदृष्टि में ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी सर्वथा एकमात्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म की आनन्द विरुद्ध जगद्रूपता नहीं कही जा सकती है, यों जिद करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, ब्रह्म दुःखरहित तथा द्वन्द्वरहित है और उससे उत्पन्न हुआ जगत दुःखमय है, आपका यह अस्पष्टार्थ वचन मेरी समझ में नहीं आ रहा है ॥१६॥

इस प्रकार निरुत्तर हुए श्रीवसिष्ठजी का श्रीरामचन्द्रजी को समझाने के लिए उपाय का चिन्तन श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे वत्स, श्रीरामचन्द्रजी के ऐसा कहने पर मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए मन से विचार करने लगे कि अभी तक श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं हुई है। कुछ निर्मलता को प्राप्त हुई यह परमतत्त्व में प्राप्त कराई गई कही है ॥१७,१८॥ जो पुरुष जगत की जड़ता का परित्याग कर चिदेकरसता को देखने में समर्थ है, उस धीमान और ज्ञातज्ञेय (जिसने ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया है) एवं विवेक से जो मोक्ष के उपायभूत वचनों का पार पा गया है, उसकी दृष्टि से किसी वस्तु का कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि विरुद्धरूप जगत विज्ञानरूप आत्मा में कहीं पर भी नहीं है, हम जब तक श्रीरामचन्द्रजी को भली–भाँति उपदेश नहीं देंगे, तब तक श्रीरामचन्द्रजी विश्रान्ति को प्राप्त नहीं ही होंगे। इसलिए हमें इनको अवश्य उपदेश देना चाहिए, यह अर्थ है ॥१९,२०॥ परन्तु जिसकी मति पूर्णरूप से व्युत्पन्न नहीं हुई, उसको यह सब ब्रह्म ही है, यह पूर्वोक्त उपदेश नहीं भाता; क्योंकि यह अर्धव्युत्पन्न पुरुष दृश्यों को उपस्थित करनेवाली भोगदृष्टि से सदा ही दृश्यों की भावना करता हुआ तत्त्वबोध से च्युत हो जाता है ॥२१॥

तो कौन उस प्रकार के उपदेश का उपयुक्त पात्र है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

तत्त्वबोधरूप परमदृष्टि को प्राप्त हुए पुरुष को भोगेच्छा उत्पन्न नहीं होती। उसी पुरुष के लिए समय पर यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा परिनिष्ठित उपदेश उपयोगी होता है ॥२२॥

अर्धव्युत्पन्न पुरुष को किस प्रकार उपदेश देना चाहिए, इस पर कहते हैं।

पहले शम, दम आदि गुणों से शिष्य को विशुद्ध करे, तदनन्तर शुद्ध तुम यह सर्वात्मक ब्रह्म हो, ऐसा ज्ञान कराये ॥२३॥ अज्ञ को या अर्धप्रबुद्ध को 'सर्वं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) ऐसा उपदेश दे, उसने उस अज्ञानी को महानरक जालों में डाल दिया ॥२४॥ जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो गई है, भोगेच्छा क्षीण हो गई है और कामना मिट गई है, उस महात्मा में अविद्यारूपी मल नहीं है, अतएव उसके लिए यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा उपदेश देना उचित है ॥२५॥

जिसे तत्त्वज्ञान नहीं है, वही अनधिकारी को उपदेश देने के लिए प्रवृत्त होता है । शिष्यों को ठगनेवाले उस अतत्त्वज्ञानी का नरकपतन उचित है, इस आशय से कहते हैं ।

जो अत्यन्त विमूढ़बुद्धि (अतत्त्वज्ञानी) शिष्य की परीक्षा किये बिना उपदेश देता है, वह प्रलयपर्यन्त नरक को प्राप्त होता है ॥२६॥ ऐसा विचारकर अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश करनेवाले अतएव भूमि में स्थित सूर्य के सदृश मुनिश्रेष्ठ भगवान श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा ॥२७॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्म में कलंक है, अथवा नहीं, यह बात आप स्वयं जान जायेंगे । यदि स्वयं न जान सकेंगे, तो परिनिष्ठित उपदेश के समय यह मैं आपको बतलाऊँगा इस समय नहीं ॥२८॥

इस समय अर्धव्युत्पन्न पुरुष से कहने योग्य ब्रह्म की पूर्वोक्त सर्वशक्तिसम्पन्नता आदि और प्रत्यगात्मा के सबमें अहंभाव के दर्शन का पहले उपदेश देते हैं ।

ब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वव्यापक और सर्वगत है, प्रत्यगात्मा मैं ही सब हूँ, यों जानना चाहिए ॥२९॥

माया से ही ब्रह्म की सर्वशक्तिता और प्रत्यगात्मा की सर्वात्मकता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं ।

हे रामचन्द्रजी, ऐन्द्रजालिकों को आप देखते हैं, जैसे वे माया द्वारा विचित्र क्रियाओं को उत्पन्न करते हुए सत् को असत् बना देते हैं और असत् को सत् बना देते हैं वैसे ही यह आत्मा भी अमायामय होता हुआ भी परम ऐन्द्रजालिक की तरह मायामय होकर घट को पट बना देता है और पट को घट बना देता है । मेरु के सुर्वणमय तट पर नन्दनवन की तरह पत्थर पर लता पैदा कर देता है, कल्प वृक्षों पर रत्न के गुच्छों की तरह लता में पत्थरों को पैदा कर देता है । आकाशमें वन का आरोप कर देता है ॥३०॥

वस्तुव्यत्यय के समान देश-काल के व्यत्यय की भी माया शक्ति से ही संभावना करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

गन्धर्वनगर में उद्यान की तरह गगन में आगे होनेवाले उस जगत में कल्पना से नगरता को उत्पन्न करता है । आकाश को, जिसकी छायारूपी नीलता मानों नष्ट हो गई, पृथ्वी तल बना देता है ॥३१॥

तो क्या आकाश को नीचे रखने के लिए भूतल को कहीं दूसरी ओर ले जाता है, ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर नहीं ऐसा कहते हैं ।

गन्धर्वनगर के राजमहल में बहुत-सी महिलाओं की तरह भूतल में ही आकाश की स्थापना करता है ॥३२॥ जैसे पद्मराग मणि के महलों में आकाश का प्रतिबिम्ब आधार की लालिमा से ही लाल होता है, वैसे ही इस जगत में जो कुछ है, होगा और हुआ था, वह सब स्वतः असत् होता हुआ भी ब्रह्म की सत्ता से सत्-सा है, यह अर्थ है ॥३३॥ क्योंकि ईश्वर व्यक्तरूप हो विचित्रता को प्राप्त होकर अपने स्वरूप को दिखलाता है ॥३४॥

इस प्रकार एक वस्तु सब प्रकार से सब होती है, इसलिए इस विषय में असंभावना, हर्ष और क्रोध

आदि ठीक नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

चूँकि इस जगत में एक ही वस्तु सब जगह सब प्रकार से सब होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, हर्ष, क्रोध और आश्चर्य का अवसर ही कहाँ है ? ॥३५॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की असंभावना का निरास कर पूर्वोक्त समता स्थिति का ही विधान करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, धैर्यशाली पुरुष को सदा समता से ही रहना चाहिए ॥३६॥

तभी हर्ष, क्रोध, आश्चर्य आदि का आत्यन्तिक विनाश होता है, इस आशय से श्लोक उद्धृत करते हैं।

समतारूपी कवच से परिवेष्टित तत्त्वज्ञानी पुरुष आश्चर्य, गर्व, मोह, हर्ष, क्रोध आदि विकारों को कभी प्राप्त नहीं होता है ॥३७॥ समता का पर्यवसान होने पर देश और काल से युक्त जगत में ये विचित्र दृश्यरचनारूप युक्तियाँ दिखाई देती हैं ॥३८॥

यह आत्मा सामग्रीयुक्त अवस्थाओं से युक्त सृष्टिरचना यत्न से करता है। उत्पन्न हुई उन रचनाओं का, जैसे सागर तरंगों का तिरस्कार नहीं करता, वैसे ही तिरस्कार नहीं करता ॥३९॥ तो दूध में घृत की तरह, मिट्टी में घड़े की तरह, तन्तुओं में वस्त्र की तरह और वट के बीज में वटवृक्ष की तरह आत्मा में ही स्थित प्रकटता को प्राप्त हुई शक्तियों का कथंचित व्यवहार होता है। यह व्यवहार दृष्टि एकमात्र कल्पना ही है। परमार्थतः तो जगत अविरचित ही है ॥४०॥ इस जगत में न कोई कर्ता है, न भोक्ता है, न यह जगत विनाश को प्राप्त होता है ॥४१॥ साक्षी निर्विकार केवल आत्मतत्त्व के नित्य अपने में समरूप से क्षोभरहित रहने पर ऐसा होता है ॥४२॥

वैसे परमार्थ के रहने पर भी जगत प्राप्ति में दृष्टान्त दर्शानेवाले दो श्लोकों का अवतरण किया गया है।

जैसे दीप के रहने पर प्रकाश स्वतः होता है और जैसे फूल के रहने पर सुगन्ध स्वतः होती है वैसे ही जगत स्वतः ही उत्पन्न होता है। वायु से स्पन्दन की तरह यह आभासमात्र ही दिखाई देता है, अतएव यह न सत् और न असत् है यानी अनिर्वचनीयरूप से अवस्थित है ॥४३,४४॥

इस प्रकार केवल अपनी सन्निधि से उत्पन्न हो रहे जगत के दोषों से लिप्त न हो रहा आत्मा ही जगत का कर्ता–सा, हर्ता–सा और नियन्ता–सा ऐसे प्रतीत होता है, जैसे कि आकाश तारारूपी पुष्पराशियों का कर्ता, हर्ता और नियन्ता प्रतीत होता है, ऐसा कहते हैं।

परमार्थरूप से निर्दोष के तुल्य ही स्थित होकर भगवान विनष्ट हुई जगत की दृष्टियों के पुनः कर्ता होते हैं और की गई जगत की दृष्टियों के नाशक होते हैं। जैसे केवल आकाश में तारारूपी फूल राशियाँ कभी प्रकट और कभी अप्रकट होती हैं, वैसे ही उसमें ये जगत की दृष्टियाँ कभी प्रकट होती हैं और कभी अप्रकट होती हैं ॥४५॥

इस प्रकार असत् जगत का असत्तात्मक विनाश स्वतः ही होता है और सत्तात्मिका उत्पत्ति और स्थिति ब्रह्मसत्ता से ही हैं, यों विभाग होने पर फलितार्थ कहते हैं।

जो वस्तु आत्मा की आत्मभूत नहीं है, वह वस्तु यहाँ पर नष्ट ही होती है। जो वस्तु आत्मा की

स्वरूपभूत है, वह कैसे नष्ट हो सकती है ? जो वस्तु आत्मा की स्वरूपभूत नहीं है, वह उत्पन्न होती ही नहीं है, जो वस्तु आत्मा की स्वरूपभूत है, वही उत्पन्न होती है और वही स्थित रहती है। 'जायते' यह स्थिति का भी उपलक्षण है। जो वस्तु आत्मा की आत्मभूत है, वह उससे कैसे उत्पन्न होगी इसलिए उसकी उत्पत्ति कल्पनामात्र है ॥४६-४८॥

आत्मसत्ता का जगत में अध्यास जगत का जन्म है, आत्मा का जन्म नहीं है, क्योंकि आत्मा में भेद नहीं है, इस आशय से पूर्वोक्त विषय का उपसंहार करते हैं।

इसलिए परमार्थसत्य चित्स्वरूप केवल ब्रह्म से सब पदार्थों की उत्पत्ति है ॥४९॥ उत्पन्न हुए उन पदार्थों की उत्पत्ति होते ही तुरन्त अविद्या उत्पन्न होती है, अभिमानलक्षण वह अज्ञान समय आने पर दृढ़ हो जाता है। तदनन्तर सैकड़ों, हजारों तनों से युक्त, विचित्र शुभ और अशुभरूप फलों से लदा हुआ, प्रचुर शाखा और प्रशाखाओं से युक्त संसाररूपी वृक्ष विशालता को प्राप्त होता है ॥५०॥

संसाररूपी वृक्ष का ही वर्णन करके उसके उच्छेद का उपाय बतलाते हैं।

उक्त संसाररूपी वृक्ष आशारूपी मंजरियों से युक्त है, सुख-दुःख आदि विविध फलों से लदा है, दारुण दुःख आदि भोगों से पल्लवित है, बुढ़ापारूपी फूल से युक्त है और तृष्णारूपी लता से दैदीप्यमान है। अपने बन्धनरूप इस संसार नामक वृक्ष को विवेकरूपी तलवार से काटकर स्तम्भ से खोले गये गजराज की तरह मुक्त हुए आप इस संसार में विहार कीजिए ॥५१॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

विविध जीवों की उपाधियों द्वारा उत्पत्ति, जीवों तथा
उनकी उपाधियों के ब्रह्मभाव का विस्तार से वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, ब्रह्मपद से इन जीवों की उत्पत्ति कैसे हुई, वह कितनी और कैसी है ? यह विस्तारपूर्वक मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१॥

यद्यपि जीवों की उत्पत्ति उत्पत्ति प्रकरण में विस्तार से कही गई है, तथापि आगे किये जाने वाले आक्षेप के उत्थान के लिए तथा विशेष ज्ञान की इच्छा से पुनः यह प्रश्न किया है, ऐसा समझना चाहिए।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, भाँति-भाँति की भूतजातियाँ जैसे ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं, जैसे नाश को प्राप्त होती हैं, जैसे मुक्त होती हैं, जैसे वृद्धि को प्राप्त होती हैं और जैसे ब्रह्म में ही अन्तर्हित होकर स्थित रहती हैं, उसे मैं संक्षेपतः आपसे कहूँगा, हे अनघ, आप सुनिये ॥२,३॥ परब्रह्म की निर्मल चित्शक्ति, जो सर्वशक्तिशालिनी है अपनी इच्छा से विविध कल्पना करती हुई स्वयं भावी देहादि के आकार का स्फुरणरूप चेत्य (विषय) हो जाती है ॥४॥ पूर्वोक्त देहादि के आकार का ही अच्छी तरह जो अहंभाव से स्फुरण है, उसके द्वारा घनता को प्राप्त हुई वह चित्शक्ति स्वयं जो कुछ भी संकल्प करती है, फिर उस भाव को प्राप्त हो जाती है। वही चित्शक्ति का घनीभाव मन तथा जीवोपाधि है ॥५॥ मन के संकल्पमात्र से दृश्य अहंकार आदि की कल्पना द्वारा वास्तविक दृग्रूपता का त्यागकर रही-सी चित्शक्ति क्षणमात्र में इस असत्यभूत दृश्य का गन्धर्व नगर की भाँति विस्तार करती हैं ॥६॥

इससे क्या हुआ ? यह कहते हैं।

यद्यपि चिद्रूप आत्मा स्वप्रकाश है, तथापि वह सर्वप्रथम अपने से निर्मित अपने से पृथक् शून्याकार से प्रतीत होता है। वही अवस्था सर्वजन प्रसिद्ध आकाश है ॥७॥

उस आकाश में ब्रह्मा आदि की स्थूल देह की और भुवनों की कल्पना दर्शाते हैं।

वह चित्तत्त्व ब्रह्मा का संकल्प करके ब्रह्मा के रूप को देखता है। तदनन्तर दक्ष आदि प्रजापति की कल्पना कर जगत की कल्पना करता है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चौदह भुवनों में रहने के कारण चौदह प्रकार के अनन्त भूत समूहों के कोलाहल से युक्त यह सृष्टि इस प्रकार चित्त से निर्माण को प्राप्त हुई है ॥९॥

इस तरह उपाधि की उत्पत्ति के मिथ्या होने से उपाधि प्रयुक्त जीवों की उत्पत्ति भी मिथ्या है, इस आशय से कहते हैं।

एकमात्र चित्त से बनी हुई एकमात्र आकाश शरीरवाली अतएव शून्य प्रतीत हो रही जीवसृष्टि एकमात्र संकल्प नगरी के तुल्य केवल भ्रान्तिस्वरूप है ॥१०॥

उसमें शास्त्र के अधिकारी दुर्लभ हैं, यह दर्शाने के लिए जीवों का तीन प्रकार से विभाग करते हैं।

इन लोकों में कुछ भूतजातियाँ महामोह से युक्त हैं कुछ आत्मज्ञान को प्राप्त है, जैसे सनकादि। मध्य की दशाओं में स्थित कुछ जीवजातियाँ मोक्ष के लिए प्रयत्न करती हुई भी दृढ़ वैराग्य न होने के कारण बार–बार विघ्नों द्वारा ब्रह्मपद से पतित होती हैं ॥११॥

शास्त्र के अधिकार का प्रयोजक वैराग्य कहाँ सुलभ है ? उसको कहते हैं।

पृथिवी में सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्राणिजातियों में ये भारत वर्ष में रहनेवाली जो नर जातियाँ हैं, वे ही आत्मज्ञान के उपदेश के योग्य हैं ॥१२॥

उनके वैराग्य होने में हेतु बतलाते हैं।

उन नरजातियों के मध्य में कुछ मनोव्यथा से पीड़ित, दुःखमय तथा मोह, द्वेष और भय से आतुर हैं, अतः तमोगुण प्रधान होने के कारण उनका शास्त्र में अधिकार नहीं है। उपदेश योग्य रजोगुण और सत्त्वगुणप्रधान जो जातियाँ है, उन्हें मैं बयालीसवें सर्ग में कहूँगा, यह अर्थ है ॥१३॥ जो अमृत, सर्वव्यापक, निरामय, भ्रमस्पर्शशून्य, अकारण और अनन्त नामवाला ब्रह्म है, वह जिस तरह चिदाभासता को प्राप्त हुआ, उसे भी उसी सर्ग में कहूँगा ॥१४॥ निश्चल समुद्र में चंचल तरंगों की चंचलता की भाँति स्पन्दनशून्य शरीरवाले उस परमात्मा का जो जीवभाव से स्पन्द है, वह जिस तरह घनता को प्राप्त होता है, उसे भी उसी सर्ग में कहूँगा ॥१५॥

'स्पन्दः सत्तैकदेशतः' यह जो कथन है, वह अयुक्त है, क्योंकि अखण्ड पूर्णसत्तैकरस ब्रह्म में सत्तावयव स्पन्दन की सम्भावना नहीं हो सकती, ऐसी शंका श्रीरामचन्द्रजी करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, अनन्त आत्मतत्त्व का एकदेश क्या कहलाता है, उसमें विकारिता कैसे होती है अथवा उसमें द्वित्व की भ्रान्ति कैसे होती है ? ॥१६॥

जीव–ब्रह्म की एकता की वास्तविकता के व्युत्पादन के लिए उत्पत्ति, स्पन्द और एकदेश आदि का व्यवहार शास्त्र में कल्पित है, इसलिए वास्तविक वृत्ति का आश्रय करके उसमें विरोध का उद्भावन उचित नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत उस निमित्त से उत्पन्न है और उसी उपादान से पैदा हुआ है, यह वाणी की रचना शास्त्र के व्यवहार के लिए है वस्तुतः नहीं है ॥१७॥

वस्तुतः क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

प्रत्यक्ष उत्पद्यमानरूप से दिखाई दे रहे भी विकारिता, अवयविता, दिक्सत्ता, एकदेशता आदि क्रम सर्वेश्वर परमात्मा में सम्भावित नहीं हैं ॥१८॥

यदि उसमें इनका सम्भव नहीं है, तो जगत के किसी अन्य मूल की कल्पना कीजिए। इस पर कहते हैं।

उसके बिना अन्य कल्पना ही नहीं है और न होगी। भाव यह कि चित्तप्रकाश के बिना अन्य कल्पना भी अयुक्त है। कारण–कार्य में क्रम शब्दार्थ तथा व्यवहार की उक्तियाँ कहाँ से हो सकती है ? ॥१९॥ जो–जो कल्पनाएँ हैं, जो पदार्थ हैं, जो शब्द हैं और जो वाक्यार्थ हैं, वे सत् से उत्पन्न होने के कारण तथा सन्मय होने के कारण सद्वस्तु की ही तरह इष्ट हैं ॥२०॥

इस तरह सत्ता के भेद के अभाव से भेदप्रतीति मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं।

अग्नि से उत्पन्न हुई अग्नि की भाँति वही उससे जन्य होता है। यह जगत जन्य है, वह जनक है, यह भेद कल्पनामात्र है यानी मिथ्या है ॥२१॥

दीपक से दीपक की भाँति यह जगत उत्पन्न है, यह व्यवहार कैसे है ? इस पर कहते हैं।

यह इससे उत्पन्न है, यह जो जगत की स्थिति है, वह एक दीपक की दो रूपों के निर्माण की शक्ति में अतिशय की भाँति माया से एक ही आत्मा की दो रूपों के निर्माण की शक्ति में अतिशय है, वही जन्य–जनक दो रूपों में भासित होता है ॥२२॥ यह जगत भिन्न है, यह ब्रह्म भिन्न है, यह शब्द और अर्थ का व्यवहारश्रम वचनमात्र में है, परमात्मा में नहीं है, कारण कि 'वाचरम्भरणं विकारो नामधेयम्' ऐसी श्रुति है, क्योंकि परिच्छेद होने पर ही तो भेद प्रतीत होगा ॥२३॥ पूर्वोक्त क्रियाशक्ति से उत्पन्न हुई मनःशक्ति से ही स्वभावतः शब्दविभाग प्रवृत्त होता है, तदनन्तर उससे दृढ़भावना द्वारा अभीष्ट अर्थ सम्पन्न होता है ॥२४॥

पूर्वोक्त अर्थ को ही उदाहरण देकर दर्शाते हैं।

अग्नि की एक शिखा की दूसरी शिखा जनक है, यह कथन वैचित्र्यमात्र है, इस कथन में सत्यता नहीं है ॥२५॥ परमात्मा में जन्य–जनक आदि शब्दव्यवहार का सम्भव नहीं है। अनन्त होने के कारण जब वह एक ही है, तो किसे कैसे उत्पन्न करेगा ? ॥२६॥ यह उक्ति का स्वभाव है कि एक उक्ति के अनन्तर दूसरी उक्ति स्वाश्रयविरुद्ध भेद, द्वित्व आदि अर्थ युक्त हो जाती है ॥२७॥ समुद्र में तरंग–समूह की भाँति परब्रह्म में जो शब्द और अर्थ की कल्पना का आकार है, वह ब्रह्म ही है, ऐसा विद्वानों ने अनुभव किया है ॥२८॥ ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है, ब्रह्म ही मन है, विविध प्रकार की बुद्धिवृत्तियाँ भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही पदार्थ है, ब्रह्म ही शब्द है, ब्रह्म ही ईश्वर है या साक्षी चेतन है या पदार्थानुभूति है, सब विषय भी ब्रह्म ही हैं ॥२९॥ सामने दीख रहा यह सब विश्व ब्रह्म ही है, वह ब्रह्मपद विश्व से परे है। वस्तुतः यह जगत है ही नहीं, सब कुछ केवल ब्रह्म ही है ॥३०॥ आत्माकाश में यह भिन्न है, यह भिन्न है, यह विभाग मिथ्याज्ञान के विकल्प से कथनमात्र है। इस कथन में क्या सत्यार्थता है ? ॥३१॥ जैसे अग्नि की शिखा

से दूसरी अग्नि की शिखा उत्पन्न हुई वैसे ही ब्रह्म से मन की संज्ञारूप शिखा उत्पन्न हुई है। चंचलता से उत्पन्न विकल्प संपत्ति नित्यसिद्ध कूटस्थ ब्रह्म में सिद्ध नहीं होती है॥३२॥ तमस दृष्टि के क्षीण होने के कारण जैसे द्विचन्द्र ज्ञानदोष मिथ्या है, वैसे ही सत्य वस्तु विकल्प से युक्त है, यह विकल्प कथन मिथ्या ही है॥३३॥ सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक उस अनन्त ब्रह्मपद से अन्य कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता है, जो कुछ उत्पन्न है, वह ब्रह्म ही है॥३४॥ इस जगत में ब्रह्मतत्त्व से अतिरिक्त कुछ उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यह सब ब्रह्म ही है, यही परमार्थता है॥३५॥ हे मतिमान श्रीरामचन्द्रजी, जब आपका सिद्धान्त प्रायः ऐसा ही होगा, तभी हम सिद्धान्तअर्थ की उक्तियों के उदाहरणपूर्वक निर्वाणप्रकरण में उपपादन करेंगे॥३६॥ इस परमार्थता में अविद्या आदि कोई इतर पदार्थ विद्यमान नहीं हैं। तत्–तत् वस्तुविषयक तत्तद् अज्ञान का क्षय हो जाने पर आप सम्पूर्ण पदार्थों को पूर्ण ब्रह्म भाव से जानेंगे॥३७॥

पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे अवस्तु यानी मल का क्षय होने पर वस्तु यथार्थरूप से प्रकट होती है और जैसे रात्रि के अन्धकार का क्षय होने पर यह दृश्य जगत दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अज्ञान का क्षय होने पर जगत ब्रह्मभाव से प्रतीयमान होता है॥३८॥

पूर्व में कहे गये सभी पदार्थों का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपकी अज्ञानदूषित दृष्टि से जो यह सम्पूर्ण जगत चारों ओर विस्तृत दिखाई देता है, अज्ञान के साथ उसका नाश होने पर निर्मल दर्पण के तुल्य, परमार्थभूत, निर्मल परमपद में वही एकमात्र परम पद स्थित होगा, इसमें कोई संशय नहीं है॥३९॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

अनिर्वचनीय, चिकित्सा के योग्य, अविचिन्त्य और
मिथ्या माया कलना आदि विशेष धर्मों का मूल है, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, पूर्व सर्गों में सब जगह मन आदि द्वैत कल्पना का मूल कलना ही है, यह कहा गया है। अब निर्विकार, अद्वितीय आत्मा में कलना के निमित्त की भी असंभावना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसको पूछने की इच्छा से गुरु श्रीवसिष्ठजी के सम्मानार्थ पहले कहे हुए वचन की प्रशंसा करते हुए अपने व्यामोह को प्रकट करते हैं।

क्षीरसागर के गर्भ के यानी चन्द्रमा के तुल्य अतएव शीतल, निर्मल कान्ति से पूर्ण, विचित्र तथा सब ओर से गम्भीर–सी आपकी उक्ति से वर्षा ऋतु में चंचल बादलों से युक्त तथा शान्त सूर्यप्रकाशवाले दिन के समान मैं क्षण भर में अन्धकारता को (व्यामोह को) तथा क्षण भर में प्रकाशता को प्राप्त हो रहा हूँ॥१,२॥ अनन्त अतएव प्रमाण से अपरिच्छेद्य, पूर्ण, सदा स्वतः भासमान आत्मा को, जिसकी परमार्थस्वरूपप्रथा नष्ट नहीं हो सकती, परिच्छिन्न कलनात्मक विकार कैसे प्राप्त हुआ ? भाव यह है कि स्वयंप्रकाश, अद्वितीय पूर्णस्वभाव आत्मा में परिच्छिन्न कलनारूप विकार का वस्तुतः अथवा कल्पनासे सम्भव नहीं है, इसलिए उसकी प्राप्ति में क्या कारण है ? इसका प्रतिपादन कीजिए॥३॥

आपका यह व्यामोह वाक्य के दोष से नहीं है, किन्तु आपके तात्पर्य में ध्यान न देने रूप मेरे कथन दोष से ही है, यह दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सभी वचन यथाभूत वाक्यार्थ से युक्त हैं। वे पदों की आकांक्षा योग्यता आसत्तिरूप सामर्थ्य से हीन नहीं हैं। अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ के अपर्यवसायी नहीं हैं यानी अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ में ही पर्यवसित हैं और न तो उपक्रम और उपसंहार में परस्पर विरोध ही है ॥४॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी कहे कि कब मुझे तात्पर्यज्ञान होगा ? तो इस पर कहते हैं।

ज्ञानदृष्टि के स्वच्छ होने पर और प्रबोध के उदय का विस्तार होने पर स्वरूप में स्थित आप मेरे वचनों की तथा उनसे प्राप्त तत्त्वदृष्टि की अन्य के वचनों और तत्प्रयुक्त दृष्टि की अपेक्षा प्रबलता यथार्थरूप से समझेंगे ॥५॥

यदि कोई कहे कि जैसे मेरी माता वन्ध्या है, मेरे मुख में जिह्वा नहीं है, मैं गूँगा हूँ, ये वाक्य बाधितार्थक हैं वैसे ही 'नेह नानाऽस्ति किंचन' 'एकमेवाऽद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियाँ भी है, इसलिए कैसे विरोध का परिहार होगा ? इस पर कहते हैं।

शिष्यों के उपदेशार्थ शास्त्रार्थ के ज्ञान के लिए शब्द, अर्थ तथा वाक्य रचना का भ्रम है। आप तन्मय न होइए। भाव यह है कि असत्य स्वप्न आदि भी जैसे सत्य वस्तु के ज्ञान के उपाय होते हैं वैसे ही शब्द, अर्थ ओर वाक्यरचना का भ्रम भी सत्य शास्त्रार्थ का हेतु होता है, इसलिए व्यामोहवश आप भ्रममय न होइए ॥६॥

तो कब तक शब्द अर्थ और वाक्यरचना के भ्रम का अनुसरण करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

जब उस सत्य, अत्यन्त निर्मल आत्मा का ज्ञान कर लेंगे, तब अवश्य ही आप वाच्य, वाचक और शब्दार्थ के भेद का त्याग कर देंगे। जब तक वाक्यार्थ का अपरोक्ष नहीं होगा, तब तक शब्द और अर्थ के भेद का अनुसरण करना चाहिए, यह अर्थ है ॥७॥

यदि कहें कि वाक्यार्थज्ञान कैसे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

उपदेश देने के योग्य शिष्यों के उपदेशार्थ शास्त्रार्थ के ज्ञान के लिए यह भेदकृतवाक्प्रपंच उपदेश योग्य शिष्यों में कल्पित है ॥८॥ यह शब्दार्थरूप वाक् प्रपंच सद् उपदेश के विषय में अज्ञों में कल्पित है, न कि वाक्यार्थ को जाननेवाले पुरुषों में पारमार्थिकरूप से विद्यमान है ॥९॥ पूर्वोक्त कलना, उसके निमित्तभूत पूर्वसंस्कार तथा कर्मरूपी मल एवं अविद्या आदि कुछ भी आत्मा में विद्यमान नहीं हैं। वह परमब्रह्म रागहीन है और वही जगतरूप से स्थित है ॥१०॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्त के अवसर पर असंभावना के नष्ट हो जाने के बाद निर्वाण प्रकरण में अनेक तरह की युक्तियों से बहुत बार विस्तारपूर्वक मैं यह आपसे कहूँगा ॥११॥

तो इस समय में आपका वाक्प्रपंच किसलिए है, इस पर कहते हैं।

वाक्प्रपंच के बिना इस कारणीभूत अज्ञान तथा मूलअज्ञान का, जो परस्पर की सहायता द्वारा भ्रान्ति की सैकड़ों हजारों शाखा-प्रशाखाओं से उदित है, मूलोच्छेदन करने के लिए तथा उसके साधनों में यत्न करने के लिए आप समर्थ नहीं हैं ॥१२॥

उपदेशरूप वाक्प्रपंच और तज्जन्य ज्ञान अज्ञान के कार्य हैं। ऐसी अवस्था में वे अज्ञान के विराधी कैसे होंगे अथवा अज्ञान स्वविराधी ज्ञान को कैसे चाहेगा ? यदि कोई ऐसा कहे, तो उस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बहुत जन्मों से संचित सुकृत से विशुद्ध अन्तःकरण के आकारमें परिणत हुई अविद्या ही अपने नाश के उद्यम की इच्छा से सम्पूर्ण दोषों को दूर करनेवाली विद्या की इच्छा करती है। जैसे अपने शरीर से विरोध होने पर भी स्वात्महित होने के कारण विवेकिनी पतिव्रता पतिचितारोहण करती है वैसे ही उसे विद्या की इच्छा हो सकती है, यह भाव है ॥१३॥

परस्पर विरोध का उपपादन करते हैं।

अस्त्र अस्त्र से ही शान्त होता है, मल से (सज्जी से) ही मल साफ होता है, विष से ही विष की शान्ति होती है तथा शत्रु से ही शत्रु मारा जाता है ॥१४॥

वह स्वयं अपनी नाशक कैसे हो सकती है ? एक में कर्तृता तथा कर्मता का सम्भव नहीं हो सकता, यदि कोई ऐसी शंका करे, तो क्रिया में कर्मकर्तृभाव का विरोध होता है, न कि ज्ञान से अज्ञान के बाध में विरोध है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह माया ऐसी है, जो अपने विनाश से हर्ष देती है। इसका कुछ भी स्वभाव लक्षित नहीं होता है, यह ज्ञानदृष्टि से विचारविषय होते ही नष्ट हो जाती है ॥१५॥

उसके असम्भावित अनन्त कार्य देखे जाते हैं, इसलिए भी विरोध की सम्भावना नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यह अविद्या विवेक का आवरण करती है, जगत को उत्पन्न करती है; परन्तु यह कौन है, इस तरह ज्ञात नहीं होती। यह जगतरूपी आश्चर्य देखिए ॥१६॥ यह जब तक विचारगोचर नहीं होती, तभी तक स्फुरित होती है, विचारित होने पर नष्ट हो जाती है। जब तक इसके स्वरूप का परिज्ञान नहीं होता, तभी तक यह माया पराक्रम दिखलाती है ॥१७॥ ओह ! संसार को बाँधनेवाली यह माया सचमुच बड़ी विचित्र है। यद्यपि वह असत्य है, तथापि इसने अत्यन्त सत्य की भाँति अपना ज्ञान कराया है ॥१८॥ जिस कारणवश संसार माया अत्यन्त भेदरहित उस परम पद में विस्तृत भेद का विस्तार कर रही है, उसी कारणवश क्षर–अक्षर स्वरूप से अतीत यह आत्मा पुरुषोत्तम है ॥१९॥ यह माया वस्तुतः नहीं है, इस भावना के आचार्योपदेश, श्रुतिवाक्य, तर्क और स्वानुभव के अभ्यास द्वारा प्रदीप्त होने पर आप तत्त्वविद् होकर आत्मास्वरूप वास्तविक ज्ञेय तत्त्व को विस्मृत–कण्ठगत–स्वर्णाभरण की भाँति प्राप्तकर इस मेरी उक्ति के आशय को समझेंगे ॥२०॥

अभी तो मेरे वचन के विश्वास से परोक्ष के तुल्य मुख से कहे गये अर्थ का ग्रहण कीजिए, ऐसा कहते हैं।

जब तक आप प्रबुद्ध नहीं हुए हैं, तब तक आपको मेरे वचन से ही अविद्या नहीं है, ऐसा निश्चल दृढ़ निश्चय होना चाहिए ॥२१॥

पूर्वोक्त निश्चय को निश्चल करने में हेतु कहते हैं।

जो यह साक्षी से दृश्यता को प्राप्त मनोवृत्तिरूप सम्पूर्ण व्यवहार का कारण होने से विशाल मनन यानी अतीत और अप्राप्त अर्थ का अनुसंधान है, यह असन्मात्र है; क्योंकि केवल मन से ही

वृद्धि को प्राप्त हुआ है ॥२२॥

इस तरह मनन का निरास होने पर मन काष्ठरहित अग्नि की भाँति स्वयं शान्त हो जाता है, अतएव ब्रह्म का सन्मात्ररूप से परिशेष होने पर पूर्वोक्त निश्चय के निश्चल हो जाने से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, इस आशय से कहते हैं।

वह ब्रह्म सत्य है, यह निश्चय जिसके भीतर विद्यमान है, वही मोक्षभागी है।

पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए बाह्य अर्थ मनन दृष्टि की बन्धहेतुता का वर्णन करते हैं।

भावनाओं से बँधी हुई चंचल तथा अचंचल आकृतिवाली जो-जो दृष्टि है वह सम्पूर्ण जगत के प्राणीरूपी पक्षियों के बन्धन के लिए जाल है ॥२३॥ असत् यानी अतीत, सत् यानी वर्तमान यों दो रूपवाले मनन के विषय में 'यह सत्य ही है या यह असत्य ही है' इस एकरूप दृढ़ निश्चय से युक्त होकर जो आसक्तात्मा अधिकारी पुरुष जगत को स्वप्न की भूमि की भाँति भ्रान्तिमात्र देखता है, वह दुःख में निमग्न नहीं होता ॥२४॥

तो कौन निमग्न होता है, इस पर कहते हैं।

मिथ्याभूत देहेन्द्रियादि द्वैतभावनाओ में जिसकी अहंबुद्धि है, वही दुःख में है, इस आशय से कहते हैं। उस मिथ्यादर्शी पुरुष का अविद्या यानी आविद्यक दुःख में निमज्जन ही दंड है, इस आशय से कहते हैं।

मिथ्यादर्शी उस पुरुष के लिए एकमात्र अविद्या ही विद्यमान है, इस महात्मा परमात्मा में विकारिता आदि कोई दोष जल में धूल की भाँति विद्यमान नहीं है ॥२५,२६॥

ऐसा होने पर तो तत्त्ववेत्ता पुरुषों की पूर्वापरार्थविषयक भावना के अभाव से व्यवहार की सिद्धि नहीं होगी। ऐसी आशंका करके कहते हैं।

जगत में प्राप्त यह भावना यानी शब्द (नाम) और शब्दार्थों में (पदार्थों में) स्फटिक की भाँति अनुरंजना केवल व्यवहार के लिए उत्पन्न हुई है। यह आत्मा से अतिरिक्त नहीं है ॥२७॥ इस व्यवहार के बिना ये शास्त्रदृष्टियाँ तन्तुहीन पट की भाँति स्थिति को प्राप्त नहीं होती ॥२८॥

यदि अविद्या है ही नहीं, तो शास्त्र किसलिए है ? इस पर कहते हैं।

अविद्यारूपी नदी में बह रहा आत्मा इस संसार में आत्मज्ञान के बिना अनुभव गोचर नहीं होता। और वह आत्मज्ञान शास्त्र के तात्पर्यार्थ से ही प्राप्त होता है ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, परमात्मा की प्राप्ति के बिना अविद्यारूपी नदी का पार नहीं मिलता है। अविद्या नदी का पारभूत परमात्मा का लाभ ही अक्षय परम पद है ॥३०॥

यदि कोई कहे कि यह अविद्या परमात्मा में कहाँ से आई ? इस पर कहते हैं।

यह मलदायिनी अविद्या चाहे जहाँ कहीं से भी उत्पन्न हुई हो, यह अवश्य है तथा परमपद का अवलम्बन कर स्थित है ॥३१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्या कहाँ से प्राप्त हुई, ऐसा विचार आप मत कीजिये। इसका कैसे नाश करूँ, यही विचार आप कीजिए ॥३२॥

तो क्या यह अनादि है अथवा सादि है। यदि अनादि है, तो आत्मा की तरह नित्य होगी। यदि सादि है, तो इसका कारण कहना चाहिए। इसी तरह यह सत्य है, अथवा असत्य है। यदि सत्य है, तो ज्ञान से इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि असत्य है, तो संवादी व्यवहार का हेतुत्व ही अनुपपन्न हो जायेगा।

इस तरह की हजारों शंकाओं का नाश उसके नाश से ही हो जायेगा, इस आशय से कहते हैं।

हे रघुकुलदीपक श्रीरामचन्द्रजी, इस अविद्या के अस्त होने अतएव क्षीण होनेपर आप यह जहाँ से आई, जैसे आई और जैसे नष्ट हुई, यह सब अच्छी तरह समझ जायेंगे ॥३३॥

असत्य का सत्य के तुल्य विचार स्वाप्निक पुरुष के गोत्र की चिन्ता की भाँति व्यर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

वस्तुतः यह है ही नहीं, विचार न करने पर ही यह भासित होती है। असत् की भ्रान्ति की सत्यरूपता कौन कैसे जान सकता है ? ॥३४॥ यह उत्पन्न होकर प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है, इसने दोष के लिए ही अपने आकार का विस्तार किया है, इसका बलपूर्वक विनाश कीजिए, तब आप इसे जानेंगे ॥३५॥

तो स्वाप्निक पुरुष के वध के उद्योग की भाँति अविद्या की निवृत्ति में यत्नातिशय निष्फल है ? ऐसी आशंका करके उससे विलक्षण अनर्थप्रबलता का वर्णन करते हैं।

अत्यन्त बुद्धिमान तथा साथ ही साथ शूर भी ऐसे पुरुष तीनों लोकों में नहीं हैं, जो अविद्या द्वारा विवश न किये गये हों ॥३६॥ इसलिए रोग के तुल्य स्वभाववाली इस अविद्या के विनाश के लिए प्रयत्न कीजिए। इससे यह अविद्या फिर आपको जन्मयातनाओं में नियुक्त न करेगी ॥३७॥ सम्पूर्ण आपत्तियों की मुख्य सहचरी, अज्ञानरूपी वृक्ष की मंजरी तथा अनर्थसमूहों की जननी इस अविद्या को उखाड़ फेंकिए ॥३८॥

उक्तार्थ उपसंहार कहते हैं।

भय, विषाद, दुष्ट मनोव्यथा तथा विपत्तियों को देनेवाली, हृदय में स्थित आत्मदृष्टि के मोहरूपी अन्धकार के हेतु महापटलरूप शरीर, इन्द्रिय आदि की हेतुभूत इस अविद्या को बलपूर्वक अच्छी तरह हटाकर आप भवसागर के पार को प्राप्त होईए ॥३९॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

अनन्तशक्ति ब्रह्म के, वासना की घनता के क्रम से, जीवभाव क्रम का वर्णन।

इस प्रकार अविद्यारूप व्याधि का वर्णन कर उसकी निवृत्ति के उपाय को अग्रिम बहुत से सर्गों से कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, असत् अतएव विचारमात्र से नष्ट होनेवाली इस अत्यन्त प्रकोप को प्राप्त हुई अविद्यारूपी विस्तृत व्याधि की औषधि सुनिये ॥१॥

अब उसके लिए जीव के अवतरणक्रम का वर्णन करने के लिए चालीसवें सर्ग में 'तासां सम्यक् प्रवक्ष्यामि तावद्राजससात्त्विकीः' इससे जो प्रतिज्ञा की है, उसके अवशिष्ट अंश के वर्णन का यों स्मरण कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मन के पराक्रम के विचारार्थ जिस राजस, सात्त्विक जीव जाति का वर्णन करने के लिए मैं यहाँ पर प्रस्तुत हूँ, उसे आप सुनिये ॥२॥ जिस भाँति सर्वव्यापक, निर्दोष, अनादि, अनन्त, भ्रम कलंकरहित, अमृत ब्रह्म जीवरूप हुआ, उसे भी आप सुनिये ॥३॥ स्पन्दनरहित उस ब्रह्म का जीवरूप चिदाभास चिद् ही है, जैसे सौम्य (निश्चल) सागर ही चलन से तरंग आदिरूप स्थूलता को

प्राप्त होता है वैसे वह भी औपाधिक एकदेश से घनता को प्राप्त होता है ॥४॥

शक्तियों की विचित्रता सत्त्व आदि गुणों की वृद्धि तथा ह्रास के परस्पर मिश्रण के तारतम्य से होती है और उपचय आदि राजस क्रियाशक्ति से होते हैं, इसलिए पहले क्रियाशक्ति की उत्पत्ति दिखलाते हैं।

जैसे समुद्र के अन्दर जल स्पन्द और अस्पन्दरूप से अवस्थित देखा जाता है यानी किसी स्थान में स्पन्द (गतिविशिष्ट) और किसी स्थान में अस्पन्द (गतिरहित) देखा जाता है, वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म अस्पन्द भाव होते हुए भी किसी एक अंश में स्पन्दशक्तिरूप से आविर्भूत होता है ॥५॥

यद्यपि ब्रह्म स्वतः कूटस्थ है, तथापि उसमें आध्यासिक चलन का अविरोध दिखलाते हैं।

जैसे वायु आत्मरूप ही आकाश में अपने से गमन करता है वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म अपने आत्मा में ही अपनी शक्ति से ही चंचलता को प्राप्त होता है ॥६॥

स्पन्दशक्ति का स्पन्दरहित प्रकाशशक्ति से भी विरोध नहीं है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

जैसे निश्चल दीपक अपनी ज्वाला की स्पन्दशक्ति से ही ऊपर को प्राप्त होता है, वैसे ही यह आत्मा भी अपने स्वरूप में ही प्रकाशित होता है ॥७॥ जैसे सागर शरद् ऋतु की धूप के सम्बन्ध से चमक रहे जल प्रदेश में ही चंचल सा प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वशक्ति आत्मा अपने स्वरूप में ही स्पन्दरूप विलास से युक्त होता है ॥८॥

परमार्थतः अन्यरूप होते हुए भी कल्पित अन्यरूप से स्फुरणों में भी यही दृष्टान्त है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे शरद् ऋतु की धूप से चमक रहा पिघलाए हुए सोने के समान सागर स्फुरित होता है, वैसे ही चैतन्यरूपी सागर इन्द्रियजन्य प्रकाशों से आत्मा में ही स्फुरित होता है ॥९॥ जैसे अतीन्द्रिय आकाश में मोतियों की माला कभी-कभी लहराती हुई-सी दिखाई देती है, वैसे ही चिन्महाकाश में दैदीप्यमान चित्‌शक्ति भी प्रतीत होती है ॥१०॥ जैसे समुद्र में निर्मल तरंग समुद्र ही है, वैसे ही चिद्रूपी महासागर में कुछ क्षुभित रूपवाली उस जगतमयी चित्‌शक्ति के रूप से चिति ही स्फुरित होती है ॥११॥

ऐन्द्रियक चित्‌शक्ति परमार्थ चिति ही है, उसमें उत्पत्ति का आरोप केवल औपाधिक है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे आलोक कोटर में (सूचि आदि के छिद्र में) आलोक श्री रहती है, वैसे ही उपाधिपरवश होकर यह चित्‌शक्ति आत्मा से अभिन्न होती हुई भी भिन्न-सी हो स्थित होती है ॥१२॥

इसलिए उसके कालिक परिच्छेद तथा उक्त शक्तिमत्ता आदि रूप भेदप्रतीति की उपपत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

वह दैदीप्यमान चित्‌शक्ति अपनी उस सर्वशक्तितता से एक क्षणभर में स्फुरित होती है, जैसे चन्द्रमा की कला अपनी शीतलता का स्वयं अनुभव करती है वैसे ही वह अपनी शक्ति का स्वयं अनुभव करती है ॥१३॥

अन्यान्य शक्तियों की प्रवृत्ति चित्‌शक्ति के उदय के अधीन ही है, स्वतन्त्ररूप से उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

परमात्मा से उदित हुई यह प्रकाशरूप चित्‌शक्ति अपनी सखीरूप देशकाल क्रियाशक्तियों का

आकर्षण करती है यानी देशकालक्रियाशक्ति सखी के तुल्य उसका अनुगमन करनेवाली है ॥१४॥ इस प्रकार अपने स्वभाव को जानकर यह अनादि, अनन्तपद में स्थित होती है। अविचारित होती हुई पूर्वोक्त कल्पितरूप को भ्रमवश अपना स्वरूप जानकर 'मैं परिच्छिन्न हूँ', यों अपने स्वरूप की भावना करती है ॥१५॥ जभी उस परमसत्ता ने इस प्रकार के स्वरूप की भावना की, तभी तुरन्त नाम रूप भेद आदि जगत की सम्पूर्ण कल्पनाओं ने उसका पीछा किया ॥१६॥

इस प्रकार चित् में कल्पित सकल दृश्य का चिन्मात्रत्व ही परमार्थरूप है, यों फलित हुआ, ऐसा कहते हैं।

सद्रूप आत्मा से पृथक् कल्पना अवस्तु ही है, इसलिए जैसे महासागर से व्यतिरिक्त लहरी महासागररूप ही है, वैसे ही शीघ्र परमात्मा में प्राप्त हुई अनन्त कल्पना चित् ही है ॥१७॥ जैसे कटक-केयुरों से सुवर्ण का भेद विलक्षण है वैसे ही अंशकल्पना के अधीन सम्पूर्ण जगद्रूप अपने स्वरूप की भावना कर रहे चैतन्य का भेद विलक्षण है ॥१८॥ जैसे दीपक से उत्पन्न हुए दीपकों का देश, काल और कलामात्र से भेद है वैसे ही चित् का भी उपाधिस्वरूप से प्राप्त हुआ आत्मभेद है ॥१९॥ देश, काल और क्रिया की शक्ति से संदीपित हुआ चैतन्य संकल्प का अनुसरण करता हुआ कल्पना को प्राप्त होता है ॥२०॥

इसीलिए क्षेत्रोपाधिकल्पना के अधीन चैतन्य का क्षेत्रज्ञत्व प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

हे महाबाहो, विकल्पों से जिसने आकार का ग्रहण किया है एवं देश, काल और क्रिया के अधीन जो चैतन्य का रूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥२१॥

शरीर क्षेत्र कहलाता है, उसको भली भाँति बाहर-भीतर सर्वतोभावेन वह जानता है, इसलिए वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥२२॥

वासनाओं की कल्पना करता हुआ वह क्षेत्रज्ञ अहंकारता को प्राप्त होता है।

निश्चय करनेवाला अतएव अन्य कल्पनारूप कलंक से युक्त अहंकार ही बुद्धि कहलाता है। संकल्पयुक्त बुद्धि मन का स्थान ग्रहण करती है। प्रचुर विकल्पों से युक्त मन धीरे-धीरे इन्द्रियता को प्राप्त होता है, इन्द्रियों को ही विद्वान लोग, हस्त, पाद आदि रूप देह कहते हैं, यह शरीर लोक में जाना जाता है, उत्पन्न होता है और जीवित रहता है ॥२३-२५॥ इस प्रकार संकल्पवासनारूपी रस्सी से परिवेष्टित और विविध दुःखों से व्याप्त जीव ही क्रम से बाह्य पदार्थों के चिन्तन की सामर्थ्य को प्राप्त होता है ॥२६॥ जैसे फल पाकवश क्रमशः रूप, रसआदि गुणों के परिवर्तनसे ही अन्यरूपता को प्राप्त होता है, आकृति से (आम्रफल आदि जाति से) अन्यरूपता को प्राप्त नहीं होता वैसे ही क्षेत्रज्ञ भी अविद्यारूप मल के परिपाकवश विलक्षणता को प्राप्त होता है। अपरिणामी चित्तस्वभाव से विलक्षणता को प्राप्त नहीं होता ॥२७॥

इस प्रकार क्षेत्र सिद्धि कह कर जीव का अहंकार आदि क्षेत्र में तादात्म्यसंगाध्यासरूप बन्ध क्रम से कहते हैं।

जीव अहंकारता को प्राप्त होता है। अहंकार बुद्धिता को प्राप्त होता है। बुद्धि संकल्प-विकल्प जालों से पूर्ण चित्तता को प्राप्त होती है। चित्त स्त्री, पुत्र आदि के शरीराकार के ग्रहण में यानी तदाकार वृत्ति द्वारा संस्काररूप से धारण में तत्पर, संकल्प-विकल्पमय एवं सफल और विफल मनोरथों से

परिच्छिन्न तुच्छ विषयों में आसक्त होता है ॥२८,२९॥

उक्त विषयों में आसक्ति होने पर उन विषयों का पुनःपुनः स्मरण करता हुआ चित्तभाव को प्राप्त हुआ चैतन्य राग, द्वेष आदि दोषों से अभिभूत होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे गौएँ मदोन्मत्त साँड़ के पीछे पीछे दौड़ती हैं और जैसे नदियाँ सागर की ओर दौड़ती हैं वैसे ही इच्छा आदि शक्तियाँ दोष के लिए ही चित्त का अनुगमन करती हैं ॥३०॥ इस प्रकार राग, द्वेष आदि शक्ति सम्पन्न मन शाखा–प्रशाखारूप से अभिमान की वृद्धि होने के कारण घन अहंकारता को प्राप्त होकर रेशम के कीड़े के समान स्वेच्छा से बन्धन को प्राप्त होता है ॥३१॥ बंशी, जाल आदि फन्दों से अपने शरीर को मृत्यु के लिए प्राप्त कर रही मछली आदि की तरह अपने संकल्पों के अनुसंधान से कष्टकारी बन्धन को स्वयं प्राप्त होकर मन इस लोक में परिताप को प्राप्त होता है, 'मैं बँधा हूँ', इसे परमार्थ सत्य समझता हुआ, धीरे–धीरे पारमार्थिक आत्मरूप का त्याग करता हुआ यानी स्वप्न में भी आत्मरूप का विचार न करता हुआ वह जगद्रूपी जंगल की राक्षसी के तुल्य जन्म, मरण आदि रूप भ्रान्तिपरम्परा की उत्पत्ति करता है ॥३२,३३॥ स्वयं संकल्पित शब्द आदि विषयरूप इन्धन से युक्त राग आदि रूप ज्वालाओं के मध्य में स्थित मन श्रृंखलाओं से बँधे हुए सिंह के समान बड़ी विवशता को प्राप्त होता है। वासनावश विहित–निषिद्धरूप विविध कर्मों की कर्तृता का बड़े प्रयत्न से संपादन करता हुआ तथा नाना योनिरूप नरक आदि दुर्दशाओं को और आगे कही जानेवाली एकमात्र अपनी इच्छा से रचित मनन आदि दशाओं को प्राप्त हो रहा मन बड़ी विवशता को प्राप्त होता है ॥३४,३५॥

वही मनन आदि वृत्तियों के भेद से मन आदि शब्दों का भाजन होता है, अन्य नहीं, ऐसा कहते हैं।

कहीं पर वह मन कहा गया है, कहीं पर बुद्धि, कहीं पर ज्ञान तथा कहीं पर क्रिया कहा गया है। कहीं पर अहंकार, कहीं पर पुर्यष्टक, कहीं पर प्रकृति तथा कहीं पर माया नाम से उसकी कल्पना हुई है। कहीं पर वह मल कहा गया है, कहीं पर माया नाम से उसकी कल्पना हुई है। कहीं पर कर्मरूप से स्थित हैं, कहीं पर बन्धनाम से प्रसिद्ध है और कहीं पर चित्त नाम से पुकारा गया है। कहीं पर अविद्या नाम से और कहीं पर इच्छारूप से अवस्थित है ॥३६–३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोक में तृष्णा और शोकसे व्याप्त, राग का विशाल आयतन, दुःखित यह चित्त ही आबद्ध है, आत्मा आबद्ध नहीं है। यही जरा, मरण, मोहरूप मानसिक भावनाओं से व्याप्त है, इहित और अनीहितों से ग्रस्त है, अविद्या–रूपी रंग से रँगा है, स्वेच्छा से इसका आकार क्षोभ को प्राप्त हुआ है, कर्मरूपी वृक्षराशियों का यह अंकुर है, अपनी उत्पत्ति के निमित्तभूत परमात्मतत्त्व को भली भाँति भूल चुका है, अनेक अनर्थकारी कल्पनाओं की इसने कल्पना कर रक्खी है, यह रेशम के कीड़े की तरह अपने–आप बन्धन को प्राप्त हुआ है, और शोकमय पद को प्राप्त हुआ है; रूप, रस आदि तन्मात्रा के समूहों से रचित है तथा अनन्त नरकों के दुःखों से व्याप्त है। यद्यपि यह अनात्मरूप से देखने के योग्य है तथापि दुर्विचारवश शाखाओं से भरपूर है एवं संसाररूपी विषमय फल का दुष्ट वृक्ष है। आशारूप पाशों का निर्माण करनेवाले इस समस्त संसार को जो कि पुरुषार्थों से हीन है, जैसे वट का बीज फल से रहित वटवृक्ष को धारण करता है, वैसे ही अपने भीतर धारण कर रहे, दुश्चिन्तारूपी अग्निज्वालाओं से झुलसे हुए, कोपरूपी अजगर से डँसे हुए, कामरूपी समुद्र की बड़ी–बड़ी तरंगों से विताड़ित, अपने आत्मस्वरूप मूल कारण को भूले हुए,

यूथ से बिछड़े हुए मृग के समान शोक से अचेत हुए, विषयरूपी अग्नि में पतंगे के समान ज्वालाओं से जले हुए, जिसकी जड़ कट गई हो, ऐसे कमल की तरह अत्यन्त म्लानता को प्राप्त हुए, अपने निवासभूत देह से मृत्यु द्वारा अपहरण करने पर तत् तत् देहों के अभिमान के विच्छेद से छिन्न–भिन्न अंगवाले, अतएव तत्–तत् देहों में आसक्ति से अत्यन्त पीड़ित एवं विषय, इन्द्रिय, देह आदिरूप भाँति–भाँति के रूप धारणकर अपने विनाश में तत्पर हुए शत्रुओं के मध्य में उन पर विश्वास करने के कारण स्थित, पहले कही गई संकटाकीर्ण इस अनन्त दशाओं में भटके हुए, जैसे पक्षी सागर में गिरा हो वैसे ही घोर दुःख में गिरे हुए, गन्धर्व नगर के तुल्य शून्य इस जगज्जाल में अपने बन्धन के हेतुभूत देह आदिपर अत्यन्त स्नेह करनेवाले, तत्त्वज्ञान और उसके साधने के अनादररूपी समुद्र में तैर रहे एवं विषय–वासना से पीड़ित मन का हे देवतुल्य श्रीरामचन्द्रजी ! कीचड़ से हाथी से समान, आप उद्धार कीजिए ॥३९–५०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कामरूपी छोटी तलैया में बैल के समान खूब फँसे हुए तथा चिरकाल तक विषयभोगों से पुण्यक्षय होने पर परलोक जाने के साधनों का अभाव होने से कटे हुए तथा शिथिल हस्त, पाद आदि अवयववाले मन का आप प्रयत्न से उद्धार कीजिए ॥५१॥

पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान और उसके साधनों में अनादर करनेवाले पुरुष की निन्दा द्वारा इस सर्ग का उपसंहार करते हैं।

मन के काम्य शुभकर्म और निषिद्ध कर्मों के आधिक्य से मलिन स्वरूपवाले एवं खूब प्रज्वलित हो रहे जरा, मृत्यु और विषादों से मूर्छित होने पर जिसको इस जगत में क्लेश नहीं होता वह मनुष्य नराकृति में छिपा हुआ राक्षस है ॥५२॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

जीवों की कर्मगति का विस्तार से वर्णन एवं विवेक आदि के
अत्यन्त दुर्लभ होने से किन्हीं–किन्हीं की मुक्ति होती है, यह वर्णन।

इस प्रकार मन की स्वबन्धकता का प्रकार कह कर उस मन से उपहित चिद्रूप जीवों की जब तक मोक्ष न हो तब तक संसार स्थिति के प्रकार की विचित्रताओं का वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी संगति प्रदर्शन के लिए पूर्वोक्तजीवोत्पत्ति का दूसरे प्रकार से अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, इस प्रकार चित् के औपाधिक विभावरूप जीव संसारवासना से लाखों और करोड़ों की संख्या में प्रवाहित हैं। पूर्ववासना के अनुसार कल्पित आकारवाले ब्रह्म से पहले असंख्य जीव उत्पन्न हो चुके हैं। आज भी उत्पन्न हो रहे हैं और भविष्य में भी उत्पन्न होंगे, उससे वे यों उत्पन्न होते हैं जैसे झरने से जलबिन्दुओं की राशियाँ उत्पन्न होती है ॥१,२॥ अपनी वासनामय दशा के आवेश से वे आशा के वशवर्ती हुए हैं और इस अतिविचित्र दशाओं में स्वयं आबद्ध हुए हैं ॥३॥ निरन्तर हर एक दिशा में, प्रत्येक देश में, जल में और स्थल में जल में बुद्बुदों की तरह वे या तो उत्पन्न होते हैं या मरते हैं ॥४॥ किन्हींने इस कल्प में एक ही जन्म प्राप्त किया है और किन्हीं के सौ से भी अधिक जन्म हो गये हैं। किन्हीं के जन्मों की संख्या ही नहीं है, किन्हीं के दो या तीन जन्मान्तर

हुए हैं, किन्हींके जन्म आगे होनेवाले हैं यानी इस कल्प में अभी उत्पन्न ही नहीं हुए है, किन्हीं के जन्म बीत चुके है यानी जीवन्मुक्त है। किन्हीं के जन्म हो रहे हैं और कोई विदेहमुक्ति को प्राप्त हो गये है, कोई हजारों कल्पों से बारबार उत्पन्न हो रहे हैं, कोई एक ही योनि में स्थित है, कोई अन्यान्य योनियों को प्राप्त हो रहे हैं ॥५-७॥ कोई बड़े-बड़े क्लेशों को (नरकों को) सहते हैं, कोई अल्प सुखवाले (मनुष्य) हैं, कोई अत्यन्त प्रसन्न (देवगण) हैं और कोई मानों सूर्य से उदित हुए हैं यानी (सत्यलोकवासी) हैं ॥८॥ कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर तथा नागों की योनियों में हैं और कोई सूर्य, इन्द्र, वरुण हैं तथा कोई शिव, विष्णु, ब्रह्मा हैं ॥९॥ कोई कूष्माण्ड, वेताल, यक्ष, राक्षस पिशाचरूप से स्थित हैं तथा कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के समूहरूप से स्थित है ॥१०॥ कोई म्लेच्छ, चाण्डाल और किरात की योनि में उत्पन्न अधम जातियों में स्थित है, कोई तृण और औषधि के रूप में विद्यमान हैं और कोई फल, मूल तथा पतंगों के रूप में स्थित हैं ॥११॥ तो कोई भाँति-भाँति की लताओं, झाड़ियों, तिनकों और पर्वतों के रूप में चारों ओर विद्यमान हैं एवं कोई कदम्ब, नींबू, शाल, ताल और तमालरूप से स्थित हैं ॥१२॥ कोई अपने वैभव से संसार में भ्रमण करनेवाले मन्त्री, सामन्त और राजा के रूप में विद्यमान हैं, तो कोई वस्त्र न मिलने के कारण अथवा तपस्या के लिए वल्कल वस्त्रों से आच्छन्न हो मुनियों के मौन को प्राप्त है ॥१३॥ कोई साँप, अजगर, कीड़े, मकोड़े और चींटियों के रूप में स्थित हैं, कोई सिंह, भैंस, मृग, बकरे, चमरी, गाय और खरगोश के रूप में है ॥१४॥ कोई सारस, चकोर, बलाका, बतक, कोकिल के रूप में है, तो कोई तो कमल, कह्लार (श्वेतकमल), कुमुद और उत्पल के रूप में स्थित हैं ॥१५॥ कोई हाथी के बच्चे, हाथी, वराह, बैल, गदहे के रूप में है, तो कोई भँवर, मच्छर, डाँस की योनियों में उत्पन्न हुए हैं ॥१६॥ कोई बड़ी-बड़ी आपत्तियों से आक्रान्त हैं, तो कोई बड़े समृद्धिशाली हैं, कोई स्वर्ग में विराजमान हैं, तो कोई नरकों में पड़े हैं ॥१७॥ कोई तारा समूह में स्थित हैं, तो दूसरे वृक्षों के छिद्रों में बैठे हैं, कोई आवह, प्रवाह आदि वायुओं के अधिकार को प्राप्त हैं, तो कोई आकाश में अधिकार जमाये हैं ॥१८॥ कोई सूर्य की किरणों में (रस खींचने के अधिकार में) स्थित है, तो कोई चन्द्रमा की किरणों में (औषधि आदि की वृद्धि करने में) लगे हैं और कोई तृण, लता और झाड़ी का रस जहाँ पर स्वादू है, ऐसे पशु आदि के योग्य विषय लम्पटता में संलग्न हैं ॥१९॥ कोई मोक्ष के समुचित पात्र जीवन्मुक्त हो यहाँ पर भ्रमण करते हैं, कोई चिरकाल से मुक्त होकर स्थित हैं और कोई परमात्मभाव को प्राप्त करते हैं यानी विदेहमुक्त हैं ॥२०॥ किन्हीं कल्याण भाजन जीवों की चिरकाल में मुक्ति होनेवाली है, तो कोई जीव भोगलम्पट होकर आत्मा के कैवल्य का द्वेष करते हैं ॥२१॥ कोई विशाल दिक्पाल देवता हैं, तो कोई महावेगवाली नदियाँ हैं। कोई मनोहर नेत्रवाली स्त्रियाँ हैं, तो कोई नपुंसक हैं ॥२२॥ किन्हीं लोगों की बुद्धि अत्यन्त प्रबुद्ध है, ते किन्हीं का हृदय अत्यन्त जड़ है। कोई ज्ञान का उपदेश देनेवाले हैं, तो किन्हीं ने समाधि ले रक्खी है ॥२३॥

ये सभी जीव संसार की अनर्थकारिणी वासना से ही हुए हैं, इसलिए वासना का ही समूल उच्छेद करना चाहिये, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

अपनी वासना के आवेश से विवश बुद्धिवाले जीव इन-इन उपरोक्त सभी अवस्थाओं में बद्धभावनावाले होकर स्थित हैं। इसमें कुछ तो पृथिवी में विहार करते हैं, कुछ नरक में गिरते हैं और

कुछ स्वर्ग में जाते हैं। सचमुच मृत्यु से निरन्तर आहत हुए इन लोगों की अवस्था हाथ से पुनः पुनः ताड़ित गेंद की तरह है ॥२४,२५॥ सैकड़ों आशारूप फन्दों से बँधे हुए, तथा वासनारूप भावी देहों को धारण करनेवाले जीव जैसे पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाते हैं वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हैं ॥२६॥ अविद्या से, जो कि अनन्त विषयों में अनन्त संकल्प–कल्पनाओं की उत्पत्ति में हेतु है, इस जगद्रूप महान इन्द्रजाल का विस्तार कर रहे ये मूढ़ जीव जल में आवर्तों की तरह संसार में तब तक भटकते हैं, जब तक आनन्दित अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेते ॥२७,२८॥

यदि कोई कहे, विवेकी पुरुषों को आत्मसाक्षात्कार से क्या लाभ होता है ? इस पर कहते हैं।

आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर असत् का त्यागकर सत्य ज्ञान को प्राप्तकर भूमिकाओं की दृढ़ता के क्रम से परम पद को प्राप्त होकर विवेकी पुरुष इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होते ॥२९॥

विवेक शून्य लोगों की जो गति होती है, उसे कहते हैं।

कोई अविवेकी लोग हजारों जन्मों का भोगकर विवेक को प्राप्त करके भी फिर इस संसाररूपी संकट में गिरते हैं। कुछ लोग देव, गन्धर्व, ब्राह्मण आदि उत्तम जन्म, उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम प्रतिभा, विनय, सत्संगति आदि सम्पत्ति को प्राप्त करके भी तुच्छ विषयों में लम्पटतावश अपनी बुद्धि से ही फिर तिर्यक् योनि को प्राप्त होते हैं और तिर्यक् योनियों से नरकों को भी प्राप्त होते हैं ॥३०,३१॥ कोई महामति सनक आदि महात्मा पुरुष ब्रह्मपद से उत्पन्न होकर उसी कल्प में एक ही जन्म द्वारा मोक्षरूप ब्रह्मपद में ही शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं ॥३२॥ कोई जीवराशियाँ अपने उत्पत्तिस्थानरूप ब्रह्माण्डों से अन्य ब्रह्माण्डों में प्राप्त होती हैं, कोई अपने उत्पत्तिस्थानरूप ब्रह्माण्डों में ही उत्पन्न होती हैं, कोई हिरण्यगर्भ स्वरूपता को प्राप्त होती हैं और कोई शंकरस्वरूपता को प्राप्त होती हैं ॥३३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई जीवराशियाँ तिर्यक् योनि को प्राप्त होती हैं, तो कोई देवत्व को प्राप्त होते हैं, कोई नागयोनि को प्राप्त होती हैं, तो कोई जैसे इस ब्रह्माण्ड में थी वैसे ही दूसरे ब्रह्माण्डों में भी होती हैं ॥३४॥ जैसे यह विशाल ब्रह्माण्ड है वैसे ही और विशाल ब्रह्माण्ड भी बहुत से विद्यमान है, पहले थे और आगे होंगे ॥३५॥ अन्यान्य विचित्र क्रम से और अन्यान्य विचित्र हेतुओं से उनकी विचित्र सृष्टियाँ आविर्भूत होती है और तिरोहित होती हैं ॥३६॥

इस ब्रह्माण्ड की तरह अन्यान्य ब्रह्माण्डों में भी कर्मों की विचित्रता से जीवों की गति विचित्र ही है, इस आशय से कहते हैं।

उन ब्रह्माण्डों में भी कोई गन्धर्व होता है, तो कोई यक्ष योनि में उत्पन्न होता है, कोई देवत्व को प्राप्त होता है, तो कोई दैत्यता को प्राप्त होता है ॥३७॥ इस ब्रह्माण्ड में लोग जिस मनुष्य आदि के उचित व्यवहार से स्थित है, उसी व्यवहार से अन्यान्य ब्रह्माण्डों में भी वे स्थित हैं। केवल अन्य द्वीपवासी लोगों के समान उनकी आकृति में विलक्षणता है ॥३८॥

यदि कहे भले ही ऐसा हो, फिर उत्तमता, अधमता आदिरूप से और परस्पर स्नेह, विरोध आदिरूप से उन जीवों का सृष्टि परिवर्तन कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे परस्पर संघट्टन से नदी की लहरें परिवर्तित होती हैं वैसे ही सात्त्विक राजस, तामस आदि स्वभाव के कारण तत्तदनुकूल व्यवहार में आग्रह से प्रवृत्त हुए उन जीवों की किसी एक विषय में स्पर्धावश परस्पर

विमर्दन द्वारा सृष्टियों का परिवर्तन होता है ॥३९॥ जैसे नदीं की तरंगें आविर्भाव और तिरोभाव द्वारा उन्मज्जन और निमज्जन से परिवर्तित होती हैं वैसे ही रज का आविर्भाव होने पर सृष्टि का उन्मज्जन और सत्त्व तथा तम का निमज्जन होता है। तम के आविर्भाव से रज का तिरोभाव होने पर सृष्टि का निमज्जन और बीज में सत्त्व का आविर्भाव होने पर पालन द्वारा सृष्टि का परिवर्तन होता है ॥४०॥

सत्त्व आदि गुणों के अधीन अन्तःकरण आदि की सृष्टि से अन्तःकरणोपाधिकजीव के आविर्भाव की प्रसिद्धि है, इस आशय से कहते हैं।

उस परम पद से अनिर्देश्य और स्वसंवेद्य जीवराशियाँ निरन्तर आविर्भूत होती हैं और उसी में स्पष्टरूप से व्यवहार करती हैं ॥४१॥

इस विषय में श्रुति आदि में प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं।

दीप से प्रकाश की तरह, सूर्य से किरणों की तरह, तपे हुए लोहे से लोह कणों की तरह, अग्नि से चिन्गारियों की तरह, समय से विचित्र ऋतुओं की तरह, फूलों से सुगन्ध की तरह, वर्षा के परमाणुओं से तुषार की तरह और समुद्र से लहरों की तरह जीवराशियाँ बार-बार उत्पन्न हो-होकर चिरकालतक देह परम्परा को भोगकर प्रलय काल में बीजभूत शान्त पद में अपने-आप ही विलीन हो जाती हैं ॥४२-४४॥

पूर्वोक्त जीव-जगत की सृष्टि का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

यह त्रिभुवनरचना आदि की भ्रान्तिरूप माया समुद्र में लहरों की तरह परम पद में निरन्तर व्यर्थ ही विस्तृत है, बढ़ती है, परिणाम को प्राप्त होती है और नष्ट होती है ॥४५॥

तैंतालीसवाँ सर्ग

चौवालीसवाँ सर्ग

मुक्ति और प्रलय में समानता होने पर भी इन दोनों में विलक्षणता का कथन एवं विरंचिरूप जीव के शरीर-ग्रहण क्रम का कथन।

प्रलय में अपने-आप शान्त पद में जीवराशियाँ विलीन होती है, ऐसा जो कहा है, उसमें श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, 'उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम्' इत्यादि आपके द्वारा उक्त क्रम से जिस जीव ने प्रलय में परम पद में अपनी स्थिति प्राप्त कर ली, वह मुक्त ही है, वह फिर अस्थिपिंजररूप देह को कैसे ग्रहण करता है ? भाव यह है कि परम पद को प्राप्त पुरुष को यदि पुनः संसारप्राप्ति हो, तो मुक्ति में भी लोगों की अनास्था हो जायेगी। यदि कहिये कि अज्ञानावृत प्राणी में बीजता प्रयुक्त विशेषता हो सकती है, तो ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि सर्वथा बीजताशून्य वस्तु अज्ञान-आवरणमात्र से बीज नहीं हो सकती, अन्यथा पत्थर के टुकड़े जो बीज नहीं है, केवल अज्ञान के आवरण से अंकुरादि के प्रति बीज होने लगेंगे ॥१॥

यद्यपि अज्ञानावृत शिला के टुकड़ों में स्वसमान सत्तावाले (व्यावहारिक सत्तावाले) अंकुर के प्रति बीजता नहीं दिखाई देती है तथापि आवरणसमान सत्तावाले (प्रतिभासिक सत्तावाले) सर्प आदि के प्रति आवृत रज्जु आदि में कारणता दिखाई देती है, अतएव मिथ्या बीजता केवलमात्र आवरण से की गई है,

यह यद्यपि विशेषरूप से मैंने नहीं कहा, तथापि आपको अपनी बुद्धि से ही तर्क द्वारा समझ लेना चाहिये, इसके लिए प्रश्न की आवश्यकता नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं :

हे रामचन्द्रजी, जो आपने मुझसे पूछा है, उसका उत्तर मैं पहले ही कह चुका हूँ। आपकी समझ में क्यों नहीं आ रहा है, आपकी पूर्वापर के विचार में निपुण बुद्धि कहाँ चली गई है ? ॥२॥ जो यह शरीर आदि रूप स्थावर–जंगम जगत है, यह आभासमात्र ही (विवर्तमात्र ही) है, अतएव असत् स्वप्न के समान उदित हुआ है ॥३॥

यदि कोई कहे कि चिरकाल तक स्थिर रहनेवाले ब्रह्माण्ड, भुवन आदि आभासमात्र कैसे हो सकते है ? तो इस पर कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रपंच दीर्घकालीन स्वप्न के समान, दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के समान एवं घूमने के समय घूमते हुए पहाड़ के समान मिथ्या ही दिखाई देता है ॥४॥

अज्ञानी के बीज रहनेके कारण पुनः संसारदर्शन होने पर भी ज्ञानी को पुनः संसारदर्शन की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

जिस पुरुष की अज्ञानरूपी नींद नष्ट हो गई और वासनाएँ शान्त हो गई ऐसा प्रबुद्ध चित्तवाला पुरुष जीवन्मुक्त के व्यवहार के योग्य संसाररूपी स्वप्न को देखता हुआ भी परमार्थ–दृष्टि से नहीं देखता है ॥५॥

बीजभूत अज्ञान में भावी संसार मोक्ष होने तक सूक्ष्मरूप से रहता है, इस कारण भी बारबार जन्म की उपपत्ति होती है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवों के स्वभाव से कल्पित संसार अज्ञानात्मा के अन्दर सदा ही विद्यमान रहता है, जिसकी मोक्ष होने तक लगातार प्राप्ति होती है ॥६॥

जैसे जल के भीतर आवर्त (भौंरी) रहता है, बीज के अन्दर अंकुर रहता है, अंकुर के अन्दर विशाल वृक्ष रहता है, वृक्ष में जैसे फूल रहता है और फूल के अन्दर जैसे फल रहता है वैसे ही जीव के अन्दर चंचल (विनाशी) शरीर रहता है।

शंका : जीव के अन्दर शरीर कैसे रहता है ?

समाधान : कारण कि मन के अन्दर कल्पनारूप देह सदा विद्यमान रहती है ॥७,८॥

मन के अन्दर देह की सम्भावना कैसे है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

मन की विविध रूपों से प्रसिद्ध, देहरूप की भी वासनारूप से उसमें सम्भावना हो सकती है।

शंका : यदि ऐसा है, तो बहुत से शरीर एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

समाधान : वासनारूप से बहुत से शरीरों के मन में स्थित होने पर भी जो एक ही शरीर परिपक्व हुए कर्मों से अभिव्यक्त होता है, वही विर्वतरूप शरीर इस जीव को प्रायः एक समय में प्राप्त होता है, सभी शरीर प्राप्त नहीं होते ॥९॥

यह मन ही देह होता है। उत्तम कर्मों का परिपाक होने पर उत्तम देह होती है, यह बात आदि सर्ग से लेकर दर्शाते हैं।

यह मन ही, जैसे मिट्टी का पिण्ड घट के रूप में परिणत हो जाता है वैसै ही, शीघ्र शरीर बन जाता है। पहले पूर्व सृष्टि में इसका प्रतिभासरूप उत्तम शरीर उत्पन्न हुआ, क्योंकि पद्मकोशरूपी घर में

स्थित विभु ब्रह्मा यह हुआ, तदनन्तर उसके संकल्प के क्रम से ही घन माया से माया की तरह आर–पार–रहित यह सृष्टि स्थिति को प्राप्त हुई है ॥१०,११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जीव मन पद को प्राप्त करके जिस प्रकार विरंचिपद को प्राप्त हुआ, उस प्रकार को आद्योपान्त विस्तारपूर्वक शीघ्र मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, ब्रह्मा के शरीर ग्रहण में जो क्रम है उसे आप मुझसे सुनिये, उसी को उदाहरण बनाकर आप जगत की सारी स्थिति को जान जायेंगे ॥१३॥ देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व जब भी अपनी शक्ति से देश, काल से परिच्छिन्न शरीर को धारण करता है, तभी वह जीवनामक, वासनाओं के आवेश में तत्पर, विविध कल्पनाएँ करने में संलग्न, चंचल मन बन जाता है ॥१४,१५॥

विविध कल्पना करने में संलग्न, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसी को स्पष्ट करते हैं।

कल्पना कर रही मन की शक्ति पहले एक क्षण में शब्दतन्मात्ररूप श्रोत्रेन्द्रिय में उन्मुख निर्मल आकाश भावना की भावना करती है। पूर्वोक्त आकाश भावना को प्राप्त करके घनता को (वृद्धि को) प्राप्त हुआ मन स्पन्दरूप घनता के क्रम से स्पर्श तन्मात्ररूप त्वगिन्द्रिय में उन्मुख वायुरूप से स्पन्द की भावना करता है ॥१६,१७॥ अपंचीकृत होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म होने से मनोवच्छिन्न चैतन्यरूप जीव से न देखे गये शब्द–स्पर्शरूप उन आकाश और वायु से बढ़ने और आघात होने के कारण रूपतन्मात्ररूप अग्नि उत्पन्न होती है ॥१८॥ तदनन्तर उनसे घनता को प्राप्त हुआ मन निर्मल आलोकवाली प्रकाशता की क्षण भर में भावना करता है, उससे आलोक की अभिवृद्धि होती है ॥१९॥ आकाश, वायु और तेज से वृद्धि को प्राप्त हुआ मन रसतन्मात्ररूप जल की शीतता को क्षणमात्र में प्राप्त करके जलनाम से प्रतीति योग्य होता है ॥२०॥ तदनन्तर पूर्वोक्त चारों के संघात को प्राप्त हुआ मन क्षणभर में गन्धयुक्त स्थूल स्वरूप की भावना करता है, जिससे पृथ्वी उत्पन्न होती है ॥२१॥ तदनन्तर इस प्रकार भूततन्मात्राओं से वेष्टित अपने सूक्ष्म शरीर का त्याग कर रहा मन आकाश में दैदीप्यमान आग की चिन्गारी के तुल्य अपने स्वरूप को देखता है ॥२२॥ जिस शरीर को देखता है, अहंकारकला से युक्त, बुद्धिरूप बीज से सम्पन्न, पंचभूतों के हृदयकमल का भ्रमररूप वह लिंग शरीर पुर्यष्टक कहा जाता है ॥२३॥

आगे कही जानेवाली देह की भावना से लिंग शरीर के ही पंचीकरण द्वारा घन होने पर स्थूल देह की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

उसमें तीव्र वासना से स्थूल शरीर की भावना करता हुआ मन पाक से बिल्वफल के समान स्थूलता को प्राप्त होता है ॥२४॥ साँचे के अन्दर रखे हुए पिघले सोने के समान बाहर स्थूल भास्वर और अन्दर सूक्ष्म भास्वर वह तेज निर्मल आकाश में स्फुरित होकर स्थूल देह से युक्त आगे कहे जानेवाले अवयवों की रचना को अपने स्वभाव से ग्रहण करता है ॥२५॥

उसमें मन की विशेष कल्पनाभिनिवेशरूप शाखा–प्रशाखाओं की वृद्धि होती है, ऐसा कहते हैं।

तेजपुंजमय अपने अवयवसंनिवेश में ऊपर सिर और पीठवाली नीचे पैरवाली दोनों बगलों में हाथरूप अवयवों से युक्त और बीच में उदरयुक्त आकाश को व्याप्त करनेवाली निश्चित विशाल भावना को धारण करता है ॥२६,२७॥ तदनन्तर ज्वालाओं की पंक्ति के समान निर्मल आकारवाला,

प्रकट अवयववाला बालक यह (ब्रह्मा) मनोरथवश शरीर प्राप्त कर स्थित होता है। इस प्रकार अपना वासनाओं के आवेश से शरीर धारण किया हुआ मनरूपी मुनि (पूर्वोपासना के प्रकार का मनन करनेवाला) जैसे ऋतु अपने स्वभाव को बढ़ाती है, वैसे ही अपने शरीर को बढ़ाता है ॥२८,२९॥ समय पाकर वह प्रकट होता है। निर्मल शरीरवाला पिघले हुए सुवर्ण के तुल्य तथा परम ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ सब लोगों का पितामह वही भगवान ब्रह्मा बुद्धि, सत्त्वगुण, बल, उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है ॥३०,३१॥ परमाकाशरूप ब्रह्म में अन्य रूपवाला यह जिस प्रकार की अपनी सत्ता से रहता है, उसी प्रकार की व्यवहार के योग्य सत्ता से अपने अज्ञान को ही, जो कि आत्मा में स्थित है, पंचीकृत स्थूल आकाश आदि के आगे कहे जानेवाले रूप से उत्पन्न करता है ॥३२॥

समयभेद से उसकी नाना प्रकार की कल्पनाओं को दिखलाते हैं।

कभी वह आर–पार–शून्य, आदि, मध्य और अन्तरहित केवल विशाल आकाश की कल्पना करता है कभी (प्रतिदिन के प्रलय के समय) केवल निर्मल जल की ही कल्पना करता है। कभी (कल्प के अन्त में दाह के समय) ब्रह्माण्ड को प्रलयकाल की अग्निज्वालाओं से प्रदीप्त करता है ॥३३॥ कभी (पृथिवी की सृष्टि के बाद और प्राणियों की सृष्टि के पूर्व) हरे रंग के वन की यानी वृक्षों से व्याप्त सारी पृथिवी की कल्पना करता है। कभी (पाद्मकल्प में) भगवान विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुए काले कमल की कलिका की सृष्टि करता है ॥३४॥ यह प्रभु ब्रह्मा अपने हरेक जन्म में और–और भुवन, समुद्र, जीव–जन्तु आदिरूप अनेक आकारों की क्रीड़ा से रचना करता हुआ विष्णु आदि के रूप से स्वयं ही उनका पालन करता है ॥३५॥

प्रथम कल्प से लेकर प्रतिदिन सोकर उठे हुए उसके स्वदेह कल्पनाक्रम को दिखलाते हैं।

जब यह ब्रह्म पद से इस प्रथमरूप से (📖) अवतीर्ण हुआ, तभी से लेकर अज्ञानवश ब्रह्माण्डगर्भ में सुषुप्ति सुख से उपलक्षित अपने पूर्व वास्तविक स्वरूप के और देहव्यवहार आदि के अस्मरणरूप सुषुप्ति को प्राप्त हुआ ॥३६॥ गर्भनिद्रा के हटने पर वह अपने प्रकाशमय स्वरूप को जो प्राण, अपान, के प्रवाह से परिपूर्ण था, जो पंचमहाभूतों के स्वच्छ हिस्सों से मानों बना था उसे देखता है ॥३७॥ उसका उक्तस्वरूप करोड़ों रोमों से व्याप्त, बत्तीस दाँतों से युक्त, जंघाओं और रीढ़ की हड्डियों से तीन स्तम्भवाला, पाँच प्राणों से पाँच देवतावाला, नीचे भाग में पैरों से युक्त, हाथ, पैर, सिर, वक्षः स्थल और पेटरूप पाँच भागवाला, नेत्र, कान, नासिका आदि नौ द्वारवाला, त्वचारूपी लेपवाला, कोमल अवयववाला, बीस अंगुलियों से युक्त, बीस नखों से चिह्नित, दो बाहुवाला, दो स्तनवाला, दो नेत्रवाला, कभी–कभी इच्छा से बहुत नेत्र और भुजावाला था। वह चित्तरूपी पक्षी का घोंसला था, कामदेवरूपी सर्प का बिल था, तृष्णारूपी पिशाचिनी का आवास था, जीवरूप सिंह की गुफा था, अभिमान रूपी हाथी का बन्धनस्तम्भ था और हृदयरूपी कमल से सुशोभित था ॥३८–४१॥ तदनन्तर त्रिकालदर्शी भगवान ब्रह्मा ने अपने उत्तम और मनोहर रूप को देखकर विचार किया ॥४२॥ जिसका

📖 सब ब्रह्माण्डों का और उनके अभिमानी हिरण्यगर्भों का काल से अपरिच्छिन्न परब्रह्मपद से ही आविर्भाव हुआ है, अतएव उनका पौर्वापर्य नहीं है, इसलिए सभी प्रथम है; इस अभिप्राय से इस प्रथम रूप से कहा है।

आर–पार किसीके द्वारा नहीं देखा गया है, भौंरे के तुल्य श्यामता से युक्त इस विशाल आकाश कुहर में मेरी उत्पत्ति के पहले क्या था, ऐसा विचार करने के उपरान्त तुरन्त ब्रह्मा की दृष्टि निर्मल हो गई। उन्होंने अनेक अतीत सृष्टियाँ देखी ॥४३,४४॥ तदनन्तर क्रमशः सांगोपांग सब धर्मों का उन्हें स्मरण हुआ। जैसे वसन्त अपने पूर्वपरिचित फूलों को ग्रहण करता है वैसै ही पूर्वपरिचित वेदों को ग्रहण कर उन्होंने विचित्र संकल्पों से उत्पन्न हुई विविध प्रजाओं की गन्धर्वनगर में विविध आचार–विचारों के तुल्य लीला से कल्पना की ॥४५,४६॥ उनके स्वर्ग और मोक्ष के लिए धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के अनन्त शास्त्रों की कल्पना की ॥४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वसन्त से पुष्पशोभा का आविर्भाव होता है, वैसे ही ब्रह्मारूपधारी मनसे इस सृष्टि में यह दृष्टि यों स्थिति को प्राप्त हुई है ॥४८॥ हे रघुकुलदीपक, विविध प्रकार की रचनाओं से पूर्ण क्रियाविलासों से ब्रह्मा का रूप धारण करनेवाले चित्त ने ही अपनी कल्पना द्वारा यह सृष्टि शोभा इस जगत में सत्य और तुच्छ से विलक्षण होने के कारण अनुपम स्थिति को प्राप्त की है ॥४९॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

मन का कार्य कभी सच्चा नहीं होता, कारण कि मनोरथ आदि में ऐसा देखा गया है;
इसलिए मनोमय होने के कारण जगत असत् है, सत् ही सत् है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : यह जगत स्थित होता हुआ कुछ भी स्थित नहीं है, क्योंकि मन का विलासमात्र यह सम्पूर्णतया प्रतिभासमात्र ही स्थित है, प्रतिभास से अतिरिक्त यह शून्य ही है ॥१॥

प्रतिभास से अतिरिक्त वह शून्य कैसे है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

इस परिच्छिन्न ब्रह्माण्ड से प्रतिभासरूप देश और काल व्याप्त नहीं हैं, क्योंकि अतीत, भावी बाहर स्थित अनेक ब्रह्माण्ड कोटियों का जैसे धूप में परमाणु घूमते हैं वैसे ही, प्रतिभास के अन्दर भ्रमण दिखाई देता है। और तो और जो आकाश परम महत्त्वरूप से प्रसिद्ध है उससे भी वे व्याप्त नहीं है, क्योंकि 'ज्यायानाकाशात्' ऐसी श्रुति है ॥२॥

पूर्व और उत्तर देश और काल से व्याप्ति तो दूर रही अपने आश्रयभूत (वर्तमान) देश और काल में भी अध्यस्त द्वारा अधिष्ठान का स्पर्श नहीं होता। इसलिए ब्रह्माण्ड द्वारा प्रतिभासरूप देश और काल की व्याप्ति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

जिस देश और काल में केवल संकल्पस्वरूप स्वप्न में देखे गये नगर के तुल्य यह जगत चित्त में भासित होता है, वहीं पर उसका अधिष्ठानरूप चैतन्य है। जगत से शून्य केवल आकाश ही स्थित है ॥३॥

अतएव यह गन्धर्वनगर के चित्र के तुल्य है, ऐसा हमने पहले कहा है। ऐसा कहते हैं।

रंगों से रचा गया फिर भी भित्तिरहित, देखा गया फिर भी असन्मय, नहीं रचा गया फिर भी रचा हुआ–सा यह आकाश में अद्भुत चित्र है ॥४॥

प्रत्येक स्मृति में मन हेतु होता है। मन से रचित यह जगत स्मृति के तुल्य ही है। इसलिए अपने स्थिति काल में भी यह सत् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सब देहादि तीनों भुवन मन से ही कल्पित हैं। जैसे देखने में चक्षु कारण है वैसे ही इनके स्मरण में मन कारण है ॥५॥

दीवारआदिरूप जगत सत् से अलग करके दिखलाया नहीं जा सकता। इसलिए भी सत् से पृथक्रूप से उसकी असत्ता है, ऐसा कहते हैं।

आभासरूप यह जगत घट, पट, गर्त के भ्रमों से आवर्तित होता है। दीवार आदि सद्रूप से पृथक् नहीं हैं। जैसे रेशम का कीड़ा अपने कोश की स्वयं रचना करता है वैसे ही मन ने अपने निवास के लिए इस शरीर की कल्पना की है ॥६,७॥

चित्त की संकल्पमात्र से असत्रचना प्राप्त करने की शक्ति प्रसिद्ध है, इसलिए भी पूर्वोक्त अर्थ की उपपत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

वह वस्तु नहीं है, जिस अर्थशून्य संकल्परूप वस्तु की मन रचना नहीं करता। ऐसी दुर्गम दुष्कर वस्तु भी नहीं है, जिसे मन प्राप्त नहीं करता ॥८॥ जिन शक्तियों से मन रूपी गुहाएँ अन्दर प्राप्त नहीं होती, वे शक्तियाँ सर्वशक्तिशाली जगदीश्वर में भी कोई हो सकती हैं ? ॥९॥

यदि सदा ही यह जगत असत् है तथा ब्रह्म सदा ही सत् है और उनका परस्पर स्पर्श नहीं है, तो जगत में सत्ता और असत्ता कादाचित्क (कभी होनेवाली) कैसे हो सकती हैं; इस पर कहते हैं।

हे महाबाहो, सर्वशक्ति विभूके रहते सब पदार्थों की सत्ता और असत्ता सदा ही हो सकती है। भाव यह है कि सत्ता और असत्ता कादाचित्क (कभी होनेवाली) नहीं हैं किन्तु सनातन है। उनकी परस्पर आविर्भाव द्वारा पारापारी से आवेश कल्पना ही अचिन्त्य मायाशक्ति द्वारा की जाती है ॥१०॥

वह यह ईश्वर की सर्वशक्ति है, इसका अपने मन में ही प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

मन ने अपने से उत्पन्न हुआ शरीर भावना से प्राप्त किया है, इस बात को आप देखिये। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मन की कल्पना को ज्ञानियों ने सर्वशक्तिसंपन्न बताया है। जगत में विचित्र पदार्थ शक्तियाँ भी सर्वशक्ति मन की कल्पना से ही हैं। यह भाव है ॥११॥

इसलिए देवादिशक्तियों द्वारा भी मुक्ति का प्रतिरोध नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं।

देवता, असुर, मनुष्य आदि सब अपने अपने संकल्प से किये गये हैं। अपने संकल्प की निवृत्ति होने पर तैलरहित दीप के समान वे शान्त हो जाते हैं ॥१२॥ हे महामते, इस सम्पूर्ण जगत को आकाश तुल्य, अपनी कल्पनामात्र से विकसित, उत्पन्न हुए दीर्घस्वप्न के तुल्य आप देखिये। हे सुमते इस जगत में कभी भी कुछ परमार्थ दृष्टि से न उत्पन्न होता है और न मरता है। मिथ्यादृष्टि से तो सब कुछ होता है। जो वस्तु कभी भी न कुछ वृद्धि को ही प्राप्त होती है और न ह्रास को प्राप्त होती है, उसमें खण्डन से (काटने से) क्या अपव्यय होगा ? और उसका खण्डन ही क्या है ? ॥१३–१५॥ अपने शरीर से मूँज से ईषिका की तरह पृथक् किये हुए भूमारूप को परमार्थदृष्टि से अपने अन्तःकरण में न देखते हुए आप परिच्छिन्न आत्मदर्शन से अज्ञ की नाईं क्यों मोह को प्राप्त हो रहे हैं ? ॥१६॥ जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों से मृगजल दिखाई देता है वैसे ही मन के संकल्प से असत्य सब ब्रह्मा आदि दिखाई देते हैं ॥१७॥

मनोरथ की नाईं तथा दो चन्द्रमाओं के विभ्रम के तुल्य मिथ्याज्ञान से पूर्ण ये सब दृश्याकार राशियाँ

जगत में उत्पन्न हुई है ॥१८॥ जैसे नौका से यात्रा कर रहे लोगों की मिथ्या ही स्थाणु में चलन प्रतीति होती है वैसे ही दृश्य आकारों की परम्परा नित्य असत्य ही उदित हुई है ॥१९॥ माया से जिसका पिंजर रचा गया है, मन के मनन से ही जिसका निर्माण हुआ है, ऐसे इस दृश्य को आप इन्द्रजाल जानिये। यह सत् नहीं है, फिर भी सत्य के समान स्थित है ॥२०॥ यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है। इसलिए भेद का प्रसंग किस प्रमाण से, किसके प्रकार का, कौन और कहाँ हो सकता है ? ॥२१॥ यह पर्वत है, यह स्थाणु है और यह उनके अन्तरालवर्ती आडम्बरों का विलास है। ये सब मन की भावना की दृढ़ता से असत् होते हुए भी सत्–से प्रतीत होते हैं ॥२२॥ विचारहीन पुरुष की काम तृष्णा मननरूप यह जगत स्वर्ग, नरक, तिर्यग् आदि योनियों में पतन का आरम्भक है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विवेक से जगत का त्याग करके निष्प्रपंच आत्मा की भावना कीजिये ॥२३॥ जैसे बड़े–बड़े आरम्भों से पूर्ण स्वप्न भ्रम ही है, वास्तविक नहीं है वैसे ही चित्त द्वारा उत्पादित इस जगत को भी आप दीर्घ स्वप्न समझिये ॥२४॥ दृश्यमान अवस्थावाला बहुत विस्तीर्ण अतएव रमणीय–सा वस्तुतः तुच्छ आशारूपी सर्पों का बिलरूप इस संसाराडम्बर का त्याग कीजिये ॥२५॥ यह असत् है, यह जानकर इससे प्रेम न कीजिये। विद्वान पुरुष 'यह मृगजल है' यह जानकर उसके पीछे नहीं दौड़ते ॥२६॥ जो मूढ़ पुरुष अपने संकल्प से स्वरूपयुक्त हुई मनोरथमयी राजलक्ष्मी के तुल्य इस जगत का अनुसरण करता है, वह एकमात्र दुःख का ही पात्र होता है ॥२७॥

इसके अनुगमन से केवल अनर्थ ही प्राप्त नहीं होते, किन्तु पुरुषार्थ का नाश भी होता है, ऐसा कहते हैं।

यदि वस्तु न हो, तो ये लोग भले ही अवस्तु का अनुसरण करे, किन्तु जो वस्तु का परित्यागकर अवस्तु का अनुगमन करता है, वह पुरुषार्थ से च्युत हो जाता है ॥२८॥ जैसे रस्सी में सर्प का भय मन का व्यामोह ही है वैसे ही यह भी मन का व्यामोह ही है। एकमात्र भावनाओं की विचित्रता से यह जगत चिरकाल तक प्राप्त होता है ॥२९॥ जल के भीतर चन्द्रप्रतिबिम्ब के तुल्य क्षणभंगुर मिथ्या उदित हुए पदार्थों से इस लोक में बालक ही ठगा जा सकता है, आपके तुल्य तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं ठगा जा सकता है ॥३०॥ जो पुरुष शब्दादिगुणों के समूहरूप इस देह आदिकी भावना करता हुआ अर्थात् देह आदि में 'अहं, मम' ऐसा अभिमान करता हुआ सुखी होना चाहता है वह जड़ अपनी अग्नि की भावना से शीत को हटाता है ॥३१॥ यह जड़ संघात देह आदिरूप विशाल जगत हृदय में मन के संकल्प से निर्मित विशाल नगर के समान असत् ही है ॥३२॥

यदि यह ऐच्छिक संकल्प से उत्पन्न हुआ है, तो ऐच्छिक निवृत्ति के संकल्प से क्यों नहीं निवृत्त हो जाता है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

यह दृश्य प्रपंच मन की इच्छा से उपजता है और मन की अनिच्छा से राग का विनाश होने से ही विलीन हो जाता है। इस तरह का यह विशाल गन्धर्वनगर के तुल्य झूठ–मूठ ही दिखाई देता है ॥३३॥

इसलिए इसके विनाश या वृद्धि में शोक और हर्ष करना उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत के नष्ट होने पर कुछ भी नष्ट नहीं होता और इस जगत की समृद्धि होने पर कुछ भी समृद्ध नहीं होता ॥३४॥ हृदय में मन से कल्पित विशाल नगर के खण्डहर हो जाने पर

और वृद्धि को प्राप्त होने पर भला बतलाइये तो सही किसका क्या नष्ट हुआ और क्या बढ़ा ? ॥३५॥ जैसे खेल के लिए गुड़िया आदि द्वारा पुत्र, पशु, आदि व्यवहाराभास की कल्पना बालकों के मन में होती है वैसे ही यह जगत भी मन से ही निरन्तर उदित होता है, उसके लिए शोक करना उचित नहीं है ॥३६॥ जैसे इन्द्रजाल के जल के नष्ट–भ्रष्ट होने पर किसी का कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥३७॥ जो असत् है, वह यदि अविद्यमान ही हो जाय, तो किसका क्या बिगड़ा ? अर्थात् कुछ भी नहीं। इसलिए संसार में हर्ष और शोक का विषय कुछ भी नहीं है ॥३८॥

इस प्रकार नाश के स्वीकार द्वारा शोक की अयोग्यता कहकर वस्तुतः नाश ही किसी का नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो अत्यन्त असत् ही है, इसलिए उसका नाश ही क्या होगा ? जब नाश नहीं है तब हे महामते, दुःख का कौन अवसर है ? ॥३९॥

अध्यस्त दृष्टि से नाश के असंभव का उपपादन कर अधिष्ठान दृष्टि से भी उसका उपपादन करते हैं।

अथवा जो अत्यन्त सत् ही है उसका क्या नाश होता है ? यह सब जगत एकमात्र ब्रह्म ही है, तो सुख और दुःख किसके कारण उदित हों ! अर्थात् वे उदित है ही नहीं ॥४०॥

उत्पत्ति का खण्डन करने से वृद्धि आदि विकारों का भी खण्डन हो ही गया, इसलिए तन्निमित्तक हर्ष भी ठीक नही है, ऐसा कहते हैं।

जो अत्यन्त असत् है उसकी वृद्धि कैसी ? वृद्धि का अभाव होने पर तो हे महाबुद्धि श्रीरामचन्द्रजी, हर्ष का कौन अवसर है ? ॥४१॥

इष्ट पदार्थ की प्राप्ति में हर्ष होता है। मायामय जगत में इष्ट पदार्थ ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सर्वत्र असत्यभूत, एकमात्र प्रपंचकारी इस संसार में क्या उपादेय है, जिसे विद्वान पुरुष चाहे ॥४२॥

इसी प्रकार जो पुरुष सबको आनन्दरूप से देखता है, उसको हेय भी कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सर्वत्र सत्यरूप, ब्रह्मत्वमय इस त्रिभुवन में कौन पदार्थ हेय है, जिसका विद्वान लोग त्याग करें ॥४३॥ जिसकी दृष्टि में जगत असत्य है अथवा जिसकी दृष्टि में जगत सत्य है दोनों पक्षों में भी उसका विनाश न हो सकने के कारण वह पुरुष सुख और दुःख का अगम्य यही है। किन्तु मूर्ख तो पुत्र, मित्र आदि के विनाश से, जो कि अपनी भ्रान्ति से कल्पित है, दुःखी होता है ॥४४॥

असत् और सत् पक्षों में समान उपपत्ति दिखलाते हैं।

आदि और अन्त में जो नहीं है, वर्तमान में भी उसकी असत्ता ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह असत् है, इस पक्ष की इच्छा करता है, उसको असत्ता ही दिखाई देती है।

भाव यह है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टि से पहले यह असत् ही था) 'नैवेह किंचनाऽग्र आसीत्' (यहाँ पहले कुछ भी न था) इत्यादि श्रुतियों से आकाश, वायु, भुवन आदि के आगे पीछे असत्ता सुनी जाती है और घट आदि की असत्ता प्रत्यक्ष अनुभव से देखी जाती है। चिरकाल तक, आदि और अन्त में असत्ता, थोड़े काल के लिए एक बार सत्ता प्रत्येक व्यक्ति में प्रसिद्ध है। एक दूसरे का विनाशक होने के कारण सत्त्व और असत्त्व–दोनों एकवस्तु में एक के त्याग के बिना नहीं रह सकते,

इसलिए दोनों में से एक अवश्य त्याज्य है।

आदि और अन्त में चिरकाल तक असत्त्व की प्रसिद्धि होने से वर्तमान दशा में भी सब व्यक्तियों की असत्ता ही है यों असत्ता के पक्ष की इच्छा करनेवाले को श्रुति, युक्ति और अनुभवों द्वारा असत्ता ही दिखाई देती है ॥४५॥ आदि और अन्त में जो सत्य है, वर्तमान में भी वह सत् ही है, जिसकी सब सत् ही है, ऐसी मति हो, उसकी दृष्टि में सब सत् ही है। भाव यह है कि 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्, 'कथमसतः सज्जायेत' (हे सोम्य, सृष्टि के पूर्व यह सत् ही था, असत् से सत् कैसे हो सकता है) इत्यादि श्रुतियों से और प्रमाण की प्रवृत्ति के समय सत्–सत् यों सब वस्तुओं का अनुभव होने से आदि और अन्त काल में सत्ता की अनभिव्यक्ति अथवा तिरोभावमात्र कल्पना से 'असद्वा इदमग्र आसीत' इत्यादि श्रुति और युक्तियों की उपपत्ति होने से और सत्ता की श्रुति और युक्तियों की अन्यथा उपपत्ति न हो सकने से सब पदार्थों की सर्वकालिक और सार्वत्रिकी एक ही सत्ता युक्त है, क्योंकि इसी में लाघव है, यों सत्ता की एकता के सिद्ध होने पर आदि और अन्त में कारणभूत ब्रह्म की सत्ता से ही सब के सत्य होने से वर्तमान काल में भी वह सत्य ही है, यों सद्वादी को अखण्ड ब्रह्मसत्ता ही सर्वत्र दिखाई देती है ॥४६॥

देश और काल से परिच्छिन्न पदार्थों की सत्यता की कल्पना, जो जगत को सत् और असत् माननेवाले पूर्वोक्त दोनों रूपों से बहिष्कृत है और सब श्रुति और युक्तियों से विरुद्ध है। अन्धपरम्परा द्वारा सहस्रों मूर्खों ने जिसकी कल्पना कर रक्खी है और जो सम्पूर्ण अनर्थों की मूल है, उन्हीं मूर्खों के योग्य है। आपके योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जल के अन्दर के असत्य स्वरूप चन्द्रमा और आकाशतल आदि को अपने मन के मोह के लिए मूर्ख ही चाहते हैं, आप जैसे उत्तम लोग नहीं चाहते ॥४७॥ मूर्ख ही विशाल आकारवाले, अर्थशून्य सुखाभासों से अपने असीम दुःख के लिए सन्तुष्ट होता है, न कि सुख के लिए ॥४८॥ इसलिए हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, आप मूर्ख मत बनिये। विचार करके अविनाशी नित्य और सुस्थिर पदार्थ का अवलम्बन कीजिये ॥४९॥

अब पूर्वदर्शित सत् और असत् पक्षों का द्वारभेद से एक प्रयोजन के अवसान में फलतः समुच्चय दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

माया से मूढ़ हुए लोगों द्वारा आत्मरूप से कल्पित अहंकार के सहित यह सब जगत असत् ही है, यों श्रुति, गुरु, युक्ति और अपने अनुभव से निश्चय करके पुत्र, मित्र, धन आदि का विनाश होने पर आपको शोक नहीं हो और राग भी न हो। शोक, राग आदि के निरास द्वारा एकात्म्यदर्शन में प्रपंच असत् है 'यह पक्ष उपयोगी होता है। इस प्रकार अन्यार्थ असद्वाद के प्रस्ताव से जगत निस्तत्त्व ही है, ऐसा आपको नहीं समझना चाहिए, किन्तु सम्पूर्ण वह सत् है क्योंकि सत्त्व की प्रसिद्धि न होने पर उसके विरोधी असत्त्व की भी प्रसिद्धि नहीं हो सकती। यदि सत्त्व को प्रसिद्ध मानो, तो उसका विरोधी होने से असत् असिद्ध ही हुआ। इस प्रकार सब जगह सत्ता द्वारा निरस्त असत्ता निराधार ही है। कहीं पर किसी का वह परिच्छेद नहीं कर सकती। इसलिए एकमात्र अपरिच्छिन्न सत्त्व की सिद्धि होने पर घट, पट आदि परिच्छेदक आकारों के पृथक्रूप से शेष न रहने के कारण शोधित चिन्मात्रैकरस प्रत्यगात्मा से युक्त सत् ही मैं हूँ, यह विचार कर अपने आत्मा में स्थित आपको पुनः पुनः सांसारिक जन्म–मरण

आदि विषाद की प्राप्ति न हो ॥५०॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि के ऐसा कहने पर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचल को चले गये। सभा मुनिजी को नमस्कार करके सायंकाल की सन्ध्या विधि के लिए स्नानार्थ चली गई। दूसरे दिन रात बीतने पर सूर्योदय के साथ–साथ फिर सभा लग गई ॥५१॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

जिन गुणों से संसार में विहार करता हुआ भी निमग्न नहीं होता और
जो जीवन्मुक्त लोगों में स्थित है, उन गुणों का श्रीरामचन्द्रजी के लिए उपदेश।

सब वस्तुओं में अनास्था द्वारा नष्ट की उपेक्षा और प्राप्त की अनाकांक्षारूप गुणों का पहले उपदेश देनेवाले श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त प्रस्ताव का उसमें उपयोग दर्शाते हैं।

रम्य धन और स्त्री आदि के नष्ट होने पर शोर का अवसर ही क्या है ? इन्द्रजाल से दृष्ट वस्तु के नष्ट होने पर विलाप की बात ही क्या है ? ॥१॥ गन्धर्वनगर के पदार्थों के नष्ट–भ्रष्ट या भूषित होने पर और अविद्याजनित पुत्र आदि के नष्ट या सुशोभित होने पर सुख और दुःख का प्रकार ही क्या है ? ॥२॥ रमणीय धन और स्त्री, पुत्र आदि समृद्धि होने पर हर्ष का अवसर ही क्या है ? मृगतृष्णा के वृद्धि को प्राप्त होने पर क्या जल चाहनेवाले पुरुषों को आनन्द होता है ? ॥३॥ धन और स्त्री–पुत्र आदि के बढ़ने पर दुःखी होना ही उचित है और सन्तुष्ट होना उचित नहीं है। मोह–माया के बढ़ने पर इस संसार में कौन स्वस्थ रह सकता है ? धन, स्त्री, पुत्र आदि की वृद्धि होने पर संसाररूप रोगकी वृद्धि की संभावना से दुःख करना ही उचित है; हर्ष करना ठीक नहीं, यह अर्थ है ॥४॥ वृद्धि को प्राप्त जिन भोगों से मूर्ख को राग होता है, वृद्धि को प्राप्त उन्हीं भोगों से विद्वान पुरुष को वैराग्य होता है ॥५॥ नश्वर स्वभाववाले धन, स्त्री, पुत्र आदि के विषय में हर्ष का अवसर ही क्या है ? जो साधु पुरुष इसकी नश्वरता, नरक हेतुता आदि से परिणाम में कटुता का अवलोकन करते हैं, वे उनसे वैराग्य को प्राप्त होते हैं ॥६॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार के व्यवहारों में तत्त्वज्ञ आप जो–जो वस्तु नष्ट हो, उसकी उपेक्षा कीजिये और जो जो प्राप्त हो उसका उपभोग कीजिये ॥७॥ अप्राप्त भोगों की सच्ची अनिच्छा और प्राप्त भोगों का भोग यही पण्डित का लक्षण है ॥८॥ संसार में भटकानेवाले, मारने के लिए गुप्त छिपे हुए, विष, शस्त्र अग्नि आदि द्वारा मारने के लिए समीप में आनेवाले अतएव आततायी इस काम के विषय में, बोध के लिए अप्रमत्त हुए आप व्यवहार कीजिये जिससे आप मूढ़ता को प्राप्त न हों ॥९॥ प्रपंचरहित ब्रह्म में विवेक, वैराग्य, ज्ञान में अप्रमाद आदिगुणों के अर्जनक्रम से जो सम्यक् ज्ञानी हैं, वे इस संसाराडम्बर को नहीं देख पाते। जो कुबुद्धि हैं यानी उक्त गुणों से रहित हैं, वे तो नष्ट ही हैं ॥१०॥ जिस किसी भी युक्ति से जिस पुरुष का दृश्य से अनुराग चला गया, उसकी परमार्थ में अभिनिवेश रखनेवाली विमल मति मोहरूपी सागर में नहीं डूबती ॥११॥ जिसकी 'यह सत् है' यों सब वस्तुओं में आस्था निवृत्त हो गई, उस सर्वज्ञ को अवास्तविक अविद्या अपने वश (अंकगत) नहीं कर सकती ॥१२॥ मैं और यह सम्पूर्ण जगत एक ही है, ऐसी जिनकी बुद्धि आस्था और अनास्था का त्याग करके स्थित है, वह पुरुष निमग्न नहीं होता ॥१३॥ सत् और असत् में अनुगत सत्तामात्र प्रत्यगात्मरूप सत् का बुद्धि से

अवलम्बन करके बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य का न तो ग्रहण कीजिये और न त्याग कीजिये ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त वैराग्ययुक्त, आत्मनिष्ठ, सब प्रकार के निवासों से रहित आप अपने कार्य में तत्पर होकर भी रागरहित होकर आकाश के समान असंग होकर स्थित होइये ॥१५॥ कर्म कर रहे जिस ज्ञानी की कर्म में न तो इच्छा है और न अनिच्छा है उसकी बुद्धि जल से कमल के पत्ते के समान स्पर्श को प्राप्त नहीं होती ॥१६॥ बाधित वस्तु में अनुवृत्तिशील होने से गौण इन्द्रियों से युक्त आपका मन दर्शन, स्पर्शन आदि करे चाहे न करे, किन्तु आप आत्मवान् होकर इच्छा रहित होइये ॥१७॥

इन्द्रियार्थों में ममता त्यागरूप गुण का उपदेश देते हुए उसमें अनास्था का उपपादन करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियार्थों में असत्यभूत यह मेरा है, यों आपका मन निमग्न न हो, मग्न न होकर चाहे वह कर्म न करे चाहे करे ॥१८॥ हे रामचन्द्रजी, जब आपके हृदय में इन्द्रियार्थ सम्पत्तियाँ स्वादु नहीं लगेगी, तब आप ज्ञातज्ञेय और संसार सागर से उत्तीर्ण हो जायेंगे ॥१९॥ जिनको ऐहिक और पारलौकिक विषय अरुचिकर हों , ऐसे आप चाहे देह के भानवाले हो, चाहे समाधि द्वारा देह के भान से शून्य हों, आपके न चाहने पर भी मुक्ति अनायास प्राप्त हो गई ॥२०॥

जीवन्मुक्ति में वासनाओं से चित्त को बाहर करना ही मुख्य साधन है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवनमुक्तिरूप उन्नत पद प्राप्ति के लिए उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा वासनाओं से विवेक, वैराग्य आदि से उत्कृष्ट चित्त को फूल से सुगन्ध की नाईं अलग कीजिये ॥२१॥ वासनारूपी जल से व्याप्त इस संसाररूपी समुद्र में जो लोग प्रज्ञारूपी नाव में चढ़े, वे पार हुए और जो प्रज्ञारूपी नाव में नहीं चढ़े, वे डूब गये ॥२२॥

वह प्रज्ञारूपी नाव कैसी है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसे दर्शाते हैं।

विवेक, वैराग्य आदि से तीक्ष्ण की गई अतएव छुरे की धारा के तुल्य, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों को सहने में परमधीर बुद्धि से आत्मतत्त्व का विचार कर उसके बाद आप अपने स्वरूप में प्रवेश कीजिये ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञान से उदार चित्तवाले तत्त्वज्ञानी प्राज्ञ पुरुष जिस प्रकार बर्ताव करते हैं वैसे ही आपको व्यवहार करना चाहिये, न कि मूढ़ों की नाईं ॥२४॥ नित्यतृप्त, महाबुद्धि, जीवन्मुक्त महात्माओं का सदाचार से अनुसरण करना चाहिये, भोगलम्पट मूर्खों का अनुसरण नहीं करना चाहिये ॥२५॥ ब्रह्मतत्त्व और जगत्तत्त्व को जाननेवाले पुरुष न तो जगत के व्यवहार का त्याग करते हैं और न उसकी इच्छा करते हैं, किन्तु सबका ही अनुवर्तन करते हैं ॥२६॥

यदि कोई कहे, ज्ञानवानों की भी कहीं पर फललिप्सा हो सकती है, तो इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

विद्या, तप और पराक्रम आदि के उत्कर्षरूप प्रभाव के, अभिमान के, निपुणता, कुल, शील आदि गुणों के, यश और सम्पत्ति के विषय में लोक में लोभ प्रसिद्ध है, तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुष तो प्रभाव आदि के मिथ्या होने से कहीं पर भी लोभ नहीं करते ॥२७॥ महात्मा पुरुषों को सूर्य के समान सर्वनाश होने पर भी खेद नहीं होता, सम्पूर्ण अभिलाषाओं से परिपूर्ण नन्दनवन आदि में भी वे आसक्त नहीं होते और शास्त्रमर्यादा का कभी त्याग नहीं करते। सूर्य भी शून्य आकाश में खिन्न नहीं होते, नन्दनवन में आसक्त नहीं होते और अपने मार्ग की मर्यादा का त्याग नहीं करते ॥२८॥

महात्मा पुरुष इच्छारहित, जो व्यवहार प्राप्त हो उसके अनुसार बर्ताव करनेवाले, देहरूपी रथ में

बैठे हुए, आत्मनिष्ठ हो *'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः'* (विज्ञानरूपी सारथिवाला, मनरूपी लगामवाला मनुष्य) इत्यादि श्रुति में कहे गये साधनों से सन्नद्ध हो घूमते हैं ॥२९॥

मुझमें वे गुण हैं या नहीं, इस प्रकार संदेह मे पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी को ढाढ़स देते हैं।

हे सुन्दर श्रीरामचन्द्रजी, आप भी इस विशाल विवेक को प्राप्त हो चुके हैं, इस प्रज्ञा के बल से ज्ञान में आप स्वस्थ हैं ॥३०॥ स्पष्ट दृष्टि का अवलम्बन करके मानरहित और मात्सर्यरहित आप इस पृथ्वी तल में विहार कीजिये, आप अवश्य ही परम सिद्धि को प्राप्त होगे ॥३१॥ हे निष्पाप, अपने स्वरूप में स्थित, सब इच्छाओं के त्याग से युक्त वासना विषयक कौतुक दर्शन की इच्छा जिसकी नष्ट हो गई, ऐसे होकर आप अपने हृदय में परम शीतलता का ग्रहण कर विहार कीजिये।३२॥

उपदिष्ट रहस्यों के, श्रीरामचन्द्रजी के हृदय में उनमें, आविर्भाव को दर्शाते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : निर्मल आशयवाले मुनि श्रीवसिष्ठजी की इस प्रकार की निर्मल वाणी से श्रीरामचन्द्रजी साफ किये हुए दर्पण के समान तुरन्त सुशोभित अतिमधुर ज्ञानामृत से विराजमान अन्तःकरण से युक्त हुए वे चन्द्रमा की तरह शीतलता को प्राप्त हुए ॥३३॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

अतीत, भावी और वर्तमान करोड़ों ब्रह्मा और ब्रह्माण्डों का तथा
नियत और अनियत क्रमवाले देवता आदि का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आप सब धर्मों के तत्त्वज्ञ और सब वेद, वेदांगों के पारदर्शी हैं। आपकी स्वच्छ उपदेशवाणियों से जिसके सिर का बोझ हट गया, दूर मार्ग में चलने का एवं भूख का परिश्रम निवृत्त हो गया, ऐसे पुरुष के समान मैं बड़े आराम से स्थित हूँ ॥१॥ उपदेश दे रहे आपके उत्तम, विपुल अर्थवाले, वर्ण पद, वाक्य और प्रकरणों द्वारा स्फुट, विचित्र कथा, युक्ति के प्रतिपादन में निपुण, आत्मतत्त्व के प्रकाशक होने और हृदयकमल को प्रकाशित करने के कारण सूर्य आदि के समान उदित हुए, मनोहर वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती ॥२॥

इस प्रकार प्रशंसा द्वारा गुरुजी को प्रोत्साहित कर प्रसंगप्राप्त ब्रह्मा आदि देवताओं के ऐश्वर्य को जानने की इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

राजस, सात्त्विक जीवजातियों के उपदेश के समय आपने विविध प्रकार की सृष्टियों का प्रतिपादन करनेवाले श्रुति, पुराण आदि के वचनरूपी प्रमाणों से ब्रह्मा की जो उत्पत्ति प्रस्तुत की थी, उसका आप स्पष्टरूप से वर्णन कीजिये ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अनेक लाख ब्रह्मा, अनेकों सौ शंकर और इन्द्र एवं अनेकों हजार नारायण बीत चुकें हैं ॥४॥ अन्य विचित्र प्रकार के ब्रह्माण्डों में एवं इस ब्रह्माण्ड में भी विधि आचार, विहार के हजारों देवता, असुर आदि के शरीर विचरण करते हैं ॥५॥ इसी प्रकार अन्यान्य कालों में उत्पन्न हुए अनन्त जगतों में अन्य बहुत से सुर, असुर आदि के शरीर प्रचुर मात्रा में एक ही समय उत्पन्न होंगे ॥६॥ हे महाबाहो, ब्रह्मा आदि उन देवताओं की ब्रह्माण्डों में उत्पत्तियाँ इन्द्रजाल में उदित हुई–सी हैं ॥७॥ कभी शंकरपूर्वक सृष्टियाँ होती है, कभी प्रथम उत्पन्न

हुए ब्रह्मा से सृष्टियाँ होती है, कभी विष्णुपूर्वक सृष्टियाँ होती हैं, कभी मुनि द्वारा निर्मित (卐) सृष्टियाँ होती है ॥८॥

ब्रह्मा आदि के आविर्भाव स्थान भी अनियत है, ऐसा कहते हैं।

कभी (पादकल्प में) ब्रह्मा कमल से उत्पन्न होते हैं, किसी कल्प में जल से उत्पन्न होते हैं, कभी अण्ड से उत्पन्न होते हैं और कभी आकाश से उत्पन्न होते हैं ॥९॥

इसी प्रकार सूर्य आदि पदाधिकारियों में भी अनियम है, ऐसा कहते हैं।

किसी ब्रह्माण्ड में शंकरजी मुख्य पदाधिकारी हैं तो किसी में सूर्य मुख्य पदाधिकार है। किसी में इन्द्र मुख्य पदाधिकारी हैं तो किसी में नारायण मुख्य पदाधिकारी हैं एवं किसी में एकमात्र शिवजी ही देवताओं के अधिकार में स्थित हैं ॥१०॥ किसी सृष्टि में पृथ्वी निबिड़ पेड़ों से व्याप्त हुई, किसी सृष्टि में मनुष्यों से निबिड़ हुई और किसी सृष्टि में पर्वतों से व्याप्त थी ॥११॥ कोई भूमि मृणमयी हुई, तो कोई पत्थरों से पूर्ण थी। कोई स्वर्णमयी थी, तो कोई ताम्रमयी थी ॥१२॥ इस ब्रह्माण्ड में ही कितने आश्चर्यमय जगत हैं और अन्यान्य ब्रह्माण्ड में भी अन्य प्रकारों से आश्चर्यमय जगत हैं किन्हीं जगतों में केवलमात्र सूर्य आदि के तुल्य प्रकाश है, तो कोई प्रकाश रहित भी हैं ॥१३॥ इस ब्रह्मतत्त्व महाकाश में अनन्त जगत सागर की तरंगों के समान उत्पन्न होते हैं और लीन होते हैं ॥१४॥ जैसे सागर में तरंग उत्पन्न होती है, जैसे मरुभूमि में मृगजल उत्पन्न होता हैं, जैसे आम में बौर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही परब्रह्म में विश्व की सम्पत्तियाँ उत्पन्न होती है ॥१५॥ भले ही सूर्य की किरणों में चंचल त्रसरेणु गिने जा सकते हैं, पर ब्रह्म में चंचल ब्रह्माण्डों के समूह नहीं गिने जा सकते ॥१६॥ जैसे वर्षा आदि ऋतुओं मे बहुत से मच्छर आदि के समूह उत्पन्न हो-हो कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये लोक सृष्टियाँ उत्पन्न हो-हो कर नष्ट हो जाती हैं ॥१७॥

उन सृष्टियों के प्रवाह की अनादिता को कहते हैं।

किस समय से लेकर ये नित्य उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली सृष्टि परम्पराएँ प्राप्त हुई, यह नहीं जाना जा सकता ॥१८॥ अनादि काल से सृष्टि परम्पराएँ तरंगों के समान निरन्तर स्फुरित होती हैं, पूर्व से पहले ये थी और वैसे ही उससे भी पहले विद्यमान थी ॥१९॥

देवता, असुर और मनुष्यों से युक्त ये सब भूत जातियाँ नदी की तरंगों की रीति से ही उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाती हैं, जैसे यह ब्रह्माण्ड है वैसे ही जो हजारों ब्रह्माण्ड परम्पराएँ है, वे जैसे वर्षों में हजारों घड़ियाँ क्षीण हो जाती हैं वैसे ही क्षीण हो गई है और अन्य ब्रह्माण्ड पंक्तियाँ इस समय भी ब्रह्मोपलब्धि का स्थान होने से ब्रह्मपुरूष शरीर के एक स्थान में (हृदयकमल का रूप एकदेश में) स्थित अत्यन्त विस्तीर्ण ब्रह्म में वर्तमान शरीरवाली विद्यमान हैं, अतएव 'अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इस शरीर में आकाश और पृथिवी भीतर ही समाहित हैं) इत्यादि श्रुति है ॥२०-२२॥ ब्रह्मपुर से उपलक्षित हृदयाकाश की शोभारूप ब्रह्मनिर्मित अन्य ब्रह्माण्ड परम्पराएँ जैसे ध्वनि के भेद आकाश में हो-होकर नष्ट हो जाते हैं , वैसे ही हो-हो करके फिर ब्रह्म में नष्ट हो जाती हैं ॥२३॥ अन्य सृष्टि परम्पराएँ, जो कि आगे होगी, जैसे मिट्टी की राशि में घड़े स्थित है, जैसे अंकुर में पल्लव रहते हैं,

卐 यह अवान्तर सृष्टि के अभिप्राय से कहा गया है।

वैसे ही ब्रह्म में स्थित है, जब तक तत्त्वज्ञान से देखी जा रही ये कुछ भी नहीं है, ऐसा बाध होता है, उससे पहले तक विपुल आकारवाले विकारों से युक्त ये त्रिभुवनशोभाएँ चिदाकाश में होंगी ॥२४,२५॥ मूर्खों से अध्यस्त और विस्तार को प्राप्त की जा रही आकाश लताओं की तरह आविर्भूत और तिरोभूत होती हुई ये त्रिभुवनशोभाएँ न तो सत्य हैं और न असत्य ही हैं ॥२६॥ सभी अपने अन्तर्गत सृष्टि समष्टिरूप ब्रह्माण्डों की सृष्टियाँ तरंग के समान नश्वरतारूप धर्मवाली, देखते ही नष्ट होनेवाली और विचित्र आकारवाली प्राणियों की चेष्टाओं से युक्त हैं ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सब ब्रह्माण्डों की विचित्र आकार-प्रकार के विकारों से युक्त विचित्र रूपवाली सृष्टियाँ एवं सभी सृष्टि द्रष्टियाँ तत्त्वज्ञ की दृष्टि में जल से वृष्टियों के समान अतिरिक्त नहीं है, और अतत्त्वज्ञ की दृष्टि से तो मेघ से वृष्टि की तरह तटस्थ ईश्वर से उत्पन्न होती है ॥२८,२९॥ परमार्थ दृष्टि से तो अज्ञ व तत्त्ववेत्ता सबकी दृष्टि से सब सृष्टियाँ जैसे जड़ों द्वारा खींचे गये द्रवरूप भूमि के जल को धारण करनेवाली नाड़ियाँ, त्वचा, पत्र, काँटें आदि सेमर से अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, स्थूलभूतों से बनी हुई देहादि सृष्टियों में और सूक्ष्म भूतों से बनी हुई इन्द्रियादि सृष्टियों में परमाकाश से उत्पन्न हुए भूतसूक्ष्मनामक पंचतन्मात्ररूप मायामलरूपी सूत्र की-स्फटिक, रूद्राक्ष से गुँथी हुई- माला के समान सब पदार्थ हैं ॥३१॥

कभी पद्म से उत्पन्न हुए ब्रह्मा होते हैं ऐसा जो कहा उसमें यथा योग्य पंचीकरण के अनन्तर होनेवाले स्थूल आकाश आदि का प्रथम आविर्भाव क्रम ही नियामक है, ऐसा कहते हैं।

कभी आकाश पहले स्थूलतारूप से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए आकाशज प्रजापति कहे जाते हैं ॥३२॥ कभी वायु पहले स्थूलता से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे वायुज प्रजापति कहे जाते हैं ॥३३॥ कभी तेज पहले स्थूलतारूप से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा उत्पन्न होते है, इसलिए वे तैजस प्रजापति कहे जाते हैं ॥३४॥ कभी जल पहले स्थूलतारूप से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते है, इसलिए वे जलज प्रजापति कहे जाते हैं ॥३५॥ कभी पृथ्वी पहले स्थूलता को प्राप्त होती है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते है, इसलिए वे पार्थिव ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥३६॥

अब उक्त आकाश आदि के एक-एक करके प्रथम आविर्भाव में युक्ति कहते हैं।

इन चारों भूतों को अपने अंश को बढ़ाने से तिरोहित-सा कर पाँचवा जो ही भूत जब बढ़ता है, तब उससे उत्पन्न हुए ही ये ब्रह्मा उसके अनन्तर होनेवाली जगत की सृष्टि क्रिया को करते हैं ॥३७॥

सभी पंचभूतों के कार्य हैं, इसलिए सब में पंचात्मकता होने पर उनसे उत्पन्न हुए प्रजापति में 'एक भूत से उत्पन्न हुए है' ऐसा व्यवहार कैसे ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उक्त भूत का अधिक अंश होने से उसमें एकभूतजत्व का व्यवपदेश होता है, ऐसा कहते हैं।

किसी समय जल के अथवा वायु के या तेज के अधिक भागवाले होने पर तदुपाधिक प्रजापति पूर्व उपासना के अनुसारी स्वभाव से वासित होकर जलज, वायुज, तैजस इत्यादि आकार से अकस्मात स्वयं संपन्न हो जाता है ॥३८॥

उसके देहावयवों से सृष्टि की प्रवृत्ति दिखाते हैं।

इसके अनन्तर कभी उसके मुँह से, कभी चरण से, कभी उसके अग्रभाग से, कभी पीठ से, कभी नेत्रों से और कभी बाहुओं से ब्राह्मण आदि शब्द अपने अर्थों के साथ यथा योग्य उत्पन्न होते हैं, अतएव 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' ऐसी श्रुति है ॥३९॥

कभी नारायण नामक पुरुष की नाभि में कमल उत्पन्न होता है, उसमें ब्रह्मा वृद्धि को प्राप्त होता है, कमल में जन्म होने के कारण वह पद्मज कहा जाता है ॥४०॥

सद्रूप से विद्यमान उसकी सत् से ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है, यों पूछ रहे श्रीरामचन्द्रजी के प्रति कहते हैं।

मिथ्या ही इस चक्र की रचना करनेवाली, चंचल जल की भौंरी के समान सुन्दर यह भ्रान्ति के स्वप्न और मनोराज्य के समान माया है ॥४१॥ यदि सत् पुरुष का अपने नाभिकमल में जन्म नहीं हो सकता है, तो इस असंग अद्वितीय ब्रह्म में आपका यह जगद्रूप द्वैत कैसे हुआ, इसे आप बताइये, सद्रूप से विद्यमान सत् का जन्म कैसे हो सकता है, आपका यह प्रश्न बालक के मनोराज्य प्रश्न के समान ही है, भाव यह कि क्या कहीं बालक का मनोराज्य भी प्रश्न का विषय हो सकता है ? ॥४२॥

पद्मज की उत्पत्ति के समान व्योमज की उत्पत्ति भी मन की अचिन्त्य रचनाशक्ति का अवलम्बन करके ही होती है, यों समर्थन करते हैं।

किसी समय शुद्ध आकाश में मन की शक्ति से सुवर्ण का ब्रह्माण्ड अपने आप उत्पन्न होता है, जिसके गर्भ में ब्रह्मा रहते हैं ॥४३॥ कभी परम पुरुष जलमें बीज की सृष्टि करता है। उससे पद्म (भूकमल) अथवा विशाल ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। कभी पहले कल्प में सूर्य के अधिकार पर स्थित इस कल्प में ब्रह्मा होते हैं, कभी पूर्वकल्प में वरुण के अधिकार पर स्थित इस कल्प में ब्रह्मा होता हैं और कभी पूर्वकल्प में वायु के अधिकार पर स्थित इस कल्प में ब्रह्मा होते हैं ॥४४,४५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार प्रत्यगात्मा में अविद्यमान इन विचित्र सृष्टियों में ब्रह्मा की बहुत-सी विचित्र उत्पत्तियाँ बीत चुकी हैं ॥४६॥

एक का यह वर्णन स्थालीपुलाक न्याय से अन्यान्य सृष्टियों के भी दृष्टान्त के लिए है, ऐसा कहते हैं।

एक प्रजापति की उत्पत्ति सृष्टि के दृष्टान्त के लिए मैंने आपसे कही, उसमें कहीं पर नियम नहीं है ॥४७॥ यह संसार मन का विलासमात्र है, यह सिद्धान्त है। आपके सम्यग् ज्ञान के लिए मैंने यह सृष्टि क्रम कहा है ॥४८॥

पूर्ववर्णित सात्त्विक, राजस आदि जीव जाति भेद भी दृष्टान्तार्थ ही कहे हैं। ऐसा कहते हैं।

सात्त्विकी आदि जीवजातियाँ भी इस प्रकार उत्पन्न हुई है, यह कहने के लिए ही यह सृष्टिक्रम आपसे कहा गया है।४९॥

जब तक इस मन का समूलोन्मूलन नहीं किया जाता, तब तक संसार परम्परा का कभी विराम नहीं होता, यह दर्शाते हैं।

फिर सृष्टि , फिर नाश, फिर दुःख, फिर सुख, फिर अज्ञानी, फिर ज्ञानी, फिर बन्ध और मोक्ष की अस्तित्व कल्पना होती है। फिर वर्तमान और आगामी प्रियजनों में तथा अतीत प्रियजनों में स्नेह

दृष्टियाँ, जो सृष्टि करनेवाली हैं, उजाला करनेवाले दीपों के समान पुनः पुनः शान्त होती है, पुनः–पुनः उत्पन्न होती हैं ॥५०,५१॥

यदि कोई कहे अल्पकालस्थायी दीपक दो परार्ध तक रहनेवाले ब्रह्मा आदि के शरीरों के उपमान कैसे हो सकते हैं, इस पर कहते हैं।

दीपों के और ब्रह्माओं के शरीरों की उत्पत्ति और विनाश में काल की अधिकता के अलावा इस विनाश में और कोई भेद नहीं है ॥५२॥ फिर कृत युग, फिर त्रेता, फिर द्वापर, फिर कलि इस प्रकार सारा जगत चक्र के भ्रमण की तरह पुनः–पुनः आता है ॥५३॥ फिर मन्वन्तरों के आरम्भ होते हैं, इस पर एक कल्प के बाद अनेकानेक कल्पों की परम्पराएँ फिर–फिर कार्यावस्थाएँ ऐसे होती है, जैसे हर रोज प्रातःकाल के बाद दिन होते हैं ॥५४॥ दिन–रात और कलाओं से (तीस काष्ठारूप यानी मुहूर्त के द्वादशभागरूप क्षण का तीसवाँ हिस्सारूप कलाओं से), जो कि प्राणियों के आयुकाल की कल्पनारूप है, परिच्छिन्न सब पदार्थों से युक्त यह सब जगत पुनः–पुनः होता है और पुनः–पुनःकुछ भी नहीं रहता है ॥५५॥ जैसे पत्थर आदि के आघात से रहित, तपाये हुए लोह–पिण्ड में आग की चिनगारियाँ स्थित रहती हैं वैसे ही ये सब पदार्थ चिदाकाश में मायारूप स्वभाव से नित्य स्थित हैं ॥५६॥ जैसे वृक्ष में विभिन्न ऋतुओं में होनेवाले फल–फूल आदि कभी अनभिव्यक्त रहते हैं, कभी प्रकट हो जाते हैं वैसे ही परमतत्त्व में यह सब जगत कभी अनभिव्यक्त रहता है, कभी प्रकट हो जाता है। सर्वात्मा रहता है, कभी प्रकट हो जाता है ॥५७॥ सर्वात्मा चिद्विवर्त ही सदा इस प्रकार की आकृतिवाला होता है, क्योंकि जैसे लोचनों से द्विचन्द्रत्व उत्पन्न होता है वैसे ही इससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है ॥५८॥ जैसे चन्द्रमा से ही ये सब किरणें आती हैं, उसमें स्थित होती हुई भी उसमें अस्थित–सी प्रतीत होती हैं। ऐसे ये सब चारों ओर विस्तृत सृष्टियाँ चैतन्य से ही प्राप्त होती हैं और उसमें स्थित होती हुई भी अस्थित–सी प्रतीत होती हैं ॥५९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह संसार कभी भी सत् नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति चैतन्य में असंसार स्वभावता, (असंगाद्वितीयस्वभावता) सदा परमार्थतः विद्यमान है ॥६०॥ हे सज्जनशिरोमणे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत कभी भी असत् नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति चैतन्य में जगद्बीज मर्यादा विद्यमान है ॥६१॥ अधिष्ठान चैतन्य से दीप्त संसारिता और काल से उपलक्षित संसार महाकल्प तक रहता है, आगे नहीं रहेगा, यह व्यवहार इस समय उचित ही है ॥६२॥

यदि कोई शंका करे कि संसार की सत्ता और असत्ता परस्पर विरुद्ध है ? तो इस पर दृष्टिभेद होने से कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की दृष्टि से यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इसलिए यह संसार नहीं है, यह उपपन्न ही है ॥६३॥ अज्ञानी की दृष्टि से निरन्तर अविच्छिन्न संसार के रहने के कारण मिथ्या भी यह संसारमाया नित्य है, यह उपपन्न ही है ॥६४॥

इसीलिए मीमांसकों का जगत कभी भी असत् नहीं है, इस प्रकार जगत प्रवाह नित्य है, यह व्यवहार भी उपपन्न होता है, ऐसा कहते हैं।

हे रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी, बार–बार होने के कारण यह जगत कभी भी असत् नहीं है, ऐसा जो मीमांसकों ने कहा है, वह भी पूर्वोक्त दृष्टि से असत्य नहीं है, क्योंकि वह 'उनके अभीष्ट कर्मकाण्ड के

प्रमाण्य का उपपादक है ॥६५॥

अज्ञानियों की दृष्टियों के विचित्र होने के कारण बुद्ध आदि द्वारा अपनी-अपनी प्रक्रिया के निर्वाह के लिए कल्पित क्षणिक, परमाणु आदि व्यवहार भी उक्त दृष्टि से उपपन्न होते ही हैं, ऐसा कहते हैं।

दिशाओं में उदित हुए विनाशी बिजली आदि सदा क्षणभंगुर स्वभाववाले देखे गये हैं, क्योंकि वैसी ही सर्वत्र लोगों ने कल्पना की है, उसी के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत विनाशी है, यह बात क्या उपपन्न नहीं हो सकती ! ॥६६॥

इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य के तेज प्रकाश से युक्त दिशाओं में पर्वत, भूमि, समुद्र आदि की स्थिरता देखने से जगत अपनी सत्ता से सदा सत् ही है, इस प्रकार की सांख्यआदि की कल्पना भी उपपन्न होती है, ऐसा कहते हैं।

सभी जगह जिनमें चन्द्रमा और सूर्य उदित हुए हैं, ऐसी दिशाएँ सर्वत्र स्थिर और निश्चल दिखाई देती हैं, इसलिए सारा जगत अविनाशी है, यह कथन भी सत्य-सा है ॥६७॥ ऐसा कोई संकल्पकल्पनाओं का समूह नहीं है, जो सर्वव्यापक, अद्वितीय, नामरूपरहित, परमतत्त्व में उत्पन्न न हो ॥६८॥

प्रसंगतः प्राप्त सब पदार्थों की उत्पत्ति की उपपत्ति कर प्रस्तुत सृष्टि के बार-बार होने का वर्णन करते हैं।

यह सब दृश्य पुनः पुनः होता है, जन्म और मरण फिर फिर होते हैं, फिर सुख होता है, फिर दुःख होता है, फिर कारण और कर्म होते हैं, फिर दिशाएँ होती है, फिर आकाश होता है, फिर सागर और पर्वत होते हैं। जैसे खिड़कीवाले घरों में एक ही सूर्य की प्रभा फिर फिर अनेकों तरह से प्राप्त होती है वैसे ही बार बार यह सृष्टि नानारूप से होती है ॥६९,७०॥ फिर दैत्य होते हैं, इधर देवता होते हैं, पुनः अन्यान्य लोकों का प्रसार होता है, पुनः स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त करने की चेष्टाएँ होती हैं, पुनः इन्द्र होते हैं, पुनः चन्द्रमा होते हैं, नारायण देव का भी पुनः प्रादुर्भाव होता है अनेक दानव भी पुनः उत्पन्न होते हैं, दिशाएँ फिर चंचल और सुन्दर चन्द्रमा, सूर्य, वरुण और वायु के प्रसार से युक्त होती है ॥७१,७२॥ सुमेरुरूप कर्णिका से मनोहर, सह्याद्रिरूपी केसर से सुशोभित, प्राणियों के पुण्यरूपी सुगन्ध से और भोगरूप मकरन्द से भरी हुई अन्तरिक्ष और पृथिवीरूपी कमलिनी फिर उत्पन्न होती है ॥७३॥ सूर्यरूपी सिंह व्योमरूपी वन में आक्रमण कर किरणरूपी नखों से अन्धकाररूपी गजघटाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए फिर उदित होता है ॥७४॥ चन्द्र भी चंचल और सफेद मंजरियों के समान सुन्दर अपनी किरणों से दिशारूपी वधू के मुख को अलंकृत करनेवाले और सब प्राणियों को सुख देनेवाले अमृतका पुनः संचय करता है ॥७५॥ पुण्यनाशरूपी वायु से उड़ाए गये पुण्यात्मारूपी पुष्पसमूह क्षत-विक्षत शरीर होकर स्वर्गरूपी वृक्ष से फिर इस लोक में गिरते हैं ॥७६॥ सृष्टिकालरूपी कपिंजल (पक्षी) क्रियारूपी पंखों से संसार निर्माणनामक कुछ घटपटरूप कार्य करके फिर चला जाता है ॥७७॥ पूर्व इन्द्ररूप भ्रमर के अपने अधिकार से निवृत्त होने पर नवीन, तत् तत् मन्वन्तर के अधिकारी अन्यान्य देवताओं से सन्नद्ध ऐरावत में बैठकर अपर देवेन्द्ररूपी भ्रमर पूर्व प्रदेशों से रहित स्वर्गरूपी कमल में पुनः प्राप्त होता है ॥७८॥ जैसे प्रलयकाल का वायु अपने भीतर सो रहे भगवान विष्णु के साथ समुद्र को कलुषित कर देता है वैसे ही सत्ययुग से पवित्र काल को कलि (अधर्म) पुनः दूषित करता है ॥७९॥ काल रूपी कुम्भहार से, जिससे प्राणी रूपी सकोरे

बनाए गए हैं, ऐसा कल्पनामक चक्र निरन्तर वेग से घुमाया जाता है ॥८०॥ शुभस्थिति से रहित जगत, जिसमें जिस विषय में पूर्व अभ्यास है उस विषय के अनुसार संकल्प है, सूखे हुए वन के समान फिर नीरसता को (धर्मरसहीनता को) प्राप्त होता है ॥८१॥ सूर्य समूहों के उदय होने पर सूर्यसमूहरूपी प्रदीप्त अग्नि से जिसमें अनन्त शरीर जलाये गये हैं एवं सब प्राणियों की हड्डियों से परिपूर्ण जगत फिर श्मशान बन जाता है ॥८२॥ कुलाचल के समान विपुल आकारवाले पुष्करावर्त नामक प्रलयकाल के मेघों की वृष्टियों से जगत फिर फिर एकमात्र सागरता को, जिसमें नाच रहे संहाररुद्र ही सफेद होने के नाते विशाल फेन के ढ़ेर–से प्रतीत होते हैं ॥८३॥ फिर जिसमें वायु और जल निश्चल हो गया है एवं सब वस्तुओं से रिक्त जगत अपूर्व आकाश के समान शून्यता को प्राप्त होता है ॥८४॥ समरस हृदयवाले आदि देव कितने ही वर्षों तक जीर्ण शरीर से जीवन का अनुभव कर फिर अपनी आत्मा में लीन हो जाते हैं। फिर दूसरे समय में मन शून्य में गन्धर्वनगर के समान उसी प्रकार जगतों का निर्माण करता है ॥८५,८६॥ फिर प्रलय होने के बाद सृष्टि समारम्भरूप सबकी उत्पत्ति होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, चक्र के समान फिर यह सब घूमता है ॥८७॥ दीर्घ भ्रमरूप इस महामाया के आडम्बर में 'यह सत्य है, यह असत्य है', इस प्रकार निश्चय करने के योग्य क्या कोई वस्तु है जो यहाँ पर कही जाय ? दाशूर की आख्यायिका के समान यह संसार चक्रकल्पना से रचित आकारवाले तथा वस्तुशून्य है, वास्तविक नहीं है ॥८८,८९॥ जब कि यह जगत अज्ञान से उत्पन्न हुए अतएव दो चन्द्रमाओं के भ्रम के तुल्य विकल्पों से निरन्तर व्याप्त है, अविद्यमान कर्ता से ही इसकी रचना हुई है एवं अधिष्ठानरूप ब्रह्म का इसने अनुसरण कर रक्खा है, तो यहाँ पर आपकी विमूढ़ता किस कारण से उत्पन्न हुई है। भाव यह कि जिस निमित्त को आप देखते हैं, वह है ही नहीं और जो परमार्थतः है, वह अभय ब्रह्म ही है, इसलिए आपको बिना किसी निमित्त के यह मोह होना उचित नहीं है ॥९०॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

भोग आदि की लालसा की निन्दा, दाशूर की उत्पत्ति और प्रसन्न हुए अग्निदेव से उनको वर प्राप्ति।

यदि यह संसार चक्र एकमात्र मन की कल्पना ही है, परमार्थतः यह ब्रह्म ही है; तो बुद्धि, प्रतिभा, निपुणता आदि से सम्पन्न महापुरुषों में कोई भी वैसा क्यों नहीं देखता, इसमें क्या कारण है ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो परमार्थ तत्त्व की ओर ध्यान न देना और उसके विरुद्ध भोग–ऐश्वर्य आदि की आसक्ति ही इसमें कारण है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, भोग और ऐश्वर्य से हतबुद्धि अतएव ऐहिक और पारलौकिक भोग, ऐश्वर्य के उपायभूत लौकिक और वैदिक विविध कर्मों से बढ़ी हुई अभिलाषावाले एवं स्वयं अपनी आत्मा और दूसरों की वंचना करनेवाले पुरुष जब सत्य तत्त्व की ओर ध्यान नहीं देते, तब वे उसे नहीं देखते ॥१॥

तब कौन देखते हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

जो पुरुष विवेकबुद्धि की चरम सीमा को पहुँचे हैं एव इन्द्रियों के वशीभूत नहीं है, वे इस जगत की माया एवं सत्य तत्त्व को हाथ में रक्खे हुए बेल के समान भली भाँति देखते हैं ॥२॥ जो विचारवान जीव

इस जगत की बाह्य माया और अहंकारमयी आभ्यन्तर माया को तुच्छ जानकर जैसे साँप केंचुल को छोड़ देता है वैसे ही माया का त्याग करता है तदनन्तर अनासक्ति को प्राप्त होकर जैसे अग्नि से जला हुआ बीज चिरकाल तक खेतों में रहता हुआ भी उत्पन्न नहीं होता वैसे ही वह भी चिरकाल तक देहों में स्थित होता हुआ भी फिर उत्पन्न नहीं होता ॥३,४॥ किन्तु अज्ञानी पुरुष आधि-व्याधि से घिरे हुए, प्रातःकाल या आज नष्ट होनेवाले शरीर के हित के लिए प्रयत्न करते हैं, आत्मा के हित के लिए प्रयत्न नहीं करते ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी अज्ञानियों की तरह जड़ शरीर के हित का दुःख के लिए सम्पादन न कीजिये, एकमात्र आत्मनिष्ठ होइये ॥६॥

पहले प्रस्तुत दाशूर की आख्यायिका को सुनने की इच्छावाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

हे प्रभो, यह विषयसुख को देनेवाला संसारचक्र दाशूर की आख्यायिका के तुल्य कल्पना द्वारा रचित आकारवाला एवं अवास्तविक है, ऐसा जो आपने कहा, वह कैसे है ? वह आख्यायिका जिस प्रकार की है, उसे वर्णन करने की कृपा कीजिये ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत की माया के स्वरूप के उदाहरण रूप से मेरे द्वारा कही जा रही दाशूर की आख्यायिका को आप सुनिये ॥८॥ इस पृथिवी तल में विचित्र फूलों के वृक्षों से परिपूर्ण मगध नाम से प्रसिद्ध बड़ा समृद्ध देश है, उसमें कदम्ब वन के विस्तार ने अनायास सब जंगलों को वेष्टित कर रक्खा है। भाँति-भाँति के पक्षियों के झुण्डों और आश्चर्यमय वस्तुओं से वह बड़ा रमणीय है। उसकी ग्राम सीमा की भूमियाँ धान आदि की खेती से व्याप्त हैं। नगर के उपवनों से वह सुशोभित है। उसकी सब नदियों के तट कमल, उत्पल और कह्लार से भरें हैं। उपवनों के झूलों में झूल रही महिलाओं के गानों से वह गुलजार है। निशा से उपभुक्त हुए-से मूर्झाए फूलों से वहाँ की सड़कें निबिड़ रहती हैं। उस देश में कनौल के वृक्षों से व्याप्त, केले की झाड़ियों से निबिड़, कदम्बों के वृक्षों से सुशोभित एक पर्वत तट था, जहाँ फूलों में बहने से वायु शब्द करता था, केसररूपी लालधूलि से जो व्याप्त था, जिस पर कलहंस तथा अनुरागयुक्त सारस शब्द करते थे। उस पुण्य पर्वत पर, जिसमें विचित्र पक्षी और वृक्ष थे, परम धर्मात्मा और महातपस्वी कोई मुनि निवास करते थे। उनका नाम दाशूर था। वे अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे थे। कदम्ब वृक्ष की चोटी पर वे रहते थे। उन्हें संसार की किसी वस्तु से अनुराग न था और वे महाज्ञानी थे ॥९-१६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन, वे महातपस्वी वन में कदम्ब के विशालवृक्ष की चोटी पर किसके प्रभाव से और कैसे रहते थे ? ॥१७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, शरलोमा नाम से विख्यात उनके पिता थे, वे दूसरे ब्रह्मा के सदृश थे, उसी पर्वत पर निवास करते थे ॥१८॥ देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच की तरह उनके यह एक पुत्र हुआ। उस पुत्र के साथ उन्होंने वन में सारी आयु व्यतीत की ॥१९॥ तदुपरान्त वे शरलोमा ऋषि यहाँ पर अनेक वर्षों का उपभोग करके जैसे पक्षी घोंसला छोड़ कर चला जाता है वैसे ही देह का त्याग कर स्वर्ग को चले गये ॥२०॥ दुर्भाग्य द्वारा दाशूर के पिता दाशूर से पृथक् किये गये थे, अतएव एकाकी (📖) वे कुरर पक्षी के सदृश करुण विलाप करने लगे ॥२१॥ माता और पिता के वियोग से शोक सन्तप्त वे हेमन्त में कमल के समान अत्यन्त म्लान हो गये। हे

📖 'एक एव' इस शब्द से ज्ञात होता है कि उनकी माता ने पिता का अनुगमन कर लिया था।

श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त दीन उस बालक को वन देवता ने अदृश्य शरीर होकर इस प्रकार आश्वासन दिया ॥२२,२३॥ 'हे ऋषिपुत्र, हे महाप्राज्ञ, तुम अज्ञानी के समान क्यों रोते हो, तुम संसार के चंचल स्वरूप को क्या नहीं जानते ? ॥२४॥ हे सज्जन, संसार में चंचल सृष्टि सदा ऐसी ही है, वह पहले तो उत्पन्न होती है, जीवित रहती है और पीछे अवश्य विनष्ट हो जाती है ॥२५॥ हे मुने, व्यवहार दृष्टि में ब्रह्मा आदि यह जो कुछ भी वस्तु प्रसिद्ध है, उसका अवश्य विनाश हो जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इसलिए पिता के मरण के लिए तुम व्यर्थ विषाद मत करो । जैसे उदित हुए सूर्य अवश्य डूबते हैं वैसे ही उत्पन्न हुए का विनाश अवश्यम्भावी है ॥२६,२७॥

दाशूर के नेत्र मारे विलाप के लाल हो गये थे, वे ऐसी आकाशवाणी सुनकर जैसे मोर मेघ का गर्जन सुनकर धैर्य को प्राप्त होता है वैसे ही धैर्य को प्राप्त हुए ॥२८॥ उठ कर अपने पिता का और्ध्वदैहिक कर्म बड़ी आतुरता के साथ करके उत्तम सिद्धि प्राप्त करने के लिए उन्होंने तपस्या के लिए दृढ़ निश्चय किया ॥२९॥ वन में ब्रह्मोचित कर्म से तपस्या कर रहे उन्होंने अनन्त शुद्धि–अशुद्धि आदि कल्पनाओं से युक्त श्रोत्रियत्व प्राप्त किया, जिससे ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ, ऐसी बुद्धिवाले उस श्रोत्रिय का चित्त उन–उन शुद्धि और अशुद्धि की कल्पनाओं से इस पवित्र पृथिवी पर विश्राम को प्राप्त नहीं हुआ । यद्यपि यह सारा भूमण्डल शुद्ध था, तथापि इसे केवल अशुद्ध सा देखते हुए वे कहीं पर विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हुए ॥३०–३२॥ तदनन्तर अपनी कल्पना से ही उन्होंने विचार किया कि वृक्ष की चोटी ही पवित्र है, उसी पर मेरा रहना ठीक है ॥३३॥ इसलिए अब मैं तपस्या करूँगा, जिस तपस्या से वृक्षों, शाखाओं और पत्तों पर पक्षियों की तरह रह सकूँ ॥३४॥ ऐसा विचार कर खूब धधकती हुई आग जलाकर उसमें अपने कन्धों से नोच नोच कर मांस की आहुति देने लगे ॥३५॥ तदुपरान्त मैं देवताओं का मुख हूँ, इसलिए देवताओं के कण्ठ ब्राह्मणके मांस से भस्म न हो, ऐसा विचार कर दैदीप्यमान भगवान अग्निदेव उनके सामने, जैसे बृहस्पति के सामने सूर्य, प्रकट हुए ॥३६,३७॥ हे सज्जन, जैसे कोश के भीतर से कोशाधिपति पहले से स्थापित मणि को ग्रहण करता है वैसे ही हे कुमार, तुम्हारे अन्दर पहले से विद्यमान अभीष्ट वर तुम ग्रहण करो ।– ऐसा धीर वचन उन्होंने कहा । ।३८॥ जब अग्निदेव ने ऐसा कहा, तब ब्राह्मणकुमार ने अर्ध्य और पुष्प से सुशोभित स्तुतियों द्वारा अग्नि की पूजा कर उनसे कहा ॥३९॥

भगवन्, प्राणियों से चारों ओर ठसाठस भरी हुई पृथिवी पर पवित्र प्रदेश मुझे कहीं नहीं दिखाई दिया । इसलिए वृक्षों के ऊपर मेरी स्थिति हो ॥४०॥ मुनिपुत्र के ऐसा कहने पर सब देवताओं के मुखरूप अग्निदेव 'वृक्षों के ऊपर ही तुम्हारी स्थिति हो' ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गये ॥४१॥ सायंकालीन कमल के समान अग्निदेव के क्षण भर में अन्तर्हित होने पर पूर्णकाम वह मुनिकुमार पूर्ण चन्द्रमा के समान सुशोभित हुआ ॥४२॥ अत्यन्त सन्तोष को प्राप्त हुए उस मुनिकुमार ने अभीष्ट वर की प्राप्ति द्वारा उत्पन्न हुई मुख की कान्ति से, जो मन्द हास्य से अधिक सुशोभित हो रही थी, सम्पूर्ण कला से युक्त चन्द्रमा को और विकसित कमल को फीका कर दिया ॥४३॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

शाखा, पल्लव, पुष्प, फल और पक्षियों से मनोहर कदम्ब वृक्ष का उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसने वन के मध्य में स्थित कदम्ब वृक्ष को देखा। वह इतना ऊँचा था कि मेघों को छूता था, मध्याह्न के समय थके हुए सूर्य के घोड़े उसके स्कन्ध-प्रदेश में विश्राम लेते थे, वह अपनी शाखारूपी बाहुओं से दिशाओं के मध्य भाग के समान विशाल वितान की रचना कर रहा था, फूले हुए फूलरूपी नेत्रों से मेरी शाखाओं के वितान से अनावृत बचा हुआ और कोई प्रदेश है या नहीं ? यों मानों दिशाओं को देख रहा था, तेज वायु बहने के कारण परागरहित होकर घूम रहे प्रचुर भँवर ही उसके केश थे, वह अपने पल्लवरूपी हाथों से दिशारूपी कान्ताओं का मुख पोंछ रहा था ॥१-३॥ गुडुच्छ लताओं की दन्त पंक्ति के समान स्थित स्वच्छ मंजरी के पुंजों से केसर युक्त हुए, ओस के बिन्दुओं को सीकररूप में परिणत कर देनेवाले पल्लवरूपी ताम्बूलयुक्त मुखों से मानों वह वनराजि का परिहास कर रहा था ॥४॥ लताओं की अत्यन्त शोभा से उल्लसित हो रहे फूलों के केसर में स्थित परागों से उसने मण्डलाकार वेश बना रखा था। दीप्ति से वह चन्द्रमा की तरह प्रतीत होता था। शाखाओं की परम्पराओं से, जिनकी लताओं से आवृत प्रदेशों में चकोर शब्द करते थे, वह व्याप्त था। ग्रह, नक्षत्र, तारा, विमान आदि से आवृत सिद्धमार्ग से उन्नतरूप से आश्रित ब्रह्माण्ड की तरह वह स्थित था, कन्धे और चोटी पर बैठे हुए मयूरों के लटक रहे मोरपंखों से और इन्द्रधनुष से युक्त मेघों से आकाश के समान सुशोभित था ॥५-७॥ प्रत्येक स्कन्ध प्रदेश में खोखलों में रहनेवाले, भीतर स्थित आधे शरीर से खोखले में निमग्न और बाहर निकले हुए आधे शरीर से उन्मग्न तथा क्षण में दिखाई देने और क्षण में नष्ट होनेवाले सफेद चमर मृगों से वह ऐसे पूर्ण था, जैसे कि चन्द्रमाओं से संवत्सर पूर्ण रहता है ॥८॥ कपिंजल नामक पक्षियों के जोर के चह-चहानेसे, कोकिलों के मधुर गुंजन से और चकोरों की दीर्घ ध्वनियों से मानों वह गा रहा था ॥९॥ अपने घोंसले में क्रीड़ा कर रहे कलहंसों के समूहों से वह ऐसे व्याप्त था जैसे स्वर्गरूप कोटर में विश्राम ले रहे सिद्धों से ब्रह्माण्ड आवृत रहता है ॥१०॥ जैसे पल्लव के समान चंचल सुन्दर हाथवाली और भँवर के समान नेत्रवाली अप्सराओं से स्वर्ग चारों ओर व्याप्त रहता है, वैसे ही कोंपलरूपी चंचल हाथवाली भँवररूपी सुन्दर नेत्रवाली मंजरियों से वह चारों ओर व्याप्त था ॥११॥ इन्द्रधनुष की सुन्दरतावाले कुमुद, नीलकमल, रक्तकमल आदि के तुल्य भाँति-भाँति के फूलों के परागों से युक्त, मंजरियों से पीला और पत्तों से चारों और हरा वह वृक्ष बिजलीवाले मेघ के समान दिखाई देता था ॥१२॥ वह हजारों भुजाओंरूपी शाखाओं से युक्त था और उसने आकाश और पृथिवी के मध्यभाग को भर दिया था, अतएव वह उद्धत नृत्यवाले, चन्द्रमा और सूर्यरूपी कुण्डलों को धारण करनेवाले विश्वरूप भगवान के तुल्य था ॥१३॥ उसके तलप्रदेश में गजराज बैठे रहते थे, आकाश में वह तारागणों से युक्त था तथा मध्यप्रदेश में लता-पुष्पमय था, अतएव जिसके तलप्रदेश (पाताल) में शेष आदि नागराज निवास करते हैं, ऊपर तारागण रहते हैं और जिसके मध्य में लता-पुष्पमयी पृथ्वी विद्यमान है, ऐसे दूसरे आकाशमण्डल के समान वह था ॥१४॥ पर्वत के समस्त वनों से शोभित हो रहा वह

कदम्बवृक्ष अपने द्वारा रचे गये सब प्राणियों, पर्वतों और वनों से शोभित हो रहे ब्रह्माजी के तुल्य था, पृथ्वी में फल, पल्लव और फूलों का वह एकमात्र निधान–सा था ॥१५॥ पल्लवों में फूलों के परागों से आच्छादित कलियों के समूहों को धारण कर रहा वह सूर्य की किरणों से आच्छन्न तारागणों से युक्त आकाश के समान प्रतीत हो रहा था ॥१६॥ चंचल पक्षियों से पूर्ण हजारों घोंसलों से व्याप्त स्कन्धों से परिवेष्टित वह लोगों से भरे हुए देशों से वेष्टित भूतल के समान था ॥१७॥ वह सब वनदेवियों के उत्तम अन्तःपुर के सदृश्य था, मंजरियाँ ही उसमें पताका थी, लताओं के मण्डपों से वह अलंकृत था एवं वह फूलरूपी मंकोल से (चूर्ण–विशेष से) सफेद, फूलों के समूहों से भरा हुआ, शब्द कर रहे चकोर, भँवर, शुक, कोयल, मैना से युक्त, इधर–उधर उड़ रहे पक्षियों से सुशोभित तथा छाया के सेवन करनेवाले मनुष्यों से सेवित (अन्तःपुर के पक्ष में परिचारक जनों से पूर्ण) था ॥१८–२०॥ गुन–गुना रहे भँवररूपी तरंगसमूहों से युक्त गिर रहीं पुष्पों की केसर राशियों से वह ऐसे विराजमान था, जैसे कि शब्द कर रही तरंगों से और फूलों की केसर परम्पराओं से युक्त गिर रही नदियों से पर्वत सुशोभित होता है ॥२१॥ मन्द–मन्द वायु से विलसित होनेवाले घूम रहे पत्र–पुष्पों के समूहों से, जो कि दिन–प्रतिदिन बढ़ते थे उसका स्कन्ध–प्रदेश इस प्रकार आच्छादित था जैसे सफेद मेघों से पर्वत आच्छादित होता है ॥२२॥ वनगज के गण्डस्थल से घिसे हुए अतएव अत्यन्त उन्नत ऊपर को जानू किये हुए पुरुष की जानू के समान निश्चल, पीठ के समान चौड़े विशाल मूल प्रदेश से वह ऐसे स्थित था जैसे कि नीचे की भूमि में उगे हुए वृक्षों से महापर्वत स्थित रहता है ॥२३॥ जैसे पार्षदों के समूह से भगवान विष्णु आवृत रहते हैं वैसे ही विचित्र रंग बिरंग के पंखवाले, कन्धों के खोखलों में रहनेवाले पक्षियों के समूह से वह व्याप्त था ॥२४॥ चंचल फूलों के गुच्छरूपी अंगुलियों से वह वन वायु से नाच रही लताओं को नृत्यक्रिया का मानों उपदेश दे रहा था ॥२५॥ मूल, कोटर, कन्धा, शाखा, पत्र, पुष्प आदि प्रदेशों में से मेरा कोई एक ही प्रदेश आश्रयप्रार्थी मनुष्य, मृग, पक्षी आदि का निवास नहीं है, किन्तु और भी सभी अंग उनके निवास के उपयोगी है, अहा ! परोपकार में मेरे सभी अंग सफल हैं, यों सन्तोष के कारण पत्र–पुष्पों से पूर्ण बहुत–सी लताओं की चंचलता से मानों वह नाचता था ॥२६॥ लतारूपी कान्ताओं का एकमात्र प्रिय होने के कारण श्रृंगार–रस से परिपूर्ण वह मत्त भँवर के शब्दरूपी अव्यक्त अपने मधुर शब्दों से मानों गा रहा था ॥२७॥ आकाश में चलनेवाले सिद्धों का वह आदरपूर्वक पुष्पवृष्टि कर कोयल और भ्रमरों की ध्वनियों से मानों स्वागत कर रहा था ॥२८॥ समीप में स्थित वट, गूलर, पाकड़, आम और पलाश नामक पाँच पवित्र वृक्षों के या उत्तर प्रदेश में (मेरु में) स्थित मन्दार आदि पाँच वृक्षों के लता–पुष्प, फल आदि के उल्लास का अपने स्वच्छ फूलों की कलियों की कान्ति से मानों उपहास कर रहा था ॥२९॥ ऊपर उड़नेवाले पक्षियों के झुण्डों से मानों पारिजात को जीतने के लिए खूब ऊँची गर्दन करके आकाश के मध्य में मानों वह दौड़ रहा था ॥३०॥ मध्यभाग में चमक रहे, भँवरों से युक्त, बड़ी–बड़ी निबिड़ पंक्तिवाले पुष्प गुच्छों से, जिनकी शोभा और संख्या में इन्द्र नेत्रों से अधिक होने के कारण उनसे तुलना नहीं की जा सकती, सहस्त्राक्षता को प्राप्त करके मानों इन्द्र को जीतने के लिए वह उद्यत था ॥३१॥ कहीं पर फूलों के गुच्छेरूप फणों में स्थित निर्मल मणियों से आवृत वह आकाश को देखने की इच्छा से पाताल से निकले हुए शेषनाग के समान स्थित

था ॥३२॥ पुष्पराग से उसका सारा आकार धूसरित था, अतएव वह धूलि धूसरित द्वितीय शंकर-सा था। भगवान शंकर तो केवल भक्तों का ही कल्याण करते हैं, किन्तु वह फल से सुशोभित होनेवाली छाया से सब लोगों का कल्याण करता था ॥३३॥ उस कदम्बवृक्ष को, जो घन पत्तों के समूहों में खिली हुई कलियाँवाले, पुष्पलताओं के नूतन मण्डपों से युक्त था और पक्षिराशिरूप नागरिकजनों से युक्त था, आकाश में निर्मित नगर की भाँति उसने देखा ॥३४॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

उस कदम्ब के वृक्षों की चोटी पर बैठे हुए दाशूर द्वारा देखी गयी
दिशारूपी वनिताओं का गुणों के साथ वर्णन।

तदनन्तर भूमि में अपवित्र बुद्धिवाले, आनन्द से प्रफुल्लितचित्त दाशूर फल-पल्लवों से शोभायमान पुष्परूपी पर्वत के सदृश, अन्तरिक्ष और पृथिवी के स्तम्भरूप उस कदम्बवृक्ष पर जैसे एकमात्र सागर में स्थित ऊँचे वट वृक्ष पर भगवान विष्णु चढ़ते हैं वैसे ही चढ़े ॥१,२॥ एकाग्र तप में स्थित वे वहाँ पर आकाश से सटी हुई शाखा की चोटी के पल्लव पर निःशंक होकर बैठे ॥३॥ तदनन्तर कोमल नव नव पल्वरूपी आसन पर बैठकर कौतुकवश चंचल दृष्टि होकर उन्होंने एकक्षण भर दिशाएँ देखी ॥४॥ वे नदी रूपी एकावली से रमणीय थी, पर्वतराज ही उनके स्तन थे, निर्मल आकाश ही उनकी केशराशि थी, चंचल नील मेघ ही उनके अलक थे, नीले (हरे-भरे) पल्लव ही उनके वस्त्र थे, पुष्पराशियाँ ही उनके अवतंस (कर्ण का भूषण या शिरोमाला) थे। सागररूपी भरे कलश उन्होंने हाथ में ले रक्खे थे और वे अनेक आभूषणों से भूषित थी ॥५,६॥ खिले हुए कमल के तालाब उन्होंने धारण कर रक्खे थे, उनके मुख के निःश्वास वायु सुगन्धित थे। भँवर, कोकिल आदि ध्वनियाँ ही उनके मधुर आलाप थे तथा झरनों के झर्झर शब्द ही उनके नूपुर थे ॥७॥ द्युलोक ही उनका मस्तक था, पृथिवी उनकी चरणरूप थी। वृक्ष पंक्तियाँ ही उनकी रोमराशियाँ थी, वन ही उनके विशाल नितम्ब थे, चन्द्रमा और सूर्य को उन्होंने अपने कुण्डल बना रक्खा था ॥८॥ धान आदि के कम्प से चंचल हो रहे खेत ही उनके अंगविलास थे, उनके ललाट चन्दन से पूर्ण थे, पर्वत शिखररूपी स्तनों में चारों ओर सटी हुई हिमराशि और सफेद मेघ ही उनके वस्त्र थे ॥९॥

महासागर की जलराशि ही नूतन अलंकारों को देखने के लिए उनके दर्पण थे। नक्षत्रपंक्तियाँ ही उनके स्वेदबिन्दु थे, भुवनका मध्य भाग ही उनका अन्तःपुर था ॥१०॥ तत् तत् ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फूल, पल्लव आदि ही स्तन वस्त्र (चोली) थे, सूर्यकिरणरूपी कुंकुम उनमें लगे थे, विचित्र कुसुमों से वह युक्त थी और चाँदनी ही उनका सफेद चन्दन था ॥११॥ आकाश में फैली हुई शाखा के पत्तों पर बैठे हुए सन्तुष्ट दाशूर ने दस दिशाओं को देखा। विस्तृत वन, पृथिवी ओर मेघ ही जिनके कृत्रिमाकार के भेदक अलंकार थे, जो तीनों भुवनों में रहनेवाले लोगों की उपभोग्य होने के कारण त्रिभुवनवनिता रूप और फूलों से खूब सुशोभित थी ॥१२॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

मानसिक यज्ञों से दाशूर का आत्मबोध, वनदेवी में पुत्रोत्पत्ति और पुत्र के लिए ज्ञान प्रदान।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तपस्वी के उस आश्रम में घोर तपस्या में अभिमुख वे दाशूर तब से लेकर कदम्बदाशूर नाम से प्रख्यात हुए ॥१॥ उस शाखा के पत्ते पर बैठकर, क्षणभर दिशाओं को देखकर, दृढ़ पद्मासन बाँधकर दिशाओं से परावर्तित, परमार्थ ज्ञानरहित केवल कर्मकाण्ड में अभिरुचिवाले, फलाभिलाषा से युक्त मन से उन्होंने यज्ञ किया ॥२,३॥ आकाश में फैली हुई शाखा के पत्ते पर बैठे हुए समाधिस्थ उन्होंने क्रमशः सब यज्ञ क्रियाएँ अपने मन से कर डाली ॥४॥ वहाँ पर उन्होंने दस वर्षों तक गोमेघ, नरमेघ, अश्वमेघ आदि विपुल दक्षिणावाले यज्ञों से देवताओं की मन से ही आराधना की ॥५॥ समय आने पर रागादि दोषों से शून्य हुए उनके विशाल चित्तमें प्रतिबन्ध का क्षय होने पर पूर्वजन्म में किये गये शास्त्रश्रवण आदि के संस्कार के उद्बुद्ध होने से अन्तःकरण की निर्मलता से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान उत्पन्न हुआ ॥६॥ ज्ञान होने के बाद उनका अज्ञानरूप आवरण छिन्न–भिन्न हो गया और वासना के हट जाने से वे निर्मल हो गये। उन्होंने एक समय उस शाखा के अग्रभाग में बैठी हुई, प्रकाशमान पुष्परूप वस्त्रों से आवृत विशालाक्षी वनदेवी को देखा। उसका मुख बड़ा सुन्दर था, मद से उसके नेत्र घूम रहे थे, नीलकमलों की सुगन्ध से वह सुगन्धित थी एवं उसका रूप अत्यन्त मनोहर था। निर्दोष अंगवाली कोकिला और फूलों के समूहों से झुकी हुई वनलता के समान नम्रमुखी उस कामिनी से मुनि ने कहा : हे कमलपत्राक्षी, अपनी कान्ति से कामदेव को भी क्षोभित करनेवाली तुम कौन हो, फूलों से लदी हुई शाखा को सखी की नाईं परखकर तुम क्यों खड़ी हो ? मुनि के ऐसा कहने पर मृग के समान नेत्रवाली, गौर और विशाल स्तनवाली वनदेवी ने मुनि से कोमल अक्षरों से युक्त यह मनोहर वचन कहा : भगवन्, इस पृथिवीतल में जो–जो दुष्प्राप्त वांछित है, वे सब महापुरुषों की ही प्रार्थना से शीघ्र प्राप्त होते हैं। हे ब्रह्मन्, लताओं से व्याप्त और आपके कदम्बवृक्ष से सुशोभित इस वन में रहने वाली मैं वनदेवी हूँ। लता निकुंज ही मेरे क्रीड़ागृह हैं। नन्दनवन में चैत्र शुक्लपक्ष की त्रयोदशी के दिन स्व के अभ्यास के लिए प्रवर्तित गाना, बजाना, नाचना, भोज आदि के उत्सव में जो वनदेवियों का सम्मेलन हुआ था। हे नाथ, वहाँ त्रैलोक्य की महिलाओं के समाज में मैं गयी ॥७–१५॥

उस मदनोत्सव में पुत्ररहित मैंने सब सखियों को पुत्रयुक्त देखा, इससे मैं अत्यन्त दुःखित हूँ ॥१६॥ सब पुरुषार्थों के विशाल कल्पतरूरूप आपके रहते हे नाथ, पुत्ररहित मैं अनाथ की नाईं क्यों शोक करूँ ? ॥१७॥ हे भगवन्, मुझे पुत्र दीजिये, नहीं तो मैं पुत्र के दुःखदाह की शान्ति के लिए देह को अग्नि के लिए आहुति कर देती हूँ ॥१८॥ उस देवी के ऐसा कहने पर दयायुक्त मुनिश्रेष्ठ ने मुस्कुराकर अपने हाथ में स्थित फूल उसको देकर कहा ॥१९॥ हे सुन्दरी, तुम जाओ, एक महीने में जैसे लता सुन्दर फूल को पैदा करती है, वैसे ही तुम भी पूजा योग्य, भँवरों के समान नेत्रवाले, सुन्दर पुत्र को पैदा करोगी। किन्तु प्राण संकट को प्राप्त करके आत्मघात के संकल्प से मेरे पास आई हुई तुमने मुझसे यह पुत्र माँगा, अतएव यह तत्त्वज्ञानी होगा, अन्य वनदेवियों के पुत्रों के समान यह भोगलम्पट नहीं होगा ॥२०,२१॥

ऐसा कह कर उस मुनि ने वरदान पाने से प्रसन्न मुखमण्डलवाली उस सुन्दरी को, जो मैं आपकी

सेवा करूँ, इस प्रकार की प्रार्थना करने के लिए उत्कण्ठित थी, विदा किया ॥२२॥ वह तो अपने घर चली गई और मुनि अकेले वहाँ रह गये। ऋतु, वर्ष आदि के क्रम से काल बीतने लगा। दीर्घ समय के अनन्तर वही कमल के तुल्य नेत्रवाली वनदेवी बारह वर्ष के पुत्र को लेकर मुनि के समीप उपस्थित हुई ॥२३,२४॥ जैसे भँवरी आम के वृक्ष के समीप जाकर मधुर ध्वनि से बोलती है, वैसे ही चन्द्रमा के समान मुखवाले मुनि को प्रणाम कर और उनके आगे बैठकर उसने मधुरवाणी से कहा : हे भगवन्, हम दोनों का पुत्र यह सुन्दर कुमार है। इसको मैंने सब कलाओं में दक्ष कर दिया है ॥२५,२६॥ हे प्रभो, केवल इसने मंगलमयी ब्रह्मविद्या, जिससे जीव इस संसारचक्र में फिर पीड़ित नहीं होते, प्राप्त नहीं की। हे प्रभो, कृपा करके इस समय इसे ब्रह्मविद्या का उपदेश आप ही दीजिये। कौन ऐसा पुरुष होगा जो अपने कुल में उत्पन्न हुए पुत्र को मूर्ख रक्खेगा। भाव यह है कि अन्य विद्याएँ तत्त्वविषयिणी नहीं है, अतएव वे अविद्या ही हैं उनसे मूर्खता की निवृत्ति नहीं हो सकती है ॥२७,२८॥

ऐसा कह रही उससे, 'हे अबले, उत्तम शिष्य के गुणों से सम्पन्न इस पुत्र को तुम यहीं रहने दो।' – ऐसा कहकर मुनि ने उसे बिदा कर दिया ॥२९॥ उसके चले जाने पर गुरुसेवारूप व्रत से स्थिर नियमवाला वह बुद्धिमान् बालक जैसे सूर्य के सामने अरुण रहता है वैसे ही अपने पिता के आगे स्थित रहा ॥३०॥ शुश्रूषा की व्रतचर्या आदि क्लेशों से पीड़ित होकर उपायभूत शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान को प्राप्त कर चुके उन मुनि ने विविध प्रकार की उक्तियों से चिरकाल तक अपरोक्षज्ञान के लिए पुत्र को उपदेश दिया ॥३१॥ सैकड़ों आख्यायिका और आख्यानों से, सम्यक्दर्शन द्वारा स्वयंकल्पित दृष्टान्तों से महाभारत आदि इतिहासों के वृत्तान्तों से और वेद, वेदान्तों के निश्चयों से प्रत्यगात्मा में दृढ़ व्युत्पत्ति को जिस प्रकार पुत्र प्राप्त होता था, वैसे ही अनुभव से प्रसिद्ध कथा क्रमों से अनायास विस्तारपूर्वक पुत्र को नित्य उपदेश देते थे ॥३२,३३॥ आत्मबोध के चमत्कार से सब रसों से बढ़े हुए, परम पुरुषार्थरूप होने के कारण अवश्य बोधयोग्य अर्थवाले वचनों से वह महात्मा आगे स्थित पुत्र को वृक्ष के अग्रभाग में ऐसे प्रबुद्ध करते थे, जैसे कि श्रवणमात्र से मयूरों को आनन्द उत्पन्न करने के कारण अन्य रसों से बढ़ी-चढ़ी गर्जनाओं द्वारा मेघ आकाश में आगे स्थित मयूर को प्रबुद्ध करता है ॥३४॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

संकल्प से कल्पित विश्व मिथ्या ही है यह सूचित करने की इच्छा से
खोत्थराजा चरित की कल्पना करके वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद कभी आकाशमार्ग में स्थित और अदृश्यरूप से मैं उसी मार्ग से जिसमें दाशूर का कदम्ब वृक्ष पड़ता था, कैलासवासिनी मन्दाकिनी में स्नान करने के लिए गया ॥१॥ हे सुबुद्धे, मैं आकाश से, जिसका कि सप्तर्षिमण्डल एक भाग है निकलकर रात्रि में ऊँचे दाशूर के कदम्ब वृक्ष के पास पहुँचा ॥२॥ मैंने जंगल में शाखाओं के खोखले से मुकुलित कमल के अन्दर बैठे हुए भँवर की ध्वनि के समान सम्पूर्ण वचन सुना ॥३॥

जो वचन सुना उसीको कहते हैं।

हे महामते, हे पुत्र, सुनो, इस संसार की उपमानरूप इस एक आश्चर्यमयी आख्याकिया को मैं आपसे कहता हूँ ॥४॥ तीनों लोकों में विख्यात महापराक्रमी एक राजा है। उसका नाम खोत्थ है, वह बड़ा समृद्धिशाली और तीनों लोकों पर आक्रमण करने में समर्थ है ॥५॥ सब लोकों में ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी प्रभु जैसे धनी शिरोरत्न को सिर पर धारण करते हैं वैसे ही इसकी आज्ञा को सिर पर धारण करते हैं ॥६॥ जो बड़े–बड़े साहसपूर्ण कार्य करने में एकमात्र रसिक है, विविध प्रकार के आश्चर्यमय स्थलों में विहार करता है, उस महात्मा को तीनों लोकों में किसी ने भी अपने वश में नहीं किया ॥७॥ जिसके सुख–दुःखप्रद हजारों कार्यों को सागर की तरंगों की तरह कौन गिन सकता है ? ॥८॥ जैसे कोई पुरुष मुट्ठी से आकाश को पराजित नहीं कर सकता वैसे ही जिस महाबली के बल का न शस्त्रों से और न अग्नि से कोई भी तिरस्कार नहीं कर सका ॥९॥ जिसकी लीला का, जो प्रयोजन थोड़ा होने पर भी हजारों कल्पनाओं से पूर्ण होने के कारण विशाल आरम्भवाली है और स्वप्न, मनोरथआदि के निर्माण से दैदीप्यमान है, इन्द्र, विष्णु और शंकर तनिक भी अनुकरण नहीं कर सकते हैं ॥१०॥

हे महाबाहो, उसके सब व्यवहाररूपी क्रीड़ा करने में सक्षम, उत्तम, मध्यम और अधम, सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के शरीर जगत को आक्रान्त करके स्थित हैं ॥११॥ तीन शरीरवाला यह पक्षी के तुल्य अत्यन्त विशाल अव्याकृत आकाश में ही उत्पन्न हुआ है, वहीं पर रहता है, विधि–निषेधरूप शब्द के अनुसार चलता है। भाव यह है कि जैसे पक्षी आकाश में ही अण्डमय, पिण्डमय और पक्षमय तीन शरीरवाला क्रम से उत्पन्न होता है, सब ओर से उसे जान जोखिम की शंका रहती है, असार पीपल आदि के फलास्वाद में लोलुप रहता है, शब्दमात्र से उड़ता है, वास्तविक बात का विचार नहीं करता वैसे ही यह भी स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीरवाला है ब्रह्माकाश में उत्पन्न होकर चारों ओर से भय की शंका करता है, तुच्छ विषयों में आसक्त हो विधि–निषेधरूप शब्द के अनुसार चलता हुआ घूमता है ॥१२॥ उसी असीम आकाश में उसने ब्रह्माण्डरूपी नगर की, चौदह भुवन ही जिसके बड़े भारी रथों का समूह है या चौदह विद्यारूपी रथ्यामार्गों से जो विभक्त है, रचना कर रक्खी है और वह त्रिलोकरूप और वेदत्रयीरूप विभाग से विभूषित है ॥१३॥ नन्दन आदि वन और उपवनों की पंक्तियों से वह पूर्ण है, मेरु आदि क्रीड़ाशैलों से सुशोभित है, मोतियों की लताओं से व्याप्त समुद्ररूपी सात बावड़ियों से अलंकृत है, कभी न बुझनेवाले शीतल और उष्णरूप दो दीपकों से विराजमान है तथा शास्त्रीय सत् कर्मों से ऊर्ध्वगति और अशास्त्रीय निन्दित कर्मों से अधोगतिरूप व्यापारी मार्गों से वह भरा है ॥१४,१५॥ उसी अतिविशाल नगर में उक्त राजा ने विषयों के मोह में फँसे हुए, अपवरक (मध्यगृह) के समान आकाश के परिच्छेदक होने के कारण अपवरकरूप संसारी देवता, मनुष्य आदि देह समूहों की सृष्टि की ॥१६॥ कोई ऊपर रक्खे गये, कोई नीचे रक्खे गये और किन्हीं को उसने बीच में नियोजित किया। कोई चिरकाल में नाश को प्राप्त होनेवाले हैं, तो कोई शीघ्र विनष्ट होनेवाले हैं। वे काले केशरूपी तृणों से आच्छादित और आँख, कान, नाक, मुँह आदि नौ द्वारों से अलंकृत हैं। उनमें निरन्तर वायु बहता रहता है, वे रोमकूपरूपी अनेक खिड़कियों से युक्त है और पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी पाँच दीपकों से वे प्रकाशयुक्त हैं। जाँघ और रीढ़ ही उनके तीन स्तम्भ है, सफेद हड्डियाँ भी बाँस के स्थानापन्न हैं, चिकनी मिट्टी के स्थानापन्न चर्म से वे कोमल है, सड़करूपी बाहुओं से वे व्याप्त हैं। उस

महात्मा राजा ने उन देह समूहों में अभिमान द्वारा उनके रक्षक और स्वामीरूप अहंकारों की सृष्टि की। उक्त अहंकार आत्मविवेकरूपी प्रकाश से सदा भयभीत रहते हैं, क्योंकि उससे उनका विनाश हो जाता है ॥१७-२०॥ अहंकारों की सृष्टि करने के उपरान्त उन देव, मनुष्य आदि के देहसमूहों के व्यवहार करने पर संकल्पात्मा जीवरूपी वह राजा जैसे घोंसले में चिड़िया विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करती है वैसे ही विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करता है ॥२१॥

हे पुत्र, तीन प्रकार के अनन्त शरीरों के अन्दर उन यक्षों के साथ लीलाओं द्वारा अस्वाधीनरूप से निवास कर और निकल कर फिर चला जाता है ॥२२॥ हे वत्स, चंचल चित्तवाले उसकी कभी निश्चल इच्छा होती है कि अविद्यमान किसी स्वप्नादिजगद्रूप नगर में जाऊँ ॥२३॥ तदनन्तर वह भूताविष्ट की तरह निद्रा आदि के आवेश से जाग्रद् देहादि के अभिमान का त्याग कर दौड़ता है, तदुपरान्त गन्धर्वनगर के समान मिथ्याभूत उस नगर को प्राप्त होता है ॥२४॥ हे पुत्र, चंचल चित्तवाले उसकी कभी संकल्प के लय की अवस्थारूप सुषप्ति को प्राप्त होऊँ, ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है, उससे वह शीघ्र विनष्ट हो जाता है ॥२५॥ फिर वह जल से तरंग के समान पूर्ण स्वभाव से ही तुरन्त फिर उत्पन्न हो जाता है। (क्योंकि वही मैं हूँ, ऐसा सोकर उठे हुए पुरुष को प्रत्यभिज्ञा होती है) और फिर विविध आरम्भों से परिपूर्ण व्यवहार करता है ॥२६॥ फिर अपने ही व्यवहार से कभी उसका पराभव होता है, 'मैं किंकर हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', यों शोक करता है। कभी पूर्वानुभूत हर्ष का अतिक्रमण कर वर्षा ऋतु की कला के उल्लास के प्रवाह का अतिक्रमण कर नदी के वेग के समान वह स्वयं दीनता को प्राप्त होता है ॥२७,२८॥ हे पुत्र, अन्तर्गत आत्मज्योति से दैदीप्यमान अतएव महामहिमाशाली वह राजा आँधी के झोंकों से अशान्त सागर के समान शत्रुओं का तिरस्कार करने की सामर्थ्य रहते शत्रुओं की ओर चलता है, विजय प्राप्त करता है, शब्द करता है, सम्पत्तियों को प्राप्तकर वृद्धि को प्राप्त होता है, दमकता है, स्वप्न और जाग्रत में प्रतीत होता है एवं सुषुप्ति, प्रलय, समाधि और मुक्ति में प्रतीत नहीं होता है ॥२९॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

जगत संकल्प से कल्पित है, इस अर्थ में दृष्टान्तभूत
खोत्थ राजा के उपाख्यान के तात्पर्य का विस्तारपूर्वक वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ जम्बूद्वीप में अर्धरात्रि के समय कदम्ब वृक्ष की चोटी पर कदम्ब के शिरोभूषण की तरह बैठे हुए पवित्र अन्तःकरणवाले पिता से पुत्र ने पूछा ॥१॥ हे तात, खोत्थनाम से प्रख्यात उत्तम आकृतिवाला कौन-सा वह राजा है ? आपने मुझसे यह क्या कहा ? इसे आप यथार्थरूप से कहिए ॥२॥

यथाश्रुत अर्थ मे तात्पर्य नहीं है, किन्तु अन्य अर्थ में तात्पर्य है, ऐसा तुमने कैसे जाना, ऐसा यदि कहें, तो 'पुरं भविष्यन्निर्माणं किंचिद् यामीति निश्चला' इस उक्ति में भविष्यत्व और वर्तमानत्व के यौगपद्य का विरोध होने से उसका अर्थ अन्वित नहीं दिखाई देता, यह कहते हैं।

कहाँ भविष्य में नगर का निर्माण और कहाँ वर्तमानकाल में उसकी गम्यता इन दोनों अर्थों के

विरुद्ध होने के कारण आपका वचन मेरे मोह के लिए हो रहा है ॥३॥

दाशूर ने कहा : हे पुत्र, सुनो, यथार्थ यह मैं तुमसे कहता हूँ, जिससे तुम इस संसारचक्र के तत्त्व को जान जाओगे ॥४॥ परमार्थसत्ताशून्य अज्ञान से उत्पन्न अतएव मायामय विस्तृत इस संसार की इस स्थिति का मैंने इस प्रकार परोक्षरूप से वर्णन किया है ॥५॥ परमाकाश से उत्पन्न हुआ संकल्प खोत्थ कहा जाता है, वह अपने संकल्प से उत्पन्न प्रवृत्ति की वासना के प्रादुर्भाव से ही उत्पन्न होता है और निवृत्तिवासना की दृढ़ता से स्वयं विलीन हो जाता है ॥६॥ यह विशाल सारा जगत उसका परिणाम है, क्योंकि संकल्प के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होता है और संकल्प के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है ॥७॥

यदि कोई शंका करे ब्रह्मा, विष्णु आदि से जगत की उत्पत्ति हुई है, ऐसा सुना जाता है, फिर कैसे आप अन्य से उसकी उत्पत्ति कहते हैं ? तो इस पर कहते हैं ।

जैसे लोग शाखाओं को वृक्षों के अवयव मानते हैं, जैसे शिखरों को पर्वतों के अवयव मानते हैं, वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि को संकल्प के ही अवयव जानते हैं ॥८॥ तीनों कालों में जगत के अभाव से युक्त ब्रह्म में उसने इस त्रिजगतरूपी घर को बना रक्खा है अचेतन संकल्प में जगन्निर्माण शक्ति कहाँ से आई, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अधिष्ठानभूत चैतन्य के अनुग्रह से उसने चेतन बिरंचि के स्वरूप को प्राप्त कर त्रिजगद्रूपी नगर को बनाया है, जिस त्रिजगद्रूप नगर में सूर्य आदि के प्रकाश से युक्त चौदह लोक है, जहाँ पर वन, उपवनों की मालाओं से युक्त उद्यान परम्पराएँ है, जहाँ पर सह्य, मन्दर, मेरु क्रीड़ा शैल है, जहाँ पर अग्नि के समान प्रकाशमान शीतल और उष्ण कान्तिवाले चन्द्रमा–सूर्यरूपी दीपक हैं ॥९–११॥ जहाँ पर सूर्य की किरणों से चमकती हुई चंचल तरंग ही बड़ी–बड़ी मुक्ता है, जहाँ पर ओस की सुन्दरमोतियों की मालारूप चंचल नदियाँ बहती है ॥१२॥ जहाँ पर ईख के रस, दूध आदिरूप जलवाले, मणि, रत्नरूपी भसींड़े के अंकुरों से युक्त, बड़वानलरूपी कमलों से भरे हुए सातमहासागर ही सात बावड़ियाँ है ॥१३॥

'ऊर्ध्वाधोगतिरूपेण वाणिंमार्गेण संकुलम्' (शास्त्रीय कर्मों से ऊर्ध्वगति होती है, अशास्त्रीय कर्मों से अधोगति होती है, इस प्रकार के व्यापारी मार्ग से परिपूर्ण) सा जो पहले कहा था, उसका अर्थ कहते हैं ।

नीचे पृथ्वी पर तथा ऊपर आकाश में पुण्य और पाप ही जिनकी धन–सम्पत्ति है, उन कर्म और उपासना में अधिकारी श्रेष्ठ पुरुषों, देवताओं और म्लेच्छ देश में रहनेवाले कर्माधिकार से रहित पुरुषों के क्रय, विक्रय जिस पुर में होते हैं (✱) ॥१४॥ पूर्वोक्त इसी त्रिजगद्रूपी नगर में संकल्परूपी राजा ने अपनी क्रीड़ा के लिए भाँति–भाँति के देव, नर, तिर्यगादि के देहरूपी मध्यगृह बनाए हैं, कुछ देवनामवालों को ऊपर ही रक्खा है । नर, नाग आदि कुछ को नीचे ही रक्खा ॥१५,१६॥ उसने प्राणों के प्रवाह से चल रहे, मांसरूपी मिट्टी के बने हुए, सफेद अस्थिरूपी लकड़ीवाले, तेल, उबटन आदि से चिकने और निर्मल विविध प्रकार के जीव बनाए हैं । कोई चिरकाल में नष्ट होते हैं । कोई शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं,

(✱) मनुष्य और देवताओं के 'देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः' इस भगवद्वाक्य से पुण्य और उसके फल से क्रय–विक्रय होते हैं । म्लेच्छों के, जो कर्माधिकार से बहिष्कृत हैं, पाप और उसके फल स्थावर, तिर्यगादि योनियों से क्रय–विक्रय होते हैं ।

किन्हींकी केशरूपी तृणों की वृद्धि से आच्छादन शोभा बनाई गई है। कान आँख, नासिका आदि नौ द्वारों से युक्त हैं। निरन्तर बह रहे प्राणवायु से वे उष्ण और शीतल हैं ॥१७-१९॥ कान, नासिका, मुख, तालू, आदि बहुत-सी खिड़कियों से वे युक्त है, भुजा आदि अंगरूपी सड़कों से वे व्याप्त हैं और पाँच इन्द्रियाँ ही उनमें कुत्सित पाँच दीपक हैं ॥२०॥ हे महामते, उन देहरूपी मध्यगृहों में संकल्प ने माया से अहंकाररूपी महायक्षों की रचना रच रक्खी है। वे परमात्मा के दर्शन से भयभीत होते हैं, तात्पर्य यह है कि परमात्मा के दर्शन से हृदयग्रन्थिरूप अहंकार का विनाश सुना जाता है, अतएव वे परमात्मा के दर्शन से डरते हैं ॥२१॥ देहरूपी मध्यगृहों के अन्दर अहंकाररूपी महायक्ष, जो कि माया से उत्पन्न हुए हैं उनके साथ वह सदा खूब क्रीड़ा करता है ॥२२॥

यदि कोई कहे कि देह ही अहंकार है, अन्य अहंकार नहीं है, तो इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे कोठिले में बिल्ली रहती है, जैसे धौंकनी में साँप रहता है और जैसे बाँस में मोती रहता है वैसे ही शरीर में अहंकार भी है ॥२३॥ जैसे सागर में तरंग क्षणभर में उदित होती है और क्षण भर में विलीन हो जाती है, वैसे ही देहरूपी घर में संकल्प की वृत्तियाँ क्षणभर में दीपक के समान उदित होती हैं और क्षणभर में नष्ट हो जाती हैं ॥२४॥

'तस्येच्छा जायते' इत्यादि के तात्पर्य का पुत्र द्वारा उक्त विरोध के परिहार से वर्णन करते हैं।

जब वह संकल्पित वस्तु को क्षण भर में ही देखने लगता है तब जिसका निर्माण आगे होनेवाला हो, ऐसे नगर को (स्वप्नजगत को) प्राप्त होता है ॥२५॥

'तेनाऽऽशु स विनश्यति' इसके तात्पर्य को कहते हैं।

अनेक करोड़ों जन्मों में दुःख का अनुभव करके भाग्यवश निर्वेद को प्राप्त होकर शास्त्र, आचार्य और समाधि के अभ्यास से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर संकल्प के अभावमात्र से वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। संकल्प की वासनाक्षयप्रयुक्त शून्यभाव से जो अभिनिष्पत्ति है, वह परम कल्याण के लिए होती है ॥२६॥

पुनरुत्पद्यते' इसका तात्पर्य कहते हैं।

बालक के द्वारा कल्पित यक्ष के समान संकल्पमात्र स्वरूप वह स्वयं अनन्त आत्मदुःखों के लिए उत्पन्न होता है, आनन्द के लिए कभी उत्पन्न नहीं होता ॥२७॥ जैसे घन अन्धकार अपनी सत्ता से अंधत्व का विस्तार करता है और अपनी असत्ता से उसका विनाश करता है वैसे ही संकल्प अपनी सत्ता से ही विशाल जगद् दुःख का विस्तार करता है और अपनी असत्ता से उसका विनाश करता है ॥२८॥

'किंकरोऽस्म्यहमज्ञोऽस्मि' इत्यादि शोकोक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

काष्ठ के बीच में जिसके अण्डकोश दब गये, उस कील उखाड़नेवाले बन्दर के समान दुःख देनेवाली अपनी करनी से ही वह रोता है ॥२९॥ जैसे गदहा अकस्मात गिरे हुए शहद की बूँदों का स्वाद लेता है, वैसे ही आनन्द लेश का संकल्प करनेवाला वह मारे हर्ष के ऊँची गर्दन करके स्थित रहता है। गदहा इस दृष्टान्त से यह सूचित किया कि जैसे गदहे के लिए शहद चाटना अत्यन्त दुर्लभ है वैसे ही उसके लिए विषयसुख भी अत्यन्त दुर्लभ है, मोक्ष सुख की तो कौन कहे ! ॥३०॥ बालक के समान संकल्प से ही वह स्वयं एक क्षण में विरक्त होता है, क्षण भर में स्वयं अनुराग को प्राप्त

होता है और क्षणभर में विकार को प्राप्त होता है ॥३१॥

खोत्थ की आख्यायिका के वर्णन का प्रयोजन कहते हैं।

हे पुत्र, बुद्धि इस संकल्प को सब बाह्य वस्तुओं से लौटाकर, समाधि के अभ्यास से और तत्त्वज्ञान से निर्वासनिक बनाकर, प्रत्यग्भूत ब्रह्म का अवलम्बन कर जिस प्रकार विश्रान्त हो, वैसा तुम करो ॥३२॥

पहले सर्ग में जो तीन शरीर कहे गए थे, उन्हींका विस्तार करते हैं।

उस संकल्पात्मक मन के सत्त्व, रज और तम नामक उत्तम, मध्यम और अधम तीन शरीर इस जगत स्थिति के कारण हैं ॥३३॥ तमोरूप संकल्प प्राकृत चेष्टा से (स्वाभाविक प्रवृत्ति से) नरकों में प्रसिद्ध परमदीनता को प्राप्त होकर कृमि–कीट योनि में प्राप्त होता है। यहाँ पर कृमि, कीट का ग्रहण स्थावर आदि योनियों का भी उपलक्षक है ॥३४॥ सत्त्वरूप संकल्प धर्म और ज्ञान में परायण होकर स्वराज्य को (हिरण्यगर्भ भावपर्यन्त देवताभाव को) प्राप्त होता है जिसमें मोक्ष सन्निहित है ॥३५॥ रजोरूप संकल्प मनुष्यरूप जन्म से मनुष्योचित व्यवहारवाला होता है, वह संसार में पुत्र, स्त्री आदि से अनुरंजित होकर रहता है ॥३६॥ हे महामते, तीन प्रकार के इस स्वरूप को त्याग कर संकल्पः आत्यन्तिक संकल्पोच्छेद होने पर मोक्षरूप परम पद को प्राप्त होता है ॥३७॥

संकल्प के क्षय में कौन उपाय है, ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

हे पुत्र, सब बाह्य दृष्टियों का त्याग करके, मन से मन का नियमन करके तुम बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के साथ संकल्पों का विनाश करो ॥३८॥

यदि कोई शंका करे कि संकल्प का विनाश दुष्कर है। अन्य किसी उपाय का मोक्ष के लिए उपदेश दीजिये, तो इस पर अन्य उपाय नहीं है ऐसा कहते हैं।

यदि हजारों वर्षों तक तुम घोर तपस्या करो, यदि अपने शरीर को शिला पर पटक कर चूर–चूर कर डालो, यदि अग्नि में प्रवेश करो अथवा बड़वानल में प्रवेश करो, गड्ढे में गिरो, यदि खड्गधारा के वेग में प्रवेश करो, यदि साक्षात् शिवजी तुम्हें उपदेश देनेवाले हों अथवा साक्षात् विष्णु उपदेश कहें या भगवान ब्रह्मा उपदेशक हो अथवा अत्यन्त दयालू श्रीदत्तात्रेय उपदेशक हो, चाहे तुम पाताल में रहो, चाहे पृथ्वी पर रहो, चाहे स्वर्ग में ही क्यों न रहो, तुम्हारे लिए संकल्प की शान्ति के सिवा दूसरा उपाय नहीं है ॥३९–४२॥

वह संकल्प की निवृत्ति ब्रह्मस्वरूप ही है, इस आशय से कहते हैं।

बाधरहित, अविकारी, परमपवित्र, सुखरूप संकल्प की निवृत्ति के लिए साधनचतुष्टय सम्पत्ति, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन रूप परम यत्न पौरुष से करो ॥४३॥

यदि कोई शंका करे कि एकमात्र संकल्प के नष्ट होने पर संपूर्ण जगद्रूप बन्धन की निवृत्ति कैसे होती है, तो इस पर कहते हैं।

हे निष्पाप, सम्पूर्ण पदार्थ संकल्परूपी सूत्रमें गुँथे हुए हैं। संकल्परूपी सूत्र के टूटने पर छिन्न–भिन्न हुए पदार्थ न मालूम कहाँ चले जाते हैं। भाव यह है कि आरोपित पदार्थों की अधिष्ठान में प्रतीति होती है, उनके अन्यत्र गमन की प्रसिद्धि नहीं है ॥४४॥

यदि कोई शंका करे कि यह संकल्प आदि सब भावों की निवृत्ति असत् है या सत् है या सदसत् है।

यदि असत् है, तो मोक्ष की असिद्धि हो जायेगी। यदि सत् है, तो मोक्ष होने पर भी द्वैत की आपत्ति हो जायेगी। यदि सदसत् है, तो बन्ध और द्वैत की पाक्षिक अनुवृत्ति होगी, इसलिए मोक्ष में अक्षुण्णता की सिद्धि नहीं होगी, इत्यादि दोषों का एक उक्ति से परिहार करते हैं।

असत्, सत्, सदसत्–सब विकल्प संकल्प से ही पदार्थों के साथ उत्पन्न हुए हैं, वे संकल्प का ही सदसद्रूप से विकल्प करने के लिए समर्थ नहीं है। परमार्थ सत्यसंकल्प ब्रह्म का वे स्पर्श भी नहीं कर सकते, इसमें कहना ही क्या है ? कार्य जहाँ पर अपने से सम्बन्ध रखनेवाले आन्तर कारण में भी कुण्ठित होते हैं। वहाँ पर असंग परमात्मा में तो उनके कुण्ठीभाव का क्या कहना है ? ॥४५॥ जिस–जिसका जैसा संकल्प किया जाता है, वह क्षण भर में वैसा हो जाता है, इसलिए हे तत्त्वज्ञ, तुम कभी भी किसी भी वस्तु का संकल्प मत करो ॥४६॥ संकल्प से रहित हुए तुम जो व्यवहार जैसे प्राप्त हो, वैसे उसमें तत्पर होओ, क्योंकि संकल्प का क्षय होने पर चित् (जीव) चेत्य की (ब्रह्म की) ओर आकृष्ट हो जाता है ॥४७॥

मोक्ष का सम्पादन यदि न किया जाय, तो क्या क्षति है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

सत्य एकत्व स्वभाव ब्रह्म असत्य मायावश देवता, मनुष्य, तिर्यगादि चौरासी लाख योनियों द्वारा तत् तत् प्राणियों के रूप से उत्पन्न होकर व्यर्थ ही जगत्दुःख का अनुभव करता है। यह उसके स्वरूपानुरूप नहीं है ॥४८॥ हे निष्पाप, नाना योनियों में जन्म के लिए दुःखार्थ पुनः पुनः उस मरण से तुम्हें क्या लाभ है, जो दुःख के लिए नहीं होता, विद्वान लोग उसी का आश्रय ले लेते हैं, अन्य का नहीं लेते हैं ॥४९॥

तो मुझे क्या करना चाहिए, यदि ऐसा पुत्र की ओर से प्रश्न हो, तो उस पर कहते हैं।

सुषुप्त चित्तवृत्तिवाले होकर तत्त्वज्ञता को प्राप्त करके मूलोच्छेदपूर्वक सम्पूर्ण विकल्पों को दूर कर जो अद्वितीय मोक्ष नामक पद है, उसे निरतिशय आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करो ॥५०॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

संकल्प की जैसे उत्पत्ति होती है, जैसे उसका स्वरूप है,
जैसे वह घनता को प्राप्त होता है और जिस उपाय से उसका उच्छेद होता है, इन सबका वर्णन।

पुत्र ने कहा : हे तात, यह संकल्प कैसा है ? हे प्रभो, यह कैसे उत्पन्न होता है, कैसे वृद्धि को प्राप्त होता है और कैसे नष्ट होता है ? ॥१॥ दाशूर ने कहा : हे पुत्र, अनन्त, सत्तासामान्यरूपी आत्मतत्त्वरूप चित् की जो विषयोन्मुखता है, उसी को संकल्परूपी वृक्ष का अंकुर कहते हैं ॥२॥ सूक्ष्मरूप से अस्तित्व को प्राप्त हुआ वह संकल्प ही मेघ की नाईं चित्ताकाश को चारों ओर से व्याप्त करके अधिष्ठान चैतन्य की चित्स्वभावता के तिरोधान द्वारा जड़ प्रपंचाकार की प्राप्ति के लिए धीरे–धीरे घनता को प्राप्त होता है ॥३॥

इस प्रकार समष्टिसंकल्प से जगत की उत्पत्ति कहकर उसी प्रकार बुद्धि, अहंकार, प्राण, इन्द्रिय, देह आदि के आकारवाले व्यष्टिसंकल्प की उत्पत्ति कहते हैं।

विषयों की अपने से अतिरिक्त की तरह भावना करता हुआ चेतन जैसे बीज अंकुरता को प्राप्त होता है वैसे ही संकल्परूपता को प्राप्त होता है ।।४।।

उस मूलअंकुर से शाखाअंकुरों की तरह बाह्यविषयाकार संकल्प परम्पराओं से संकल्पों की दुःखदायिनी वृद्धि कहते हैं।

संकल्प से संकल्प स्वयं ही पैदा होता है और स्वयं ही दुःख के लिए वृद्धि को प्राप्त होता है, उसकी वृद्धि सुख के लिए नहीं होती ।।५।। जैसे समुद्र एकमात्र जलरूप है वैसे ही सारा संसार संकल्पमात्र ही है, संकल्प को छोड़कर दूसरी वस्तु संसारदुःख नहीं है, अर्थात् संकल्प ही संसाररूप दुःख है ।।६।।

यदि कोई शंका करे, निर्विकार अद्वितीय वस्तु में बिना बीज के जगत की उत्पत्ति कैसे हुई, तो उस पर कहते हैं।

काकतालीय न्याय से यह संसार मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है। विवर्तवाद के आश्रय से उक्त दोष का परिहार करना चहिए, इस आशय से कहते हैं – मृगजल और द्विचन्द्रत्व के समान यह असत्य ही वृद्धि को प्राप्त होता है ।।७।।

पूर्वानुभूत विषयवासनाओं के उद्बुद्ध होने से यह हेय जगद्भ्रान्ति हुई है, ऐसा कहते हैं।

जिस पुरुष ने मातुलिंग का फल (फलविशेष, जो नेत्र के पित्त को बढ़ाता हुआ शुक्ल वस्तु में पीतभ्रम उत्पन्न करता है) निगल लिया, उसे जैसे सर्वत्र कनक प्रतीति होती है वैसे ही असत्य यह संकल्प तुम्हारे हृदय में स्वयं ही प्राप्त होता है ।।८।। असत्य ही तुम उत्पन्न हुए हो और असत्य ही स्थित हो, मेरे इस उपदेशरूप शास्त्र के ज्ञात होने पर असत्य का विलय हो जाता है ।।९।। यह जो वेदान्तों में प्रसिद्ध पूर्णात्मा है, वह मैं ही हूँ, मेरे ये सुख–दुःखमय जन्मादि विकार मिथ्या ही है, इस प्रकार की आस्था अज्ञानवश नहीं होती, इसी से तुम्हें अन्तःकरण में संताप होता है ।।१०।। इस जन्म आदि के सम्बन्धी तुम कभी न होते हुए भी भ्रान्ति से उत्पन्न हुए हो। तो विवेक पूर्णतारूप आत्मतत्त्व के स्फुरण से जन्म कहाँ ? संकल्पवश तुम व्यर्थ मूढ़ हुए हो ।।११।।

तब इस भ्रम की निवृत्ति के लिए कौन–सा उपाय है, ऐसा प्रश्न होने पर भ्रमनिवृत्ति का उपाय कहते हैं।

संकल्प का संकल्प मत करो, पहले अनुभूत सुख–दुःखादि भाव का वर्तमान स्थिति में स्मरण मत करो। पूर्वभाव का स्मरण करने पर उनके ग्रहण और त्याग के लिए संकल्प का उदय होगा ही। केवल वर्तमान स्थिति में पूर्वानुभूत सुख–दुःखादि भावों की अस्मरणरूपी भावना से ही भव्य पुरुष भूति के लिए उन्मुख होता है ।।१२।।

संकल्प के क्षय से सब भयों का नाश हो जाता है और पूर्वभावों की भावना न करने से संकल्प का नाश हो जाता है, यह क्रम सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

संकल्प के विनाश में यत्न करने से मनुष्य विविध भयों को प्राप्त नहीं होता। एकमात्र भावना के अभाव से संकल्प अपने आप क्षीण हो जाता है ।।१३।।

यह उपाय अत्यन्त सरल है, यों उसकी प्रशंसा करते हैं।

शिरीष आदि फूलों को और कोमल पल्लवों को मसलने में थोड़ा बहुत प्रयत्न हो सकता है, किन्तु

भावना न करने मात्र से सिद्ध होनेवाले संकल्पनाश में उसकी भी संभावना नहीं है ॥१४॥ हे पुत्र, फूल को मसलने के लिए हाथ की चेष्टारूप यत्न का उपयोग होता है, लेकिन इस संकल्पविनाश में उतने भी यत्न का उपयोग नहीं है ॥१५॥ जिस पुरुष को संकल्प का विनाश करना हो, वह भावना के अस्मरण से आधे पलक में ही अनायास उसका विनाश कर डालता है ॥१६॥

संकल्प का क्षय होने से दुःखक्षय होने पर भी निरतिशय आनन्द की प्राप्ति किस उपाय से हो सकती है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

निरन्तर अपनी पूर्णानन्दात्मता के चिन्तनमात्र से प्राप्त हुई स्वात्मा में स्थिति को (स्वरूपाप्रच्युति को) प्राप्त होने पर जो वस्तु असाध्य है, वह भी साध्य हो जाती है।

शंका : जो वस्तु असाध्य है, वह साध्य हो जाती है, यह कथन तो विपरीत है ?

समाधान : वह स्वरूपस्थिति स्वतः सिद्ध है, कभी नष्ट नहीं होती, इस आशय से उसे असाध्य कहा और वह उत्पन्न होती है, इस आशय से उसे साध्य कहा। भावों की निवृत्ति दो प्रकार की है, दूसरे द्वारा अपहृत होने पर अथवा नाश से दूसरे जन्म की प्राप्ति होने पर।

हे पुत्र तुम्हारा आत्मा अन्य से अपहृत होता हुआ किसका होगा; क्योंकि अद्वितीय आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, अथवा नष्ट होता हुआ वह भला क्या वस्तु होगा ? घट तो नष्ट होता हुआ कपाल बनता है, पर आत्मा क्या होगा ? जो होगा वह नष्ट हुए आत्मा से देखा ही नहीं जा सकता। आत्मा से अन्य कोई द्रष्टा है ही नहीं, इसलिए निःसाक्षिक आत्मनाश सिद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए आत्मरूप मोक्ष स्वतःसिद्ध है न कि असत् ही उत्पन्न होता है ॥१७॥ हे मननशील पुत्र, संकल्प से ही संकल्प का और मन से ही अपने मन का उच्छेद करो यानी असंकल्पन के संकल्प से ही सब पदार्थों के संकल्प का और आत्मतत्त्व मननरूप मन से ही अपने मन का उच्छेद करके तुम स्वात्मनिष्ठ हो जाओ, ऐसा करने में कौन-सी कठिनाई है ? ॥१८॥ हे महामते, संकल्प के शान्त होने पर यह सारा संसारदुःख जड़ से उपशान्त हो जाता है। भाव यह कि पूर्वोक्त दो उपायों से संकल्प के मूलतः उपशान्त होने पर दुःख भी मूलतः उपशान्त हो जाता है ॥१९॥

संकल्प के शान्त होने पर भी जीव, चित्त, वासना आदि से दुःख होगा ही। ऐसी आशंका करके चित्त आदि का संकल्प में ही अन्तर्भाव कहते हैं।

संकल्प ही मन, जीव, चित्त तथा वासनासहित बुद्धि है। इनका नाम से ही भेद है। हे अर्थवेत्ताओं में श्रेष्ठ, अर्थतः इनमें भेद नहीं है ॥२०॥ संकल्प के सिवा यहाँ कहीं पर कुछ भी नहीं है, इसलिए हृदय से संकल्प को ही तुम दूर करो। व्यर्थ अन्य का शोक क्यों करते हो ? ॥२१॥

यदि कोई शंका करे, संकल्प ही यदि जीव और जगद्रूप है, तो उसका नाश होने पर नैरात्म्यरूप शून्यतापत्ति हो जायेगी, क्योंकि जीव से अन्य आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, इस पर कहते हैं।

जैसे ही यह आकाश शून्य है वैसे ही यह जगत भी शून्य है, क्योंकि असन्मय विकल्प से उत्पन्न हुए ये दोनों विस्तृत हैं। भाव यह कि मरुमरीचिका का नाश होने पर भी मरुभूमि जैसे शून्य नहीं कही जाती वैसे ही जीव, जगद्रूप दृश्य का बाध होने पर भी दृग्रूप (दृष्टा) आत्मा शून्य नहीं कहा जा सकता। मरुमरीचिका और जगत ये दोनों समान ही हैं ॥२२॥

यदि कोई शंका करे कि एक बार बाधित होकर भी यह जगत भावना से पुनःहोगा इस पर कहते हैं।

यह सारा जगत असत् ही है, क्योंकि असत् संकल्प से ही इसका निर्माण हुआ है, इसलिए भावना कहाँ पर रहेगी ? भाव यह है कि बाधित पदार्थ में भावना का अवतरण ही नहीं हो सकता है ॥२३॥

इसलिए भावना के उच्छेद को चाहनेवाले पुरुष को सबसे पहले जगत मिथ्या है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, यह कहते हैं।

(जगत में 'यह सत्य है' इस विश्वास के न होने पर भावना किसमें रहेगी ?) भावना के नाश से सिद्धि प्राप्त होती है। तदनन्तर प्राप्तव्य कुछ वस्तु अवशिष्ट नहीं रहती है। इसलिए अभ्यासवश दृढ़ हुए दृश्य के अनादर से इस समस्त जगत को असत् समझना चाहिये ॥२४॥ पुरुष दृश्य के अनादर से देह में आत्मत्व को अनुसन्धानवश होनेवाले सुखदुःखों से लिप्त नहीं होता। देहसम्बन्धी पुत्र, मित्र आदि भी अवास्तविक हैं, यह जानकर उनमें स्नेह से आदर नहीं होता है ॥२५॥ आदर का अभाव होने पर हर्ष, क्रोध तथा जन्म–मरण आदि नहीं होते हैं, इसलिए सुख, दुःख आदि की भ्रान्तियों से युक्त यह सब असत् ही है ॥२६॥ मन ही चित् के प्रतिबिम्ब से जीव होकर मनोरथ से कल्पित नगररूपी भूत, भविष्य और वर्तमान जगत की रचना करता हुआ, वृद्धि करता हुआ और विनाश करता हुआ खूब स्फुरित होता है ॥२७॥

कैसे पूर्वोक्त रीति से परिवर्तन करता हुआ स्फुरित होता है ? उस पर कहते हैं।

लोक में मन विषयों के सम्बन्ध से तत्–तत् विषयवासनाओं से आवृत और अधिष्ठानरूप चित् के सम्बन्ध से स्फुरण शक्तिवाला होकर स्थित है, इसलिए मलिन और चंचल होकर अपनी इच्छा से पूर्वोक्त रचना आदि की व्यवस्था करता है ॥२८॥

तब वह इष्ट वस्तु ही क्यों नहीं करता है, अनिष्ट वस्तु को क्यों करता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हृदयरूपी वन का बन्दर जीव अपने स्वभाव के अनुरूप लीला करता है। बड़े आकार को प्राप्त कर क्षणमात्र में छोटा बन जाता है ॥२९॥

यह बड़े और छोटे आकार का कैसे हो जाता है ? इस पर कहते हैं।

संकल्परूपी जलतरंगों का नियन्त्रण किसी से नहीं किया जा सकता। विषयों के थोड़े दर्शन से उद्बुद्ध हुई वे बढ़ती हैं और विषयों के दर्शन और स्मरण का त्याग होने पर अपने परिवार के साथ ह्रास को प्राप्त होती हैं ॥३०॥ जैसे अग्नि की चिनगारी केवल एक तृण से प्रदीप्त हो उठती है वैसे ही संकल्प तृणतुल्य अल्पविषय से भी प्रदीप्त होते हैं। जैसे बिजली की अग्नियों का आकार गुप्त रहता है, कभी चमक कर वे क्षणभर में नष्ट हो जाता है, ढुंठ आदि में चोर की भ्रान्ति उनसे होती है, मेघ स्थित जल में उनकी स्थिति रहती है वैसे ही संकल्पो का भी आकार गुप्त रहता है, वे प्रदीप्त होकर क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। खम्भे आदि में चोर सब भ्रान्ति के हेतु हैं और जड़ विषयों में उनका निवास है।

इस प्रकार ''कीदृशस्तात संकल्पः'' (हे तात संकल्प किस प्रकार का है) इत्यादि प्रश्नों का उत्तर कहकर ''कथं चैषविनश्यति'' (किस प्रकार इसका विनाश होता है) इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर कहने के लिए पूर्वोक्त संकल्प का निवारण कोई कठिन काम नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे पुत्र, जो भी वस्तु असन्मय (मिथ्या) है उसीका ज्ञान से शीघ्र निवारण किया जा सकता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। असत् वस्तु कभी सद् नहीं हो सकती है। यदि संकल्प परमार्थभूत होता, तो वह स्वतः ही अनिवार्य हो जाता ॥३१-३३॥

किन्तु यह असन्मय ही है, इसलिए इसका सुखपूर्वक निवारण किया जा सकता है।

जगत सत्य है, इस पक्ष में तो आत्मा भी जगत के तुल्य ही है, अतएव आत्मा में मलिन स्वभावता की प्राप्ति होने पर ज्ञान से सत्य का निरास ही सब प्रमाणों के विरुद्ध है, इससे अनिर्मोक्षप्रसंग हो जायेगा। विरुद्ध का (ज्ञान से सत्य के निरास का) भी यदि स्वीकार किया जाय, तो जैसे कोयले की कालिमा यदि कुछ बाकी रखकर धोई जाय तो कालिमा ही शेष रहेगी, यदि कुछ शेष न रखकर धोई जाय तो केवल शून्यता में पर्यवसान होगा, इसी दृष्टान्त से इस पक्ष में पुरुषार्थ का अस्तित्व ही मिट जायेगा, इस आशय से कहते हैं।

हे साधो, यदि संसाररूपी मल कोयले की कालिमा के समान सत्य हो, तो इसको धोने के लिए कौन दुर्बुद्धि प्रवृत्त होगा ? किन्तु यह चावलों में छिलकों की नाईं स्थित है, इसलिए इसका पौरुष प्रयत्न से विनाश हो जाता है।

हे पुत्र, प्राप्त हुआ अनादिभूत भी यह संसारमल तत्त्वज्ञानी के लिए तो अनायास ही उच्छेद्यरूप से विस्तृत है; क्योंकि अनादि अज्ञान से उत्पन्न, अतिविस्तृत भी रजत, स्वप्न आदि की भ्रान्ति का ज्ञानमात्र से उच्छेद दिखाई देता है, यह तात्पर्य है।

असंभावना, विपरीत भावना आदि मल का तो ज्ञान भूमिका अभ्यासरूप पुरुष प्रयत्न से भी विनाश होता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे पुरुष प्रयत्न से धान का छिलका नष्ट हो जाता है और जैसे ताँबे की कालिमा नष्ट हो जाती हैं वैसे ही प्रयत्न से पुरुष के असम्भावना, विपरीत भावना आदिरूप मल अवश्य नष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, इसलिए तुम उसके लिए प्रयत्न करो ॥३४-३८॥ असत्य विकल्पों से युक्त मिथ्या संसार को इतने समय तक जो तुमने नहीं जीता, यह उपाय न जानने के कारण ही हुआ। तनिक भी उपाय के परिज्ञान से यह शीघ्र लय को प्राप्त होता है। भला बतलाइये तो सही, असत् वस्तु कहीं चिरकाल तक रहती है ? ॥३९॥ विचार से संसार स्वनिष्ठबाध को ऐसे प्राप्त होता है जैसे कि दीपक का प्रकाश होने पर अन्धकारवश क्षीण दर्शनशक्तिवाले पुरुष की अन्धता निवृत्त हो जाती है और जैसे भली-भाँति देखने से द्विचन्द्रता की निवृत्ति हो जाती है ॥४०॥ हे पुत्र, यह संसार न तो तुम्हारा सम्बन्धी है और न इसके सम्बन्धी तुम हो। तुम यह मेरा सम्बन्धी है या मैं इसका सम्बन्धी हूँ, ऐसी भ्रान्ति का त्याग करो। असत्य वस्तु को सत्य के तुल्य देखने पर इसकी भावना उचित नहीं है ॥४१॥ संसारी स्वभाववाले मेरे ये महासमृद्धियों से दैदीप्यमान भोगविलास सत्य है, ऐसा व्यर्थ भ्रम तुम्हारे अन्दर न हो। तुम और वे फैले हुए विलास तथा और भी जन्ममरणादिरूप जो दृश्य है इन सबके रूप से आत्मतत्त्व ही विलसित हो रहा है, दृश्यरूप कोई अतिरिक्त सत् नहीं है ॥४२॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

पूजित श्रीवसिष्ठ का दाशूर के साथ वार्तालाप, कदम्ब शोभा का दर्शन और प्रातःकाल गमन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलरूपी आकाश के चन्द्र श्रीरामचन्द्रजी, रात्रि में उन दोनों के वार्तालाप को इस प्रकार सुनकर मैं वहाँ पर वृष्टिजल के वेष से मेघ जैसे पर्वत की चोटी पर उतरा ॥१,२॥ वहाँ पर मैंने जैसे तेज से अग्नि युक्त रहती है वैसे ही बड़ी भारी तपस्या से युक्त और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में शूरवीर दाशूर मुनि को देखा। देह से निकल रहे तेज से उन्होंने सारी पृथ्वी को सुवर्णमय बना रक्खा था, उस प्रदेश को वे ऐसे सन्तप्त कर रहे थे जैसे कि सूर्य भुवनों को प्रकाशित करता है ॥३,४॥ मुझे आया हुआ देखकर दाशूर ने आसन देकर अर्घ्य एवं फल, पत्र, पुष्प आदि से मेरी पूजा की ॥५॥

तदनन्तर उस दाशूररूपी सूर्य के साथ पहले से प्रस्तुत ब्रह्मचर्चा मैंने की जो उनके पुत्र को सम्यग् बोध करानेवाली और संसार से उद्धार करने में समर्थ थी ॥६॥

मैंने उस कदम्ब वृक्ष को देखा, जिसके खोखले कलियों से व्याप्त थे, और जो दाशूर की इच्छा से किसी को व्याकुल न कर रहे मृगों के समूहों से लताओं के मण्डल से मण्डित वन की नाईं सेवित था। वायु से उसके पल्लवरूपी होंठ हिल रहे थे, अतएव वह हँसने-से खिला हुआ-सा था। शाखाओं की चोटियों पर बैठे हुए, चन्द्रमा के समान सुन्दर, भटके हुए चमरमृगों से, सफेद-सफेद मेघ खण्डों से शरत्काल के आकाश के समान वह आवृत था ॥७-९॥ हिमकणों की पंक्तिरूपी मुक्तावली से वह अलंकृत था। निर्मल फूलों के समूह से उसका सर्वांग भरा हुआ था ॥१०॥ अपने परागरूपी चन्दन के लेप से वह जड़ से लकेर चोटी तक लिप्त था और अपने पल्लवों के विस्तार से प्रचुर एवं लाल रंग के धोती, दुपट्टा, अंगरखा, पगड़ी आदि से युक्त था ॥११॥ मानों विवाह के लिए पुष्पों के भार से भरे हुए, लतारूपी अंगना से संयुक्त उसने नागरिक वेष से अपनी उपमा कर रक्खी थी ॥१२॥ मुनियों से बनाई हुई पर्णशालाओं के आकार के तुल्य लतामण्डपों से वह विभूषित था तथा महोत्सव के समय पताकाओं से सुशोभित नगर के समान वह मंजरियों से सुशोभित था ॥१३॥ मृगों के खुजलाने से उत्पन्न कम्प से गिरी हुई पुष्पधुनियों से वह धूसरित था अपने विस्तार के आधिक्य से समीपवर्ती वन को उसने नीचा दिखा दिया था, अतएव वह युद्ध के लिए उद्यत हुए बड़े श्रेष्ठ वृषभ के समान था ॥१४॥ फूलों से गिरी हुई पुष्पधूलियों से लाल हुए मयूरों से वह ऐसा प्रतीत होता था मानों पर्वतों ने सन्ध्याकालीन मेघ खण्डों के बच्चे-से अपने केश धरोहररूप से उसमें रख दिये हैं ॥१५॥

अब 'अलिनेत्रेण भासिना' यहाँ तक के श्लिष्ट विशेषणों से विलासी पुरुषरूप से कदम्ब या वसन्त अथवा वनदेवियों का वर्णन करते हुए उनके निवासरूप से कदम्ब का वर्णन करते हैं।

पल्लवरूपी लाल हाथवाले, पुष्परूपी हास से सुशोभित मकरन्दरूपी मद से घूर्णमान, केसर से पूर्ण अतएव पुलकों की शोभा धारण करनेवाले, पुष्पों से अत्यन्त निबिड़ और वनवायु से चंचल, कुण्डलरूपी निद्रालू नेत्रवाले, स्तबकरूपी स्तनों का पल्लवरूपी करों से स्पर्श करनेवाले, पुष्पों की धूलि राशिरूपी कुंकुम से रक्तवस्त्रवाले, लताओं से रचित वितानरूपी घरों के झरोखों पर अनुराग रखनेवाले, चिकने रहे पत्तों से भरी हुईं पुष्पयुक्त लताओं के झूलों में कौतुकपूर्वक झूलने में विलासी

पुरुषरूप उसने पैर से लेकर मस्तक तक सब अवयव फूल, फल, पक्षी आदि आभूषणों के आश्रय बना डाले थे। वनदेवी के पक्ष में पल्लवों की तरह लाल हाथवाले, फूल की तरह निर्मल हास से शोभित होनेवाले, मद के नशे से घूर्णमान, केसर युक्त पुलक की कान्तिवाले, फूलों से खूब भरे हुए, वन की वायु से उल्लासयुक्त, कमल की तरह मुकुलित नेत्रवाले, स्तबकों की तरह स्तन धारण करनेवाले, पुष्पों की परागराशिरूप कुंकुम से अरुणवस्त्रवाले, लताओं से निर्मित वितानरूपी घरों के झरोखों पर बैठने में अनुरक्त, पत्तों से हरी–भरी फूली हुई लताओं के झूलो में झूलने के लिए विलासयुक्त, कोकिल की–सी मधुर ध्वनि से शोभित होनेवाले वनदेवियों के समूह ने उसके पैर से लेकर चोटी तक चारों और अपने–अपने निवास बना रक्खे थे। वसन्त के पक्ष में कदम्बपक्षोक्त विशेषणवाले वसन्त ने सदा उसके सर्वांग में अपना आलय बना रक्खा था। चमक रहे भँवरों के क्रम से लता और कदम्ब की मंजरियों में बैठने से क्या ये लता के नेत्र हैं अथवा कदम्ब के नेत्र हैं, यों सन्देहास्पद मंजरियों के जाल से वह युक्त था अथवा वनदेवियों के भँवरों के सदृश नेत्र वृन्दों से क्या ये वनदेवियों के नेत्र हैं अथवा भ्रमरयुक्त मंजरियाँ है, यों सन्देह में डालनेवाली मंजरियों से वह युक्त था ॥१६–२०॥

हिमकणों से जिनका रतिश्रम शान्त हो गया था, मद से अलसाए हुए, पुष्पों की धूलि से सने हुऐ, परस्पर खूब आलिंगित, पुष्पगर्भरूपी अन्तःपुर में बैठे हुए, प्रेमोचित कुछ शब्द कर रहे मत्त भँवरों के अनेक जोड़ों से वह आवृत था ॥२१,२२॥ उसने दिशाओं में नीली मक्खियों की सुन्दरध्वनियों से निवेदित हुए–से वनोपान्तरूपी नगरी के मृग, पक्षी आदि के शब्दरूपी घुंघुम को सुनने की इच्छा से मानों क्षणभर के लिए अपने कान ऊँचे कर रक्खे थे ॥२३॥

पल्लवों में, जो तकिये के तुल्य थे, निद्रावश अथवा चपलता से क्षण भर रक्खे हुए दर्शनीय सिरवाले अतएव चन्द्रमा की किरणों से आच्छादित, वनादिरुप अवयव समूहवाली भूमि को रात्रि के बीतने की प्रतीक्षा से देख रहे, वन स्थलियों के पुत्र रूप एवं पत्तों के जालों के अन्दर छिपे हुए और मुनि के प्रभाव से मूर्तिमान विनय की तरह स्थित बन्दरों से उसके अधोभाग और शाखादि अवयव शोभायमान थे ॥२४,२५॥ घोंसलों में साँस ले रहे पक्षी मुनि के प्रभाव से निःशंक होकर सोने के कारण नहीं दिखाई देते थे। पहले भँवरों से परिवेष्टित, दैववश पकने के कारण नीचे गिरे हुए फलों में समीप में बैठे हुए मृगादि प्राणियों की अँगरखे की भाँति चारों ओर से परिवेष्टित मण्डलियों से भक्षण और मर्दन आदि की आशंका से भँवर आदि वहाँ पर संदेहयुक्त और भय से मूक थे। तात्कालिक जप में रुद्राक्षमाला की तरह लटक रहे लता गुच्छों से उसने सारे वन को सुगन्धित कर दिया था। फूलों से आकाश को मानों मेघाच्छन्न कर दिया था ॥२६,२७॥ पल्लवों से सुशोभित घोंसलों से उसका सारा भाग काला हो गया था और जड़ की भूमि पर धूलिकदम्बों से उसकी फलराशियाँ मिश्रित थी ॥२८॥ बहुत क्या कहूँ, उस वृक्ष में ऐसा एक भी पत्ता न था, जिस पर कोई जीव न रहता हो और किसी के उपयोग में न आता हो। उस वृक्षराज के नीचे गिरे हुए प्रत्येक पत्ते पर मृग सोए थे, प्रत्येक स्थान पर मृग आराम कर रहे थे और पेड़ में स्थित प्रत्येक पल्लव पर पक्षी बैठे थे ॥२९,३०॥ इस प्रकार के गुणों से युक्त उस कदम्ब वृक्ष को दिव्यदृष्टि से देख रहे मेरी वह अँधेरी रात्रि महोत्सव के सदृश हो गई ॥३१॥ तदनन्तर मनोहर कथाओं से, जो विज्ञानरूपी आलोक से अधिक रमणीय थी, दाशूर के

उस पुत्र को पुनः परम ज्ञान का बोध करा दिया ॥३२॥ हम दोनों की आपस की विविध कथाओं से वह रात्रि इस प्रकार मुहूर्त की भाँति व्यतीत हुई, जैसे कि प्रेमयुक्त नायक–नायिकाओं की परस्पर की विविध कथाओं से रात्रि मुहूर्त की भाँति बीत जाती है ॥३३॥ प्रातःकाल अप्सराओं के अंगभाग की तरह सुशोभित, पुष्पशोभा के निबिड़ समूह के सदृश तारामण्डल के धीरे–धीरे विलय होने पर कदम्बवृक्ष के आकाशभाग तक पुत्र के साथ मुझे बिदा करने के लिए आये हुए दाशूर मुनि को उनके निवास स्थान के लिए लौटाकर मै आकाशगंगा गया ॥३४,३५॥ वहाँ अपने अभीष्ट स्थान को पाकर और आकाशतल में जाकर और आकाश में प्रविष्ट होकर मैं सप्तर्षियों के मध्य में स्वस्थ की तरह स्थित हो गया ॥३६॥ हे रघुनन्दन, यह दाशूर की आख्यायिका, जो सत्य–सी होती हुई भी जगत के प्रतिबिम्ब की तरह असन्मयी है, मैंने आपसे कही ॥३७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत स्वरूप के निरूपण के सिलसिले में यह जगत दाशूर की आख्यायिका के तुल्य है, यह मैंने बोध के लिए आपसे कहा ॥३८॥ इसलिए ज्ञानी की दृष्टि से अवास्तविक, अज्ञानी की दृष्टि से चाहे यह वास्तविक ही क्यों न हो, इस जगत में अहं–मम इत्यादि आस्था का त्याग करके दाशूर से उपदिष्ट सिद्धान्त के अनुसार उदार दृष्टिवाले आप सदा आत्मवान होइये ॥३९॥ इसलिए विकल्प, उसके आश्रयरूप मन और उसके हेतुभूत अज्ञान को दूर करके आप निर्मल आत्मतत्त्व का दर्शन कीजिए। शीघ्र उस उत्तम पद को आप प्राप्त होंगे, जिसकी प्राप्ति से तीनों भुवनों में आप पूज्य हो जायेंगे ॥४०॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

॥ दाशूरोपाख्यान समाप्त ॥

छप्पनवाँ सर्ग

जड़ की सत्ता और असत्ता का तथा शुद्ध चेतन के कर्तृत्व,
अकर्तृत्व का विचार कर दृश्य में तादात्म्य संसर्गाध्यासरूप आस्था का सर्वथा निवारण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़ जगत नहीं है, ऐसा निश्चय करके इसमें सब ओर से अहं, मम इत्यादि तादात्म्य संसर्गाध्यासरूप आस्था का आप त्याग कीजिए। जो वस्तु है ही नहीं, उसके प्रति विवेकी पुरुषों की आस्था ही कैसे हो सकती है ? ॥१॥

दृश्य सत् है अथवा सदसत् है या असत् ही है, इन तीनों पक्षों में उसमें अहं, मम इत्यादि तादात्म्य संसर्गाध्यास उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

ये देहादि आपकी सत्ता से निरपेक्ष सत्ता को प्राप्त होकर स्थित है, ऐसा यदि आप मानते हैं, तो आप देहादि सत्ता से निरपेक्ष असंग उदासीन चिद्रूप स्वात्मा में स्थित होइये। आप निरपेक्ष देहादि में अध्यास द्वारा आत्मा को क्यों बाँधते है ? ऐसा करना तो आपके लिए उचित नहीं है ॥२॥ यह जगत सदसत् है, ऐसा यदि आपका निश्चय है, तो भी सत्ता और असत्ताके परस्पर नाशक होने के कारण अनियत स्वभाववाले दृश्य में पूर्वोक्त अध्यास कैसे हो सकता है ? ॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़ जगत असत् है, ऐसा यदि आप मानते है, तो आपका बन्धन ही नहीं है। केवल स्वच्छ आत्मतत्त्व ही इस प्रकार चारों ओर विस्तृत ज्ञात हो गया, अतएव अन्य में रचना का (तादात्म्य

संसार्गाध्यास का) अवकाश ही नहीं रहा ॥४॥

इस जगत का कोई कर्ता है अथवा यह अकर्तृ है अथवा कर्ता और अकर्ता साधारण यह उदासीन आत्मा की सन्निधिमात्र से लभ्य है, तीनों पक्षों में आपकी उसके प्रति आस्था उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह जगत कर्ता से निर्मित नहीं है और अकर्ता से किये गये क्रमवाला भी नहीं है, यह स्वयं ही कर्ता और अकर्तारूपी पद को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है ॥५॥ यह जगत–जाल कर्तारहित हो अथवा सकर्तृक हो, आप इससे अन्योन्य तादात्म्याध्यासवश एकत्व को (देहाद्यात्मभाव को) देखते हुए बुद्धिउपाधिपरिच्छेद में स्थित न होइये ॥६॥

यदि कोई शंका करे, 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते', 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्यादि श्रुतियों से विरुद्ध यह अकर्तृत्वपक्ष कैसे उठा और कैसे आपने इसका निरूपण किया ? इस पर कहते हैं।

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति'

इत्यादि श्रुतियों से असंग उदासीन होने के कारण जड़ पर्वत आदि के तुल्य, सम्पूर्ण इन्द्रियों से विहीन आत्मा मेरु सूर्य की परिधि करता है इसी तरह कर्ता की तरह जगन्मिथ्यात्वज्ञान के लिए उपहृत होता है यानी लक्षणया कर्ता माना जाता है। इस तरह जब कर्तृत्वप्रतिपादक श्रुतियों का तत्त्व ज्ञात हो गया तब जगत काकतालीय के समान अकर्तृक ही है, ऐसा मेरा विश्वास है। काकतालीय न्याय से अनिर्वचनीय ही वह उत्पन्न हुआ है। उसमें अहन्तादि के अभिमान से पुनः पुनः स्मृति मूर्ख को ही होती है, अन्य को नहीं होती ॥७,८॥

उसकी अनिर्वचनीयता को ही युक्ति से दिखलाते हैं।

यह जगत न तो कभी अत्यन्त अभावरूप शून्यस्वभाव था और न कभी प्रध्वंस प्रयुक्त शून्यस्वभाव था, कारण कि शून्य वस्तु का दर्शन नहीं होता, किन्तु जगत सदा प्रवाहरूप से दिखाई देता है एवं ध्वस्त वस्तु की उत्पत्ति में विरोध होता है किन्तु जगत पुनः पुनः उत्पन्न होता है, इसलिए यह जगत अत्यन्त अभाव एवं प्रध्वंस अभावरूप कभी नहीं था ॥९॥

तब तो वह आत्मवत् सदा सत्स्वभाव अथवा क्षणिक सत्तास्वभाव हो ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत न कभी नित्यसत्तास्वभाव था और न क्षणिक सत्तास्वभाव था, क्योंकि प्रथम पक्ष यदि मानिए, तो प्रत्येक क्षण में परिणाम होने से इसके क्षणिकत्व का जो अनुभव होता है, उसके साथ विरोध होगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि अनादि, अनन्त पूर्व और उत्तर काल में असत् जगत् के वर्तमानरूप से अभिमत क्षण में भी असत् की सत्ता न होने के कारण असत्त्व का अनुमान होता है ॥१०॥

भले ही नियति से होनेवाली सृष्टि में परमात्मा की सन्निधिमात्र से कर्तृता हो पर यह मेरे सृष्टि करने योग्य वस्तु है, इस अभिमान से उसमें उसका खेद युक्त नहीं है ऐसा कहते हैं।

सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित और आयासशून्य परमात्मा यदि इसका कर्ता हो, तो सदा इसकी रचना करता हुआ भी कभी खेद को प्राप्त नहीं होता। इसी से भाव और अभाव अवस्थावाली यह प्रौढ़

नियतिशक्ति मिथ्या उदित हुई भी इस प्रकार की स्थिर और दीर्घ दिखाई देती है ॥११,१२॥ असीम काल का मनुष्य देह की परमावधिरूप सौ वर्ष कोई एक अंश है। पूर्व और उत्तर काल में कभी न रहने के कारण अत्यन्त असंभावित, केवल उतने ही काल के लिए मनुष्य देहात्मतारूप आश्चर्य से युक्त वह सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित आत्मा किसलिए उसका अनुसरण करता है ? उसका ऐसा करना सर्वथा अनुचित है ॥१३॥

जगत के पदार्थ यदि स्थिर है, तो स्थिर होने के कारण ही यानी त्याग और उपादान के लिए अयोग्य होने के कारण ही उनमें आस्था करना शोभा नहीं देता। *असंग शुद्ध चेतन का जड़ के साथ सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, इसलिए भी उन पर आस्था करना अनुचित है, इस आशय से कहते हैं।*

जड़ और चेतन का अन्योन्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥१४॥ जगत के पदार्थ यदि अस्थिर हैं, तो भी उनमें आस्था करना शोभा नहीं देता, क्योंकि अस्थिर पदार्थ में आस्था कर रहे आपको दूध के फेन के सदृश अस्थिर पदार्थ का नाश होने पर वह आस्था दुःख ही दे सकती है। भाव यह है कि दूध के फेन में आस्था करने से उसका नाश होने पर यदि शोक उचित होता तो देहादि में आस्था करने से उनका नाश हाने पर भी शोक उचित होता ॥१५॥ हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा की जगतस्वभावता यानी जन्म नाश आदि स्वभावता अन्योन्य तादात्म्य संसर्गाध्यासरूप आस्था बन्धन ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह स्थिर और अस्थिर आत्मा और जगत का तादात्म्याध्यासरूप आस्था का बन्ध फेन और पर्वत के तादात्म्याध्यास की तरह शोभित नहीं होता ॥१६॥

यदि कोई शंका करें कि सकर्तृकत्वपक्ष में इसके प्रति अनास्था कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

यद्यपि आत्मा सर्वकर्ता है, तथापि वह अकर्ता के समान कुछ भी नहीं करता। जैसे दीपक आलोक के प्रति उदासीन है वैसे ही आत्मा इस जगन्निर्माण के प्रति उदासीन रहता है ॥१७॥ जैसे सूर्य सब प्राणियों के दिवस कृत्य का निर्वाह करता हुआ भी कुछ नहीं करता वैसे ही परमात्मा भी सबका निर्वाह करता हुआ भी कुछ नहीं करता। जैसे सूर्य अपने पद में स्थित होकर चलता हुआ भी नहीं चलता वैसे ही अपने स्वरूप में स्थिर आत्मा चलता हुआ भी नहीं चलता ॥१८॥

यदि कोई शंका करे कि सूर्य सब प्राणियों के दिन कृत्य के निर्वाह में निमित्त मात्र है, दिन कृत्य के कर्ता लोग तो उससे भिन्न दिखाई देते हैं, लेकिन जगत के निर्माण में दूसरे कर्ता नहीं हैं; यों दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता है, ऐसी आशंका करके कहते हैं।

जैसे अरुणा नदी का तीर, जो स्वभावतः शिलाओं से विषम (ऊँचा–नीचा) है और जिसका जलप्रवाह भी निम्न गतिशील है, प्रवाह में विषमता पैदा नहीं करता, किन्तु उन दोनो की सन्निधि में उत्पन्न हुआ आवर्त आकस्मिक ही है, वैसे ही चित् और जड़ की सन्निधि में यह जगत भी अकस्मात ही उत्पन्न हुआ–सा दिखाई देता है। जगन्निर्माण के विषय में कर्तृता का भार किसी के सिर मढ़ा नहीं जा सकता, यह भाव है ॥१९॥

इस प्रकार विचार करने पर तो जगत में आस्था सुतरां उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, ऐसा यदि आपने कुशलतापूर्वक निश्चय कर लिया और प्रमाण से शुद्ध चित्त से विचार कर लिया, तो हे साधो, आप पदार्थों के प्रति भावना करने के योग्य नहीं हैं। भला बतलाइये तो सही अलातचक्र (जलती हुई लकड़ी को गोल घुमाने से दिखनेवाला तेजोमय चक्र) में, स्वप्न में और भ्रान्ति में भावना कैसे सम्भव है ? ॥२०,२१॥ जैसे अकस्मात कहीं से आया हुआ अपरिचित प्राणी मैत्री का पात्र नहीं होता, वैसे ही भ्रम से उत्पन्न हुआ वह जगज्जाल भी आस्था का भाजन नहीं है ॥२२॥

असत्य होने से भी उसमें आस्था उचित नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे शीत से पीड़ित हुए आपको उष्णता की भ्रान्ति से प्रतीत चन्द्रमा में आस्था नहीं होती, जैसे ताप से पीड़ित आपको भ्रान्तिवश शीतल प्रतीत हो रहे सूर्य में आस्था नहीं होती और जैसे प्यास से आकुल आपको मृग-जल में आस्था नहीं होती, वैसे ही जगत-स्थिति में भी आपको आस्था नहीं करनी चाहिए ॥२३॥ जैसे आप मनोरथ से कल्पित पुरुष को, स्वप्न में देखे गये मनुष्य को और द्विचन्द्रत्वभ्रम को देखते हैं वैसे ही इन बाह्य दृश्य पदार्थों को भी देखिये ॥२४॥ स्त्री आदि वस्तुओं से सौन्दर्य की चिन्तनमयी आस्था का अपने अन्दर अच्छी तरह परित्याग कर, अकर्तृत्वपद और उसकी इच्छा को निगलकर जो आप परिशिष्ट हैं वही आप हैं, हे अनघ, इस प्रकार के आप इस जगत में लीला से विहार कीजिए। व्यवहार में उदासीनता से कर्तारूप, सब पदार्थों के अन्दर स्थित और सबसे अतीत आत्मरूप आपके सन्निधानमात्र से इच्छारहित यह नियति व्यवहार के आकार से प्रतीत होती है जैसे कि दीपक के सन्निधानमात्र से इच्छारहित प्रभा प्रकाशित होती है ॥२५-२७॥ जैसे मेघों के सन्निधानमात्र से कुटज के फूल अपने आप उत्पन्न होते हैं वैसे ही आत्मा की केवल सन्निधि से तीनों जगत स्वयं उत्पन्न होते हैं ॥२८॥ जैसे सब प्रकार की इच्छा से रहित सूर्य के आकाश में रहने पर सब लौकिक व्यवहार होते हैं, वैसे ही परमात्मा की सत्ता से सब व्यवहार होते हैं ॥२९॥

जैसे रत्न को इच्छा नहीं रहती है कि मुझसे प्रकाश हो, किन्तु उसके रहने पर जैसे प्रकाश होता है वैसे ही इच्छाशून्य परमात्मा के एकमात्र सत्तारूप से स्थित होने पर यह जगतों का समूह होता है ॥३०॥ इसलिए आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी स्थित है, क्योंकि इच्छा रहित होने के कारण वह अकर्ता है और सन्निधिमात्र से कर्ता है ॥३१॥ सन्मयपुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियों से अतीत होने के कारण कर्ता और भोक्ता नहीं है और इन्द्रियों के अन्तर्गत होने के कारण वही कर्ता और भोक्ता है ॥३२॥ हे पापरहित श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही विद्यमान है, जिससे आप अपना कल्याण देखें, उसका अवलम्बन करके स्थिर होइये ॥३३॥ मैं सबमें स्थित और अकर्ता हूँ, इस दृढ़ भावना द्वारा प्रवाह से प्राप्त हुए कार्यों को करता हुआ भी पुरुष पुण्य-पाप से लिप्त नहीं होता ॥३४॥ चित्त की अप्रवृत्ति से जीव वैराग्य को प्राप्त होता है। जिस पुरुष को 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' - ऐसा निश्चय है, वह भोग समूहों की कामनावाला होकर क्या कार्य करेगा अथवा क्या त्याग करेगा ? इसलिए नित्य 'मैं अकर्ता हूँ', - इस प्रकार की दीप्त भावना से अमृतनामक वह परम समता ही अवशिष्ट रह जाती है। यदि उस महाकर्तृता से 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' - ऐसा यदि मानते हो, तो उस स्थिति को भी वृद्ध लोग उत्तम स्थिति कहते हैं।

प्रथम पक्ष में राग–द्वेष आदि की प्रसक्ति का अभाव दिखलाते हैं।

'इस समस्त जगत् भ्रम को मैं नहीं करता हूँ', – ऐसा यदि मानते हो, तो उस कल्प में अपने से अन्य का अत्यन्त अभाव होने के कारण राग–द्वेष का प्रसंग कहाँ है ?

दूसरे पक्ष में भी रागद्वेष आदि की प्रसक्ति का अभाव दिखलाते हैं।

अन्य ने जो शरीर को जलाया और अन्य ने जो पालन किया, वह भी हमारे द्वारा किया गया है, अतः उसमें खेद और हर्ष का कौन प्रसंग है ? मेरे सुख और दुःख का विस्तार करनेवाले जगज्जाल के नाश और अभ्युदय में मैं ही कर्ता हूँ, ऐसा हृदय में निश्चय करके स्थित हुए पुरुष के सुख और दुःख का कौन प्रसंग है ? इस आत्मकर्तृता द्वारा दुःख और हर्ष के विलास के अपने–आप विलीन होने पर एकमात्र समता ही शेष रहती है। सब भूतों में समता है, वही सत्य परम स्थिति है ॥३५–४२॥ उक्त समता में स्थित हुआ चित्त फिर तनिक भी जन्म भागी नहीं होता। अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा की सर्वकर्तृता, अकर्तृता इन सबका त्याग करके मन का विलयकर जो आप अवशिष्ट रहें, वही आपका यथार्थस्वरूप है। आप स्थिर होइये ॥४३॥

इस दृष्टि की अपेक्षा पूर्वोक्त दृष्टियाँ स्वल्प महिमावाली है, ऐसा दर्शाते हैं।

'यह (इस देह में प्रसिद्ध) मैं हूँ, इसे मैं करता हूँ और इसे नहीं करता' – इस प्रकार के भावों का अनुसन्धान करनेवाली दृष्टि सन्तोष के लिए नहीं होती।

यदि वे सन्तोष के लिए नहीं है, तो क्यों आपने उनका उपन्यास किया ? ऐसी यदि शंका हो, तो सम्पूर्ण अर्थों के मूल देह में अहंभाव की निवृत्ति के उपाय रूप से उनका उपन्यास किया है, इस आशय से देह में अहंभाव की अनर्थरूपता और सर्वथा हेयता को दर्शाते हैं।

पूर्वोक्त दृष्टि कालसूत्र नरक की राह है, वही महावीचि नरकरूपी जाल है और असिपत्रवनों की (एक प्रकार के नरकों की) परम्परा है, जो कि देह में 'अहं' ऐसी प्रतीति है। उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये। यदि सर्वनाश भी उपस्थित होता हो तो भी भव्यपुरुषों को कुत्ते के मांस को ली हुई चण्डालिन के समान उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये, विशुद्धात्मदृष्टि के लिए पटलरूप नेत्र दोष की परम्परा के समान आवरण और विक्षेप में हेतुभूत उस दृष्टि के दूर से त्याग कर देने पर बादलरहित चाँदनी के समान परम निर्मल आत्मदृष्टि उदित होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, उदित हुई जिस दृष्टि से भवसागर पार किया जाता है ॥४४–४८॥

अब उक्त तीनों दृष्टियों के इकट्ठा कर उनमें अपने अधिकार के अनुसार ऐच्छिक स्थिति की उपपत्ति करते हुए सर्ग का उपसंहार करते हैं।

'मैं कर्ता नहीं हूँ, कर्तृता का प्रयोजक देहादि भी नहीं हूँ', – ऐसा अपने हृदय में स्पष्ट जानकर अथवा 'सबका कर्ता मैं हूँ, सबका अधिष्ठानभूत ब्रह्माण्ड भी मैं ही हूँ'– यों निश्चय कर अथवा मैं यह प्रसिद्ध दृश्यरूप कुछ भी नहीं हूँ, किन्तु लोकप्रसिद्ध, परिच्छिन्न, जड़, दुःखस्वभाव संसार से विलक्षण पूर्णानन्द चिदात्मा मैं हूँ, ऐसा निर्णय करके आप सर्वोत्तम अपने स्वरूप में स्थित होइये, जिसमें कि ब्रह्मवेत्ता साधु पुरुष स्थित हुए हैं ॥४९॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का अनवसर,
वासना के त्याग का क्रम और एकमात्र वासनात्याग से प्रसिद्ध हुए लोगों की प्रशंसा।

आगे कहे जानेवाले प्रश्न की इच्छावाले श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजी द्वारा कही गई पूर्वोक्त बातों के अनुवाद और प्रशंसा द्वारा उनका मुझे बोध हो गया यों दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, सदुक्तियों से सुन्दर जो आपने पहले कहा, यह वास्तव में ठीक है। भूतों का निर्माण करनेवाले परमात्मा अकर्ता होते हुए भी कर्ता हैं और अभोक्ता होते हुए भी भोक्ता हैं। यद्यपि आपने परमात्मा की सर्वभोक्तृता और अभोक्तृता नहीं कही, तथापि अकर्तृता और सर्वकर्तृता के समान मैंने उसे भी जान लिया ॥१॥ सबके नियन्ता, सर्वव्यापक, चिन्मात्र, निर्मलपद, जैसे पृथिवी में जरायुज, उद्भिज आदि चार प्रकार के प्राणी शरीर रहते हैं वैसे ही सब भूत जिसमें निवास करते हैं और स्वयं जो सब भूतों का अन्तर्यामी है, हे प्रभो, ऐसा ब्रह्म इस समय मेरे हृदयंगम हो गया है। जैसे मेघों की मुसलधार वृष्टि से पर्वत ग्रीष्म के सन्ताप से रहित हो जाता है वैसे ही आपकी उक्तियों से मैं सन्तापरहित हो गया हूँ ॥२,३॥

परमात्मा के भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व के अविरोध में भी उपपत्ति कर्तृत्व और अकर्तृत्व के अविरोध में कही गई उपपत्ति के तुल्य ही है ऐसा मैंने जान लिया, यह दर्शाते हैं।

परमात्मा उदासीन और इच्छारहित होने के कारण न भोगकर्ता है औ न सृष्टिकर्ता है। सम्पूर्ण लोकों का प्रकाशक होने के कारण प्रकाश स्वरूप वह परमात्मा भोगकर्ता और सृष्टिकर्ता भी है। किन्तु हे ब्रह्मन्, मेरे हृदय में यह निम्नलिखित महान सन्देह है, जैसे चन्द्रमा अपनी किरणों से अन्धकार को तहस-नहस कर देते हैं वैसे ही आप अपनी वाणी से इस सन्देह को छिन्न-भिन्न कर दीजिये ॥४,५॥

प्रश्न में उपयोगी होने के कारण पूर्वसर्ग में कही गई जगत की सत्ता और असत्तारूप दृष्टि के पक्ष का तथा व्यष्टि की अहन्ता के परित्याग से समष्टि में अहंभाव के पक्ष का अनुवाद करके श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

आपके कथनानुसार यह जगत सत् है या असत् है, यह प्रसिद्ध समष्टि ही मैं हूँ या एकमात्र व्यष्टि देह मैं नहीं हूँ, यह प्रपंच समष्टि दृष्टि से एक है या व्यष्टि दृष्टि से अनेक, इत्यादि अनियत बहुत कल्पनाओं से भरा हुआ विरोध अद्वितीय, स्वप्रकाश होने के कारण ही मोहान्धकारशून्य, निर्मल आत्मा में सूर्य में हिम के समान कैसे इस समय विद्यमान है ? यदि कहिये, पहले मायाशबल ब्रह्मा के अन्दर यह विद्यमान था, वही इस समय अभिव्यक्त हुआ है, तो उस पर प्रश्न होता है कि वह पहले भी कैसे था, क्योंकि उस समय भी उक्तविरोध समान ही है ॥६,७॥

श्रीरामचन्द्रजी के वचनों से ही उनको स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा का दर्शन हो गया हैं, उनको सब शरीरों में एकता का ज्ञान और जगत की अनिर्वचनीयता का परिज्ञान हो गया है; किन्तु वासनाओं के क्षय न होने के कारण सब संशयों की कारण अविद्या का उच्छेद करनेवाला प्रत्यागात्मब्रह्मैक्यरूप अखण्डाकार अनुभव नहीं हुआ, ऐसा निश्चयकर पूर्वोक्त अखण्डाकारानुभव के उपायरूप से 'वासनोच्छेद के उपायों

को कहने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी पहले आपके प्रश्नों का उत्तर कहने के लिए यह अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्तकाल में (निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्ध में पाषाणाख्यायिका आदि कहने के अवसर पर) इस प्रश्न का स्थिर उत्तर मैं आपसे कहूँगा। जिससे आप इसे तत्त्वतः जान जायेंगे ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मोक्षोपाय के उपदेश के सिद्धान्त को यानी ब्रह्मनिष्ठारूप अखण्डाकार बोध को प्राप्त किये बिना आप इन प्रश्नों के उत्तर सुनने के लिए पर्याप्त योग्य नहीं होगे ॥९॥

इस समय यदि मैं आपसे कहूँगा भी, तो वह आपके चित्त में आरूढ़ नहीं होगा, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे युवा पुरुष प्रेयसी के गीतों का पात्र होता है वैस ही सम्पूर्ण कर्म फलों की अवधिरूप आत्मज्ञान वाला पुरुष इन प्रश्नों के उत्तर वाक्यों का भाजन होता है ॥१०॥ जैसे बालकों के विषय में प्रेम की कथाएँ व्यर्थ होती हैं वैसे ही अल्प ज्ञान वाले पुरुषों के विषय में मोक्षप्रद कथा निरर्थक है ॥११॥

इस प्रकार के प्रश्न भी तभी शोभा देते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे नारंगी, सुपारी, जम्बीर आदि वृक्षों के फल शरत्काल में ही शोभा देते हैं, वसन्त में शोभा नहीं देते हैं वैसे ही किसी समय में ही पुरुष की कुछ बातें शोभित होती हैं यानी आपका यह प्रश्न अभी शोभित नहीं होता है ॥१२॥ जैसे निर्मल वस्त्र में रंग लगता है वैसे ही आत्मज्ञानी, ज्ञान वृद्ध पुरुष में उदार विज्ञान कथाओं से युक्त उपदेश वाणियाँ सार्थक होती हैं ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रश्न का उत्तर मैंने भार्गवोपाख्यान में संक्षेप से कह दिया है; लेकिन आपको अनधिकारी देख कर उसे विस्तार से पूरा नहीं कहा। इसीलिए आपको स्पष्टरूप से वह परिज्ञात नहीं हुआ ॥१४॥

अखण्डार्थ का बोध होने पर मेरे उपदेश के बिना भी इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं जान जायेंगे, ऐसा कहते हैं।

यदि आप अपने–से उस आत्मा को जान लेते हैं, तो इस प्रश्न के उत्तर को अपने आप भलीभाँति जान जायेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१५॥ हे सज्जन शिरोमणे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्त काल में जबकि आपको आत्मज्ञान हो जायेगा, तब मैं प्रश्न और उत्तर का क्रम विस्तार से ही कहूँगा ॥१६॥

मेरा उपदेश तो द्वार प्रदर्शनमात्र है, आपको एकाग्रता से स्वयं आत्मदर्शन करना होगा, ऐसा कहते हैं।

संसारी आत्मा को भी आत्मा जानता है, क्योंकि आत्मा ने ही मालिन्यवश आत्मा को संसारी बनाया है। वह आत्मा ही आत्मज्ञान से निर्मल होकर वास्तविक पूर्ण आत्मा को प्राप्त होता है यानी तद्रूप हो जाता है ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व का विचार भी इसी अखण्ड ब्रह्मज्ञान के उद्देश्य से मैंने कहा है। मेरे कहने पर भी उक्त अखण्डात्मता का आपको परिज्ञान नहीं हुआ, अतएव आपकी वासना क्षीण नहीं हुई है, ऐसी मैं संभावना करता हूँ ॥१८॥

अब बन्ध और मोक्ष का रहस्य दिखलाते हुए वासनाओं के उच्छेद में उपाय क्रम को दर्शाते हैं।

वासनाओं से बद्ध पुरुष बद्ध है और वासनाओं का क्षय मोक्ष है। आप वासनाओं का त्याग करके मोक्षार्थिता का भी त्याग कीजिये ॥१९॥

वासना के क्षय में वैराग्य की दृढ़ता ही पहली भूमिका है, ऐसा कहते हैं।

पहले विषयों द्वारा चित्त में स्थापित, तिर्यग् आदि योनि को देनेवाली तामसी वासनाओं का त्याग करके मैत्री, करुणा, मुदिता उपेक्षारूप भावना नामवाली निर्मल वासनाओं को स्वीकार कीजिये ॥२०॥ मैत्री आदि भावना नामवाली निर्मल वासनाओं का भी, चिन्मात्र से अतिरिक्त मैत्रीआदि नहीं हैं, इस ज्ञान से भीतर त्याग कर बाहर उनसे व्यवहार करते हुए भी आप, जिनकी कि अन्तःकरण में सब वासना शान्त हो गई, संप्रज्ञात समाधि के अभ्यास से चिन्मात्र ही मैं हूँ, इस प्रकार के दृढ़ वासनावाले होइये ॥२१॥ मन, बुद्धि आदि से युक्त उक्त मैत्र्यादि वासना का भी परित्याग कर आत्मा होने के कारण ही त्याग करने के अयोग्य होने से अवश्य शेष रहनेवाले प्रत्यक् तत्त्व में स्थिर विश्रान्तिवाले यानी असंप्रज्ञात समाधि में विश्रान्त हुए आप जिस कलना नामक द्वैत कल्पना के मूलस्तम्भरूप अहंकार से पूर्वोक्त सबका त्याग यानी सर्वत्र 'अहं मम' इत्यादि अभिमान का त्याग कर देते हैं, उसका भी त्याग कीजिये। उक्त त्याग अहंकार में भी शुद्ध चिन्मात्र रूप अहंभावरहित पूर्णात्मा के दर्शन द्वारा मूल अज्ञान का समूल उच्छेद होने से स्वयं ही हो जाता है, इसलिए उसमें अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है, इसलिए अनवस्थादोष का अवसर नहीं हो सकता ॥२२॥ हे सुबुद्धे, प्राणस्पन्दनपूर्वक कलना, काल, प्रकाश, तिमिर आदि का एवं वासना और विषयों का, उनके द्वारभूत इन्द्रियों और समूल अहंकार का त्याग करके आकाश के समान निर्मल (विक्षेपरहित) एकमात्र ब्रह्मात्मअखण्डाकार बुद्धिवाले होकर जो चिन्मय आप हो रहे है, सर्वपूजित वही परमार्थरूप आप होइये ॥२३,२४॥

इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष की पूज्यता ही प्रशंसा द्वारा दिखलाते हैं।

जो महामति पुरुष पूर्वोक्त सबका हृदय से परित्याग कर सब विक्षेपों के कारणभूत अभिमान से रहित होकर स्थित होता है, वह मुक्त है, परमेश्वर है ॥२५॥

इस प्रकार अभ्यास के दृढ़ होने से सातवीं भूमिका में पहुँचे हुए सिद्ध की कृतकृत्यता ही हो जाती है, उसका कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, ऐसा कहते हैं।

जिसने पूर्वोक्त अभिमान अध्यास का हृदय से परित्याग कर दिया है, ऐसा उत्तम आशयवाला पुरुष समाधि और कर्म करे, चाहे न करे, वह मुक्त ही है ॥२६॥ जिसका मन वासनारहित हो गया हो, उसे न तो नैष्कर्म्य से प्रयोजन है, न कर्मों से और न समाधि और जप से ही उसे प्रयोजन है ॥२७॥

कुछ समय तक किये गये श्रवण, मनन और ध्यान से वासनाक्षय होने के पहले ही मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसी भ्रान्ति से प्रयत्न से विमुख नहीं होना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

मैंने शास्त्र का खूब विचार किया और बड़े भारी परिश्रम से सब विद्वानों की सम्मति से यही मोक्ष शास्त्र का रहस्य है, यों निर्णय भी किया, किन्तु श्रुतियों में बाल्य और पाण्डित्य शब्दों से कहे जानेवाले श्रवण और मनन की दृढ़ता से उत्पन्न पूर्वोक्त निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि के परिपाक पर्यन्त मुनिभाव के सिवा परम पद यानी परिनिष्ठित तत्त्वज्ञान नहीं है, अतः इससे विरत होना उचित नहीं है ॥२८॥

अतएव तत्त्वज्ञानी विरल और दुर्लभ है, ऐसा कहते हैं।

दसों दिशाओं में घूम-घूम कर सब दृश्य मैंने देखा, किन्तु तत्त्वज्ञानी लोग विरल ही देखे ॥२९॥

सब लोग बहिर्मुख हैं। बाहर इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय में ही लोगों की लगन

देखी, आत्मा के प्रति लगन नहीं देखी, ऐसा कहते हैं।

यहाँ पर जो कुछ दिखाई देता है, वह इष्ट और अनिष्ट से अतिरिक्त नहीं है। उससे अतिरिक्त जो अविषय आत्मतत्त्व है उसके लिए कोई भी पुरुष प्रयत्न नहीं करता; किन्तु इष्ट और अनिष्ट के लिए ही लोग प्रयत्न करते हैं ॥३०॥

अनात्मा में प्रयत्न एकमात्र अनात्म देह के लिए ही है, अतएव वह पुनः पुनः देह प्राप्ति रूप अनर्थ का हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

मनुष्यों के जो कोई लौकिक गृह, महल आदि के निर्माण कार्य हैं और जो वैदिक यज्ञादि क्रियाएँ हैं, वे सब एकमात्र देह के लिए हैं, आत्मा के लिए उन का कोई भी उपयोग नहीं है ॥३१॥ पाताल में, ब्रह्मलोक में, स्वर्ग में, पृथिवी पर और अन्तरिक्ष में जिन्हें चिदेकरस का परिज्ञान हो गया ऐसे विरल ही पुरुष दिखाई देते हैं ॥३२॥ यह हेय है, यह उपादेय है, इस प्रकार अज्ञान से उत्पन्न हुए निश्चय जिस ज्ञानी के नष्ट हो गये, ऐसा पुरुष अति दुर्लभ है ॥३३॥

यदि कोई शंका करे कि संसार में उत्तम राज्यादि पद प्राप्त करने पर भी शान्ति दिखाई देती है फिर आत्मदर्शन का क्या प्रयोजन है ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

प्राणी चाहे भुवन में राज्य करे, चाहे इन्द्रपद प्राप्ति द्वारा मेघ में प्रवेश करे अथवा वरुणपद प्राप्ति द्वारा जल में प्रवेश करे, पर आत्मलाभ के बिना उसे शान्ति नहीं मिल सकती ॥३४॥

तब विश्रान्ति चाहनेवाले पुरुष को किनकी उपासना करना चाहिये ? ऐसा प्रश्न होने पर उनके उपासनीय पुरुषों को कहते हैं।

जो महाज्ञानी सज्जन इन्द्रियरूपी शत्रुओं का दमन करने में शूर–वीर हैं, जन्मरूप ज्वर के नाश के लिए उन्ही महामतियों की उपासना करनी चाहिये ॥३५॥

उनकी उपासना से तत्त्वज्ञान होने पर भी फिर भोगों में अनुराग का निवारण कौन करेगा ? इस शंका पर कहते हैं।

सर्वत्र पाँच भूत है, छठा कुछ भी नहीं है, इसलिए कौन धीरबुद्धि पुरुष पाताल में, पृथिवी में और स्वर्ग में रति को प्राप्त होगा। भाव यह है 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति में कही गयी रीति से सब भौतिक पदार्थों के भूतमात्रतारूप मिथ्यात्व का बोध होने पर उनमें अनुराग का उदय ही नहीं होता ॥३६॥

तब भूत भी तो बहुत हैं, बचे हुए भूतों के भी अनन्त होने से उनसे उद्धार पाना संभव नहीं है। ऐसा यदि कोई कहे, तो ठीक है, अज्ञानियों की दृष्टि में ऐसा ही है, तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तो 'अन्नेन सोम्य शुंगेनापो मूल मन्विच्छ' इस श्रुति में दर्शित युक्ति से सबके अधिष्ठानभूत ब्रह्म के दर्शन से भूतों में भी ये सत्य हैं, ये मिथ्या है, ऐसे निश्चय से भूतों से भी निस्तार पाना सुलभ ही है, इस आशय से कहते हैं।

युक्ति से व्यवहार कर रहे ज्ञानी का संसार गौ के खुर के समान अनायास तरने योग्य है, किन्तु जिसने युक्ति का दूर से परित्याग कर दिया है, ऐसे अज्ञानी का संसार प्रलय के महासागर के समान दुस्तर है ॥३७॥

अपरिच्छिन्न आत्मानन्द की दृष्टि में ब्रह्माण्ड कदम्ब गोलक के तुल्य है। इस सारे ब्रह्माण्ड के

प्राप्त होने पर भी वह ज्ञानी पुरुष को क्या देता है और क्या भोग करता है ! ॥३८॥

राज्यादि सुख युद्ध आदि अनर्थों द्वारा लाखों योद्धाओं के क्षय का कारण होता है, इसलिए दयालू तत्त्वज्ञानी द्वारा वह धिक्कार के योग्य ही है, सत्कार के योग्य नहीं है ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसके लिए अज्ञानी लोगों की महायुद्धादि क्रियाएँ होती हैं लाखों योद्धाओं के विनाश हेतु उस राज्य सुख को मैं धिक्कार के योग्य समझता हूँ॥३९॥

यदि कोई शंका करे कि महाकल्प तक चिरकाल भोगने योग्य ब्रह्मा के पद में (हिरण्यगर्भपद में) : उसकी रति होगी ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

द्विपरार्ध अवधिवाले महाकल्पान्तरूप काल से नष्ट होने के कारण अत्यन्त कोमल उस पद में भी सब प्राणियों की प्रलय का निमित्त होने के कारण मानस व्यथा का निमित्तभूत नाश होता है, अतः वह पद मूढ़ों का ही स्पृहणीय है, तत्त्वज्ञानियों का स्पृहणीय नहीं हैं॥४०॥ तत्त्वज्ञानी आत्मा की दृष्टि से तो तीनों जगत सृष्टि आदि से तनिक भी उत्पन्न नहीं हुए, क्योंकि 'निरोधोनचोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति है। उन वन्ध्यापुत्र के समान तुच्छ तीनों जगतों के प्राप्त होने पर आत्मा क्या बलवान होगा, जिससे कि उनमें उसका अनुराग होगा ? ॥४१॥

असार अंश के अधिक होने से और उपयुक्त अंश के न्यून होने से भी सार्वभौम आदि पद स्पृहणीय नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यह पृथ्वी इधर सैकड़ों पर्वतों से व्याप्त है एवं इस तरफ अनन्त जल राशियों से व्याप्त है। इस पृथ्वी का शरीर ही कितना बड़ा है, जिससे कि वह सबके त्याग से रिक्त हुए उस ज्ञानी के विशाल आशय को पूर्ण कर सके। भाव यह है कि भूमि सर्वांश उपयोग में नहीं आ सकती, इसलिए भी सार्वभौमिपद स्पृहणीय नहीं हो सकता ॥४२॥ पाताल और स्वर्ग सहित इस जगत में वह कार्य नहीं है, जो कि आत्मज्ञानी पुरुष को अवश्य कर्तव्य हो, क्योंकि सब कामनाओं की प्राप्ति से वह कृतकृत्य है ॥४३॥

जैसे मृग तृष्णा सूर्य के प्रकाश से उत्पन्न होती है, अतएव सूर्य की अपेक्षा करती है, किन्तु सूर्य मृगतृष्णा का निमित्त होता हुआ भी उसकी अपेक्षा नहीं करता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी के चित्प्रकाश से उत्पन्न हुआ जगत ही तत्त्वज्ञानी की अपेक्षा करे, तत्त्वज्ञानी तो पूर्णानन्द में रमता है, अतएव कटाक्ष से भी जगत को नहीं देखता, जगत की अपेक्षा करना तो उसके लिए बहुत दूर है, ऐसा कहते हैं।

एकता प्राप्त हुए, आकाश के समान सब जगह व्याप्त, स्वस्थ, आत्मज्ञानी, आत्मनिष्ठ, मनरहित पुरुष का त्रिलोकीरूपी विशाल मृगतृष्णानदी का तट निवृत्त हुए सारे संसार से सुन्दर होकर आकाश के मध्य भाग के तुल्य ही मूर्तस्वरूपवाला नहीं है, यद्यपि शरीर आदि असत् हैं, फिर भी बाधित पदार्थों की अनुवृत्ति से प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक उनका आभास होता ही है; अतएव उक्त त्रिलोकी रूपी मृगतृष्णा नदी का तट शरीर समूहरूपी कुहरे से धूसर रंग का है ॥४४,४५॥

जगत को तत्त्वज्ञानी के आत्मप्रकाश की अपेक्षा है, इस बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

सभी कुल पर्वत विशाल ब्रह्मरूपी निर्मल सागर के फेन हैं; नदी, समुद्र आदि जलशोभाएँ चित्सूर्य की महाप्रभा में मृगतृष्णा हैं; सारी की सारी सृष्टियाँ आत्म तत्त्वरूपी महासागर की तरंगें हैं और शास्त्रदृष्टियाँ यानी श्रौत–स्मार्त धर्म और ब्रह्म तत्त्वप्रतिभास (ब्रह्मज्ञान) ब्रह्मरूपी मेघ की वृष्टि हैं।

यद्यपि लौकिक चाक्षुष आदि दृष्टि का प्रकाश रूप होने के कारण ब्रह्मरूपी मेघ की वृष्टि के सदृश ही हैं, तथापि सुन्दर उपजाऊ खेत में वृष्टि के समान शास्त्रदृष्टियों का ही पुरुषार्थ में उपयोग है, अतएव उन्हीं का उपादान किया है ॥४६,४७॥

अधिष्ठानरूप से आत्मप्रकाश की अपेक्षा कह कर जड़ पदार्थों के प्रकाश के लिए भी उसकी अपेक्षा है, ऐसा कहते हैं।

जब घड़े, काठ आदि के तुल्य चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य चिद्रूप कान्ति के प्रकाशनीय है, तो मल कण के तुल्य पृथिवी के धातु उसकी अपेक्षा करते हैं, इसमें कहना ही क्या है ? भाव यह है कि जब निर्मल आदित्य आदि भी उसके प्रकाश की अपेक्षा करते हैं तब अत्यन्त मलिन होने के कारण मल कण के सदृश पार्थिव आदि धातु अपने प्रकाश के लिए उसकी अपेक्षा करते हैं, इसमें कहना ही क्या है ? ॥४८॥

'एतस्यैवानन्दस्वान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इस श्रुति से सब प्राणियों के जीवन के हेतु विषयानन्द के लिए भी उसकी अपेक्षा है, ऐसा कहते हैं।

देहरूप से जो परिच्छन्न होता है या अनुभूत होता है या नष्ट होता है, ऐसे आत्मावाले पुरुष, नर और असुर, जो संसाररूपी वन में विहार करनेवाले तथा काम भोगरूप तृणों के ग्रास में मृग के समान हैं, आनन्दपूर्वक विहार करते हैं ॥४९॥

मृगों को वनविहार में स्वातन्त्र्य है, किन्तु देहरूपी पिंजड़े में बँधे रहने के कारण नर, सुर और असुरों को अत्यन्त परतन्त्रता का दुःख ही है, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मा द्वारा जगत के नर, सुर और असुर आदि के शरीर अनादि संसाररूपी महावन में जर्जर हुए जीवों के पर्याय क्रम से बन्धन के लिए रक्त और मांस के पिंजड़े बनाए गये हैं। हड्डी के टुकड़े ही उनके अर्गल (द्वार अवरोधक काष्ठ) हैं और सिर ही उनके ऊपर के ढकने हैं और नसें ही लोह की सिकड़ियाँ है ॥५०॥ इस प्रकार संसाररूपी देह के विवेक से शून्य, वनपंक्तियों की मृगरूपी मांस की पुतलियाँ, जिनके अन्दर जीव प्रविष्ट है, अपनी अपनी मूढ़बुद्धियों के भोगरूप किसलयों (कोंपलों) के ग्रास से विनोद करने के लिए तत्भोगभूमिरूप नगर संचार में ब्रह्मा द्वारा नियोजित हैं ॥५१॥

तत्त्वज्ञानी की भी देह देखी जाती है, अतएव वह भी क्या वैसा ही है, इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

सर्वत्यागी पूर्वोक्त महामतिवाला तत्त्वज्ञ पुरुष तनिक भी इस प्रकार का नहीं है। जैसे पर्वत मन्दवायु से विचलित नहीं होता वैसे ही भोगों के समूह से तत्त्वज्ञानी विचलित नहीं होता ॥५२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसमें चन्द्र और सूर्य के संचार का प्रदेश आकाश विपुल होता हुआ भी पृथ्वी के छिद्र के समान अल्परूप से भी स्थित नहीं है, उस महान पद में ज्ञानी स्थित होता है। भाव यह है कि उस प्रकार के महापद में स्थित हुए ज्ञानी की आकाश के मध्य के देश से परिच्छिन्न पदों में कैसे लगन हो सकती है ? ॥५३॥ जिस तत्त्ववेत्ता के चित्प्रकाश से ब्रह्मा आदि लोकपाल प्रकाशवाले होकर एवं चक्षु द्वारा बाहर और बुद्धि द्वारा भीतर सम्यग् व्यवहार के उचित बोधवाले होकर अज्ञान समुद्र में मग्न हो अपने आत्मा को अशरीर समझते हुए भी मूढ़ होकर अज्ञ जन की तरह देहात्मभाव से शरीरों की रक्षा करते हैं ॥५४॥ तत्त्वज्ञ पुरुष को, वैराग्य के दृढ़ होने के कारण भोगवासना का क्षय होने से जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, लोकपालों के भोग के योग्य भी त्रैलोक्य राज्यादि जगत के भाव पुनः पुनः अभ्यस्त होने पर भी

ऐसे रंजित नहीं करते जैसे कि आकाश को मेघ रंजित नहीं करते ॥५५॥ जैसे भगवती पार्वतीजी के नृत्य की इच्छा करनेवाले भगवान शंकर को नाचते हुए बन्दर अनुरंजित नहीं करते वैसे ही कोई भी जगत के पदार्थ तत्त्वज्ञ पुरुष को अनुरंजित नहीं करते ॥५६॥ जैसे घड़े से बाहर रहने की अवस्था में रत्न के भीतर दिखाई दे रही स्तम्भ, दीवार आदि के प्रतिबिम्ब की शोभा घड़े में स्थित रत्न को अनुरंजित नहीं करती वैसे ही ये कोई भी पदार्थ तत्त्वज्ञ पुरुष को अनुरंजित नहीं करते ॥५७॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

जैसे राजहंस बगुले के खाने योग्य गन्दे शेवाल के टुकड़ों में रति को प्राप्त नहीं होते वैसे ही तत्त्वज्ञानी भी ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त जगत के वैभव का अज्ञानी की दृष्टि से अति दुर्भेद्य होने के कारण वज्र के तुल्य, विवेकी की दृष्टि से जल विलासों में उन्नत तरंग द्वारा अपने अग्रभाग में किये गये चन्द्र आदि के प्रतिबिम्ब के तुल्य अनिर्वचनीय और अस्थिर एवं तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से अति तुच्छ जानकर अज्ञ के समान उनके अभीष्ट सुखों में अतिलालसा पूर्ण अनुराग को प्राप्त नहीं होते ॥५८॥

सतावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

पूर्ण पद में आरुढ़ हुए पुरुष के सर्वात्मत्व का बोध करानेवाली कच गाथा का श्रीवसिष्ठजी द्वारा श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इसी पूर्वोक्त वस्तु के विषय में कही गई पूर्वकाल की जो गाथा बृहस्पति के पुत्र कच ने गाई थी, हे श्रीरामचन्द्रजी, उसे आप सुनिये ॥१॥ मेरु के किसी वन में सुरगुरु के पुत्र कच रहते थे। कभी शुद्ध ब्रह्मविद्या के मनन–निदिध्यासन के परिपाक से वे आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त हुए ॥२॥ उनकी आत्मज्ञान के अमृत से परिपूर्ण वह मति पंचभूतों से निर्मित, अनादर के योग्य इस मिथ्या दृश्य प्रपंच में नहीं रमी ॥३॥ दृश्य में न रमने के कारण सद्रूप ऐकात्म्य से अतिरिक्त वस्तु को न देखते हुए, एकमात्र आत्मवस्तु का परिशेष होने से उदास हुए– से एकाकी उन्होंने हर्ष से गद्गद् हुई वाणी से यह कहा : मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किसका ग्रहण करूँ और किसका त्याग करूँ ? जैसे महाप्रलय के जल से संसार भरा होता है वैसे ही यह सारा विश्व आत्मा से भरा हुआ है ॥४,५॥

यदि कोई कहे, जीवात्मा के जो सुख साधन हैं, उन्हें करो, वे सुख साधन जहाँ प्राप्त हो वहाँ जाओ, सुख और सुख के साधनों का ग्रहण करो एवं दुःख के साधन और दुःख का त्याग करो, तो इस पर कहते हैं।

दुःख, दुःख का उपभोग करनेवाले जीव और जीव की अभिलाषा के योग्य सुख इत्यादि सारा जगत यदि मूल का अन्वेषण किया जाय, तो आकाशमात्र ही है, फिर भी दिशाओं से और मनोरथों से सुमहान वह आत्ममय है यानी आत्मा ही है, ऐसा मुझे ज्ञात हो गया, अतः उसी आनन्दैकरस आत्मा से मेरा सब दुःख नष्ट हो गया है, इसलिए किसी वस्तु के त्याग और किसी वस्तु के ग्रहण की मुझे आवश्यकता नहीं है ॥६॥ बाह्य (आधिभौतिक) और आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) भावों से युक्त इस देह में ऊपर, नीचे और पूर्व आदि दिशाओं में इधर–उधर आत्मा ही है। अनात्ममय कहीं पर भी नहीं है। इस विषय में श्रुति

भी है : 'आत्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वम्' ॥७॥ सभी जगह अधिष्ठानरूप से आत्मा स्थित है। विवर्तरूप कल्पित विकार के दर्शन से सब आत्ममय ही है। तत्त्वदर्शन से तो सब आत्मा ही है। इस दृष्टि से मैं परमार्थ आत्मा में ही सर्वदा स्थित हूँ॥८॥ जो चेतनरूप से प्रसिद्ध है और जो अचेतनरूप से प्रसिद्ध है, वह सब सन्मय, अपार आकाश को पूर्ण करनेवाला आत्मरूप मैं सर्वत्र स्थित हूँ॥९॥

आनन्दरूप एकमात्र सागर के तुल्य मैं सर्वत्र सुखपूर्वक स्थित हूँ, इस प्रकार मेरु पर्वत के निकुंज में भावना करते हुए वे स्थित रहे ॥१०॥

विशुद्ध आत्मा को उन्होंने किस प्रमाण से देखा, इस पर कहते हैं।

क्रमशः घण्टानाद की तरह ॐकार का उच्चारण करते हुए उन्होंने देखा।

श्रुति भी है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥

अर्थात् प्रणव धनुष है, जीवात्मा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर उसका वेध करना चाहिये। वेधन करने के पश्चात बाण के समान तन्मय होना चाहिये।

यदि कोई शंका करे कि ॐकार में आकारादिमात्राएँ विराट् आदि की वाचक हैं। तुरीय तत्त्व को ॐकार के किस अंश से देखा ? इस पर कहते हैं।

पूर्व–पूर्व मात्राओं का विराटादि अर्थों के साथ उत्तरोत्तर मात्राओं में लय करके बाल के समान ॐकार के सिर पर दिखाई देनेवाला, अति सूक्ष्म और कोमल, सबसे पीछे के अर्धमात्ररूप कलामात्र की, जो सबके विषय का चरम सीमारूप तुरीयतत्त्व है, तुरीयात्मा से ही भावना करते हुए तुरीयभावापन्न होकर न तो आन्तरकारण में स्थित और न बाह्यभूत कार्य में वे आगे कहे जानेवाले प्रकार से स्थित हुए ॥११॥

उसी स्थिति को दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कल्पनारूपी कलंक से रहित अतएव शुद्ध एवं जिनका प्राणस्पन्दन हृदय में निरन्तर लीन हो गया, इसलिए जिससे मेघ हट गये, ऐसे शरत्काल के आकाश के समान निर्मल वे महात्मा कच गाते हुए स्थित रहे ॥१२॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

विषयों की निःसारता, ब्रह्मा के संकल्प से जगत की रचना,
ब्रह्मा की निर्वेद से विश्रान्ति और शास्त्र सृष्टि का वर्णन।

प्रसंग प्राप्त कच गाथा को समाप्त करके भोग तत्त्वज्ञों की इच्छा आदि के योग्य नहीं है, इस विषय का, जो प्रकृत है, उपपादन करते हुए श्रीवसिष्ठजी वैराग्य के उपदेश के लिए विषयों की निःसारता का विस्तार से वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार में अन्न-पान तथा स्त्रीरूप विषयों से जिह्वा, उपस्थ आदि इन्द्रियों का जो संसर्ग है, उसके सिवा उत्तम पुरुषार्थ रूप और कुछ भी नहीं है, यह बात श्रुति, स्मृति और पुरुषों के उपदेश से सिद्ध है, यह विचार कर परम पद में आरूढ़ पुरुष इन भोगों की भला क्यों कर वांछा करेगा ? भाव यह कि यहाँ पर वांछा के योग्य कुछ भी नहीं है ॥१॥

यदि कोई शंका करे कि मोक्ष के समान काम भी पुरुषार्थ ही है, उसकी भी वांछा करनी ही चाहिये। ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं।

जो मूढ़ असाधु पुरुष कृपणों के सर्वस्व तथा आदि, मध्य और अन्त में असत् भोगों से सन्तुष्ट होते है, वे निरे पशु-पक्षी ही हैं ॥२॥ जो पुरुष लोक में यह सत्य है, यों विश्वास को प्राप्त होते हैं, मनुष्यों में गर्दभ रूप उनसे कोई भी प्रयोजन नहीं है। इधर केश हैं तो इधर रक्त है, यही तो स्त्री का शरीर है, इससे जो सन्तोष को प्राप्त होते हैं, वे कुत्ते ही हैं मनुष्य नहीं। सारी पृथिवी मिट्टी ही है, सभी पेड़ काठ ही है और शरीर भी मांस के पुतले ही हैं। नीचे पृथिवी है, ऊपर आकाश ही है। भला बतलाइये तो सही सारभूत पदार्थ क्या है, जो सुख के लिए हो। सब लोक व्यवहार इन्द्रियों के स्पर्श के अनुसार होनेवाले, विवेक के तत्त्व में बाधित होनेवाले और बिना विचारे ही भले लगनेवाले हैं। जैसे ज्वाला के अन्त में काजल स्थित रहता है, वैसे ही सब सुखाशा का विषयों के लाभ से अथवा अलाभ से अन्त होने पर पाप, विषय आदि की कलुषता और वियोग, विषाद आदि से होनेवाला दुःख भी वर्तमान काल के सुख के समान ही रहता है। उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली अतएव अनित्य मन और इन्द्रियों से उत्पन्न सब सम्पत्तियाँ गजराज से कुचली हुई लताओं के तुल्य क्षीण हो जाती है।

कान्ता आदि का भोग केवल अनित्य ही नहीं है, किन्तु अभेध्य नरकरूप भी है, ऐसा कहते हैं।

हड्डियों के समूह में देह नामवाला पुरुष रक्त और मांस की पुतली का यह मेरी प्रेयसी है, इस बुद्धि से सादर आलिंगन करता है यह मोहक काम का क्रम है। यह सब अज्ञानियों की दृष्टि में सत्य और स्थिर है, अतएव यह अज्ञानी की दृष्टि के लिए होता है, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की दृष्टि में अस्थिर और असत्य यह सब उनकी तुष्टि के लिए नहीं होता है। यह जो विषैली भोगतृष्णा है, वह भोग न करने पर भी विष के तुल्य मूर्च्छा पैदा करती है, भोग करने पर तो वह क्यों नहीं करेगी ? उस भोगास्था का त्याग करके स्वात्मैकत्वपद को प्राप्त होईये। जब यह चित्त अनात्ममयरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ, तभी यह असन्मय जगज्जाल उत्पन्न हुआ ॥३-११॥

यदि शंका हो कि हमारे चित्त की स्थिति के अनुसार देहादि जगत उत्पन्न हुआ है, फिर आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न हुए जगत को ब्रह्मा के मन का अनुसारी ही होना उचित है, इस पर कहते हैं।

जैसे सोने, चाँदी, नीलम आदि की दीवारों पर पड़ा हुआ सूर्य आदि का प्रकाश तत्-तत् आधार के अनुरूप अपने स्वरूप की कल्पना करता है वैसे ही ब्रह्मा के मन ने हम लोगों के वासना, कर्म आदि के अनुसार संकल्प करने से जगत की कल्पना कर रक्खी है ॥१२॥

प्रसंगवश श्रीरामचन्द्रजी ब्रह्मा के मन के जगत्कल्पनाक्रम को पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, हे महामते, पूर्व उपासक का मन पहले के व्यष्टि-अभिमान को

समष्टिआत्मता की अतिशय भावना से उत्पन्न दृढ़ संस्कार द्वारा छोड़ कर, समष्टिसिद्धिरूप विरंचि का पद प्राप्त कर, कार्यभूत ब्रह्म बनकर इस जगत को क्रमशः कैसे सुघन (चार प्रकार के प्राणियों के समूह से निबिड़) बनाता है ? ॥१३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, कमलकोशरूप विस्तार से उठ करके सर्वप्रथम बालक ब्रह्माजी ने 'ब्रह्म' शब्द का उच्चारण किया, इसलिए वह ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥१४॥ उत्थानरूप जाग्रत की कल्पना के बाद सकल संकल्पात्मक मनों के समष्टिरूप एवं अपने ही मन से चतुर्मुख आकृति की कल्पना किये हुए ब्रह्मा के संकल्प ने आगे की सृष्टि में उद्यम किया ॥१५॥

सूर्य आदि प्रकाश के अधीन सब व्यवहार हैं, अतः पहले आदित्य की सृष्टि को कहने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी सूर्य के उपादानभूत सारे आकाश में व्याप्त तेज की सृष्टि कहकर उसी तेज का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर उन्होंने पहले अत्यन्त प्रकाश से युक्त तेज का संकल्प किया, जिसने शरत्काल के अन्त में बर्फ से सफेद हुई लताओं के समूह की तरह दिशाओं के मध्य भाग को परिवेष्टित किया था, जिसने पक्षियों के पंखों के सदृश दोनों पार्श्वों में तन्तुओं के फैलाने से कभी क्षीण न होनेवाले शून्य रूप आकाश को बहुत से तन्तुओं से युक्त–सा बनाया था, जिसने फैली हुई तेज की राशियों से आदि अन्त तक पहुँचे हुए लोकालोक पर्वत के शिखर के रंग–बिरंग धातुओं के संसर्ग से दिगन्तों को पीला कर दिया था, जिसने आकाश को स्वर्ण के समान चमकदार और अनावृत, अपरिच्छिन्न तथा प्रकाशमय होने के कारण ब्रह्मज्ञान के तुल्य बना दिया था, जिसने ब्रह्मा के कमल को विकसित करने के लिए पंखुड़ियों के अन्दर प्रविष्ट हुई किरणों से झरोखों पर बनाई गई सुवर्ण की झालरों की तरह चमकदार केसरों से जटायुक्त कर दिया था और जो एकमात्र समुद्र की तरंगों में प्रतिबिम्बत होने के कारण दैदीप्यमान तथा चलते हुए उपवनों के तुल्य किरणों से विभूषित था ॥१६–१८॥

उस तेज में अपने सदृश दूसरी मूर्ति की कल्पना द्वारा हिरण्यगर्भ का प्रवेश कहते हैं।

तेजोमण्डल की सृष्टि करने के अनन्तर चतुर्मुख शरीराकार से स्थित पूर्वोक्त मनने उस चमकीले तेजों सें दैदीप्यमान, पुराण आदि में प्रसिद्ध अपने आकारके तुल्य शरीर की कल्पना की ॥१९॥ तदनन्तर वह देव उस पिण्डीभूत तेज से आदित्य बनकर आज भी प्रत्यक्ष उदित होता है, वह प्रभा समूहरूप मण्डल के मध्य में स्थित और जलते हुए कनक कुण्डलों से युक्त है ॥२०॥ उसके चारों ओर जल रही ज्वालाओं की पंक्तियों को धारण करनेवाली धधकती हुई अग्नियाँ हैं और वह ज्वालाओं से विशालकाय है एवं उसने उक्त विशाल अवयवों से आकाशमण्डल को पूर्ण कर रक्खा है ॥२१॥

तदनन्तर मरीचि आदि प्रजापतियों की सृष्टि कहते हैं।

तदनन्तर विश्व की वृद्धि करनेवाले सर्वज्ञ चतुर्मुख ब्रह्मा ने जैसे सागर तरंगों को विभक्त करता है वैसे ही आदित्य आदि के निर्माण से बची हुई तेज की उन कलाओं को विभक्त कर जिनका नौ प्रकार से निर्माण किया, वे भी तेज के टुकड़े ब्रह्माजी के संकल्प से ही सब सिद्धियों को प्राप्त और ब्रह्मा के समान ही शक्तिवाले प्रजापति होकर संकल्पानुसार वस्तु को क्षणभर में ही अपने आगे देखकर प्राप्त करते थे ॥२२,२३॥

उनसे देव, दानव, यक्ष, राक्षस, मनुष्य आदि की सृष्टि का प्रवाह कहते हैं।

वे प्रजापति जिन–जिनका पुत्र, पौत्र आदि परम्परा से और देव, दानव आदि जाति भेदों से विविध प्रकार एवं व्यक्तिभेद से बहुत भूतगणों का संकल्प करते थे, उन–उन को प्राप्त करते थे।

उन भूतों में आगे मैथुन सृष्टि का प्रवाह दर्शाते हैं।

उन भूतों में बहुत से औरों का, उनमें औरों का, उनमें औरों का संकल्प करते हुए उनको प्राप्त करते थे ॥२४॥

तदन्तर यज्ञादि कर्मों की प्रवृत्ति दिखलाते हैं।

तदनन्तर वेदों का स्मरण कर फिर बहुत से यज्ञों के गुण और क्रम का स्मरण कर ब्रह्मा ने जगद्रूपी घर के लिए मर्यादा की कल्पना की ॥२५॥ इस प्रकार मन विशाल शरीरवाले ब्रह्मा का रूप धारण करके इस दृश्य सृष्टि का विस्तार करता है, जो प्राणियों की परम्परा से ठसाठस भरी है, समुद्र, पर्वत और वृक्षों से पूर्ण है, लोकोत्तर क्रम से युक्त है, मेरु, भूमण्डल, दिशा के मंडल से जिसका मध्य भाग जटिल है एवं जो सुख–दुःख, जरा, जन्म, मरण आदि शारीरिक क्लेशों से और मानसिक क्लेशों से भी यह संसार सर्वथा हेय है यह इस तरह बोधित हुई है, राग और द्वेषमय होने के कारण उद्वेगयुक्त है और सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से रची गई है ॥२६–२८॥

यदि कोई शंका करे कि सब व्यवहार ब्रह्मा के मन से रचे गये हैं, ऐसी अवस्था में यज्ञ आदि शारीरिक कर्म हैं और उपासना आदि मानसिक हैं, इस व्यवस्था में क्या हेतु है ? तो इस पर कहते हैं।

ब्रह्मा से उत्पन्न हुई मनोवृत्तियों से अथवा हाथों से जो वस्तु जैसे देखने और प्राप्त करने योग्य पहले माया द्वारा कल्पित हुई, वह सब वैसे ही आज भी दिखाई देती है और पाई जाती है। ब्रह्मा के संकल्प अनुसार ही और लोगों की भी यह शारीरिक है और यह मानसिक है ऐसी कल्पना नियत है। उससे भिन्न अन्य की कल्पना नहीं हो सकती, यह भाव है ॥२९॥

समष्टिदृष्टि से सब भूतों में और व्यष्टिदृष्टि से अथवा एक जीववाद से कुछ लोगों में स्थित मन ही चित् में स्थित संसार का संकल्प करता है और पर ब्रह्म का साक्षात्कार भी करता है ॥३०॥ इस प्रकार का जगत सम्बन्धी मिथ्या मोह स्थिरता को प्राप्त हुआ है। संकल्प करनेवाले स्वयं मनने ही शीघ्र उसकी कल्पना की है ॥३१॥ संकल्प से ही सब जगत की क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और संकल्पवश ही नियति के अधीन देवतालोग उत्पन्न होते हैं ॥३२॥

इस प्रकार सृष्टि के विस्तार का वर्णन करके सृष्टि की निवृत्ति और शास्त्र के निर्माण में कारण कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

अपने–अपने उत्कर्ष के लिए मनुष्यआदि प्रजाओं में धर्म और अधर्म की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न कर रहे इन्द्र विरोचन आदि देवता और असुरों के अधिपतियों द्वारा जबर्दस्ती सात्त्विकि, राजस और तामस वृत्तियों में लोगों को लगाने से वध, बन्धन, जन्म–जरा आदि हजारों क्लेशों से अतिपीड़ित जगत की सृष्टियों से विरक्त प्रजासमूहों को उत्पन्न करनेवाले ये पूर्वोक्त प्रभु कमलासन पर बैठे हुए ब्रह्मा निम्नलिखित विचार करते हैं ॥३३॥ मन के संकल्पमात्र से व्यष्टिजीवोपाधिभूत जो विचित्र चित्त उत्पन्न हुआ और जो उसके उपभोग के लिए व्यवहाररूप विकार से युक्त विशाल भुवन आदि की

सृष्टि, जो रुद्र, विष्णु और महेन्द्र से युक्त है, पर्वतों से और सागरों से व्याप्त है, जिसका मध्यभाग, पाताल, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, दिशा, और स्वर्ग मार्ग से आकीर्ण है, यह सब मैंने अपना संकल्पसमूह ही चारों ओर विस्तृत किया है। इस समय इस विकल्प के उल्लासन क्रम से मैं विरक्त हो गया हूँ, ऐसा विचार कर कल्पनारूपी अनर्थकारी संकट से विरत हो ब्रह्मा अनादि, आत्मरूपी परब्रह्म का अपने से स्मरण करते हैं ॥३४–३७॥ उस परमात्मा को स्मरणमात्र से प्राप्त कर, जहाँ चारों ओर एकमात्र उन्हींका प्रकाश है, मानस व्यापाररहित यानी सप्तमभूमिका रूप उस पद में शान्त आत्मावाले ब्रह्मा सुखपूर्वक ऐसे स्थित होते हैं, जैसे थका हुआ पुरुष भली–भाँति बिछाये हुए बिछौने पर स्थित होता है ॥३८॥ ममतारहित, अहंकारशून्य अतएव परमशान्ति को प्राप्त हुए क्षोभरहित ब्रह्मा निश्चल सागर की तरह अपनी आत्मा से आत्मा में स्थित होते हैं ॥३९॥ किसी समय एकाकार वृत्ति की धारणा में आग्रहरूप ध्यान से भगवान ब्रह्मा स्वयं ऐसे विरत होते हैं, जैसे जल की निश्चलतारूप सौम्यता से समुद्र विरत होता है ॥४०॥ तब वे सुख–दुख से युक्त सैकड़ों आशापाशों से बंधे हुए, राग, द्वेष और भय से पीड़ित संसार का विचार करते हैं ॥४१॥ फिर दया से आक्रान्त चित्तवाले वे प्राणियों के कल्याण के लिए अध्यात्मज्ञान से भरे हुए गम्भीर अर्थवाले बहुत से शास्त्रों की रचना करते हैं। वेद, वेदांग के संग्रह की और पुराण आदि अन्यान्यशास्त्रों की भी सब जीवों की मुक्ति के लिए रचना करते हैं ॥४२,४३॥ फिर पूर्वोक्त सप्तम भूमिकारूप परमपद को पाकर सृष्टि विक्षेपरूप परम आपत्तियों से छुटकारा पाये हुए ब्रह्मा मन्थनदण्डरूप मन्दराचल से छुटकारा पाये हुए सागर के समान स्वस्थ और शान्तात्मा होकर स्थित होते हैं ॥४४॥ कमलासन में स्थित हुए ब्रह्मा जगत की चेष्टा को देखकर और जगत की मर्यादा को ठीककर फिर आत्मा में स्थित हो जाते हैं ॥४५॥ किसी समय सब संकल्पों से हीन स्वेच्छामात्र से केवल लोगों के अनुग्रह के लिए ही लोक के सदृश कार्य करते हुए स्थित होते हैं ॥४६॥

तब तो समाधिकाल में उनकी सरलता, सृष्टि, संहार आदि के समय उस सरलता का त्याग, देह आदि का ग्रहण, सृष्टि के रूप से अनेक होना, व्युत्थानकाल में चेतन होना, पद्म में स्थिति, अन्यत्र स्थिति यों विविध प्रकार के भावारम्भों से युक्त चित्त– वृत्तियों में अज्ञानी के तुल्य ही विषमता हुई। ऐसी आशंका कर क्रमशः उक्त शंकाओं का परिहार करते हैं।

ब्रह्मा को समाधिकाल में न ऋजुता होती है, न सृष्टि और संहारकाल में उसका त्याग होता है, न देहादि का ग्रहण होता है, न सृष्टिरूप से अनेकता होती है, न व्युत्थान के समय चेतनता होती है और न कमलपर स्थिति तथा अन्यत्र अस्थिति होती है ॥४७॥ सब भावों का आरम्भ करनेवाले ब्रह्मा सब वृत्तियों में समान और परिपूर्ण सागर के समान आकारवाले मुक्तरूप होकर स्थित रहते हैं ॥४८॥ किसी समय सम्पूर्ण संकल्पों से रहित अपनी स्वेच्छा से केवल लोगों के अनुग्रह के लिए ही वे प्रतिबद्ध होते हैं ॥४९॥

हे महामते, जो मैंने आपसे कही, यह परम पवित्र ब्राह्म स्थिति है। प्रजापतियों की मानसिक सृष्टि पहला विध्यनीक (ब्रह्मा आदि का दल) है, क्योंकि प्रजापतियों को संकल्प से सिद्धियाँ प्राप्त हैं एवं ज्ञान और योगरूप ऐश्वर्य स्वयं ही उन्हें ज्ञात है। मैथुनसृष्टि में भी देव, गन्धर्व, यक्ष आदि के सात्त्विक होने के कारण एक बार के उपदेश से ज्ञानरूप ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ देवानीक (देवता का दल) मध्यम

है। मनुष्य आदि तो रजोगुण और तमोगुण से ग्रस्त हैं हजारों प्रयत्नों से उन्हें ज्ञानरूप ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है, अतएव नरानीक (मनुष्यों का दल) अधम है।

यों तीन अनीकों का विभाग अपने मन में रखकर उनकी अपने कारण से प्राप्त चित्तशुद्धि के अनुरूप ज्ञान से ब्रह्म प्राप्ति को पृथक् पृथक् दर्शातें हैं।

पूर्वोक्त इस सात्विक ब्राह्म स्थिति को विध्यनीक और सुरानीक भी प्राप्त हो ॥५०॥

उन पूर्वोक्त तीन अनीकों में (दलों में) पहला अनीक मानस उपासना का फल होने के कारण एक मात्र मन से उत्पन्न होनेवाला है, अतएव सूक्ष्म होने से उसकी प्राप्ति में विशेषता कहते हैं।

चूँकि पहला दल चिद्रूप सब सृष्टियों के उपरमस्वरूप ब्रह्माकाश में ब्रह्मा के मन से कल्पित फल के समान मन का फल होकर पहले उत्पन्न होता है, अतः वही स्वतःसिद्ध ज्ञानरूप ऐश्वर्य से पहले ब्रह्मत्व को भली भाँति जानकर उसको प्राप्त करता है ॥५१॥

दूसरा दल औषधि पल्लवों के विकारभूत सोमरस, घृत, दूध से सिद्ध होनेवाले कर्म का फल है, अतः उनका परिणाम होने के कारण प्रथम दल की अपेक्षा स्थूल होने से उसे उपदेशमात्र से ब्रह्म प्राप्ति होती है, यों विशेषता दिखलाते हैं।

प्रजापतियों की और औषधियों की सृष्टि होने पर जो देवानीकरूप दूसरी पहले की अपेक्षा न्यून कल्पना उदित होती है, वह पहले चन्द्रमा की कलारूप से आकाश और वायु का अवलम्बन करके औषाधि पल्लवों में प्रवेश कर सोम, घृत और दूधरूप से अग्नि में हवन होने पर सूर्यमण्डल में अमृत के आकार से परिणत हो प्रजापति आदि से उपभुक्त होती है। उनके उपभोग के अनन्तर उनके वीर्यरूप से परिणत हुई मैथुन द्वारा कोई इन्द्र आदि सुरता, कोई कुबेर आदि यक्षयोनिता को प्राप्त होती है। वह सात्त्विकि होने से मनुष्य आदि की अपेक्षा पहले प्रजापतियों के अनुग्रहपूर्ण उपदेश आदि से ज्ञानैश्वर्यसम्पत्ति द्वारा अभ्युदित होती है, इसलिए पहले ही वह ब्रह्मत्व को प्राप्त होती है ॥५२,५३॥

तो क्या सब देवताओं की मुक्ति होती है ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

देवताओं में अथवा मनुष्यों में उत्पन्न हुआ जो व्यक्ति ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न अथवा भोगलम्पट जिस जीव की मैत्री आदि से संगति करता है, वह उसकी संगति से शीघ्र वैसे गुणवाला हो जाता है। भोगलम्पट पुरुष से संसर्गवश स्वयं भी वैसा होकर उसी जन्म में बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञानैश्वर्यसम्पन्न पुरुष की संगति से स्वयं भी ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होकर उसी जन्म में मुक्त हो जाता है।

तब तीसरे अनीकरूप मनुष्यों को क्या करना चाहिए ? इस पर उनका कर्तव्य कहते हैं।

बन्ध और मोक्ष संगति के अनुसार होते हैं, इसलिए स्वयं ही अपने पौरुष प्रयत्न से साधुसंगति, सत् शास्त्रों के श्रवण आदि एवं इन्द्रिय और मन की जय के उपायों का, जब तक फल की प्राप्ति न हो तब तक अभ्यास करना चाहिये ॥५४॥

पूर्वोक्त सबका संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक प्रकाशवाली उपासनाओं, सब लोगों में प्रसिद्ध यज्ञ आदि कर्मों और अनर्थ फल देनेवाले निषिद्ध और मिश्रित कर्मों से क्रम से प्राप्त तथा अनेक प्रकार के प्रारब्ध वेगों,

क्रीड़ा–कौतुकों तथा क्रोध, लोभ से बढ़े हुए व्यवहारों से क्रमशः दृढ़ स्थिति को प्राप्त हुई तीन अनीकरूप सृष्टि सर्गोन्मुख ब्रह्म में इस प्रकार पूर्वोक्त संकल्पकल्पना से ही सत्ता को प्राप्त होकर आविर्भाव को प्राप्त हुई है ॥५५॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

ब्रह्मा से उत्पन्न हुए जीवों के देह ग्रहण के क्रम का और
प्रधानरूप से ज्ञान के भाजन सात्त्विक जीवों के देह ग्रहण के क्रम का वर्णन।

पूर्वोक्त तीन अनीकसृष्टियों का– 'सा व्योमानिलमाश्रित्य' इत्यादि से संक्षेप से कहे गये क्रम के विस्तार से वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टि की व्यवस्था करनेवाले पितामह भगवान ब्रह्मा के समाधि से व्युत्थित होने पर, इस जगद्रूपी जीर्ण घटीयन्त्र (रहट) के भरे हुए प्राणी रूपी घड़ों से युक्त रस्सी द्वारा पुनः पुनः देह ग्रहण से जीव और जल की तृष्णा से आरोह और अवरोह क्रम से चलने पर, ब्रह्मा से उत्पन्न हुए जीवों के संसाररूपी पिंजड़े में प्रवेश करने पर अन्यान्य मनों के मायाशबल ब्रह्मा के प्रथम उत्पन्न पुत्रभूत आकाश में वायु के झोंके से चंचल और आहत जलकणों से व्याप्त आवर्त की भाँति घूमने पर ब्रह्म में जीवों के समूह निरन्तर उपाधि के उत्पन्न होने के कारण अग्नि के विस्फुलिंग के समान बाहर निकलते हैं और कोई उपाधि के नष्ट होने से सुषुप्ति की तरह विश्रान्ति के लिए ब्रह्म में प्रवेश करते हैं ॥१–४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अनादि अनन्त ब्रह्मरूपी पद से उत्पन्न हुए यानी कल्पना को प्राप्त हुए ये जीवसमूह समुद्र में तरंगों की भाँति ब्रह्म में स्थित हैं ॥५॥ जैसे प्रकाश की शोभा मेघ में प्रविष्ट होती है वैसे ही ये जीवसमूह भूताकाश में प्रवेश करते हैं। जैसे दूध और जल एकता को प्राप्त होते हैं वैसे ही ये जीवसमूह अध्यस्त आकाश और वायु के साथ ब्रह्म में एकता को प्राप्त होते हैं ॥६॥ तदनन्तर तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हो जाने पर प्रकाश को प्राप्त करके वे जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्राओं के सहित पूर्वोक्त वायु से और अपने उपभोग के हेतु अमुख्य और मुख्य दो प्रकार के प्राणवायु से ऐसे आक्रांत होते हैं, जैसे कि प्रचण्ड दैत्यों के समूह से देवता आक्रान्त होते हैं ॥७॥ इस प्रकार लिंगदेहता को प्राप्त हुए वे जीव प्राण के आत्मभाव के और भूततन्मात्रसहित वायु के साथ अन्न और जल के द्वारा अंडज आदि चार प्रकार के प्राणियों के प्राणवायु यानी अन्नग्रासक अपानवृत्ति भेद को प्राप्त करके शरीरों में प्रवेश करते हैं और वीर्यता को प्राप्त होते हैं ॥८॥

तदनन्तर जगत में पैदा होते हैं और अनभिव्यक्त ज्ञानैश्वर्यवाले प्राणी होते हैं।

तीसरे दल की सृष्टि का क्रम कह कर दूसरे दल की सृष्टि का क्रम कहते हैं।

अन्य कुछ इष्टापूर्तकारी (यज्ञ, कुएँ और बावड़ियाँ खुदवाना आदि कर्म) जीवराशियाँ श्रद्धापूर्वक अग्नि में दी गई आहुति से यानी तज्जन्य अपूर्व से परिवेष्टित होकर धुएँ के द्वारा सूर्यमण्डल में पहुँच कर सूर्य की किरणों द्वारा चन्द्रमण्डल में प्रवेश करने से धुम्र आदि मार्ग में प्रविष्ट हुई हैं। उन जीवपरम्पराओं का भी लिंगदेह प्राप्तिपर्यन्त क्रम पूर्वोक्त ही है ॥९॥

चन्द्रकलास्वरूपता को प्राप्त हुए वे भी जीवसमूह कल्पवृक्ष के फलों में रसरूप से प्रवेश द्वारा उपभोक्ता के वीर्यरूप से परिणत होकर देवगर्भ से उत्पन्न होते हैं, ऐसा क्रम बतलाते हैं।

पूर्ण भगवान चन्द्रमा जितनी किरणों से संसार को प्रकाशित करते हुए उदित होते हैं, चंचल, श्वेत वर्ण की उतनी किरणों से पूर्ण इसलिए क्षीरसागर के स्थानापन्नरूप पूर्वोक्त तन्मात्रास्वरूप लिंगदेहवाले आकाश में वह जीवपरम्परा स्थित होती है ॥१०॥ तदनन्तर उन चन्द्रकिरणों के नन्दन आदि वन में गिरने पर किरणों के साथ गिर रही वह जीवपरम्परा उस वन में जैसे दासी घर के कार्यों में व्यग्र रहती है वैसे ही व्यग्र हो पक्षी के तुल्य प्रवेश करती है ॥११॥ उस वन में फल चन्द्रमा की और सूर्य की किरणों के लगने से अपने रस से क्रमशः वृद्धि और मधुरता को प्राप्त होते हैं ॥१२॥ इस प्रकार पूर्वोक्त जीवपरम्परा चन्द्रमा की किरणों से गिर कर जैसे बालक दूध से भरे हुए माता के स्तनों में स्थिति करता है वैसे ही रस से भरे हुए उन फलों में स्थिति करती है ॥१३॥ वे फलों की पंक्तियाँ सूर्य की किरणों से पक जायेंगी। कश्यप आदि से उपभुक्त उन्हीं फलों में वीर्यता को प्राप्त होकर मूर्च्छितप्राय वे जीवजातियाँ रहती है ॥१४॥ जैसे अंकुर, शाखा, पत्ते जिसमें आविर्भूत नहीं हुए, ऐसा वट वृक्ष का बीज, शाखा, अंकुर, पत्ते और फल से युक्त वट वृक्ष में रहता है, जैसे काष्ठ में अग्नि स्थित रहती है और जैसे मिट्टी में घड़े स्थित रहते हैं वैसे ही जीवता, जिसकी वासनाएँ सुप्त रहती हैं, गर्भरूपी पिंजड़े में स्थित रहती है। केवल गर्भ में ही मूर्च्छित जीवपरम्पराओं का अन्य के आश्रय द्वारा तिरोधान नहीं होता, किन्तु प्रलय के समय उपाधि का नाश होने के कारण प्राप्त हुए अव्यक्त से निकल कर आकाशरूप में, लिंग शरीर के आरम्भ समय में और चन्द्रकिरण आदि में प्रवेश करने के समय में भी तिरोधान से स्थिति रहती है ॥१५,१६॥

इस प्रकार गर्भ में प्राप्त हुए जीवों के जन्म में निमित्तभेद होने से विशेषता दर्शातें है।

पूर्वजन्म में जिसने स्त्री, पुत्र आदि के शरीरों की शोभा नहीं देखी, जो मरने तक सर्वथा विरक्त होकर रहता है और जो राग आदि से और बहुत से कर्मकाण्ड आदि शास्त्रों से ऐहिक और पारलौकिक भोग के साधन लौकिक और वैदिक कर्मों में प्रेरित होता हुआ भी उनमें प्रवृत्त नहीं होता है, वह श्रेष्ठ पुरुष पूर्वोक्त क्रम से देवगर्भ में उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त सात्त्विक जाति का होकर उस जन्म में ज्ञान प्राप्त करके उदार जीवन्मुक्तोचित व्यवहारवाला होता है। उसी जन्म से यदि वह मोक्षभागी हो, तो सात्त्विक कहा जाता है ॥१७॥

देवपद में अधिकार प्राप्ति के अनुकूल कर्म और उपासना करनेवालों के जन्म में विशेष भेद दिखलाते हैं।

इस देवयोनि को प्राप्त करके नष्ट की जा सकनेवाली जन्मपरम्परा को भोग लम्पटतावश उच्छेद न करता हुआ जो अपने अधिकार भोग की रक्षा के लिए ही जन्म प्राप्त करे, वह तमोयुक्त राजस सात्त्विक है।

अब प्रथम दल में (विध्यनीक में) उत्पन्न हुए केवल सात्त्विक लोगों का पुनर्जन्म नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी पुरुष के अन्तिम जन्म से जो नर और देवताओं के दल की (अनीक की) अपेक्षा प्रधान है, अर्थात् प्रजापति के अधिकार से संसार में आया हुआ केवल सात्त्विक विध्यनीक

जैसे मुक्त होता है, वैसा इस समय मैं आपसे कहूँगा। हे पुण्याकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रथम दल में यानी विध्यनीक में उत्पन्न हुआ पुरुष कोई भी और कभी भी पुनः उत्पन्न नहीं होता है यानी मुक्त ही हो जाता है ॥१८–२०॥

तब कौन उत्पन्न होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर उन्हें कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, राजस–सात्त्विक पुरुष यहाँ पर उत्पन्न होते हैं।

शंका : केवल सात्त्विक के पुनर्जन्म न होने में क्या कारण है ?

समाधान : केवल सात्त्विक पुरुष पूर्वजन्म में भी आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन आदि उपायों से विचार कर केवल प्रतिबन्ध के क्षय के लिए प्रतिबन्धक्षययोग्य जन्म को प्राप्त हुए हैं। इस जन्म में भी उनकी बुद्धि से सदा आत्मतत्त्व ही मननीय है, इसलिए उनका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥२१॥

अतएव वे दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हैं।

जो जब परमात्मा से नर और सुर के अनीक की अपेक्षा प्रधानता से प्राप्त हुए हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महागुणशाली पुरुष दुर्लभ हैं ॥२२॥

जो प्रजापति, सुर, और मनुष्य के अनीक से अन्य राक्षस, पिशाच, पशु–पक्षी आदि हैं वे पेड़, पत्थर के तुल्य हैं, ज्ञानाधिकार की चर्चा में उनकी योग्यता ही नहीं है, इसलिए उनका उल्लेख नहीं किया है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो और विविध प्रकार के तामस जातिवाले मूढ़, मूक जीव हैं, वे सब स्थावर पेड़, पत्थरों के समान हैं, उनका क्या विचार किया जाय ? ॥२३॥

तत्त्वज्ञान की दुर्लभता का ही उपपादन करते हैं।

क्रम से प्राप्त उत्तम जन्म में भी कुछ ही नर और सुर सांसारिक भोगरुचि को प्राप्त नहीं हुए हैं, अतः वैराग्य अत्यन्त दुर्लभ है। उन लोगों में मेरे तुल्य जन्म से लेकर शम, दम आदि सब गुणों की सम्पत्ति से खूब आत्मविचार योग्यता को प्राप्त हुए भी कुछ लोग निरन्तर समाधि सुख में विघ्नभूत राजकुलपौरोहित्य के कारण कुछ राजसयुक्त सात्त्विक ही है, शुद्ध सात्त्विक नहीं हैं। *(यह शुद्ध सात्त्विकता की अति दुर्लभता के सूचन के लिए निरभिमानतावश अतिशयोक्ति है)* ॥२४॥ मेरे सदृश आप भी वैराग्य, शम, दम आदि सम्पत्ति से पूर्ण हैं ही, किन्तु परमात्मपद का विचार न करने से आपकी इस प्रकार की संसार भ्रान्तिरूप महाआपत्ति विस्तीर्ण हुई है। परमात्मपद का यहाँ पर मेरे सामने आज ही आप शीघ्र विचार कीजिये। एकमात्र विचार करने से आप ही यहाँ पर अद्वितीय परम पद है ॥२५॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

मुक्ति के योग्य राजससात्त्विक लोगों की प्रशंसा और उनके विवेक वैराग्य के क्रम का उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो विचारणा की योग्यता को प्राप्त पुरुष राजससात्त्विकी पूर्वजन्म की कर्मोपासना से पृथिवी मे उत्पन्न हुए हैं, वे महागुणशाली पुरुष जैसे आकाश में चन्द्रमा प्रकाशमान रहते हैं वैसे ही सदा प्रसन्न और प्रकाशमान रहते हैं ॥१॥ जैसे आकाश मेघों से

की गई मलिनता को प्राप्त नहीं होता वैसे ही वे भी मानसिक दुःख को प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे सुवर्ण का कमल रात्रि में म्लान नहीं होता वैसे ही वे शारीरिक दुःख को प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे स्थावर वृक्ष आदि प्रारब्ध भोग से अतिरिक्त कोई दूसरी चेष्टा नहीं करते हैं वैसे ही वे भी ज्ञान और ज्ञानसाधनों की सिद्धि के सिवा अन्य वस्तु नहीं चाहते हैं और जैसे वृक्ष अपने पुष्प, फल आदि से रमता है वैसे ही वे भी अपने सदाचारों से रमते हैं ॥२,३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, राजससात्त्विक पुरुष की बुद्धि शान्ति आदि सुधा के बढ़ने पर वृद्धि को प्राप्त हो जाती है, अतएव वह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर हो जाती है, जिससे वह पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है ॥४॥ जैसे चन्द्रमा शीतलता का त्याग नहीं करता वैसे ही वे शीतलता के समान स्थित सौम्यता का आपत्ति में भी त्याग नहीं करते हैं। मैत्री आदि गुणों से मनोहर प्रकृति से ही वे ऐसे विराजमान रहते हैं जैसे कि नूतन गुच्छों से शोभित लता से वन के वृक्ष शोभित होते हैं। सब पर समान दृष्टि रखनेवाले, एकमात्र परमात्मा में अनुराग रखनेवाले, सदा सौम्य, साधुओं से भी बढ़कर साधु, समुद्र के तुल्य मर्यादा धारण किये हुए पुरुष आपके तुल्य हैं। इसलिए हे महाबाहो, आपत्तियों का अनधिकरण उनका जो स्थान वही गन्तव्य है। आपत्तियों के सागर में जाना उचित नहीं है। खेदरहित आपको इस जगत में वैसे बर्ताव करना चाहिये जैसे कि रजोगुणरहित सात्त्विक आत्मानन्द लाभ बढ़े एवं मूढ़ों के विचारणीय विषयों के परित्याग द्वारा बारम्बार सत् शास्त्रों का विचार करना चाहिये ॥५-९॥ इस प्रकार भावना करनेवाले पुरुष को अत्यन्त आदर के साथ सब वस्तुओं की विविध निमित्तों से उपपन्न होनेवाली अनित्यता का भी विचार करना चाहिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार अनित्यता का विचार कर रहा विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष अज्ञान को बढ़ानेवाले मिथ्या असम्यग्दर्शन का त्याग कर पहले ऐहिक विषयों के उपभोग के योग्य लौकिक क्रिया की, मरने के बाद उपयोग में आनेवाली पारलौकिक क्रिया की और उन क्रियाओं के फल, पशु, पुत्र, धन, स्वर्ग विमान, अप्सरा आदि पदार्थों की, ये आपत्ति ही हैं, ऐसी भावना करें, ये सम्पत्ति है, ऐसी भावना कभी न करें ॥१०,११॥ आगे कहे जानेवाले विचाररूप ज्ञान का असीम परब्रह्मरूप वस्तु को प्राप्त करने के लिए साधु सतीर्थ्यों के साथ विधिवत् प्राप्त हुए सेवा आदि प्रयत्न द्वारा प्रसन्न किये हुए गुरु से 'हे प्रभो, मैं कौन हूँ', यह संसाराडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ, इत्यादि सविनय प्रश्नपूर्वक विचारकर स्मरण करना चाहिए। कर्मों में निमग्न नहीं होना चाहिये और अनर्थकारी लोगों के साथ संगति भी नहीं करनी चाहिये ॥१२,१३॥ सब प्रिय वस्तुओं का विच्छेद संसारमात्र के लिए अवश्यंभावी है, ऐसा सदा विचार करना चाहिये। जैसे मयूर मेघों का अनुसरण करता है वैसे साधुओं का ही अनुसरण करना चाहिये ॥१४॥ आभ्यन्तर अहंकार के उससे बाहरी शरीर के, उससे भी बाहरी पुत्र, मित्र आदि संसार के, जो तीन सागर तुल्य हैं, नौकारूप आत्मविचार को पूर्ण करके सत्य का ही अवलोकन करना चाहिये ॥१५॥

सत्य का ही अवलोकन करना चाहिये, ऐसा जो कहा उसमें उपाय कहते हैं।

अस्थिर शरीर का और अहंकार का भी त्यागकर अत्यन्त कल्याणकारी, जिसने मोती की माला को व्याप्त कर रक्खा है, ऐसा मोती-माला के अन्तर्गत सूत के समान सब देह, अहंकार आदि के अन्तर्गत चिन्मात्र का ही अवलोकन करना चाहिए ॥१६॥ उस नित्य विस्तृत, सर्वत्र व्याप्त, सर्वभावित, कल्याणकारी परम पद में जैसे सूत में मणिराशियाँ पिरोई रहती हैं वैसे ही यह सारा जगत पिरोया हुआ

है ॥१७॥ जो चित् विशाल भुवन के भूषणरूप आकाश में स्थित सूर्य में है, वही चित् पृथिवी के विवर के मध्य में स्थित कीड़े में भी है ॥१८॥ हे अनघ, जैसे यहाँ पर घटाकाश और महाकाश का परमार्थतः भेद नहीं है वैसे ही शरीर में स्थित जीवों का भेद नहीं है ॥१९॥ तिक्त, कडुआ आदि रस के भेद को जाननेवाले सभी प्राणियों की अनुभूति एक ही होती है, अतः चिन्मात्र में भेद कैसे ? भाव यह कि जैसे एक पुरुष से आस्वादनीय तिक्त, कडुआ आदि रस का भेद होने पर भी उनके अनुभव का भेद नहीं है वैसे ही देहादि का भेद होने पर भी चिन्मात्र में भेद नहीं है ॥२०॥

चेतनों में जैसे चित् का भेद नहीं है, वैसे ही सब वस्तुओं में तत्स्वरूप का भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जबकि एकमात्र सद्वस्तु ही सदा स्थित है, तब यह उत्पन्न हुआ, यह नष्ट हुआ, इस प्रकार की उत्पत्त्यादिविषयक मूढ़ जनसाधारण आपकी बुद्धि शास्त्रीय नहीं है ॥२१॥

तब शास्त्रीय बुद्धि कैसी है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, वह वस्तु नहीं है। वह आभासमात्र है, न वह सत् है और न असत् है ॥२२॥

वह न सत् है और न असत् है, ऐसा जो कहा, उसका उपपादन करते हैं।

चूँकि मोक्ष होने के पहले अभिव्यक्त और अशान्त चित्त सा भली-भाँति गृहीत हो रहा यह जगत अपने स्थिति काल में विद्यमान है, अतः असत् नहीं है। मोह की निवृत्ति होने पर तो मोक्षप्राप्ति से पहले भी जो यह है ही नहीं तो मोक्षकाल में यह सुतरां नहीं है, अतः सत् भी नहीं है ॥२३॥

ज्ञान की सार्थकता का विचार करने पर भी मोह आदि की सत्ता या असत्ता नहीं कही जा सकती, अतएव इसकी अनिर्वचनीयता ही सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं।

मोहजाल यदि अत्यन्त असत् है, तो भला बतलाइए, पुरुष ज्ञान द्वारा किसका निरास करेगा ? क्योंकि निरास करने योग्य वस्तु के अभाव में निरासक ज्ञान की सार्थकता नहीं हो सकती। यदि मोहजाल अत्यन्त सत् है, तो ज्ञान से किसका त्याग करेगा ? कारण कि ज्ञान सत्य वस्तु का निवर्तक नहीं देखा जाता, इसलिए अनिर्वचनीय अध्यासरूप संगति से रज्जुसर्प आदि के समान यह दृश्य समुदाय मोह में कारण है, ऐसा परिशेष से सिद्ध होता है ॥२४॥ यदि जगत असत् है, तो यहाँ पर मोह कैसे ? यदि वह सत् है, तो मोह का कारण कैसे ? इसलिए सदा शान्त हुए आप जन्म, मरण और स्थितिरूप संसार में आकाश के समान समदृष्टि होइए ॥२५॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी में शास्त्रोक्त सब गुणों-सी समृद्धि का कथन और
अधम पुरुष की भी सत्संग और पौरुष से उत्तम स्थिति का प्रतिपादन।

मूढ़ों के चिन्तन योग्य विषयों के परित्याग से बार-बार सत् शास्त्र का विचार करना चाहिए, ऐसा जो पहले कहा, उस पर कैसे उसका विचार करना चाहिए, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर द्वन्द्वों को सहनेवाला, ऊहापोह में कुशल पुरुष स्वयं ही *'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः' इत्यादि शास्त्र के अनुसार प्राप्त हुए,* तत्त्वज्ञानी और शिष्य के अपराध को सहनेवाले महामतिगुरु के साथ शास्त्र का पहले विचार करे ॥१॥ उत्तम कुल में उत्पन्न हुए, विषयतृष्णा शून्य, तत्त्वज्ञानी महापुरुष के साथ शास्त्र का विचारकर मन का नाश करनेवाली समाधि से परम पद प्राप्त किया जाता है ॥२॥ वेदान्त में उपयोगी अन्यान्य शास्त्रों के, सत्कर्म, सदाचार आदि के और सज्जनों की संगति, वैराग्य आदि के निरन्तर अभ्यास से संस्कृत हुआ पुरुष प्रत्यक्तत्त्व विषयक आत्मज्ञान का भाजन होकर आपके समान शोभित होता है ॥३॥

उक्तगुण आप में हैं ही, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बाह्य और आभ्यन्तर द्वन्द्वों को सहन करने वाले, एवं विविधगुणों के आगार हैं, आपका आचार उत्तम है तथा आपके मन के सभी मल दूर हो गये हैं; अतः आप दुःखरहित परम पद में स्थित हैं ॥४॥

अब श्रीरामचन्द्रजी में ज्ञान से जीवन्मुक्तता की सम्भावना करते हुए कहते हैं।

सचमुच आप जिससे मेघ हट गये हों, ऐसे शरद् ऋतु के आकाश के तुल्य हैं। उत्तम ज्ञान से युक्त आप भावना से युक्त होइए ॥५॥

जीवन्मुक्ति की सम्भावना में बीजभूत मुक्त मन का लक्षण कहते हैं।

सब बाह्य पदार्थों की चिन्ता से रहित एवं भीतर परमात्मा के साथ क्षीर-नीर के तुल्य एकता होने से ब्रह्माकार परिणामरूप कुशलतावाली कल्पना से जो मुक्तों के अनुभव से सिद्ध है, स्थित और द्वैतरहित मन मुक्त ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥६॥ इस प्रकार मुक्त मनवाले आपकी चेष्टा का इस समय संसार में पूर्वोक्त जीवन्मुक्त पुरुष राग-द्वेषहीन पूर्वोक्त कल्पना द्वारा अनुसरण करेंगे ॥७॥ जो लोग बाहर लोकोचित आचारवाले होकर विहार करते हैं, ज्ञानरूपी नौका से युक्त वे बुद्धिमान पुरुष संसाररूपी सागर को पार करेंगे ॥८॥ जो सज्जन पुरुष आपके सदृश बुद्धिवाला और समदृष्टि है, वही सुदृष्टि पुरुष मुझसे कही गई ज्ञानदृष्टियों का भाजन है ॥९॥

तो क्या जीवन्मुक्त हुआ मैं शरीर का त्याग अथवा यथेष्ट आचरण करूँ ? इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

जब तक आपका शरीर है, तब तक आप बाहर धर्मशास्त्र और सदाचार के अनुसार आचारवाले और अन्दर सब एषणाओं का त्याग कर के राग-द्वेषहीन बुद्धि से स्थित रहिए ॥१०॥ जैसे और गुणी पुरुष शान्ति को प्राप्त हुए हैं वैसे ही आप परमशान्ति को प्राप्त होइए। जो स्वार्थ कुशलता से दूसरों को ठगनेवाले सियार सदृश हैं और बच्चों की तरह यथेष्ट आचारवाले हैं, वे मूढ़ पुरुष ही विचार योग्य नहीं हैं ॥११॥ शुद्ध सात्त्विक जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुषों के जो स्वाभाविक शम, दम आदि गुण हैं उनका उपार्जन कर रहा साधारण पुरुष भी क्रमशः ज्ञान प्राप्त करके अन्तिम जीवन्मुक्त शरीर को प्राप्त होता है ॥१२॥ क्योंकि पुरुष जिन्हीं जाति गुणों का सदा यहाँ सेवन करता है, दूसरी जाति में उत्पन्न होकर भी वह एक क्षण में उस जाति को प्राप्त होता है। भाव यह कि उत्कृष्ट जाति के गुणों का सेवन करने पर उत्कृष्ट जाति में जन्म पाता है और अधम जाति के गुणों का सेवन करने पर अधम जाति में जन्म पाता

है, यह नियम है ॥१३॥ कर्माधीनता को प्राप्त हुए जीव पुर्वजन्म के सब भावों को प्राप्त होते हैं, राजा की सेनाओं को और पर्वतों के वनों को क्रमशः नीतिशास्त्र के अनुसार पराक्रम से और काटने आदि से लोग जीत लेते हैं, इसलिए अधम पुरुष को भी मोक्ष के लिए ही अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। जो पुरुष पौरुष से विरत नहीं होता, उसे फल सिद्धि अवश्यप्राप्त होती है, यह अभिप्राय है ॥१४॥ पुरुष चाहे, राक्षस, पिशाच, शूद्र आदि तामसी योनि में उत्पन्न हुआ हो, चाहे क्षत्रिय, वैश्य आदि राजस योनि को प्राप्त हुआ हो अथवा सत्त्व, तम से मिश्रित सर्प आदि योनि को प्राप्त हो, उसे कीचड़ से भोली–भाली गाय की तरह विषयों से बुद्धि का धैर्य के साथ उद्धार करना चाहिए ॥१५॥

पूर्वोक्त बात को ही विस्तार से कहते हैं।

अपने विवेक से ही सन्त लोग देवता आदि सात्विक योनि को प्राप्त होते हैं, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, निर्मल चित्तरूपी मणि को जिस वस्तु का संसर्ग होता है, वह चित्तरूपी मणि तन्मय हो जाती है, इसलिए पौरुष ही प्रधान है। पौरुष प्रयत्न से ही बड़े उत्तम गुणों से अलंकृत मुमुक्षु पुरुष पाश्चात्य यानी जीवन्मुक्त उत्तम शरीरवाले होते हैं। न कोई ऐसी वस्तु पृथ्वी में है, न स्वर्ग में, न देवताओं के पास अथवा न अन्यत्र कहीं है, जिसे गुणवान पुरुष अपने पौरुष प्रयत्न से हस्तगत न कर ले। युक्ति के सहित ब्रह्मचर्य, धैर्य, वीर्य और वैराग्य के वेग के बिना आप उस अभीष्ट वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते ॥१६–१९॥ सब प्राणियों के आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति से उपलक्षित, निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण अत्यन्त हितकर इस उपदिष्ट आत्मतत्त्व को विशुद्ध सत्त्वगुणों की वृद्धि के उपाय में सावधान बुद्धि द्वारा आत्मरूप से स्थिर करके आप शोकरहित होइए। तदनन्तर आपके द्वारा उपदिष्ट क्रम से आपके ये और लोग भी मुक्त और शोकरहित हो जायेंगे ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विवेक की विपुल महिमा से युक्त, बढ़े हुए शम, दम आदि गुणों से मनोहर इस अन्तिम जीवन्मुक्त शरीर के प्राप्त होने पर आप जीवन्मुक्त पुरुषों के सप्तम भूमिका रूप कर्म में स्थिति कीजिये। यह वैराग्य प्रकरण में कही गई सब लोगों में प्रसिद्ध संसार प्राप्ति से होनेवाली मोह चिन्ता आपमें स्थित न हो ॥२१॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

(श्रीयोगवासिष्ठभाषानुवाद में स्थिति प्रकरण समाप्त)

उपशम प्रकरण

पहला सर्ग

मध्याह्नकाल की शंखध्वनि से सभा के उत्थान का वर्णन तथा वसिष्ठजी का
आह्निककृत्य और रात्रि में विश्वामित्रजी के साथ स्थिति।

उत्पत्ति प्रकरण में सृष्टि की प्रतिपादक सब श्रुतियों के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए सारी प्रपंच रचना मन के अधीन ही है, यह दर्शाया। स्थिति प्रकरण में भी जगत की स्थिति का प्रतिपादन करनेवाली सब श्रुतियों के तात्पर्य को दिखलाने के लिए सारी प्रपंच स्थिति मन के अधीन ही है, यह दिखलाया। अब 'या गार्ग्यमरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति' (हे गार्ग्य, जैसे अस्त हो रहे सूर्य की किरणें सर्वजनप्रत्यक्ष तेजोराशिरूप तेजोमण्डल में एकस्वरूपता को प्राप्त होती हैं। फिर वे मरीचियाँ दूसरे दिन सूर्य का उदय होने पर सब दिशाओं में संचार करती हैं, वैसे ही सब वागादि इन्द्रियाँ सब व्यवहारों के कारणभूत अन्तःकरण में स्वप्न के समय एकता को प्राप्त होती हैं।), 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' (आनन्दभोग के समय सब विश्व विज्ञान के स्वकारण में लीन होने पर) 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (जिस कारणभूत ब्रह्म में विनाश के समय मरते हुए भूत प्रवेश करते हैं), 'यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्तिनामरूपे विहाय' (जैसे बह रही नदियाँ अपने नाम और रूप का त्याग करके समुद्र में लीन हो जाती हैं), 'गताः कलाः पंचदशप्रतिष्ठानम्' (मोक्ष के समय ज्ञानी के प्राण, श्रद्धा, पाँच महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोभरूप पन्द्रह कलाएँ अपने कारण में प्राप्त हो जाती हैं) और 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायषाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (इस द्रष्टा की ये सोलह कलाएँ, जिनका पुरुष स्थान है, पुरुष को प्राप्त करके यानी पुरुषात्मभाव को प्राप्त होकर अस्त को प्राप्त होती हैं।) सुषुप्ति, प्रलय, समाधि, साक्षात्कार और विदेहकैवल्य में प्रपंच की निवृत्ति होने के कारण जीव की ब्रह्मरूपताप्राप्ति के प्रतिपादन द्वारा प्रत्यक्ब्रह्मैकरस अखण्ड वस्तु की लक्षक पूर्वोक्त इन श्रुतियों के भी मन का नाश होने से ही सारे प्रपंच की निवृत्ति द्वारा स्वरूप प्रतिष्ठा में तात्पर्य है, इस रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए उपशम प्रकरण का आरम्भ कर रहे श्रीवसिष्ठजी पूर्व और उत्तर प्रकरणों की संगति दर्शाते हुए विषय और प्रयोजन को दिखलाकर शिष्य को सुनने के लिए सावधान करते हुए कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य की स्थिति का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों के तात्पर्य का वर्णन करने के उपरान्त आप इस उपशम प्रकरण को सुनिये जो समझ में आने से मोक्षकारी है ॥१॥

यहाँ पर स्थिति का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों के तात्पर्य का वर्णन करने के पश्चात उपसंहार बोधक श्रुतियों के तात्पर्य वर्णन की अवसर संगति है। 'ज्ञातं निर्वाणकारि यत्' से पूर्व प्रकरण का प्रयोजन ही इसका प्रयोजन है, जो दोनों की एक कार्यकारिता संगति भी दिखलाई, यह जानना चाहिये।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जब देवता, ऋषि, मुनि, राजा आदि की सुन्दर सभा शरद् ऋतु में तारों से ठसाठस भरे हुए आकाश के तुल्य निश्चल थी, श्रीवसिष्ठजी इस प्रकार मन को आनन्द में डुबानेवाले पवित्र वचन कह रहे थे। वायुरहित अतएव निश्चल कमलवाले कमलों के तालाब

की नाईं सभा का मध्यभाग वसिष्ठजी के ज्ञानपूर्ण वचन सुनने में उत्सुकतावश मौन होकर बैठे हुए राजाओं से पूर्ण था, विलासिनियों के मद और मोह का बल शान्त हो गया था, वे चिरसंन्यासिनियों की तरह अन्तःकरण में परम शान्ति को प्राप्त हो रही थी। विलासिनी गण के कर कमलों में हंस–से मालूम हो रहे चँवर मानों वसिष्ठजी का उपदेश सुन लेने से श्रुत अर्थ में समाधि लगाकर लीन हो गये थे, वृक्ष की तरह सभा में पक्षियों ने अपना चह–चहाना बन्द कर दिया था, नासिका के अग्रभाग पर तर्जनी अंगुली के अग्रभाग को रख कर विचारवान राजा गण विज्ञानकला को विचार रहे थे प्रातःकाल में कमल की नाईं श्रीरामचन्द्रजी विकसित हो उठे थे। जब सूर्य के प्रकटकाल में आकाश अन्धकाररूपी आसन का त्याग कर चुका था। (अन्धकार भूमि में ही घन होता है अतएव ऊपर स्थित आकाश के आसनरूप से उसकी उत्प्रेक्षा की गई है। भाव यह है कि जैसे गुरुजनों के आने पर शिष्य उनका अभ्युत्थान करता हुआ आसन का त्याग करता है वैसे ही सूर्य के उदय होने पर आकाश ने अन्धकाररूपी आसन छोड़ दिया था), महाराज दशरथ जैसे मयूर वृष्टि के कारण हुई आर्द्रता से मेघ के शब्द सुनता है वैसे ही प्रेमार्द्रभाव से श्रीवसिष्ठजी के उपदेश वचन सुन रहे थे, बन्दर की तरह चंचल मन को सब विषय भोगों से हटाकर मन्त्री लोग बड़े प्रयत्न के साथ सुनने में लगे थे, श्रीवसिष्ठजी के उपदेश वचनों से लक्ष्मणजी के हृदय में ब्रह्म का स्फुरण हो रहा था, उन्हें आत्मतत्त्व का परिज्ञान हो चुका था तथा वे चन्द्रमा के खण्ड के समान निर्मल और शिक्षा बल से विचक्षण हो गये थे, शत्रुओं का संहार करनेवाले शत्रुघ्नजी चित्त से पूर्णता को प्राप्त हो चुके थे, पूर्ण आनन्द को प्राप्त वे पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रमा के समान स्थित थे, दुःखी मन के वशीभूत हो जाने पर सुमित्र मन्त्री का हृदय जैसे मानसरोवर में दुःख से चिन्तित सुन्दर सूर्य के उदय द्वारा प्रीतिकर होने पर प्रातःकाल के कमल विकसित हो उठते हैं वैसे ही विकसित हो उठा था ॥२–१२॥

उस समय वहाँ पर बैठे हुए अन्यान्य राजा और मुनि, जिनके चित्तरूपी रत्न भली–भाँति धुल गये थे, चित्त से उल्लसित–से हो गये। उस समय दशों दिशाओं को पूर्ण करती हुई, प्रलयकाल के मेघ के गर्जन के समान तेज और सागर के घोष के तुल्य गम्भीर मध्याह्नकाल के शंखों की ध्वनियाँ तिरोहित हो जाती हैं ॥१३–१५॥ तदुपरान्त मुनि ने सभा में अपनी उपदेश वाणियों का उपसंहार किया। जिस गुण का जनों को आह्लादित करनेवाला अंश अभिभूत हो गया हैं, उसे कौन गुणी पुरुष प्रकट करेगा ! भाव यह है कि मध्याह्नकालीन शंखों की ध्वनि से लोगों का मन चंचल हो उठा था, अतएव उन्होंने अपने उपदेश वचनों में लोगों की एकाग्रता न देखकर उसका उपसंहार किया। मध्याह्नकाल की शंखध्वनि सुनकर मुहूर्तभर विश्राम करके घन कोलाहल के शान्त होने पर श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, आज का इतना ही आह्निक मैंने कहा, हे शत्रुतापन, शेष वक्तव्य कल प्रातःकाल कहूँगा ॥१६–१८॥ मध्याह्न समय में करने योग्य द्विजातियों का नियमतः प्राप्त कर्तव्य कर्म नष्ट न हो; इसलिए उसका अनुष्ठान मुझे भी करना चाहिए ॥१९॥ हे सुन्दर, आप भी उठिए। हे आचारचतुर, स्नान, दान, अर्चन, पूजन आदिरूप सब सत्क्रियाओं का अनुष्ठान कीजिए ॥२०॥ ऐसा कह कर मुनिजी उठे। जैसे उदयाचल के शिखर से चन्द्रमा के साथ सूर्य उदित हों वैसे ही मुनिजी के साथ महाराज दशरथ सभासहित उठे ॥२१॥ उन दोनों के उठने पर मन्द मन्द वायु से कम्पित भँवररूपी

नेत्रवाली वह सारी सभा उठने के लिए चंचल हुई ॥२२॥ सिर की मालाओं से उठ रहे भँवरों के दलों से अलंकृत वह सभा अस्ताचल में (✍) चंचल सूँड़वाली गजसेना के सदृश उठी ॥२३॥

एक के शरीर के दूसरे के शरीर के साथ टकराने के कारण सभा में हजारों बाजू-बन्द चूर-चूर हो गये थे, अतएव वह जहाँ तहाँ रत्नों से भरी हुई थी, इसलिए उस सभा को देखने से लाल मेघों से युक्त सन्ध्या का स्मरण हो जाता था ॥२४॥ उड़ रहे और मालाओं से गुँथे हुए मुकुटों पर मँडरा रहे भँवरों ने घुंघुम ध्वनि से उस सभा को गुलजार बना रक्खा था और मुकुटों पर भाँति-भाँति के जड़े हुए रत्नों की प्रभा से उस सभा ने आकाश को इन्द्रधनुष बना डाला था ॥२५॥ कान्तारूपी लताओं के हाथरूपी पल्लवों में सुन्दर चँवररूपी मंजरीवाली वह सभा क्षुब्ध गजराजों के मण्डल से युक्त वन श्रेणी के तुल्य थी यानी जैसे वन श्रेणी में लताओं के पल्लवों में सुन्दर मंजरियाँ सुशोभित होती हैं और उसमें मदोन्मत्त गजराज क्षुब्ध रहते हैं वैसे ही उस सभा में महिलाओं के हाथों में चँवर शोभित थे और सभा से उठ रहे लोग ही विक्षुब्ध मत्त गजराज थे ॥२६॥ उस सभा ने चमक रही कड़ों की कान्तियों से सब के वस्त्र लाल कर दिये थे और परस्पर के आकर्षण फैला दिये गये थे, अतएव वह सभा वायु से जिसके फूल उड़ाये गये हो, ऐसी मन्दारवनराजि के तुल्य थी ॥२७॥ उस सभा ने इधर-उधर उड़ रहे कपूर के चूर्ण से और उसके सदृश हिम कणों से सफेद मेघ बना रक्खे थे, अतएव वह जिसकी सारी की सारी भूमि हिम, काश और फूल आदि से व्याप्त हो, ऐसा शरतकाल के दिक्तटों की पंक्ति के सदृश थी ॥२८॥ चंचल मस्तक मणियों के अग्रभाग से उस सभा के आकाश का मध्यभाग लाल हो गया था, अतएव वह जिसमें नीलकमल खिले न हों तथा दिन के कार्यों का उपसंहार करनेवाली सन्ध्या के तुल्य थी ॥२९॥ रत्नों के किरणरूपी जलप्रवाह में मुखरूपी कमलों से ठसा-ठस भरी हुई नूपुरों की ध्वनिरूपी सारसवाली और भँवरों से व्याप्त वह सभा कमलिनी के (कमल के तालाब के) सदृश थी। उसमें मणियों की किरणें ही जल प्रवाह के स्थानापन्न थी, लोगों के मुँह ही पद्मस्थानीय थे, नूपुरों की ध्वनियों ने ही सारसों का स्थान लिया था और भँवरे भी फूलों की मालाओं में मँडरा रहे थे; अतएव वह कमलिनी के तुल्य थी ॥३०॥ सैकड़ों राजाओं से व्याप्त, विस्तृत वह सभा सैकड़ों पर्वतों से व्याप्त प्राणियों की परम्पराओं से पूर्ण नूतन उत्पन्न हुई सृष्टि के समान थी ॥३१॥ तदनन्तर मणियों द्वारा इन्द्रधनुष के तुल्य बनाए गये राजा लोग राजा दशरथ को प्रणाम कर जैसे मणियों द्वारा इन्द्रधनुष के तुल्य बनाई गई तरंगें सागर से निकलती हैं वैसे ही राजमन्दिर से निकले ॥३२॥ सुमन्त्र और अन्यान्य मन्त्री, जो ब्रह्मरस और जल के विहारज्ञान में बड़े निपुण थे, श्रीवसिष्ठजी और राजा दशरथ को प्रणाम कर स्नान करने के लिए गये। वामदेव आदि और विश्वामित्र आदि अन्यान्य ऋषिगण श्रीवसिष्ठजी को आगे करके अनुज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहे ॥३३,३४॥ तदनन्तर वहाँ पर शत्रुतापन राजा दशरथ मुनियों की पूजा करके मुनियों से आज्ञा पाकर अपने कार्य के लिए गये ॥३५॥ प्रातःकाल फिर आने के लिए वानप्रस्थ लोग वन को गये, गन्धर्व आदि व्योमचारी आकाश को गये और नागरिक लोग नगर को गये ॥३६॥ राजा दशरथ और वसिष्ठजी के बड़े विनय से प्रार्थना करने पर भगवान श्रीविश्वामित्रजी ने श्री वसिष्ठजी के निवास स्थान पर रात

(✍) यहाँ के मध्याह्न का समय अस्ताचल के सूर्योदय का समय है, वह हाथियों के उठने का समय है, इस आशय से सन्ध्याद्रौ (अस्ताचल में) कहा है।

बिताई ॥३७॥ जैसे देवताओं के समूह से अनुगत सर्वलोक नमस्कृत भगवान ब्रह्मा ब्रह्मलोक को जाते हैं, वैसे ही सब ब्राह्मण श्रेष्ठों, राजाओं और मुनियों के साथ राम आदि दशरथ के सब पुत्रों द्वारा उपासित श्रीवसिष्ठजी अपने आश्रम को गये ॥३८,३९॥

तदुपरान्त अपने आश्रम स्थान से उन्होंने अपने चरणों पर गिरे हुए राम आदि सब दशरथ पुत्रों को बिदा किया ॥४०॥ आकाश में रहनेवाले, भूमि में रहनेवाले और पाताल में रहनेवाले उन सबको, जो कि उत्तम–उत्तम गुणों से अलंकृत थे, यथा योग्य बिदा करके अपने घर में प्रवेश कर उदारचरित श्रीवसिष्ठजी ने द्विजातियों की दिवसोचित पंचयज्ञ क्रिया की ॥४१॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

आह्निक कर्मानुष्ठान, श्रीरामचन्द्रजी का सुनी हुई वार्ताओं का चिन्तन तथा सुने हुए पदार्थों में स्थिरता के लिए बुद्धि आदि की प्रार्थना करना।

चन्द्रमा के तुल्य कान्तिवाले उन राजपुत्रों ने साथ साथ घर जाकर अपने अपने भवनों में भलीभाँति आह्निक कार्य किया ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी, श्रीरामचन्द्रजी, अन्यान्य राजाओं, मुनियों और द्विजातियों ने अपने घरों में, गलियों में और बाहर करने योग्य अपने–अपने कार्य निम्नलिखित रीति से किये। कमल, कह्लार, कुमुद तथा उत्पलों से मनोहर और चक्रवाक, हंस तथा सारसों की पंक्तियों से युक्त जलाशयों में उन लोगों ने स्नान किया। गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या, आसन, वस्त्र, बर्तन आदि का दान ब्राह्मणों को दिया। सुवर्ण और मणियों से अद्‌भुत देवालयों में और अपने घरों में विष्णु, शंकर तथा अग्नि, सूर्य आदि देवताओं की पूजा की। तदनन्तर इन लोगों ने पुत्र, पौत्र, सखा, चाकर और बन्धु–बान्धवों के साथ अपने अनुरूप भोजन किया। उस समय उस नगर में केवल अष्टम भाग शेष रहने से दिन सूक्ष्म हो गया था, अतएव वह देखने में अच्छा मालूम पड़ता था। सायंकाल तक का समय उन्होंने तब तक उस समय के उचित पुराण, धर्मशास्त्र के अवलोकन आदि कर्म से बिताया, जब तक कि भगवान सूर्य अपनी किरणों के साथ अस्त नहीं हो गये ॥२–८॥ तदनन्तर उन्होंनें भलीभाँति सन्ध्यावन्दन किया, अघमर्षण मन्त्रों का जप किया, पवित्र स्तोत्र पढ़े और मनोहर गाथाएँ गाई ॥९॥ तदुपरान्त कान्त के संगम से कामिनियों के शोक का नाश करनेवाली तथा चन्द्रमा और तुषार को देनेवाली रात्रि क्षीरसागर से प्रकट हुई पूर्व दिशा के तुल्य आविर्भूत हुई। धीरे–धीरे श्रीरामचन्द्रजी आदि राजकुमार दीर्घ चन्द्रबिम्बके समान रमणीय बिस्तरों पर सोये जो फूलों से भरे थे और कपूर का चूर्ण जिन पर मुट्ठियों से बखेरा था ॥१०,११॥ तदुपरान्त श्रीरामचन्द्रजी को छोड़कर और लोगों की उस समय के उचित विषयभोग, निद्रा आदि व्यवहारवाली वह मनोहर रात्रि बिस्तरों पर मुहूर्त के समान धीरे–धीरे बीत गई। किन्तु श्रीरामचन्द्रजी जैसे हाथी का बच्चा अपनी माता का चिन्तन करता है वैसे ही श्रीवसिष्ठजी की पूर्वोक्त उदार और मधुर उपदेशवाणी का चिन्तन करते हुए बैठे रहे। यह संसार भ्रमण क्या वस्तु है, ये लोग क्या हैं, ये विचित्रभूत क्यों आते हैं और क्यों जाते हैं, मन का स्वरूप कैसा है, कैसे यह निवृत्त होता है, यह माया कहाँ से आविर्भूत हुई है और कैसे यह निवृत्त होती है ? ॥१२–१५॥ इस माया के निवृत्त होने से

क्या गुण होता है ? अथवा सम्पूर्ण भोग्य, भोक्ता और भोग की निवृत्ति होने से पुरुषार्थ विघातरूप दोष होता है ? आकाश से भी विस्तीर्ण आत्मा में यह संकोच (परिच्छेद) कहाँ से आया ? ॥१६॥ भगवान श्रीवसिष्ठजी ने मन के क्षय के लिए क्या साधन और फल कहा है अथवा आत्मा के विज्ञात होने पर क्या कहा है ? ॥१७॥ जीव, चित्त, मन, माया इत्यादि फैले हुए रूपों से आत्मा ही इस मिथ्याभूत संसार का विस्तार करता है एवं एकमात्र मन रूप तन्तु में बंधे हुए इनका क्षय होने से दुःखनिवृत्ति सिद्ध होती है। मायारूप ये सब हम लोगों के द्वारा कैसे भली-भाँति चिकित्सा योग्य होंगे ? विषयरूपी मेघों का (विषय ही संसाररूप से घन बन कर चित्ताकाश को आवृत करने के और दुःखों की हजारों धाराओं को वर्षाने के कारण मेघ के सदृश हुए) अनुसरण कर माला के समान घेरनेवाली अपनी बुद्धिवृत्तिरूपी इस बकपंक्ति को जैसे हंस जल से दूध का भाग अलग कर देता है वैसे ही मैं कैसे पृथक् करूँ ?॥१८-२०॥

यदि कोई शंका करे, विचार से क्या प्रयोजन है, भोगों का ही त्याग कीजिये तो इस पर कहते हैं।

भोगों का त्याग नहीं किया जा सकता और उनके त्याग के बिना हम विपत्तियों से निस्तार नहीं पा सकते, अहो यह बड़ा संकट आया। भाव यह है कि सर्वथा भोगों का त्याग करने से जीवन ही नहीं रह सकता। जीवन के लिए थोड़ा भी यदि भोग का उपादान किया जाय, तो वासनावृद्धि का संकट आ गया ॥२१॥

दूसरा संकट भी कहते हैं।

इस अवश्य प्राप्तव्य आत्मतत्त्व में मन ही प्रमाण है और यह बाहरी विषय समुदाय ही जिसकी सिद्धि में कारण और पुरुषार्थभूत है, ऐसा हमारा मन अपनी मूर्खतावश पहाड़ से भी बढ़-चढ़ कर भारी बन गया है। जैसे कि बालक द्वारा मूर्खता से कल्पित यक्ष पहाड़ के समान भारी हो जाता है। भाव यह है कि मन की सिद्धि विषयों के अधीन है अतएव विषयों से मन को निवृत्त करना संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उसकी निःस्वरूपतापत्ति हो जायेगी। विषयों से उसकी निवृत्ति किये बिना तत्त्वसाक्षात्कार में वह प्रमाण नहीं बनाया जा सकता, यह दूसरा संकट है ॥२२॥

यदि सब विषयों की निवृत्ति होने पर भी एकमात्र ब्रह्माकारता का अवलम्बन करके वासनारहित मन को स्थापित किया जा सके, तो इच्छित सिद्धि हो सकती है, ऐसा विचार करते हुए कहते हैं।

जिस युवती ने अपने पति को पा लिया, वह फिर दूसरे का स्मरण नहीं करती है वैसे ही संसारभ्रम से रहित ब्रह्माकारता को प्राप्त हुई हमारी मति परम शान्ति को प्राप्त करके दूसरे किसी का स्मरण नहीं करेगी ॥२३॥

उस दशा को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठा करते हैं।

कब मेरा मन क्रोधरहित, सम्पूर्ण अभिलाषाओं से शून्य, पापहीन, पवित्र और परमात्मा में विश्रान्त होगा ? सोलह कलाओं से सम्पूर्ण चन्द्रमा से भी शीतल परम पद में सप्तम भूमिकापर्यन्त भली भाँति विश्राम कर (जीवन्मुक्ति सुख को प्राप्त) मैं कब जगत में भ्रमण करूँगा ? जैसे जल में छोटी तरंग विलीन हो जाती है वैसे ही कल्पित असत्यरूप का त्यागकर आत्मा में लीन हुआ मन कब शान्ति को प्राप्त होगा ? तृष्णारूपी तरंगों से अशान्त, आशारूपी मगरों से भरे हुए संसार सागर को तैरकर मैं कब सन्तापरहित होऊँगा ? ज्ञानी और समदृष्टि होकर मैं उपशम से शुद्ध, मुमुक्षुओं को प्राप्त होने योग्य

पदों में शोक रहित होकर कब निवास करूँगा ? मेरा बड़ा भारी संसाररूपी ज्वर कब नष्ट होगा ? उसने मेरे सब अंगो को संतप्त कर रक्खा है एवं धातुओं के क्षय से जो भयंकर है। हे बुद्धे, व्यथारहित और तेज प्रकाश से परिपूर्ण मेरा चित्त निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की शिखा के समान कब शान्ति को प्राप्त होगा ? ॥२४–३०॥ गरुड़ जैसे सागर को अनायास पार कर जाता हैं, वैसे ही मेरी इन्द्रियाँ विषयों की अवहेलना से दुःखों को दूर करने के लिए दुष्ट अभिलाषा से होनेवाले विविध भावी शरीरों को कब पार कर जायेगी ? पशु, पुत्र, धन, अन्न, पान आदि की अप्राप्ति और वियोग से रो रहे मुझ मूढ़ में रोदन का कारणभूत यह देह ही वह प्रसिद्ध आत्मा मैं हूँ, इस प्रकार का पूर्व–पूर्व देहों की वासना और काम–कर्म परम्परा से उत्पन्न व्यर्थ भ्रम प्रबोधरूप विमलता की प्राप्ति होने पर शरत्काल में मेघ की तरह कब नाश को प्राप्त होगा ? ॥३१,३२॥

उत्कट मोक्षेच्छा से स्वर्ग भी मुझे तृण के समान मालूम पड़ता है, ऐसा कहते हैं।

नन्दनवन में जो सुखानुभव है, वह जिस परम पद में तृण के तुल्य नगण्य है, उस आत्मामय परम पद को मैं चाहता हूँ, उसको मैं कब प्राप्त होऊँगा ? ॥३३॥

अब विवेक ग्रहण के लिए मन आदि की प्रार्थना करते हैं।

हे मन, कहो तो सही, वीतराग पुरुषों द्वारा उपदिष्ट निर्मल ज्ञानदृष्टियाँ क्या तुममें स्थिति करेगी ? हे चित्त, मैं दुःखरूपी अजगरों का भोजन होकर हा तात, हा मातः, हा पुत्र – इन रोदनों का भाजन फिर न होऊँ ॥३४,३५॥ हे बुद्धि, हे बहन (卐) मैं तुम्हारा भाई हूँ मेरी प्रार्थना को तुम जल्दी पूरी करो। हम दोनों दुःख से छुटकारा पाने के लिए मुनिजी की उपदेशवाणियों का चिन्तन करें ॥३६॥ हे साध्वि, हे पुत्रि, (📖) हे सन्मते, हे भव्ये, तुम्हारे पैर पड़कर प्रेम से मैं प्रार्थना करता हूँ। मेरी प्रार्थना से संसार के उच्छेद से उपलक्षित पूर्णता की प्राप्ति के लिए तुम खूब सावधान होओ ॥३७॥

इस प्रकार प्रार्थना द्वारा सावधान की गई बुद्धि को वैराग्य–प्रकरण आदि चार प्रकरणों के अर्थ के स्मरण में क्रमशः नियुक्त करते हैं।

हे मते, श्रीवसिष्ठ मुनि द्वारा मेरे मुख से कहलाई गई और स्वयं कही गई वैराग्यवाणियों का, तदनन्तर मुमुक्षुओं के आचार का, तदनन्तर उत्पत्तियों के क्रम का तदनन्तर दृष्टान्तों से सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उपाख्यानों से सुबोध इस स्थिति –प्रकरण का तुम भली भाँति स्मरण करो ॥३८,३९॥

यदि कोई शंका करे कि मन की पहले प्रार्थना की गई है, उसी से चारों प्रकरणों के अर्थ के अवधारण की सिद्धि हो गई फिर उससे पृथक् मति की क्यों प्रार्थना की जाती है ? तो इस पर कहते हैं।

मन से सैकड़ों बार जो वस्तु विचारित होती है, उसे यदि बुद्धि स्वीकार न करे, तो वह भलीभाँति विचारित हुई भी शरत्काल के मेघ के समान स्थिर नहीं रहती, अतः श्रवण द्वारा तत्त्व का विचार होने पर भी मनन द्वारा सम्पादित निश्चयात्मिका बुद्धि ही कर्तव्य सम्पादन में समर्थ होती है, इसलिए पुनः मति की प्रार्थना उचित ही है ॥४०॥

दूसरा सर्ग समाप्त

卐 जीव और बुद्धि एक अविद्या के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए बुद्धि को भगिनी कहा और अपने को भाई कहा।

📖 शास्त्राभ्यास और सज्जनों के अनुग्रह से पीछे उत्पन्न होने के कारण सन्मति को पुत्री कहा।

तीसरा सर्ग

प्रातःकाल स्नानगृह में आये हुए श्रीरामचन्द्रजी आदि के साथ
श्रीवसिष्ठजी का सभा-गृह में जाना और सभा का आरम्भ।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे वत्स, जैसे सूर्योदय की आकांक्षा करनेवाले कमल की रात्रि व्यतीत होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी की वह रात्रि इस प्रकार की विस्तृत ज्ञानविषयक चिन्ता से व्यतीत हुई ॥१॥ कुछ अन्धकारवश पीले, कुछ लाल आकाश में विरल तारोंवाली दिशाओं को मानों बुहारी से छोड़ने पर प्रातःकाल के तुर्यशब्द के साथ चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाले श्रीरामचन्द्रजी कमल के तालाब से सुन्दर कमल के समान उठे ॥२,३॥ प्रातः काल की स्नान विधि कर और सन्ध्या-वन्दन आदि कर्म से निवृत्त होकर भाईयों के साथ थोड़े से अपने परिजनों को भेजकर फिर स्वयं वसिष्ठजी के निवास स्थान पर गये ॥४॥ पहले ही स्नान, सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर एकान्त में समाधि में बैठे हुए आत्मपरायण मुनि को श्रीरामचन्द्रजी ने सिर झुकाकर दूर से ही प्रणाम किया ॥५॥ विनययुक्त वे राजकुमार उन्हें प्रणाम कर जब तक अन्धकार भली-भाँति नष्ट नहीं हो गया, दिशाएँ साफ-साफ नहीं दिखाई देने लगी, तब तक उस आँगन में खड़े रहे। तदनन्तर राजा, महाराज, राजकुमार, ऋषि और ब्राह्मण ब्रह्मलोक में देवताओं के समान चुपचाप श्रीवसिष्ठजी के स्थान पर आये ॥६,७॥ श्रीवसिष्ठजी का वह निवास स्थान लोगों से ठसाठस भर गया। हाथी, घोड़े और रथों की भीड़ लग गयी। वहाँ राजाओं के उचित शिष्टाचार के रहने पर भी वह घर राजमहल के सदृश सुशोभित हो गया यानी विनय आदि राजोचित व्यवहार तो था ही, घर भी अब राजमहल के सदृश हो गया ॥८॥ एक क्षण में श्रीवसिष्ठजी समाधि से जाग उठे। उन्होंने विनय आदि व्यवहार से और प्रिय वचन आदि के उपचार से प्रणाम कर रहे लोगों के ऊपर अनुग्रह किया। विश्वामित्रजी के साथ मुनि श्री वसिष्ठजी, जिनके पीछे बहुत से मुनि चल रहे थे, जैसे ब्रह्मा कमलपर आरूढ़ होते हैं वैसे ही रथ पर शीघ्र आरूढ़ हुए ॥९,१०॥ जैसे सब देवताओं से परिवृत ब्रह्मा इन्द्र के नगर में जाते हैं वैसे ही विशाल वाहिनी परिवृत श्रीवसिष्ठजी महाराज दशरथ के घर गये ॥११॥ जैसे हंसों के झुण्ड से परिवेष्टित राजहंस कमल के तालाब में प्रवेश करता है वैसे ही विनीत लोगों से पूर्ण राजा दशरथ की मनोहर सभा में उन्होंने प्रवेश किया ॥१२॥ उनके सभा में प्रवेश करने के समय महाबली राजा दशरथ सिंहासन से शीघ्र उठकर वहाँ पर तीन कदम उनके स्वागत के लिए गये ॥१३॥ उस सभा में उन सब दशरथ आदि राजाओं, वसिष्ठ आदि मुनियों, ऋषियों, ब्राह्मणों, सुमन्त्र आदि मन्त्रियों, सौम्य इत्यादि विद्वानों, राम आदि राजकुमारों, शुभ आदि मन्त्रीपुत्रों, अमात्यों, प्रजाओं, सुहोत्र आदि नागरिकों, मालव आदि नौकर-चाकरों और माली आदि पुरवासियों ने प्रवेश किया ॥१४-१६॥ तदनन्तर जब वे सबके सब अपने-अपने आसनों पर बैठ गये और आसनों पर बैठे हुए वे श्रीवसिष्ठजी की ओर टकटकी लगाए हुए थे, सभा का कोलाहल शान्त हो चुका था, बंदीगण चुप हो गये थे, रात्रि में सुखपूर्वक रहने के सम्बन्ध की प्रश्नोत्तर रूप आपस की बातें समाप्त हो चुकी थी, उस सभा के मध्य में निश्चलता छा गई थी, कमलों के पराग कमल के गर्भ से निकलकर सभा में प्रवेश कर रहे थे एवं वायु से चंचल मोतियों की लरों में चंचलतापूर्वक भोगलम्पट हो रहे थे, चारों ओर

झूल रहे बड़े–बड़े फूलों के झूलों से खूब अधिक सुगन्ध लेकर मन्द–मन्द वायु बह रहा था, झरोखों पर लगे हुए कोमल बिछौनों पर, जिनमें फूल बिखेरे थे, बैठी हुई महिलाएँ देख रही थी, झरोखों से आई हुई सूर्य की किरणों से चकाचौंध होने के कारण चंचल नेत्रवाली मणियों की प्रभा से पीली और सुकुमारी, सफेद चँवर धारण करनेवाली वे चंचल नारियाँ चपलता का त्यागकर चुपचाप खड़ी थी, विविध प्रकार के रत्नों से जड़े हुए आंगनों के मोतियों के प्रतिबिम्ब के तुल्य सूर्य की किरणों के राग से युक्त मध्यवाले यानी नाना पुष्पों के आकार में चित्रित होने पर, ये फूल नहीं हैं किन्तु प्रातःकाल के धूप के प्रतिबिम्ब हैं, इस भ्रान्ति से भौंरे पुष्पराशि का ग्रहण नहीं कर रहे थे, अतएव पृथिवी का स्पर्श न होने से आकाश में मेघ के समान मँडरा रहे थे, उस सज्जनों के समाज में पूजनीयजन, पूर्वसंचित पुण्यों से श्रीवसिष्ठजी के मुख से निकला हुआ जो वचन सुना था, हृदय में उस वचन के विस्तार द्वारा बड़े आश्चर्य के साथ बहुत गुण–गणों से सुन्दर, कोमल पदावलियों से मनोहर अभीष्ट वाक्य आपस में कह रहे थे, दिशाओं से, नगर से, आकाश से और वन से आये हुए सिद्ध, विद्याधर, श्रेष्ठ मुनिगण और ब्राह्मणवृन्द श्रीवसिष्ठजी को चारों ओर से मौनपूर्वक प्रणामकर चुपचाप प्रवेश कर रहे थे, तदनन्तर जिनके साथ अवश्य सम्भाषण करना चाहिये, ऐसे गौरवशाली पुरुषों के साथ अतिमन्द स्वरसे कान के पास बातें कह रहे थे, खिले हुए रक्त कमलों के कोशों से निकले हुए, पहले उनके अन्दर डूबे हुए भौंरों, पुष्परस और पुष्पराग के रंग से कुछ पीले रंगवाले तथा घर में लगी हुई वायु के धक्के से चंचल घण्टियों के शब्द से जिसने घरों के अन्दर होनेवाले गीतों को तिरस्कृत कर दिया था, ऐसा वायु बह रहा था, चन्दन की सुगन्ध से मिश्रित, फूल के चंचल पराग से युक्त अतएव ताजे फूलों की उत्कट सुगन्ध से मेघों को सुगन्धित करनेवाले अगर और तगर के धुएँ, शामियानों में बँधे हुए कमलों की सुगन्ध के साथ जिस बहने में शब्द होने के कारण भँवरों की प्रतीति हाती थी, यों बह रहे थे ॥१७–२७॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

राजा दशरथजी का श्रीवसिष्ठजी के वाक्यों की प्रशंसा करना तथा
श्रीवसिष्ठजी के वचन से श्रीरामचन्द्रजी द्वारा चिन्तित पदार्थों का अनुवाद।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स, राजा दशरथ ने मेघ के गर्जन के तुल्य गंभीर वाणी से यह उनके उपदेश में अत्यन्त विश्वास प्रकट करनेवाली पदावलियों से सुन्दर निम्ननिर्दिष्ट वचन मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी से कहा ॥१॥ भगवन्, कल की उपदेश कथावली से उत्पन्न हुए तथा तपस्या के क्लेश से भी बढ़े–चढ़े श्रम से आप मुक्त हो गये हैं ? श्रोताओं को आनन्द देनेवाला जो विशद वचन समूह आपने कल कहा था, अमृत की वर्षा के तुल्य उसी वचन समूह से हम लोग आश्वासित हुए हैं। जैसे अमृत से निर्मल चन्द्रमा की किरणें अन्धकार को हटाकर अन्तःकरण को शीतल करती हैं वैसे ही अमृत की तरह निर्मल ये महात्माओं के विशद उपदेश अज्ञानान्धकार को हटाकर अन्तःकरण को सन्तापरहित कर देते हैं ॥२–४॥

अब चन्द्रमा की किरणों से भी महात्माओं की उपदेशवाणियाँ उत्कृष्ट हैं, ऐसा कहते हैं।

मनुष्य के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त विषयसुखों से भी अत्यन्त ऊँचे पद से

संबन्ध रखनेवाली जो महात्माओं की सूक्तियाँ हैं, वे अपूर्व आनन्द को देनेवाली और मोह को सर्वथा दूर करनेवाली हैं ॥५॥ आत्मरूप रत्न के प्रकाशन में एकमात्र दीपकरूप तथा सरस युक्तिरूपी लताएँ जिससे उदित होती है, वह सज्जनरूपी वृक्ष वन्दनीय है ॥६॥ जैसे चन्द्रमा की किरणें अन्धकारराशि को हटा देती हैं वैसे ही सज्जनों की सूक्तियाँ मन से जो बुरा विचार किया, शरीर से जो बुरा काम किया, उन सबको निवृत्त कर देती हैं ॥७॥ हे मुनिजी, जैसे शरत्काल में वर्षा ऋतु के मेघ क्षीण होने लगते हैं वैसे ही हम लोगों के संसार में बन्धन शृंखलारूप तृष्णा, लोभ आदि आपके उपदेश वचन से क्षीण होने लग गये हैं ॥८-१०॥ सिद्ध रस से बनाये गये सिद्ध अंजन से जिन्हें दृष्टि प्राप्त हो गई, ऐसे जन्मान्ध लोग जिस प्रकार सुवर्ण को देखने लगते हैं वैसे ही ब्रह्मरसरूपी अंजन से प्राप्त प्रत्यग् दृष्टि वाले हम लोग निर्दोष आत्मा को देखने के लिए उपयुक्त हो गये हैं। आपकी उक्तिरूपी शरद्ऋतु से हमारे हृदयरूपी आकाश में स्थित संसारवासना नामक कुहरा नष्ट होने लग गया है। हे मुनिजी, उदारबुद्धि पुरुषों की उपदेशवाणियाँ जैसे हृदय को आह्लादित करती हैं वैसे मन्दार के फूलों के गुच्छे अथवा अमृत सागर की तरंगें आह्लादित नहीं करती। हे रघुवर, जो-जो दिन महापुरुषों की पूजा से व्यतीत होता है, वही दिन प्रकाशयुक्त है, शेष दिन अन्धकार से आवृत्त हैं। हे कमल के समान विशाल नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रस्तुत अविनाशी तत्त्व को प्रसन्नता में स्थित मुनि से पूछो ॥११-१३॥ राजा के यों कहने पर श्रीरामचन्द्रजी के सामने बैठे हुए, उदारबुद्धि भगवान श्रीवसिष्ठमुनि ने यों कहना आरम्भ किया ॥१४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, हे अपने रघुकुल के एकमात्र प्रकाशक चन्द्र, हे महामते, जो मैंने पूर्वापर विचारित वाक्यार्थ कहा था, क्या उसका आपको स्मरण हैं ? क्या आप मन के समान माया से जगत के वेश में स्थित ब्रह्मरूप, निष्प्रपंच ब्रह्मरूप, स्थूल, सूक्ष्म, सदा उदित परमात्मा के रूप का, जो हमने कहा था, स्मरण करते हो ? अथवा अपनी बुद्धि से दृश्य से अतिरिक्त उसे जानते हो ? ॥१५-१७॥ हे सज्जनशिरोमणे, हे साधुवादों के एकमात्र भाजन, सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म से ही जैसे यह विश्व उदित हुआ है, उसका क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥१८॥ हे सन्मते, फैले हुए अविद्या के रूप का, जो काल के बल से नष्ट होनेवाला, संख्या से अनन्त और देश, कालादि से अन्तवाला है, क्या आप स्मरण करते हैं ? चित्त ही नर है, चित्त से अतिरिक्त नर नहीं है, ऐसा जो मैंने कहा था, उसका लक्षण आदि के विचार द्वारा क्या आप भलीभाँति स्मरण करते हैं ? ॥१९,२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, क्या आपने कल के श्रवण के विषयभूत वाक्यार्थ को मनन द्वारा परिष्कृत किया और रात्रि में उसे हृदय में स्थापित किया ? ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बार-बार विचारा हुआ, मनन द्वारा हृदय में स्थापित तत्त्वचिन्तन मोक्षरूप प्रयोजन को देता है। किन्तु जिस नराधम ने उपदिष्ट पदार्थ की धारणा अनादर से नष्ट-भ्रष्ट कर दी उसे मोक्षरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे विशाल वक्षःस्थलवाला पुरुष कण्ठ में जातिशुद्धि से शोभित होनेवाले सुन्दर मोतियों का भाजन होता है, वैसे ही विवेकयुक्त चित्तवाले आप विचारित, शुद्धि से शोभित होनेवाले उपदेश वचनों के भाजन हैं ॥२३॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : ब्रह्माजी के पुत्र महातेजस्वी श्रीवसिष्ठजी के इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी को कहने के लिए अवसर देने पर श्रीरामचन्द्रजी ने निम्नलिखित वाक्य कहा ॥२४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे सब धर्मों के ज्ञाता, आपके ही प्रभाव का यह विस्तार है, जो कि मैं परम उदार होकर आपके वचन को समझ सका। जैसे आप आदेश देते हैं, वैसे ही वह सब मैंने किया, उससे विपरीत नहीं किया है। रात्रि में निद्रा का त्याग करके मैंने हृदय में वाक्यार्थ का चिन्तन किया। हे प्रभो, उपदेश योग्य अर्थ के प्रकाशन में सूर्यरूप आपने संसाररूप अन्धकार के विनाश के लिए जड़तारूप शीत को हटाने से सुख देनेवाला वाणीरूपी किरणों का समूह कल फैलाया था ॥२५–२७॥

हे उदारचरित, मनोहर, पुण्यमय और क्रमयुक्त वह सारा का सारा अतीत उपदेश सिलसिलेवार गुँथे हुए मनोहर और पवित्र रत्नों के समान मैंने अपने हृदय में स्थापित किया ॥२८॥

सब अनिष्टों की निवृत्ति करनेवाला, अत्यन्त मधुर, परमपुरुषार्थ का साधन और अनुल्लंघनीय होने के कारण आपका वचन अवश्य सिर से प्रणाम कर हृदय में धारण करने योग्य है, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, आपका शासन हितकारी, मनोहर, पुण्य और आनन्द का साधन है, अतएव किन देवयोनि विशेष सिद्धों द्वारा अथवा स्वतःसिद्ध सनकादि द्वारा या योग, मन्त्र आदि से सिद्ध पुरुषों द्वारा सिर से धारण नहीं किया जाता ? संसाररूपी कुहरे के आवरण का निवारण कर रहे हम लोग आपके प्रसाद से वर्षा ऋतु के अन्त में दिवसों के समान प्रसन्न हो गये हैं यानी हम में आपका उपदेश व्यर्थ नहीं हुआ। आपका पवित्र उपदेश तीनों कालों में हितकारी है। श्रवण के समय वह मधुर है, मनन और निदिध्यासन के समय अन्तर्मुखता से होनेवाले शम आदि के सम्पत्ति सुख को बढ़ानेवाला है एवं उसका उत्तरकाल मोक्षरूप उत्तम फल से युक्त है। विकसित, सफेद, अम्लान एवं पुण्य, पाप और उनके फलों को एकमात्र आनन्द रूप बना देनेवाला आपका उपदेश रूपी कल्पवृक्ष पुष्प हम लोगों को कल्याणकारी फल देनेवाला हो ॥२९–३२॥

अब तीर्थरूप होने के कारण महानदरूप से गुरु का सम्बोधन कर अवशिष्ट उपदेश कहने के लिए प्रार्थना करते हैं।

हे देशकाल और शास्त्र के विचारों में विशारद, हे फैले हुए सदाचाररूपी पवित्र जलों के एकमात्र जलाशय, हे महाव्रत, हे निष्पाप मुनिजी, इस समय आप मेरे प्रति उपदेश वाणी के प्रवाह का पुनः प्रसार कीजिये। जलाशयपक्ष में सब शास्त्ररूपी हंस आदि पक्षियों के संचार से सुशोभित, मुनियों द्वारा जिसमें अपने व्रत विस्तृतरूप से किये गये हैं, स्नान करनेवालों के पापों का विनाश करनेवाले, फैले हुए पवित्र जल के एकमात्र आश्रय हे जलाशय तुम इस समय वाणी प्रवाहरूपी अपने प्रवाह का विस्तार करो ॥३३॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

अविवेक से बढ़ी हुई मनोमात्ररूपी जगत-सृष्टि की निवृत्ति के उपाय का क्रम।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे मनोहर आकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी , उत्तम सिद्धान्तों से सुन्दर, मोक्षरूपी कल्याण देनेवाले इस उपशम प्रकरण को आप सावधान होकर सुनिये।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सन्तर (उचित अन्तर पर स्थित) खम्भे गृहमण्डप को धारण करते हैं वैसे

ही राजस–तामस जीव इस विशाल संसारमाया को धारण करते हैं। जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुली का त्याग करते है वैसे ही पूर्वोक्त लक्षणवाले, राजससात्त्विक और शुद्ध सात्त्विक आपके तुल्य गुणवान धीर पुरुष अवहेलना द्वारा इस तुच्छ माया का त्याग करते हैं ॥१–३॥

किस उपाय से उसका त्याग करतें हैं, ऐसे प्रश्न होने पर उस उपाय को कहते हैं।

हे साधो, शुद्धसात्त्विक जन्मवाले अथवा राजस–सात्त्विक जन्मवाले प्रज्ञ पुरुष ही जगत की मूल परम्परा का विचार करते हैं ॥४॥ शास्त्र के अभ्यास, सज्जनों की संगति और सत्कर्मों के आचरण से जिनके पाप नष्ट हो चुके, ऐसे महात्मा पुरुषों की सार वस्तु का अवलोकन करनेवाली दीपक के तुल्य बुद्धि उत्पन्न होती है ॥५॥ स्वयं ही विचार द्वारा अपने–आप अपने स्वरूप का विचार कर जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक ज्ञातव्य वस्तु प्राप्त नहीं होती ॥६॥

आप में तो उसकी प्राप्ति की योग्यता है ही, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानवान्, प्रवीणकुशल, धीर और राजस–सात्त्विक जन्मवाले सत्पुरुषों में आप मुख्य हैं ॥७॥ हे प्रज्ञ, संसाररूपी कार्यों में क्या वस्तु सत्य है अथवा क्या असत्य है, इस बात का निरीक्षण विचार से स्वयं कीजिए और सत्यपरायण होइए। जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं है, उसकी सत्यता कैसी ? जो वस्तु आदि और अन्त में नित्य है, वही सत्य है, वह उससे अतिरिक्त असत्य स्वभाव कैसे हो सकती है, क्योंकि स्वभाव का विपर्यय नहीं हो सकता। जिसका मन आदि और अन्त में असन्मय वस्तु में सत्यबुद्धि से अनुरक्त है, उस मूढ़ पशुरूप जन्तु को विवेक किस उपाय से उत्पन्न किया जा सकता है ? ॥८–१०॥

मनोरथ से बनाए गये महल के तुल्य यह जगत एकमात्र मन का कार्य है, इस कारण भी इसमें सत्यत्व प्रसंग नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

मन ही यहाँ पर जन्म लेता है, मन ही बढ़ता है और तत्त्वदर्शन से मन ही मुक्त होता है ॥११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्राह्मन्, यह बात मुझे ज्ञात हो गई है कि इस त्रिभुवन में मन ही जरा, मरण का भाजन संसारी है, उसके तरने का जो सुनिश्चित उपाय है, उसे मुझसे कहिये। क्योंकि रघुवंशियों के हृदय के अज्ञानान्धकार का सूर्यरूप आप विनाश करते हैं ॥१२,१३॥

पहले शास्त्राभ्यास और सज्जनसंगति से वैराग्य आदि साधन चतुष्टय का सम्पादन करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले शास्त्राभ्यास, सज्जनसंग और उत्कृष्ट वैराग्य से मन को ज्ञानोदय के योग्य बनानेवाली विशुद्धि को प्राप्त कीजिए। जब निराभिमानता से युक्त मन वैराग्य को प्राप्त होता है, तब सब शास्त्रों के रहस्यज्ञान से अत्यन्त गौरवशाली और उपदेश देने की कुशलता से शिष्य को सुबुद्ध करने में समर्थ गुरुओं का विधिपूर्वक अनुगमन करना चाहिए ॥१४,१५॥ तदुपरान्त गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से पहले त्रिलोचन आदि सगुण परमेश्वर का ध्यान, भजन आदि करके क्रमशः साधक पुरुष जो परम पावन पद है, उसे प्राप्त करता है। स्वच्छ विचार द्वारा अपने आत्मा का शीतल चन्द्रमारूपी तेज से पूर्ण समस्त आकाश की तरह भीतर साक्षात्कार कीजिए ॥१६,१७॥ तब तक पुरुष संसाररूपी महासागर में तृण के समान बहता है, जब तक कि बुद्धिरूपी नाव से विचाररूपी

तट पर स्थिर नहीं हो जाता ॥१८॥ विचार से जिसने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया, उस पुरुष की बुद्धि जैसे स्थिर जल रेत के कणों को दबा देता है वैसे ही सब मानसिक चिन्ताओं को दबा देती है ॥१९॥ राख में छिपे हुए सोने को यद्यपि और लोग अलग नहीं कर सकते; तथापि सदा सुवर्ण का शोधन करने से उसे पृथक् करने में दक्ष स्वर्णकार को यह सोना है, यह भस्म है, यह जैसे साफ ज्ञात हो जाता है, उसके न मिलने से होनेवाला मोह उसे नहीं होता वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से परिच्छिन्न यह जीव चिरकाल तक विचार द्वारा विवेक करके अपने स्वरूप का परिज्ञान कर लेने पर स्वतः कालादिपरिच्छेद शून्य हो जाता है, इसलिए मनुष्य को इसमें मोह का अवसर ही कहाँ ? ॥२०,२१॥ जिस पुरुष ने तत्त्व वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसका मन यदि मोह को प्राप्त होता है तो हो, किन्तु जिसे सार पदार्थ का परिज्ञान हो चुका है, उसकी मूढ़ता सम्भावित नहीं है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२२॥

हे जनों, अपरिज्ञात (जिसका परिज्ञान नहीं हुआ) आत्मा आप लोगों की दुःखसिद्धि के लिए हैं, क्योंकि ''यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरे कुरुते अथ तस्य भयं भवति, तत्त्वेव भयं विदूषो मन्वानस्य'' (जब यह इस आत्मा में थोड़ा भी भेद करता है, तब इसे भय होता है, ज्ञान के अपरिपाकवश उपास्य–उपासक भाव को देख रहे विद्वान को भी भय होता है) ऐसी श्रुति है। परिज्ञात आत्मा तो अनन्त सुख और शान्ति के लिए है, क्योंकि 'रसह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति', 'सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्' 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्वेति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥२३॥

जिसने आत्मा का तिरोधान कर रक्खा है, ऐसे इस शरीर से मिले–जुले हुए से अपने अपने आत्मा का पंच कोशों के विवेक द्वारा साक्षात्कार कर आप लोग शीघ्र स्वस्थ होइये। हे लोगों, जैसे कीचड़ में गिरे हुए सोने का कीचड़ के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता वैसे ही इस निर्मल आत्मा का देह के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे कमलों के आधारभूत विपुल जल और कमल के पत्ते में स्थित जल की बूँदें उपाधि से ही भिन्न हैं; वस्तुतः उनमें भेद नहीं है वैसे ही ब्रह्म और जीव उपाधिवश ही पृथक्–पृथक् हैं ॥२४,२५॥

शंका : विपुल जल के कमल के पत्ते में बिन्दुरूप से आरूढ़ होने और परिच्छेद आदि में वायु आदि निमित्त प्रसिद्ध है। पूर्णात्मा के परिच्छेद द्वारा देह में आरूढ़ होने में कौन–सा निमित्त है ?

समाधान : ठीक है, मैं बार–बार भुजाएँ फैलाकर और गला फाड़कर इस बात की घोषणा कर चुका हूँ कि आत्मा के परिच्छेद द्वारा देह में आरूढ़ होने में एकमात्र कारण पापी मन ही है, इसलिए उसके नाश के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये, पर मेरी बात को कोई सुनता नहीं है ॥२६॥

दुर्वासनारूपी पंकपूर्ण, गर्त में कछुए के समान छिपा हुआ और कठोर, भोग प्राप्ति में मार्ग के समान द्वार भी इन्द्रियों द्वारा विषयों में संलग्न, जड़ मन जब तक स्थित है, जिसने आत्मविचार को भुला दिया है, तब तक इस संसाररूपी अन्धकार का चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र, मणि आदि सब तेजों के साथ बारहों सूर्य भी तनिक भी भेदन नहीं कर सकते। प्रबुद्ध मन जब अपनी पारमार्थिक स्थिति को असत्यभूत प्रपंच से पृथक् कर देखता है, तब हृदयस्थ अज्ञानान्धकार सूर्य का उदय होने पर रात्रि के अन्धकार के समान निवृत्त हो जाता है। देहादि तादात्म्य अध्यासरूप शय्या पर शयन किये हुए मन को उत्तम ज्ञान के लिए और संसार की निवृत्ति के लिए नित्य जाग्रत करे, क्योंकि संसार अत्यन्त दुःखदायी है। जैसे धूलि से

आकाश का सम्बन्ध होने पर भी धूलि से आकाश लिप्त नहीं होता और जैसे जल से कमल का सम्बन्ध होने पर भी जल से कमल लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्बद्ध हुए शरीरों से आत्मा लिप्त नहीं होता है। जैसे पृथक् स्थित कीचड़ आदि का सुवर्ण के साथ संसर्ग होता है; किन्तु वह सुवर्णतादात्म्य आपत्तिरूप परिणति को वस्तुतः भीतर प्राप्त नहीं होता है वैसे ही जड़ शरीर का आत्मा के साथ संसर्ग तो होता है, परन्तु वह आत्मतादात्म्य आपत्तिरूप परिणाम को वस्तुतः प्राप्त नहीं होता है। जैसे आकाश में हजारों बिन्दुओं की आकृति और मलिनता असत्य ही प्रतीत होती है वैसे ही आत्मा में सुख और दुःख की अनुसारिता और अनुभवकर्तृता असत्य ही मूढ़ों को प्रतीत होती है। सुख और दुःख न तो देह के हैं और न सर्वातीत आत्मा के हैं। ये अज्ञान के ही हैं, अज्ञान का नाश होने पर किसी के भी नहीं हैं। न तो किसी का कुछ सुख है और न किसी का कुछ दुःख है। हे श्रीरामचन्द्रजी सबको आप अपनी ज्ञानदृष्टि से अनन्त आत्मा का विवर्त और नित्य प्रशान्त देखिये। जो ये विस्तृत सृष्टिदृष्टियाँ चारों ओर दिखाई देती है, वे जल में तरंगों की तरह और आकाश में पिच्छक की (卐) तरह आत्मा में ही हैं। जैसे मणि किसी प्रकार का व्यापार किये बिना अपने आप तेजोमय अपनी कान्तियों को फैलाती है वैसे ही यह आत्मा भी कार्यव्यापार के बिना अपने आप सृष्टियों का प्रसार करता है। हे सुमते, आत्मा और जगत न तो एक (अद्वितीय) हैं और न अनेक ही है, क्योंकि जगत का रूप असत् है, भाव यह है कि असत् से सत् का न अभेद कहा जा सकता है और न भेद ही कहा जा सकता है। अज्ञानकाल में यह इस प्रकार आभासमात्र ही स्फुरित होता है ॥२७-३८॥

वास्तव में तो भ्रान्ति का भी पृथक् निरूपण नहीं किया जा सकता, 'ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति में कही गई रीति से यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं।

यह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार यह सब आत्मा ही फैला है। हे अनघ, मैं पृथक् हूँ और जगत पृथक् है, इस भ्रान्ति का आप परित्याग कीजिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागर में सन्मय तरंगकल्पनाएँ नहीं हो सकती वैसे ही देशकृत परिच्छेद से शून्य, वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य कालिक परिच्छेद से हीन आत्मा में कल्पनाएँ हो ही नहीं सकती हैं ॥३९,४०॥

वास्तविक एकत्व के विरोध से भी परमात्मा में द्वैत कल्पना नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे अग्नि में हिमकण का अस्तित्व नहीं है, वैसे ही अद्वितीय सर्वात्मक परमात्मवस्तु में दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥४१॥

अब पूर्वोक्त आत्मा के परिचय से उसमें विश्राम पाने के लिए सदा उसकी भावना करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

नीर-क्षीर के समान चिद्रूपता को प्राप्त हुए मन से ही चिन्मय आत्मा की भावना कर रहा जीव माया कौटिल्यरूप मालिन्य से रहित आत्मा में स्वयं प्रकाशित होता है यानी उसी रूप से स्वयं भासित होता है ॥४२॥

आत्मभावापन्न पुरुष की जीवन्मुक्तिरूप विश्रान्ति दिखलाते हैं।

卐 आँखें आधी बन्द करके सूर्य के सन्मुख सो रहे पुरुष को भ्रान्तिवश जो मयूर की पूँछ के सदृश दिखाई देता है।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आत्मतत्त्व में न शोक है, न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्मनेवाला है। यहाँ जो है, वही है। आप संतापरहित होइये ॥४३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुख–दुःख आदि शारीरिक द्वंद्वों के विक्षेप से रहित, नित्य सत्त्व में स्थित होने के कारण रजोगुण और तमोगुण से होनेवाले मानसिक विक्षेप से शून्य अतएव शारीरिक विक्षेप और मानसिक विक्षेप की निवृत्ति के उपायभूत योग, क्षेम की चिन्ता से विहीन आत्मवान्, अद्वितीय, शोकरहित और सन्तापरहित होइये ॥४४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सर्वत्र सम, अपने स्वरूप में स्थित, स्थिर बुद्धि, शोकरहित मनवाले मुनि, मौनी, सुन्दरमणि के समान निर्मल और सन्तापरहित होइये ॥४५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अविद्या और उसके कार्यों से विशुद्ध (अविद्या और अविद्या के कार्य से रहित) शान्त संकल्प (जिनका संकल्प निवृत्त हो गया है), धीरमति, स्वाधीनचित्त, जैसे मिला उसका अनुसरण करनेवाले और सन्तापरहित होइए ॥४६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विषयों के राग से रहित, क्लेशशून्य; निर्मल, निष्पाप, न ग्रहण करनेवाले और न त्याग करनेवाले एवं सन्ताप शून्य होइये ॥४७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप संसारातीत पद को प्राप्त हुए, प्राप्तव्य वस्तु के प्राप्त होने से परिपूर्ण, पूर्ण सागर के समान क्षोभरहित और सन्ताप शून्य होइये ॥४८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विकल्पों की परम्पराओं से रहित, मायारूपी काजल से शून्य, अपने से अपने में तृप्त और सन्ताप शून्य होइये ॥४९॥

हे आत्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, आप संसार से भी विशाल शरीरवाले (सर्वव्यापक), पर्वतों के सिर के समान श्रेष्ठ यानी सुमेरु पर्वत के तुल्य धीर और सन्ताप रहित होइये ॥५०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ मिल गया उसका भोग करने, सभी जगह अभिलाषा न करने तथा त्याग और ग्रहण का परित्याग करने से आप सन्ताप शून्य होइये ॥५१॥ पूर्ण सागर के समान अपने से ही अपने में पूर्णकामता का सेवन कीजिये। पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान अपने से ही अपने में सब तापों की निवृत्ति के सुख का अनुभव कीजिये ॥५२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सारी प्रपंच रचना असत्य है। यह असत्य है, ऐसा जाननेवाला तत्त्वज्ञ पुरुष असत्य स्वरूप का अनुगमन नहीं करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तत्त्वज्ञानी है, आपकी कल्पनाएँ शान्त हो गई है, आप दोषरहित, नित्यप्रकाश और शोकरहित होइये ॥५३॥

यदि तत्त्वज्ञ पुरुष असत्य वस्तु का अनुसरण नहीं करता है, तो राज्य आदि से मेरा क्या प्रयोजन है, मेरे लिए तो संन्यास का ग्रहण कहना ही उचित है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी का आशय इंगित द्वारा समझ कर कहते हैं।

पिताजी द्वारा प्रदत्त एकच्छत्र राज्य का अपने गुणों से राजाओं और प्रजाओं को प्रसन्न कर आप समान दृष्टि से चिरकाल तक पालन कीजिये। प्रारब्ध होने के कारण अवश्य भोगयोग्य कर्मों और उनके फलों का न त्याग उचित है और न उनमें राग उचित है ॥५४॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

पहले कर्मगतियों को कहकर जीवन्मुक्तिरूप अन्तिम जन्मवालों की
जीवन्मुक्ति के लिए गुण प्राप्ति में साधारण क्रम का कथन।

आगे कहे जानेवाले गुणोपार्जन क्रम का प्रकृत में सम्बन्ध दिखाने के लिए प्रस्तुत अनासक्ति से किये गये अप्रतिषिद्ध कार्यों में प्रवृत्ति द्वारा जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष 'मैं श्रुति, स्मृति और सदाचार से प्राप्त, सकल व्यवहार को अयस्कान्त मणि के समान केवल अपनी सन्निधि से करता हूँ', यों वासनारहित होकर कार्यों में प्रवृत्त होता है, अज्ञानी के समान कर्तृत्वाभिमानपूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, वह मुक्त है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥१॥

कर्मफलों में आसक्ति होने के कारण ही अज्ञानियों को अनर्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं।

मनुष्य शरीर को पाकर भी कोई मूढ़ अनासक्ति से कर्मानुष्ठानरूप इस क्रिया में रत नहीं होते, वे कामात्मा पुरुष स्वर्ग का भोग करके नरक में जाते हैं और नरक से फिर स्वर्ग में आते हैं ॥२॥ निषिद्धकर्म में निरत और सत्कर्म से विरत कोई लोग नरक से नरक, दुःख से दुःख और भय से भय को प्राप्त होते हैं। श्रुति भी है – विहितस्याऽननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्। अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ (विहित कर्मों को न करने से, गर्हित कर्मों के आचरण से और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता से मनुष्य का पतन होता है) ॥३॥ नरकों में उपभुक्त दुष्कर्म फलों के क्रम से तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुए, अपने वासनारूप तन्तुओं से बँधे हुए कोई जीव तिर्यग् योनि से वृक्ष आदि स्थावर योनि को प्राप्त होते हैं, उनसे फिर तिर्यग् योनि को जाते हैं ॥४॥

राजस–तामस और शुद्धतामस जीवों को कह कर शुद्धसात्त्विक जीवों को कहते हैं।

कोई आत्मज्ञानी धन्य पुरुष, जिन्होंने मन के साक्षी आत्मा का विचार कर लिया और जिनकी तृष्णारूपी बन्धन श्रृंखला टूट गयी हो, वे कैवल्यरूप पद को प्राप्त होते हैं ॥५॥

राजस–सात्त्विकों को दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले उत्तरोत्तर उत्कृष्ट कुछ ही मनुष्य जन्मों को भोग करके जो इस जन्म में मुक्त हो गया, इसीलिए वह राजस–सात्त्विक है ॥६॥

उसकी शान्ति आदि गुणों से अभिवृद्धि कहते हैं।

उत्पन्न होकर वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त होता है। जैसे वर्षा ऋतु में कुटज के वृक्ष को पुष्प शोभा प्राप्त होती है, वैसे ही उसे साधन चतुष्टय सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥७॥ हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसमें ब्रह्मविद्या की उपायभूत सब निर्मल विद्याएँ शीघ्र ऐसे प्रविष्ट होती हैं, जैसे उत्तम बाँस में निर्मल मोती प्रविष्ट होते हैं। जैसे अंगनाएँ अन्तःपुर का आश्रय लेती हैं वैसे ही पूज्यता, मनोहरता, मैत्री, सौम्यता, कृपा और अपरोक्ष ज्ञान नित्य उसका आश्रय लेते हैं। सब कार्यों को कर रहा जो पुरुष फल के बढ़ने या नष्ट होने पर सब कर्मों में सम होकर, न प्रसन्न होता है, न शोक करता है, उसमें दिन में अन्धकार राशि के समान सुख, दुःख आदि सब द्वन्द्व नष्ट हो

जाते हैं एवं जैसे शरद् ऋतु में मेघ स्वच्छ हो जाते हैं वैसे ही उसमें पहले मलिन भी धैर्य, श्रद्धा आदि सब गुण निर्मलता को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे वन में वायु से छिद्रों के पूर्ण होने के कारण मधुर ध्वनिवाले बाँस को सब मृग चाहते हैं वैसे ही कोमल आचार से मधुरतावाले उस पुरुष को सब लोग चाहते हैं। जैसे उत्पन्न होते ही मेघ के पीछे बक पंक्ति दौड़ती है, वैसे ही इस प्रकार की गुणशोभाएँ अन्तिम जन्मवाले पुरुष का बचपन से ही अनुसरण करती है ॥८–१३॥

इस प्रकार गुणों की सम्पत्ति होने पर गुरुमुख से श्रवण में अधिकार होता है। अपक्व चित्तवाले पुरुषों का गुरुमुख से श्रवण में अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं।

तदनन्तर गुणों से परिपूर्ण वह जीवन्मुक्त पुरुष गुरु का ही अनुगमन करता है। गुरु उसे आत्मतत्त्व एवं अनात्मतत्त्व के विवेक में उपायों का उपदेश देकर अपनी बुद्धि से भी मननरूप पवित्र कार्य में प्रवृत्त करता है ॥१४॥

इस प्रकार के गुणों से परिपूर्ण पुरुष को ही गुरुपूर्वक श्रवण आदि से साक्षात्कार प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर विचार–वैराग्यवाले गुणशाली चित्त से आनन्दैकरस निर्विकार स्वयं–प्रकाश आत्मा का वह साक्षात्कार करता है ॥१५॥ यह विचार से सुन्दर तथा शान्तचित्त से पहले आभ्यन्तर मनोमनन को ज्ञान के लिए बढ़ाता है। जो अन्तिम जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुष हैं, वे महागुणी पुरुष सोये हुए मनरूपी मृग को ऐसे बोधित करते हैं, जैसे वह निर्गुण ब्रह्म ही हो जाता है ॥१६,१७॥

पूर्वोक्त अर्थ का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

वे पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न अन्तिम जन्मवाले मनुष्य जिनके जीवन्मुक्तिरूप सुगुण प्रख्यात हैं, ऐसे सद्‌गुरुओं की प्रयत्न से सेवा कर उनसे प्रदर्शित युक्तियों से निर्मल हुई बुद्धि द्वारा चित्त के अन्तर्गत प्रत्यगात्मरूप रत्न का विचार कर, चित्त के अन्दर प्रकाशमान, प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का चिरकाल तक साक्षात्कार कर उनके साक्षात्कार मात्र से ही ब्रह्मभाव आपत्तिस्वरूप निर्मल (माया और उसके कार्यरूपी मल से निर्मुक्त) परम पुरुषार्थरूप गति को अपने स्थान में ही प्राप्त करते हैं। उपासक के समान उत्क्रमणपूर्वक लोकान्तर में जाकर नहीं, यह मतलब है ॥१८॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

अपने विचार से कुछ व्युत्पन्न चित्तवाले पुरुष की
आकाश से फल पतन के समान ज्ञानप्राप्ति का वर्णन।

पूर्वोक्त साधारण क्रम का अनुवाद कर किसी बड़भागी पुरुष का पूर्वोक्त क्रम के बिना ही प्राप्त एकमात्र अपने विचार से ही सहसा सर्वगुण सम्पत्ति सहित ज्ञानोदय रूप विशेष दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे कमलनयन, यह (पूर्वोक्त) सब देहधारियों का साधारण क्रम मैंने आपसे कहा। इस समय आप नीचे कहे जा रहे दूसरे क्रम को सुनिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसाराडम्बर में उत्पन्न हुए देहधारी जीवों को मोक्षरूप फल देने में समर्थ ये (पूर्वोक्त और आगे कहा जा रहा) दो उत्तम

क्रम हैं। उनमें से एक तो यानी पूर्वोक्त क्रम गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करने से धीरे-धीरे एक जन्म से अथवा अनेक जन्मों से मोक्षरूप सिद्धि देनेवाला कहा गया है। दूसरा (आगे कहा जा रहा) क्रम है : दैववश प्राप्त जीव और जगत तत्त्व के विचारवाले लोगों को स्वयं ही शीघ्रता से आकाश से फल पतन के तुल्य ज्ञान प्राप्ति होती है ॥१-४॥

दूसरे क्रम में जनक की आख्यायिका का दृष्टान्त देनेवाले श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

उक्त क्रम में आकाश से फल गिरने के तुल्य ज्ञानप्राप्ति के लिए इस प्राचीन वृत्तान्त को आप सुनिये, मैं आपसे कहता हूँ ॥५॥ हे सकलैश्वर्यसम्पन्न श्रीरामचन्द्रजी, अन्तिम जन्मवाले महानुभाव पुरुष, जिनके पूर्वसंचित पुण्य-पापरूप मोक्ष के प्रतिबन्ध नष्ट हो चुके हैं, निर्मल परम विवेक को जैसे आकाश से गिरे हुए फल के तुल्य प्राप्त करते हैं वैसी वक्ष्यमाण कथा को आप सुनिये ॥६॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

वसन्त ऋतु में उपवन में विहार कर रहे श्रीजनकजी ने सिद्धों द्वारा गीत शुभ श्लोक सुने, यह वर्णन।

महाबली उदारमति श्रीजनकजी विदेह देशों के शासक थे उनकी सब आपत्तियाँ निवृत्त हो चुकी थी और दिन दूनी और रात चौगुनी सम्पत्ति बढ़ रही थी। वे याचकों के (मनोरथ पूर्ण करने के कारण) कल्पवृक्ष थे, इष्टमित्ररूपी कमलों के सूर्य के तुल्य विकासकारी थे, बन्धुबान्धवरूपी फूलों की वसन्त ऋतु के तुल्य अभिवृद्धि करनेवाले थे, स्त्रियों के कामदेव तुल्य रतिवर्द्धक थे, ब्राह्मणरूपी कुमुदों के लिए चन्द्रमा थे यानी चन्द्रमा के तुल्य उल्लासक थे, शत्रुरूपी अन्धकार के लिए भास्कर थे यानी भगवान सूर्य के तुल्य उसके निवर्तक थे, सौजन्यरूपी मणियों के सागर थे और भगवान के तुल्य पालन के लिए वे पृथिवी में स्थित थे ॥१-३॥ किसी समय फूली हुई छोटी-छोटी लताओं से बढ़ी हुई वसन्त ऋतु में, जो मतवाले के समान बढ़ रही थी, कोकिलों के गानों से मानों नाच रही थी और मंजरियों की राशियों से पीली थी, महाराज जनक जैसे देवराज इन्द्र सुन्दर नन्दनवन में जाते हैं वैसे ही, जिसका सारा भाग प्रफुल्लित था, सुन्दर विलासवाली लताओं और महिलाओं से भरा था उस सुन्दर उपवन में लीला से गये। उस मनोरम श्रेष्ठ उपवन में, जिसमें केसरों में स्थित पराग, सुगन्धि और मकरन्द के कणों को हरने में : न कि धूलि उड़ाने आदि में समर्थ उद्दाम यानी मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु बह रहे थे, अनुचरों को दूर रखकर उन्होंने क्रीड़ाशैल के शिखरों पर उगे हुए लतागृहों में विचरण किया ॥४-६॥

हे कमलनयन, तदनन्तर उन्होंने किसी तमालवृक्ष की झाड़ी में छिपे हुए, सदा पर्वतों की गुफाओं में विचरण करनेवाले, एकान्त में निवास करनेवालो सिद्धों की अपने अनुग्रह के लिए कही गई तथा श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासों से गीत आत्मतत्त्व की श्रवण मात्र से साक्षात् भावना करानेवाली निम्नलिखित गीताएँ सुनी ॥७,८॥

सिद्धों ने कहा : चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा विषयों के प्रमाता का स्त्रकचन्दन, वनिता आदि विषय के

साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न हुई विषयाकार बुद्धिवृत्ति में स्वयं प्रकाशमान जो आनन्दरूप निश्चय है, तद्रूप आत्मतत्त्व के परिशोधन द्वारा निरतिशय भूमारूप से आविर्भूत आत्मा का, निर्विकल्प समाधि द्वारा बाहरी और अन्तःकरण के स्पन्द का त्याग कर, हम निरन्तर (अनुभव) करते हैं। भाव यह कि विषयाकारवृत्ति में स्वयं प्रकाशमान आनन्द विषय कोटि में नहीं आ सकता, क्योंकि उसे विषय मानो तो वह जड़ हो जायेगा। कर्ता, करण और वृत्तिकोटि में भी नहीं आ सकता, क्योंकि वे कारक है। आनन्दरूप, साध्य का तदवयव (साधन का अंग) होना अनुभव विरुद्ध है। इसलिए वह साक्षिकोटि में ही आता है। साक्षी ही अविद्यारूपी आवरण से मन्द चिदानन्द स्वभाववाला होकर अन्य अहंकारात्मा की कल्पना कर मानों उसकी अंगता को प्राप्त हुआ–सा निरतिशय आनन्दरूप अपने आत्मा को नहीं जानता है; अतएव उसी स्वतत्त्व के विचार से आविर्भूत निरतिशयानन्दस्वभाव की समाधिस्थ मन से हम उपासना करते हैं। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (इसी आनन्द की मात्रा का एक अंश का अन्य प्राणी उपजीवन करते हैं) इस श्रुति से ब्रह्मानन्द की ही अविद्या द्वारा विषयाकारवृत्ति के परिच्छेद से विषयानन्दत्व प्रतीति होती है ॥९॥

औरों ने कहा : द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इस त्रिपुटी का वासना के साथ त्यागकर चक्षु, मानस आदि वृत्तियों के पहले ही उन वृत्तियों की उत्पत्ति में साक्षीरूप से भासमान आत्मा की हम लोग उपासना करते हैं। द्रष्टा आदि त्रिपुटी के त्याग से दो अवस्थाओं का (जाग्रत–स्वप्न का) त्याग कहा। 'वासना के साथ' इससे तो पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं की बीजभूत वासना से पूर्ण सौषुप्त अज्ञान का भी निरास कहा। 'चाक्षुष मानस आदि वृत्तियों के पूर्व ही उनकी उत्पत्ति में साक्षीरूप से भासमान' इससे पहले से सिद्ध त्रिपुटी का साक्षी सर्वानुभव सिद्ध है, यों पृथक् करके दर्शाया है। उसी बीजसहित त्रिपुटी के त्याग से तुरीय आत्मा की हम लोग उपासना करते हैं, यह अर्थ है ॥१०॥

दर्शन के (मानस–चाक्षुषवृत्ति के) पहले उनकी उत्पत्ति का साक्षीरूप जो तत्त्व है, उसके विषय में जो लोग अस्ति, नास्ति इस प्रकार का संदेह करते हैं, उनके प्रति भी दोनों (अस्ति–नास्ति) पक्षों के अविरुद्ध साक्षी को दर्शाते हुए दूसरे सिद्ध लोग कहते हैं।

जो लोग–मानस, चाक्षुष आदि वृत्तियों के पहले से ही सिद्ध उनकी उत्पत्ति का साक्षीभूत तत्त्व है, परन्तु वह भी जन्य ही है, नित्य नहीं है– ऐसा कहते हैं, उनके पक्ष में पूर्व–पूर्व के आभासों के स्वप्रकाशता अथवा स्वविषयता दोनों पक्षों में स्वमात्र के भान में परिक्षीण होने से वे पूर्वोत्तर विज्ञानों का स्पर्श नहीं कर सकते। इसलिए उनमें उनकी (पूर्वोत्तर विज्ञान की) उत्पत्ति आदि की साक्षिता नहीं हो सकती। स्वयं अपनी उत्पत्ति आदि का साक्षी तो हो नहीं सकता, क्योंकि अपनी उत्पत्ति के पहले वह स्वयं असिद्ध है, इसलिए कोई दूसरा ही साक्षी आवश्यक है, अतएव अस्ति पक्ष के मध्यगत और अविरुद्ध एवं जो लोग साक्षी नहीं है, ऐसा कहते हैं उनकी नास्तिकता भी साक्षीरहित होने के कारण असिद्ध ही है, अतएव उस पक्ष का साधक होने से उस पक्ष के मध्यगत और उसके अविरुद्ध तथा प्रकाश्यों का प्रकाशक जो नित्य आत्मा है, उसकी हम उपासना करते हैं ॥११॥

औरों ने कहा : जिसमें यह सब है, जिसका यह सब है, जिससे यह सब है, जिसके लिए यह सब है, जिसके द्वारा यह सब है। जो यह सब है उस सत्य की हम उपासना करते हैं।

औरों ने कहा : 'अ' सिर के समान जिसका प्रथम वर्ण है और 'ह' जिसके अन्त में है यानी अकारादि-हकारान्त समस्त वस्तुओं के प्रकाशक वेद-शास्त्र आदि शब्दसमूह के प्रकृतिभूत मस्तर्व का अक्षरसमाम्नाय में (आकारादि हकारान्त समुदाय में) निवेश होने से सम्पूर्ण जगत के आकारवाले सप्रपंच ब्रह्म में अनुगत, 'अह्मोतिव्याप्नोति' इस व्युत्पत्ति द्वारा अशेषाकार यानी आकाररहित निर्गुण ब्रह्म में भी स्थित तथा निरन्तर क्रियमाण स्वव्यवहारों में उच्चार्यमाण अहंपद के वाच्य स्वात्मभूत ब्रह्मात्मा की हम लोग निरन्तर भावना करते हैं ॥१२,१३॥

औरों ने कहा : हृदय गुहा में स्थित देदीप्यमान ईश्वर का त्याग कर जो लोग अन्य के पास जाते हैं, वे हाथ में आये कौस्तुभमणि का त्याग कर अन्य रत्नों की चाह करते हैं ॥१४॥

औरों ने कहा : सम्पूर्ण आशाओं का त्याग कर हृदय में स्थित ज्ञान का फलरूप यह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिसके लाभ से वासनाजालों से जटिल हृदयग्रन्थि कट जाती है, जो विषवल्लियों की मूल परम्परा है ॥१५॥ औरों ने कहा : जो दुर्बुद्धि पुरुष भोग्य विषयों में अत्यन्त नीरसता को जानकर भी उनमें भोग तृष्णा करता है, वह नर नहीं है, वह गधा है ॥१६॥ औरों ने कहा : जैसे इन्द्र वज्र से पर्वतों के ऊपर प्रहार करते हैं वैसे ही पुनः पुनः उठे हुए इन इन्द्रियरूपी संगों पर विवेकरूपी दृष्टि से प्रहार करना चाहिये ॥१७॥ औरों ने कहा : पवित्र उपशम सुख को प्राप्त करे। शमवान पुरुष का विशुद्ध चित्त शान्ति को प्राप्त होता है। जिस पुरुष का चित्त उपशम को प्राप्त हो गया, उसकी निरतिशय सुखरूप अपने स्वरूप में चिरकाल तक उत्तम स्थिति होती है ॥१८॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवाँ सर्ग

यह सुनकर निर्वेद से घर आये हुए राजा का अर्थों के मूल कारण के विचार से मन का निर्णय कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : सिद्धगणों से गाई गई इस गीताओं को सुनकर राजा जनक जैसे डरपोक आदमी रण के कोलाहल से दुःखी होता है वैसे ही शीघ्र दुःखी हुए ॥१॥ अपने परिवार को ले जा रहे वे अपने घर के प्रति ऐसे गये जैसे नदी का वेग अपने तीरवर्ती वृक्षों से अनुगत होकर सागर को जाता है। अपने सारे परिवार को अपने-अपने घर में छोड़कर जैसे सूर्य उदयाचल पर चढ़ते हैं वैसे ही वे अकेले ही उत्तम महल पर चढ़े। वहाँ पर उड़ने के लिए तत्पर पक्षियों के डैनों (पंखों) के समान चंचल लोकगति को देख रहे राजा ने व्याकुल होकर यह विलाप किया। बड़े खेद की बात है कि जीवों की जन्म, जरा, रोग, मरण आदि से चंचल अति कष्ट देनेवाली दशाओं में जो पत्थरों पर पत्थरों के समान जबर्दस्ती मैं लोट रहा हूँ। जिस काल का अन्त ही नहीं, उसका एक अतिसूक्ष्म अंश मेरा जीवन है, उस जीवन में मैं आशा रखता हूँ, मुझ जड़ को धिक्कार है। जीवितपर्यन्त रहनेवाला मेरा यह राज्य कितना है ? केवल इससे ही सन्तुष्ट होकर मैं मूर्ख के समान आनेवाले दुःखों के प्रतिकार की चिन्ता के बिना क्यों बैठा हूँ ? मैं आदि और अन्त में अनन्त हूँ। मध्य में तुच्छ थोड़ा-सा जीवनवाला हूँ। जैसे बालक चित्र में लिखे गये चन्द्रमा से ही आश्वासन को प्राप्त होता है, जो कि चन्द्रमा की बुद्धि से ज्ञात है, न कि वास्तविक चन्द्रमा है, वैसे ही आत्मरूप से ज्ञात इस देह से मैं व्यर्थ आश्वासन को क्यों प्राप्त हुआ ? किस ऐन्द्रजालिक ने

प्रपंचरहित इन्द्रजाल द्वारा मुझे मोहित किया ? ओह ! कष्ट है कि मैं अत्यन्त मोहित हो रहा हूँ। जो सत्य है, जो एकमात्र सुखरूप है, जो अपरिच्छिन्न है और जो अजन्य है, ऐसी कोई वस्तु इस संसार में है ही नहीं। मेरी बुद्धि कहाँ विश्रान्त हो ? ॥२–१०॥

यदि कोई शंका करे दूर देश में शायद कोई वैसी वस्तु प्रसिद्ध हो। इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

दूरस्थरूप से प्रसिद्ध भी जो कोई वस्तु है, वह वस्तुतः समीपस्थ ही है, क्योंकि वह मेरे मन में विद्यमान है। मन देह के बाहर दूर तो जाता नहीं है। यदि वह दूर जाये, तो दूर में ही उसकी प्रतीति का अनुभव होगा, न कि हृदय में। हृदय में ही सब लोग बाह्य वस्तु के बोध का अनुभव करते हैं, इसलिए भीतर भासमान दूर आदि की कल्पना भी वास्तविक नहीं है, किन्तु अनर्थ ही है, अतः दूर आदि की कल्पना त्याज्य ही है, उपादेय नहीं है, ऐसा निश्चय करके मैं बाह्य अर्थ की भावना का त्याग कर रहा हूँ॥११॥ लोगों के भोग के लिए धनोपार्जन आदि में प्रवृत्तिरूप जो आवेग है, वह जल की भँवरी की तरह नश्वर तथा जन्म, मरणआदि दुःख हेतु प्रायः देखा गया है। इसलिए आज भी विषय–सुख के प्रति मेरी यह आस्था कैसी ? ॥१२॥ प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन, प्रतिक्षण जो दुःख से निबिड़ सुख हैं वह दुख ही हैं। इस संसार में कुछ काल तक देखे गये, तदनन्तर तुरन्त नष्ट हुए स्वराज्य आदि पद का अत्यन्त तुच्छ होने के कारण चिन्तन भी मैंने नहीं किया। सर्वोच्च जो ऐन्द्र, प्राजापत्य आदिपद हैं, उनका अच्छी तरह विचार किया, किन्तु जहाँ विवेकी पुरुषों की आत्यन्तिक विश्रान्ति होती है, वैसी कोई वस्तु यहाँ है ही नहीं॥१३,१४॥ आज जो बड़े लोगों के मस्तक पर विराजमान यानी महत्तम हैं, वे कुछ ही दिनों में नीचे गिर जाते हैं, हे दुष्ट चित्त भला बतलाओ तो सही महत्ता में (राज्य आदि के वैभव के उत्कर्ष में) मेरा क्या विश्वास हो ? ॥१५॥ मैं बिना रस्सी के ही बँधा हूँ। बिना पंक के ही कलंक से युक्त हूँ। सबसे ऊपर स्थित होकर भी नीचे गिरा हूँ। ओह ! स्वरूप में मेरी जो स्थिति है, वह नष्ट हो गई। यद्यपि मैं बुद्धिमान हूँ तथापि जैसे सूर्य के सामने प्रकाश को आच्छादित करनेवाला काला मेघ आता है, वैसे ही मेरे सामने आत्मप्रकाश को आच्छादित करनेवाला यह मोह कहाँ से आया ? ये महाभोग मेरे कौन हैं ? ये बन्धुगण मेरे कौन हैं ? जैसे बालक भूत के भय से व्याकुल हो उठता है वैसे ही मैं इसमें ममतारूप सम्बन्ध की कल्पना से व्याकुल हो गया हूँ। इस भोगों में जरा, मरण को प्राप्त करानेवाली एवं उद्वेग देनेवाली इस आस्था को मैं स्वयं ही क्यों बाँध रहा हूँ ? यह भोग और बान्धव आदि की सम्पत्ति भले ही अच्छी तरह से चली जाय या रहे, इसके प्रति मेरा क्या आग्रह है ? बुद्बुद् की शोभा की भाँति यह मिथ्या ही इस प्रकार प्राप्त हुई है॥१६–२०॥ पृथु, मरुत्त आदि चक्रवर्ती राजाओं के वे महाविभव, वे सुन्दर गुणवाले, स्नेहयुक्त बान्धव सभी इस समय जब स्मृति शेष हो गये हैं यानी वे विद्यमान नहीं है, तब फिर वर्तमान में भी क्या आस्था ? प्राचीन राजाओं के प्राक्तन धन कहाँ गये, पूर्वकल्पीय ब्रह्मा के प्राचीन जगत कहाँ गये, यानी सभी नष्ट हो गये, तो फिर धन आदि में मेरी क्या आस्था हो ? जैसे जल में बुद्बुद् काल से नष्ट हो जाते हैं वैसे ही लाखों इन्द्र काल द्वारा नष्ट कर दिये गये, इसलिए यदि मैं जीवन में आस्था बाँध रक्खूँ, तो विवेकी लोग हँसेंगे। करोड़ों ब्रह्मा नष्ट हो गये, सृष्टि परम्पराएँ बीत गई, धूलि की तरह राजा लोग मिट्टी में मिल गये। भला मेरे जीवन में क्या विश्वास है ? संसाररूपी रात्रि के दुःस्वप्नभूत, देहमय, अहंताममताव्यवहार भ्रम में यदि मैं आस्था रखता हूँ, तो

मेरी इस अविवेकिता को धिक्कार है। शरीर सन्निहित वस्तु में अपरोक्षता की कल्पना, शरीर विप्रकृष्ट वस्तु में परोक्ष की कल्पना और शरीर में आत्मता की कल्पना यह तीन प्रकार की कल्पना असत्यरूप ही है। अहंकाररूपी पिशाच के द्वारा मोहित हुआ मैं क्यों अज्ञ की नाईं इतने काल तक विचाररहित होकर स्थित हूँ ? मैं इस क्षण, निमेष, मुहूर्त आदिरूप फैली हुई कालरेखा से प्रतिक्षण नष्ट हो रही अपनी आयु को देख रहा हूँ फिर भी मैं न मालूम क्यों नहीं विचार करता हूँ ? जिन्होंने ब्रह्मा आदि उत्तम अधिकारियों को अपने चरणों पर झुका दिया एवं विष्णु आदि की देह को खेलने की गेंद की भाँति युद्ध आदि के समय आकाश में फेंक दिया, ऐसे कालरूपी रुद्र भी जब महाकाल द्वारा नष्ट कर दिये गये, तो हे जीवित आशा, मेरे अन्दर तुम क्यों नृत्य कर रही हो ? वे दिन निरन्तर अब भी आते हैं और इस अवस्था में भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं। आज तक कोई भी दिन नहीं देखा, जिसमें नित्य, एक, निर्दोष और आन्दैकरस वस्तु प्राप्त हुई हो। जैसे तालाब में हंस स्फुरित होते हैं वैसे ही सम्पूर्ण मनुष्यों के चित्त में ये भोग ही स्फुरित होतें हैं; किन्तु प्रत्यगात्मभूत परमपद का साक्षात्कार स्फुरित नहीं होता। मैं कष्ट से भी अत्यन्त कष्ट को प्राप्त हुआ, दुःख से भी अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुआ; परन्तु आज भी विरक्त नहीं हुआ। हा ! राग, लोभ आदि से दूषित होने के कारण अधम चित्तवाले मुझे धिक्कार है। जिन-जिन उत्तम विषयों में मैंने दृढ़ प्रीति बाँधी, उन-उन विषयों का भी विनाश जब देखा गया, तब भला इस संसार में उत्तम वस्तु क्या है ? मध्यकाल में जो मनोहर है यानी युवावस्था, परिणाम में जो मनोहर है यानी भ्रम एवं अविचार से जो मनोहर है यानी विषय, विनाशरूपी अशुद्धि से दूषित वैसे अपवित्र हैं। जिन-जिन पदार्थों में मनुष्य अपनी आस्था बाँधता है, उन-उन पदार्थों में उस मनुष्य के दुःख का प्रादुर्भाव बार-बार देखा गया है ॥२१-३४॥

बाद में भी अज्ञ पुरुष के सुख की आशा नहीं है, यह कहते हैं।

इस संसार में अज्ञ मनुष्य प्रत्येक दूसरे दिन राग और लोभ की अभिवृद्धि से अत्यन्त पापमयी, हिंसा आदि कर्मों में प्रवृत्ति द्वारा अत्यन्त क्रूर तथा फलकाल में खेद देनेवाली दशा को प्राप्त होते हैं। अज्ञ पुरुष, जो बाल्यावस्था में अज्ञान से पीड़ित रहता हैं, युवावस्था में काम से पीड़ित रहता है तथा शेष अवस्था में (वृद्धावस्था में) स्त्री के सहित कुटुम्ब के पालन-पोषण की चिन्ता से पीड़ित रहता है, कब अपने उद्धार का साधन करता है ? यानी कभी नहीं करता। दुर्मति पुरुष आदि और अन्त में अत्यन्त असत्य, भोगकाल में भी विरस, दरिद्र, रोग, वार्धक्य आदि दशाओं से दूषित तथा असार होते हुए भी सारबुद्धि से गृहीत इस संसार को, जो देख रहा है, वह किसलिए ? यानी संसारदर्शन का कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥३५-३७॥

यदि कोई शंका करे कि 'यन्न दुःखेन संभिन्नम्' इत्यादि श्रुति से (📖) बतलाये गये लक्षण से युक्त स्वर्ग क्या सारभूत नहीं है ? उस पर कहते हैं।

सुकृति पुरुष राजसूय, अश्वमेघ आदि सैकड़ों यज्ञों को करके महाकल्पपर्यन्त भोग्य भी स्वर्ग को

📖 यन्न दुःखेन संभिन्नं न च प्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ॥ अर्थात् जो दुःख से मिश्रित न हो, न किसी की अपेक्षा न्यून हो और बिना प्रयत्न के इच्छामात्र से प्राप्त हो, वह सुख स्वर्गपद से कहा जाता है।

प्राप्त होता है, जो महाकाल की दृष्टि से क्षणमात्र भोग्य अतएव अल्प ही है, किन्तु अधिक की (अपरिच्छिन्न अनन्त की) प्राप्ति उसे नहीं होती। इसलिए वह भी असार ही है, यह भाव है ॥३८॥

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।

(शरीरधारी प्राणी के प्रिय एवं अप्रिय का वारण नहीं होता है)

इस श्रुति के अनुसार तथा स्वर्गवासियों की भी असुर आदि से पीड़ा के श्रवण से स्वर्ग में दुःख का असम्बन्ध भी असम्भव है, इस आशय से कहते हैं।

भूमि अथवा पाताल में स्वर्ग नाम का कौन सा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भँवरियों की भाँति ये आपत्तियाँ अभिभूत नहीं करती ?॥३९॥

देह का अभिमान रहने पर आधि–व्याधि के दुर्निवार होने के कारण अज्ञ पुरुष को कहीं भी विश्रान्ति नहीं मिलती है, इस आशय से कहते हैं।

अपने चित्तरूपी बिल के सर्प जो आधियाँ हैं एवं शरीररूपी स्थल के पल्वल (छोटे जलाशय) जो व्याधियाँ है, इनका भला कैसे निवारण किया जा सकता है ? ॥४०॥

विनाशी एवं दुःखमिश्रित होने के कारण सम्पूर्ण दृश्य की अभद्रता दिखलाते हैं।

वर्तमानकालिक दृश्य के सिर पर विनाश, मनोहर पदार्थों के सिर पर अरम्यता एवं सुखों के सिर पर दुःख विद्यमान हैं। यानी वर्तमानकालिक दृश्य, मनोहर पदार्थ और सुख ये सभी क्रमशः विनाश, अरम्यता और दुःख से व्याप्त हैं। भला कौन ऐसी मुक्त वस्तु है, जिसका मैं आश्रय करूँ ॥४१॥ अज्ञान से विमोहित क्षुद्र प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। पृथ्वी इन्हीं लोगों से निबिड़ है। उत्तम महात्मा लोग दुर्लभ हैं ॥४२॥ नीलकमल के तुल्य मनोहर और भ्रमर के तुल्य चंचल नेत्रवाली, अतिशय प्रीतिरूप भूषण से युक्त (अत्यन्त अनुरागवाली) स्त्रियाँ भी क्षणमात्र में विनाशी होने के कारण उपहास के ही योग्य हैं ॥४३॥

यदि कोई शंका करे कि राजा होने के कारण निग्रह और अनुग्रह में समर्थ, उत्तम पुरुषरूप आपको विषयों में आश्वासन क्यों न प्राप्त होगा ? इस पर कहते हैं।

जिनके नेत्रनिमीलन और नेत्रोन्मीलन से प्रलय और सृष्टि होते हैं, वैसे पुरुष भी जब विद्यमान हैं, तो मेरी क्या गणना है ? भाव यह है कि ब्रह्मा आदि महापुरुषों को भी जब आश्वासन नहीं प्राप्त हुआ, तो मेरी क्या गणना है ? मनोहर से भी मनोहर एवं स्थिर से भी स्थिर पदार्थ हैं; परन्तु इन पदार्थों की शोभा का फल उपार्जन, रक्षण, वियोग आदि से चिन्तारूप ही है; इसलिए क्यों उसकी इच्छा करते हो ? विविध रत्न, घोड़े, हाथी, धन, स्त्री आदि के भेद से विचित्र सम्पत्तियाँ यदि चित्त से आदरणीय हें, तब वे भी बहुत प्रयत्नों से प्राप्त करने योग्य, दुःख से रक्षा करने योग्य अवश्य नष्ट होनेवाले होने के कारण महाआपत्तियाँ ही हैं, ऐसा मेरा मत है ॥४४–४६॥ इसी तरह यदि दरिद्रता, बन्धुनाश, राज्यनाश आदि आपत्तियाँ भी साधु संगति, तीर्थ तपस्या, ज्ञान आदि की प्राप्ति करा देने से विचित्र अतएव कल्याणकर ही हैं, यों मन में भान हो, तो वे भी विवेक, वैराग्यआदि महाआरम्भ से युक्त सम्पत्तियाँ ही है, यों मैं मानता हूँ ॥४७॥

इसलिए असत्यभूत जगत में ममता की अभिवृद्धि ही विपत्ति है, विवेक से ममता का परिक्षय ही

सम्पत्ति है, इस आशय से जगत में ममता की अयोग्यता दिखलाते हैं।

समुद्र में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की भाँति क्षणविनाशी, मिथ्याभूत, एकमात्र मन के विवर्त जगत में 'मेरा यह है' यह अपूर्व पदवाक्यरूप अक्षर–पंक्ति किधर से आई ? यानी निरर्थक ही है ॥४८॥ काकतालीय न्याय से अकस्मात अविचार से सम्पन्न इस जगत स्थिति में भोग लम्पट इस मन ने व्यर्थ ही हेय और उपादेय की कल्पना की है ॥४९॥ जैसे परिच्छिन्न एवं सन्तप्त अग्निशिखाओं में पतंगे अनुरक्त रहते हैं वैसे ही देश, काल और वस्तु की सीमा से परिच्छिन्न, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तापों से संतप्त किन सुखनाम की दृष्टियों में मैं अनुरक्त हुआ हूँ ? ॥५०॥

अभ्यासवश निरन्तर दुःख का भोग सह्य भी हो सकता है; परन्तु सुख भोग से अभ्यास के विच्छिन्न हो जाने पर दुःख भोग दुःसह हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

निरन्तर दाह से युक्त रौरव की अग्नि में लोटना अच्छा है, परन्तु विच्छिन्न सुख–दुःख के परिवर्तन से युक्त संसार की अवस्थाओं में स्थिति करना अच्छा नहीं है ॥५१॥

सुख सुख नहीं है; किन्तु दुःख विशेषरूप ही है, इसका युक्ति से उपपादन करते हैं।

संसार ही सब दुःखों की चरम सीमा है, उसके मध्य में जब देह गिर गई, तब कैसे सुख प्राप्त हो सकता है ? ॥५२॥ स्वाभाविक महादुःख से पूर्ण इस संसार में जो स्थित हैं; वे लोग जैसे तलवार के आघात की अपेक्षा कोड़े का आघात सुखकर मालूम होता है वैसे ही महादुःख की अपेक्षा कुछ अल्प दुःख को ही सुखकर मानते हैं। *संसार में आत्यन्तिक सुख की सत्ता है ही नहीं, यह भाव है*॥५३॥

यद्यपि मैं श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणों में कुशल, मेधावी, विचार चतुर हूँ, तथापि छोटे–बड़े काष्ठ तथा लोष्ट के तुल्य स्थितिवाला होकर, जिन्होंने शास्त्र, लोक, प्रमाण तथा वस्तु का अच्छी तरह विचार नहीं किया है ऐसे मूर्खों की समानता को प्राप्त हुआ हूँ॥५४॥

अब अपनी प्रमाण कुशलता को संसार के मूलनिश्चय से सफल बनाते हैं।

सैकड़ों संकल्परूपी अंकुरों, देह और भुवनरूपी शाखाओं, विराटरूपी अवयवी (मोटी डाल), सुख–दुःखरूपी फलों और राग, लोभरूपी पल्लवों से शोभित हो रहे संसार वृक्ष का मूलभूत महांकुर मन है॥५५॥

मन का भी रहस्य मुझे ज्ञात है, यह कहते हैं।

मैं संकल्प को ही मन समझता हूँ, उस मन का संकल्प के उपशमन द्वारा शोषण करता हूँ, जिससे कि यह संसाररूपी वृक्ष शोष को प्राप्त होता है॥५६॥ आकारमात्र से रमणीय, नाश को प्राप्त करानेवाली मनरूपी बन्धन की चपलताओं के परिज्ञात हो जाने पर मैं आज से इनमें रमण नहीं कर सकता। सैकड़ों आशारूपी पाशों से ओत–प्रोत, अधोगति, ऊर्ध्वगति और दुःख को देनेवाली संसारवृत्तियाँ मैंने बहुत भोगी, अब मैं विश्राम लेता हूँ॥५७,५८॥

ओह ! मैं मारा गया, नष्ट हुआ, मरा, ऐसा जो मैंने बारम्बार शोक किया था, वह शोक मेरा बीत गया। अब मैं शोक नहीं कर सकता॥५९॥

क्यों अब शोक नहीं करते ? इस पर कहते हैं।

मैं प्रबुद्ध हूँ, प्रसन्न हूँ, अपने पारमार्थिक धन को चुरानेवाले मन–नामक चोर को मैंने पकड़ लिया,

इसे मारता हूँ। यह केवल चोर ही नहीं है, किन्तु वैरी भी है, क्योंकि इसने मुझे बहुत दिन तक मारा है। इतने दिन तक मेरा मनरूपी मोती विद्ध यानी लक्षित नहीं था। अब वह लक्षित होकर शम, दम आदिरूप सूत्र के योग्य हो रहा है। जैसे तुषारकणिका सूर्य के ताप से वायु में स्थिति प्राप्त करने के लिए लय को प्राप्त होती है वैसे ही मेरा मन विवेक से ब्रह्मतत्त्व में स्थिति प्राप्त करने के लिए बहुत शीघ्र लय को प्राप्त होगा। स्थिर महात्माओं ने मुझे विविध उपदेशों द्वारा अच्छी तरह बोध करा दिया है। अब मैं परमानन्दरूप आत्मा का अनुगमन कर रहा हूँ ॥६०–६३॥

इसलिए मैं कभी भी परमात्मनिष्ठा का त्याग नहीं करूँगा, यह कहते हैं।

मैं आत्मरूपी मणि को पाकर एकान्त में उसी को देख रहा हूँ, मेरी अन्य वस्तु की इच्छा अत्यन्त शान्त हो गई है अतः मैं शरद् ऋतु में हिमालय आदि पर्वतों पर बादल की भाँति सुखपूर्वक स्थित होता हूँ ॥६४॥

अब पूर्वोक्त विषय का ही संक्षेप से उपसंहार करते हुए विवेकरूपी गुरु को नमस्कार करते हैं।

यह देह मैं हूँ, यह धन, राज्यादि मेरा है, इस तरह स्फुरित हुए विस्तृत असत्यरूप का ज्ञानबल से नाश कर अत्यन्त बलवान अन्दर स्थित मनरूपी शत्रु को समाधि के अभ्यास से अच्छी तरह मारकर सप्तम भूमिका में विश्रान्तिरूप प्रशम को मैं प्राप्त हो रहा हूँ। हे विवेक, आपको नमस्कार है ॥६५॥

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

मध्याह्न काल के कृत्यों में प्रवृत्त होने के लिए द्वारपाल द्वारा प्रार्थना करने पर भी राजा जनक का मौन होकर विचार करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर रहे राजा जनक के सामने जैसे सूर्य के रथ के आगे अरुण प्रवेश करते हैं वैसे ही प्रधान द्वारपाल ने प्रवेश किया ॥१॥

प्रतीहार ने कहा : हे देव, आपके भुजारूपी स्तम्भ पर समस्त पृथ्वी का भार स्थित है, आप उठिये, राजधर्म के योग्य व्यवहारों का सम्पादन कीजिये ॥२॥ फूल, कपूर और कुंकुम से (केसर से) मिश्रित जल के घड़ों से युक्त ये स्त्रियाँ मूर्तिमती नदियों की भाँति सज–धज कर स्नान भूमि में खड़ी हैं ॥३॥ जहाँ पर कमल और श्वेतकमल के वन में भौंरे घूम रहे हैं एवं कमल से युक्त कमल के नाल की रस्सियों से जहाँ पर शामियाने सजाए गये हैं, ऐसी बनाई गयी ये कमलयुक्त तालाब की तीर भूमियाँ स्नान के समय में स्वागत करनेवाले लोगों के चामर, रथ, हाथी और घोड़ों के सहित छत्रों से प्रपूरित हैं। इससे ये तीरभूमियाँ हंस, सारस, नक्र, कमल आदि से युक्त कमलिनी के (कमल से युक्त तालाब के) तुल्य हैं, यह अर्थतः प्रतीत होता है। ये देवताओं के पूजागृह सब पुष्पों और आप्त चाकरों से पूर्ण एवं पक्वान्न और जौ के अंकुर आदि औषधियों से अलंकृत प्रान्तभोगों से सजाये गये हैं ॥४–६॥ हे देव, स्नान के समय अघमर्षण मन्त्रों का जप करनेवाले अतएव दक्षिणा के योग्य ब्राह्मण लोग, जो स्नान कर चुके और पवित्रहस्त है, वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। राजन्, आपकी कान्ताओं ने भोजन भूमियाँ सजा रक्खी है, जो लेपन, चन्दन जल के सेंक आदि से परिष्कृत होने के कारण शीतल हैं, हे महाराज, वे हाथ में सुन्दर चँवर लेकर आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥७,८॥

हे महाराज, आपका कल्याण हो, शीघ्र उठिये, नित्यकर्म का सम्पादन कीजिये। महापुरुष अपने कर्मों में काल का अतिक्रमण नहीं करते ॥९॥ प्रतीहार के इस तरह कहने पर भी राजा जनक वैसे ही विचित्र संसार की स्थिति का चिन्तन करते रहे ॥१०॥ सुखकररूप से स्थित यह राज्य कितना है ? यानी कुछ भी नहीं है। क्षणमात्र में नष्ट होनेवाले इस राज्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मिथ्याभूत माया के सभी आड़म्बर का परित्याग करके प्रशान्त समुद्र की भाँति शान्त होकर मैं एकान्त में ही स्थित रहता हूँ। इन असत्य भोगविस्तारों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। सभी कर्मों का परित्याग कर मैं केवल सुख से स्थित होता हूँ॥११-१३॥ हे चित्त, तुम इस भोगाभ्यासरूपी दुर्भ्रम से सुखलव के आस्वाद की जो चतुरता है, उसका जन्म, वृद्धावस्था एवं जड़ता के समूहरूपी कीचड़ की शान्ति के लिए त्याग कर दो। हे चित्त, तुम विषयाभिलाषा, उनके लिए उद्योग, उनके उपभोग और उनके स्मरण आदिरूप जिन-जिन अपनी अवस्थाओं मे सुखलव के आस्वाद की भ्रान्ति अथवा उत्साह देखते हो, तुम उन्हीं अवस्थाओं से सम्पादित परम दुःख को प्राप्त होओगे ॥१४,१५॥ सब भोगभूमियों में बार-बार भोग की आशा से चिरकाल तक प्रवृत्त एवं भोग की शक्ति के कुण्ठित हो जाने से तथा लोक-शास्त्र के भय से चिरकाल तक निवृत्त हुआ चित्त तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए हे पापी मन, इस तुच्छ भोगचिन्तन से कोई प्रयोजन नहीं है। यह कृत्रिम सुख अनर्थ का बीज है, इसलिए जिस हेतु से अकृत्रिम (स्वाभाविक) प्रीति उत्पन्न हो, उस हेतु को प्राप्त करो ॥१६,१७॥ ऐसा विचार कर राजा जनक चित्त की चपलता के शान्त होने के कारण चित्र में अंकित के तुल्य मौन हो गये ॥१८॥ राजाओं के चित्त के अनुवर्तन के विषय में अत्यन्त पटु उस द्वारपाल ने भी गौरव एवं भय से फिर कोई वाक्य नहीं कहा ॥१९॥ तदनन्तर राजा जनक ने क्षणमात्र चुप रह कर पुनः शमयुक्तमन से प्राणियों के जीवन में हेतुभूत तत्त्व का चिन्तन किया ॥२०॥ इस संसार में क्या उपादेय है, जिसको मैं प्रयत्न से सिद्ध करूँ। नाशरहित ऐसी कौन वस्तु है, जिसमें मैं आस्था बाँधूं ? मेरी क्रियातत्परता से क्या एवं मेरी निष्क्रियता से ही क्या ? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो उत्पन्न हुआ हो, पर विनाशरहित हो; क्योंकि जन्यवस्तुमात्र विनाशी है, ऐसा नियम है। असत्यभूत उत्पन्न हुआ यह शरीर क्रियायुक्त रहे या क्रियारहित रहे, देह के चलन और अचलन दशा में समानरूप से स्थित, विशुद्ध, चिन्मात्र स्वभाव मेरी क्या क्षति है ? ॥२१-२३॥ मैं न तो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता हूँ और न प्राप्त वस्तु का त्याग ही करता हूँ। स्वस्थ होकर अपने स्वरूप में स्थित हूँ। जो मेरे प्रारब्ध से प्राप्त हैं, वही मुझे प्राप्त रहे और कुछ नहीं। यहाँ मेरा न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न कर्म की उपेक्षा से कोई अनर्थ ही है। क्रिया अथवा उसकी उपेक्षा से जो कुछ भी प्राप्त है, वह मायामय ही है यानी मिथ्या ही है। शास्त्रविहित एवं लोकप्राप्त क्रियाओं को कर रहे या न कर रहे मुझे इस संसार में कुछ भी अपेक्षित नहीं है, जो कि उपादेय हो। इसलिए यह शरीर उठकर पूर्व-पूर्व व्यवहार के क्रम से प्राप्त प्रस्तुत कर्मों को करे। निर्व्यापार अंगवाला हो करके यह शरीर सूख जाता है, यह क्या अच्छा है ? अर्थात् ऐसा करना उचित नहीं है। मन के निष्काम, राजहीन और शम होने पर शरीर के अवयवों से प्रारब्ध कर्मों द्वारा उत्पन्न हुए चेष्टा-अचेष्टारूप कार्य फल के लिए समान हैं अर्थात् उनसे पुण्य-पापरूप फल का उदय नहीं होता ॥२४-२८॥

यदि कोई कहे यह कैसे ? तो इस पर कहते हैं।

कर्म से उत्पन्न हुई फल सम्पत्तियों में कर्तृता और भोक्तृता मन से कल्पित हैं। मन के शान्त हो जाने पर मनुष्य का किया हुआ भी न किया हुआ एवं भोगा हुआ भी न भोगा हुआ हो जाता है। पुरुष के भीतर जैसे कर्तृता या भोक्तृता का निश्चय रूढ़ हो गया वह पुरुष सम्पूर्ण देह क्रियाओं में अपने निश्चय के अनुकूल तन्मय हो जाता है। इस समय मेरी बुद्धि कर्तृता और भोक्तृतारूपी रोग से शून्य आत्मपद के दृढ़ निश्चय से सम्पन्न नहीं है। इसलिए चित्त के भीतर कृत और अकृत कर्म के फल को अवश्य भोगने के लिए पुनर्जन्म आदि की शंका से उत्पन्न तथा इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट विघात से उत्पन्न अधीरता का अच्छी तरह त्याग करता हूँ॥२९,३०॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

आह्निक कार्य को कर चुके राजा का रात्रि के अन्त में अनेकों विचित्र
विवेकों से अपने चित्त का प्रबोधन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त रीति से विचार कर राजा जनक जैसे सूर्य दिवस का सम्पादन करने के लिए उठते (उदित होता) हैं वैसे ही कर्तृत्व–भोक्तृत्वाभिमानरूप आसक्ति से रहित होकर यथा प्राप्त क्रिया का संपादन करने के लिए उठे। यह मेरा इष्ट है, यह मेरा अनिष्ट है, इस कल्पना में निमित्तभूत वासनाओं का स्वयं चित्त से त्याग कर उन्होंने जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्त के समान (कारण कि स्थूल, सूक्ष्म देह आदि का अभिमान न होने पर जाग्रत और सुषुप्ति में कोई भेद नहीं रहता) यथा प्राप्त कर्म किया॥१,२॥ देवता, ब्राह्मण आदि पूजनीय लोगों का पूजा, दान आदि द्वारा सम्मान कर उस दिन का कार्य पूरा करके उसी ध्यानलीला से उन्होंने अकेले रात बिताई॥३॥

मन को, जिसका विषयभ्रम निवृत्त हो गया था, समाहित करके रात्रि व्यतीत होने पर उन्होंने अपने चित्त को इस प्रकार समझाया : हे चंचल चित्त, संसार तुम्हारे आत्मा के सुख के लिए नहीं है, तुम शान्ति को प्राप्त होओ। शान्ति से विक्षेपरहित सारभूत आत्मसुख प्राप्त होता है। जैसे–जैसे तुम विविध विकल्पों का संकल्प करते हो वैसे–वैसे तुम्हारे चिन्तन से यह संसार अनायास वृद्धि को प्राप्त होता है। जैसे वृक्ष जल से सैकड़ों शाखावाला हो जाता है वैसे ही हे शठ, तुम भी भोग की इच्छा से असंख्य व्यथाओं से युक्त होते हो। चूँकि जन्म तथा संसार सृष्टियाँ विषयचिन्ताओं के विकल्प से उदित हैं, इसलिए तुम विविध चिन्ताओं का त्याग कर उपशम को प्राप्त होओ॥४–८॥

हे सुन्दर, इस चंचल संसारसृष्टि और शान्तिसुख को तराजू में रखकर अपनी बुद्धि से कौन सारभूत है, इसकी परीक्षा करो। यदि तुम्हें संसारसृष्टि में सार प्रतीत हो, तो इसी संसारसृष्टि का अवलंबन करो। चूँकि यह संसारसृष्टि असार है, इसलिए तुम इसमें आदर का त्याग कर यह साररहित दृश्य दर्शन योग्य है, इस प्रकार की दर्शनलालसा से प्रिय का ग्रहण मत करो और अप्रिय का यह दर्शन के अयोग्य है, यों द्वेष से त्याग न करो; किन्तु प्रिय और अप्रिय दोनों के साक्षी एकमात्र आत्मा की इच्छा से आत्मकाम होकर इच्छापूर्वक विहार करो। पहले अविद्यमान यह दृश्य सुख–दुःख के साधनरूप से उदित हो अथवा इस समय विद्यमान यह नष्ट हो, किन्तु हे साधो, तुम इसके उदय और नाश से उदय नाश

प्रयुक्त हर्ष-विषादरूप विषमता को प्राप्त मत होओ ॥९-११॥

यदि कोई शंका करे कि दृश्य का सम्बन्ध रहते उससे होनेवाले वैषम्य का त्याग कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

वत्स, तुम्हारा दृश्य वस्तु के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। जिसका स्वरूप विद्यमान नहीं हैं, ऐसे असद्रूप दृश्य से सद्रूप तुम्हारा सम्बन्ध ही कौन है ? ॥१२॥ हे मन, तुम असत् हो और यह दृश्य भी सत् नहीं है, इसलिए दोनों के ही वन्ध्यापुत्र और आकाशपुष्प के समान असत् होने पर निःस्वरूप स्थितिवालों का सम्बन्ध, ऐसी उक्ति अपूर्व (विस्मयकारिणी) ही है ॥१३॥

यदि कहते हो, मैं असत् नहीं हूँ। सत्य आत्मा ही मैं हूँ। दृश्य ही असत् है, तो भी दोनों का सम्बन्ध नहीं बन सकता, ऐसा कहते हैं।

हे सुन्दर, यदि यह दृश्य असत् है और तुम सत्य हो, तो भला बतलाओ तो सही, सदसद्रूप सदा मृत और जीवितों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥१४॥

दोनों सत् ही हैं। कोई भी असत् नहीं है, इसमें भी कभी इष्ट का वियोग न होने से हर्ष तथा विषाद का अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, तुम और दृश्य दोनों ही यदि सन्मय और सदा रहनेवाले हो, तो हर्ष और विषाद का विस्तार ही कहाँ है ? इसलिए तुम महान विषाद का त्याग करो। आत्म-स्वरूप स्थिति में उत्साह को समाधि के अभ्यास से जगाओ, वह मौन होकर स्थित है। विक्षेपरूप सागर में आविष्ट हुई इस अमंगलमय स्थिति का त्याग करो। उत्सवों में लोगों के कौतुक के लिए बारूद आदि से बने हुए कन्दुकाकार अलात यन्त्र के (अनार यानी एक प्रकार की आतिशबाजी के) समान व्यर्थ अपने-आप जल रहे तुम मोहरूपी मल को प्राप्त होकर हे सन्मते, मन्दता को प्राप्त मत होओ ॥१५-१७॥ इस दृश्यवर्ग में जिसके प्राप्त होने से तुम परम परिपूर्णता को प्राप्त हो जाओ, ऐसी कोई भी उन्नत उत्तम वस्तु नहीं है, इसलिए अभ्यास और वैराग्य के बल से अति धीरता का अवलम्बन कर हे शठ मन, तुम चंचलता का त्याग करो ॥१८॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बाहरवाँ सर्ग

राजा जनक की जीवन्मुक्तिरूप से स्थिति का और
विचार तथा प्रज्ञा के विचित्र महात्म्य का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, वहाँ अपने राज्य में इस प्रकार विचार कर रहे धीरमति राजा जनक ने सब राजकार्य किये, किन्तु उन्हें पहले के समान अहन्ता ममता से मोह नहीं हुआ। उनका मन कहीं हर्ष स्थानों में उल्लास को प्राप्त नहीं हुआ ॥१॥ केवल सुषुप्ति के समान निर्विक्षेपरूप से सदा स्थित रहा। तब से लेकर उन्होंने न तो दृश्य का ग्रहण ही किया अथवा न त्याग ही किया, केवल तत्काल में उपस्थित दृश्य में वह निःशंक होकर स्थित रहे। जैसे धूलि से प्राप्त कलंक से आकाश कलंक को प्राप्त नहीं होता वैसे ही निरन्तर विचारवाले राजा जनक ने अनादि स्वभाव प्राप्त, रजोगुण से उदित अहं-मम अभिमानरूप कलंक पुनः प्राप्त किया ही नहीं ॥२-४॥ इस प्रकार आत्म-विवेक के अनुसन्धान से

राजा जनक का अपरिच्छन्न ब्रह्माकार सम्यक् ज्ञान अत्यन्त निर्मल हो गया। जैसे आकाश में सूर्य उदित होते हैं, वैसे ही उनके हृदयाकाश में चिदात्मा, उदित हो गया जिसके प्रकाश विक्षेपों से सम्पादित रंजनाभेदों से रहित हैं और जो दुःखों से शून्य है ॥५,६॥ अनन्त आत्मावाले, सब भूतों के आत्मा के भिज्ञ उन्होंने सब पदार्थों को चिदात्मा में अध्यस्त अतएव आत्मभूत देखा ॥७॥ वे न तो कहीं पर विशेषरूप से हर्षित हुए और न कहीं पर दुःखी हुए। माया के सर्वव्यवहाररूप होने के कारण असंग आत्मा से उसका स्पर्श न देखने से सदा ही वे समचित्त रहे। प्राणियों का सत्कार करनेवाले ज्ञानवृद्ध जनक, जिन्होंने लोक में परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, तब से लेकर जीवन्मुक्त हो गये। विदेह देशों का राज्य कर रहे, लोगों के प्राणों के समान, राजा जनक हर्ष और विषाद के अधीन होकर उनसे कभी भी सन्तप्त नहीं होते थे ॥८–१०॥ मानसिक गुण और दोषों के व्यापार से न तो स्वरूप के तिरोधानरूप अस्त को प्राप्त होते थे और न पुनः स्वरूप के आविर्भावरूप उदय को प्राप्त होते थे। बाहरी राज्य से उत्पन्न अर्थ और अनर्थों से न तो उन्हें हर्ष होता था और न खेद होता था। कर्म करते हुए भी वे कहीं पर कुछ भी नहीं करते थे। वे निरन्तर चित् के मध्य में सदा स्थित रहते थे।

सुषुप्त रूप से स्थित राजा जनक की राग, द्वेष, आदि सब वासनाएँ सब पदार्थों से सर्वथा निवृत्त हो गई थी। वे न तो भविष्य का अनुसन्धान करते थे और न अतीत की चिन्ता करते थे। वर्तमान क्षण का हँसते हुए अनुसरण करते थे भाव यह कि वासनावश पूर्वोत्तर का अनुसन्धान होता है, उससे पूर्व में अनिष्ट करनेवाले पदार्थों से द्वेष होता है और भावी प्रिय के लिए अनुराग होता है, तदनन्तर प्रवृत्ति होती है, यों सब अनर्थों की प्राप्ति वासना से ही होती है। एकमात्र वर्तमान का दर्शन करने में दुःख के प्रति द्वेष न होने से उसमें अप्रियता का अनुसन्धान नहीं होता, इसलिए वे स्वाभाविक आनन्द की अनुवृत्ति से हँसते हुए ही एकमात्र वर्तमान क्षण का अनुसरण करते थे ॥११–१४॥ हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र अपने विचार से ही राजा जनक को प्राप्तव्य परम ब्रह्मरूप वस्तु निःशेषरूप से प्राप्त हुई यानी विस्मृत गले के सुवर्णहार की तरह ज्ञानमात्र से मिली, न कि अन्य इच्छा से ॥१५॥

जब तक फल की प्राप्ति न हो, तब तक विचार का त्याग नहीं करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

तब तक अपने चित्त से आत्मतत्त्व का विचार करना चाहिये जब तक विचारों की सीमा का अन्त (आत्मज्ञानरूप फल) प्राप्त न हो ॥१६॥ सन्तों की संगति से निर्मलतारूप अभ्युदय को प्राप्त हुए, विचार से विशद चित्त से जो परम पद प्राप्त होता है, वह न तो गुरु के उपदेश से न शास्त्रार्थ के अनुशीलन से और न पुण्य से प्राप्त होता है। *(यहाँ पर साधनभूत गुरु, शास्त्रार्थ और पुण्य को परमपद को असाधन कहना विचार की प्रधानता के बोधन के लिए है जैसै कि गौ और अश्व से भिन्न अपशु हैं, गौ तथा अश्व पशु हैं, यहाँ पर गौ और अश्व की प्रधानता के द्योतन के लिए उनसे भिन्न को अपशु कहा है)* ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सत् शास्त्रों के अभ्यास और विचार से परिष्कृत तथा ऊहापोह में कुशल–अनुरागयुक्त सखी के सदृश–अपनी मति से उत्तम पद प्राप्त होता है, अन्य क्रिया से प्राप्त नहीं होता ॥१८॥ जिस पुरुष की पूर्वापर का विचार करनेवाली, कुशाग्र प्रज्ञारूपी दीपशिखा जलती है, उसे कभी भी अज्ञानरूपी अन्धकार क्लेश नहीं पहुँचाता ॥१९॥ हे महामते, जो विपत्तियाँ दुस्तर हैं और दुःखरूपी महातरंगों से भरी हैं, उन आपत्तिरूपी नदियों से प्रज्ञारूपी नौका द्वारा ही निस्तार होता

है ॥२०॥ जैसे कोमल वायु की लहर असार तृण को लथेड़ देती है वैसे ही प्रज्ञा से रहित मूढ़ पुरुष को छोटी–सी आपत्ति भी पीड़ित कर डालती है ॥२१॥ हे शत्रुतापन, प्रज्ञावान पुरुष के चाहे गुरु आदि सहायक न हों, शास्त्राभ्यास भी उसने न किया हो, फिर भी एकमात्र ज्ञान से बाधित होने के कारण अतिकोमल संसाररूपी सागर से वह निस्तार पा ही जाता है ॥२२॥

लोक में भी प्रज्ञावान मन्त्री आदि की अन्यबल से युक्त पुरुष की अपेक्षा प्रबलता प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

प्रज्ञावान पुरुष चाहे सहायशून्य ही क्यों न हो, फिर भी वह कार्य में सफलता प्राप्त करता है, किन्तु प्रज्ञाविहीन पुरुष कार्य को प्राप्त कर बहुत सी सेना आदि के बल से प्रधान होकर भी नष्ट हो जाता है (卐) ॥२३॥

कोई कहे कि प्रज्ञा जब ऐसी वस्तु है, तब उसे किस उपाय से प्राप्त करना चाहिये ? इस पर कहते हैं।

जैसे फल प्राप्ति के लिए सिंचन, रक्षण करने आदि से लता बढ़ाई जाती है वैसे ही शास्त्राभ्यास और सज्जनों की संगति से पहले प्रज्ञा को बढ़ाना चाहिये ॥२४॥ जैसे चन्द्रमा का मण्डल संसार के अन्धकार को दूर करनेवाली चाँदनी को उत्पन्न करता है वैसे ही प्राक्तन शुभकर्मरूपी वृक्ष, जिसका प्रज्ञाबल ही महान मूल है, समय पर मूलअज्ञान की निवृत्ति में समर्थ आत्मज्ञान को उत्पन्न करता है ॥२५॥ बाह्य पदार्थों के अर्जन में लोग जैसे उद्योग करते हैं, प्रज्ञा की अभिवृद्धि के लिए पहले वैसा ही उद्योग करना चाहिए, उससे अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥२६॥ बुद्धि की मंदता, जो सब दुःखों की सीमा है, आपत्तियों का उत्तम भण्डार है और संसाररूपी वृक्षों का बीज है उस अज्ञान का विनाश करना चाहिए ॥२७॥

इसी प्रकार प्रज्ञाकोश भी सब सम्पत्तियों की चरम सीमा है, ऐसा दिखलाते हैं।

स्वर्ग से जो सुख मिलता है, पाताल से (📖) जो सुख मिलता है और राज्यों से जो सुख मिलता है, वह सारा सुख महात्मा को प्रज्ञाकोश से प्राप्त होता है ॥२८॥

आत्यन्तिक दुःखक्षय भी एकमात्र प्रज्ञा का ही फल है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भयंकर इस संसार सागर से प्रज्ञा द्वारा ही निस्तार होता है, दानों से, तीर्थों से अथवा तपस्या से इस संसार से निस्तार नहीं मिलता। दान, तप आदि का फल छोटे–मोटे पापों का क्षय है, संसारसागर से निस्तार रूप महाफल नहीं है ॥२९॥

जो स्वर्गादि अन्य पदार्थ दानादि कर्मों के फल कहे गये हैं, वे भी प्रज्ञा के फल ही हैं, ऐसा कहते हैं।

卐 इस श्लोक का दूसरा अर्थ यों है – चरमसाक्षात्कारवृत्तिरूप प्रज्ञा से सम्पन्न असंग आत्मा सब कार्यप्रपंचों के बाध को और सब अवश्यकर्तव्य पुरुषार्थों की अवधिभूत परम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है। किन्तु मोह सकल प्रपंच विस्ताररूप कार्य को पाकर उसका कारण होने से प्रधान होता हुआ ज्ञानमात्र से नष्ट हो जाता है।

📖 स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः। जगाद द्युसदां मध्ये पातालेभ्यः समागतः ॥ (पाताल लोकों से आए हुए श्रीनारदजी ने देवताओं की सभा में कहा कि पाताल स्वर्गलोक से भी रमणीय हैं) इस पौराणिक वचन से पाताल में भी सुखातिशय प्रसिद्ध है।

भूमिचर लोग भी आकाशगमन आदिरूप दैवी सम्पत्ति को जो प्राप्त हुए हैं, वह भी प्रज्ञारूपी पवित्र लता से उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट फल है। जिन सिंहों ने अपने पंजों से मत्त गजेन्द्रों के कुम्भस्थल फाड़ डाले, वे भी प्रज्ञा से सियारों द्वारा ऐसे पराजित हुए हैं, जैसे सिंहों से हरिण पराजित होते हैं। साधारण से भी साधारण लोगों ने अपनी प्रज्ञा से राजगद्दी प्राप्त की है। इस लोक में प्रज्ञा में ही स्वर्ग और अपवर्ग की योग्यता दिखाई देती है। अतिभीरु भी सब वादीजन प्रज्ञा से ही अपने विकल्पों से शोभित होनेवाले प्रगल्भवादियों को जीत लेते हैं। विवेकी पुरुष के हृदयकोश में स्थित यह प्रज्ञा चिन्तामणि रूप है, यह कल्पलता की नाईं वांछित फल देती है। कुशल पुरुष प्रज्ञा से संसार से निस्तार पाता है और अधम पुरुष डूबता है। ठीक भी है, नौका चलाने की शिक्षा को प्राप्त हुआ केवट नौका से पार चला जाता है और नौका चलाने में अशिक्षित केवट पार नहीं पहुँचता। प्रज्ञा को नौका के समान यदि विवेक वैराग्य आदि सन्मार्ग में लगाई जाय, तो पार पहुँचाती है किन्तु राग, द्वेष, आदि असत् मार्ग मे लगाई गयी, संसार में भ्रमण करती हुई बुद्धि सागर में घूमती हुई नौका के समान मनुष्य को आपत्ति देती है ॥३०–३६॥ तृष्णा के वर्ग के लोभ, मोह, क्रोध, चिन्ता आदि से उत्पन्न हुए द्वेष, चिन्ता, अविद्या आदि दोष विवेकशील अतएव असंमूढ़ पुरुष को इस प्रकार पीड़ित नहीं करते, जिस प्रकार कि कवचयुक्त पुरुष को बाण पीड़ित नहीं कर सकते ॥३७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोक में प्रज्ञा से सारा जगत गुण–दोष तत्त्वविवेक के साथ भलीभाँति दिखाई देता है। परमार्थदृष्टिवाले पुरुष के पास न सम्पत्तियाँ आती हैं, न विपत्तियाँ ही आती है। जैसे सूर्य को आवृत करनेवाला जलरूप विस्तृत काला मत्त मेघ वायु से छिन्न–भिन्न हो जाता है वैसे ही परमात्मा को आवृत करनेवाला जड़रूप विस्तृत मलिन मत्त अहंकार प्रज्ञा से नष्ट हो जाता है ॥३८,३९॥ उन्नत अनुपम पद में पहुँचने की इच्छावाले पुरुष को पहले इस मति का ही क्रमशः विवेकशिक्षा द्वारा शोधन करना चाहिये। धान्य आदि की अभिवृद्धि चाहने वाला कृषक सबसे पहले पृथिवी को ही जोतता है ॥४०॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

जनक के विचार को उदाहरण बनाकर चित्त के
प्रशमन के उपायों का युक्तियों द्वारा विस्तारपूर्वक वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जनक के समान अपने से आत्मा का विचार कर आप असम्भावना आदि प्रतिबन्धकों के निरास द्वारा ज्ञातज्ञेय (जिन लोगों को ज्ञातव्य वस्तु का, ब्रह्म का परिज्ञान हो चुका) लोगों के पद को पा जाओगे। जो लोग अन्तिम जीवन्मुक्ति जन्मवाले प्रज्ञावान और राजस–सात्त्विक हैं, वे लोग जनक के समान प्राप्य वस्तु को स्वयं पा जाते हैं। भाव यह कि रजोगुण से पौरुष प्रयत्न होने और सत्त्वगुण से चित्तप्रसाद की अभिवृद्धि होने के कारण राजस–सात्त्विक पुरुष ही अपने विवेक से आकाश से फल पतन के तुल्य ज्ञानप्राप्ति में अधिकारी हैं ॥१–२॥

वे प्राप्तव्य वस्तु को कैसे प्राप्त करते हैं, ऐसी शंका होने पर उसे कहते हैं।

सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से जब आत्मा अपने से ही अपने में प्रसन्न होता है, तब रजोगुण की

विष्टम्भशक्ति (आवरणशक्ति) से इन्द्रियनामक शत्रुओं को पुनः-पुनः जीतकर वे स्वयं प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त करते हैं ॥३॥ प्रसन्न, सर्वव्यापक, इन्द्रियों को वश में करनेवाले, स्वयंज्योति परमात्मा के अपने-आप साक्षात्कृत होने पर सब दुःख दृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥४॥ उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर अहन्ता-ममता प्रतीतिरूप हृदय ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, जो दुर्वासनाओं की मुट्ठियाँ हैं यानी बीज की मुट्ठी की तरह अपने भीतर दुर्वासनाओं का दृढ़तापूर्वक ग्रहण करनेवाली और चित्तरूपी खेत में बोई जानेवाली हैं और आध्यात्मिक आदि विविध दुःखों की वृष्टियाँ हैं ॥५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपनी विवेक बुद्धि से अपने को सम्पूर्ण जगत के उत्पत्ति आदि के अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप से जानकर राजा जनक के समान परम पुरुषार्थरूप शोभावाले आप सर्वोत्कृष्ट हो जाइये ॥६॥

अब आत्मप्रसाद के उपायों में विचार ही मुख्य है, ऐसा कहते हैं।

नित्य आन्तरिक विचारवाले और जगत को अनित्य देख रहे पुरुष का आत्मा राजा जनक के समान समय आने पर स्वयं प्रसन्न हो जाता है ॥७॥

विचार की जड़ भी पुरुष प्रयत्न ही है, इस आशय से कहते हैं।

संसार से भयभीत हुए पुरुषों का अपने प्रयत्न को छोड़कर न तो भाग्य शरण है, न कर्म शरण हैं, न धन शरण है और न बन्धु-बान्धव ही शरण हैं ॥८॥

यदि कोई शंका करे कि भाग्यवश स्वयं ही समय आने पर ज्ञान हो ही जायेगा ? हमारे प्रयत्न से क्या लाभ है ? तो इस पर कहते हैं।

जो लोग प्रयत्न, विवेक, वैराग्य, विचार आदि कार्यों में भाग्य के आधीन रहते हैं और भाग्य के प्रतिकूल होने पर अपने हजारों प्रयत्नों से क्या सिद्ध होगा, बहुत से लोग फल प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, पर दैव से विनष्ट हुए उनका काम, क्रोध आदि से पतन देखा जाता है - इत्यादि कुकल्पनाएँ करते है, उनकी मन्द मति विनाश की ओर ले जानेवाली है, उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए ॥९॥ परम विवेक का अवलम्बन कर आत्मा का अपने आप साक्षात्कार कर वैराग्य से वृद्धि को प्राप्त हुई (अनादिकाल से निमग्न आत्मा के उद्धार में समर्थ) बुद्धि से संसारसागर को पार करे ॥१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जनक की आख्यायिका के उदाहरण से विस्तारित, आकाश से फलपतन के तुल्य यह ज्ञानसंप्राप्ति मैंने आपसे कही जो अज्ञानरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकनेवाली और निरतिशयसुख देनेवाली है ॥११॥ जैसे प्रातःकाल में कमल विकास को प्राप्त होता है, वैसे ही जनक के तुल्य सद्बुद्धि और स्वयं ही आत्मसाक्षात्कार करनेवाले पुरुष की देह के अन्दर हृदय में स्थित स्वयंज्योति परमात्मा विकास को प्राप्त होता है ॥१२॥ जैसे धूप से जिसकी शीतलता हर ली गयी, ऐसा हिमकण गलकर लीन हो जाता है, वैसे ही यह विचित्र संसार चिन्तन विचार से विलीन हो जाता है ॥१३॥

देह में अहंभाव का त्याग ही पूर्ण आत्मदर्शन में मुख्य साधन है, ऐसा कहते हैं।

यह देह ही मैं हूँ, इस रात्रि का विनाश होने पर अपने-आप सर्वव्यापक विशाल आत्मप्रकाश प्रकट होता है। 'यह देह ही मैं हूँ' इस परिच्छेद के विनष्ट होने पर अनन्तभुवनव्यापी विस्तार उत्पन्न हो जाता है ॥१४,१५॥ हे सद्बुद्धे, जैसे राजा जनक ने विचार कर अहंकारवासना का त्याग किया वैसे आप भी अपने हृदय में विचार कर अहंकारवासना का त्याग कीजिए ॥१६॥ अहंकाररूपी मेघ के नष्ट होने पर

सर्वव्यापक, निर्मल चिदाकाश में आत्मप्रकाशरूपी परम सूर्य अवश्य ही अत्यन्त प्रकाश को प्राप्त होता है ॥१७॥ जो अहंकार की भावना है, वही तम का (अज्ञान का) मुख्य बल है, उसके शान्त होने पर प्रकाश उत्पन्न हो जाता है ॥१८॥ न अहन्ता है, न अन्य है और न तो शून्य ही है, क्योंकि दोनों का साक्षी विद्यमान है, इस प्रकार से भावित मन शान्ति को प्राप्त होकर ग्रहण योग्य विषयों में मग्न नहीं होता ॥१९॥

उपादेय (ग्राह्य) विषयों में मन का अनुराग और हेय (त्याज्य) विषयों में मन का द्वेष ही पुरुष का बन्धन है, उससे अतिरिक्त बन्धन नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मन का जो उपादेय वस्तुओं की ओर आकृष्ट होना है और जो हेय वस्तुओं का सर्वथा त्याग है, उसीको आप बन्धन समझिये, उससे अतिरिक्त बन्धन नहीं ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, हेय वस्तुओं के प्राप्त होने पर आप खिन्न न होइये और उपादेय वस्तुओं में अभिमान न कीजिये। हेय और उपादेय वस्तुओं में राग द्वेषात्मक वृत्तियों का त्याग कर उनके साक्षी में एकनिष्ठ होकर विक्षेप शून्य होइये ॥२१॥ जिन लोगों की, यह उपादेय है, यह हेय है, ऐसी अवस्था सर्वत्र अहेय आत्ममात्र के दर्शन से विलीन हो गई, वे पुरुष न तो किसी वस्तु की वांछा करते हैं और न किसी वस्तु का त्याग ही करते हैं ॥२२॥ जब तक चित्त से हेय और उपादेय की कल्पना क्षीण नहीं हई, तब तक जैसे मेघाच्छन्न आकाश में चाँदनी शोभित नहीं होती वैसे ही समता (अविषम ब्रह्मात्मता) शोभित नहीं होती ॥२३॥ यह वस्तु खराब है इसलिए त्याज्य है, यह वस्तु उत्तम है इसलिए ग्राह्य है, इस प्रकार जिसका मन चंचलता को प्राप्त हुआ, उस पुरुष में समता शाखोट वृक्ष में मंजरी के समान नहीं होती ॥२४॥ यह वस्तु मेरे अनुकूल है अतः यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार लाभ से विलासित होनेवाली और यह वस्तु मेरे प्रतिकूल है अतः यह मुझे कभी भी प्राप्त न हो, इस प्रकार द्वेष से विलासित होनेवाली एषणा जिस पुरुष में है, उसमें वैराग्य से उदित होनेवाली समता और स्वच्छता कहाँ ? ॥२५॥

उस पुरुष में समता और स्वच्छता की संभावना में क्या विरोध है, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

अद्वितीय निर्दोष इस ब्रह्मतत्त्व के ही भेदाभेद कल्पना से विद्यमान रहने पर क्या अत्यन्त अयुक्त है ? और कहाँ पर युक्तता है ? भाव यह कि यदि सब पदार्थ असंग, अद्वितीय, आनन्दरूप और अभिन्न ही हैं तो आत्मरूप होने के कारण सब अनुकूल ही हैं, यदि भिन्न हैं तथापि आत्मा से उनका स्पर्श न होने से न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं, इसलिए भेद की अवस्था में भी अयुक्तता और युक्तता का अवकाश नहीं है। पूर्वोक्त पुरुष में तो युक्तता–अयुक्तता विद्यमान है, अतः उसमें स्वच्छता और समता की संभावना में विरोध है ही ॥२६॥ इच्छित, अनिच्छित की आशंकारूपी चंचल वानरियाँ जिस पुरुष के चित्तरूपी वृक्ष पर स्फुरित होती हैं। भला उस पुरुष को शान्ति कहाँ से प्राप्त हो सकती है ? ॥२७॥

अब जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षणभूत पन्द्रह गुणों को कहते हैं।

निराशता, निर्भयता, नित्यता, समता, ज्ञाता, निरीहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मैत्री, सन्तोष, मधुरता, मधु–भाषिता और मननशीलता ये हेय और उपादेय से रहित ज्ञानी में, वासना के बीज अज्ञान के नष्ट होने के कारण, वासनारहित रहते हैं ॥२८,२९॥

इस समय उक्त गुणों के अर्जन में उपाय का उपदेश देते हैं।

जैसे बह रहे जल को बाँध से रोकते हैं वैसे ही निकृष्ट विषयों में दौड़ रहे मन को विषयों से सब बाह्येन्द्रियों की परावृत्ति द्वारा जबर्दस्ती रोके ॥३०॥

बाह्यपदार्थों में आत्मत्वभ्रान्ति नहीं हो सकती है अतः उनका रत्न की तत्त्व-परीक्षा के समान सदा सब तरह विचार करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इन बाह्य पदार्थों का त्याग करके आप बैठते, चलते, सोते सदा सब आन्तरपदार्थों का भली-भाँति विचार कीजिए। वृद्धों ने कहा भी है-चलते, बैठते अथवा जागते, सोते जिसका मन विचारमग्न नहीं रहता वह मृतक कहलाता है। तृष्णारूपी मछली जिसमें फँसी है, मोहरूपी सेवार से जो मैला हुआ है, संसाररूपी जल में फैला है एवं जो चिन्तारूप तन्तुओं से निर्मित है, ऐसे वासनाजाल को जैसे आकाश में बह रही तेज आँधी से बादल छिन्न-भिन्न हो जाता है वैसे ही मेरे द्वारा उपदिष्ट इस तीखी बुद्धिरूपी कैंची से काटिये जो अत्यन्त विस्तीर्ण ब्रह्म की ओर उन्मुख है ॥३१-३३॥ हे सौम्य, चिर अभ्यास से दृढ़ हुए एकात्मस्थिरतारूप चित्त धैर्य से सम्पन्न अतएव अनादिकाल से संसारसागर में डूबे हुए आत्मा का उद्धार करने में समर्थ अपरोक्ष साक्षात्कार बुद्धि से संसाररूपी वृक्ष के मूल को, जो दोषरूपी अंकुरों की उत्पत्तिभूमि है, जैसे वृक्ष के अवयव काष्ठरूप कुल्हाड़े से वृक्ष काटा जाता है, वैसे ही मन से ही मन का विनाश कर शीघ्र ही परम-पवित्र स्थान को पाकर आप स्थिर होइये ॥३४,३५॥

यदि कोई शंका करे कि पहले से सिद्ध मन का उक्त उपाय द्वारा विनाश होने पर भी भावी मनोवृत्ति का कैसे विनाश होगा, तो इस पर कहते हैं।

वासनोच्छेदरूपी विस्मृति से उत्तरकाल में प्राप्त हुए वृत्ति रूप मन का विनाशकर वर्तमान मन का भी कतकरेणु न्याय से मन से ही विनाशकर आप संसार का विच्छेद कीजिये ॥३६॥

यदि कोई शंका करे कि ऐसी अवस्था में भी तत्त्वज्ञानी के जीवन की सिद्धि के लिए जीवन के मूलभूत अविद्यानामक मोह को अवश्य ही मानना पड़ेगा, वही फिर संसार को उत्पन्न करेगा, तो इस पर कहते हैं।

मोह संसार को भूल कर फिर फिर नहीं उत्पन्न होता, भाव यह कि वासनाक्षयरूप विस्मृति होने पर मोह में बीज शक्ति नहीं रह जाती।

शंका : तब संसार ही मोहक्षेत्र में अपने आप उगेगा ?

समाधान : संसार चित्त का विस्मरण कर फिर नहीं उगता। भाव यह कि चित्तसंस्कारोच्छेदरूप विस्मरण होने पर फिर संसार का उद्गम नहीं होता ॥३७॥

चित्त और चेत्य इन दोनों के विस्मरण में उनके ऊपर आस्था का त्याग ही उपाय है, ऐसा कहते हैं।

खड़े होते, चलते, सोते, जागते, रहते, उछलते, कूदते यह असत् ही है, ऐसा मन में निश्चय कर इसमें आस्था का परित्याग कीजिये ॥३८॥

आस्था का त्याग करने पर समता भी सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, समता का पूर्णरूप से अवलम्बन कर प्राप्त कार्य कर रहे और अप्राप्त कार्य का चिन्तन न कर रहे आप इस लोक में विहार कीजिये ॥३९॥ जैसे महेश्वर पृथ्वी आदि अष्टमूर्तिरूप लिंगों को शुद्ध चिन्मात्रदृष्टि से नहीं धारण करते और जगदाकार में विवर्तित माया के अधिष्ठान होने से

अपने संनिधानमात्र से उन्हें धारण भी करते हैं उससे सर्वकर्ता भी होते हैं वैसे ही आप भी राज्य आदि कार्यों को अन्यथा से केवल संनिधि-मात्र से कीजिये और आत्मा अकर्ता है, इस निश्चय से न भी कीजिये ॥४०॥ नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता। (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है, इससे अन्य श्रोता नहीं है।) इत्यादि श्रुति सब शरीरों में आप ही अप्रच्युत स्वभाव हैं, परमार्थ सत् हैं, आप ही जन्मादिविकार शून्य अज है, आप ही सबकी आत्मा हैं एवं आप ही पूर्वोक्त महेश्वर हैं। इस प्रकार के आपने अपने अज्ञान से इस प्रकार इस प्रपंच का विस्तार किया है, दूसरे ने नहीं किया है ॥४१॥

यदि मैंने ही इसका विस्तार किया है, तो इसमें मेरे हर्ष-क्रोध से होनेवाले दोष क्यों होते हैं ? इस पर कहते हैं।

जिस तत्त्वज्ञानी ने सद्रूप आत्मदृश्य की परमार्थसन्मात्र भावना से चारों ओर अन्य कोई वस्तु है, ऐसी भावना का त्याग कर दिया, वह पुरुष हर्ष, क्रोध, विषाद आदिसे होनेवाले दोषों से आक्रान्त नहीं होता, इसलिए आप भी द्वैत की भावना का त्याग कीजिये। जो राग और द्वेष का त्याग कर चुका है, जिसके लिए ढेला, पत्थर और सोना समान है एवं जिसने संसार की वासनाओं का त्याग कर दिया है, ऐसा योगी युक्त कहा जाता है। वह जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, जो देता है और जो मारता है, इन सबमें उस मुक्तबुद्धिवाले पुरुष की सुख-दुःख के विषय में समानता रहती है जो इष्ट और अनिष्ट भावना का त्याग कर यह प्राप्त कर्म कर्तव्य ही है, इस बुद्धि से कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह कहीं पर भी निमग्न नहीं होता है। हे महामते, यह मैं और जगत चित्तसत्तामात्र ही है, इस प्रकार के निश्चयवाला मन, जिसने भोगचिन्ता का त्याग कर दिया है, शान्ति को प्राप्त होता है।

यह मैं और जगत चित्सत्तामात्र ही है, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसका उपपादन करते हैं।

चूँकि मन स्वभावतः जड़ है, अतः स्वतः सिद्ध होने और दूसरे का (अपने विषय का) साधन करने के लिए स्वयं असमर्थ होने के कारण अपनी सिद्धि और अपने विषय के साधन के लिए स्वसाक्षिभूत, स्वप्रकाश, चिद्रूप पारमार्थिक वस्तु का अनुसरण करता है। जैसे कि अपने जीवननिर्वाह के लिए और अपने बच्चों के भरण-पोषण के लिए मांस की अभिलाषा से बिलाव वन में सिंह का अनुसरण करता है। जैसे सिंह का अनुगामी बिलाव सिंह के पराक्रम से प्राप्त मांस खाता है वैसे ही मन चित् के बल से प्राप्त दृश्य का (स्व और स्वविषय का) आश्रय लेता है ॥४२-४८॥ इस प्रकार मन असत्कल्प है, यह बात सिद्ध हुई, यह एक अद्वितीय आत्मा का विस्मरण कर, उसकी जगत के आकार से भावना कर स्वयं जगदाकार हो चित्तत्त्व की कृपा से जीता है, इसलिए आत्मस्मृति को प्राप्त कर फिर चित् भी हो जाता है यानी मनस्ता का त्याग करता है ॥४९॥

मन की प्रकाशशक्ति के समान स्पन्दनशक्ति भी चित् के अधीन है, ऐसा कहते है।

जो जड़ मन शव के तुल्य अचेतन है, वह चिद्रूप दीपिका के बल के बिना कैसे चेष्टा कर सकता है ? ॥५०॥

अतएव चित् में स्पन्दन कल्पना है, वही मन है, ऐसा विद्वानों का प्रतिवाद है यह कहते हैं।

यह शास्त्रज्ञ लोग चित्स्वभाव से सम्बद्ध असन्मय स्पन्दशक्तिरूप कल्पना को चित्त शब्द से कहते हैं ॥५१॥

स्पन्दशक्ति के ही विलास चित्त और चित्तवृत्तियाँ हैं, ऐसा कहते हैं।

जो चित्तरूपी साँप का फुफकारना है, वही यह कलना शब्द से कहा जाता है। मैं चित् ही हूँ, ऐसा जानकर वह कलना शुद्ध चिद्रूपता को प्राप्त होती है ॥५२॥

इससे सिद्ध हुआ कि चित् का चेत्य त्याग ही ब्रह्मतारूप से पर्यवसन्न होना है, ऐसा कहते हैं।

चेत्य से रहित जो यह चित् है, वह सनातन ब्रह्म है और चेत्यसहित जो यह चित् है, वही यह कलना है ॥५३॥

काल द्वारा मनन से यह कलना मन होती है, ऐसा कहते हैं।

जो सच्चिदानन्दरूप है, वही कलना बन कर सदा हृदय में सत् के समान स्थित संकल्प–विकल्प कल्पना होकर यह प्रसिद्ध मन बन जाता है ॥५४॥

नित्य अनुभवस्वभाव ब्रह्म का स्वरूपविस्मरण होने पर कलना ही स्मृतिता को और चित्तता को प्राप्त होती है, ऐसा कहते हैं।

चित्तरूप से प्रसिद्ध यह कलना जभी उदित होती है, तभी वह चित्त्व को भूलकर जड़ के समान स्थित हो जाती है ॥५५॥

अतीत विषयों के आकार की कल्पना से चित्तता के समान अनागत विषयों के आकार की कल्पना से संकल्प–विकल्प का अनुविधान करने के कारण मनस्ता को भी वह प्राप्त हुई है, इस आशय से कहते हैं।

इस तरह दो प्रकार से परिच्छेद को प्राप्त हुई, पूर्व जन्म के इष्ट–अनिष्ट–साधनों का निश्चय कर भावी इष्ट–अनिष्ट साधनता का संकल्प कर हेय–उपादेय धर्मवाली मुख्य वह चिति ही संकल्प को उत्पन्न करनेवाली कलना नामक होगी ॥५६॥ वह चिति ही अपनी मायाशक्ति से जगत्ता को मानों प्राप्त हुई है। जब तक गुरु, शास्त्र और विचारों से वह प्रबोधित नहीं की जाती है, तब तक वास्तविक पूर्णानन्द अद्वितीयरूप ब्रह्म नहीं जाना जाता है ॥५७॥ इसलिए शास्त्रविचार से, उत्कृष्ट वैराग्य से और इन्द्रियों के निग्रह से कलना को कलनारूप जो तीन अवस्थाएँ है, तद्रूप स्वप्न से लौटाये ॥५८॥ शास्त्रजन्यज्ञान से, शम आदि साधनयुक्त मनन और निदिध्यासनों से प्रबुद्ध हुई सब लोगों की कलना ब्रह्मता को प्राप्त होती है, अन्यथा संसार में भ्रमण करती है। रागरूपी मदिरा से मत्त, विषयरूपी गड्ढे में गिरी हुई और आत्मा के अज्ञान से सोई हुई कलना को ही प्रबुद्ध करना चाहिये ॥५९,६०॥

यदि कोई शंका करे कि कलना यदि सोई है, तो जगत को कैसे जानती है अथवा जानने पर प्रसिद्ध चित्स्वभाव से उसमें कौन अन्तर है ? तो इस पर कहते हैं।

जब यह अप्रबुद्ध रहती है, तब जगत का कुछ भी बोध नहीं होता, क्योंकि जगत एकमात्र अज्ञान का विलास है, दिखाई देती हुई भी जगत स्थिति भीतर सांकल्पिकप्रसाद कलना के समान असन्मयी है ॥६१॥

विषयांश का त्याग करने पर बची हुई कलना ही आत्मा है, ऐसा कहने पर वृत्तिज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कोई न समझ जाय, इसलिए उसके साक्षी उसके अन्दर स्थित शुद्ध चित् को पृथक् करके दिखलाते हैं।

गन्धशक्ति से मंजरी के समान यह चित्तवृत्तिरूप कलना अन्दर स्थित उस सर्वसाक्षिणी परमदृष्टि से व्याप्त होकर अपने–अपने विषयों के प्रकाशन में समर्थ होती है स्वतः नहीं होती ॥६२॥

यदि वह सर्वसाक्षिणी है, तो तत् तत् अन्तःकरण धर्मों को ही क्यों प्रकाशित करती है, सबको क्यों नहीं प्रकाशित करती है ? तो इस पर कहते हैं।

जो यह नित्यबोधस्वरूप साक्षी चिति है, वह परिच्छिन्न वृत्तिरूप कलना की उपाधि के कारण थोड़ी ही है, इस तरह तीनों जगतों में उन-उन प्राणियों द्वारा वह संकल्पित है, इसलिए थोड़ा ही (तत्तत अन्तःकरणधर्मों को ही) नित्य जानती है ॥६३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पाषाणतुल्य, जड़ कलना जैसे पद्मिनी धूप से प्रबोधित होती है वैसे ही परम चेतन से ही बोधित होती है ॥६४॥

जो नैयायिक आदि नित्य साक्षी को न जानते हुए पर प्रकाश्य अनित्य ज्ञान को ही अर्थप्रकाशक मानते हैं, उनका बहुत उदाहरणों से उपहास करते हैं।

जैसे पाषाणमयी कन्या को नाचने के लिए कितना भी कहा जाय, पर वह नाचती नहीं वैसे ही यह कलना शरीर में कुछ भी नहीं जानती ॥६५॥

अचेतन अन्तःकरणवृत्ति आदि में नित्यचित् की सन्निधि के अभाव में विषयोन्मुख प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, उनकी प्रकाशता तो दूर रही, इस आशय से कहते हैं।

क्या कहीं चित्रलिखित राजाओं ने कोलाहल से भरा हुआ युद्ध किया ? क्या चन्द्रमा की किरणों द्वारा वनस्पतियाँ कहीं आप्यायित हुई हैं ? ॥६६॥ खून से लथपथ शरीरवाले मुर्दे कहाँ दौड़े, वन के पत्थर के टुकड़ों ने कहाँ मधुर गीत गाया ? पुरुषों द्वारा पाषाण आदि से निर्मित सूर्यों ने कहाँ रात्रि का अन्धकार दूर किया ? संकल्पमय आकाश वनों से कहाँ छाया की जाती है ? ॥६७,६८॥ पत्थर के तुल्य जड़, मिथ्या भ्रमों से उत्पन्न मृगतृष्णामय इन मनों से कहाँ क्रिया की जाती है ? ॥६९॥

नित्यचिदात्मा का यदि स्वीकार न किया जाय, तो कलना आदि के अध्यास की सिद्धि ही नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

जैसे तेज धूप के तपने पर मृगतृष्णानदी स्फुरित होती है वैसे ही आत्मा के रहने पर ही यह कलना खूब स्फुरित होती है ॥७०॥

चित् की परिच्छिन्न स्पन्दकल्पना ही मन है, ऐसा पहले कहा गया है, अब चित् और अचित् अंश का विवेक होने पर चिदांश के आत्ममात्र होने से जडांश स्पन्दकल्पना ही अवशिष्ट रहती है, इस प्रकार की स्पन्दशक्ति तो प्राण ही है, उसका निरोध करने पर मन नामक अन्य कोई निरोधयोग्य नहीं है, ऐसा कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जो यह स्पन्दित है, उसी को स्वयं अपनी वंचना करनेवाले अज्ञानियों ने मन जाना, उसे आप अन्नमयकोश के अन्दर स्थित प्राणमय कोशरूप वायुओं की शक्ति जानिये ॥७१॥

पूर्वोक्त प्राणशक्ति संकल्प से उत्पन्न हुई है, संकल्परहित योगियों की चिदात्मरूप ही वह पृथक् विद्यमान है, ऐसा कहते हैं।

जिन लोगों की संवित् संकल्पलेशरूप निश्चयों से आक्रान्त नहीं है, उनकी यह संवित्, जिसने विषयाकार की कल्पना नहीं की, परमात्मा की प्रभारूप है ॥७२॥ वही 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार जब विषयों की कल्पना करती है, तब स्पन्द के बिना उसमें आक्षेप हो नहीं सकता, इसलिए स्पन्दरूप प्राणतत्त्व के और चिदात्मक आत्मतत्त्व के, जो पृथक्-से हो गये, विवेक न होने के कारण

फिर ऐक्य के अध्यास से जड़संवलितचिद्रूप कलना जीव नाम से कही जाती है ॥७३॥

इसी प्रकार और भी उसकी संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, असत् संकल्प की बुद्धि, चित्त जीव ये संज्ञाएँ विद्वानों द्वारा कल्पित हैं। परमार्थतः वे नहीं हैं ॥७४॥

क्यों परमार्थतः नहीं हैं ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

चूँकि परमार्थतः न मन है, न यह बुद्धि है और न शरीर है यानी इनसे उपलक्षित दृश्यमात्र नहीं है, केवल एकमात्र आत्मा ही सदा विद्यमान है, क्योंकि दृश्य 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' 'अकायमव्रण–मस्नाविरम्' 'अस्थूलमनषु' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों, विद्वानों के अनुभवों और युक्तियों से बाधित है ॥७५॥

यदि आत्मा ही है, तो वह क्यों नहीं प्रतीत होता अथवा जगद्रूप से कौन प्रतीत होता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आत्मा ही यह सम्पूर्ण जगत है और आत्मा ही कालक्रम है। आकाश से सूक्ष्म होने के कारण नहीं–सा प्रतीत हो रहा वह निर्मल ही है ॥७६॥

कैसे वह नहीं–सा है और कैसे है ही, यह निश्चय हुआ ? इस पर कहते हैं।

स्वच्छ होने के कारण चक्षु आदि की योग्यता में प्रयोजक स्थूलता, नीलता आदि के अभाव से वह असत्–सा प्रतीत होता है और चिद्रूप होने से स्वपरप्रकाशक होने के कारण वह सत् है, अतएव सर्वपदातीत आत्मा केवल अपने अनुभव से ही प्रतीत होता है न कि इन्द्रियों से ॥७७॥

स्थूलता आदि के अभाव से अन्य इन्द्रियाँ उसमें भले ही प्रवृत्त न हों ; पर मन तो सूक्ष्म होने के कारण अर्थनिर्णय हेतु रूप से प्रसिद्ध है, वह उसमें क्यों न प्रवृत्त होगा ? इस पर कहते हैं।

जहाँ पर परमात्मसंवित् है, वहाँ पर मन क्षीण हो जाता है। जहाँ पर प्रकाश रहता है, वहाँ पर अन्धकार क्षीण हो जाता है। भाव यह कि ठीक है मन उसमें प्रवृत्त होता, यदि उसके दर्शन के समय में ही वह स्वयं नष्ट न हो जाता। मन अज्ञान का कार्य है, अतः आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति का उदय होते ही अविद्या के साथ वह तुरन्त नष्ट हो जाता है, अतः मन में आत्मदर्शन योग्यता नहीं है ॥७८॥

तब कहाँ पर मन की वृत्तिशक्ति है ? इस पर कहते हैं।

जिस अवस्था में अत्यन्त स्वच्छ आत्मरूप संवित् के बाह्य अर्थ संकल्पवश बाह्यविषयाकाररूप से उत्पन्न होने के कारण प्रकाश्यरूप से अभिमत होते हैं, वहाँ पर पारमार्थिक आत्मा का विस्मरण और चित्त से उत्पन्न हुआ मिथ्या पदार्थों का दर्शन प्रसिद्ध है ॥७९॥

अपनी उत्पत्ति का विरोधी होने से भी मन की आत्मदर्शन में शक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

परम पुरुष की जो संकल्पमयता है, वही चित्त शब्द से कही जाती है। असंकल्प से चित्त का अभाव होता है, उससे मुक्ति होती है। भाव यह है कि जिसकी उत्पत्ति संकल्पमयता के अधीन है, वह भला संकल्पों के क्षय से उपलक्षित मोक्षरूप आत्मा में कैसे प्रवृत्त होगा ? ॥८०॥

इसलिए संकल्प चित्त की उत्पत्ति में बीज है, यह हम बहुत बार कह आए है, ऐसा कहते हैं।

संसार की उत्पत्ति के लिए संकल्पता को प्राप्त हो रहे आत्मा का चित्स्वभाव से जो थोड़ा–सा

विचलन होना है, वही चित्त के जन्मका कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥८१॥

पूर्वोक्त विषय को ही स्पष्ट करके कहते हैं।

निर्विकल्प चित्त से प्रच्युत हुई, संकल्परूप कलंक से कलंकित सत्ता कलना कही जाती है। जैसे स्त्री आदि की संकल्पना से पुंसत्व उद्‌बुद्ध होता है, वैसे ही उक्त कलना से मन जगत की उत्पत्ति के लिए प्रबुद्ध होता है ॥८२॥

'यदेतत्स्पन्दितं नाम' इत्यादि से जो विषय प्रस्तुत किया, उसका प्रयोजन कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दर्पण आदि पदार्थ का प्रतिबिम्ब उसके नष्ट होने पर तुरन्त नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणशक्ति के निरुद्ध होने पर मन लीन हो जाता है, क्योंकि जैसे प्रतिबिम्ब दर्पण का प्रतिरूप है वैसे ही यह मन भी प्राणरूप ही है ॥८३॥

प्राणरूप ही मन है, यह कैसे ज्ञात हुआ ? इस पर कहते हैं।

जीवित पुरुष मन के दूर देशान्तर के अनुभव को हृदय में स्थित जानता है यानी उस दूर देश के अनुभव मेरे हृदय में है, ऐसा अनुभव करता है। मन के साथ दूर देश का सम्बन्ध स्पंद के बिना नहीं हो सकता और वेदनांश चित्सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता; अतएव स्पंदन और वेदन दो शक्तियों के योग से प्राण ही मन कहा जाता है ॥८४॥

इस प्रकार प्राण के निरोध से मनो–निरोध की सिद्धि के लिए दोनों की एकता का प्रतिपादन कर निरोध का उपाय बतलाते हैं।

वैराग्य से, प्राणायाम के अभ्यास से, समाधि से, चित्त के बाह्यविषयों में गमनरूप दुरभ्यास के विनाश से और परमार्थ–तत्त्व के ज्ञान से प्राणवायु का निरोध किया जाता है ॥८५॥

अब 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' इस श्रुति के अनुसार भिन्न उपादानवाले प्राण और मन भिन्न हैं, इस पक्ष में भी मन में स्वतःस्पन्दशक्ति और चित्शक्ति का अभाव होने से वे दोनों प्राण और चिदात्मा के अधीन ही हैं, इसलिए प्राण का निरोध होने पर मन के निरोध की उपपत्ति हो गई। इस आशय से कहते हैं।

शिला में भी कदाचित् चलनशक्ति और ज्वलनशक्ति हो सकती है, किन्तु मन की स्पन्द में और वेदन में शक्ति नहीं है ॥८६॥

तब वे शक्तियाँ किसकी है, यह आशंका होने पर कहते हैं।

स्पन्दन प्राणवायु की शक्ति है, वह चलद्रूप और जड़ ही है। चित्शक्ति आत्मा की है, वह सर्वदा स्वच्छ और सर्वगामी है। चित्शक्ति और स्पन्दशक्ति का जो सम्बन्ध है, वही मन है। मिथ्या ही वह उत्पन्न हुआ है, अतएव मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यही कार्य अविद्या है, यही माया शक्ति कही जाती है, यही संसारादिरूप विष देनेवाला वह परम अज्ञान है ॥८७–८९॥ चित्शक्ति और स्पन्दशक्ति की संगति में यह संकल्प–कल्पना निमित्त है, संकल्प–कल्पना यदि न की जाय, तो ये संसार भीतियाँ परिक्षीण हो जाती हैं ॥९०॥ वायु की जो स्पन्दशक्ति है, वह चित् से चेतन बनाई जाती है, चेत्यसहित वह चित् तभी संकल्प से चित्तता को प्राप्त हो जाता है ॥९१॥ चित्त की यह चित्तता बाल के यक्ष के समान मिथ्या कल्पित है, क्योंकि जिसमें अखण्डमण्डलाकार रूप स्पन्द नहीं है, ऐसा चित् ही परमार्थरूप

है। उक्त अखण्डपूर्णरूप यह चित्तस्वभावता चित् से अन्य किससे खण्डित होगी ? भला अखण्डशक्तिवाले इन्द्र का युद्ध किसके साथ हो सकता है ? ॥९२,९३॥ इसलिए सम्बन्धी न होने के कारण सम्बन्ध यहाँ नहीं है, सम्बन्ध के बिना मन किसका और कैसे सिद्ध हो ? भाव यह कि अचित् का चित् के साथ विरोध है, विरोध होने पर चित्सत्ता से बाधित स्थितिवाला होने से मन क्या पदार्थ होगा ? यदि जड़ मन भी अपनी सत्ता में अन्यनिरपेक्ष, स्वतः सिद्ध कहा जाय, तो उसका अनुभव करनेवाले उसके सम्बन्धी अन्य चेतन का अभाव होने से चित्सम्बन्ध के बिना वह मन किसका और कैसे सिद्ध होगा ? अनुभव में आरूढ़ न होने पर अलीक (झूठा)-पुष्प और मन का क्या अन्तर होगा ? ॥९४॥

इस प्रकार चित् और स्पन्द के भेद पक्ष में मन की अलीकता कह कर अभेद पक्ष में तो वह सुतरां अलीक है, ऐसा कहते हैं।

चित् और स्पन्द का अभेद होने पर तो मन नाम की वस्तु की सम्भावना ही क्या है ? भला बताइये, हाथी, घोड़े के सम्मर्द के बिना सेना ही क्या हुई ? ॥९५॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दोनों पक्षों में मन का सम्भव न होने से तीनों जगतों में दुष्टात्मा मन है ही नहीं। ऐसे निश्चय से ही मनोनाश होता है ॥९६॥ हे अनघ, अनर्थ के लिए व्यर्थ मन का संकल्प आप मत कीजिये। मन मिथ्या ही उदित हुआ है, परमार्थतः वह यहाँ पर है ही नहीं ॥९७॥ हे महामते, कहीं पर आप अपने मन में कुछ भी संकल्प न कीजिये, क्योंकि संकल्प करनेवाला मन यहाँ कहीं पर है ही नहीं ॥९८॥ हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, सम्यक् ज्ञान से आपके हृदयरूपी मरुभूमि में असम्यक् ज्ञान से उत्पन्न हुई मृगतृष्णारूपी कल्पना शान्त हो गई है ॥९९॥ जड़ होने से और स्वरूपहीन होने से मन सदा ही मरा है, मरे हुए मन से लोग मारे जाते हैं, यह चक्रवात घूमती हुई मूर्खता की परम्परा बड़ी ही विचित्र है ॥१००॥ जिसका न स्वरूप है, न शरीर है, न कोई आधार है और न जाति ही है वह इन सबको खा डालता है, यह बड़ा अद्भुत मूर्खतारूपी जाल है ॥१०१॥ जो पुरुष सब प्रकार की सामग्रियों से रहित मन से भी मारा जाता है, उसें मैं जिसका सिर नीलकमल की पँखुड़ियों से चूर-चूर किया गया, ऐसा समझता हूँ ॥१०२॥ जो पुरुष जड़, मूक और अन्धे मन से भी मारा गया, वह मूढ़ चन्द्रमा की किरणों से जलता है, ऐसी मेरी समझ है ॥१०३॥ विद्यमान और शत्रु को जीतने की सब सामग्री से सम्पन्न होने पर भी मूढ़ पुरुष अविद्यमान मन से अभिभूत होता है और विवेकी पुरुषों द्वारा वैराग्य आदि महाप्रयास- साध्य साधनों से और योग, ध्यान, समाधि-अभ्यास, साक्षात्कार के उपायों से अविद्यमान ही मन का नाश किया जाता है, यह सब कल्पना मिथ्या ही उदित हुई है, वास्तविक नहीं है। मिथ्या संकल्प से कल्पित, मिथ्या ही स्थिति को प्राप्त हुआ, खोजने पर भी जो दृष्टिगोचर नहीं हुआ, उसकी लोगों के ऊपर आक्रमण करने की क्या शक्ति है ? ॥१०४,१०५॥ महामायावी-रूप से प्रसिद्ध मयासुर का भी निर्माण करनेवाली यह माया अत्यन्त अद्भूत है, जिससे एक अत्यन्त चंचल चित्त से भी ये लोग अभिभूत हो रहे है ॥१०६॥ जब मूर्खता आती है, तब पुरुष सभी आपत्तियों का भाजन होता है, इसमें तनिक भी विवाद नहीं है, क्योंकि मूर्ख को कौन आपत्ति नहीं है, अर्थात् सभी आपत्तियाँ है, देखिये अज्ञानी ने ही मूर्ख्रता दुष्कर्म आदि द्वारा इस सृष्टि को उत्पन्न किया है जो सब आपत्तियों की खान है ॥१०७॥ बड़े क्लेश की बात है, यह सृष्टि मन, देह आदि की दुर्बुद्धि करके मूर्खता के वशीभूत है यानी मूर्खता से पीड़ित है, फिर भी इस प्रसिद्ध जीव द्वारा असन्मार्गानुवर्तन से उत्तरोत्तरदुःख के लिए प्राप्त

की जाती है। भाव यह है कि अन्ध के तुल्य जड़ मन आदि की स्वभाविक मूर्खता से पीड़ित प्रपंच का पुनः उसके दुःख को जाननेवाले जीव से पीड़न अत्यंत अनुचित है॥१०८॥ यह मूर्खतामयी सृष्टि अविचारमात्र से सिद्ध है, अतएव एकमात्र विचार से इसका बाध किया जा सकता है, जैसे जल अपने द्वारा कल्पित तरंग के प्रवाह से छोटी–छोटी बूँदों में विभक्त होता है, यह भ्रान्ति विचार–मात्र से नष्ट होती है। वैसे ही यह सृष्टि की भ्रान्ति भी विचारमात्र से नष्ट होती है॥१०९॥ वही जल जहाँ पर भँवरी होती है, वहाँ पर नीलांजन के तुल्य वर्णवाला, बीच में छेद से युक्त, पीसने के यन्त्र से मानों चूर–चूर किया जाता है, फिर वही जल जहाँ पर काँपा है, वहाँ पर मण्डल से पूर्ण चन्द्रमा के किरण–स्पर्श से मानों उन्मत्त होता है, इस प्रकार की जैसे भ्रान्ति होती है, वैसे ही यह भी भ्रान्ति है॥११०॥ शत्रुओं से केवल देखा गया पुरुष नेत्रों से रची गई रस्सियों से मानों बाँधा जाता है और संकल्प–मात्र से रची गयी शूर–वीर सेनाओं से मानों वह रंजित होता है, इत्यादि भ्रान्ति के तुल्य ही यह भ्रान्ति है॥१११॥ इसलिए अत्यन्त कोमल होने के कारण यह सृष्टि कहीं पर भी स्थित नहीं हुए, व्यर्थ कल्पित, द्वितीय कृपण मन से नष्ट होती है। यह मूर्खलोकमयी सृष्टि असत् उदित हुए मन के सिवाय कुछ भी नहीं है। जो पुरुष उसको वश में करने के लिए समर्थ नहीं है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह आध्यात्मिक शास्त्र के उपदेश के योग्य नहीं है॥११२,११३॥ क्योंकि उस पुरुष की बुद्धि चारों ओर से विषयों में ही आरूढ़ है, उसीसे ही वह परिपूर्ण–सी स्थित है, अतएव वह प्रत्यक् नहीं होती, इसलिए सूक्ष्म पदार्थों के विचारों में वह समर्थ नहीं है, अतः अध्यात्मशास्त्र के उपदेश के योग्य नहीं है॥११४॥ वीणा की तन्त्री मधुर ध्वनि से भी यह डरती है। निद्रायुक्तबन्धु की भी मुखकान्ति से डरती है। भाव यह है कि धैर्य के हेतुओं का अभाव होने से वह सबसे डरती है। वंचक पुरुषों द्वारा 'यह तुम्हारा शत्रु आया', इस प्रकार ऊँचे स्वर से कहे गये अविद्यमान शत्रु से भयभीत होकर भागती है। बहुत क्या कहें अपने ही मन से भी यह विवश (भयभीत) की गई है, अन्य से तो कहना ही क्या है?॥११५,११६॥

अब पूर्वोक्त दुष्प्रज्ञा भले ही डरे, तथापि उसके कारण पुरुष का व्यामोह उचित नहीं है, इस प्रकार पूर्व प्रस्तुत ही उपसंहार करते हैं।

उक्त दुष्प्रज्ञा विषमिश्रित लड्डु के आस्वादलेशरूप विषयसुख लेश से मरणासन्न–सी विवश, शत्रु के समान प्रहार कर रहे हृदयगत चित्त से ही सन्तापित और विवेकबुद्धि से रहित है, अतः वह सत्य वस्तुको बिलकुल नहीं जानती। इस प्रकार की भी उस प्रज्ञा से पुरुष व्यर्थ ही मोहित हुआ है। भाव यह है कि स्वच्छ चित्तवाले और स्वजनों से संतप्त विवेकबुद्धिवाले और सत्य स्व–रहस्य को जाननेवाले शत्रु से मोह होना ठीक है, किन्तु उससे विपरीत दुष्प्रज्ञा से मोह होना ठीक नहीं है॥११७॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

विविध योनियों में दुःख पा रहे, उपदेश के अयोग्य लोगों की उपेक्षा कर
उपदेश के योग्य लोगों के लिए मन के मार्जन के उपाय का वर्णन।

मन एवाऽसदुत्थितम्। यःशक्तो न वशीकर्तुं नाऽसौ रामोपदिश्यते। इस प्रकार पहले प्रस्तुत उपदेश के अनधिकारीजनों का ही उपेक्ष्यरूप से वर्णन करते हैं।

हे मान देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूप सागर के निःसार कल्लोलरूप विषयसुखाभिलाषाओं से निरन्तर कर्म में प्रवृत्त की जा रही जिस जनता ने मन के निग्रह, विवेक, वैराग्य आदिके विषय में अपेक्षा न होने से विद्वानों को पाकर भी प्रश्न प्रार्थना आदि न कर मति की मूकता का ही अवलम्बन किया, वह जनता मेरे द्वारा आत्म-लाभ के उपायों से भरे हुए, उत्कृष्ट-कला से युक्त इन विचार वचनों से इस जगत में शास्त्र का उपदेश नहीं पा सकती ॥१,२॥ नेत्र के रहने पर भी जो दूरदृष्ट को, द्वेष आदि से सदा नहीं देखता, कौन दुर्मति पुरुष उसे विचित्र चिड़ियों से चित्रित वन को दिखला सकता है ? *(जो स्वयं नहीं देखता उसे दिखलाना अनुचित है, यह सूचन करने के लिए 'योऽन्यः' ऐसा कहने के बदले 'अत्यर्थं न पश्यति' यह कहा)* ॥३॥

कौन दुर्बुद्धि पुरुष कुष्ठरोग से छिन्न-भिन्न, घर्घर शब्द करनेवाली नासिका से युक्त पुरुष को विविध सुगन्धों की परीक्षा में सुगन्धतत्त्व का निर्णायक बनायेगा ? वैसे ही कौन अबुद्धि पुरुष आत्मोपदेश द्वारा मूर्ख को प्रामाणिक बनायेगा ? ॥४॥

कौन अबुद्धिपुरुष मदिरा के नशे से जिसकी आखें चढ़ी हो, अतएव जिसकी इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में असमर्थ हों, ऐसे मत्तपुरुषको धर्म तत्त्व के निर्णय में साक्षीरूप से प्रमाणित करेगा ? ॥५॥ कौन पुरुष श्मशान में पड़े हुए शव से सन्देह होने पर जन-समूहों की सैकड़ों कथाएँ पूछेगा ? वैसे ही कौन मूर्ख को उपदेश देगा ! यानी मूर्ख को उपदेश देना श्मशान में पड़े हुए मुर्दे से जन समूहों से सम्बन्ध रखनेवाली कथा पूछने के तुल्य व्यर्थ है ॥६॥ जो हृदयरूपी बिल में स्थित मनरूपी गूंगे और अन्धे साँप को नहीं जीत सका, उस दुर्बुद्धि को किस प्रकार उपदेश दिया जा सकता है ? ॥७॥ वस्तुतः जो है ही नहीं, उस मन को आप जीता हुआ ही जानिये। जो शिला है ही नहीं, वह अपने निकट से सुतरां दूर निरस्त ही है ॥८॥ जिस दुर्बुद्धि पुरुष ने अविद्यमान मन पर विजय प्राप्त नहीं की, वह विष खाये बिना ही विष की मूर्च्छा से मरता है ॥९॥

'वस्तुतो यन्न विद्यते' ऐसा जो पहले कहा, उसकी उपपत्ति कहते हैं।

ज्ञानी आत्मा सदा ही देखता है, स्पन्द में प्राण -शक्तियाँ समर्थ हैं, इन्द्रियाँ अपने धर्मों में समर्थ हैं; हे श्रीरामचन्द्रजी, भला मन नामक वस्तु क्या कही जाती है। भाव यह कि क्या पदार्थों की प्रसिद्धि के लिए मन माना जाता है अथवा स्पन्द के लिए या ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के प्रयोजन की सिद्धि के लिए ? प्राणप्रेरित इन्द्रियों से समीप में लाये गये पदार्थों की प्रसिद्धि साक्षी से ही हो सकती है, इसलिए मन का कोई प्रयोजन नहीं है ॥१०॥

यदि कोई कहे सब शक्तियों से बँधा हुआ मन क्यों नहीं माना जाता ? तो इस पर यह उक्ति विवेक करने पर संगत नहीं होती, क्योंकि वीणा की मधु ध्वनि के समान शक्तियों के समुदाय से ही समुदित व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

प्राणों की स्पन्दन शक्ति है, परमात्मा की ज्ञान-शक्ति है और इन्द्रियों की पृथक् पृथक् अपनी शक्तियाँ हैं भला उनसे यहाँ एक कौन बाँधा जाता है ? भाव यह है कि जैसे किसी समाज में स्नान, दान, गान, स्तुति, आदि नाना व्यवहार किसी एक सर्वशक्तिमान पुरुष से सम्पन्न नहीं होता, उसी तरह यहाँ भी सब व्यवहार एक-से ही नहीं हो सकता ॥११॥

यदि कोई कहे कि समुदाय किसी समुदायकर्ता अन्य के लिए ही होता है, ऐसा नियम है, अतः यहाँ पर भी कोई संघात–कर्ता अपेक्षित है ? तो इस संघात के भी जगद्रूप संघात के मध्यवर्ती होने के कारण सबकी सब व्यवहार शक्तियाँ सबके निर्माण– कर्ता आत्मरूप परमेश्वर की ही किरण रूप हैं। अतः यह संघात भी उन्हीं के लिए सिद्ध होगा, अचेतन मन के लिए नहीं, इसलिए प्रतिशरीर भिन्न चेतन मन की सिद्धि नहीं हुई, इस आशय से कहते हैं।

ये सब व्यवहारशक्तियाँ सर्वशक्तिमान परमात्मा की ही किरणें हैं। मन आदिशब्द वाच्यता एवं पृथक्ता आपकी कहाँ से उदित हुई ? ॥१२॥

अच्छा, चेतन जीव इसका अधिष्ठाता हो, वह चित्तरूप लगाम के बिना इन्द्रियरूपी घोड़ों को काबू में रखने के लिए समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए चित्त भी सिद्ध हो ही गया, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

जीवरूप से जो कहा गया है, उसको और जिसने इस जगत को अन्ध बना डाला है उस चित्त को भी आप असत् ही जानिये, उसकी कौन शक्ति है ? *भाव यह है कि 'जीवति' और 'चित्तमेव च' यों आपने जो दो कहे हैं, वे क्या है, क्या आत्मा से भिन्न कोई अन्य चेतन हैं या अचेतन हैं ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि ' नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता इस श्रुति से ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य चेतन का निषेध है।* दूसरे पक्ष में अचेतन को चेतन पदार्थ की आवश्यकता होने से इन्द्रियों से उसमें कोई अन्तर नहीं रहा, अतः इन्द्रिय अधिष्ठानशक्ति उसमें नहीं हो सकती है। इस सब हेतुओं से आप उन दोनों को असत् ही जानिये ॥१३॥ अपने से कल्पित मन से जिनकी परमार्थ दृष्टि जल गयी है, उन लोगों की दुःख परम्परा को देखकर मेरी करुणा से सराबोर मति मानों व्यामोह (घबराहट) को प्राप्त हो जाती है क्योंकि उनकी दुःखनिवृत्ति का उपाय खोजने पर करोड़ों वर्षों में भी नहीं मिल सकता ॥१४॥

जिस दुःख का कोई निमित्त होता है, उस दुःख का, निमित्त के निवारण से, निवारण किया जा सकता है, मूर्खों का दुःख तो निर्मित है, अतः उसका निवारण नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

यहाँ पर दूसरा कौन है ? जिससे मूर्ख को खेद होता है ? जिससे कि मूर्ख सन्तप्त होता है। गधे और मूर्ख दुःख के लिए ही उत्पन्न होते हैं इनके लिए शोक करना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके सदृश असंख्य मूढ़ योनियाँ दिखाई देती हैं उनके समान ही ये भी उपेक्षणीय हैं ॥१५॥ निरन्तर पैदा होनेवाले जड़, पापी, दुर्बुद्धि सागर से बुद्बुदों की तरह विनाश के लिए ही विविधयोनियों में पैदा होते हैं ॥१६॥ देखिये, प्रत्येक देश में प्रतिदिन पशु हिंसा स्थान में नियुक्त लोगों द्वारा कितने पशु मारे जाते हैं, इसमें कौन–सी विलाप करने की बात है ? ॥१७॥ भूमि में उत्पन्न होनेवाले जीवों में से डाँसों और मच्छरों का प्रतिदिन वायु संहार कर डालता है, इसमें कौन–सा शोक है ? ॥१८॥ प्रत्येक दिशा में हर एक वन में बड़े–बड़े पर्वतों पर शबर आदि लाखों मृगों को मारते हैं, इसमें भला विलाप की क्या गुंजाइश है ? ॥१९॥ निर्दय बड़ी मछली जल में छोटे छोटे अनेक अनेक जलजीवों को अपने आहार के लिए काटती है। इसमें कौन–सा शोक है ॥२०॥

अब बलवानों द्वारा दुर्बलों के पीड़न का परम्परा द्वारा उपपादन करते हैं।

भूखी मक्खी परमाणु कण के समान सूक्ष्म लीख को खाती है, उसको भूखी मकड़ी खा जाती है,

चंचल मकड़ी को भी जंगली डाँस खा डालता है, उस डाँस को मेढक खा डालता है। मेढक को भी साँप निगल जाता है, भयंकर साँप को गरूड़ मार डालता है और नेवला काट डालता है, नेवले को बिलाव मार डालता है और बिलाव को कुत्ता काट डालता है, कुत्ते को भालू मार डालता है, भालू को बाघ मार डालता है, बाघ के ऊपर सिंह आक्रमण करता है और शरभ नाम का मृग सिंह को खा डालता है, गरज रहे मेघ के अपने ऊपर चलने पर उसको सहन न करने से उछलकर पत्थरों की चट्टानों पर गिरने के कारण मेघ द्वारा शरभ नाश को प्राप्त होता है, मेघ वायुओं से उड़ाये जाते हैं, वायु पर्वतों से जीते जाते हैं। पर्वत वज्र से चूर-चूर किये गये हैं, वज्र भी इन्द्र का वशीभूत है, इन्द्र को विष्णु बनाते हैं, विष्णु भी सुख-दुःख दशाओं से भरी हुई, जरा-मरण से अपने भोज्य अन्न के समान पालित जन्तुता को प्राप्त होते हैं और जन्तु भी, जो महाकाय है और विद्या तथा आयुधों से युक्त है, तथापि लीख, मच्छर, खटमल, मक्खी आदि शरीर में लगे हुए जीवों से खाये ही जाते हैं। इस प्रकार आधिभौतिक दुःखों से चारों ओर छिन्न-भिन्न, आध्यात्मिक और आधिदैविक दुःखों से जर्जरित जीव व्यर्थ मोहवश परस्पर खाया जाता है और आगे खाने के लिए कुछ अंश में रक्षित भी होता है। विविध भूतों की जातियाँ निरन्तर नष्ट होती हैं और निरन्तर लीखें, जुएँ, चीटियाँ आदि बहुत से जीव उत्पन्न होते हैं। जल में मछली, जलहाथी, मगर आदि जीव पैदा होते हैं, भूमि के अन्दर बिच्छू आदि कीड़ों के समूह उत्पन्न होते हैं, आकाश में भी आकाश पक्षी (🔥) आदि उत्पन्न होते हैं एवं वन पंक्तियों में सिंह, व्याघ्र, मृग आदि पैदा होते हैं ॥२१-३१॥ प्रत्येक दिशा में प्राणियों के शरीरों में भी कीड़े, जुएँ आदि विचित्र जीव पैदा होते हैं, वृक्ष आदि स्थावर जीवों में घुन, भ्रमरी के आकार के अन्य काष्ठ जीव आदि उत्पन्न होते हैं, शिलाओं के अन्दर भी कीड़े, मेढक, घुन आदि जीव उत्पन्न होते हैं और विष्ठा में भी भाँति-भाँति के कीड़े उत्पन्न होते हैं ॥३२,३३॥ इस प्रकार असंख्य जन्मों और मरणों में करुणावान लोग सदा प्रसन्न होवें चाहे रोएँ। किन्तु इस संसाररूपी भ्रम में, जिसमें निरन्तर मृत्यु और निरन्तर उत्पत्ति है, न तो प्रसन्नता उचित है, न तो दुःखिता ही उचित है। भाव यह कि द्वेष न होने के कारण दूसरे की पीड़ा के अभिनन्दन की तरह स्नेह न होने के कारण दूसरे की पीड़ा के लिए रोदन भी ठीक नहीं है, किन्तु उपेक्षा ही उचित है। इस प्रकार प्राणियों की प्रचुर जन्मवाली ये पंक्तियाँ वृक्ष के पत्तों के तुल्य व्यर्थ ही उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाती हैं ॥३४-३६॥ जो पुरुष दयालु बनकर कुबुद्धि लोगों के दुःख को दूर करने के लिए प्रवृत्त हुआ, वह सारे आकाश को अपने छाते से तापरहित करने के लिए परीश्रम करता है यानी कुबुद्धियों के दुःख को दूर करना अपने ऊपर ताने हुए छाते से सारे आकाश के ताप को दूर करने की तरह असम्भव है ॥३७॥

संसार में पशु-पक्षी सरीखे लोगों को उपदेश देना उचित नहीं है। भला वन में ठूँठ के निकट कथा का अर्थ कहने से कौन प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? ॥३८॥ जिन्होंने अपने मन को विषयों में फैला रक्खा है, उन मनुष्यों और पशुओं में क्या अंतर है ? पशु रस्सी से खींचे जाते हैं और मूढ़चित्तवाले

(🔥) आकाश पक्षी : एक प्रकार के छोटे-छोटे पक्षी। वे सदा आकाश में ही घूमते हुए ही बच्चे देते हैं। उत्पन्न हुए अण्डे को नीचे गिरने के पहले ही तोड़कर निकले हुए बच्चे तुरन्त पंखवाले हो जाते हैं और वे भी आकाश में ही उड़कर घूमते हैं, यह लोक प्रसिद्ध है।

पुरुष मन से खींचे जाते हैं। अपने चित्तरूपी कीचड़ में फँसे हुए और अपने नाश के लिए कर्म का आरम्भ करनेवाले मूर्खों की आपत्तियों को देखकर पत्थर भी रोते हैं चेतनों की तो बात ही क्या है ? जिन लोगों ने अपने चित्त पर विजय प्राप्त नहीं की, उनकी सब देशों में सदा दुःख देनेवाली दशाएँ भरी हुई हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष उनके मार्जन में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उनका मार्जन समस्त भूमि की धूलि के माजर्न के समान असम्भव है ॥३९–४१॥ हे श्रीरघुनन्दन, जिन लोगों ने अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है उनके दुःख को दूर करना सरल है, इसलिए ज्ञानी पुरुष दुःख मार्जन में प्रवृत्त हो ॥४२॥

प्रसंग प्राप्त अधिकारी विचार को समाप्त कर प्रस्तुत विषय का ही अनुसरण करते हुए कहते हैं।

हे महाबाहो, मन नहीं है, वृथा आप उसकी कल्पना न कीजिये। जैसे कल्पित वेताल से बालक मारा जाता है वैसे ही कल्पित मन से आप मारे जाते हैं ॥४३॥

यदि मन नहीं है, तो प्रतियोगी की असिद्धि होने से उसके निषेध का अवसर ही नहीं है। ऐसी यदि कोई शंका करे तो इस पर कहते हैं।

जब तक आत्मतत्त्व को भूले हुए आप मूढ़ हुए थे, तभी तक आपका मनरूप सर्प उदित हुआ था ॥४४॥ हे शत्रुनाशन, इस समय आप परमार्थ आत्मरूप को जान चुके हैं। संकल्प से चित्त की अभिवृद्धि होती है; इसलिए आप संकल्प का ही शीघ्र परित्याग कीजिये ॥४५॥

अब बन्ध और मोक्ष का रहस्य कहते हैं।

यदि आप इस दृश्य का अवलम्बन करते हैं, तो आप चित्त युक्त और बंधनवाले हैं। यदि आप इस दृश्य का त्याग करते हैं, तो आप चित्तशून्य और मोक्षवान हैं ॥४६॥

यदि कोई प्रश्न करे, यह दृश्यतत्त्व क्या है, तो इस पर कहते हैं।

इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपंच का आश्रय बन्धन के लिए ही है। यदि इसका त्याग किया जाय तो संसार के मोक्ष के लिए होता है। बन्धन और त्याग के विषय में जैसी आपकी अभिरुचि हो, वैसा कीजिये ॥४७॥ 'अहम्' यानी आन्तरदृश्य और 'इदम्' यानी बाह्य दृश्य है ही नहीं, इस प्रकार ध्यान कर रहे, अनन्त आकाश के तुल्य विशाल हृदयवाले, आत्मरूप आप पर्वत के समान निश्चल हो स्थित होइये। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप आत्मा की और इस जगत की 'मैं' और 'यह' इस प्रकार की भेदमयी कलना का सर्वथा परित्याग कर ब्रह्मनिष्ठ हो स्थिर होईये ॥४८,४९॥

यदि कोई कहे, उन दोनों का कलना का त्याग करने पर कौन वस्तु अवशिष्ट रहती है, जिसमें आप स्थिति का उपदेश देते हैं, तो इस पर कहते हैं।

द्रष्टा और दृश्य दशाओं के मध्य में एवं आत्मा और जगत के मध्य में यानी त्रिपुटी में अनुस्यूत, सन्मात्ररूप, दर्शननामक त्रिपुटी के साक्षी स्वभाव में स्थित अपने स्वरूप की सर्वदा भावना कीजिये ॥५०॥

चाक्षुष त्रिपुटी की भाँति आसन आदि त्रुटियों में भी उस साक्षी का ही ध्यान करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

आस्वाद्य और आस्वादक से परित्यक्त और स्वाद्य और स्वादक के मध्य में स्थित केवल स्वादन का ध्यान करते हुए आप सदा आत्ममय होइये ॥५१॥

अनुमति आदि अन्य अनुभवों में भी ऐसा ही समझना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अनुभव करने योग्य और अनुभव-कर्ता के विषयभूत त्रिपुटी अंश से व्यतिरिक्त मध्य का (उसके साक्षी का) अपने हृदय में अवलम्बन करके आप स्वयं स्थित होइये। भव की भावना यानी संस्कारवश संसार के दर्शन (स्वप्नदशा से) शून्य, भावदशा (जाग्रत्‌दशा) और अभावदशा (सुषुप्ति) से रहित आत्मा का इस प्रकार भाव कर रहे आप स्वयं आत्मनिष्ठ होइये। हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्ध चिन्मात्र स्वभाववाली आत्मसत्ता का प्रमादवश त्याग कर रहे आप जो स्वयं चेत्य की भावना करते हैं, तब आप अतिदुःख देनेवाली चित्तता को प्राप्त होते हैं। हे महाबाहो, इस चित्तरूपी कड़ी को स्वरूपज्ञान युक्ति से तोड़कर चित्तरूप पिंजड़े से आत्मारूपी सिंह को मुक्त कीजिये। जब आप परमात्मदशा का त्याग कर तेजी से चेत्य की ओर गिरते हुए संकल्प को प्राप्त होते हैं, तब चेत्य को देखते हैं ॥५२-५६॥

कैसे चेत्य की ओर जीव गिरता है, उससे कैसे संकल्पों को प्राप्त होता है और कैसे संकल्प का क्षय होता है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर यह कहते हैं।

जब चित्त-पूर्व अनुभव से उत्पन्न दृश्य संसार के उद्‌बुद्ध होने पर चित्त ही कुछ स्थूलता को प्राप्त चित् है, इस ज्ञान से आत्मा से व्यतिरिक्त सिद्ध होता है तब पुनःपुनः मनन से दृश्य संकल्प करने में समर्थ हो मन होता है और वही दुःखी है। अपने से अतिरिक्त मन है, इस संवित् के त्याग से तो वह नष्ट हो जाता है ॥५७॥ यह सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है, अन्दर ऐसे ज्ञान का उदय होने पर उपहित चित्तता कहाँ है ? उपाधिरूप चित्त कहाँ है ? चित्तवृत्ति से व्याप्त चेत्य कहाँ है और चित्त वृत्ति कहाँ है ? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहते हैं ॥५८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार अनुभव में आ रहे देह इन्द्रिय आदि से युक्त जीव हूँ, केवल इतना ही तुच्छ चित्त है, यह इस प्रकार अनादि और अनन्त दुःख का विस्तार करता है। मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म से अतिरिक्त जीव नामक परमार्थ सत् कुछ कहीं नही हैं। यही चित्त का विनाश है, इसीको परमसुख कहते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा ही यह जगत है, ऐसा निश्चय होने पर चित्त की असत्ता अर्थतः सम्पन्न हो जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥५९-६१॥

मनोनाश के उपाय का उपसंहार करते हैं।

परमार्थ तत्त्व का ज्ञान होने से यह जगत आत्मा ही है, ऐसा निश्चय स्थिर हो जाता है, तब आप मन को जैसे सूर्य की कान्ति से अन्धकार का विनाश होता है वैसे ही विनष्ट जानिये। जब तक मनरूपी साँप शरीर में है, तब तक महाभय रहता है, मनरूप सर्प को समाधि से हटा देने पर भय का अवसर कहाँ से हैं ? ॥६२,६३॥ हे अनघ, यह अतिबलवान चित्तरूप वेताल एकमात्र भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ है, सम्यक्‌ज्ञानरूपी मन्त्र से उसका जबरदस्ती विनाश कर डालिये। देहरूपी घर के बलवानों में श्रेष्ठ चित्तरूप यक्ष के चले जाने पर आप मानसचिन्ताशून्य और व्याकुलतारहित होइये, आपको कोई भय नहीं है ॥६४,६५॥ आत्मलाभ से सब कामनाओं की प्राप्ति होने पर रागरहित अतएव बाह्य सुखों के साधनों के उपार्जन से हीन ही मैं हूँ, केवल इतने से ही आपकी चित्तसत्ता नष्ट हो गई है आप दुःखरहित उत्तम परमपद को प्राप्त हो गये हैं, इस प्रकार मुमुक्षा भी जिसके अन्तःकरण में शान्त हो गई ऐसे आप स्थित होईये ॥६६॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

चित्तता को प्राप्त हुआ आत्मा जिससे संसार में बँधता है,
अनर्थबीजों से पूर्ण उस विचित्र तृष्णा का वर्णन।

चित्त का नाश होने पर परमपुरुषार्थ प्राप्ति की ही गयी है, इस चित्त का अनुसरण करने पर तृष्णा की अभिवृद्धि से अनर्थों की परम्परा प्राप्त होती है, यह दर्शाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार की बीजकणरूप, जीवों के बन्धन के लिए जालस्वरूप अपवित्र इस चित्तसत्ता का अनुसरण कर रहे आत्मा जिसने अपना ब्रह्मात्मरूपता का त्याग कर दिया, अविद्या से आच्छन्न ज्ञान को, जिसकी अभिव्यक्ति इन्द्रियवृत्तियों की अधीन है, प्राप्त कर रहे चित्त के ही अनुरोध से चित्तकल्पित देहादि संघात ही मैं हूँ, ऐसा अनुसंधान करता है और चित्त से प्राप्त किये गये नाना विषयों की कल्पना से होनेवाले राग–द्वेषवासनारूप मल को धारण करता है ॥१,२॥

वह राग–द्वेषवासनारूप मल को धारण करे, उससे क्या ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

प्रतिदिन बढ़ रहे महामोह को देनेवाली, भय देनेवाली और हजारों मरण, मूर्छा और भ्रान्तियों की हेतु होने से विषलतारूप तृष्णा राग–द्वेषवासनारूपी मल को धारण करनेवाले आत्मा के लिए मूर्छा ही देती है, सुख का लेश भी नहीं देती ॥३॥ जैसे आकाश में मेघगर्जन, वृष्टि आदि अनेक विकार करनेवाली वर्षा ऋतु की अँधेरी रात जब–जब उदित होती है, तब–तब महामोहप्रद होती है, वैसे ही अनन्त आत्मा में विकार करनेवाली यह तृष्णा भी जब–जब उदित होती है तब–तब महामोह देती है ॥४॥ महादेव आदि देवता प्रलयकाल की अग्नि की ज्वालाओं के संताप को सहने के लिए समर्थ हैं किन्तु तृष्णारूपी अग्नि की ज्वालाओं के संताप को सहने के लिए समर्थ नहीं हैं। तीखी, काली, दीर्घ और घोर तृष्णारूपी तलवार, जो शीतल होती हुई भी उत्तरकाल में दुःख देनेवाली है, अपने अंग को सदा काटती है ॥५,६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार में जो ये दुर्निवार, दुःख से दूर करने के अयोग्य बड़े बड़े दुःख हैं, वे तृष्णारूपी लता के फल हैं ॥७॥ मनरूपी बिल में छिपी हुई यह तृष्णारूपी भेड़िया अदृश्य होकर ही मनुष्यों के शरीर से मांस, हड्डी, खून आदि खाती है ॥८॥ जड़ तृष्णा जलमय वर्षा ऋतु की नदी के समान क्षणभर में वृद्धि को प्राप्त होती है, क्षणभर में रिक्त हो जाती है और टीला, काँटे, जंगल आदि में प्रवेश करा कर पुरुष को काटती है ॥९॥

मूर्छा ही देती है, ऐसा जो पहले कहा था, उसी का विवरण करते हैं।

तृष्णा से पीड़ित पुरुष जो दीनता का भोगकर चुका, जिसका हृदय नष्ट हो गया एवं जिसका तेज चला गया, नीचता को प्राप्त होता है, घबराता है, रोता है और गिरता है ॥१०॥

तृष्णा का नाश होने पर सब दुःख निवृत्त हो जाते है, सब पुण्यों का उदय होता है, ऐसा कहते हैं।

जिस वृक्षरूपी पुरुष के खोखलेरूपी हृदय में काली साँपिनरूपी तृष्णा बैठी नहीं है, उस पुरुष के हृदयरन्ध्र में चलनेवाले प्राणवायु स्वस्थ रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिस पुरुष में तृष्णारूपी

अँधेरी रात अस्त हो गई, उसमें शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान पुण्य बढ़ते हैं ॥११,१२॥ जो पुरुषरूपी वृक्ष तृष्णारूपी घुनों से घुन नहीं गया, वह सदा पुण्यरूपी फूलों से प्रफुल्लित दशा को प्राप्त होता है ॥१३॥ विवेकरहित पुरुषों के चित्तरूपी अरण्य में अनन्त व्याकुलतारूप कल्लोलों से युक्त और भ्रान्तिरूपी भँवरियों से ठसाठस भरी हुई तृष्णारूपी नदी बहती है। तृष्णा द्वारा ये सब लोग धागे से बँधे हुए पक्षी के तुल्य पहले धनप्राप्ति के लिए देश–विदेश में घुमाए जाते हैं, तदनन्तर धन की रक्षा, व्यय, नाश आदि की चिन्ता और शोक से जर्जरित किये जाते हैं और अन्त में मारे जाते हैं ॥१४,१५॥

निर्दय चित्त से कर्कश तृष्णा कुल्हाड़े की धार के समान शीघ्र गिरती हुई धर्म और ज्ञान के मूलों को तथा दया, विवेक आदि के छोटे–छोटे अंकुरों को भी काट डालती है। जैसे मृग कुएँ के ऊपर उगे हुए हरे तिनकों की ओर जाता हुआ अन्धे कुएँ में गिर पड़ता है, वैसे ही तृष्णा का अनुसरण करता हुआ मूढ़ पुरुष नरक में गिरता है ॥१६,१७॥ बुढ़ापा कितना ही जोर–शोर का क्यों न हो, पर वह नेत्रों को उतना अन्धा नहीं बनाता, जितना कि हृदय की पिशाचीरूप कृश तृष्णा अन्धा बनाती है ॥१८॥ हृदय में स्थित उल्लूरूप अमंगलभूत तृष्णा से, जो हृदय में घोंसला बना चुकी हो उससे, भगवान विष्णु तक वामनता को प्राप्त हुए ॥१९॥ ईश्वर से प्रयुक्त या देवभोग्य सुखलेश विषयिणी रज्जु की तरह हृदय में गुँथी हुई इस अलौकिक तृष्णा से ही प्रतिदिन सूर्य आकाश में घुमाए जाते हैं ॥२०॥ जिसका आकार सर्वदुःखमय है एवं जो जगत के सब लोगों के जीवन का नाश करती है, ऐसी तृष्णा का क्रूर साँपिन के समान मनुष्य को दूर से ही त्याग करना चाहिये ॥२१॥

सारा संसार व्यवहार तृष्णा से ही होता है, इस आशय से कहते हैं।

तृष्णा से ही वायु बहती है, तृष्णा से पर्वत खड़े हैं, तृष्णा से ही पृथ्वी जीवों का धारण करती है, सारा त्रैलोक्य तृष्णा से ही धारण किया गया है ॥२२॥ यह सारी लोक–यात्रा तृष्णारूपी रज्जु से बँधी हुई है, रज्जुबन्धन से तो लोग मुक्त हो सकते हैं, परन्तु तृष्णारूपी बन्धन से कोई मुक्त नहीं हो सकते ॥२३॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्प त्याग से आप तृष्णा का त्याग कीजिये। संकल्पहीन मन नहीं है अर्थात् संकल्प के अभाव में मन नहीं रह सकता, ऐसा युक्तियों से निर्णय किया गया है। मन ही जब नहीं रहेगा, तब तृष्णा कहाँ से होगी ? यह भाव है ॥२४॥

हे महाबाहो, पहले आप अपने चित्त में तुम, मैं, यह, इस दुराशा का अर्थात् सब दुराशाओं के निमित्तभूत तमोमय अभिमान का संकल्प न कीजिये ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप दुःख को उत्पन्न करनेवाली अनात्मा में आत्मभावना की भावना न करेंगे, तो आप तत्त्वज्ञानियों में गिने जायेंगे ॥२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस अपवित्र अहंभावमयी तृष्णा को अनहंभावरूप कैंची से काटकर आप सम्पूर्ण भूतों से होनेवाले भयों का तिरस्कार कर संसार की बाध भूमि ब्रह्म में स्थित होइए ॥२७॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

ध्येय–ज्ञेयभेद से वासना त्याग का वर्णन, उससे जीवन्मुक्त और विदेहों के लक्षण का कथन।

जीवित पुरुष देह में अहंभाव का त्याग नहीं कर सकता और शिष्य के मरण में गुरुका तात्पर्य नहीं हो सकता, अतः 'एतामहंभावमयीं तृष्णां छित्त्वा' इत्यादिकथन के तात्पर्य के तात्पर्य को न समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन , जो आप मुझसे कहते हैं कि अहंकार तृष्णा का ग्रहण तुम मत करो, आपका यह वचन स्वभावतः जटिल है ॥१॥ हे प्रभो, यदि मैं अहंकार का त्याग करूँ, तो मुझे देह नामक अवयव संनिवेश का पूर्णरूप से त्याग करना पड़ेगा। भाव यह कि प्राण और अहंकार की एकता स्वयं आप ही पहले कह आये हैं, अतः प्राणों को बचाकर अहंकार के त्याग का संभव नहीं, इसलिए अहंकार के साथ प्राण भी अवशिष्ट नहीं रहेंगे ॥२॥ जैसे जानु के तुल्य विशाल तने से वृक्ष धारण किया जाता है वैसे ही अहंकार से यह शरीर धारण किया जाता है ॥३॥ अहंकार का विनाश होने पर यह शरीर अवश्य नष्ट हो जाता है, जैसे कि तने के आरा द्वारा काटे जाने पर महान वृक्ष गिर जाता है ॥४॥ इसलिए मैं इस अहंकार का कैसे त्याग करूँ कैसे जीऊँ, हे वक्ताओं में श्रेष्ठ मुनिजी, इस विषय को खूब विचार कर मुझसे कहिए ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, विद्वानों द्वारा ज्ञेय और ध्येय भेद से दो प्रकार का वासना त्याग सर्वत्र कहा जाता है। ज्ञेय यानी विद्वानों से समाधिकाल में या विदेहमुक्ति में ज्ञान से बाधित। ध्येय यानी अधिष्ठानमात्र परिशेषरूप। व्युत्थानकाल में वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति से वासनासहित अज्ञान का बाध होने पर भी जीवन्मुक्ति प्रतिपादक शास्त्र के अनुरोध से और प्रारब्ध फल भोग के शेष रहने से उन दोनों के निर्वाह के लिए बाधित अनुवृत्तिवाले अविद्यालेश के शेष का या विक्षेपांश के अबाध का स्वीकार करना पड़ता है एवं जिसमें अहंभाव का अध्यास नहीं, ऐसी देह से भोगहेतु व्यवहार की सिद्धि न होने से उसमें तात्कालिक अहंकारभासकी अनुवृत्ति विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है, अतः व्युत्थानदशा में अहंकारबाध के अनुसन्धान प्रयत्न साध्य होने के कारण प्रायः ध्यानरूप है, इसलिए उक्त वासना त्याग ध्येय के समान होने के कारण ध्येय है।

उन दोनों में दूसरे पक्ष का उपपादन करते हैं।

विवेकियों की दृष्टि से दो अहंप्रतीति गोचर प्रतीत होते हैं। एक देह, इन्द्रिय, बुद्धि और मन की अपेक्षा करनेवाला और मित्र, पुत्र, स्त्री, धन आदि की ममतावाला संघातात्मा और दूसरा अखण्डैकस्वभाव, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं और मरण, मूर्छा, जन्मान्तर का साक्षी, विवेक करने पर अवशिष्ट चिन्मात्र स्वभाववाला ॥६॥

उनमें प्रथम के स्वरूप का पहले विचार कर निश्चय करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इस देह, इन्द्रिय आदि पदार्थों और उपभुक्त बाहरी अन्न, पान आदि पदार्थों का मैं संघात्मा हूँ, मेरे ये जीवित हैं यानी मेरे स्वरूप सिद्धि में निमित्तभूत है। अतएव इनके बिना मैं व्यवहार में कुछ भी नहीं हूँ और मेरे बिना ये कुछ नहीं है, ऐसा अन्तःकरण में प्रथम अहंपदार्थ का निश्चय करके मन के साथ उसके

पृथक् करने पर संघातात्मा को अत्यन्त असद्रूप ही जानकर दूसरी अखण्डैकरस आत्मा की चिद्रूप से मैं पदार्थ का संघातात्मा नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे जीवित नहीं हैं, ऐसे ज्ञान से तद्रूप भावना करने पर लीला से कार्य कर रही अन्तः शीतल बुद्धि से जो भावनारूप वासनात्याग है, उसे हे श्रीरामचन्द्रजी मैंने ध्येय वासना त्याग कहा है ॥७-९॥

प्रथम वासनाक्षय का उपपादन करते हैं।

सारे जगत को ब्रह्मरूप से जानकर भूमिका अभ्यास के क्रम से जो वासना त्याग को करके निरहंकार और निर्विकल्प समाधिस्थ है अथवा प्रारब्धक्षय द्वारा जो सर्वथा देह त्याग है, वह ज्ञेय वासनाक्षय कहा गया है ॥१०॥ अहंकारमयी वासना का त्याग कर जो लोकसंग्रहोचित व्यवहार से स्थित रहता है, ध्येय वासना त्यागवाला वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥११॥ हे रघुनंदन, मूल अज्ञान के साथ कलनारूप वासना का त्यागकर जो पुरुष शम को प्राप्त हुआ, उसे ज्ञेयत्यागमय (जिसके वासना सहित अज्ञान का नाश होकर चिन्मात्र का अवशेष है) मुक्त जानिये। पूर्वोक्त ध्येय वासना त्याग करके जीवन्मुक्त महात्मा, सज्जनशिरोमणि जनक आदि लोकसंग्रहोचित व्यवहार से स्थित रहते हैं ॥१२,१३॥ ज्ञेय वासना त्याग करके शान्ति को प्राप्त हुए विदेह मुक्त पुरुष परब्रह्म में ही स्थित रहते हैं ॥१४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं, दोनों मुक्तपद में स्थित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मता को प्राप्त हैं और दोनों सन्तापरहित हैं। हे अनघ युक्तमति (समाधि में आरूढ़), अयुक्तमति (व्युत्थान व्यवहारवाला) – ये दोनों ही अविद्या मलरहित ब्रह्म में ही केवल स्थित हैं। उनमें से एक यानी व्युत्थित पुरुष चंचल शरीरवाला स्थित रहता है और दूसरा शान्त देह रहता है ॥१५,१६॥ एक सदेह निर्मुक्त पुरुष सन्तापरहित स्थित रहता है, दूसरा शरीर त्याग करके मुक्त हुआ पुरुष वासना शून्य होकर रहता है। निरन्तर यथा समय सुख-दुःखों के आने पर जिसको न हर्ष होता है, न विषाद होता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥१७,१८॥ जिस पुरुष को इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में इच्छा और द्वेष नहीं होते और जो पुरुष अज्ञानी की दृष्टि में इष्ट और अनिष्टरूप से सम्मत वस्तुओं में सुषुप्त पुरुष के तुल्य अनासक्त होकर व्यवहार करता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥१९॥ शरीर में और शरीर के सम्बन्ध में 'अहम्' (मैं), 'मम' (मेरा) ऐसी हेयोपादेय कलना जिस पुरुष के अन्दर क्षीण हो गई है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥२०॥ हर्ष, रोष, भय, क्रोध, काम और कार्पण्य दृष्टियों का जिसके हृदय में स्पर्श नहीं होता, वह मुक्त कहलाता है ॥२१॥ जो पुरुष जिसकी पदार्थों में आस्था शान्त हो गई, ऐसे चित्त से युक्त होकर, जाग्रत में भी सदा सुषुप्त की तरह स्थित रहता है और जैसे पूर्ण चन्द्रमा स्वाभाविक प्रसन्नता से सेवित होते है वैसे ही जो स्वाभाविक हर्ष से सेवित होता है, वह इस लोक में मुक्त कहा जाता है ॥२२॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनिजी के ऐसा कहने पर दिन बीत गया। सूर्य अस्त हो गया। मुनियों की सभा महामुनि को प्रणाम कर सायंकाल के कृत्य के लिए स्नान करने चली गई। रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर मुनियों की उभा उपस्थित हो गई ॥२३॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

जिस प्रकार के निश्चयों से युक्त जीवन्मुक्त पुरुष बन्धन में नहीं पड़ता और
अज्ञ बंधन में पड़ता है, उनके विभाग का पुनः वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी के इंगितों से इन्हें विदेहमुक्त का लक्षण जानने की इच्छा है, यह ताड़कर एकरूप से उसके लक्षण आदि का अभाव होने से वहाँ पुरुषों के कुण्ठीभाव कथन से ही निरतिशय, स्वप्रकाश, भूमानन्द का परिशेष ही विदेहमुक्ति का स्वरूपलक्षण है, यह सूचित करते हुए जीवन्मुक्ति लक्षणों में ही अवश्य उपादेय विशेषों को कहने के लिए वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग विदेह मुक्त हैं, वे वाणी के विषय हो ही नहीं सकते, इसलिए आप इस जीवन्मुक्ति को सुनिये ॥१॥

यदि कोई कहे, जीवन्मुक्तों में यदि तत्तद् वर्णाश्रम के उचित कर्मफलों में तृष्णा है, ते अज्ञानियों की तरह ही उन कर्मफलों के भोग के लिए उनको भी देहरूप बन्धन प्राप्त होगा। यदि उनमें तत्तद् वर्णाश्रम के उचित कर्मफलों में तृष्णा नहीं है, तो उनकी उन कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होगी, क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' ऐसा न्याय है, इस दोष का परिहार करने के लिए ज्ञानी और अज्ञानी की कर्म में प्रवृत्ति करानेवाली शुद्ध और अशुद्ध तृष्णा की विलक्षणता का उपपादन करते हैं।

विषय के आस्वादन में उत्साहरहित जिस तृष्णा से तत्–तत् वर्णाश्रम के स्वभाव से प्राप्त किये गये ये कर्म किये जाते हैं, उस तृष्णा को जीवन्मुक्तता कहते हैं ॥२॥

संसार सत्य है, इस बुद्धि से जिसके द्वारा भोगों में उत्साह दृढ़ हो गया है, ऐसी तृष्णा से प्राणों की बाह्य पदार्थों में आस्था है, उसे आचार्य लोग दृढ़ संसार निगिड़रूप बन्धन कहते हैं ॥३॥

भोग्य पदार्थों में 'ये मिथ्या हैं' इस निश्चय से हृदय में भोगसंकल्परहित और एकमात्र लोक संग्रह के लिए बाह्य पदार्थों में विहार करनेवाली जो तृष्णा उदित होती है, वह जीवन्मुक्तों के ही शरीर में आश्रित है ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य विषयों में जो लम्पटता से बढ़ी–चढ़ी तृष्णा है वह बद्ध कहलाती है। सम्पूर्ण पदार्थों में जो लम्पटता से रहित जो तृष्णा है वह मुक्त कहलाती है ॥५॥ विषयप्राप्ति के पहले और अन्त में रागविहार आदि के कारण तृष्णा की जो दुःख शून्यता थी, वही शून्यता यदि विषयप्राप्ति काल में भी निरन्तर रहे, तो वह तृष्णा विद्वानों द्वारा मुक्त कही गई है ॥६॥ हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार की हृदय में जो भावना है, उसे आप तृष्णारूपी और कलनारूपी श्रृंखला जानिये। उस तृष्णा का सत् और असत् पदार्थों में सदा त्याग कर परम उदार और महामना पुरुष जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त करता है। देह आदि बंधन की आशा का, देह आदि की निवृत्ति की आशंका, (*) सुख–दुःखदशा का और सत्–असत् की आशा का भी त्याग कर प्रशान्त महासागर

(*) बन्ध मिथ्या है, ऐसा निश्चय होने पर बन्ध की निवृत्ति के प्रार्थनीय न होने के कारण उसमें आशा त्याग स्वाभाविक है, क्योंकि जागता हुआ कोई पुरुष स्वप्न के निगड़बन्धन से छुटकारा पाने की आशा नहीं रखता।

की तरह आप स्थित होइये ॥७-९॥ हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, अजर, अमर आत्मा को जानकर आप जरा व मरण की शंका से मन को कलुषित न कीजिये ॥१०॥

आशा के त्याग में उपाय बताते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पदार्थरूपी दृश्य आपका नहीं है और आप भी यह नहीं है, यह परमार्थतत्त्व से अन्य ही कुछ है और आप भी इससे अन्य ही हैं। असत् उदित हुए इस असत् विश्व के सत् की तरह स्थित होने पर और आपके उक्त विश्वता का अतिक्रमण करने पर तृष्णा का सम्भव ही कहाँ हो सकता है ? ॥११,१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारवान पुरुष के हृदयमें चार प्रकार का विस्तृत निश्चय होता है, उसे भी आप सुनिये। पैर से लेकर सिर तक मैं माता-पिता द्वारा निर्मित हूँ, इस प्रकार का एक निश्चय है, है श्रीरामचन्द्रजी, असत्दर्शन उक्त निश्चय बन्ध के लिए है। मैं देह, इन्द्रिय आदि सब पदार्थों से परे, बाल के अग्रभाग से भी सूक्ष्म हूँ, ऐसा दूसरा निश्चय सज्जनों के मोक्ष के लिए होता है ॥१३-१५॥ हे रघुवर, जगत के सब पदार्थों का स्वरूपभूत अविनाशी मैं ही सब कुछ हूँ इस प्रकार का तीसरा निश्चय भी मोक्ष का ही कारण है। मैं अथवा यह जगत सब आकाश के तुल्य सब शून्य ही है, इस प्रकार का यह चौथा निश्चय भी मोक्षसिद्धि के लिए होता है ॥१६,१७॥ इन निश्चयों में पहला निश्चय बन्धन के लिए कहा गया है, शुद्ध भावना से उत्पन्न हुए शेष तीन मोक्ष के लिए कहे गये हैं ॥१८॥

यदि कोई शंका करे, तृष्णा भेद के निरूपण के अवसर पर इस विभाग की क्या आवश्यकता है ? तो इस पर कहते हैं।

इनमें से पहला निश्चय बन्धन का हेतु है, इसके रहने पर ही तृष्णा बन्धक होती है। निर्दोष तृष्णावाले शेष तीन निश्चय स्वच्छ हैं। जीवन्मुक्त पुरुषों में ही वे विलास करते हैं ॥१९॥

उनमें तीसरे निश्चय का प्रयोजन कहते हैं।

हे महामते, सर्वात्मा मैं ही सब कुछ हूँ, इस प्रकार का जो निश्चय है, उसे प्राप्त कर मेरी बुद्धि फिर विषाद को प्राप्त नहीं होती है ॥२०॥ आत्मा की महिमा ऊपर-नीचे-तिरछे सर्वत्र है, सभी आत्मा है, इस प्रकार के उस आन्तरिक निश्चय से पुरुष बन्धन में नहीं पड़ता ॥२१॥ *(चौथा निश्चय शून्यवादी के मत में प्रविष्ट है, इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं।)* परिशिष्य, नित्य आत्मा ही वादियों द्वारा शून्य, प्रकृति, माया, ब्रह्म, विज्ञान, शिव, पुरुष, ईशान-इन शब्दों से कहा जाता है। अवस्तु इन शब्दों से नहीं कहा जाता है। यह सब सदा सत् ही है, यहाँ पर द्वित्व या अन्यत्व विद्यमान नहीं है। परमार्थ स्वरूप दृष्टि से सारा जगत व्याप्त है, भ्रान्तिबुद्धि से व्याप्त नहीं है। जैसे असीम सागर पाताल तक जल से भरा हुआ है वैसे ही ब्रह्मा से लेकर पेड़-पौधों तक सारा जगत आत्मा से पूर्ण है, इसलिए प्रमाण से बोधित ब्रह्मैक्य ही नित्य और सत्य है, उससे अतिरिक्त मिथ्या जगत कहीं नहीं है। जैसे कि सारा सागर जल ही है, तरंग आदि कहीं पर नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥२२-२५॥ जैसे कड़ा, बाजुबन्द, नूपुर आदि सुवर्ण से पृथक् नहीं है, वैसे ही वृक्ष, तृण आदि करोड़ों आकार आत्मा से भिन्न नहीं हैं ॥२६॥

तो जल-समुद्र आदिरूप जगत में भेदाभेद प्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

परमात्ममयी अद्वैत शक्ति ही द्वैत और अद्वैतभेद से जगन्निर्माण लीला द्वारा अज्ञों के लिए विस्तार को प्राप्त होती है ॥२७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वकीय अथवा परकीय पुत्र–मित्र आदि सारे जगत के वृद्धि को प्राप्त होने पर अथवा नष्ट होने पर आप सुख–दुःख का ग्रहण कभी भी न कीजिये ॥२८॥

मुझे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, इस पर कहते हैं।

ब्रह्म के तुल्य ही आप परमार्थतः सत्ता द्वैतात्मक ही होकर व्यवहारकाल में भी भावना द्वारा अद्वैत का ही आश्रय कर तत्–तत् प्राणियों के कर्मफल देने के समय ब्रह्म के सदृश ही वर्ण–आश्रमधर्म व्यवस्थापन के विषय में द्वैत का सर्वथा अनादर कर सर्वथा व्यवहार करते हुए यथा योग्य द्वैत–अद्वैत परायण होइये, भाव यह है कि अद्वैत में कर्मों की ही सिद्धि न होने के कारण एकरूपता से सर्वत्र कथंचित अद्वैताचरण करने पर जगत की व्यवस्था तथा धर्मशास्त्र आदि का बाध होगा, इसलिए वहाँ पर द्वैत का आश्रय ही उचित है। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप पदार्थों की विविध आँधी से भीषण उत्पातों से भरी हुई जन्म भूमियों में, उत्पातपूर्ण गर्तों में हाथी के समान, मत गिरिये ॥२९,३०॥ परमार्थतः द्वैत का सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह चित्त से कल्पित ही है वास्तविक नहीं है। अन्यवादियों ने भी द्वित्व की अपेक्षा बुद्धि से उत्पत्ति तथा उपेक्षाबुद्धि के नाश से नाश माना है। इसी प्रकार आत्मा में एकत्वनामक संख्या गुण भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी द्वित्व आदि के व्यावर्तकत्वरूप से ही कल्पित होने के कारण द्वित्व से ही उदित हुआ है अतएव अद्वैत, ऐक्य से भी रहित, अपनी सिद्धि में अन्य की अपेक्षा न रखने के कारण सदा उदित, सन्मात्र ब्रह्म ऐक्य के निरास से सर्वरूप है और द्वैत के निरास से कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'तस्मात्तत् सर्वमभवत्' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियाँ और उसके अनुभव करनेवाले ज्ञानी जन ऐसा कहते हैं ॥३१॥

न तो 'अहम्' है और न जगत ही है; किन्तु यह सब निर्विकार, विज्ञानमात्र ही है, उसके साक्षात्कारमात्र से शान्त हुए इस जगत को सदा न तो असत् और न सत् जानिये। परम, अमृत, अनादि, सब ज्योतियों को भासित करनेवाला, अजर, अज, अचिन्त्य, निष्कल, निर्विकार, सब इन्द्रियों से रहित, प्राण के भी प्राणन में निमित्तभूत, सब कलनाओं से रहित, कारणों के भी कारण, सदा उदित ईश्वर, फैले हुए चिदाकाश में स्थित, अनुभवों के बीजस्वरूप, स्वरूप स्थिति द्वारा उपदेश देने के योग्य, आन्तरानन्दैकरसब्रह्म ही तुम, मैं और जगत है उससे भिन्न कुछ नहीं है, इस प्रकार का निश्चय तुम्हारे हृदय में हो ॥३२–३४॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठारहवाँ सर्ग

जिस स्थिति में स्थित पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता,
उस स्थिति का विस्तारपूर्वक श्रीरामचन्द्रजी के लिए उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे आजानबाहु श्रीरामचन्द्रजी, समाहित चित्तवाले, काम, लोभ आदि कुदृष्टियों से अदूषित, इस संसार में लीलापूर्वक विचरण कर रहे महात्माओं की यह स्थिति आप सुनिये ॥१॥ जीवन्मुक्त मनवाला मुनि इस संसार में विचरण करते हुए भी पहले जन्मादि दुःखों से, बीच में आध्यात्मिक आदि दुःखों से और अन्त में मृत्यु आदि दुःखों से विरस जगत की गतियों को 'ये

परिहास के योग्य हैं', यों तुच्छ समझ कर देखे ॥२॥ तत्-तत् समय में प्राप्त हुए सब उचित कार्यों में स्थित, शत्रु, मित्र आदि दृष्टियों में सम, पूर्वोक्त ज्ञेय और ध्येय भेद से वर्णित दो प्रकार के वासना त्यागों में से ध्येय वासनात्याग का अवलम्बन करके स्थित, सर्वत्र उद्वेगरहित, लोगों के अभिमत का पोषक यानी किसीका भी अप्रिय न करनेवाले, विवेकरूपी प्रकाश से आत्मसाक्षात्कारवान्, ज्ञानरूप उपवन में स्थित, सर्वातीत पद का यानी ब्रह्म का अवलम्बन करनेवाला, पूर्णचन्द्रमा के समान शीतल आशयवाला, न किसी से उद्वेग करनेवाला और न किसी से सन्तुष्ट होनेवाला पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता ॥३-६॥ सब शत्रुओं में सम दृष्टि रखनेवाला, दया, दाक्षिण्यआदि गुणों से युक्त, गुरु आदि पूजनीय लोगों के समयोचित सेवा, परिपालन आदि कार्य करनेवाला पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता। जो पुरुष प्राप्त प्रिय का न अभिनन्दन करता है, न अप्रिय का द्वेष करता है, न विनष्ट का शोक करता है, न अप्राप्त की आकांक्षा करता है, मितभाषण करता है और आवश्यक काम में आलस्य नहीं करता है, वह संसार में पीड़ित नहीं होता ॥७॥

जो पूछने पर प्रस्तुत विषय को कहता हैं, बिना पूछे मौन होकर खम्भे की तरह खड़ा रहता है, इच्छा और अनिच्छा से रहित वह पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता ॥८॥ सबका प्रिय करनेवाला, अगर कोई आक्षेप करे तो चतुरतापूर्वक समाधान करनेवाला और प्राणियों के आशय को जाननेवाला पुरुष संसार में पीड़ित नहीं होता ॥९॥ यह युक्त है और यह अयुक्त है, इस प्रकार वैषम्य दृष्टि से ग्रस्त एवं आशय से जिसकी दृष्टि नष्ट है, ऐसे पुरुष से किये गये लोक दृष्टान्त को अपक्षपाती होने के कारण हाथ में स्थित बिल्वफल के समान वह जानता है। भाव यह कि यदि एकका पक्षपात होता तो उस पक्ष के दोष तथा दूसरे पक्ष के गुण राग-द्वेष से आच्छन्न होने के कारण स्पष्ट नहीं भासित होते, अपक्षपाती को दोनों स्पष्टरूप से भासित होते हैं ॥१०॥ परम पद में आरूढ़ होकर वह विनाश को प्राप्त होनेवाली जगत की स्थिति को अन्तःशीतल अपनी बुद्धि से उपहास करते हुए देखता है ॥११॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन लोगों ने अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है, जिन महात्माओं ने परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उन लोगों का ऐसा स्वभाव मैंने आपसे कहा ॥१२॥

मुक्तों की स्थिति के समान बद्ध पुरुषों की स्थिति का उनके आशय के उद्धरण द्वारा आप वर्णन कीजिये, ऐसा यदि श्रीरामचन्द्रजी कहें, तो मूर्खों की मनोरथयुक्त भ्रान्तियाँ, उनसे प्रयुक्त दुश्चेष्टाएँ तथा उनके फलभूत दुःखों की विचित्रताएँ अनन्त हैं, अतएव उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं।

जिन्होंने अपने चित्त पर विजय प्राप्त नहीं की एवं जो भोगरूप कीचड़ में डूबे हैं, ऐसे मूर्खों के अभिमत को कहने के लिए हमें परिज्ञान नहीं है। उन मूर्खों को नारियाँ, जो विवेक-बुद्धियों के अत्यन्ताभाव से, पूर्वसंचित पुण्यों के प्रध्वंसाभाव से और सम्भावित पुण्य, तप, संयम आदि के प्रागभाव के परिपालन से पैर से लेकर मस्तक तक अलंकृत है अतएव जो सुवर्ण की कान्ति के समान कान्तिवाली नरकाग्नियों की ज्वाला हैं, अभिमत हैं और अनर्थों से भरे हुए यानी उपार्जन, रक्षण, व्यय और नाश में बहुत आयास एवं अधर्म के निमित्तभूत, व्यर्थ अनर्थ प्रयोजक कलह, वैर आदि क्लेशों के कारण, संसारदुःख को देनेवाले तथा चारों ओर से आपत्तियों की वर्षा करनेवाले घन ईच्छित है ॥१३-१५॥

यदि कोई कहे, इस प्रकार के धन से भी यज्ञादि सत्कर्मों का आचरण होने से उनका निस्तार हो सकता है, तो इस पर 'नहीं', ऐसा कहते हैं।

मूर्खों के जो यज्ञादि कर्म हैं, वे भी फलाभिलाषा युक्त ही हैं और विविध प्रकार के दंभ, मान, मद, मात्सर्य आदि दुराचारों से पूर्ण हैं अतएव पुनर्जन्म आदि से होनेवाले सुख–दुःखों से भरे हुए हैं, इसलिए मूर्खों का कुछ भी निस्तार का हेतु हम नहीं कह सकते ॥१६॥

इसलिए आप भी विद्वच्चरित्र से ही विहार कीजिये, अन्य से नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ध्येयनामक वासनात्याग से विलसित होनेवाली पूर्ण दृष्टि का अवलम्बन करके स्वस्थ हुए आप जीवन्मुक्तरूप से विहार कीजिये ॥१७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर सब आशाओं का त्याग कर वीतराग, वासनारहित हुए आप बाहर सब कर्म आचारों में अनुवर्तनशील होकर लोक में विहार कीजिए ॥१८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदार, मधुर आचारवाले, सबके (अज्ञानियों के भी) कर्म आदि आचारों में अनुवर्तनशील होकर लोक में विहार कीजिये ॥१९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सब संसार दशाओं और परमार्थस्वरूप में स्थिति रूप भिन्न–भिन्न भूमिका दशाओं का विचार करके जो परमार्थ सत्य परम पद है, उसी का भावना द्वारा अवलम्बन कर आप लोक में विहार कीजिये ॥२०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर निराशता का ग्रहण कर और बाहर आशान्वित पुरुषों की सी चेष्टावाले अतएव धनादि नाश होने पर बाहर संतप्त के समान संतप्त किन्तु भीतर चारों ओर शीतल आप लोक में विहार कीजिये ॥२१॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाहर कृत्रिम आडम्बरवाले और हृदय में आडम्बरहीन, बाहर कर्ता और भीतर अकर्ता आप लोक में विहार कीजिये ॥२२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अप सब पदार्थों का व्यवहारतः और परमार्थतः सारासार तारतम्य जान चुके हैं, इसलिए आप जैसे चाहते हैं, वैसी दृष्टि से लोक में विहार कीजिये।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कृत्रिमरूप से उल्लास और हर्ष में स्थित, कृत्रिमरूप से दुःख की गर्हा (निंदा) करनेवाले और कृत्रिमरूप से कार्य के आडम्बर से युक्त आप लोक में विहार कीजिये ॥२३,२४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अहंकार का त्याग कर चुके, स्वस्थ बुद्धिवाले और आकाश के सदृश सुन्दर एवं जिन्होंने कलंकरूपी चिह्न का ग्रहण नहीं किया, ऐसे आप लोक में व्यवहार कीजिये। चन्द्रमा रात्रि में केवल 'मैं ही प्रकाशक हूँ', यों अहंकारयुक्त, क्षयरोगी होने के कारण अस्वस्थबुद्धि तथा कलंक से लांछित भी है, आप वैसे नहीं है, इस तरह इस श्लोक द्वारा चन्द्रमा से श्रीरामचन्द्रजी में व्यतिरेक दर्शाया ॥२५॥

हे राघव, सैकड़ों आशारूपी पाशों से उन्मुक्त, सब वृत्तियों में सम, बाहर तत्तत वर्णाश्रम स्वभाव के उचित कार्यों में अथवा प्रजाओं के हितकर कार्यों में संलग्न आप लोक में विहार कीजिये ॥२६॥

सब वृत्तियों में सम, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसका बन्ध–मोक्ष आदि विषमता के प्रतिषेध द्वारा उपपादन करते हैं।

देही का परमार्थतः न बन्ध है और न मोक्ष है। यह मिथ्या इन्द्रजाल के संसार में भ्रमण करानेवाली है ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तेज धूप में जल की प्रतीति करानेवाला प्रचुर मृगजल भ्रमवश दिखाई देता है, वैसे ही अज्ञान से भ्रान्तिमात्र यह जगत दिखाई देता है ॥२८॥

देही का बन्धन क्यों नहीं है, ऐसा प्रश्न होने पर उसमें युक्ति दिखाते हैं।

असंग, एकरूप, सर्वव्यापक, आत्मा का बन्धन कैसे हो सकता है, जब वह बद्ध नहीं है, तो मोक्ष का किसके लिए विधान हो सकता है ? ॥२९॥ यह विशाल संसार भ्रान्ति अतात्विक ज्ञान से उत्पन्न हुई है, तत्त्वज्ञान से यह जैसे रज्जु में सर्पबुद्धि चली जाती है वैसे ही नष्ट हो जाती है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपनी एकाग्र सूक्ष्मबुद्धि से अपने तत्त्व को जान चुके हैं और अहंकाररहित हो चुके हैं, इसलिए आप आकाश के तुल्य निर्मल होकर स्थित होइये। आप इसी प्रकार साक्षी है, इसलिए मित्र, बन्धु, बान्धवों से सम्बन्ध रखनेवाली सब वासनाओं का त्याग कीजिये। जिनका स्वरूप ही विद्यमान नहीं हैं ऐसे बन्धु-बान्धवों की वासना कैसी ? ॥३१,३२॥ इस प्रकार वासना का त्याग होने पर वासनाओं से परिशिष्ट साक्षीरूप आपका परिशेषतः परमार्थसत्त्ववान्‌रूप से अनुमान होता है। वासनाओं के त्याग के पहले परम कारण ब्रह्म से प्रलय और सुषुप्ति में नित्य प्राप्त हुआ भी यह आत्मतत्त्व परिच्छिन्न, असत्यरूप ही प्राप्त हुआ; किन्तु परमार्थसत्यरूप प्राप्त नहीं हुआ। *इस प्रकार वासना त्याग ही आत्म प्राप्ति में हेतु है, अन्य हेतु नहीं है, यह भाव है* ॥३३॥

भोगों से, भोगसाधक बन्धुओं से, जगत के माला, चन्दन आदि पदार्थों से और उनकी प्राप्ति में निमित्तभूत शुभ-अशुभ कर्मों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर इनके लिए आप व्यर्थ ही शोक क्यों करते हैं ? ॥३४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं, जिसका केवल आत्मता ही एकमात्र परमानन्दसत्य है, ऐसा हूँ, इस प्रकार की जिन्हें बुद्धि प्राप्त हो गई, ऐसे आपका भय के कारणों से सम्बन्ध नहीं है, फिर आप जगत के भय से क्यों डरते है ? ॥३५॥ मिथ्या होने के कारण बन्धु के उत्पन्न होने पर उसके दुःख-सुख के भ्रमों से आपका कौन सम्बन्ध है ? जो आप इनके लिए शोक करते हैं ॥३६॥

इस प्रकार आत्मा के असंगत्व, अद्वितीयत्व के दर्शन से शोक को असम्भव कहा है। अब भले ही आत्मा संगी हो, तथापि वह नित्य है या क्षणिक है या प्रागभाव या घटादि के समान कालान्तर में नष्ट होनेवाला है। इन सभी पक्षों में बन्धु के लिए शोक करना उचित नही है, यों प्रगल्भता से समाधान करने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी पहला पक्ष लेकर कहते हैं।

आप यदि पूर्व जन्मों में हुए थे, भावी जन्मों में होंगे और इस समय इस जन्म में स्थित हैं, इस प्रकार के स्वभाववाले आत्मा को निश्चयरूप से जान चुके हैं, तो विद्यमान और निकट स्थित बन्धुओं के समान अतीत और बहुत-से प्राणों के समान प्यारे बन्धुओं का शोक क्यों नहीं करते हैं ? भाव यह कि विनिगमना विरह से सब में शोक न होने के कारण कहीं शोक करना उचित नहीं है ॥३७,३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले आप अन्य हुए थे, इस समय अन्य हैं और आगे भी अन्य होंगे इस प्रकार क्षणिक आत्मा को यदि आप जानते हैं, फिर भी आप सद्रूप का अवलम्बन करके क्यों शोक करते है, दूसरे क्षण में शोच्य और शोचिता का अभाव होने से शोक का अवसर ही नहीं है, यह दूसरा पक्ष है ॥३९॥

तीसरे पक्ष में कहते हैं।

पहले उत्पन्न होकर और इस समय उत्पन्न होकर फिर आप आगे नहीं उत्पन्न होंगे, तथापि अपने नष्ट होने के कारण क्षीण संसार (जिसका संसार क्षीण हो गया है) आप किसलिए शोक करते हैं ? ॥४०॥

जबकि आत्मा के जन्म आदि का संगी होने पर भी शोक युक्त नहीं है, तब फिर असंग, उदासीन, नित्य, कूटस्थ, स्वप्रकाश, पूर्ण, आनन्दैकरस आत्मा में शोक उचित नहीं, इसमें कहना ही क्या, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

इसलिए मायिक जगत के क्रम में दुःखी होना उचित नहीं है; किन्तु स्वाभाविक सन्तोषवृत्ति ही उचित है तथा स्वाभाविक कार्यों का अनुवर्तन उचित है॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप दुःखी न होइये और सुखी भी न होइये। सब जगह आप समता को प्राप्त होइये; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक है। अनन्त, सत्स्वरूप आप व्यापक आकाश के समान हैं तथा ज्वालाओं के चारों ओर से प्रभा से व्याप्त मध्यभाग में अन्धकार का अवकाश नहीं है, वैसे ही आप में भी अज्ञान दुःख आदि का अवसर नहीं है, यह भाव है ॥४२,४३॥

आप ही सबके अन्तरात्मा है, ऐसा कहते हैं।

जिनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हुआ, ऐसे सूक्ष्म आप हारभूत मोतियों के एक दीर्घ तन्तु के समान सब जगत के पदार्थों के अन्दर स्थित है। यह संसार की स्थिति ही है कि अज्ञ को ही उत्पन्न होकर फिर उत्पन्न होना पड़ता है, ज्ञानी को नहीं। हे श्रीरामचन्द्रजी आप ज्ञानी है, आप सुखी होइये। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार का यह स्वरूप दुःखों से पूर्ण है, अज्ञान से ही यह विस्तार को प्राप्त होता है। हे सन्मते, आप ज्ञानवान हैं। भ्रम में एकमात्र भ्रम के सिवाय और दूसरा रूप क्या हो सकता है ? स्वप्न में एकमात्र स्वप्न को छोड़कर अन्य कौन क्रम हो सकता है ? भाव यह है कि अन्य भ्रान्तियों में वास्तविकता की प्रसिद्धि न होने के कारण इसमें भी कोई वास्तविकता नहीं है ॥४४–४७॥

जो निस्तत्त्व हैं वह सत्यरूप से कैसे दिखाई देता है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वशक्ति की यह शक्ति है, जो कि भ्रममात्रतामय यह जगदाकार भान अतिस्फुट दिखाई देता है। *(जगत की भ्रममात्रता के प्रदर्शन के लिए उसकी अनित्य स्वभावता दिखलाते हैं।)* यहाँ पर कोई किसी का सुबन्धु नहीं है, कोई किसीका शत्रु भी नहीं है, सर्वेश्वर भगवान् की इच्छा से सब–सबके–सब (शत्रु, मित्र और उदासीन) होते हैं ॥४८,४९॥ परस्पर निमित्तभूत और जर्जरित यह सारा जगत जल के तरंगों के समूह के समान सदा बहता है ॥५०॥ इस चंचल संसार का चक्र नेमि के (पहिये के घेरे के) समान चारों ओर से नीचे का भाग ऊपर आता है और ऊपर का भाग नीचे आता है ॥५१॥ स्वर्ग के लोग नरक में जाते हैं और नारकीय लोग स्वर्ग में जाते हैं। लोग एक योनि से दूसरी योनि में और एक द्वीप से दूसरे द्वीप में जाते हैं। धीर लोग दीनता को प्राप्त होते हैं और दीन धीरता को प्राप्त होते हैं। अधोगति, ऊर्ध्वगतिआदि सैकड़ों भ्रमों से प्राण परिस्फुरित होते हैं ॥५२,५३॥ यह पदार्थ समूह एकरूप से स्थित, स्वच्छ और सन्तापरहित है। जैसे अग्नि में हिमकण प्राप्त नहीं होता वैसे ही यहाँ कुछ भी प्राप्त नहीं होता ॥५४॥ जो–जो महाभाग्यशाली बहुत–से बान्धव हैं, वे सब कुछ ही दिनों में नष्ट हुए ही देखने में आते हैं। हे महाबाहो, परता, आत्मीयता, अन्यता, त्वत्ता, मत्ता इत्यादि भावनाएँ द्विचन्द्रदर्शन के समान सत्य नहीं हैं ॥५५,५६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बन्धु है, यह शत्रु है, यह मैं हूँ, यह आप हैं, इस प्रकार की आपकी मिथ्यादृष्टियाँ अब छिन्न–भिन्न हो जाय। क्रीड़ा के लिए व्यवहार में स्थित आप

भीतर अज्ञान और वासना के साथ छिन्न–भिन्न हुई, बाधित अनुवृत्तिवाली इन दृष्टियों से आनन्दपूर्वक बाहर व्यवहार कीजिये ॥५७,५८॥ हे सुव्रत श्रीरामचन्द्रजी, वासनाभारवान की यानी अज्ञानी की तरह जैसे आप श्रम से परिश्रान्त न हों, वैसे इस संसार मार्ग में आप विहार कीजिये। वासनाओं का क्षय करनेवाली यह विचारणा जैसे–जैसे आपमें उदित होती है वैसे–वैसे व्यवहार बन्द होते जाते हैं। यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, ऐसी गणना संकुचित चित्तवाले पुरुषों में होती है, उदाराशय पुरुषों की तो बुद्धि आवरणशून्य (यही बन्धु है, इस प्रकार के परिच्छिन्नतारूप आवरण से रहित) यानी सर्वत्र समदर्शिनी है ॥५९–६१॥ वह वस्तु नहीं है, जहाँ पर मैं नहीं हूँ। वह वस्तु नहीं है, जो मेरी न हो, ऐसा निश्चय कर धीर पुरुषों की बुद्धि पूर्वोक्त आवरण से रहित ही होती है ॥६२॥ जो पुरुष महान है, वह चिदाकाश के समान न तो अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है, जैसे आकाश में स्थित पुरुष भूतल को देखता है, वैसे ही वह स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सबको देखता है ॥६३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सभी भूतजातियाँ आपके बन्धु सम्बन्धी हैं, क्योंकि अनादि संसार में सब योनियों में बहुत बार आपने जन्म लिया है। ये सब आपकी बन्धुता के अत्यन्त असंबद्ध नहीं हैं, क्योंकि बारी–बारी से सब–के–साथ आपका सम्बन्ध है अथवा देहद्वारक परम्परा सम्बन्ध की अपेक्षा सब जीवों के साथ एकात्म्य सम्बन्ध अन्तरंग है, अतएव उस सम्बन्ध से अत्यन्त असम्बद्ध कोई नहीं है, यह भाव समझना चाहिये ॥६४॥ जहाँ विविध योनियों से विचित्र सैकड़ों जन्मों से यह भ्रम निहित है, ऐसे इस जगत में यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, यह भेददर्शन भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं है, वस्तुतः तो जीवभावदृष्टि में तीनों भुवनों के समस्त जीव अपने बन्धु ही हैं और ब्रह्मभावदृष्टि में तो स्वयं ही सब कुछ है, इसलिए त्रिभुवनस्थ सब जीव ही अबन्धु भी है ॥६५॥

अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

पूर्वोक्त कथन की सिद्धि के लिए पुण्य और पावन के आख्यान का वर्णन,
जिसमें पुण्य ने पितृशोकार्त पावन को ज्ञानोपदेश दिया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त विषय में ही मुनिपुत्र दो भाइयों के गंगाजी के तट पर हुए संवादरूप इस प्राचीन इतिहास को विद्वान लोग कहते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, इस कथा के सिलसिले में मुझे इसका स्मरण हो आया है। आप इस पवित्र और अद्भुत इतिहास को सुनिये ॥१,२॥ इस जम्बूद्वीप के किसी पर्वत समूह के मध्य में महेन्द्रनामक पर्वत है, जिसकी वनराजियाँ महामुकुटभूत हैं, जिसके कल्पवृक्ष के वनों की छाया में मुनि और किन्नर विश्राम लेते है, जिसने अपने गगनचुम्बी शिखरों से विस्तृत आकाश को भी व्याप्त कर दिया है, जो ब्रह्मलोक के भीतर पहुँचे हुए शिखरों की गुफाओं में फैल रहे सामवेद की प्रतिध्वनियों के कोलाहलों से मानों गान करता है, जो शिखरों की चोटियों पर बिजली से सुशोभित नीले मेघों से सुशोभित होता है, जो लता के फूलों से गुँथे हुए केशों के समान दिखते हैं, जो उस समय तटों में उछलने के लिए उत्कण्ठित शरभों के विजृम्भणों (मुँह फाड़ने) से अपने गुहारूपी मुँहों द्वारा प्रलयकाल के मेघों का उपहास करता हुआ–सा

गर्जता है, इसने गुफाओं के अन्दर होनेवाले झरनों के कलरव से समुद्रजल कल्लोंलों के विलास को सर्वथा जीत लिया है। उसके एकभाग में, रत्नमय, मनोहर, विस्तृत शिखर पर मुनियों ने स्नान, जलपान आदि के लिए आकाश गंगा को उतार लिया था ॥३–९॥ उस आकाशगंगा के दैदीप्यमान, सुवर्ण-से पीले तट पर, जहाँ फूले हुए वृक्ष थे और रत्नमयपर्वत के तट से प्रकाश जगमगाता था वहाँ ज्ञानवान्, तपस्या की राशिरूप, उदारबुद्धि दीर्घतपा नामक मुनि निवास करते थे, जो मूर्तिमान दूसरे तपरूप थे ॥१०,११॥ उस मुनि के चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर पुण्य और पावन नाम के दो लड़के थे, यदि बृहस्पति के कच नाम के दो पुत्र होते, तो उनसे उनकी उपमा हो सकती ॥१२॥ दीर्घतपा मुनि उन दोनों पुत्रों और भार्या के साथ फल से लदे हुए वृक्षों से पूर्ण उस गंगातट पर निवास करते थे ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, समय बीतने पर उनके दो लड़कों में से पुण्य नामवाला बड़ा लड़का तत्त्वज्ञानी हुआ, जो अवस्था से ज्येष्ठ और गुणों से भी ज्येष्ठ था ॥१४॥ पावन प्रातःकाल की सन्ध्या के कमल के समान अर्ध प्रबुद्ध हुआ। मूर्खता से तो बाहर हो गया, किन्तु परमात्मवस्तु में प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए उसकी स्थिति मध्य में दोलायमान थी ॥१५॥ तदनन्तर प्राणियों द्वारा आयु के क्षयरूप से लक्षित सौ संवत्सरकाल के 'जिसने उनकी दीर्घ देहरूपी लता और आयु जीर्ण कर दी थी' बीतने पर इस क्षणभंगुर प्राणियों से पूर्ण, जन्म, जरा, मरण, स्वर्ग से पतन, नरक आदि सैकड़ों वृत्तान्तों से भयंकर संसार का अनुराग त्याग कर जरा से जर्जरित जीवनवाले दीर्घतपा मुनि ने गिरि-गुफारूपी घर में कलनारूप चिड़िया के घोंसले रूप देह का, जैसे भारवाहक पुरुष घर में भार का त्याग करता है, वैसे ही त्याग किया ॥१६–१८॥

जैस फूल की सुगन्ध आकाश में जाती है, वैसे ही जिसमें कलना क्रिया शान्त है एवं चेत्य से रहित जो तत्तद् जीव चेतन हैं, उनके स्थानभूत रागरहित परम पद को वे प्राप्त हुए। तदनन्तर मुनि की पत्नी ने प्राण और अपान से रहित मुनि की देह को नालरहित कमल के समान गिरी हुई देख कर पति द्वारा सिखाई गई चिरकाल से अभ्यस्त योगक्रिया से अपने शरीर का, जो रोग, बुढापे आदि से जर्जरित नहीं हुआ था, ऐसे त्याग किया, जैसे भँवरी अम्लान कमलिनी का त्याग करती है। लोगों की अदृश्यता को प्राप्त उसने जैसे प्रभा आकाश में स्थित अस्त को प्राप्त हुऐ चन्द्रमा का अनुसरण करती है वैसे ही पति का ही अनुसरण किया। माता-पिता के चले जाने पर उनके और्ध्वदेहिक कर्म में पुण्य ही अव्यग्रता पूर्व स्थित रहा और पावन दुःख को प्राप्त हुआ। शोक से व्याकुल चित्तवाला वह पावन अरण्य भूमियों में घूमता हुआ अपने ज्येष्ठ भाई के समान धैर्य का अवलम्बन न कर विलाप करता था ॥१९–२४॥ तत्त्वज्ञानी पुण्य माता-पिता का और्ध्वदेहिक कर्म समाप्त कर वन में शोक से व्याकुल पावन के समीप आया ॥२५॥

पुण्य ने कहा : हे वत्स, जैसे वर्षा ऋतु अन्धता की एकमात्र कारण तथा भाप के समूह को धारण करनेवाली जल-सम्बन्धी गर्मी को मेघ बना देती है, वैसे ही तुम अन्धता के एकमात्र कारण तथा अश्रुओं की धारा धारण करनेवाले कमल सदृश नेत्र सम्बन्धी घोर शोक को निबिड़ बना रहे हो ॥२६॥

हे महाप्राज्ञ, तुम्हारे पिता तुम्हारी माता के साथ स्वरूपभूत, मोक्ष नामक परमात्मपदवी को प्राप्त हो गये हैं। वही सब जन्तुओं का उत्पत्ति आदि तीनों कालों में आधारभूत है। ब्रह्मवेत्ताओं का वह स्वरूप है। पिता के अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाने पर तुम क्यों शोक करते हो ? तुमने, यही मेरी माँ

है, यही मेरे पिता है, इस प्रकार की मोह से उत्पन्न हुई भावना यहाँ पर बाँध रक्खी है, जिससे शोक के अयोग्य पिता का भी तुम शोक करते हो। न वही तुम्हारी माता है, न वही तुम्हारे पिता हैं तथा असंख्य पुत्रवाले उनके न तुम्हीं पुत्र हो ॥२७-३०॥ हे वत्स जैसे प्रत्येक वन में जलप्रवाह के बहुत से गड्ढे होते हैं, वैसे ही तुम्हारे हजारों माता-पिता हो चुके हैं॥३१॥ हे वत्स, असंख्य पुत्रवाले उनके तुम्हीं केवलपुत्र नहीं हो। नदियों की तरंगों के समान मनुष्यों की बहुत-सी पुत्र राशियाँ व्यतीत हो चुकी हैं। जैसे लता और शाखा के लाखों पत्ते, कोंपलें, डंठल व्यतीत होते है, वैसे ही हमारे माता और पिता के अनेक लाखों पुत्र बीत चुके हैं। जैसे महावृक्ष के प्रत्येक ऋतु में फल व्यतीत होते हैं वैसे ही जन्तु के प्रत्येक जन्म में मित्र, बान्धव आदि के वृन्द व्यतीत हुए हैं॥३२-३४॥

हे वत्स, यदि माता, पिता, पुत्र आदि स्नेहवश शोक के योग्य हैं, तो निरन्तर अतीत हजारों माता-पिता पुत्र आदि का शोक क्यों नहीं किया जाता है ? ॥३५॥ हे महाभाग, जगत की कल्पना के निमित्तभूत मोह के होने पर ही यह प्रपंच दिखाई देता है। हे प्राज्ञ, परमार्थतः आपके मित्र, बन्धु-बान्धव है ही नहीं। हे भ्राता, चिरकाल से संतप्त महान मरुस्थल में जैसे जल बिन्दु नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्मस्वभाव होने के कारण परमार्थ दृष्टि से यहाँ नाश नहीं है। ब्रह्मबोध होने पर तो कहना ही क्या है ? जो इन छत्र, चामरो ंसे चंचल राजसम्पत्तियों को तुम देखते हो, हे महाबुद्धे, यह तीन अथवा पाँच दिनों का स्वप्न ही है ॥३६-३८॥

हे वत्स, पारमार्थिक दृष्टि से तुम सत्य का विचार करो, न तो तुम हो और न हम हैं। तुम्हारे भीतर जो भ्रान्ति है, उसका तुम त्याग करो। यह गया, यह मर गया इत्यादि दुर्दृष्टियाँ अपने संकल्परूप सन्निपातभ्रम से उत्पन्न हुई सामने दिखाई देती हैं, परमार्थतः नहीं दिखाई देती है। अज्ञानरूप धूप से आच्छन्न मरुभूमि सदृश आत्मा में पुण्य-पापरूप प्रवाह से युक्त तरंगों से चंचल स्वसंकल्प वासना नामक यह असीम मृग जल परिस्फुरित होता है॥३९-४१॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

पुण्य द्वारा पावन के तथा अपने नाना योनियों में जन्मों का शोक-मोह की निवृत्ति के लिए वर्णन।

शोक मोहमूलक है, मोह के निरास द्वारा ही इसका शोक दूर करना चाहिये, यों समझ रहे पुण्य शोक के विषयभूत पिता आदि के अनिर्वचनीय होने से उनका मिथ्यात्व की प्रतिज्ञा कर ज्ञान से उसकी निरसनीयता का वर्णन करते हैं।

पुण्य ने कहा : हे वत्स, कौन पिता है अथवा कौन मित्र है, कौन माता है और कौन बन्धु-बान्धव है, तत्त्वतः इन सभी का निर्वचन नहीं हो सकता है। अपनी भ्रमरूपी आँधी से ही ये जनरूपी धूलिकण उत्पन्न होते हैं अथवा अपनी विवेक बुद्धिरूप आँधी से ही ये स्वजनरूपी धूलिकण निवारित होते हैं॥१॥ बन्धु, मित्र, पुत्र, स्नेह, द्वेष, मोहदशारूप रोग से युक्त यह प्रपंच अपने द्वारा किये गये संकेत से ही विस्तार को प्राप्त होता है॥२॥

यह मेरा बन्धु है, यों बन्धुरूप में भावित पुरुष बन्धु होता है, यह मेरा शत्रु है, ये शत्रुरूप से भावित

पुरुष शत्रु होता है। विष और अमृत की दशा के समान यहाँ पर स्थिति भावमयी है। जैसे विष के कृमियों द्वारा विष की यह हमारा जीवन हेतु है, यों दृढ़ भावना करने से उनके प्रति वह अमृत हो जाता है और लोगों द्वारा यह हमारे मरण का हेतु हैं, यों भावना करने से उनके प्रति विष होता है, इसी प्रकार जगत की स्थिति भावनामयी है, यह भाव है ॥३॥

बन्धुओं की वास्तविकता का विचार जाने दीजिये, उनके प्रति शोक करनेवाले तुम यदि केवल स्वत्व का विचार करो, तो उसीसे उनका निरास हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

सब देहों में अग्निरूप से विद्यमान, सर्वव्यापी आत्मा की यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥४॥

यदि कोई शंका करे कि सम्पूर्ण देहों में मैं कैसे एक हूँ, तो इस पर अहंप्रत्यवेद्य का ही यह कौन पदार्थ है, यों विचार करो, इस आशय से कहते हैं।

हे वत्स, रक्त मांस आदि जड़ संघात अस्थिपंजररूप देह से अन्य चेतन स्वभाव मैं कौन हूँ, ऐसा अपने चित्त से स्वयं विचार करो ॥५॥ परमार्थदृष्टि से न पावन शब्द वाच्य तुम कोई हो अथवा न पुण्य शब्द वाच्य मैं ही कोई हूँ, यह मिथ्या ज्ञान (देहात्मभ्रम) ही पुण्य-पावन शब्द से प्रसिद्ध होता है ॥६॥

इस प्रकार पिता आदि का शरीर भी भ्रान्ति से अतिरिक्त कुछ भी नहीं ठहरता, यह कहते हैं।

कौन तुम्हारी माता है, कौन तुम्हारे पिता हैं, कौन मित्र है अथवा कौन शत्रु है। जरा बतलाओ तो सही, अनन्त विलासवाले चिदाकाश का कौन स्वभिन्न है और कौन स्व है ? भाव यह है कि यदि देहादि उपाधि से पृथक् किया गया चिदाकाश ही मैं, तुम और पिता आदि हैं, ऐसा समझते हो, तो 'मेरे पिता, मेरा भाई' इत्यादि भेदयुक्त स्वत्व आदि सम्बन्ध नहीं घट सकता ॥७॥

यदि लिंग शरीर ही अपार मेरे बन्धु हैं, ऐसा मानो, तो इस पर सुनो, ऐसा कहते हैं।

यदि तुम मुझसे पृथक् लिंगात्मा हो, तो व्यतीत अनेक जन्मों में तुम्हारे जो बंधु और जो धन, सम्पत्ति आदि थे, उनके लिए भी तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥८॥ उन भूली हुई वनस्थलियों में तुम्हारे मृग योनियों में उत्पन्न बहुत से मृग बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥९॥ कमल के वनों में और नदियों के तटों पर हंसरूप तुम्हारे हंस बन्धु हुए थे... उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥१०॥ अन्य जन्मों में बड़ी विचित्र वनपंक्तियों में तुम्हारे बहुत से वृक्ष अत्यन्त बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥११॥ बड़े ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों पर तुम्हारे बहुत सिंह बान्धव हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥१२॥ नदियों, तालाबों और पोखरों में तुम्हारे बहुतसे मत्स्य बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥१३॥

अब योगबल से देखे गये भाई के विविध जन्मों का विशेषरूप से स्मरण कराते हुए कहते हैं।

हे वत्स, तुम दर्शार्ण देश में कपिल वनवानर हुए थे, तुषार देश में राजपुत्र हुए थे और पौण्ड्र देश में जंगली कौवा हुए थे। हैहय देश में हाथी हुए थे त्रिगर्तदेश में गधा हुए थे, शाल्व प्रदेश में कुत्ता हुए थे और वहीं चीड़ के पेड़ पर पक्षी हुए थे। विन्ध्याचल में पीपल होकर, बड़े भारी वट के वृक्ष में घुन होकर और मन्दराचल में मुर्गा होकर मन्दराचल की ही गुफा में तुम ब्राह्मण हुए थे। कोशल देश में ब्राह्मण होकर, बंग देश में तीतर होकर और तुषार देश में घोड़ा होकर तुम पुष्कर में प्रसिद्ध ब्रह्मा के यज्ञ में पशु हुए थे।

जो पहले विन्ध्य के वन में ताड़ के वृक्ष की जड़ के भीतर कीड़ा हुआ था, जो गूलर के फूल में मच्छर हुआ था और जो बगुला हुआ था, हे वत्स, वह तुम अब मेरे भाई हुए हो। हिमालय की कन्दरा में भोजपत्र के वृक्ष की पतली त्वचा के भीतर छः मास तक जो चींटा हुआ था, वही तुम मेरे अनुज हुए हो। स्वदेश सीमा के अन्त में जो छोटा–सा गाँव है, वहाँ के कंडों के ढेर में जो छः महीने तक बिच्छूरूप से स्थित रहा, हे साधो, वही तुम मेरे भाई हो। जो वन में शबरी के बच्चे का जन्म पाकर जैसे पद्मों में भ्रमर लीन होता है वैसे ही शबरी के स्तनों के ऊपर छिपा, वही तुम मेरे भाई हो ॥१४–२१॥ हे वत्स, इन अन्यान्य बहुत सी जीवयोनियों में इसी जम्बू द्वीप में पहले सैकड़ों, हजारों बार तुम उत्पन्न हो चुके हो। मैं तत्त्वज्ञान से विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धि से तुम्हारे और अपने पूर्व जन्मों के वासना क्रम को इस प्रकार देखता हूँ।

भाई के जन्मों के कथन का उपसंहार कर अपने बहुत जन्मों का कहना आरम्भ करते हैं।

मेरी भी अज्ञान से जड़ बहुत–सी योनियाँ बहुत बार बीत चुकी हैं। आपको मैं ज्ञान से उत्पन्न दृष्टि से उनका स्मरण करता हूँ। त्रिगर्त देश में सुग्गा होकर, नदी के तट पर मेढक होकर, वनों में लवा (एक प्रकार का छोटा पक्षी) होकर मैं इस वन में उत्पन्न हुआ हूँ। विन्ध्याचल में शवरयोनि का भोगकर, बंग देश में वृक्षयोनि का भोगकर, विन्ध्याचल में ही ऊँट की योनि का भी भोगकर इस वन में उत्पन्न हुआ हूँ। जो हिमालय में चातक हुआ, जो पौण्ड्र देश में राजा हुआ और जो सह्याचल की झाड़ियों में व्याघ्र हुआ, वही मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। जो दस वर्ष तक गीध, जो पाँच महीने तक मगर और जो सौ वर्ष तक सिंह रहा, वही मैं इस जन्म में तुम्हारा अग्रज हुआ हूँ। आन्ध्र ग्राम में चकोर एवं तुषारप्रदेश में राजा के समान विराजमान होनेवाला, साामन्तरूप, श्री शैलाचार्य का पुत्र मैं अपुण्यात्मा होता हुआ भी लोगों की वंचना के लिए पुण्यनाम से प्रख्यापनरूप दम्भ से युक्त होकर यह कह रहा हूँ। अनेक जन्मों की भ्रान्ति के प्राक्तन सभी विलासों का मैं स्मरण करता हूँ, वे विविध संसारवाले और विविध आचारों से युक्त चेष्टावाले हैं ॥२२–३०॥ ऐसी अवस्था में जगत में उत्पन्न हुए सैकड़ों माता, पिता, भाई, बन्धु और मित्र चले गये। उनमें से किनका शोक करें, किनका शोक न करें एवं उन बन्धुओं का अतिक्रमण कर यहाँ किनका शोक करें, इसलिए किन्हीं का भी शोक हम नहीं करते क्योंकि ऐसी जगत की गति है। वन के वृक्षों के पत्तों के समान संसारी पुरुषों के अनन्त पिता जाते हैं, अनन्त माताएँ जाती हैं। इसलिए हे वत्स, यहाँ पर दुःख–सुख की क्या अवधि है ? अतः सबका त्याग कर स्वच्छता को प्राप्त हुए हम लोग स्थित हैं ॥३१–३४॥

हे भद्र, मन में अहंरूप से स्थित प्रपंच भावना का त्याग कर उस गति को प्राप्त होओ, जिस गति को आत्मज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं। सुबुद्धि लोग यहाँ पर अधोगति, ऊर्ध्वगतिरूप आवेग एवं विश्रामरहित निरन्तर भ्रमण का शोक नहीं करते केवल निरभिमानिता से चिरकाल तक व्यवहार करते हैं ॥३५,३६॥ हे वत्स, व्यग्रतारहित होकर तुम आत्मा को भाव–अभाव से रहित एवं जरा मरणविहीन समझो, विमूढ मनवाले न बनो। न तुम्हें दुःख है, न तुम्हारा जन्म है, न तुम्हारी माता है और न तुम्हारे पिता हैं। हे सद्बुद्धे, तुम आत्मा ही हो। अनात्मभूत देह आदि कोई भी तुम नहीं हो। नटों के समान विविध अभिनय करनेवाले अज्ञानी लोग ही इस संसारयात्रा में यही परम पुरुषार्थ है, ऐसी बुद्धिवाले होते हैं। स्वस्थ और यथाप्राप्त वस्तु का दर्शन करनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुष तो उदासीन दर्शक ही हैं; अतएव वे साक्षी धर्म में

स्थित हैं। जैसे दीपक रात्रि आने पर प्रकाशन क्रिया में सन्निधिमात्र से कर्ता होते हुए भी व्यापार न करने के कारण अकर्ता ही हैं, वैसे ही यहाँ तत्त्वज्ञानी पुरुष लोकव्यवहार स्थिति में कर्ता होते हुए भी अकर्ता ही हैं ॥३७–४१॥

अब दूसरा दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे हाथ में स्थित दर्पण, रत्न आदि प्रतिबिम्ब की उपाधिभूत वस्तुएँ बिम्बभूत अपनी सारी देह में स्थित सब धर्मों के साथ भी स्वदेह में रचित प्रतिबिम्ब में बिम्ब के अन्य धर्मों के समान स्वयं निविष्ट नहीं दिखाई देती वैसे ही स्वात्मा में अध्यस्त कार्यों के कर्ता होते हुए भी महामति पुरुष स्वयं उनमें अभिनिवेशवाले नहीं होते। हे वत्स, सब एषणामय कलंकों से रहित अतएव मननशील, अपने से ही अपने हृदयकमल में स्वस्थ आत्मरूप से साक्षात्कृत एवं संसार भ्रम का सर्वथा त्यागकर परिशिष्ट हुए इस आत्मा से ही सन्तोष को प्राप्त होओ ॥४२,४३॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

तृष्णारूपी पाश का क्षय ही मोक्ष है, आशा से चित्तवृत्तियाँ होती हैं,
निराश और अपने से पूर्ण पुरुष की स्वतःमुक्ति होती है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार उस पुण्य द्वारा प्रबोधित पावन जैसे प्रातःकाल भूतल प्रकाशता को प्राप्त होता है, वैसे ही परिनिष्ठित आत्मनिश्चय को प्राप्त हुआ ॥१॥ ज्ञान और विज्ञान में पारंगत, सिद्ध और आनन्दित वे दोनों ही प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक उस वन में भ्रमण करते थे। तदनन्तर समय पाकर कभी तेलरहित दीपकों के समान शान्ति को प्राप्त हुए वे दोनों विदेह होकर निर्वाण पद को प्राप्त हो गये ॥२,३॥

पूर्वोक्त आख्यानका उपसंहार कर प्रस्तुत प्रसंग में उसकी योजना करते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार पहले जन्मों में देहधारण कर चुके लोगों के मित्र, बन्धु और बान्धवों का समूह अनन्त है, भला बतलाइये तो सही, उनमें से कौन किसका ग्रहण करते हैं और कौन किसका त्याग करते हैं ? ॥४॥ हे रघुनन्दन, इसलिए सब शोकों की मूलभूत, प्रत्येक विषय में अनन्त तृष्णाओं का एक–मात्र त्याग ही उनकी निवृत्ति में उपाय हैं। विषयों के उपार्जन द्वारा उनका वर्धन उपाय नहीं है। जैसे लकड़ी से आग बढ़ती है वैसे वैसे ही चिन्तन से चिन्ता बढ़ती है, जैसे लकड़ी के बिना अग्नि बुझ जाती है वैसे ही चिन्तन के अभाव से वह नष्ट हो जाती है ॥५,६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उठिये और पूर्वोक्त ध्येय वासना त्यागरूपी रथ में बैठे हुए आप सब भूतों के ऊपर कृपा से उदारदृष्टि द्वारा दीन लोगों को देखते हुए प्रकृत व्यवहार का अनुष्ठान कीजिये ॥७॥ हे महाबाहो, यह स्वच्छ, कामनारहित, निर्दोष ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्तकर व्यवहार में अकुशल पुरुष भी मोह को प्राप्त नहीं होता। केवल एक विवेकरूपी मित्र को एवं एकमात्र बुद्धिरूपी प्रिय सखी को लेकर विहार कर रहा पुरुष संकटों में मोह को प्राप्त नहीं होता। जिसने सब धनसम्पत्तियों का त्याग कर दिया और भीतर स्नेह न रहने के कारण अपने बन्धु–बान्धवों को मानों गलहस्त देकर निकाल दिया, ऐसे अपने विवेक के सिवाय

संकट से कोई उद्धार नहीं कर सकता। वैराग्य से, शास्त्र से अथवा महत्त्व आदि गुणों से बड़े प्रयत्न के साथ आपत्तियों को दूर करने के लिए स्वयं ही मन को उन्नत बनायें। तीनों भुवनों के ऐश्वर्य से वह फल प्राप्त नहीं हो सकता और रत्नों से भरे हुए कोश से भी वह फल प्राप्त नहीं हो सकता, जो फल तुच्छ विषयों की अनिच्छा द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुए मन से प्राप्त हो सकता है। इस जगत के मध्य में अधोगति, ऊर्ध्वगति और मनुष्यलोक में ही जन्मपरम्परा द्वारा भ्रमणों से जो पुरुष गिरते हैं, उनका मन सदा ही संतप्त रहता है, कभी विश्रान्त नहीं होता ॥८-१३॥

यदि कोई शंका करे कि सन्ताप के कारणभूत आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, रोग, वर्षा, धूप, चोर, सर्प आदि के रहते कैसे मन की एक मात्र शान्ति से सब सन्तापों की निवृत्ति हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

मन के पूर्ण होने पर सारा जगत सुधारस से पूर्ण हो जाता है, जिसके पैर जूते से ढके हुए रहते हैं, उसके लिए सारी भूमि चमड़े से ढकी हुई ही है। भाव यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से तीनों प्रकार के सन्तापों की जड़ मनोदोष ही है। मन के विशुद्ध ब्रह्मामृतरस से पूर्ण होने पर सारा जगत आनन्दपूर्ण ही प्रतीत होता है। जैसे कि मुलायम जूतों से जिसका पैर सुरक्षित है, उसे कुश और काँटों से भरी हुई सारी पृथिवी भी मुलायम चमड़े से ढकी हुई ही प्रतीत होती है ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन वैराग्य से पूर्णता को प्राप्त होता है, आशा के वश में चलनेवाला मन पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। जैसे शरत्काल से तालाब रिक्तता को प्राप्त होता है वैसे ही आशा से मन सूखे हुए सागर के गर्त के समान रिक्त हो जाता है। जिन लोगों का मन आशा से विवश रहता है, उन लोगों का हृदय, जिसने भीतर के गर्त को प्रकट कर दिया है, अगस्त्य ऋषि से पीये गये सागर के समान शून्यता को प्राप्त होता है। भाव यह है कि जैसे समुद्र के रिक्त हो जाने पर उसके गर्त के प्रकट हो जाने से भीतर मगर, साँप आदि स्पष्टरूप से प्रकाशित हो रहे थे, वैसे ही मन के रिक्त होने पर उसके गर्त के प्रकट हो जाने से भीतर के लोभ, दैन्य, आदि सभी दोषों का प्रकाश हो जाता है। जिसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य, शम, दम आदिरूप पुष्प, फल, पल्लव आदि से समृद्ध विशाल चित्तरूपी वृक्ष पर तृष्णारूपी चंचल वानरी नहीं घूमती, उस पुरुष का मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त इन चार प्रकार के वृक्षों से भरा हुआ अन्तःकरणरूपी विशाल वन खूब सुशोभित होता है। जिनके चित्त में स्पृहा नहीं है, उन लोगों के लिए त्रैलोक्य भी कमलगट्टे के कोश के समान अत्यन्त छोटा है, योजन समूह गोपद है और महाकल्प आधा पलक है, भाव यह कि अपरिच्छिन्न ब्रह्मसुख की दृष्टि से देश-काल से परिच्छिन्न आधिपत्यवैभव भी अत्यल्प ही है। जो शीतलता निःस्पृह लोगों के मन में विराजमान रहती है, वह शीतलता न चन्द्रमा में है, न हिमालय की गुफा में है और न वह केले और चन्दन के वृक्षों की श्रेणी में है। निःस्पृह मन जैसे शोभित होता है वैसे न पूर्ण चन्द्रमा शोभित होता है, न क्षीरसागर शोभित होता है और न लक्ष्मी का रमणीय मुख ही शोभित होता है। जैसे मेघपंक्ति चन्द्रमा को मलिन कर देती है और जैसे काजल का लेप चूने के लेप को दूषित कर देता है, वैसे ही आशारूपी पिशाचिनी मनुष्यों को मलिन कर देती है। चित्तरूप वृक्ष की आशानामक शाखाओं ने दिशाओं के तटों को व्याप्त कर रक्खा है, उनके कट जाने पर चित्तरूपी महावृक्ष ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। तृष्णारूपी महाशाखाएँ जिसकी कट गई, ऐसे

चित्तरूपी ठूँठ के रहने पर बढ़ने में रुकावट डालनेवाले कुवृक्ष के कट जाने के बाद उसके नीचे उगे हुए उस वृक्ष के समान धैर्य सैकड़ों शाखाओंवाला हो जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त के क्षीण होने पर बढ़े हुए वैराग्य, जितेन्द्रियता, द्वन्द्व सहिष्णुता आदि धैर्यवाला पुरुष उस परम पद को प्राप्त होता है, जहाँ पर फिर नाश नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उत्तम आशयवाले आप यदि चित्तवृत्तिरूपी इन आशाओं को पुनः पनपने के लिए अवसर नहीं देंगे, तो आपको जन्म आदिका कोई भय नहीं है। वृत्तिरहित आपका चित्त भी अचित्तता को प्राप्त हुआ हो, तभी आप अपने अन्दर मोक्षमयी उस पूर्ण सत्ता को प्राप्त होते हैं ॥१५–२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त में प्रविष्ट हुई उल्लू–पक्षीरूपी क्षुब्ध तृष्णा से भीतर में अमंगल खूब विस्तार को प्राप्त होते हैं। भाव यह कि जब कभी घर में उल्लू का प्रवेश होता है, तो मरण, दरिद्रता, आदि अनेक अमंगल होते हैं, ऐसा ज्योतिष आदि शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वह जब देह के अन्दर चित्त में निरन्तर प्रविष्ट होकर सब व्यवहारों में क्षुब्ध होकर स्थित हो, तब उससे सभी अमंगल खूब विस्तार को प्राप्त होते हैं, इसमें कहना ही क्या है ? ॥२७॥

यदि कोई शंका करे, एकमात्र आशा के त्याग से कैसे चित्त की शान्ति हो सकती है ? संकल्प, सन्देह, धृति, अधृति आदि अन्य वृत्तियों से भी चित्त का पनपना नहीं रोका जा सकता ? तो इस शंका का सब वृत्तियों की जड़ आशा ही है, यह दिखलाते हुए परिहार करते हैं।

समाधि के समय बाह्य कारण रुके रहते हैं, अतएव चाक्षुष आदि वृत्तियाँ नहीं होती, इसलिए उस समय केवल चिन्तन ही चित्त की वृत्ति अवशिष्ट रहती है। यह सिद्धान्त हम पहले कह आये हैं और चिन्तन में भी चित्त आशा से ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि आशा आदि विषयों में ही पुरुषों का चिन्तन देखा जाता है, इसलिए आशानामक चित्तवृत्ति का त्यागकर आप निश्चिंतता को प्राप्त होइये ॥२८॥

जाड़ा और उष्णता का नाश होने पर अग्नि के उपशम के समान वृत्ति का नाश होने पर मन का उपशम सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

जो जिस वृत्ति से जीवित रहता है, उस वृत्ति के सर्वथा निरोध से वह अपक्षय क्रम से नष्ट हो जाता है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चित्त के उपशम के लिए चित्तवृत्ति का नाश कीजिये ॥२९॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही संग्रह करके उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, आप पुत्र, धन, लोक आदि की सम्पूर्ण एषणाओं का त्याग कर आशानामक संसार बन्धन को दूर कर जीवन्मुक्त होइये, क्योंकि मन में स्थित कुत्सित आशाएँ आत्मा की हथकड़ियाँ हैं, उनके नष्ट होने पर कौन मुक्त नहीं होगा यानी सभी मुक्त हो जाते हैं ॥३०॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

बलि के आख्यान के सिलसिले में पाताल का वर्णन तथा बली के राज्य का और वैराग्य से मेरु के शिखर पर विचार का वर्णन।

अब 'पद्मक्षकोशं त्रिजगत' इत्यादि से विवेक होने पर त्रैलोक्य का ऐश्वर्य भी अत्यल्प है, ऐसा जो पहले कहा था, उसके उपपादन के लिए बलि का उपाख्यान कहने की इच्छा से भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवंशरूपी आकाश के पूर्ण चन्द्र श्रीरामचन्द्रजी, अथवा आप अकस्मात विचार के उदय से बलि के समान निर्मल ज्ञान प्राप्त कीजिये।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे सब धर्मों के ज्ञाता गुरुजी, आपके प्रसाद से मैंने पाने के योग्य सर्वात्मक ब्रह्म को हृदय में प्राप्त कर लिया है और उसी निर्मल पद में मैंने विश्राम किया है ॥१,२॥ हे विभो, जैसे शरद् ऋतु में आकाश से विशाल मेघ चला जाता है, वैसे ही मेरे चित्त से तृष्णा नामक वह महातम हट गया है। अमृत से पूरित, आकाश में स्थित, शीतलस्वरूप, महाकान्तिवाले सायंकाल में पूर्ण चन्द्रमा के समान मैं अमृत से लबालब भरा हुआ, चिदाकाश में स्थित, सन्तापशून्य चित्तवाला, महाकान्ति से युक्त और अन्तःकरण में आनन्द से पूर्ण हो स्थित हूँ। परन्तु हे सब सन्देहरूपी मेघों के निवारण के लिए शरद् ऋतु के तुल्य, मुनिवर आपके इन वचनों से मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥३-५॥ हे विभो, फिर आप मेरी ज्ञानवृद्धि के लिए बलि की बोधप्राप्ति प्रकार को कहिये। गुरुजनों को शिष्यों को उपदेश देने में कभी खेद नहीं होता ॥६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, मैं आपसे बलि का उत्तम वृत्तान्त कहूँगा, आप उसे सुनिये। जिसके श्रवण से आप नित्य, तत्त्वरूप आत्मस्वरूप बोध को प्राप्त हो जायेंगे। इस ब्रह्माण्ड में किसी दिग्रूप छोटे निकुंज में भूमि के नीचे विद्यमान पाताल नाम से प्रसिद्ध लोक है। कहीं पर वह क्षीरसागर में उत्पन्न हुई अतएव वहाँ उत्पन्न अमृत के द्रव से मानों लिप्त अतिसुन्दरी दानव कन्याओं से ठसाठस भरा है। कहीं पर वह दो से लेकर दो हजार तक संख्यावाली जिह्वाओं से औरों की अपेक्षा व्याकरण, छन्दःशास्त्र आदि का दुगुना व्याख्यान करने से तेज शब्दवाले अतएव चंचल जिह्वा से युक्त हजारों सिरवाले साँपों से भरा है। कहीं पर अपने शरीररूपी पर्वत से सारे संसार को व्याप्त करनेवाले और धर्म या यज्ञ के हविष्य को जबर्दस्ती छीन कर खानेवाले दानवों से वह आच्छन्न है, जो चल रहे मेरु पर्वत के समान विशालकाय हैं। कहीं पर जिनके मस्तकरूपी शिखर की चोटियों पर भूमण्डल का मध्यभाग विश्रान्त है और जो दाँतरूपी वृक्षों के पर्वत के तुल्य आश्रयभूत हैं, ऐसे दिग्गजों ने उसको अपना निवास स्थान बनाया है ॥७-१२॥

कहीं पर बड़े कट-कट शब्दों से जिनमें भू-राशियाँ भयभीत हैं और जो दुर्गन्धरूप से नारकीय जीवों के कर्म भासित हो रहे हैं, ऐसे नरकमण्डलों से सबसे नीचे वह व्याप्त है। कहीं पर नीचे के नरक-प्रदेश से लेकर ऊपर हम लोगों के भूतल तक सात पुओं में पिरोई गई लोह ही सींक के समान सात पातालों में पिरोए गये रत्नों के आकाररूप मेरू आदि पर्वतों से वह व्याप्त हैं एवं कहीं पर छिद्रों की तरह अत्यन्त संकुचित पाताल के अवयवों से व्याप्त है। कहीं पर वह जिसकी चरणकमल की धूलि सुर और असुरों के मस्तकों पर सुप्त की भाँति विश्राम ले रही है, ऐसे त्रिलोकवन्दित भगवान कपिलमुनि द्वारा पवित्र बनाया गया है। कहीं पर असुर स्त्रियों से तैयार किये गये विविध उपकरणों से पूजा और क्रीड़ा के अभिलाषी भगवान हाटकेश्वर से पह पालित है। उस पाताल में, जहाँ पर असुरों के बाहुस्तम्भों से महान राज्यभार धारण किया जा रहा है, विरोचन के पुत्र बलिनामक दानव राजा हुए। सब देवता, विद्याधर और नागों के साथ रोदनयुक्त देवराज इन्द्र ने जिसके पैर दबाने की जबर्दस्ती इच्छा की ॥१३-१८॥

उसकी ऐसी सामर्थ्य कैसे हुई, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

त्रैलोक्यरूपी रत्नों की कोश के समान अपने उदर में रक्षा करनेवाले, सब जीवों के पालक, तीनों लोकों का पालन करनेवाले इन्द्र, मनु, शेषनाग आदि के आधारभूत भगवान श्रीहरि जिसके पालक थे। जिसका नाम सुनने से ऐरावत के गण्डस्थल मयूर के शब्द से साँपों के हृदय शिराओं की तरह सूख जाते थे और भय से स्वेदयुक्त, हो जाते थे। क्रुद्ध आकृतिवाले जिस बलि के प्रताप की दुःसह गर्मी से सातों महासागर शोष को प्राप्त होकर प्रलयकाल की तरह केवल गर्त संख्या से ही सात रहे, जलादि प्रवाह से सात नहीं रहे यानी सभी सूख गये। जिसके अश्वमेघ आदि श्रेष्ठ यज्ञों के धुएँ से उत्पन्न हुई मेघपंक्तियाँ जलग्रहण के लिए समुद्र को घेरी हुई अतएव इस ब्रह्माण्डरूपी कोटर की कवच बन गई। जिसके तिरछे देखने से जिनके आधारभूत कुलाचल विचलित हो उठते थे, ऐसी सब दिशाएँ फलभार से नमित हुई लताओं के समान झुकने लगती हैं। लीला से जिसने सब भुवनों के भूषणभूत इन्द्र आदि पर भी विजय प्राप्त की थी, ऐसे उस दैत्यराज ने दस करोड़ वर्ष तक राज्य किया। तदनन्तर जल के भँवर के समान घूमनेवाले बहुत से युगों के बीतने पर, सुर–असुरों के बड़े भारी समूह के उन्नत और अवनत होने पर एवं त्रैलोक्य में अत्यन्त उत्कृष्ट बहुत से भोगों के निरन्तर भोगे जाने पर दानव राजा बलि को विषय भोग विरस प्रतीत होने लगे। मेरु पर्वत के शिखरपर रत्ननिर्मित घर के झरोखे पर बैठे हुए उसने एक बार संसार स्थिति का स्वयं विचार किया। अकुण्ठित शक्तिवाले मुझे अब इस लोक में कितने समय तक यह साम्राज्य करना होगा और तीनों लोकों में विहार करना होगा ? तीनों लोकों को आश्चर्य में डालनेवाले, प्रचुर भोगों से अत्यन्त मनोहर इस महान राष्ट्रके उपभोग से मेरा क्या प्रयोजन हैं ? अविचारमात्र से मधुर लगनेवाला और अवश्य विनष्ट होनेवाला यह सम्पूर्ण भोग मेरे लिए क्या सुखावह होगा ? ॥१९–३०॥

पुनः दिन की एकमात्र कल्पना, पुनःरात्रि की स्थिति, फिर वे ही स्नान, भोजन, शयन आदि कार्य, अभिनव कुछ भी कर्म या सुख नहीं है, इसलिए उनमें लम्पटता महापुरुषों की लज्जा के लिए ही है, न कि सन्तोष के लिए है। पुनः कान्ता का आलिंगन किया जाता है, पुनः उपभोग किया जाता है यहाँ पर यह बालकों की क्रीड़ा महान पुरुषों की लज्जा के लिए ही है। एक बार भोग करने से विरस हुए उन्हीं व्यापारों को प्रतिदिन पुनः–पुनः कर रहा प्राज्ञ पुरुष क्यों नहीं लज्जित होता ? फिर दिन, फिर रात्रि, फिर कार्य परम्पराएँ, प्राज्ञ पुरुष की दृश्य यह विडम्बना पुनः–पुनः किये गये क्रम के अनुकरण के समान उपहास की हेतु है, ऐसा मैं समझता हूँ। जैसे जल फिर तरंगता को प्राप्त कर फिर निस्तरंग हो जाता है वैसे ही यह जन उस–उस क्रिया को प्राप्त करता है यानी व्यर्थ ही उन पूर्वकृत क्रियाओं का अनुकरण करता है। उन्मत्त की चेष्टा की तरह यह पुनःपुनः की जानेवाली क्रिया, जो बाललीला की तरह है, प्राज्ञ पुरुष को बार–बार हँसाती है यानी उसे देखकर प्राज्ञ पुरुष बार–बार हँसता है। नित्य की गई भी इस निष्प्रयोजन क्रिया से कौन ऐसा प्रयोजन सिद्ध होगा, जिसके प्राप्त होने पर फिर कर्म नहीं रहता है यानी कृतकृत्यता हो जाती है। अथवा कितने समय तक यह बड़ा भारी आडम्बर (दृष्ट और अदृष्ट फल के लिए कर्मसंघात) हमें करना पड़ेगा, उससे हमें क्या प्राप्त होगा ? वस्तुतः वस्तु शून्य ही यह अनन्त शिशु क्रीड़ा दुःखपरम्परा चाहनेवाले पुरुषों द्वारा ही बार–बार की जाती है। जिसके प्राप्त होने पर कोई

भी अन्य कार्य कर्तव्य नहीं रहता, वैसे महाउदार अद्वितीय फल को (पुरुषार्थ को) यहाँ मैं कुछ भी नहीं देखता। क्षणिक, तुच्छ विषयसुख के सिवाय दूसरा नित्य वह उत्तम सुख क्या है, ऐसा मैं विचार करता हूँ, यह सोचकर राजा बलि शीघ्र ध्यानमग्न हो गये ॥३१-४१॥

ध्यान से संस्कार जाग्रत होने के कारण राजा बलि पहले स्वयं पूछे गये पिता के उपदेश की स्मृति को विमर्श के साथ दिखलाते हैं।

स्मृत अर्थ का मन में ही भौंह चढ़ाकर विचार करते हुए दैत्यराज क्षण भर में बोले कि मुझे स्मरण हो आया। प्राचीन समय में आत्मतत्त्वज्ञानी तथा लोक के विविध व्यवहारों को देख चुके अपने पिता भगवान विरोचन से मैंने पूछा था ॥४२,४३॥

हे महामते, संसार सीमा की अवधि वह कौन कहा जाता है, जहाँ पर सब दुःखों और सुखों के सम्बन्ध के सब भ्रम शान्त हो जाते हैं ? मन का मोह कहाँ पर शान्त है, सब एषणाएँ कहाँ पर बीत चुकी हैं, हे तात, पुनरावृत्तिरहित चिरविश्राम कहाँ पर है ? पुरुष किसको प्राप्त होकर इस लोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त प्राप्त होनेवाले सब सुखों के विषय में तृप्तिमान हो जाता है। हे तात, किसके दर्शन करके फिर अन्य फल की अभिलाषा नहीं रहती ? अत्यन्त प्रचुर भी ये भोग सुखावह नहीं हैं, ये सन्त पुरुषों के मन को भी क्षुब्ध करते हैं और मोह में डालते हैं। इसलिए हे तात, अविनाशी आनन्द से सुन्दर कोई वैसा पद मुझसे कहिये, जहाँ पर स्थित होकर मैं चिरकाल तक विश्रान्ति को प्राप्त होऊँ। प्राचीन काल में चन्द्रमा की किरणों के साथ सौन्दर्य, अमृतरसपूर्णता आदि गुणों की अधिकता होने के कारण स्पर्धा करनेवाले फूल और फलों के गुच्छों से गिर रहे फूलों और फलों के समूह से आच्छन्न मूल प्रदेशवाले, स्वर्ग से जबरदस्ती लाकर अपने आंगन में लगाये गये कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए मेरे पिता विरोचन ने पूर्वोक्त प्रश्न को सुनकर उस कल्पवृक्ष के प्रचुर रसायनरूपी आसवों के तुल्य मधुर जो वचन मेरे अज्ञान के निवारण के लिए कहा, उसका मुझे स्मरण हो आया ॥४४-४९॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

चित्त-जय कहने के लिए राजमन्त्री के उपाख्यान का और मन्त्री के अप्रतिद्वन्द्व विपुल बल का वर्णन।

चित्तं वृत्तिविहीनं ते यदा यातमचित्तताम्। तदा मोक्षमयीमन्तः सत्तमाप्नोषि तां तताम् ॥

इससे मोक्ष चित्त जय के आधीन है, यह कहा। चित्त जय का भी आत्यन्तिक आशा त्याग ही उपाय कहा गया है। उक्त आशा त्याग आत्मदर्शन के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि – विषया विनिवर्तन्ते निहारस्य देहिनः। रसवर्जंरसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा विवर्तते ॥

ऐसा भगवान का वचन है और आत्मदर्शन भी मन पर विजय पाये बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयता को प्राप्त हुआ यह आत्मदर्शन अशक्य ही है, ऐसी आशंका को दूर करने के लिए दो साधनों केएक साथ अभ्यास आदिरूप उपाय को कहने के लिए बलि के उपाख्यान के बीच में राजमन्त्री का उपाख्यान विरोचन के मुख से प्रस्तुत करते हैं।

हे पुत्र, अत्यन्त विस्तृत, विशाल मध्यभागवाला मोक्षनामक देश है, जिसमें अनेकों हजार त्रैलोक्य

समा सकते हैं, जहाँ पर न जलाशय हैं, न समुद्र हैं, न पर्वत हैं, न वन हैं, न तीर्थ हैं, न नदियाँ हैं, न तालाब हैं, न पृथ्वी है, न आकाश है, न अन्तरिक्ष है, न वायु आदि है, न चन्द्रमा और सूर्य हैं, न लोकपाल हैं, न देवता हैं, न दानव हैं, न भूत, यक्ष और राक्षस हैं, न झाड़ियाँ हैं, न वन की विविध शोभाएँ हैं, न स्थावर और जंगमरूप काठ, तृण और प्राणी हैं, न जल है, न अग्नि है, न दिशाएँ हैं, न ऊर्ध्वभाग है, न अधोभाग है, न लोक हैं, न आलोक है, न धूप है और न विष्णु, इन्द्र, शिव आदि हैं। वहाँ पर अकेला वही महातेजस्वी राजा (आत्मा) है। वह सर्वकर्ता, सर्वव्यापक और कूटस्थ है। उसने सब सन्मन्त्रणाओं में तत्पर मन्त्री का (मन का) संकल्प किया, वह आत्मा की अत्यन्त असंभव संसारिता का भी शीघ्र निर्माण करते हैं। आत्मा की अत्यन्त उपपन्न पूर्णानन्दैकरसता भी नहीं प्रतीत होती हैं, यों अपलाप करता है। स्वयं जड़ होता हुआ भी केवल राजा के लिए सब कुछ सदा करता है, वह कुछ भी भोग नहीं करता और कुछ भी नहीं जान सकता। उस राजा के सब कार्यों का एकमात्र कर्ता वही है, राजा तो केवल अद्वितीय स्वभाव में स्वस्थ होकर ही स्थित रहता है ॥१–९॥ बलि ने कहा : हे महामते, आधि–व्याधि से रहित वह देश कौन है, कैसे वह मिलता है और हे प्रभो किसको वह मिला है ? पूर्वोक्त प्रकार का वह मन्त्री कौन है और वह महाबली राजा कौन है, जिसे कि हम लोग भी जीत न सके जिन्होंने अनायास तीनों लोकों को छिन्न–भिन्न कर डाला। हे देवताओं को भय देनेवाले, पिताजी, यह अपूर्व आख्यान मुझसे कहिये और मेरे हृदयरूपी आकाश में से संशयरूपी मेघ को दूर कीजिये ॥१०–१२॥

विरोचन ने कहा : हे पुत्र, यदि देवता और असुर मिलकर लाख गुने भी हों, तो भी वहाँ पर उस बलवान मन्त्री के ऊपर तनिक भी आक्रमण नहीं कर सकते ॥१३॥ हे पुत्र, वह मन्त्री न तो इन्द्र है, न कुबेर है, न कोई देवता है और न असुर है, जो कि तुमसे जीता जा सके ॥१४॥

क्यों मेरे पास आयुध अथवा योद्धा नहीं है, जो मैं उस पर विजय प्राप्त कर सकूँ ? ऐसा यदि बलि की ओर से प्रश्न हो, तो उस पर भले ही तुम्होरे पास आयुध और योद्धा हों; पर वह उनका विषय नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्थर पर कमल का आघात कुण्ठित हो जाता है, वैसे ही उस पर तलवार, मूसल, भाले, वज्र, गदा आदि आयुध कुण्ठित हो जाते हैं ॥१५॥

तुम उस पर क्या विजय प्राप्त करोगे, बल्कि उसीने तुम्हारे जैसे बहुत से लोगों पर विजय प्राप्त की है, ऐसा कहते हैं।

वहाँ तक अस्त्र–शस्त्रों की पहुँच नहीं है, योद्धाओं के पराक्रमपूर्ण कर्मों की भी वहाँ पहुँच नहीं है, बल्कि उसी ने सब देवता और असुर सदा ही अपने वशीभूत कर रक्खे हैं ॥१६॥

हमारे पूर्वज आदि को भी उसीने अपने वश में कर विष्णु द्वारा मरवाया है, इस आशय से कहते हैं।

यद्यपि वह विष्णु नहीं है, तथापि उसने इस लोक में हिरण्याक्ष आदि असुरों को ऐसे गिराया, जैसे कि प्रलयकाल का वायु मेरुपर्वत के कल्पद्रुम को गिराता है ॥१७॥ सबको विवेक का उपदेश देनेवाले नारायण आदि देवताओं को भी उसने भृगु आदि के शाप के निमित्त के उद्घाटन द्वारा उन पर आक्रमण कर अपने इच्छानुसार गर्भरूपी गर्तो में प्रविष्ट कराया। केवल पाँच बाणवाला कामदेव उसीके प्रसाद से इन तीनों लोकों पर बड़े आटोप के साथ आक्रमण कर सम्राट के समान समृद्ध हो रहा है ॥१८,१९॥

क्रोध ने यद्यपि सुर और असुरों के समूह को स्वतन्त्र नहीं छोड़ा, उसमें कोई गुण भी नहीं हैं आकृति भी अच्छी नहीं है एवं बुद्धि भी उसकी अच्छी नहीं है, फिर भी वह उस मन्त्री के प्रसाद से समृद्ध हो रहा है। हजारों देवता और असुरों का जो बार-बार युद्ध होता है, वह मन्त्र जाननेवाले उस मन्त्री के बाएँ हाथ का खेल है ॥२०,२१॥ हे पुत्र, उसी प्रभु द्वारा यदि वह मन्त्री जीता जाता है; तो सुजेय होता है। अन्यथा तो वह पर्वत के समान अचल है। बहुत से पुण्यों के परिपाक से विवेक के उदय के समय में अपने उस मन्त्री को जीतने की उसी प्रभु की यदि इच्छा होती है, तो यत्न के बिना उसके ऊपर विजय प्राप्त होती है। तीनों लोकों में जितने बलवान हैं, उन्हें अपने बल से जीतनेवाले और तीनों लोकों को मर रहे जन्तु के समान उच्छवासित कर देनेवाले उसे जीतने की यदि तुम में शक्ति है, तो तुम निश्चित पराक्रमशाली हो ॥२२-२४॥

उसमें सबको जीतने की केवल शक्ति ही नहीं है, किन्तु त्रैलोक्य को उत्पन्न करने की शक्ति भी है, ऐसा कहते हैं।

सूर्य रूपी उस मन्त्री का उदय होने पर ये त्रिलोकरूपी कमल-तलाब विकास को प्राप्त होते हैं और उसके अस्त होने पर विलीन हो जाते हैं। व्यामोहरहित एकाग्र बुद्धि से उसे इस प्रकार जीतने के लिए यदि तुम समर्थ हो तो हे सुव्रत, तुम धीर हो। उसके ऊपर विजय प्राप्त होने पर अजित लोग भी विजित हो जाते हैं। यदि उस पर विजय प्राप्त न हुई, तो जो चिरकाल से विजित हैं, वे लोग भी अविजित ही हैं। इसलिए मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए और अक्षय सुख के लिए श्रम से होनेवाली सर्वत्याग आदि चेष्टा द्वारा भी उस पर विजय पाने के लिए यत्नवान् होओ। अतिबलशाली उसने अनायास ही देवता, दानव, नाग और यक्षों के समूहों से युक्त तथा मनुष्य, सर्प और किन्नरोंसहित सारे त्रैलोक्य को चारों ओर से अपने वश में किया है ॥२५-२९॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

राजा के दर्शन में उपायभूत वैराग्य आदि के साथ उस दुष्ट मन्त्री पर विजय प्राप्ति के उपाय का वर्णन।

बलि ने कहा : हे तात, उस बलवान मन्त्री पर किस उपाय से विजय प्राप्त की जा सकती है तथा महाबलशाली वह कौन है ? कृपा करके यह सब शीघ्र मुझसे कहिये।

विरोचन ने कहा : हे पुत्र, यद्यपि वह मन्त्री नित्य अजेय स्थितिवाला है, तथापि उसको सुख से जीतने का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ, जिससे उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है, उसे तुम सुनो ॥१,२॥ हे पुत्र, युक्ति से पकड़ा गया वह एक क्षण में वशीभूत हो जाता है। युक्ति के बिना तो वह दुर्दान्त साँप के समान दाह उत्पन्न करता है। जो लोग बालक की नाईं उसे थोड़े से विषय प्रदान और बार-बार विषय दोष प्रख्याापन द्वारा वंचित कर राजयोगनामक युक्ति से वश में करते हैं, वे उस राजा का साक्षात्कार कर राजा के पद को प्राप्त करते हैं। उस राजा का साक्षात्कार होने पर मन्त्री वश में होता है। उस मन्त्री के वशीभूत होने पर राजा का साक्षात्कार होता है। जब तक राजा का साक्षात्कार नहीं होता तब तक मन्त्री पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक मन्त्री पर विजय प्राप्त न हुई, तब तक राजा

का साक्षात्कार नहीं होता। राजा का साक्षात्कार न होने पर वह दुष्ट मन्त्री अत्यन्त दुःख के लिए राग–द्वेष आदि पैदा करता है और मन्त्री पर विजय न होने पर वह राजा सर्वथा अदृश्यता को प्राप्त हो जाता है। इसलिए अभ्यास से राजदर्शन और मन्त्री पराजय इस दोनों का एक साथ आरम्भ करना चाहिये। पौरुष प्रयत्नरूप सुन्दर अभ्यास से धीरे–धीर उक्त दोनों का प्रयत्न से सम्पादन कर तुम उस शुभ मोक्षरूप देश को प्राप्त हो रहे हो। अभ्यास के सफल होने पर यदि तुम उस देश को प्राप्त होओगे, तो हे दैत्येन्द्र, तुम्हें फिर तनिक भी शोक नहीं रहेगा। जिन लोगों के सब आयास शान्त हो गये हैं जिनका आशय सदा के लिए प्रफुल्लित हो उठा है और जिनके सब सन्देह शान्त हो चुके हैं, ऐसे साधुजन उस शुभ देश में निवास करते हैं ॥३–११॥

अब गूढ़ोक्ति का विवरण करते हैं।

हे पुत्र कौन वह देश है, यह सब मैं तुमसे प्रकट करता हूँ, सुनो सम्पूर्ण दुःखों का नाश करनेवाला मोक्ष ही मैंने देश नाम से तुमसे कहा है ॥१२॥ हे महामते, वहाँ पर मनुष्य आदि के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त सम्पूर्ण पदों का अतिक्रमण करनेवाले, वाणी और मन के अगोचर, भगवान आत्मा ही राजा हैं। उन्होंने सब प्रज्ञाओं के समष्टिभूत मन को अपना मन्त्री बनाया। जैसे मिट्टी का पिण्ड घटरूप से तथा धूम्र बादल के रूप से स्थूलता को प्राप्त होता है, वैसे ही यह विश्व वासनात्मक सूक्ष्मभाव से मन में स्थित होकर ही स्थूलता को प्राप्त हुआ है। उस मन्त्री के विजित होने पर सब जीतने के योग्य पदार्थ जीत लिए जाते हैं तथा सब प्राप्त करने के योग्य पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। उसे अत्यन्त दुर्जय जानना चाहिए, वह युक्ति से ही जीता जाता है ॥१३–१५॥

बलि ने कहा : हे भगवन्, उस चित्त की विजय में जो युक्ति हो, उसे आप स्पष्ट रूप से कहिये, जिससे कि मैं उस दारूण मन को जीतूँगा ॥१६॥

विरोचन ने कहा : हे पुत्र, सभी विषयों के प्रति जो यह अत्यन्त अस्पृहा है, वही मन की विजय के लिए युक्ति हैं। यही परम युक्ति है, इसी के द्वारा महामदमत्त अपने मनरूपी मत्त हस्ती का शीघ्र दमन किया जाता है ॥१७,१८॥ हे महामते, यह युक्ति अत्यन्त दुष्प्राप्य है और सहज में प्राप्त होनेवाली भी है। अगर इस का अभ्यास न किया जाय, तो अत्यन्त दुष्प्राप्य है। भलीभाँति यदि अभ्यास किया जाय, तो अनायास प्राप्त होती है ॥१९॥ हे पुत्र, इन विषयों में विरक्ति का यदि क्रम से अभ्यास किया जाय, तो यह जैसे सेंक से सींची गई लता चारों ओर से स्फुटता को प्राप्त होती है वैसे ही शान्ति आदि रूप शाखा–प्रशाखाओं के विस्तार से व्यक्तता को प्राप्त होती है ॥२०॥ हे पुत्र, जैसे बोये बिना धान नहीं मिलते वैसे ही यदि विरक्ति का अभ्यास न किया जाय, तो भोगों में लुब्ध पुरुष कितना ही इसे क्यों न चाहे, पर यह नहीं मिलती, इसलिए इसको अभ्यास से स्थिर करो। संसाररूपी गर्त में निवास करनेवाले ये जीव तब तक विविध दुःखो में भटकते हैं, जब तक विषयों में वैराग्य को प्राप्त नहीं होते। जैसे अत्यन्त बलवान देही भी गमन न करे तो अन्य देश को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही अभ्यास के बिना कोई भी जीव जाहे वह कितना ही बलवान क्यों न हो, विषयों में विरक्ति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए निरन्तर पूर्वोक्त जीवन्मुक्ति के हेतु भी ध्येय वासना त्याग की अभिलाषा कर रहे देहधारी को अभ्यास से भोगों में विरक्ति ऐसे बढ़ानी चाहिए जैसे कि सेंक आदि से लता बढ़ाई जाती है। अकस्मात (या एक

साथ) सब विषयों का त्याग नहीं किया जा सकता; किन्तु क्रम से एक-एक विषय का चिरकाल तक त्याग कर पुनः कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा सेवन करता हुआ पुरुष क्रम से वैराग्य की दृढ़ता होने पर सबका त्याग करे ॥२१-२४॥

वैराग्य की दृढ़ता में हर्ष, क्रोध, चंचलता आदि की प्राप्ति का निवारण करनेवाली पौरुष दृढ़ता आवश्यक है, इस आशय से कहते हैं।

हे पुत्र, पुरुषार्थ के सिवाय हर्ष क्रोध से रहित क्रियाफल को प्राप्त करने के लिए अनुकूल शुभ साधन यहाँ पर प्राप्त नहीं होता ॥२५॥

यदि कोई कहे दैव से ही उसकी प्राप्ति क्यों न हो जायेगी ? तो इस पर कहते हैं।

यद्यपि संसार में लोग दैव कहते हैं; तथापि दैव कोई देहधारी वस्तु नहीं है, किन्तु अवश्यभावितव्यतानामक जो नियति प्रयुक्त अपनी शुभाशुभ क्रिया है, वह मानुष दृष्टिवाले पुरुषों से ही दैव कही जाती है, न कि दिव्य शास्त्रीय दृष्टिवाले पुरुषों से; अतः दैव भी पुरुषप्रयत्न ही है, उससे भिन्न नहीं है।

शंका : प्रयत्न के बिना भी दैव से ही किन्हीं को हर्ष और क्रोध की शान्ति दिखाई देती है, सो कैसे ?

समाधान : हर्ष और क्रोध के हेतुभूत कर्म का क्षय होने पर जब जहाँ जिसका जो ही हर्ष और क्रोध के विनाश के लिए सम्पन्न हुआ, वही यहाँ दैव शब्द से कहा जाता है। जैसे मृगतृष्णाभ्रम मरुभूमि के तत्त्वज्ञान से जीता जाता है, वैसे ही नियतिरूप दैव वैराग्य दृढ़ता अभ्यास आदिरूप पौरुष से थोड़े ही समय में जीता जाता है ॥२६-२९॥

यदि दैवनामक नियति पौरुषनामक नियति से जीती जाती है, तो नियति के फल में नियम न होने के कारण अनियम हो जायेगा। ऐसा यदि कहो, ते इष्टापत्ति है, क्योंकि मन के संकल्प से उत्पन्न सब पदार्थों में यदि कोई बाधक न हो, तो प्रमाणों से फलवत्ता गृहीत है, अतः मनःसंकल्पजन्य पौरुष फलवत्तता द्वारा सुखप्रद है, ऐसा ही नियम माना गया है, ऐसा कहते हैं।

जिस-जिस वस्तु का जैसे संकल्प किया जाता है, वह वैसे ही प्रमाणों से फलवत्ता के गृहीत होने पर पौरुष से फलवत्ता के द्वारा सुखप्रद होता है ॥३०॥ हमारे मत में कर्ता भी मन ही है, वह यहाँ पर जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है, वह वैसे ही होती है। वह जैसे नियति का संकल्प करता है, वह वैसे ही होती है ॥३१॥

पूर्वोक्त कथन का ही उपपादन करते हैं।

चित्त स्वभावतः नियत फलवाले, अपवाद विषयों में अनियत फलवाले व्यावहारिक पदार्थों को एवं अत्यन्त अनियत फलवाले प्रातिभासिक पदार्थों का भी निर्माण करता है, इसलिए यह चित्त नियति का भी उपपादक है ॥३२॥

इसलिए वस्तु के पारमार्थिक होने पर तद्विषयक बोध में नियत फलता ही है। दैव के अथवा कर्म के समान नियतफलता नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यह चित्तरूप जीव कभी (मोक्षाधिकारी जन्म में) नित्य नियत एक स्वभाववाले परमात्मा में प्रत्यक् परमार्थ विषयक साक्षात्कार नामक निर्विकल्प समाधि करता हुआ जैसे वायु आकाश में स्फुरित होता

है, वैसे ही इस जगत्कोश में स्फुरित होता है यानी स्वस्वभाव में प्रकाशित होता है ॥३३॥ कभी (उत्थानकाल में) शास्त्ररूप नियम से विहित वर्णाश्रमोचित कर्म करता हुआ, अज्ञानी लोगों के बोधन के लिए 'ये याज्ञिक एवं सदाचार के प्रर्वतक हैं', इत्यादि रूप से लोक में प्रख्यात नियतिशब्द से युक्त वह जैसे पर्वत का शिखर स्वयं निश्चल होता हुआ भी वायु के वेग से वृक्षों के चंचल होने पर चंचल–सा और वृक्षों के स्थिर होने पर स्थिर–सा उदित होता है, वैसे ही नियति के अनुसार चंचल व स्थिर होता है ॥३४॥ इसलिए जब तक मन है, तब तक न दैव है न नियति है। मन के अस्त होने पर जो होता है, वह वैसे ही रहे ॥३५॥ पुरुष कर्म और ज्ञान के अधिकारी शरीर को प्राप्त होकर पौरुष से जिस पदार्थ का जैसे संकल्प करता है, वह वैसे होता है, उससे विपरीत नहीं होता ॥३६॥

संकल्प के स्वाधीन होने पर पौरुष द्वारा वैराग्य आदि साधनों का सम्पादन कर परम पुरुषार्थरूप ब्रह्मात्मभाव का ही संकल्प करना चाहिये, देहात्मभाव का संकल्प नहीं करना चाहिये, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे पुत्र, पुरुषार्थ के सिवाय यहाँ पर कुछ भी नहीं है, इसलिए पुरुष परम पौरुष का अवलम्बन कर भोगों के प्रति वैराग्य करे। जब तक संसार का विनाश करनेवाली भोगों में विरक्ति नहीं होती, तब तक विजय देनेवाली परम विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती। जब तक मोह में डालनेवाली विषयों में रति रहती है, तब तक संसार दशारूपी झूला चंचल आन्दोलनवाला रहता है। हे पुत्र आभ्यास के बिना भोगरूपी साँपों के समूहों से भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कभी निवृत्त नहीं होती ॥३७–४०॥

बलि ने कहा : हे सब असुरों के अधिपति, नित्यात्मभावरूप स्थिति देनेवाली भोगों में अरति ही जीव के अन्तःकरण में कैसे स्थिर होती है ?॥४१॥

विरोचन ने कहा : हे पुत्र मोक्षरूप फलवाली आत्म–साक्षात्कार रूप लता भोगों में जीव की रति इस प्रकार स्पष्टरूप से पैदा करती है, जैसे कि अंगूर आदि की महालता शरद् ऋतु में कच्चे फल पैदा करती है ॥४२॥ जैसे लक्ष्मी कमल के अंदर निवास करती है, वैसे ही यह विषयों में उत्तम अरति आत्म–साक्षात्कार के हृदय में निवास करती है ॥४३॥ इसलिए पुरुष प्रज्ञारूप मणि की कसौटी, अति उत्तम विचार से परब्रह्म परमात्मा का दर्शन करे और साथ ही साथ भोगों के प्रति अनुराग को हटावे ॥४४॥

चित्त के परिपाक के अनुसार भूमिका भेदों के कहने की इच्छावाले विरोचन पहली भूमिका कहते हैं।

अव्युत्पन्न चित्त के सन्मार्ग के आरम्भ में दिन के दो भागों को एकमात्र देह के भोगोपायों से पूर्ण करें, एक भाग को शास्त्र–श्रवण से पूर्ण करें और एक भाग को गुरु सेवा से पूर्ण करें ॥४५॥

प्रथम भूमिका पर विजय प्राप्त होने के अनन्तर उसके आगे की भूमिका कहते हैं।

कुछ व्युत्पत्तियुक्त चित्त के सन्मार्ग के आरम्भ में दिन के एक भाग को भोगों से पूर्ण करें, दो भागों को गुरु सेवा में बितायें; क्योंकि अधिक समय तक गुरु के सान्निध्य में रहने पर समय–समय पर गुरुओं से अपना सन्देह होने पर पूछा जा सकता है और एक भाग को शास्त्रार्थ के चिन्तन में बितायें ॥४६॥

द्वितीय भूमिका पर विजय प्राप्त होने पर उसके आगे की भूमिका कहते हैं।

व्युत्पत्ति को (रत्नतत्त्व के समान चिरकाल की परीक्षा से यथार्थ निश्चय को) प्राप्त हुए चित्त के सन्मार्ग के आरम्भ में दिन के दो भागों को शास्त्र और वैराग्य से और दो भागों को ध्यान और गुरु–पूजा

से पूर्ण करना चाहिये ॥४७॥

पूर्वोक्त चारों प्रकार के क्रमों में शुद्ध चित्त पुरुष ही अधिकारी है, ऐसा कहते हैं।

साधुता को (शुद्धचित्तता को) प्राप्त हुआ पुरुष ही ज्ञान कथा के आरम्भ में योग्य है। निर्मल वस्त्र ही उत्तम रंग को ग्रहण करता है, मलिन ग्रहण नहीं करता ॥४८॥

थोड़े मलिन चित्त का ज्ञान कथा क्रम में कैसे अधिकार है ? इस पर कहते हैं।

दु:ख के अन्वय–व्यतिरेक के प्रदर्शन और पवित्र श्रुति, स्मृति और गुरु के वचनों से धीरे–धीरे चित्त का लालन करना चाहिये। शास्त्रार्थ में चित्त के चिरपरिशीलन द्वारा आँवले के मुरब्बे के समान मधुरैकरसता के परिणाम से चित्त का पालन करना चाहिये। परम ज्ञान में परिणत हुआ चित्त, जिसका बाह्य मलिन जड़ाकारग्रहण शिथिल हो गया हो वह चाँदनी से युक्त स्फटिक के समान शीतल हो कर विराजमान होता है ॥४९,५०॥ जिसमें भेद से विषमतारूप कुटिलता नहीं रह गई, ऐसी सरल उत्कृष्ट प्रज्ञा से वह इन्द्रिय, विषय और उनकी वृत्तियों के, उनके स्वामी जीव के और भोगायतन देह के समानरूप से अधिष्ठानभूत ब्रह्म को शीघ्र देखे, जो सच्चिदानन्द अद्वितीय एकरस है ॥५१॥

विचार का फल तृष्णा का आत्यन्तिक त्याग भी तभी होता है, इस आशय से कहते हैं।

हे पुत्र प्रज्ञा द्वारा विचार करने से आत्मदर्शन और तृष्णा का त्याग इन दोनों को एक ही काल में करे ॥५२॥

विचार का फल पुरुष अपराधनिवृत्ति और ज्ञान का फल मूल अविद्यानिवृत्ति पृथक् सिद्ध नहीं होते, ऐसा कहते हैं।

परमात्मा का दर्शन होने पर निस्पृहता होती है और निस्पृहता होने पर परमात्म दर्शन होता है। जैसे अग्नि की प्रभावस्था और दीपकारावस्था अन्धकार और तेल इन दोनों की निवर्तिका होकर परस्पर एक काल में स्थित हैं वैसे ही ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर एक काल में स्थित हैं। भोगों के समूह के रसरहित होने पर और परमोत्कृष्ट परब्रह्म देव का दर्शन होने पर कभी नष्ट न होनेवाली असीम विश्रान्ति प्राप्त होती है ॥५३,५४॥

किन्तु जो लोग भोगास्वाद में लम्पट हैं, उन्हें तो आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

विषयों में ही सारभूत आनन्द समझकर उनका आस्वादन करनेवाले जीवों को इस जगत में कभी आत्मश्रवण के बिना असीम निरतिशयानन्द प्राप्त नहीं होता। यज्ञ, दान, तप और तीर्थ सेवन से अदृष्ट द्वारा विषय सुख ही होता है; किन्तु स्वात्मा के अवलोकन के बिना तप से, दान से और तीर्थों से भी प्राणी की विषयों में विरति नहीं होती। हे पुत्र, अपने प्रयत्न के बिना पुरुष की बुद्धि किसी भी युक्ति से अपने कल्याण के लिए आत्मावलोकन में प्रवृत्त नहीं होती। हे पुत्र, भोगों के त्याग से प्राप्त हुए परमार्थ के बिना परम ब्रह्मपद विश्रान्ति सुख नहीं मिलता। जैसा स्वात्मरूप से अभिव्यक्त परमकारण परमात्मा में विश्राम किया जाता है, वैसा विश्राम ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त इस जगत में कहीं पर भी नही मिलता। पौरुष प्रयत्न का अवलम्बन कर दैव का दूर से त्याग कर प्राज्ञ पुरुष मुक्ति द्वार के मजबूत अर्गल सदृश भोगों की निंदा करे। भोगों की निंदा के प्रौढ़ होने पर विचार उत्पन्न होता है। जैसे कि वर्षा ऋतु के धान आदि की फसल से वृद्धि युक्त होने पर धानों की फल सम्पत्ति से सुशोभित निर्मल

शरत्काल उत्पन्न होता है ॥५५–६२॥ भोगों की निंदा से विचार उत्पन्न होता है और विचार से भोगों की निंदा उत्पन्न होती है, ये दोनों जैसे समुद्र किरणों द्वारा मेघों को भरता है और मेघ वृष्टि द्वारा समुद्र को भरते हैं वैसे ही परस्पर एक दूसरे को पूर्ण करते हैं। भोग निंदा, विचार और अविनाशी आत्मदर्शन ये तीनों जैसे परस्पर अत्यन्त प्रीतिवाले मित्र एक दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं वैसे ही परस्पर एक दूसरे की वृद्धि करते हैं। पहले दैव का अनादर कर पौरुष प्रयत्न से दाँतों से दाँतों को पीसकर भी भोगों में विरक्ति प्राप्त करे ॥६३,६४॥ देश और आचार से अविरुद्ध, बन्धु–बन्धवजनों से सम्मत पौरुष से पहले क्रमशः धनोपार्जन करे। धन से कुलीन गुणशाली सज्जनों की आराधना कर उन्हें वशीभूत करे, उनके सत्संग से भोगों में विरक्ति होती है ॥६५,६६॥ तदनन्तर विचार होता है, विचार के बाद विचाररहित वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। उसके बाद गति सामान्य न्याय के आलोचन से सब श्रुतियों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य का निर्णय होता है। तदनन्तर क्रम से परमपद प्राप्त होता है ॥६७॥ विषयों का त्याग करने में यदि इस समय असमर्थ हो, तो यौवन आदिकाल के बीतने पर जब विषयों से विरत होओगे, तभी विचारवश परम पद को पाओगे, इस समय नहीं। तब अत्यन्त पवित्र आत्मा में पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त करोगे, फिर दुःख के लिए कल्पनारूपी पंक में नहीं गिरोगे ॥६८–६९॥ हे शुद्ध तुम्हारी आस्था भोगों में स्थित भी नहीं है, जिससे कि तुम्हें अन्य काल की प्रतीक्षा करनी पड़े। अतएव तुम सदाशिव ही हो। अतः ब्रह्मभूत तुमको नमस्कार है (यहाँ पर पुत्र दृष्टि से नमस्कार अनुचित है तथापि ब्रह्म दृष्टि से उचित है, यह समझना चाहिये) ॥७०॥

पूर्वोक्त अर्थ का संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

देश और आचार से अविरुद्ध क्रम से धन का उपार्जन करो। उस धन से अत्यन्त तुच्छ भोग की गर्हणा द्वारा यानी भोग के लिए धन व्यय न कर ब्रह्मवेत्ताजनों को नमस्कार से, अन्न–वस्त्रदान आदि सम्मान द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करो तदनन्तर सत्संगति से उत्पन्न हुए विषयों के अनादर से साधन चतुष्टय सम्पत्ति से उत्पन्न अध्यात्मशास्त्र के सम्यक् विचार वैभव से तुम्हें आत्मलाभ कण्ठस्थित–विस्मृत सुवर्ण के लाभ के समान होगा ॥७१॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

सन्देह की निवृत्ति के लिए शुक्राचार्य के चिन्तन की इच्छा से बलि के हृदय में विवेकरूपी चन्द्रमा के शुभोदय का वर्णन।

बलि ने कहा : सुन्दर विचारवाले मेरे पिता ने यह पहले मुझसे कहा था। इस समय भाग्य से मुझे इसका स्मरण हो गया है; इससे मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। आज मेरी भोगों के प्रति यह विरक्ति स्पष्टरूप से उत्पन्न हो गई है। बड़े हर्ष की बाता है कि मैं अमृत के समान शीतल, निर्मल शान्तिसुख में प्रविष्ट हूँ ॥१,२॥ पुनः पुनः अपनी आशा को पूर्ण कर रहा, पुनः पुनः धन बटोर रहा एवं पुनः पुनः प्रिया को प्रार्थना आदि द्वारा अपने अनुकूल कर रहा मैं सम्पत्ति के परिपालन के विषय में संतृप्त हो गया हूँ। अहा, अत्यन्त शीतल यह शान्ति भूमि बड़ी रमणीय है। शान्तिगुण में सभी सुख–दुःख दृष्टियाँ नष्ट हो जाती

हैं। शान्ति में स्थित मैं शान्ति को प्राप्त हो रहा हूँ, चन्द्रबिम्ब में रक्खे हुए की तरह मैं सन्तापरहित हो रहा हूँ। सुखपूर्वक स्थित हूँ एवं मेरा अन्तःकरण अत्यन्त हर्षित हो रहा है। जिसमें भोगों की उत्कण्ठा से इधर-उधर तेजी से नाच रहे मन के वेग से विशाल शरीर जलाया जाता है और जिसमें निरन्तर क्षोभ भरा रहता है वह धनोपार्जन, दुःखरूप ही है ॥३-६॥

अब धनोपार्जन के फलरूप स्त्री आदि का भोग भी असार है, ऐसा विचार कर उनके लिए शोक करते हैं।

पहले मैं स्त्री के अंगो से अंग का, मांस से मांस का संमर्दन कर जो प्रसन्न हुआ था वह मेरा अज्ञान विलास ही था। सब भावों के दृष्टान्तभूत महावैभव मैंने स्वयं देखे, बेरोक-टोक राज्यादि भोगों का भोग किया, सब प्राणियों को अपने सामर्थ्य से झुका दिया, फिर भी अविनाशी सुख क्या उत्पन्न हुआ ? भाव यह कि अनादि संसार में सभी का कभी ऐसा वैभव रहा होगा और मेरी भी अनेकों बार हजारों दुर्दशाएँ हुई होगी और आगे भी हो सकती हैं, फिर यह वैभव कौन-सा शोभन है ? ॥७,८॥

नया चमत्कार न दिखाई देने और चर्वितचर्वण रूप होने से भी ऐहिक और पारलौकिक भोगों में सार नहीं है, ऐसा कहते हैं।

स्वर्ग में, इस लोक में अथवा अन्य नागलोक आदि में पुनः-पुनः पूर्वानुभूत वे ही वस्तुएँ इधर उधर स्थित हैं, कुछ भी नया नहीं है। इसलिए सभी का परित्याग कर और बुद्धि से स्वयं परिहार कर प्राप्त हुए स्वरूपबोध से पूर्ण की तरह स्थित मैं आत्मा में स्वस्थ होकर स्थित हूँ ॥९,१०॥

जो कुछ भोग अज्ञानियों की दृष्टि में सारभूत प्रतीत होता है, वह भी नश्वर होने से अन्त में दुःखदायी होता है। अतएव उनकी दृष्टि में भी वह असार ही है, इस आशय से कहते हैं।

पाताल में, भूतल में, स्वर्ग में, स्त्रियाँ, रत्न, मणियाँ आदि जो सार पदार्थ हैं, उन्हें भी तुच्छ काल शीघ्र निगल जाता है। पहले इतने समय तक तुच्छ जगत के आधिपत्य की इच्छा से देवताओं के साथ द्वेष करता हुआ मैं अत्यन्त मूर्ख ही हुआ था। एकमात्र मन के निर्माणरूप जगदाधिपत्यनामक इस महामानसिक दुःख का त्याग न करने से कौन पुरुषार्थ है और महात्मा का उनमें राग ही क्या है ? भाव यह है कि अनुराग होने पर उसमें पुरुषार्थता बुद्धि हो सकती है, पर महात्मा का उसमें अनुराग नहीं होता। कष्ट की बात है, अज्ञानरूपी मद से मत्त अपने मृत्युभूत स्वयं ही मैंने बहुत समय तक अनर्थ का पुरुषार्थ बुद्धि से सेवन किया ॥११-१४॥ अत्यन्त चंचल तृष्णा वाले अज्ञानी मैंने इस त्रिजगत में इतने पश्चात्ताप की अभिवृद्धि के लिए क्या नहीं किया ? ॥१५॥

अथवा बीते हुए के लिए शोक करने से क्या प्रयोजन है ?

अब मैं वर्तमान मोह चिकित्सा द्वारा पुरुष जन्म की सफलता के उपाय का चिन्तन करूँ, ऐसा कहते हैं।

इसलिए इस तुच्छ अतीत की चिन्ता से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? वर्तमान मोह के प्रतीकार से पुरुषजन्म सफलता को प्राप्त होता है ॥१६॥ जैसे अपरिच्छिन्न स्वरूप ब्रह्म के साथ अभेद स्थिति से आत्मा में चारों ओर से पूर्ण सुख क्षीरसागर में अमृतमंथन से रसायन के समान आविर्भूत होता है वैसे मैं आज शुक्राचार्यजी से पूछता हूँ ॥१७॥ यह प्रपंच क्या है ? अहंप्रत्ययवेद्य जीव तत्त्व क्या

है ? इस आत्मदर्शन के उपाय को मैं अज्ञान की शान्ति के लिए अपने कुलगुरु हाने से कुल के ईश्वर शुक्राचार्यजी से पूछता हूँ। मैं योगसिद्ध होने से सब अभिलाषाओं के अधिपति, आश्रित जनों पर सदा प्रसन्न रहने वाले शुक्राचार्यजी का चिन्तन करता हूँ। उनके द्वारा वाणी से उपदिष्ट अनन्त वैभवशाली आत्मा में स्वयं अपने से स्थित होऊँगा, क्योंकि महात्माओं की उपदेशवाणियाँ अक्षय वस्तु को उत्पन्न करती हैं, कभी भी विफल नहीं होती ॥१८,१९॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

स्मृति से बलि के समीप गये हुए शुक्राचार्य के बलि के प्रति
तत्त्वज्ञानोपदेश का और तदनन्तर आकाशगमन का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, बलवान बलि ने ऐसा सोचकर, आँखें बन्द कर कमलनयन शुक्राचार्य का ध्यान किया जिनका ब्रह्माकाश ही विश्रान्ति स्थान है। तदनन्तर नित्य ध्यान परायण शुक्राचार्यजी ने सबके अन्तर्यामी ब्रह्मरूप होने के कारण सबमें स्थित अपना चिन्तन कर रहे अपने चित्त में स्थित शिष्य बलि को अपने नगर में तत्त्वजिज्ञासा से गुरुदर्शन के लिए इच्छुक जाना ॥१,२॥ तदनन्तर भगवान शुक्राचार्यजी, जो सर्वगत अनन्त चिदात्मा हैं, देहसहित अपने को बलि के रत्नमय झरोखे के प्रति ले आये ॥३॥ बलि, जिनका शरीर गुरु की देहप्रभा से सुशोभित था, जैसे प्रातःकाल में सूर्य की किरणों से विकसित कमल उद्‌बुद्ध होता है, वैसे ही उठ खड़े हुए ॥४॥ वहाँ पर बलि ने रत्नमय अर्घ्य के प्रदान से, मन्दार वृक्ष के फूलों की राशियों से और पादाभिवन्दन से शुक्राचार्यजी की पूजा की। बलि ने रत्नमय अर्घ्य से पूर्ण शरीरवाले, मन्दारपुष्पों के शिरोभूषण से विभूषित और बहुमूल्य आसन पर बैठे हुए गुरु से कहा ॥५॥

हे भगवन्, जैसे सूर्य की प्रभा सन्ध्यावन्दन आदि कार्य करने के लिए लोगों को प्रेरित करती है, वैसे ही आपकी प्रसन्नता से उत्पन्न हुई मेरी यह प्रतिभा मुझे आपके सामने कहने के लिए प्रेरित करती है ॥६,७॥ भगवन्, महामोह देनेवाले भोगों के प्रति मैं विरक्त हूँ, जो अपने ज्ञानमात्र से महामोह का नाश करे, ऐसे तत्त्व को जानना चाहता हूँ। इस भोगजाल के उत्कर्ष की अवधि कितनी बड़ी है, इसकी प्रकृति क्या है, मैं क्या हूँ और ये भोग्य लोक क्या हैं ? यह सब आप मुझसे शीघ्र कहने की कृपा कीजिये ॥८,९॥ शुक्राचार्यजी ने कहा : हे सर्वदानवराजेन्द्र, इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है ? मैं आकाश में जाने के लिए तत्पर हूँ, इसलिए संक्षेप से तुम सारभूततत्त्व को सुनो। इस जगत में अन्यनिरपेक्ष सिद्धिवाला चैतन्य ही है। चैतन्य के अधीन सिद्धिवाले इन भोगों के उत्कर्ष की विधि चित् ही है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुति से पूर्ण चैतन्य ही सब आनन्दों के उत्कर्ष की अवधिरूप से कहा गया है। चित् में ही वेदवैचित्र्य का अध्यास होने से यह सब चिन्मय ही हैं, क्योंकि 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ऐसी श्रुति है एवं 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्माऽस्मि', 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः', 'नाऽन्योऽतोऽस्तिद्रष्टा' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से भोक्तृत्त्व भी चिन्मात्र ही है। इसी प्रकार भोग्य समूहरूप ये लोक भी परमार्थतः चित् ही है, क्योंकि 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' ऐसी

श्रुति है। यह सिद्धान्त का संक्षेप से संग्रह है। यदि तुम श्रद्धालु और विवेकी हो, तो इस निश्चय से तुम सब कुछ प्राप्त कर सकोगे। यदि श्रद्धालु और विवेकी नहीं हो, ते तुमसे बहुत कहा गया भी राख में हवन के तुल्य निष्फल है ॥१०-१२॥ चित् की जो चेत्याकार कल्पना है, वही बन्ध है, उससे मुक्ति मोक्ष कहलाता है। चेत्याकाररहित चित् पूर्ण आत्मा है, यह सब सिद्धान्तों का संग्रह है। ऐसा निश्चय कर यदि तुम स्वयं अखण्डाकारवृत्ति से आत्मा का अनायास दर्शन कर सकोगे, तो तुम अनन्त पद को प्राप्त होओगे ॥१३,१४॥ मैं देवलोक में जाता हूँ, यहीं पर सप्तर्षि मुझे मिले थे, वहाँ पर किसी देवकार्य से मुझे जाना है ॥१५॥

यदि बलि की ओर से यह प्रश्न हो कि आप मुक्त हैं, अतएव कृतकृत्य हैं, यदि आप वहाँ पर न जायें, तो आपकी क्या क्षति है ? तो इस पर कहते हैं।

हे राजन्, जब तक यह शरीर है, तब तक मुक्तपुरुषों को भी यथाप्राप्त क्रिया का त्याग स्वभावतः अच्छा नहीं लगता।

तदनन्तर यह कह चुके शुक्राचार्यजी ग्रहों से व्याप्त अतएव पुष्प पराग से लिप्त भँवरे के समान कर्बुरित आकाश के मध्य में स्पष्ट मेघ और समुद्र के ऊपरी मार्ग से चंचल तरंग के समान बड़े वेग से उड़े ॥१६,१७॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

शुक्राचार्यजी द्वारा उपदिष्टमार्ग से विचार कर रहे बलि की
चैतन्य पूर्णानन्द में विश्रान्ति से चिरकाल तक स्थिति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सुर और असुरों की गोष्ठी में अत्यन्त प्रशंसनीय शुक्राचार्यजी के चले जाने पर बुद्धिमानों मे श्रेष्ठ बलि ने अपने मन से विचार किया कि भगवान श्रीशुक्राचार्यजी ने ठीक ही कहा। ये तीनों जगत चित् ही हैं, मैं चित् हूँ, ये लोक चित् ही हैं, दिशाएँ चित् ही हैं और यह क्रिया चित् है। परमार्थरूप से बाहर भीतर सर्वत्र सब चित् ही हैं, चित् से अतिरिक्त यहाँ पर कहीं कुछ नहीं है। यह सूर्य आदित्यरूप से यदि चित् द्वारा चेतित न होता, तो सूर्य और अन्धकार का भेद कैसे उपलब्ध होता ? यह भूमि है, इस प्रकार यह भूमि चित् से यदि प्रकाशित न होती, तो भूमिका भूमित्व यानी जलादि से व्यावृत्तरूप जो केवल भूमि में ही निरूढ़ता को प्राप्त है, क्या होता ? यदि दिशाएँ ये दिशाएँ हैं, यों चित् द्वारा चेतित न होती, तो दिशाओं का दिशात्व क्या होता ? इसी प्रकार यदि शैल ये शैल हैं, यों चित् द्वारा चेतित न होते, तो शैलों की शैलता क्या होती ? यदि जगत यह जगत है, यों चित् द्वारा चेतित न होता, तो जगत की जगत्ता (मूर्तत्ता) क्या होती और आकाश की अमूर्तता क्या होती ? यह स्थूल शरीर चित् से यदि चेतित न होता, तो प्राणियों के शरीर की शरीरता क्या होती ? इन्द्रियाँ चित् हैं, शरीर चित् है, मन चित् है, मन की अभिलाषा चित् है, भीतर चित् है, बाहर चित् है, असत् चित् है, असत् से विलक्षण सत् पदार्थ चित् हैं, सत् और असत्य पदार्थ के सम्बन्ध से व्यवहार की जगत सत्ता चित् है। मैं भोगेच्छापूर्वक सब शब्द आदि विषयों के भोग चित् से ही करता हूँ,

शरीर से कुछ नहीं करता, क्योंकि अचेतन शरीर भोक्ता नहीं हो सकता ॥१–१०॥

जब मैं शरीर से कुछ नहीं करता, तब शरीराभिमान वृथा ही है, इसलिए वह त्याज्य ही है, ऐसा कहते हैं।

काठ और ढेले के समान इस जड़ शरीर से मेरा क्या प्रयोजन है ? चेतनरूप मैं सकल जगद्रूप चित् ही हूँ। आकाश में चिद्रूप मैं हूँ, सूर्यादि के तेज में चिद्रूप मैं हूँ और अवशिष्ट तीनों भूतों में भी चिद्रूप मैं हूँ, सुर–असुरों में और स्थावर जंगमों में चिद्रूप मैं हूँ। यहाँ पर केवल चित् ही है, दूसरी कल्पना ही नहीं है। लोक में द्वित्व का संभव न होने से कौन शत्रु है अथवा कौन मित्र है ? ॥११–१३॥

देहादि द्वैत भले ही हो, तथापि उसकी क्षति से असंग, पूर्ण, चिन्मात्ररूप मेरी कोई क्षति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

बलिनामधारी शरीर के प्रकाशमान सिर के कटने पर सब लोकों को पूर्ण करनेवाले चैतन्य का क्या कटा ? ॥१४॥

भले ही चित् का ही छिन्न हो, तथापि छेद्य, छेदन आदि भाव और अभाव और तद्विषयक राग, द्वेष आदि भी, चित् के आधीन ही उनकी कल्पना होने से चित् से अतिरिक्त नहीं हैं, अतएव चित् के प्रतिकूल कुछ नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं।

चित् से यह द्वेष है यों संकेतित होने से द्वेष, द्वेष होता है, अन्यथा द्वेष नहीं होता; इसलिए द्वेष आदि सब भाव और अभाव चैतन्यरूप ही हैं। बहुत विचार करके भी चित् से पृथक् इस विशाल त्रिभुवन के मध्य से कुछ भी वस्तु प्राप्त नहीं होती है। अतिशुद्ध चेतनरूप मुझमें न द्वेष है, न अनुराग है, न मन है और न मन की वृत्तियाँ ही हैं। ये हों भी कैसे ? भला अतिशुद्ध चिन्मात्र में विकल्प कल्पना कैसे हो सकती है ? सर्वत्र जाननेवाला, सर्वव्यापक, नित्य आनन्दमयरूप, विकल्प–कल्पना से शून्य, द्वैत अंश से रहित मैं चित् ही हूँ। नामरहित चित् का जो 'चित्' यह नाम है, वह नाम नहीं है, यह सर्वत्र जानेवाली सब नाम–रूप कल्पना की अधिष्ठानभूत चित्–शक्ति ही नाम शब्द की तरह स्फुरित होती है ॥१५–१९॥

इसी प्रकार 'कोऽहम्' (मैं कौन हूँ) इस प्रश्न का उत्तर भी स्वयं मुझे ज्ञात हो गया है, ऐसा कहते हैं।

मैं दृश्य–दर्शन से रहित केवल अद्वितीय निर्विकार स्वरूपवाला, नित्य उदित, भ्रान्तिरहित साक्षी परमेश्वर हूँ। इस प्रकार के प्रकाशमात्र स्वरूपवाले मुझमें नित्य स्वात्मा के अवभास से शून्य जल अथवा केशों के अग्रभाग में प्रतिबिम्बित चन्द्रकला के सदृश स्वकल्पनारूपी अपरिच्छिन्न जीवभाव जो उदित हुआ है, वह एकमात्र भ्रान्ति ही है, वास्तविक नहीं है, इसलिए उस जीवभाव को मैं चरम साक्षात्कार वृत्ति से प्रदीप्त हुए स्वरूप से ही अभिभूत करता हूँ। चेत्य के सम्बन्ध से शून्य, विमुक्त महात्मा प्रत्यक्चेतनरूप स्वरूपभूत ब्रह्म को नमस्कार है ॥२०–२२॥

अपना आत्मा ही परमेश्वर है जिसने जीवभाव पर विजय प्राप्त कर ली, इसलिए उसे नमस्कार करते हैं।

चेत्य से रहित चिद्रूप, साक्षात्कार के योग्य मनन–निदिध्यासनरूप युक्ति–से–युक्त, सब पदार्थों के प्रकाशन में दीपक प्रत्यग्रूप ब्रह्म को नमस्कार है। मैं जिसमें सब ज्ञातव्य वस्तुएँ शान्त हो चुकी,

चेत्य से रहित चित्‌रूप, सर्वत्र विश्व को पूर्ण करनेवाला, सर्वव्यापक एकमात्र सच्चिदानन्दरूप हूँ। सर्वत्र व्याप्त मैं आकाश के समान अनन्त हूँ और अणु से भी अणु हूँ, इसलिए ये सब सुख-दुःख दशारूपी दृष्टियाँ मुझे प्राप्त नहीं कर सकती हैं ॥२३-२५॥ वर्तमान में असंवेद्य (चक्षु आदिवृत्तियों की व्यावृत्ति के लिए असंवेद्य कहा है) संवेदनरूप और अचेत्य (अतीत और अनागत के विषय में स्मृति आदि वृत्तियों की व्यावृत्ति के लिए अचेत्य कहा है) चेतनरूप सर्वव्याप्त मुझको ये जगत के भाव और अभाव देशतः, कालतः अथवा वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं कर सकते हैं, बल्कि ये भाव और अभाव ही साक्षी से परिच्छेद्य हैं, यह भाव है ॥२६॥

यदि कहिये कि हम इयत्ता (सीमा) में स्थापन को परिच्छेद नहीं कहते हैं, किन्तु तत्त्वावधारण को परिच्छेद कहते हैं, तत्त्वज्ञान के अनुकूल प्रमाण आदि जगत के भाव वास्तव में आत्मा का उक्त परिच्छेद करते ही हैं, इस पर कहते हैं।

अथवा ये जगत के पदार्थ मुझे परिच्छिन्न करें, इस प्रकार का परिच्छेद मुझे अभिमत ही है, किन्तु इतने से ये मुझसे पृथक् नहीं हो सकते। मद्रूप ही हो जाते हैं, यह भाव है ॥२७॥

इनसे परिच्छेद होने पर बाएँ हाथ में रखे गये धन का दाहिने हाथ से ले जाने, हरने अथवा लौटाकर देने से दोनों हाथों से अभिन्न देहरूप देवदत्त की जैसे धन क्षति नहीं होती है वैसे ही मेरी कोई क्षति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यदि अपने स्वरूपभूत वस्तु-से-वस्तु ले जाई जाती है, हरी जाती है अथवा वापस लेकर दी जाती है, तो किसका क्या नष्ट हुआ ? ॥२८॥

वस्तुतः तत्त्वबोध से पहले भी जगत मैं ही था, इसलिए पहले भी न तो कुछ उत्पन्न हुआ था और न विनष्ट हुआ था, इस आशय से कहते हैं।

मैं ही सदा सब कुछ सबका कर्ता और सर्वगत था। यह चेत्य भी मैं ही हूँ। नया कुछ भी उदित नहीं हुआ ॥२९॥ मैं एकमात्र यह चित् हूँ, चिद्रूप मेरा संकल्प और विकल्प से क्या बढ़ा और क्या विनष्ट हुआ ? अपने अज्ञान से मैं संक्षोभ को प्राप्त होता हूँ और तत्त्वज्ञान से पवित्र आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त होता हूँ। ऐसा विचार कर रहा परम ज्ञानी दैत्यराज बलि ओंकार से स्थूल और सूक्ष्म के संक्षोभ एवं उनके हेतुभूत अज्ञान से युक्त चैतन्य को बोधित कर रही अकार आदि तीन मात्राओं का त्यागकर तुरीय की आत्मरूप से भावना करता हुआ समाधिस्थ होकर स्थित रहा। उस महान पद को प्राप्त हुए बलि के सब संकल्प विलीन हो गये, सब कल्पनाएँ नष्ट हो गई, ध्याता, ध्येय और ध्यान से रहित होने के कारण उसने चेत्य, चिन्तक और चिन्तन का त्याग कर दिया। वह निर्मल और वासनाशून्य हो गया, इसलिए निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की प्रभा के समान निश्चल हो गया। शान्त मनवाला राजा बलि उस रत्ननिर्मित झरोखे पर पत्थर पर गढ़ी हुई मूर्ति के सदृश रहा। राजा बलि जिसने तीनों एषणाओं को शान्त कर दिया अतएव परिपूर्ण तथा विषयों के चिन्तनरूपी दोषदशा से शून्य इस निर्मल ब्रह्मभावप्राप्तिरूप सत्ता से ऐसे सुशोभित हुआ जैसे मेघरहित शरत् कालीन आकाश निर्मलता से सुशोभित होता है ॥३०-३५॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

बलि को निश्चेष्ट देखकर दुःखित हुए दानवों द्वारा शुक्राचार्यजी का स्मरण और
उनका बलि की स्थिति कहकर दानवों का शोक दूर करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर बलि के अनुचर वे दानव लोग स्फटिक के बने हुए बलि के निवासभूत ऊँचे राजमहल पर एक क्षण में चढ़ गये। वे अनुचर थे – डिम्ब आदि धीर मन्त्री, कुमुद आदि सामन्त, सुर आदि राजा, वृत्त आदि सेनापति, हयग्रीव आदि सैनिक, चाक्राज आदि बान्धव, लड्डुक आदि मित्र, बल्लुक आदि प्रीतिकारी, कुबेर, यम, इन्द्र आदि भेंट देनेवाले देवता, सेवा करने का अवसर चाहनेवाले यक्ष, विद्याधर और नाग, चँवर डुलानेवाली रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ, सागर, नदियाँ, पर्व, दिशाएँ, विदिशाएँ (दिशा और विदिशाओं के देवता और उनमें अधिकारी रूप से नियुक्त लोग) उस समय बलि की सेवा के लिए उस स्थान पर आ पहुँचे। इनके अतिरिक्त त्रैलोक्य के मध्य में निवास करनेवाले बहुत से सिद्ध भी आए। सबने, जिनकी मुकुटों की पंक्तियाँ झुक रही थी, बड़े आदर के साथ बलि को, जो ध्यान और मौन से समाधि में बैठा था और चित्र में लिखित चित्र के समान निश्चल था, प्रणाम किया ॥१–७॥

राजा बलि का दर्शन कर अवश्य कर्तव्य प्रणाम आदि कर चुके वे महाअसुर बलि के प्राणों का सन्देह होने से विषादवश गम्भीर हुए, उसी प्रसन्नता और आनन्द देखने से विस्मत हुए, रोमांच आदि आनन्द के चिह्न न देखने से आनन्दित और अपना रक्षक न देखने से भयभीत हुए। दानव मन्त्रियों ने यहाँ पर क्या करना चाहिये, यह विचार कर सब ज्ञाताओं में श्रेष्ठ गुरु शुक्राचार्य का स्मरण किया ॥८,९॥ चिन्तन के पश्चात दैत्यों ने कल्पित (✍) दैदीप्यमान भार्गव का शरीर प्राप्त हुए गन्धर्वनगर के समान देखा। असुरों द्वारा पूजे जा रहे और गुरु के उच्च आसन पर स्थित शुक्राचार्यजी ने ध्यान से चुपचाप बैठे हुए दानवराज बलि को देखा। दानवों पर प्रेम करनेवाले श्रीशुक्राचार्यजी ने क्षण भर विश्राम करके ध्यान से देखकर विचार करते हुए बलि को संसारभ्रमरहित (जिसका संसार रूपी भ्रम क्षीण हो गया था) जाना। तदनन्तर प्रकाशित करनेवाली अपने शरीर की सैकड़ों किरणों से क्षीरसागर को भी नीचा दिखा रहे–से गुरु ने हँसते हुए सभा में स्थित लोगों से यह वाक्य कहा ॥१०–१३॥

हे दैत्य लोगों, सिद्ध हुआ यह ऐश्वर्यशाली बलि अपने विचार से ही विमल पद को प्राप्त हुआ है। यह विश्रान्तिसुख का अतिशय है ॥१४॥ हे दानवश्रेष्ठों, इसलिए यह ऐसे ही समाधि में स्थित होकर निरतिशयआनन्दरूप आत्मा में चिरस्थिति को प्राप्त हो और निर्विकार पद का साक्षात्कार करे ॥१५॥ चिरकाल से थका हुआ–सा यह चित्त भ्रान्तिरहित होकर विश्राम को प्राप्त हो रहा है। इसका संसाररूपी कुहरा शान्त हो गया है। इससे आप लोग भाषण न कीजिये ॥१६॥ जैसे पृथिवी पर रात्रि के अन्धकार, निद्रा आदि के शान्त होने पर दिन को सूर्य का किरणसमूह प्राप्त होता है, वैसे ही अज्ञानरूपी संकट के दूर होने पर अपना ही प्रकाश इसको प्राप्त हुआ है ॥१७॥ समय आने

(✍) शुक्राचार्यजी के द्वारा ही, जो सप्तर्षियों की सभा में गये हुए थे, योगबल से बलि के महल में प्राप्त होने के कारण उस शरीर की कल्पना की गई थी, अतः उसे 'कल्पित' कहा।)

पर यह स्वयं ही प्रबोध को ऐसे प्राप्त होगा, जैसे कि बीज के सम्पुट से 'मैं अंकुर हूँ' इस प्रबोध से सुप्त मूर्त अंकुर प्रबोध को प्राप्त होता है ॥१८॥ हे दानवनायकों, आप सब लोग राज्य-कार्य करो, बलि एक हजार वर्ष में समाधि से प्रबुद्ध होगा ॥१९॥

गुरु के ऐसा कहने पर जैसे वृक्ष सूखी हुई मंजरी का त्याग करते हैं वैसे ही वहाँ पर दैत्यों ने दर्प, कोप और दुःख से उत्पन्न हुई चिन्ता का त्याग किया। तदनन्तर पहले जैसी राज्य की व्यवस्था स्थापित कर रक्खी थी, उसीके अनुसार बलि के राज्यव्यवहार क्रम को स्थिर करके सब असुर अपने-अपने व्यापार में निरत हुए ॥२०,२१॥

उस समय बाहर से आये हुए मनुष्य नागादि ने क्या किया ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

मनुष्य पृथिवी को गये, नागराज आदि रसातल को गये, ग्रह अन्तरिक्ष को गये, देववृन्द स्वर्ग को, कुलाचल आदि पर्वतों में अधिकृत देवता और दिक्पाल अपनी-अपनी दिशाओं को, ऋक्ष, वानर आदि यूथपति किष्किन्धा आदि कन्दराओं को व गरुड़, संपाति, जटायु आदि आकाशचारी आकाश को गये ॥२२॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तीसवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त बलि की राज्यसम्पत्ति और पाताल में बन्धन का वर्णन एवं
श्रीरामचन्द्रजी के लिए बलि के समान पूर्णपद में स्थिति का उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, तदनन्तर पूरे एक हजार दिव्य वर्षों के बाद असुरश्रेष्ठ महाऐश्वर्यशाली बलि देवताओं की दुन्दुभियों की तुमुल ध्वनि से समाधि से जागा। बलि के समाधि से जागने पर उस समय वह बलि का नगर ब्रह्माजी के निवासभूत आकाश में सूर्य की किरणों के उदित होने पर जैसे कमल का तालाब विकास शोभा से सुशोभित होता है वैसे ही सुशोभित हुआ ॥१,२॥ जागते ही बलि ने जब तक दावन उसके निकट नहीं आये तब तक समाधि भवन में क्षण भर विचार किया ॥३॥ अहा ! यह पदवी बड़ी रमणीय, शीतल और पारमार्थिक है। मैं इस पदवी में एक क्षण (✍) स्थित होकर विश्रान्ति को प्राप्त हुआ हूँ ॥४॥ इसलिए इसी पदवी का अवलम्बन करके मैं विश्रान्ति सुख को प्राप्त करूँ। बाह्य विभूतियों के उपभोग से मेरा क्या होगा ? यानी उनसे इस प्रकार का कुछ भी विश्रान्तिसुख मुझे नहीं मिलेगा ॥५॥ समाधि के परिपाक से उत्पन्न आनन्दराशि मेरे अन्तःकरण को जैसे सन्तुष्ट कर रही है, चन्द्रमा के बिम्बों में आनन्द लहरियाँ भी वैसा सन्तुष्ट नहीं कर सकती ॥६॥ यों सोचकर विषयों से व्यावृत्त मन को फिर भी विश्रान्ति सुख के लिए लगा रहे बलि को चारों ओर से दैत्यों ने ऐसे घेर लिया जैसे चन्द्रमण्डल को मेघ घेर लेते हैं ॥७॥ उनके प्रणामों से बलि की दृष्टि आकुल हो गई। कुलाचलों के तुल्य विशाल शरीरवाले दैत्यों से घिरे हुए उसने उन्हें देखकर फिर यह विचार किया ॥८॥ चैतन्यरूप मेरा, जिसका विकल्प नष्ट हो गया, कौन-सा पदार्थ उपादेय है ? उपादेय बुद्धि

✍ समाधि-सुख में निमग्न बलि के दिव्य हजार वर्ष भी क्षण के तुल्य बीते, इसलिए 'एक क्षण स्थित होकर' कहा ।

से ही बाह्य पदार्थों को देखने पर मन उनकी ओर आकृष्ट होने के कारण रागितारूप मल को प्राप्त होता है, केवल दर्शनमात्र से नहीं ॥९॥

यदि कोई शंका करे कि मोक्ष की इच्छा से समाधि ग्रहण में ही आपका आग्रह हो, तो उस पर कहते हैं ।

मैं किससे मोक्ष की इच्छा करता हूँ ? पहले मैं बँधा ही किससे हूँ ?

भाव यह कि ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान के कार्य का त्रैकालिक बाध होने पर बन्ध का दर्शन ही नहीं है । बद्ध न होता हुआ भी मैं मोक्ष चाहता हूँ, यह मूर्खों की चेष्टा का अनुकरण नहीं तो और क्या है ? न मेरा बन्धन है, न मेरा मोक्ष है । मेरे अज्ञान का विनाश हो चुका । ध्यान करने से ही मेरा क्या होगा अथवा ध्यान न करने से ही क्या होगा ? ॥१०,११॥

ध्यान और अध्यान की भ्रान्ति का त्याग करके प्रत्यग्रूप आत्मतत्त्व अपने द्रष्टा स्वभाव से ही बाहर उदासीनता से देखता हुआ जिस वस्तु के प्रति आता है, वह स्फुरित हो । उतने से ही अज्ञों के तुल्य देहादि तादात्म्याध्यास से देहादि के वृद्धि और क्षय से होनेवाले वृद्धि और क्षय मेरे नहीं हो सकते, जिससे अनर्थ हो ॥१२॥ मैं न ध्यान की इच्छा करता हूँ और न ध्यान के अभाव की इच्छा करता हूँ । न भोगों की इच्छा करता हूँ और न अभोग की ही इच्छा करता हूँ, किन्तु सन्ताप रहित होकर समरूप से स्थित होता हूँ ॥१३॥ न परमतत्त्व की मुझे अभिलाषा है और न जगत की स्थिति की मुझे वांछा है । न तो ध्यान दशा से मेरा कोई प्रयोजन है और न धन–सम्पत्ति से ही मेरा कोई कार्य है ॥१४॥ देह सम्बन्ध का अभाव होने से मैं मरा भी नहीं हूँ और प्राण का सम्बन्ध न होने से मैं जीवित भी नहीं हूँ । न मैं मूर्त हूँ, न अमूर्त हूँ और न मैं सन्मय हूँ । ये देह, लोक आदि मेरे नहीं हैं । अन्य देह और अन्य लोक आदि भी मेरे नहीं हैं । प्रत्यक्चैतन्रूप मुझको नमस्कार है । मैं महान हूँ । यह जगत साम्राज्य मेरा हो, इसमें स्थित होकर मैं बैठा हूँ अथवा यहाँ पर जगत साम्राज्य मेरा न हो, मैं सन्तापरहित हो आत्मा में स्थित हूँ । ध्यानदृष्टि से मेरा क्या काम है ? राज्य, वैभव–सम्पत्ति से मेरा क्या प्रयोजन है ? जो आता है, वह आये । न वह मैं हूँ और न वह मेरा है ॥१५–१७॥ यदि इस समय कर्तव्यत्व की आस्था से मेरा कुछ भी करणीय नहीं है, तो यह प्रस्तुत राज्यपालनरूप कुछ कर्म मैं किसलिए न करूँ ? ज्ञानवानों में श्रेष्ठ पूर्णात्मा बलि ने ऐसा निर्णय कर जैसे सूर्य कमलों को देखता है वैसे ही दैत्यों को देखा । यथायोग्य दृष्टिपात कर दैत्यराज बलि ने जैसे वायु फूलों की सुगन्ध ग्रहण करता है वैसे ही सब दानवों के प्रणाम ग्रहण किये ॥१८–२०॥ तदनन्तर बलि ने वहाँ पर ध्येय त्यागमय मन से सभी राजकार्य किये । ब्राह्मणों, देवताओं और गुरुओं की पाद्य, अर्घ्य आदि से उसने पूजा की एवं मित्र, बन्धु, सामन्त और सज्जनों का उनके उचित दान, समादर आदि द्वारा सम्मान किया । नौकर–चाकर और याचकों को धन से परिपूर्ण किया और भाँति–भाँति के विभवों के समर्पण द्वारा ललनाओं को प्रसन्न किया ॥२१–२३॥ राजा बलि देवता, असुर आदि सब पर शासनरूप राज्य में राज्यांग आदि की अभिवृद्धि को प्राप्त हुआ । तदनन्तर कभी उसकी अश्वमेघ यज्ञ करने की इच्छा हुई । उसने शुक्राचार्य आदि प्रधान पुरुषों के साथ अश्वमेघ नामक महायज्ञ किया जिसमें तीनों भुवनों के लोग तृप्त किये गये थे और सब देवता तथा ऋषि पूजे गये थे ॥२४,२५॥ सिद्धि देनेवाले भगवान श्रीहरि 'बलि संसारी विविध भोगों का अभिलाषी नहीं है' ऐसा

निर्णय कर बलि की अभिलाषा की सिद्धि के लिए उस यज्ञ में आये ॥२६॥ एकमात्र भोग में आसक्त होने के कारण कृपण अतएव शोचनीय तथा अवस्था में ज्येष्ठ इन्द्र को जगद्रूपी जंगल का भाग देने के लिए अपने मायाबल से तीन लोकों को अपने पग से नाप रहे कार्यकुशल श्रीहरि ने बलि को ठगकर जैसे कोई भूगर्भ में बने हुए पृथिवी के अन्दर स्थित घर में बन्दर को बाँधे वैसे ही पाताल में बलि को बाँध दिया। अब भी जीवन्मुक्त शरीरवाला, निर्विकल्प समाधि में बुद्धिरहित और नित्य आत्मनिष्ठ बलि पाताल में पुनः इन्द्रत्वप्राप्ति के हेतुभूत प्रारब्ध से युक्त होकर स्थित है ॥२७-२९॥ पातालरूपी गर्त में स्थित जीवन्मुक्त गतिवाला बलि आपत्ति और सम्पत्ति को समान रूप से ही देखता है। जैसे उदय और अस्त से रहित स्थिर किरणवाला चित्रलिखित सूर्यमण्डल न तो अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है वैसे ही उसकी प्रज्ञा भी सुख और दुःख में न तो अस्त होती है और न उदित होती है ॥३०,३१॥

जीवन में आदर रखनेवाले भोगलंपट पुरुषों के विभव और जन्मों के हजारों बार आविर्भाव और तिरोभाव चिरकाल तक देखकर बलि का मन भोगों में वैराग्य को प्राप्त हो गया। दस करोड़ वर्ष तक लगातार तीनों लोकों का शासन करके अन्त में वैराग्य को प्राप्त हुआ बलि का मन शान्त हो गया। सुख और दुःखों के हजारों बार आगमन और विनाश सैकड़ों संपत्ति और विपत्तियाँ बलि ने देखी। इसलिए कहाँ पर बलि आश्वासन को प्राप्त हो यानी किस विषय में बलि को आश्वासन मिले। परिपूर्ण चित्तवाला बलि भोगों में अभिलाषा का त्यागकर नित्य आत्मनिष्ठ होकर पाताल के मध्य में यानी रसातल में जबतक विपत्ति का क्षय नहीं होता, तब तक स्थित है ॥३२-३५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर इस बलि को सारे जगत का इन्द्ररूप से बहुत वर्षों तक शासन करना होगा। बलि को इन्द्रपद की प्राप्ति से न संतोष है और न अपने पद से च्युत होने का दुःख ही है। सब भावों में सम तथा सदा ही सन्तुष्टचित्त बलि प्रारब्ध से प्राप्त वस्तु का उपभोग करता हुआ आकाश के समान स्वस्थ है ॥३६-३८॥

अब बलि के चरित्र का उपसंहार कर श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बलि की यह ज्ञानप्राप्ति मैंने आपसे कही। इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप भी जीवन्मुक्तिरूप अभ्युदयवाले होओ ॥३९॥

हे रघुवर, आप बलि के सदृश अपने विचार से 'मैं नित्य हूँ' इस प्रकार के निश्चय से पौरुषपूर्वक अद्वैत पद को प्राप्त कीजिये। दस करोड़ वर्ष तक लगातार तीनों लोकों पर शासन कर अन्त में असुरश्रेष्ठ बलि भी वैराग्य को प्राप्त हुआ ॥४०,४१॥

हे शत्रुतापन, इसलिए अन्त में अवश्य दुःखदायी सभी भोगों का त्यागकर आप सत्य आनन्दरूप दुःखरहित परम पद को प्राप्त होओ ॥४२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विविध प्रकार की विकृतियों की सृष्टि करनेवाली इन दृश्य दृष्टियों को जैसे दूर से पर्वत शिलाएँ रमणीय मालूम पड़ती हैं वैसे रमणीयरूप से नहीं जानना चाहिये। पामर पुरुषों के व्यवहारों में प्रवृत्त हुए इस लोक और परलोक में दौड़ रहे इस मन को बाँधकर हृदयरूपी कोठरी में स्थिर कीजिये ॥४३,४४॥

यदि कोई शंका करे कि शत्रु और मित्र में समदृष्टि कैसे हो सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

आदित्य के समान सबको प्रकाशित करनेवाले चैतन्यरूप आप ही सारे जगत में स्थित हैं ऐसी अवस्था में शत्रु की देह में भी प्रकाशक आत्मरूप आप ही हैं, इसलिए वैषम्यदृष्टि होने का कोई कारण नहीं है, कौन आपका शत्रु है और कौन आपका आत्मीय है ? क्यों वृथा आप यह शत्रु है, यह मित्र है ऐसी भूल करते हैं ? ॥४५॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी को शंका हो कि मैं जीव हूँ, मेरी ईश्वरात्म समदृष्टि कैसे हो सकती है, तो इस पर कहते हैं।

हे महाबाहो, आप अनन्त हैं, आदिपुरुषोत्तम भी आप ही हैं, अनन्त पदार्थों के आकार से चैतन्यरूप आप ही वृद्धि को प्राप्त हुए है ॥४६॥ जैसे सूत में मणियाँ पिरोई होती हैं वैसे ही सदा प्रकाशमान शुद्ध–बुद्ध–ज्ञानरूप आपमें यह सारा चराचर जगत पिरोया हुआ है ॥४७॥

कालकृत वैषम्य भी आप में नहीं है, यह कहते हैं।

अज, पुरुषविराट्रूप आप शुद्ध चैतन्य ही हैं। न तो आप उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं। आपको जन्ममरण भ्रान्तियाँ न हों ॥४८॥ तृष्णा बढ़ने पर जन्म आदि रोगों की प्रबलता और तृष्णा के कम होने पर जन्म आदि रोगों की दुर्बलता होती है, इस बात को अन्वय–व्यतिरेक से जानकर भोगों की तृष्णा का त्यागकर आप एकमात्र भोग साक्षी ही होइये ॥४९॥

आपके चैतन्य बल से ही यह जगत सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

चिदादित्यरूप सदा प्रकाशमान जगत के अधिपति आपके स्थित होने पर ही यह संसाररूपी स्वप्न आभासित होता है ॥५०॥ आप व्यर्थ विषाद मत करो, आपको सुख और दुःख की अभिलाषा नहीं है, आप शुद्धचित्त, सबके आत्मा और सब वस्तुओं के प्रकाशक हैं ॥५१॥

यदि आप अशुद्ध चित्त ही है, तो उसकी सिद्धि के लिए क्रम से उपाय सुनिये ऐसा कहते हैं।

जो–जो वस्तु मन को प्रिय है वह अनर्थ साधन है और जो तप, क्लेश, इंद्रिय संयम, प्राणायाम आदि मन को अप्रिय हैं वे सब मेरे लिए आवश्यक हैं, ऐसी कल्पनाकर सप्तम भूमिका–का परिपाक होने तक उसके अभ्यास से मन के ऊपर विजय प्राप्त होने पर उस कल्पना का भी तदनन्तर त्याग कीजिये ॥५२॥ इष्ट और अनिष्टदृष्टि का त्याग करने पर अक्षय समता उत्पन्न होती है। अभ्यास से हृदय में स्थिर हुई समता से फिर प्राणी उत्पन्न नहीं होता ॥५३॥

बालक की नाईं जिन–जिन प्रदेशों में मन निमग्न होता है उन–उन प्रदेशों से लौटाकर मन को अधिष्ठान चिन्मात्र में लगायें भगवान ने भी कहा है : यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत ॥ इस प्रकार अभ्यास को प्राप्त हुए मनरूपी मत्त हाथी को सब प्रयत्नों से बाँधकर परम कल्याण प्राप्त होता है ॥५४,५५॥ जो लोग शरीर को ही परमार्थ जानते हैं, मिथ्यादृष्टि से जिनका हृदय दूषित है और जो भोग संकल्पों के अधीन हैं, ऐसे धूर्त मूर्ख पुरुषों की समता को आप प्राप्त न होइये ॥५६॥

जो लोग पराधीन बुद्धि है, स्वयं विचार नहीं कर सकते, उनका अज्ञान ही महाअनर्थ है, ऐसा कहते हैं।

आत्मतत्त्व के निर्णय में विवेक वैराग्य आदि उपायों से दरिद्र, पर वंचक मूर्खों के कथन पर अवलम्बित

अज्ञान से बढ़कर इस लोक में अधिक दुःखदायी और कोई नहीं है ॥५७॥ हे महामते, आप हृदयरूपी आकाश में उदित हुए इस अविवेकरूपी मेघ को विवेकरूपी वायु से शीघ्र दूर कीजिये। जब तक स्वयं श्रवण, वैराग्य आदि पुरुष प्रयत्न से आत्मसाक्षात्कार में यत्न नहीं किया जाता, तब तक विचारोदय नहीं होता ॥५८॥

वैराग्य, विचार, श्रवण आदि के रहते हुए भी बहिर्मुख दृष्टिवाले पुरुषों को ज्ञान नहीं होता, इसलिए आन्तरदृष्टि भी आवश्यक है, इस आशय से कहते हैं।

जब तक प्रत्यक्तत्त्व का दर्शन नहीं होता तब तक वेद-वेदान्त शास्त्रों के अर्थ और तर्कों की दृष्टियों से भी यह आत्मा प्रकट नहीं होता ॥६०॥

यदि कोई कहे, तब तो एकमात्र प्रत्यक्तत्त्वदृष्टि ही ज्ञान के लिए पर्याप्त हो, गुरु के उपदेश का क्या प्रयोजन है ? तो इस शंका पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्दजी, आत्मा में अपने से ही स्थित हुए आप विस्तृत बोध को प्राप्त हुए हैं। मेरा उपदेश होने पर ही आपको बोध हुआ है ॥६१॥ विकल्प के अंश से रहित चैतन्यरूप सूर्य परमात्मा की यह विस्तृत व्याप्ति (देशतः, कालतः और वस्तुतः अपरिच्छिन्नता) मेरे उपदेश से ही आपको गृहीत हुई है। आपके सब संकल्प नष्ट हो गये हैं, सन्देह भ्रम शान्त हो गये हैं, कौतुकरूपी तुषार हट गया है, आप सन्तापशून्य हो गये हैं ॥६२,६३॥ हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, जब आप आत्मतत्त्व के आवरण और विक्षेप से रहित होंगे तब आप जो प्राप्त ही हैं ऐसे ज्ञान और ज्ञान के साधन (विचार, गुरु शास्त्रोपदेश आदि का) मोक्ष के लिए जो स्वीकार करते हैं, जो विवेक वैराग्य आदि की यत्न से रक्षा करते हैं; जो आलस्य, प्रमाद आदि दोषों पर यत्न से विजय प्राप्त करते हैं, जो समाधि सुखरूपी अमृत को पीते हैं, जो उत्तरोत्तर भूमिका में आरूढ़ होने से आश्चर्य करते है और जो सप्तम भूमिका में विश्रान्ति से पूर्व-पूर्व अवस्था से अधिक सुख के उत्कर्ष से अभ्युदय को प्राप्त होते हैं, वह सब आपको न हो, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही आप स्थित रहे ॥६४॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

हिरण्यकशिपु का पराक्रम, प्रह्लाद आदि पुत्रों की उत्पत्ति,
नृसिंह द्वारा वध और शोकपूर्वक औध्र्वदैहिक क्रिया।

इस प्रकार केवल काकतालीय न्याय से प्रवृत्त हुए तथा शास्त्र और आचार्य के उपदेश से परिपुष्ट अपने विचार से ज्ञानोदयके प्रकार का वर्णन करने के लिए प्रह्लादोपाख्यान कहने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उसके सुनने में रामचन्द्रजी को सावधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञान की निर्विघ्न प्राप्ति में इस उत्तम प्रकार को आप सुनिये। जैसे कि दैत्यराज प्रह्लाद अपने-आप सिद्ध हो गया ॥१॥ नारायण के समान पाताल में पराक्रमी हिरण्यकशिपु नाम का दैत्य था। उसने अपने पराक्रम से देवता और असुरों को पराजित कर दिया था ॥२॥ जैसे रात्रि में भ्रमर के निवासभूत और प्रातःकाल में फूलने से विकसित पत्रवाले कमल को

राजहंस भ्रमर से छीनकर ले लेता है वैसे ही उसने तीनों भुवनों पर आक्रमण कर इन्द्र से तीनों लोकों का ऐश्वर्य छीन लिया ॥३॥ जैसे हाथी हंसों को हटाकर कमलिनी में भ्रमरों का राज्य करता है वैसे ही उसने देवता और असुरों के अधिपतियों पर विजय प्राप्त कर तीनों लोकों का राज्य किया। तदुपरान्त तीनों भुवनों पर शासन कर रहे उस दैत्यराज ने समय आने पर जैसे वसन्त ऋतु बहुत से अंकुर उत्पन्न करती है वैसे ही बहुत से पुत्र उत्पन्न किये ॥४,५॥ जैसे तेज में बढ़ी–चढ़ी और अवस्था में नयी, आकाश में फैलने से शोभित होनेवाली सूर्य की हजार किरणें शीघ्र वृद्धि को प्राप्त हो जाती है वैसे ही तेज में बढ़े–चढ़े अवस्था से बालक से स्वर्ग में आक्रमण करने से शोभित होनेवाले वे शीघ्र ही युवा हो गये ॥६॥ जैसे बहुमूल्य मणियों में कौस्तुभ मणि प्रधान है वैसे ही उनके बीच में प्रह्लाद नाम का पुत्र प्रधान हुआ ॥७॥ जैसे सब प्रकार की सुन्दरता से युक्त बसन्त से वर्ष सुशोभित होता है वैसे ही उस पुत्र से हिरण्यकशिपु अत्यन्त सुशोभित हुआ ॥८॥ तदनन्तर पुत्रों की सहायता, सेना और धनसम्पत्ति से युक्त वह दैत्य साठ वर्ष के हाथी के समान मदोन्मत्त हुआ ॥९॥ जैसे प्रलय के बारह सूर्य बढ़ रहे ताप से और अपनी प्रखर किरणों से तीनों जगतों को सन्तप्त करते हैं वैसे ही दिन–पर–दिन बढ़ रही आक्रमणजनित पीड़ा और करग्रहणजनित नित्य नई–नई संपत्ति से उसने तीनों जगतों को सन्तप्त किया ॥१०॥ जैसे दुलार से बिगड़े हुए बालक के मर्यादा के उल्लंघन से बन्धु–बान्धव दुःखी होते हैं वैसे ही उसके आक्रमणजनित सन्ताप से सूर्य, चन्द्र आदि देवता खिन्न हुए ॥११॥

तदनन्तर उन्होंने दैत्यराजरूपी गजराज के वध के लिए ब्रह्माजी से प्रार्थना की। ठीक ही है, बार–बार किये गये अपराध को महापुरुष भी सहन नहीं कर सकते ॥१२॥ तदनन्तर भगवान हरि ने नरसिंह शरीर धारणकर जैसे हाथी घोड़े को कटकट शब्द के साथ काट डालता है वैसे ही उसे विदीर्ण कर दिया। वह नरसिंह शरीर प्रलयकाल में ढह रहे जगत के समान घर्घर शब्द कर रहा था, उसमें दिग्गजों के दाँतों के सदृश नख वज्र आदि के तुल्य बढ़े थे, उसकी दन्त पंक्तियाँ स्थिर विद्युत्लता के तुल्य चमकीली थी, दस दिशारूपी कोटरों में घूम रही जलती अग्नियाँ ही उसके कुण्डल थे, उसका उदर सब कुलाचलों की पिण्डाकार स्थिति के समान भीषण था, उसके बाहुरूपी वृक्षों के हिलने–डुलने से उठा हुआ ब्रह्माण्डरूपी खप्पर विदीर्ण हो रहा था, मुख द्वारा पेट से निकले हुए उसके श्वास वायुओं से पर्वत एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाये गये थे, तीनो जगतों को जलाने के लिए तत्पर कोपरूपी प्रलयाग्नि से वह अत्यन्त गर्वीला था, अयाल से भयंकर विशाल कन्धों के कम्प से उसने सूर्य को विचलित कर दिया था, उसके रोमकूपों में दैदीप्यमान अग्निराशि से पर्वत पिघल गये थे, उसमें उखाड़े गये कुलाचलों से बड़ी भारी दीवार की रचना में मानों दिक्तट उद्धत थे और उसके सब अवयवों से पट्टिश, प्रास, तोमर आदि विविध आयुध उत्पन्न हुए थे ॥१३–१९॥ जैसे सब प्राणियों के प्रलय के अन्त में अग्नि सम्पूर्ण जगतों को जला डालती है वैसे ही इस प्रकार के नरसिंह शरीर को धारण किये हुए भगवान ने निकल रहीं नेत्रअग्नियों से असुरों के नगर में रहनेवाले सब जीवों और सब सामग्री को जला दिया ॥२०॥ प्रलयकाल के संवर्त नामक मेघों के गर्जन से व्याकुल जलप्रलय के समान मेघ गर्जन के तुल्य घनघोर ठोकने से उस नृसिंहरूपी वायु के अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होने पर दिशाओं में जल रहे मच्छरों के समान दानवों के झुण्ड के झुण्ड भाग गये और कान्तिवाले दीपकों के समान अदृश्य हो गये।

तदनन्तर पाताल, जहाँ से दैत्यनायक भाग गये थे और सब अन्तःपुर जल गये थे, प्रलय में बरबाद हुए जगत के तुल्य हो गया। अकाल के प्रलय के तुल्य भीषण युद्ध में हिरण्यकशिपु को मारकर स्वस्थ हुए देवताओं द्वारा बड़े आदर के साथ पूजित भगवान नृसिंह के धीरे-धीरे वाणी के अगोचर अपने पद को जाने पर मरने से बचे हुए दानव प्रह्लाद के संरक्षण में जैसे पक्षी सूखे तालाब में जाते हैं वैसे ही अपने उस जले हुए देश में गये। वहाँ पर आत्मीय बन्धु-बान्धवों का नाश प्रयुक्त समयोचित विलाप कर मरे हुए बन्धुओं का उन्होंने और्ध्वदैहिक सत्कार किया। जिनके बन्धु-बान्धव मारे जा चुके थे और अधिकांश बन्धु-बान्धव जीते-जी जलाये गये थे, ऐसे मरने से बचे हुए आत्मीयजनों को उन्होंने धीरे-धीरे आश्वासन दिया। चिन्तावश निश्चेष्ट अतएव चित्रलिखित के तुल्य दुःखित आकृतिवाले दीन-मलिन चित्त अतएव तुषार से नष्ट-भ्रष्ट किये गये कमलों के सदृश शोक सन्तप्त अन्तःकरणवाले वे प्रह्लाद आदि असुरनायक, जिनके शाखा, पत्ते आदि जल गये हो, ऐसे वृक्षों के समान निश्चेष्ट हो गये। (ठुंठ वृक्षों का वायु से न हिलना प्रसिद्ध ही है।) ॥२१-२८॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद का श्रीहरि के पराक्रम का चिन्तन,
आत्मीयों के कल्याण का विचार और भगवद्भक्ति से भगवद्भाव का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर पातालगर्त में, जहाँ दानवों का विनाश किया गया था वहाँ दुःखसन्तप्त अतएव मौनी प्रह्लाद ने विचार किया। हमारा कौन सहायक हो ? सम्पत्तिरूपी पल्लवों को उत्पन्न करने में समर्थ जो भी असुररूपी वृक्ष का अंकुररूप तेजस्वी यहाँ पर पैदा होता है, उसी को श्रीहरि रूपी बन्दर खा डालता है। जैसे हिमालय में विकसित कमल कभी स्थिर नहीं होते वैसे ही पाताल में वज्रदण्डशाली बलवान दैत्य कभी भी अंकुरित होकर स्थिर नहीं हुए। समुद्र की तरंगों के समान प्रखर आकृति और गर्जनवाले सब दैत्य उत्पन्न हो होकर विलीन हो जाते हैं, उनका तनिक विकसित कार्य नष्ट कर दिया जाता है ॥१-४॥ बड़ा खेद है, बाहरी और भीतरी सब सम्पत्तिरूपी प्रकाशों को हरनेवाले अद्भुत अन्धकार के तुल्य हमारे शत्रु उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं ॥५॥ हमारे मित्ररूपी अर्धरात्रि के कमल तड़ाग, जिनके हृदय अन्धकार से पूर्ण हैं, और जिनकी पंखुड़ीरूपी संपत्ति दिन-पर-दिन संकुचित हो रही है, कैद को प्राप्त हो रहे हैं। जो प्रणाम के समय मेरे पिताजी के चरण-कमल का स्पर्श करते थे द्वेष से कलुषित देवताओं ने, हमारा देश ऐसे आक्रान्त कर दिया है जैसे सिंह मृग के वन को आक्रान्त करें। जो अपना हृदयवर्ती महादुःख सबके आगे कहते फिरते हैं उद्यमरहित, कान्तिहीन तथा दीनहीन हमारे बान्धव, ग्रीष्म ऋतु में जिनकी पंखुड़ियाँ झुलस चुकी हो ऐसे कमलों के समान शोभित नहीं होते हैं ॥६-८॥ आजकल शूरवीर असुरों के घरों में निरन्तर बहनेवाले उत्पात वायुओं से उड़ाये जा रहे भस्मरूप कुहरे पहले की धूप की धूम्रराशि के समान प्रतीत हो रहे हैं। जिनके चौखट और किवाड़ देवता हर ले गये हैं ऐसी दैत्यों के अन्तःपुर की दीवारों पर, समृद्धिकाल की मरकतप्रभा के समान इस समय जौ के अंकुर उगे हैं। जो दानव पहले सुमेरुरूपी कमलिनी के मर्दन में मदोन्मत्त

हाथी के सदृश थे, वे भी आज देवताओं के सदृश दीनता को प्राप्त हुए हैं। अहो, भाग्य के लिए क्या असाध्य है ? ॥९–११॥ जैसे गाँव में गई हुई भयभीत मृगियाँ तनिक पत्ते के फड़कने पर भी डरती हैं वैसे ही दैत्यों की स्त्रियाँ, जिनको शत्रुभय का अनुभव हो चुका है, तनिक पत्तों के फड़कने पर भी डरती हैं। असुर नारियों के कर्णफूल बनाने के लिए लगाये गये रत्नों के गुच्छेवाले फूले हुए दिव्य वृक्ष नरसिंह के हाथों से तहस–नहस होकर ठुंठ बन गये हैं ॥१२,१३॥ देवताओं ने उस नन्दनवन में दिव्यवस्त्रों से युक्त लता और पत्तेवाले रत्नों के गुच्छों से लदे हुए कल्पवृक्ष फिर से लगा लिये हैं ॥१४॥ पहले असुरों ने देवताओं की बन्दी नारियों केसुन्दर मुख प्रशंसा के साथ देखे थे, लेकिन अब असुरों की बन्दी नारियों के मुख देवताओं द्वारा देखे जाते हैं ॥१५॥

मालूम पड़ता है, देवताओं की ऐरावत आदि हाथियों के गण्डस्थल में बह रही मदधारारूपी महानदियाँ शैल शिखरों पर बह रही नदियों के समान हो जायेगी ॥१६॥ मद के दाह से उत्पन्न हुई राख हमारे हाथियों के सूखे हुए गण्डस्थलों में सूखे हुए मरुस्थलों की धूलि के समान प्रतीत होती है ॥१७॥ फूले हुए सफेद मन्दार के परागयुक्त मकरन्दों से रंगे हुए वायु जिनका अंगस्पर्श करते थे, अतएव जो मारे हर्ष के मेरुशिखरों के तुल्य थे, वे दैत्य दुर्लभ हो गये हैं ॥१८॥ पहले दानवों के अन्तःपुर में अभ्यस्त (चिरकाल तक निवास कर चुकी) देवता और गन्धर्वों की सुन्दरियाँ आज वृक्ष पर मंजरियों के समान मेरु पर निवास करती हैं ॥१९॥ बड़े खेद की बात है, मेरे पिताजी की पटरानियों के सूखे हुए कमलों की तरह नीरस विलासों की अप्सराएँ नृत्यों में अनुकरण द्वारा भर्त्सना करती हैं ॥२०॥ पहले जो चँवर मेरे पिता पर डुलाये गये थे, बड़े खेद की बात है, वे ही आज स्वर्ग में इन्द्र पर डुलाये जाते हैं। जिनका पराक्रम स्मरण भी दुःखदायी है, ऐसे उन एकमात्र भगवान श्रीहरि के प्रसाद से हम जैसे महाप्रतापशाली लोगों को भी ये आपत्तियाँ प्राप्त हैं। जैसे हिमालय के शिखर कभी सन्तप्त नहीं होते वैसे ही उन विष्णु भगवान की बाहुओं की निबिड़ छाया में विश्रान्त देवताओं को कभी सन्ताप प्राप्त नहीं होता।

जैसे पर्वत या वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बन्दर बलवान कुत्तों को भी तंग करते हैं वैसे ही भगवान विष्णु के पराक्रमरूपी पर्वत या वृक्ष की चोटी के अवलम्बन से समृद्ध हुए देवता लोग हम बलवानों को भी पाताल में ढकेल रहे हैं ॥२१–२४॥ भगवान के पराक्रम से अलंकारों को भी अलंकृत करनेवाले असुरनारियों के मुखारविन्द पर कमलिनियों के मुखभूत कमल पर हिम के समान आँसू सदा बने रहते हैं ॥२५॥ जगद्रूपी जीर्ण–शीर्ण मकान की जीर्ण–शीर्ण, टूटी–फूटी दीवारें गिर रही है, उसे नीलमणि के स्तम्भरूप भगवान की भुजाओं द्वारा सम्हाला जाता है ॥२६॥ जैसे क्षीर सागर के मध्य में डूबे हुए मन्दराचल के धारणकर्ता कच्छप भगवान हैं वैसे ही विपत्तिरूप सागर में डूब रही देवसेना के वह भगवान ही धारणकर्ता हैं। उन्होंने ये मेरे पिता आदि सब असुरश्रेष्ठ को ऐसे गिरा डाले जैसे कि क्षुब्ध हुआ प्रलयकाल का वायु कुलाचलों को गिराता है। केवल एक उन्हीं भुजारूप अग्नि हम लोगों का संहार करने में समर्थ हैं देवताओं के गुरु श्रीमान मधुसूदन हम लोगों के द्वारा आक्रान्त नहीं हो सकते। दैत्यों के बाहुदण्ड के लिए कुठारभूत उन श्रीहरि भगवान के पराक्रम से पराक्रमशाली होकर इन्द्र जैसे बन्दर बालकों को छेड़ता है वैसे ही दैत्यों को छेड़ रहा है। यदि भगवान शस्त्रास्त्र का त्याग कर दें, तो भी उन पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। वज्र से भी कठिन वे शस्त्रास्त्रों के आघातों से छिन्न–भिन्न नहीं

किये जा सकते हैं ॥२७-३१॥ उन्होंने हमारे बाप-दादों के साथ बहुत से भयंकर युद्ध कौशलों का अभ्यास किया है जिनमें परस्पर पर्वत फेंके गये थे। उन अतिभीषण और विशाल शत्रुपंक्तियों में जो भयभीत नहीं हुआ था, वह इस समय भयभीत होगा, इसमें तो कहना ही क्या है ?॥३२,३४॥

क्यों दूसरा प्रतीकार का उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जगत में सब वस्तुओं के स्वभाव से सब प्रकार की बुद्धियों से और सब प्रकार के कर्मों के उद्योगों से शरणार्थी लोगों के लिए एकमात्र भगवान ही शरण है, अन्यथा गति नहीं है ॥३५॥

और लोग शरण क्यों नहीं हो सकते ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

तीनों लोकों में उनसे बढ़कर कोई भी नहीं हैं। सृष्टि, प्रलय, और संहार के एकमात्र हेतु हरि ही हैं ॥३६॥

ऐसा विचारकर सर्वात्मना उनकी शरणागति का संकल्प करते हैं।

इस क्षण से मैं सदा अजन्मा नारायण की शरण में प्राप्त हुआ हूँ। सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में मैं नारायणमय हूँ। निरन्तर भगवान की शरणागति, धारणा, स्मरण और जप के साधनभूत उनके श्रौत मन्त्र का स्मरण कर निरवच्छिन्न उसके जप का संकल्प करते हैं। जैसे आकाश से वायु कभी नहीं हटता वैसे ही सब पुरुषार्थों का साधक 'नमो नारायणाय' (卐) यह मन्त्र मेरे हृदयकोश से दूर न हो।

सब देश, सब काल और सब वस्तुओं मे मैं नारायणमय हूँ, ऐसा जो कहा था, इसका स्पष्टीकरण कहते हैं।

हरि दिशा हैं, हरि आकाश हैं, हरि पृथ्वी हैं, हरि जगत हैं और अप्रमेयात्मा हरि मैं हूँ। मैं भावनावश प्रायः विष्णु हो गया हूँ॥३७-३९॥

यदि कोई कहे कि किसलिए तुम ऐसी कल्पना करते हो, तो इस पर कहते हैं।

स्वयं विष्णु हुए बिना विष्णु की पूजा करता हुआ पुरुष पूजा का फल-भागी नहीं होता है। अतः विष्णु बनकर विष्णु की पूजा करनी चाहिये, इसलिए मैं विष्णुरूप से स्थित हुआ हूँ, क्योंकि 'नाविष्णुः पूजयेद्विष्णुं' नाशिवः पूजयेच्छिवम्' ऐसी विधि है। जो हरि है वही प्रह्लादनामक है। प्रत्यगात्मा से अन्य हरि पृथक् नहीं है ऐसा मन में निश्चयवाला मैं सर्वव्यापक हूँ॥४०,४१॥ *अब श्रीहरि के वाहन, अस्त्र, आभरण, शरीर आदि की अपने रूप से कल्पना करते हैं।* इस असीम आकाश को व्याप्त करके स्थित यह सुवर्ण के समान वर्णवाला गरुड़ मेरे अंगों का आसन बन गया है। जिनके हाथों के अवयवों पर सब चक्र, गदा, खड्ग आदि अस्त्ररूपी पक्षी नित्य निवास करते हैं, नखकान्तिरूपी मंजरियों से जो व्याप्त हैं, कोमल-कोमल मन्दार के फूलों की मालाओं से जिनके मूल प्रदेश सुगन्धित हैं एवं मन्दराचल से जिनके बाजुबन्ध घिसे गये हैं, महामरकत मणि के वृक्षरूप ये मेरे चार बाहु है। चंचल चन्द्रकला की राशि के समान सुन्दर चँवर धारण करनेवाली क्षीर सागर के मध्य से उत्पन्न यह लक्ष्मी मेरी एक बगल में स्थित है। अनायास तीनों भुवनों को जिसने प्रलोभित कर दिया है, त्रैलोक्ययरूपी वृक्ष की मंजरी के

卐 प्रणवयुक्त 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र पवित्र देश में ही जपने योग्य है, निरन्तर जपने योग्य नही है, इसलिए प्रणव रहित युक्त मन्त्र का उपादान किया। श्लोक में 'हृत्कोशात' यह कथन मानस जप की मुख्यता के द्योतन के लिए हैं।

समान विराजमान यह हरि की निर्मल निश्चल कीर्ति मेरे समीप में स्थित है ॥४१–४६॥ निरन्तर अनेक जगतों का नूतन निर्माण करनेवाली अपने इन्द्रजाल से शोभित होनेवाली यह विष्णु की माया मेरे समीप में स्थित है। जिसने अनायास त्रैलोक्य की वृक्षराशियों पर विजय प्राप्त की है, ऐसी कल्पवृक्ष की लता के तुल्य यह लक्ष्मी की सखी जया मेरी दूसरी बगल में विराजमान हो रही है। नित्य शीतल और नित्य उष्ण चन्द्रमा और भास्कर ये दो देवता मेरे मुँह में मेरे दो लोचन हैं, जिन्होंने संसार को प्रकाशित कर रक्खा है। मेरी नील कमल के समान श्यामल, मेघ के समान सुन्दर, फैल रही यह देहकान्ति है, इसने दिशाओं को श्मामल बना रक्खा है। यह पाँचजन्य शंख मेरे हाथ में है, जो मूर्तिमान आकाश के समान शब्दरूप है, क्षीरसागर के समान शुभ्र है और जिससे सदा ध्वनि निकलती है ॥४७–५१॥ यह सुन्दर कमल मेरी हथेली पर विद्यमान है, जो मेरी नाभि से उत्पन्न हुआ है और जिसकी कर्णिका के मध्य में ब्रह्मारूपी भ्रमर छिपा है ॥५२॥ यह रत्नों से चित्र–विचित्र शरीरवाली अतएव सुमेरु के शिखर के तुल्य, सोने से मढ़ी हुई मेरी भारी गदा है, जो दैत्य और दानवों का संहार करती है ॥५३॥ यह सूर्य के समान चमकीला मेरा सुदर्शन चक्र है, जिससे सदा किरणें बाहर फूट रही हैं और जो चारों ओर ज्वालारूपी जटाओं से व्याप्त है। इसने चारों ओर दिक्तटों को पटल के समान लाल कर दिया है ॥५४॥ यह धूम्रयुक्त अग्नि के समान सुन्दर काला और चमकीला मेरा अन्दकनामक खड्ग है। यह दैत्यरूपी वृक्षों के लिए कुठारभूत है और देवताओं को आनन्द देनेवाला है। यह बाणरूपी वृष्टिधाराओं को वर्षाने में पुष्करावर्त मेघ के तुल्य और शेषनाग के सदृश विशाल शारंग नामक धनुष है, जो विविध मणियों से विचित्र होने के कारण इन्द्रधनुष के समान सुन्दर है ॥५५,५६॥

मैं उत्पन्न होकर नष्ट हुए अतीत और वर्तमान इस अनेक जगतों को अपने उदर में चिरकाल तक धारण करता हूँ। पृथिवी मेरे चरण है, आकाश मेरा सिर है, तीनों जगत मेरे शरीर है, दिशाएँ मेरे उदर हैं। मैं नील मेघ के मध्य के समान श्यामल कान्तिवाला, गरुड़रूपी पर्वत पर आरूढ़ तथा शंख–चक्र–गदाधारी साक्षात् विष्णु हूँ। ये सब दुष्ट चित्तवाले जीव जैसे चंचल तृणराशियाँ वायु से उड़ती हैं वैसे ही मुझसे भाग रहे हैं। यह नील कमल के समान श्यामल कान्तिवाला, पीताम्बरधारी, हाथ में गदा लिया हुआ, गरुड़ पर आरूढ़ और लक्ष्मीयुक्त मै स्वयं ही अच्युत हो गया हूँ ॥५७–६१॥ कौन मेरा विरोधी होकर त्रैलोक्य को भस्म करने में समर्थ मेरे प्रति युद्ध के लिए आता है ? जो आता है, वह क्षुब्ध हुई कालाग्नि के प्रति शलभ (तीड़) जैसे अपने नाश के लिए आता है वैसे ही स्वविनाश के लिए आता है। ये मेरे सामने खड़े हुए सुर और असुर जैसे कमजोर नेत्रवाले लोग सूर्य की प्रभा को नहीं सह सकते वैसे ही मेरे तेज की ज्वालाओं को नहीं सह सकते। ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, शिवआदि देवता बहुत से मुखों से निर्गत वेदवाणी से इस ऐश्वर्यशाली विष्णुरूप मेरी स्तुति करते हैं। विपुल ऐश्वर्यवाला मैं विष्णु की आकृतिवाला हो गया हूँ और परमार्थ स्वभाव से सब द्वन्द्वों से अतीत हो गया हूँ। जिसके उदर में त्रिभुवनरूपी भवन स्थित है ऐसी मूर्तिवाला, सब दुष्ट प्राणियों को छिन्न–भिन्न कर चुका, मेघ, पर्वत, तृण, वन आदि सब वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से स्थित और सब भयों को दूर करनेवाला विराट्‌रूप परब्रह्मात्मक मैं ही हूँ। उसे मैं प्रणाम करता हूँ ॥६२–६६॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद का विष्णु की मानसपूजा और असुरों के साथ बाह्य पूजा करना और
उसे सुनकर आश्चर्य में पड़े हुए देवताओं का भगवान विष्णु से पूछना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रह्लाद ने यह विचार कर और भावना द्वारा अपने शरीर को नारायणरूप बनाकर भगवान विष्णु की पूजा के लिए फिर विचार किया। मुझसे कल्पित इस वैष्णव शरीर से अन्य समष्टिरूप अथवा व्यष्टि देवतारूप मूर्ति न हो, किन्तु यह मद्रूप विष्णु ही, जो गरुड़ पर बैठे हुए क्रिया, ज्ञान, इच्छा, अनुग्रहरूप चार शक्तियों से सम्पन्न, हाथ में शंख, चक्र और गदा लिये हुए, श्यामल शरीर, चतुर्बाहु, चन्द्र-सूर्य रूपी नेत्रवाले, सुन्दर नन्दननामक खड्ग से अपने भक्तों को प्रसन्न किये हुए महाकान्तिवाले और संकर्षण, प्रद्युम्न आदि व्याह और पार्षदों से युक्त हैं, हृदय से पुष्पांजलि भावना द्वारा बाहर आवाहित होकर पूजा की समाप्ति तक अन्य की तरह स्थित हों। इनकी मैं सब सामग्रियों से रमणीय मानसिक पूजा करता हूँ॥१-५॥ इन पूजनीय देवाधिदेव की बाहरी उपकरणों से विस्तृत तथा बहुत रत्नों से पूर्ण पूजा से फिर बाह्य पूजा करूँगा॥६॥ प्रह्लाद ने ऐसा विचारकर विविध पूजा-सामग्रियों से पूर्ण मन से लक्ष्मी के पति भगवान विष्णु की पूजा की। रत्नों के समूहों से जटित विविध पात्रों के प्रान्तों द्वारा किये गये अभिषेकों से, चन्दन आदि के विलेपनों से, धूप, दीप और विविध प्रकार के विभववाले आभूषणों से, मन्दार की मालाओं के वेष्टनों से, सुवर्ण-कमलों की राशियों से, कल्पवृक्ष की लताओं के गुच्छों से, रत्नों के गुच्छों से और कल्प वृक्ष आदि देव वृक्षों के पल्लवों से, विविध प्रकार के फूलों की मालाओं से, किंकिरात, अगस्ति, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, रक्तकमल, कुईं, काश, खजूर, आम, पलाश, अशोक, मैनफल, बिल्व, कनैर, किरातक, कदम्ब, मौलसिरी, मनीम, सेन्दुआर, जूरी, बकायन, गुगुलि, बिन्दुक आदि फूलों के समूहों से, मेंहदी, पाटल, आम, अमड़ा, गव्य और हर्रे बहेड़ों के फूलों से, शाल, ताल और तमालों के लता, फूल और पल्लवों से, कोमल-कोमलकलियों से, काश्मीर केसरयुक्त आम के बौरों से, केवड़े, कमल और इलायची की मंजरियों से, इनके अतिरिक्त धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दर्पण, छत्र चँवर, आरती, पुष्पांजलि, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि सौन्दर्ययुक्त सब उपचारों से स्वयं अपने अर्पण द्वारा भी जगत में जो जो विभव प्रसिद्ध हैं उपकरण बनाये गये उनसे भव्यभक्ति से प्रह्लाद ने अपने अन्तःपुर में मन से अपने स्वामी भगवान की पूजा की॥७-१६॥ तदुपरान्त दानवराज प्रह्लाद ने उस देवगृह में बाह्य समामग्री से पूर्ण पूजा से भगवान विष्णु की पूजा की। इसी मानस पूजा में कहे गये क्रम से बाह्य पदार्थों से परमेश्वर की बार-बार पूजा कर दावनराज प्रह्लाद को अत्यन्त संतोष हुआ। तदुपरान्त तभी से लेकर प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्वोक्त पूर्ण भक्ति से भगवान की पूजा करने लगा॥१७-१९॥ तदनन्तर उस नगर में सभी दैत्य विष्णुभक्त और सदाचारी हो गये। राजा आचार का हेतु है, यदि राजा धर्मात्मा होता है, तो प्रजा भी धार्मिक होती है और राजा दुराचारी होता है तो प्रजा भी दुराचार निरत हो जाती है। हे शत्रुतापन, तदुपरान्त यह समाचार दूतों द्वारा अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक में पहुँचा कि दैत्य भगवान विष्णु का द्वेष करना छोड़कर उनके भक्त बन गये है। हे श्रीरामचन्द्रजी, मरुतों सहित इन्द्र आदि सब देवताओं को

बड़ा आश्चर्य हुआ कि दैत्यों ने किस हेतु विष्णु भगवान की भक्ति अपनाई है ? आश्चर्य में डूबे हुए देवता अमरावती का त्यागकर क्षीर सागर में शेषशय्या पर विराजमान युद्धविजयी श्रीहरि के समीप गये । वहाँ पर देवताओं ने श्रीहरि को यह वृत्तान्त कहा और शेषशय्या पर बैठे हुए भगवान से यह अपूर्व अद्भुत आश्चर्य पूछा ॥२०–२४॥

भगवन् यह क्या बात है, जो दैत्य सदा ही आपके विरुद्ध रहनेवाले आपके भक्त हो गये हैं । मालूम होता है यह माया है । कहाँ तो अत्यन्त दुष्ट दानव, जिन्होंने आपके भक्तों, देवता और मुनियों के निवासभूत पर्वत तक तोड़–फोड़ डाले थे और कहाँ अन्तिम उत्तम जन्म में प्राप्त होने वाली भगवान जनार्दन की भक्ति । हे भगवन्, पामर पुरुष गुणवान हो गया यह कथा औत्पातिकी अकाल पुष्पमाला के समान सुख के लिए और उद्वेग के लिए भी है । जैसे काँचों के बीच में बहुमूल्यमणि शोभित नहीं होती वैसे ही जो जहाँ पर उचित न हो वह वहाँ शोभित नहीं होता ॥२५–२८॥

यदि कहिये कश्यप ऋषि के वंशधर होने के कारण वे भी तुम्हारे सदृश ही हैं, तो गुणों में वैषम्य होने के कारण ऐसी बात नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

जो–जो जैसे गुण का प्राणी होता है, वह उसी तामसी, राजसी या सात्त्विकी स्थिति को प्राप्त होता है, यही बात उचित है । यद्यपि बकरे कुत्ते के सदृश ही हैं फिर भी कुत्ता उनके बीच में शोभित नहीं होता । शरीर में चुभती हुई वज्र की सुइयाँ वैसे दुःख नहीं देती जैसे की अनौचित्य से संबद्ध ये वस्तु दृष्टियाँ दुःख देती है । जो जहाँ पर क्रम से प्राप्त हो, उचित हो और अनिन्दित हो, वही वहाँ पर सुशोभित होता है । देखिये न, कमल जल में ही शोभित होता है, स्थल में नहीं । कहाँ तो पामरोचित कार्य करनेवाला, सदा निन्दित कर्मों में निरत और तामस योनि अधम शोचनीय दानव (प्रह्लाद) और कहाँ भगवान विष्णु की भक्ति ? ॥२९–३२॥ कमलिनी सन्तप्त ऊषर भूमि में स्थित है, यह कथा जैसै श्रोताओं को सुख नहीं देती वैसे ही हे भगवन्, दिति की सन्तति भी भगवान में भक्ति करती है यह अधम पुरुष का अवलंबन करनेवाली कथा भी हमारे लिए सुखदायी नहीं है ॥३३॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तेंतीसवाँ सर्ग

हरिभक्ति से प्रह्लाद के विवेक आदि गुणों का उदय और प्रसन्न हुए हरि को अपने आगे देखकर स्तुति ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनुचित देखने से कुपित हुए अतएव पूर्वोक्त रीति से जोर से चिल्लाकर पूछ रहे देववृन्द से शत्रुओं का विनाश करनेवाले भगवान जैसे मयूरों के झुण्ड से बादल बोलता है वैसे ही निम्न निर्दिष्ट वाक्य बोले । श्रीभगवान ने कहा : हे देववृन्द, प्रह्लाद भक्तिमान हो गया है, यह जान कर आप लोग दुःखी न हो । यदि कहो कि पहले दैत्य स्वतः ही बलवान हैं, आपकी भक्ति से और बलवान हो जायेंगे, अतः हम विषाद क्यों न करें, तो आपका यह तर्क ठीक नहीं है, कारण कि शत्रुतापन प्रह्लाद मोक्ष योग्य है, अतएव आप लोगों के समान तुच्छ राज्य सुख को वह नहीं चाहता है । उसका यह अन्तिम जन्म है ॥१,२॥ जैसे जला हुआ बीज अंकुर पैदा नहीं कर सकता, वैसे ही इसके बाद इस दानव को मातृगर्भनिवास नहीं करना होगा ॥३॥

देवताओं ने जो उसकी भगवद्भक्ति को अनुचित दोषरूप ठहराया था, उसका परिहार करते हैं।

यदि गुणवान पुरुष गुणहीन हो जाय, तो इसे विद्वान लोग पुरुषार्थ का विघात करनेवाला क्रम कहते हैं। यदि निर्गुण गुणवान हो जाय, तो इसे सिद्धिदायक क्रम कहते हैं ॥४॥ हे देवश्रेष्ठों, आप लोग अपने-अपने अद्‌भुत लोकों को जाइये। प्रह्लाद की यह भक्ति आदि गुणवत्ता आप लोगों के अमंगल के लिए नहीं है ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, भगवान देवताओं से यह कह कर वहाँ क्षीरसागर की लहरों में तटवर्ती तापिच्छ वृक्ष के गुच्छों की तरह अन्तर्हित हो गये ॥६॥ जैसे पहले आकाश से समुद्र में गिरा हुआ जलकणसमूह मन्दराचल से कम्पित सागर से फिर आकाश में चला जाता है वैसे ही पहले आकाश से आये हुए वे देवता भी स्तुति द्वारा भगवान की पूजा कर फिर आकाश में चले गये ॥७॥ तबसे प्रह्लाद के प्रति देवताओं की मित्रता हो गई। जिस पुरुष या विषय में अपने पूजनीय पिता, आचार्य आदि उद्विग्न नहीं हुए, उसमें बालकों का भी मन विश्वासी हो जाता है, यह प्रसिद्ध है ॥८॥ इस प्रकार के भक्तिमान प्रह्लाद ने देवाधिदेव भगवान विष्णु की प्रतिदिन मन, कर्म और वचन से पूजा की। तदनन्तर भगवत्पूजा में परायण प्रह्लाद के समय पाकर विवेक, आनन्द, वैराग्य, विभव आदि गुण बढ़ गये। जैसे सूखे हुए वृक्ष की ओर किसी का आकर्षण नहीं होता है वैसे ही उसकी भोगों की ओर अभिरुचि न थी और जैसे मृग जनाकीर्ण भूमि में प्रसन्न नहीं होता वैसे ही वह कान्ताओं में नहीं रमता था। शास्त्रार्थ कथन के सिवा अशास्त्रीय लोकवृत्तों में वह नहीं रमता था ॥९-११॥ स्थल में जैसे कमलिनी का प्रेम नहीं होता वैसे ही दर्शन योग्य समाज, उत्सव आदि कौतुको में उसका प्रेम न था ॥१२॥ जैसे न गुंथा हुआ मोती निर्मल मोती पर स्थिर नहीं रह सकता वैसे ही भोगरूपी रोगों के विषयरूपी अपथ्य के सेवन द्वारा अनुकूल आचरण में उसका चित्त स्थिर नहीं होता था ॥१३॥

यदि कोई पूछे कि तब कैसा उसका चित्त था, तो इस पर कहते हैं।

उसके चित्त ने भोग आदि की कल्पना का त्याग कर दिया था, किन्तु विश्रान्ति सुख को वह प्राप्त नहीं हुआ था, अतएव वह झूले में लटकाये हुए की तरह बीच में लम्बमान स्थित रहा। भगवान् विष्णु ने प्रह्लाद की उस स्थिति को क्षीर सागर से सब में विद्यमान अपनी परम रमणीय बुद्धि से जान लिया ॥१४,१५॥ तदनन्तर भक्तों को आह्लादित करनेवाले भगवान् विष्णु पाताल मार्ग से पूजा देवगृह में प्रह्ललाद के सामने आये। भगवान् पुण्डरीकाक्ष को आये हुए जानकर दैत्यराज प्रह्लाद ने दुगुनी सामग्री से दैदीप्यमान पूजा से आदरपूर्वक उनकी पूजा की ॥१६,१७॥ परम प्रसन्न हुए प्रह्लाद ने पूजागृह में आये हुए नेत्रों के सामने स्थित भगवान् श्रीहरि की मारे हर्ष के विकास को प्राप्त हुई वाणी से स्तुति की ॥१८॥

प्रह्ललाद ने कहा : मैं त्रिभुवन की सुरक्षित स्थिति के अनुकूल सुन्दर कोश गृहरूप, बाह्य और आभ्यान्तर अन्धकार का विनाश करनेवाले, स्वयंज्योतिस्वरूप, अनाथों के रक्षक, शरण के योग्य, सर्वशक्तिसम्पन्न, रजोगुण से ब्रह्मा, सत्त्वगुण से अच्युत और तमोगुण से शिवरूप, सब दुःखों का हरण करनेवाले हरि के शरणागत होता हूँ ॥१९॥ नीलकमल और नीलमणि के समान कान्तिवाले, और शरत्कालीन निर्मल आकाश के मध्यभाग के तुल्य श्यामल, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अंजन के समान कान्तिवाले, कमल, चक्र और गदा धारण करनेवाले आपकी शरण में मैं प्राप्त होता हूँ ॥२०॥

जिनका शरीर भौंरों की राशि के समान कोमल है, जिनका शुभ्र शंख सफेद कमल के कुण्डल के समान सुशोभित होता है, श्रुति ही जिनका गुंजन है ऐसे ब्रह्माजी जिनके नाभि कमल के भ्रमर हैं एवं जो अपने भक्तों के हृदयकमल में निवास करते हैं, ऐसे भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥२१॥ सफेद नखरूपी तारे जिसमें बिखरे हैं, मन्द–मन्द हास से प्रकाशमान मुख ही जिसमें पूर्ण चन्द्रबिम्ब है एवं कौस्तुभ मणि की किरणराशि ही जिसमें आकाश गंगा है, इस प्रकार के विस्तृत हरिरूपी शरत्कालिन आकाश की मैं शरण लेता हूँ। रची गई घनी सृष्टि जिनमें बिना किसी संकोच के निविष्ट है, सत्त्व आदि मायागुणों से होनेवाले अनन्त कल्याण गुणगणों से जिनकी चिरन्तन मूर्ति रमणीय है, प्रलयकाल में वटपत्र पर सोनेवाले बालकरूप अविनाशी, अज, अविकारी, सर्वव्यापक, भगवान् की शरण मैं जाता हूँ ॥२२,२३॥ ताजे फूले हुए नाभिकमल के पराग से वक्षःस्थल में पीलेवर्णवाले, प्रकाशमान लक्ष्मी के शरीर से विभूषित वामांगवाले, सायंकाल के समय के समान अरुण अंगरागवाले एवं सुवर्ण के समान चमकदार पीताम्बर से सुन्दर भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ ॥२४॥

दैत्यरूपी नलिनी के लिए हिमपातरूप, देवरूपी नलिनी केलिए सदा उदित सूर्यमण्डलरूप, ब्रह्मारूपी नलिनी के तड़ागरूप एवं हृदयकमल में निवास करनेवाले विष्णु की मैं शरण लेता हूँ ॥२५॥ त्रिभुवनरूपी कमलिनी के लिए सूर्यरूप, अन्धकार के सदृश आच्छादक अज्ञान के लिए श्रेष्ठ दीपरूप, नित्यस्वप्रकाश, अजड़, चिदात्मतत्त्वरूप, जगत् की सब पीड़ाओं को दूर करनेवाले भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इस प्रकार के विविध गुणों से युक्त स्तुतिवचनों से पूजित असुरों का विनाशकरनेवाले नीलकमल के सदृश श्यामल भगवान् श्रीहरि, जिनका कण्ठ श्रीलक्ष्मीजी से आलिंगित था, प्रसन्न होकर जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है वैसे ही दैत्यराज प्रह्लाद के लिए बोले ॥२७॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौतीसवाँ सर्ग

श्रीहरि के वर से सुविचार को प्राप्त कर तथा अनात्मवर्ग का त्याग कर प्रह्लाद का अपने अद्वितीय सच्चिदात्मस्वरूप का दर्शन।

श्रीभगवान ने कहा : हे दैत्यकुल के चूड़ामणिरूप, हे गुणसागर, पुनः जन्म रूपी दुःख की निवृत्ति के लिए तुम अभीष्ट वर माँगो ॥१॥

प्रह्लाद ने कहा : हे प्रभो, आप सब संकल्पों का फल देनेवाले हैं और सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं, अतएव जिस वस्तु को आप सर्वोत्तम समझते हों, उसीको मुझे देने की कृपा कीजिये ॥२॥

इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् विष्णु अपने विचार से उत्पन्न आत्मतत्त्व साक्षात्कार के बिना आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती, यह समझकर वर देते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे पापरहित, सब सन्देहों की निवृत्ति के लिए और मुक्तिरूपी सर्वोत्तम फल के लिए तुम्हारा ब्रह्मसाक्षात्कार–पर्यन्त विचार हो ॥३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, दैत्यराज प्रह्लाद से यह कहकर जैसे कलकल ध्वनि करके

समुद्र की लहर छिप जाती है वैसे ही भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये ॥४॥ भगवान विष्णु के अन्तर्हित होने पर प्रह्लाद ने पूजा में मणि-रत्नों से सुशोभित अन्तिम पुष्पांजलि देकर, सुन्दर आसन पर बैठकर, पद्मासन लगाकर स्तोत्रपाठ करने के समय बड़े हर्ष से अपने अन्तःकरण में विचार किया। जन्ममरणरूपी संसार से छुटकारा देनेवाले भगवान् ने तुम विचारवान् ही होओ, ऐसा मुझे उपदेश दिया है। इसलिए मैं अपने अन्तःकरण में आत्मविचार करता हूँ ॥५-७॥

सारा दृश्य आत्मा के लिए है, इसलिए आत्मा ही प्रधान है, यह निश्चय कर वह आत्मा कौन है, ऐसा विचार करते हैं।

जो इस संसाररूपी आडम्बर में बोलता हूँ, चलता हूँ, बैठता हूँ और सब उद्योगों से विषयों का उपभोग करता हूँ वह मैं कौन हूँ, यही विचार पहले मुझे करना चाहिये ॥८॥

देह से बाह्यवस्तु तो आत्मा हो नहीं सकती, ऐसा कहते हैं।

वृक्ष, तृण, पर्वत आदि से युक्त यह सारा जगत् तो आत्मा हो नहीं सकता, क्योंकि जो बाहरी और अत्यन्त जड़ है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ ॥९॥

देह भी मैं नहीं हूँ, ऐसा कहते हैं।

वस्तुतः असत् होता हुआ भी उदित, जड़ होने के कारण ही बोलने में असमर्थ, प्राणवायुओं द्वारा केवल अपने संचार के समय में ही संचालित, थोड़े समय में नष्ट होनेवाला यह अचेतन शरीर भी मैं नहीं हूँ ॥१०॥

इस प्रकार शब्द आदि विषय भी मैं नहीं हूँ, ऐसा कहते हैं।

जड़ (अचिद्रूप) कर्णच्छिद्र द्वारा अति दीर्घ, गम्भीर, पद वाक्य आदि भेदों से कल्पित क्षणभर में नष्ट होनेवाला, क्षयी होने के कारण ही शून्याकार, आकाश से उत्पन्न होनेवाला अचेतन शब्द भी मैं नहीं हूँ ॥११॥ क्षण में नष्ट होनेवाली त्वगिन्द्रिय से प्राप्त करनेवाला (चेतन के अधीन सिद्धिवाला) अचेतन स्वरूप स्पर्श भी मैं नहीं हूँ। अनित्य, चंचल जिह्वा से संबद्ध स्वभाववाला यानी रसनेन्द्रिय के अधीन सिद्धिवाला, द्रव्य में रहनेवाला, अचेतन तुच्छ रस, जिह्वा के अग्रभाग से लेकर कण्ठ तक जिसके आस्वाद का प्रसार है, मैं नहीं हूँ। क्षणविनाशी पदार्थ और चक्षु इन दोनों के अधीन सिद्धिवाला अतएव विनश्वर तथा केवल द्रष्टा में अविद्यमान अचेतन रूप मैं नहीं हूँ। गन्धवती, जड़, नष्ट होनेवाली नासिका (घ्राणेन्द्रिय) द्वारा कल्पित, (दूसरे क्षण में अन्य गन्ध का प्रादुभार्व होने से) अनियत आकारवाला और अचेतन तुच्छ गन्ध भी मैं नहीं हूँ ॥१२-१५॥

शब्द आदि विषयों को अनात्म कहना वचन, ग्रहण आदि में भी समान होकर सर्वत्र त्रिपुटियों के अनात्मत्व का उपलक्षक है, क्योंकि सर्वत्र न्याय समान है, इससे अहंकार, मन, बुद्धि, चित्त त्रिपुटी का भी अनात्मरूप से निरास होने पर शुद्ध चिन्मात्र ही आत्मा परिशिष्ट रहता है, इस आशय से कहते हैं।

'मम' इस प्रकार के अभिमान से रहित, मननरूप मन के व्यापार से शून्य माया के सम्बन्ध से रहित, पंचेन्द्रियों के भ्रम से शून्य (पंचेन्द्रियतादात्म्य भ्रान्तिरहित) शान्त शुद्ध चेतन ही मैं हूँ।

चेतन पद से चेतनावान जड़ांश का भी ग्रहण न हो, उसके शोधन के लिए कहते हैं।

स्वयं ज्योति, सबका प्रकाशक, बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक, अखण्ड निर्मल, सन्मय यह

मैं चेत्यरहित चिन्मात्र ही हूँ ॥१७॥

इस प्रकार परिशुद्ध त्वंपदार्थ का विचारकर उसके द्वारा ही तत्पदार्थ का भी शोधन करके उसको समझाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

अन्य निरपेक्ष होने के कारण उत्तम तेजरूप इस चेतनरूप दीपक से ही घट–पट आदि सूर्यपर्यन्त ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं ॥१८॥ हाँ, इस सारे सत्य का मुझे अब स्मरण हो आया है। आकाश आदि विकल्पों से रहित चिद्रूप प्रकाश सर्वव्यापक यह आत्मा मैं हूँ ॥१९॥ भीतर प्रकाशमान तेजरूप इसी से इन विचित्र इन्द्रियवृत्तियों का स्फुरण होता है जो कि भीतर प्रकाशमान तेज से अग्निभूत अंगारकण पंक्तियों का स्फुरण होता है ॥२०॥ जैसे ग्रीष्म ऋतु से मरुमरीचिकाओं का (मृगतृष्णाओं का) स्फुरण होता है वैसे ही सर्वव्यापक इस चेतन से ये विचित्र इन्द्रिय पंक्तियाँ स्फुरित होती है ॥२१॥

सब पदार्थों की स्फूर्ति के समान सत्ता भी इसके अधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वस्त्रों का अपना शुक्लादिगुणत्व दीपक से प्रतिपादित होता है वैसे ही पदार्थों की यह अपनी सत्ता इसी से प्रतिपादित होती है ॥२२॥ जैसे ग्रहण सब प्रतिबिम्बों का विश्रान्ति स्थान है। उसी एक विकल्परहित चिद्रूपी दीपक के प्रसाद से सूर्य गर्म, चन्द्रमा शीतल, पर्वत ठोस और जल तरल है। भाव यह है कि विभिन्न पदार्थों के विविध विचित्र स्वभावों की सिद्धि उसीके अधीन है ॥२३,२४॥ 'आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल' इत्यादि क्रम से श्रुति और प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत सब पदार्थों की जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में सद्रूप से सब कार्यों में व्यक्त यही आदिकारण है, इसका कोई कारण नहीं है ॥२५॥

पूर्वोक्त नैरन्तर्य क्रम से अनुभूत सब पदार्थों का जैसे ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के सन्ताप से भूमि आदि की अत्यन्त सन्तप्तता उत्पन्न होती है वैसे ही इसी से प्रसिद्ध आकाश आदि पदार्थत्व होता है। जैसे बर्फ से शीतलता उत्पन्न होती है वैसे ही वस्तुतः निराकार यानी कारणत्व आदि आकार से शून्य और विद्या से कारणभूत सब कारणों के कारण इससे यह दृश्य उत्पन्न हुआ है। जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में कारणभूत ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और रुद्र का यही आदिकारण है। इसका कोई कारण नहीं है। चित्, चेत्य, द्रष्टा, दृश्य आदि नामों से वर्जित स्वरूपवाले स्वयं नित्य स्वप्रकाश इस मुझ प्रत्यक् चैतन्य को बार–बार नमस्कार है ॥२६–२९॥

कारण होने से जैसे यह हरि का हेतु है वैसे ही पालन और संहार का हेतु भी है, ऐसा कहते हैं।

निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप सब प्राणियों के अधिष्ठाता इसमें गुणों की नाई अभिन्न सत्तावाले सब भूत स्थित रहते हैं और प्रवेश भी करते हैं। भाव यह कि 'यतो व इमानि भूतानिजायन्ते' इत्यादि श्रुति में कहे गये ब्रह्मलक्षण का इसमें समन्वय है ॥३०॥

कारण में सूक्ष्मरूप से स्थित इस समय वर्तमान भी जिसका इस चेतन अन्तरात्मा ने यह उत्तर क्षण में उत्पन्न हो, ऐसा संकल्प किया वही सर्वत्र उत्तर क्षण में उत्पन्न होता है, अन्य नहीं ॥३१॥ जिस वस्तु को चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित किया, वही अपने 'घट है ' इत्यादि व्यवहारपद को प्राप्त होता है और जिसको चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित नहीं किया, वह असत्त्वरूप नाश को प्राप्त हुआ है। ये घटपटाकार जगत् के सैकड़ों पदार्थ विशाल

दर्पणरूप इस चिदाकाश में प्रतिबिम्बित हैं ॥३२,३३॥

इसी प्रकार वृद्धि आदि भावविकार भी इसी में अध्यस्त हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे प्रतिबिम्बित सूर्य में क्षय और वृद्धि प्रतिबिम्बरूप से स्थित सूर्य में ही अध्यस्त होकर अन्य वृत्तियाँ प्रतीत होती हैं वैसे ही यह भी विशाल पदार्थ में विशाल, विनष्ट होनेवाले पदार्थ में विनाशी और सत्-असत्‌रूप से स्थित है। सब अज्ञानी प्राणियों के दर्शन के अयोग्य जिनका चित्त विलीन हो चुका, ऐसे महात्माओं को प्राप्त होने योग्य यह अति निर्मल परमाकाश सत्पुरुषों द्वारा देखा जाता है ॥३४,३५॥

जो लोग कारण के एक देश में परिणामरूप जगत् है, ऐसी कल्पना करते हैं, उनकी कल्पना भी इसी परमाकाश में है अन्य में नहीं है, इसी आशय से कहते हैं।

आचाररूपी भौंरों से वेष्टित यह विविध दृश्यरूपी सुन्दर मंजरी इसी कारणरूप वृक्ष से उत्पन्न होती है। जैसे विविध प्रकार के वृक्ष , झाड़ी और लताओं द्वारा वेष्टित वनपंक्ति पर्वत से उत्पन्न होती है वैसे ही यह चंचल विशाल संसार रचना इसी से उत्पन्न होती है ॥३६,३७॥

इसी में कल्पना है, यह कैसे जाना ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो जगत् की स्फूर्ति इससे भिन्न है, इससे जाना, ऐसा कहते हैं।

त्रैलोक्य मध्यवर्ती ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सब पदार्थों का प्रकाशक यह स्वयं ज्योति चिदात्मा सबसे भिन्न है ॥३८॥ जन्म और विनाश रहित सर्वव्यापक यह एक मैं सब चराचर भूतों के अन्दर स्वानुभवरूप स्थित हूँ। इस मेरे स्थावर और जंगम बहुत शरीर है, जिनकी संख्या गणना, काल की सीमा और देश की सीमा नहीं हो सकती ॥३९,४०॥ अनुभूति स्वरूप एक यह अपना अनुभूतिवश स्वयं सर्वद्रष्टा, सर्वद्रश्य और सर्वदर्शन एवं हजारों लोचन और हाथवाला है ॥४१॥ यह प्रत्यक्ष ईश्वरभूत मैं सुन्दर सूर्यरूप होकर आकाश में विचरण करता हूँ एवं वायु रूप होकर अन्य वायु देह से भी आकाश में विचरण करता हूँ ॥४२॥ मेरा शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाला यह श्यामल शरीर, जो सब सौभाग्यों की चरम सीमा है, इस संसार में व्यवहार करता है ॥४३॥ इस जगत् में सदा पद्मासन आसीन होकर निर्विकल्प समाधि में स्थित परम सुख को प्राप्त मैं ब्रह्मारूप से उत्पन्न हुआ हूँ ॥४४॥ मैं तीन नेत्रवाली आकृति से श्रीपार्वतीजी के मुखकमल का भ्रमर बनकर जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है वैसे ही इस जगत् का प्रलयकाल में संहार करता हूँ। जैसे तपस्वी गुरुपरम्परा प्राप्त अपने मठ की रक्षा करता है वैसे ही इन्द्ररूप से मैं मन्वन्तरक्रम से प्राप्त हुए इस सारे त्रिलोक का पालन करता हूँ॥४५,४६॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

इस श्रुति का अपने अनुभव द्वारा अपने में समन्वय करते हैं।

यह मैं ही स्त्री हूँ, मैं ही पुरुष हूँ, कुमार भी मैं ही हूँ, देहधारी होने से मैं जीर्ण हो गया हूँ और मैं ही सर्वतोमुख विराट् पुरुष हूँ ॥४७॥ मैं जीवसाररूप से स्थित होकर तृण, लता, झाड़ी आदि के समूह को चिद्रूप भूमि से ऐसे उत्पन्न करता हूँ जैसे जलरूप से स्थित जीर्ण कूप अपने अन्दर लता को उत्पन्न करता है ॥४८॥ सुन्दर बालकरूप मैंने इस सुन्दर जगद्रूपी आडम्बर का मिट्टी के खिलौने के समान अपनी क्रीड़ा के लिए विस्तार किया है ॥४९॥ मुझसे कारणरूप से यह जगत् व्याप्त किया जाता है।

मुझे ही प्राप्त होकर यह सत्ता को प्राप्त होता है। अपने तत्त्वदर्शन द्वारा मुझसे परित्यक्त हुआ यह जगत् जीवन्मुक्त व्यवहार में विद्यमान होता हुआ भी कुछ नहीं है ॥५०॥ मुझ विशाल चिद्रूपी दर्पण में जो प्रतिबिम्ब प्राप्त हुआ है, वह मुझसे पृथक् नहीं है, क्योंकि इस संसार में मुझसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं ॥५१॥

अब ईश्वररूप अपने विभूति विस्तार का वर्णन करते हैं।

मैं फूलों में सुगन्ध हूँ, फूलों की पंखुड़ियों में मैं कान्ति हूँ। कान्तियों में रूपकला हूँ और रूपों में भी मैं अनुभव हूँ। चराचर जगद्रूप में कुछ यह दृश्य है, वह सब सर्व संकल्प रहित परम चिदात्मतत्त्व मैं ही हूँ। रसमयी आदि शक्ति यानी रस तन्मात्रा जिससे सागर, नदी, तालाब, कूप आदि जलाशय विस्तृत है, वही जलभूत शक्ति जैसे वृक्षों में शाखा, पल्लव आदि की उत्पत्ति में हेतुरूप से और दीवारों में इनके, जौ के अंकुर आदिकी उत्पत्ति में हेतुरूप से फैली है वैसे ही मैं सब वस्तुओं में तत् तत् कार्यों की उत्पत्ति में हेतुरूप से फैला हूँ। मैं अपनी इच्छा से सब पदार्थों की उस परम अन्तर्यामिता को प्राप्त करके ज्ञान वैचित्र्य का विस्तार करता हूँ। जैसे दूध के अन्दर घी रहता है और जल के अन्दर रसशक्ति रहती है वैसे ही चित्शक्तिरूप मैं सब पदार्थों में स्थित हूँ। जैसे तृण, काष्ठ, लोष्ठ आदि वस्तुएँ पृथ्वी पर स्थित हैं वैसे ही अतीत, वर्तमान और भविष्य यह जड़ जगत् चिद्रूप मुझमें व्यवस्थित है। सब दिशाओं के मध्य को जिसने पूर्ण कर रक्खा है, संकोचभ्रम का जिसने त्याग कर दिया है, सबमें स्थित सबका रचयिता और व्यष्टिभेद से शोभित होने वाला एवं समष्टि रूप से शोभित होनेवाला मैं हूँ ॥५२-५८॥

इन्द्र से बढ़कर राज्य की प्राप्ति हुए बिना आपकी सम्राटता कैसी ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

यह विस्तृत अपूर्व जगद्राज्य, जिसमें इन्द्र का बन्धन नहीं किया गया और अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा देवताओं का संहार नहीं किया गया, बिना प्रार्थना के मुझे प्राप्त हुआ है। इन्द्रराज्य की प्राप्ति के लिए बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं शस्त्रास्त्रों द्वारा देवताओं का संहार करना पड़ता है तथा इन्द्र को बाँधना पड़ता है। वह अपूर्व भी नहीं है, अनेकों द्वारा उपभुक्त है, यह उससे विलक्षण होने से श्रेष्ठ है, यह भाव है ॥५९॥

अहो, मैं तो विस्तृत आत्मावाला हूँ, अतएव मैं अपने आप अपने आत्मा में, कोठिले में धानों की भाँति, ऐसे नहीं समा रहा हूँ जैसे प्रलयकाल की घोर आँधी से उछलता हुआ प्रलय सागर पहले के सागर के घेरे में नहीं समाता है ॥६०॥ जैसे कुण्ठित गतिवाला साँप क्षीरसागर में चलता हुआ उसका अन्त नहीं पाता वैसे ही अपने ही अन्दर निरतिशय आनन्दरूप से स्वाद में आ रहे स्वस्थ आत्मा में मैं अन्त नहीं पाता हूँ। यह जगन्नामक ब्रह्माण्ड, जिसका भीतर का भाग संकुचित है, बड़ा छोटा है, इसलिए जैसे बेल के फल के अन्दर हाथी नहीं समा सकता वैसे ही मेरा विशाल शरीर इसमें नहीं समा सकता है ॥६१,६२॥ उत्तर-उत्तर दस गुने विशाल पृथिवी, जल आदि आवरणों से आवृत ब्रह्माण्ड रूप ब्रह्मा के घर से आगे सांख्य, वैष्णव आदि के शास्त्रों में प्रसिद्ध चौबीस तत्त्वों के और शैव, पाशुपत आदि के अभिमत छत्तीस तत्त्वों के अन्त में भी घूम रहा मेरा स्वरूप आज भी घूमता ही है, वापिस नहीं होता है। यह देह आदि मैं हूँ, इस प्रकार की निराधार यह कल्पना, इतने दिनों तक मेरे हृदय में कहाँ से हुई ? जिसकी आकृति का आर-पार नहीं है, ऐसी मेरी यह स्वल्पता कैसे हुई ? ये आप हैं, यह मैं हूँ, यह

मिथ्या भ्रान्ति ही है। कौन शरीर है ? शरीर ही जब प्रसिद्ध नहीं है, तो अशरीर भी कौन है ? कारण कि वन्ध्या के पुत्र की नाईं वन्ध्यापुत्र को मारनेवाली अप्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार कौन मरा ? प्राण ही जब प्रसिद्ध नहीं हैं, कौन उससे वियुक्त हुआ और कौन जीता है यानी प्राण धारण करता है ? ॥६३-६५॥

अब असत्य साम्राज्य में आसक्त हुए अपने पिता, पितामह आदि पूर्वजों के लिए शोक करते हैं।

मेरे पिता, पितामह आदि बेचारे मन्दमति थे, जो इस साम्राज्य का त्याग कर भवभूमि में अनुरक्त हुए। कहाँ ब्रह्मा से बढ़ी हुई पूर्ण यह महादृष्टि और कहाँ साँपों की नाईं भयंकर आशाओं से भीषण राज्य विभूतियाँ। यह शुद्ध चिन्मय दृष्टि, जिसमें अनन्त आनन्द का भोग प्राप्त होता है और जो परम शान्ति देनेवाली है, सब दृष्टियों से बढ़कर है। सब पदार्थों के अन्दर विद्यमान चेत्यरहित चिदात्मारूप प्रत्यक् चेतनस्वरूप मुझको बार-बार नमस्कार है। चूँकि चिरभुक्त अन्न के समान जिसने संसार सरणि को जीर्ण कर दिया है, ऐसा मैं आज हो गया हूँ। अतएव चारों ओर से चेत्य के जय के फलरूप सर्वअनर्थनिवृत्ति को प्राप्त हो गया हूँ और प्राप्त सब सुखों को प्राप्त हुए मेरा जीवन सफल हो गया है, अतएव मैं सर्वोत्कृष्टरूप से विराजमान हूँ। नित्यबोधरूप इस उत्तम साम्राज्य का त्यागकर अरमणीय राज्य के विविध दुःखों में मुझे आनन्द नहीं मिलता ॥६६-७१॥ भूतल में, जहाँ पर वनदुर्ग में लकड़ियाँ, जलदुर्ग में जल और गिरिदुर्ग में पत्थर विपत्तियों के समय शरण होते हैं, स्वामित्व के अभिमान से जो सतृष्ण हुआ उस अज्ञानी बेचारे कुदानवरूपी कीड़े को धिक्कार है। एकमात्र अविद्यात्मक अन्न पान आदिपदार्थों से अविद्यामय गर्हित शरीर को तृप्त कर रहे अज्ञानी हमारे पिता ने क्या किया ? कुछ वर्षों तक इस जगद्रूपी सम्पत्तियुक्त छोटे से मठ को पाकर हिरण्यकशिपु ने क्या कश्यप के कुल में जन्म के अनुरूप परमपुरुषार्थ प्राप्त किया ? इस आत्मरूप आनन्द का आस्वाद न लेकर यहाँ सैकड़ों जगद्राज्यों का आस्वाद ले रहे पुरुष को कुछ भी आस्वाद नहीं मिला ॥७२-७५॥

एक की प्राप्ति से ही विषय के बिना ही सब विषयसुखों की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जिसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, इस परम अमृत को पाकर पूर्ण अन्तःकरणवाले हुए उसको यह सब निरन्तर प्राप्त हो गया। मूर्ख इस परमपद को त्यागकर परिमित पदार्थ को प्राप्त होता है ज्ञानी नहीं। ऊँट ही सुन्दर लता का त्यागकर काँटों की ओर जाता है अन्य नहीं। इस परम दृष्टि का त्याग कर इस गर्हित राज्य में किसको प्रीति होगी ? कौन बुद्धिमान् पुरुष ईख के रस का त्याग कर नीम के पत्तों का कड़वा रस पीयेगा ? सचमुच मेरे पिता, पितामह सब मूर्ख ही रहे, जिन्होंने इस दृष्टि का त्यागकर राज्यरूपी विपत्ति में प्रीति की। कहाँ फूली हुई नन्दनवन सी स्थलियाँ, कहाँ सन्तप्त मरुभूमियाँ, कहाँ शान्त ये ज्ञानदृष्टियाँ और कहाँ भोगायतन शरीरादि में आत्मबुद्धि ? त्रैलोक्य में राज्य को प्राप्तकर कुछ भी सुख नहीं मिलता है फिर भी उसे ही पुरुष चाहता है, किन्तु चित्त तत्त्व में तो सब कुछ निहित है, उसका ज्ञान क्यों नहीं करता ? सबमें स्थित, स्वस्थ और सम, निर्विकार, सर्वरूप चित् से सदा सब जगह सुख के साधन खुशी से प्राप्त होते हैं। तेज की भासनशक्ति, चन्द्र की अमृतप्राप्ति, हिरण्यगर्भ की सर्वमान्यता, इन्द्र की सर्वोत्कृष्ट त्रैलोक्यराजता, शिवजी की निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द शक्ति पूर्णता, विष्णु की जयलक्ष्मी, मन की शीघ्रगतिता, वायु की बलवत्ता, अग्नि की दाहकता, जलकी आप्याकता, भृगु आदि मुनियों की महातपःसिद्धि, बृहस्पति की विद्या, विमानों की आकाशगति,

पर्वतों की स्थिरता, समुद्र की गम्भीरता, मेरु पर्वत की महोन्नतता, बौद्ध सिद्धान्त में सिद्ध शून्यतारूप सर्व उपद्रव शान्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार सम्बन्धिनी सर्व अनर्थनिर्वाणशक्ति, मदिरा की मदचंचलता, वसन्त ऋतु की पुष्पमयता, वर्षा ऋतु की मेघशब्दता, यक्षों की मायामयता, आकाश की निर्मलता, हिम की शीतलता, ग्रीष्म ऋतु की तप्तता ये और इनसे अतिरिक्त अन्यान्य बहुत-सी देश, काल और क्रियारूप नाना आकार विकारों से उत्पन्न, भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों लोकों के अन्दर स्थित विचित्र शक्तियों का स्वस्थ, सम निर्विकार परमचैतन्य द्वारा, जो तत्-तत् शक्ति के कार्य के अनुसन्धान से युक्त है, निर्माण किया जाता है ॥७६-९०॥

विचित्र पदार्थों की विचित्र प्रभा दिखाई देती है, ऐसी अवस्था में चित् की समता कैसे ? इस पर कहते हैं।

जैसे सूर्य की प्रभा वृत्ति से किये गये स्थाणु, पुरुष इत्यादि विकल्पों से रहित हो सब पदार्थों में समान रूपसे गिरती है वैसे ही सब वृत्तियों में प्रविष्ट चित् भी चित्तवृत्ति में स्थित विकल्पों से रहित होकर सैकड़ों पदार्थो में समानरूप से गिरती है ॥९१,९२॥

दिशा और काल के भेद से उत्पन्न वैषम्य भी उसमें नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे सूर्य की प्रभा सब दिशाओं के मध्य में स्थित तीनों कालों में चेष्टा से युक्त प्रचुर पदार्थराशि को एक क्षण में प्रकाशित करती है वैसे ही यह निर्मल चिति सारे संसार की विशाल दृश्य शोभा को, जो तीनों कालों में स्थित है, एक क्षण में प्रथित कर देती है ॥९३॥

देश और काल के भेद स्वप्नदेश और स्वप्नकाल की दीर्घता के तुल्य अभिन्न कालवाले चैतन्य से ही भासित होते हैं, ऐसा कहते हैं।

अखण्ड ही शुद्ध चिति अभिन्नकाल से सम्बद्ध होती हुई ही अतीत, अनागत आदि तीनों कालों की सैकड़ों कल्पनाओं से भिन्न-सी और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि अनन्त प्रमाण, प्रमेय और पुरुषों के भेद से भिन्न कलेवरवाली-सी प्रतीत होती है ॥९३,९४॥

अतएव कालभेद और वृत्तिभेद होने पर उसके साक्षी चैतन्य का भेद नहीं है, इसलिए उसमें पूर्णता ही है, ऐसा कहते हैं।

चैतन्य की, जिसे तीनों कालों का परिज्ञान है और जिसमें अनन्त वृत्तियाँ देखी गई हैं, पूर्णता ही, जिसका दूसरा नाम समता है, अवशिष्ट रहती है ॥९५॥

अतएव दो मधुर रसों का अथवा दो तीखे रसों का एक ही समय स्वाद लेने पर विषय का भेद रहने पर भी अनुभव का भेद नहीं होता, इसलिए विषय आदि का भेद चित् के भेद का प्रयोजक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

शहद और नींबु आदि प्रत्येक की अनुभूति के समान एक काल में अनुभूत तुल्य रसवाले दो मधुर रसों से और दो कड़ुवे रसों से भी चिति समता को ही प्राप्त होती है यानी उनसे चिति में भेद नहीं होता है ॥९६॥ घट, पट आदि विचित्र पदार्थ शोभा भी अन्योन्य के व्यावर्तक भेद संकल्पकला का त्याग की हुई, सूक्ष्म, सर्वगत, एकमात्र सत्ता अद्वैतरूप चिद्व्यवस्था एक ही समय में अनुभूयमान होती हुई समता से अनुभूत होती है विषमता से नहीं यानी विषयआदि का भेद चित् का भेदक नहीं

है, यह दोनों का अर्थ है ॥९७,९८॥

भेदसंकल्पकला के त्याग का उपाय कहते हैं।

चित्त से वाचारम्भण श्रुति द्वारा, 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति द्वारा और आचार्योपदेश, स्वविचार आदि से भी सब दृश्य के अभाव का आश्रय कर वह चित्तरूप भाव शोक, मोह आदि के परिणामरूप दुःखता का तुरन्त त्याग करता है। फिर भी राग आदि के संस्कारों की दुष्टता से समयान्तर में शोक आदि की पुनः उत्पत्ति हो सकती है, अतएव सर्वदृश्यप्रतिषेधरूप अभाव से परमार्थ सद् अद्वैतानन्दस्वभाव आत्मा का दर्शन कर वह चित्तरूप भाव राग आदि दुष्टता का भी त्याग कर देता है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान् का वचन है, इसलिए बीज (राज आदि) के अभाव से भेद-संकल्पकला का त्याग सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ है ॥९९॥

उक्त अर्थ का प्रकारान्तर से उपपादन करते हैं।

वर्तमान चेत्य की (दृश्य की) उपेक्षा करनेवाले, अतीत चेत्य के वासनारूपी बन्धनों से शून्य और चेत्य के आधारभूत तीनों कालों का दर्शन न कर रहे चैतन्य के भावी चेत्ययोग की भी भावना नहीं की जा सकती, अतएव समता ही अवशिष्ट रहती है ॥१००॥ उक्त चिति वाणी व्यवहार के अगोचर होने से शाश्वत असत्ता को प्राप्त-सी होती है। नैरात्म्यसिद्धान्तदशा को (शून्यवादी की सिद्धान्तावस्था को यानी शून्यरूपता को) प्राप्त हुई सी स्थित होती है, चूँकि स्थित है, इसलिए वस्तुतः नैरात्म्यसिद्धान्तदशा को प्राप्त नहीं हुई है कारण कि सत् असत् नहीं हो सकता ॥१०१॥ जो (चित्) स्थित है वह शास्त्रीय व्यवहार में प्रत्यक् होने के कारण आत्मा है तथा बृहत् होने से ब्रह्म है, परमार्थ दृष्टि से तो उसमें वाणियों की प्रवृत्ति का अभाव होने से कुछ भी नहीं है। यदि प्रवृत्ति निमित्त की कल्पना से शब्द प्रवृत्ति कही जाय, तो संकोच हेतु का अभाव होने से सब प्रवृत्ति निमित्तों की कल्पना होने से वह सब है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' और 'स्मात् तत्सर्वम भवत्' इस श्रुति में दोनों प्रकारों का निरूपण है। सब दृश्यों का परम उपशम होने पर उनकी अवधि होने से लय को प्राप्त न हुई वह चिति परम समता 'मोक्ष' नाम से कही जाती है ॥१०२॥

इस प्रकार भेदसंकल्प की कल्पना का त्याग उपायपूर्वक कहा। एवं कल्प की कल्पना में चिति की मन्दता के प्रसार के क्रम को कहते हैं।

संकल्प से कल्पित तो यह चिति पटलरूप आवरण से युक्त दृष्टि के समान मन्दाभास (मन्दप्रकाश) होने के कारण इस जगत् को परमार्थरूप से नहीं देखती है। जो चिति इष्ट-अनिष्ट संकल्परूप मलों से भीतर ओतप्रोत है वह जैसे जाल में बँधी हुई चिड़िया आकाशमार्ग से उड़ने में समर्थ नहीं होती वैसे ही सारे आकाश को व्याप्त करने में समर्थ नहीं होती है ॥१०३,१०४॥ जो कोई भी ये नेत्रविहीन पक्षियों की तरह मोहरूपी जाल में पड़े हैं, वे सब संकल्प कल्पना से ही पड़े हैं। विविध संकल्पों से परिवेष्टित अतएव विषयरूपी गड्ढों में गिरनेवाले मेरे पिता, पितामह आदि पूर्वजों ने यह दुःख शून्य अपरिच्छिन्न आत्मपदवी नहीं देखी। अपरिच्छिन्न आत्मपदवी के अदर्शन से गड्ढों में मच्छरों के तुल्य पृथिवी पर सुशोभित हुए वे बेचारे मेरे पिता, पितामह आदि कुछ ही दिनों में नष्ट हो गये। दुर्बुद्धि अतएव भोगरूपी दुःख की चाह वाले वे लोग यदि आत्मतत्त्व को जान गये होते, तो भाव और अभावरूपी अन्धे कुएँ में न

गिरते। सब जीव इच्छा–द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व मोह से यानी सुख–दुःख, शीत–उष्ण आदि के उपार्जन और प्रतीकार के अभिनिवेश से छिद्र में छिपे हुए कीड़ों के तुल्य हो गये हैं। जिसकी इष्ट और अनिष्टकल्पनारूपी मृगतृष्णा सत्यज्ञानरूपी मेघ से (द्वन्द्वताप की शान्ति द्वारा) शान्त हो चुकी है, उसका जीवन सार्थक है ॥१०५–११०॥

केवल सत्यज्ञान से इष्टानिष्ट कल्पनारूप मृगतृष्णा का कैसे नाश हो सकता है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर उसके असत् होने से ही उसकी शान्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

चाँदनी की मन्दोष्ण एवं कलंकयुक्त (काली) छबि की तरह निरन्तर निर्मल आकारवाली इस शुद्धचित् की कल्पनाएँ कहाँ से हो सकती है ? अब अखण्डवाक्यार्थ का साक्षात्कार कर अखण्ड वाक्यार्थरूप से स्थिति प्राप्त हुए अत्यन्त दुर्लभ आत्मा को प्रेम से नमस्कार करते हैं। हे लोगों के ज्ञानप्रकाश में हेतुभूत मणिरूप, हे देव, आप चिरकाल में प्राप्त हुए हो। अविच्छिन्न चिदात्मरूप मुझ आत्मा को नमस्कार है ॥१११,११२॥ हे भगवन्, चिरकाल तक मैंने आपका विचार किया है, आपको प्राप्त किया है, अपने पारमार्थिकरूप से अभिव्यक्त किया है और विकल्पों से आपका उद्धार किया है, आप जो है वह है आपको नमस्कार है। मुझ रूप आप अनन्त को, मुझरूप आप शिवदेवाधिदेवपरम परमात्मा को नमस्कार है। मेघरूपी आवरण से शून्य परिपूर्ण चन्द्रबिम्ब के तुल्य कलनारूपी आवरण से रहित अपने ही रूप को, जो आनन्दैकरस स्वात्मा में स्वयं (अन्य किसी आधार के बिना) अपने पारमार्थिकरूप से स्थित, स्व–प्रकाश स्वाधीन आनन्दवाला है, अभिन्नरूप मैं प्रणाम करता हूँ ॥११३–११५॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

साक्षात्कृत आत्मा का मन में विचारकर और प्रणाम कर उसके बल से जीते गये बन्धनों का अनुसन्धान कर प्रह्लाद का प्रसन्न होना।

प्रह्लाद ने कहा : 'ओमिति ब्रह्म (ॐ ब्रह्म है), ओमितीदं सर्वम् (ॐ यह सब है)।

एतद्वै सत्यकाम परमचापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (हे सत्यकाम, यह पर और अपर ब्रह्म है, जो यह ओंकार है।) इत्यादि श्रुतियों से सबके अध्यारोपवाले ब्रह्म का बोधक और सबके अपवाद से परिशिष्ट ब्रह्म का बोधक 'ॐ' ही जिसका स्वानुरूप अभिधान है और विकारों से रहित यह आत्मा ही जो कुछ इस जगतीतल में स्थित है वह सब कुछ है ॥१॥

यह आत्मा एकमात्र देह के अन्तर्गत है, यह बाह्य सूर्य आदि सब कुछ कैसे हो सकता है ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो सूर्य आदि बाह्यपदार्थों का प्रकाशक होने से, ऐसा कहते हैं।

यह चेतन मेदा, अस्थि, मांस, मज्जा और रक्त आदि रूप देहपरिमित नहीं है, किन्तु उससे अतीत है। सूर्य आदि के अन्दर स्थित दीपकरूप यह सूर्य आदि को प्रकाशित करता है ॥२॥

केवल उससे प्रकाश्य होने के कारण सब कुछ तदात्म कैसे है ? ऐसी यदि किसी को शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

चूँकि अग्नि आदि की उष्णस्वभावता चित् के अधीन उष्णता के भान के अधीन है, इसलिए चिदात्मा ही स्वसत्ता से अग्नि को उष्ण करता है एवं जल को, जो अपनी सत्ता से ही सत्तावाला है, रसरूप से प्रगट करता है। इसी प्रकार जैसे राजा भोगों को भोगते हैं वैसे ही वह अन्यान्य इन्द्रियानुभावों का भोग करता है ॥३॥ सदा निष्क्रिय रहता भी वह बैठे हुए की तरह गति आदि व्यापार से विरत नहीं है, क्योंकि वायु और सूर्य रूप से सदा गतियुक्त है। कालरूप से सदा चलता हुआ भी कुलाल के चक्र के समान एक तिल भर भी इधर-उधर नहीं जाता, व्यवहार रहित होने पर भी सब व्यवहार में स्थित है, कर्म करता हुआ भी उनके फल से लिप्त नहीं होता।

(यदि कोई शंका करे कि पूर्वजन्म के कर्मों से इस समय सुख-दुःख से लिप्त होता है और इस समय यहाँ पर किये गये कर्म से परलोक में सुख-दुःख से लिप्त होगा) ॥४॥

ऐसी परिस्थिति में 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' ऐसा कैसे कहते हैं ? तो इस पर कहते हैं।

पूर्वजन्म में, आज और इस समय इस लोक में, पर लोक में तथा इसलोक की सन्धिरूप स्वप्न में शास्त्र से अनिषिद्ध (विहित) शुभ कर्म के फलों का भोग करता हुआ और शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कर्मों के फलों का भोग करता हुआ भी यह सब भोगवृत्तियों में सम ही रहता है। भाव यह कि दृश्य भोगों से द्रष्टा में विकार का संभव नहीं है ॥५॥

यदि कोई कहे कि भोग यदि भोक्ता का स्पर्श नहीं करते हैं, तो भोगों से कर्मों की सफलता कैसे होगी ? तो इस पर कहते हैं।

वस्तुतः भयरहित यह आत्मा ही तत् तत् कर्मों के अनुरूप स्वयं होता है और उत्पन्न हुआ ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त भोक्ता और भोगों तथा उनके आधार चौदह भुवनों को केवल अपनी सन्निधि से घुमाता रहता है। वही इसका कर्मफल है ॥६॥

यदि कोई शंका करे कि आत्मा में यदि स्पन्दन ही नहीं है, तो वह जगत् को कैसा घुमायेगा, तो इस पर कहते हैं।

नित्य आत्मसत्ता ही स्पन्दसत्ता है, इसलिए वह सदा चलनेवाले देवरूपवायु से भी नित्यस्पन्दमय है। नित्यस्थाणु से भी बढ़कर निष्क्रिय है और नित्य आकाश से भी बढ़कर लेपरहित है ॥७॥

यदि कोई कहे कि मन अथवा इन्द्रियाँ ही देहादि को कर्म में प्रवृत्त करती हैं, आत्मा नहीं करता, तो इस पर कहते हैं।

जैसे वायु पल्लवों में हलचल पैदा करता है वैसे ही यह आत्मा मन में क्षोभ पैदा करता है। जैसे सारथि घोड़ों को हाँकता है वैसे ही यह अपनी इन्द्रियों को तत्-तत् कार्यों में प्रवृत्त करता है ॥८॥ भोगों का भोग करनेवाले विभु आत्मा सम्राट् के समान अपना आत्मा में स्वस्थ होकर स्थित होता हुआ भी अतिदुर्दशाग्रस्त पुरुष के समान देहरूपी घर में सदा कर्मनिरत रहता है। इसीका सदा अन्वेषण करना चाहिये, इसीकी स्तुति करना चाहिये और इसीका ध्यान करना चाहिये। खोजे गये इसीसे पुरुष जरामरणरूपी संसार से पार होकर परमपद को प्राप्त होता है। सभीके शरीररूपी पद्मगर्भ में भ्रमररूप यह केवल ज्ञान से प्राप्त होने के कारण अत्यन्त सुलभ है। अत्यन्त आप्त बन्धु के समान केवल स्मरणमात्र से ही वश में हो जाता है ॥९-११॥ दूरदेशवर्ती मित्र आदि का जोर से चिल्लाकर पुकारने से और

नजदीक में स्थित मित्र का केवल पुकारनेमात्र से लाभ हो जाता है। किन्तु यह तो बिना जोर से पुकारे अपने शरीर से ही प्राप्त हो जाता है तथा केवल प्रणव के उच्चारण से थोड़ा स्मरण करने पर क्षणभर में सन्मुख हो जाता है ॥१२॥ जैसे सेवित होने पर सर्वसम्पत्तिशाली धनी को अभिमान या गर्व हो सकता है वैसे सेवन किये जा रहे सर्वसम्पत्तिशाली इसको तनिक भी मान या गर्व नहीं होता ॥१३॥

कैसे यह देह में विद्यमान रहता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

फूलों में सुगन्ध की तरह, तिलों में तेल की तरह और रसों में माधुर्य की तरह वह सब शरीरों में स्थित है ॥१४॥ जैसे चिरकाल से पहले न देखा गया और तत्काल आगे देखा गया पिता आदि बन्धु परिज्ञान में नहीं आता है वैसे ही सदा हृदय में विद्यमान भी यह चेतन अविचारवश ज्ञात नहीं होता ॥१५॥। जैसे प्रिय बन्धुजन के प्राप्त होने पर परम आनन्द होता है वैसे ही विचार के द्वारा इस परमेश्वर के ज्ञात होने पर परमानन्द होता है ॥१६॥ अतिशय आनन्द देनेवाले इस परमात्मरूप परम बन्धु के दर्शन होने पर वे दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे मरणादि विच्छेद नहीं होता। सब ओर से स्नेह आदि पाश टूट जाता हैं, काम आदि सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ जैसे दुष्ट चूहे घरों को छिन्न-भिन्न करते हैं वैसे मन को छिन्न-भिन्न नहीं करती ॥१७,१८॥

एकमात्र उसके विज्ञान से सर्वविज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं।

इस परमात्मा का दर्शन होने पर सारा जगत् दृष्ट होता है, इसके सुनने पर सब सुना जाता है, इसका स्पर्श होने पर सारे जगत् का स्पर्श हो जाता है तथा इसके रहने पर जगत् स्थित होता है यानी जगत् उसकी सत्ता के अधीन सत्तावाला है ॥१९॥

'एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।' इस श्रुति का अवलम्बन करके कहते हैं।

सोये हुए लोगों के बीच में यह जाग्रत् रहता है, अविवेकियों के ऊपर प्रहार करता है, दुःखियों की आपत्ति दूर करता है और जो महात्मा नहीं हैं, उनको मनोवांछित देता है। जगत् स्थिति में यह आत्मा ही जीव होकर लोकों में विचरण करता है, भोगों में विलास करता है और वस्त्र, आभूषण, समान, उत्सव आदि वस्तुओं में शोभित होता है ॥२०,२१॥

असाधारण जीवभेदभ्रमदशा में भी इसकी साधारण एकात्म्यस्फूर्ति की क्षति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

अतः जैसे मिरचों में तीक्ष्णता रहती है वैसे ही शान्तात्मा से आत्मा का ही अनुभव करता हुआ यह सब देहों में स्थित है ॥२२॥ चेतना (पूर्वकाल और उत्तरकाल का अनुसन्धान) और कलना (वर्तमान दर्शन) रूपी, बाह्य और आभ्यन्तर चेतनोपाधियों में स्थित यह जगत् पदार्थों के संभार में तो अधिष्ठान सत्ता सामान्य स्वभाव को प्राप्त हुआ है ॥२३॥ आकाश में यह शून्यता है, वायु में यह स्पन्दन है, तेज में यह प्रकाश है, जल में यह मधुर रस है, पृथिवी में काठिन्य है, अग्नि में यह उष्णता है, चन्द्रमा में यह शीतलता है और सब जगतों में यह सत्ता है ॥२४,२५॥ काजल में जैसे कालिमा है, हिमकण में जैसे शीतलता है, पुष्पों में जैसे सुगन्ध है वैसे ही देह में देहपति (आत्मा) प्रकाशित होता है ॥२६॥

इसकी मन, इन्द्रिय आदि से व्यावृत्त सर्वक्षेत्र साधारण प्रकाशता को ही दिखलाते हैं।

जैसे सत्ता सर्वगत है, जैसे काल सर्वगत है और जैसे राजा की प्रभुशक्ति सर्वदेश में व्याप्त होती है

वैसे ही नेत्र आदि के व्यापारों और मानसिक व्यापारों से युक्त जो बाहरी और भीतरी प्रकाश है, वह आत्मा का ही कार्य है यानी वह प्रकाशैकस्वभाव है। इसी प्रकार सूर्य-चन्द्रादि सब देवताओं का भी बोधक यह प्रसिद्ध महादेव मैं ही हूँ। मेरी दूसरी कल्पना ही नहीं है ॥२७,२८॥ जैसे अत्यन्त सूक्ष्म रेणु से आकाश का सम्बन्ध नहीं होता, जैसे जल से कमल दल का सम्बन्ध नहीं होता और जैसे पाषाण का भय, कम्प आदि से सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही मेरा अन्यों से सम्बन्ध नहीं है ॥२९॥ तुम्बी के ऊपर जलधाराओं के तुल्य देह में सुख-दुःख गिरें अथवा न गिरें उससे तुम्बी के आकाश के तुल्य हम लोगों की कौन क्षति है ? ॥३०॥ दीपक के अंगभूत तेल, बत्ती, बर्तन आदि का अतिक्रमण करके निकला हुआ दीप प्रकाश जैसे रस्सी से नहीं बाँधा जाता वैसे ही सब पदार्थों से अतीत मैं बद्ध नहीं होता हूँ। काम, भाव, अभाव और इन्द्रियों से हमारा क्या सम्बन्ध है ? । भला बतलाइये तो सही आकाश किससे बाँधा जाता है और मन किससे विनष्ट किया जाता है। भाव यह कि अमूर्त होने से जैसे आकाश का बाँधना सम्भव नहीं है, मन का ताड़न सम्भव नहीं है वैसे ही काम, भाव, अभाव और इन्द्रियों से हमारा कोई सम्बंध नहीं है ॥३१,३२॥ शरीर के सैकड़ों टुकड़े होने पर शरीरी के (आत्मा के) कौन खण्ड खण्ड होते हैं, घड़ा चाहे टुटे, फूटे या ध्वस्त हो जाय, पर घटाकाश की क्या क्षति हुई ? ॥३३॥ अदृश्य पिशाच के समान यह मिथ्या मन उदित हुआ है, ज्ञान से (मन से अतिरिक्त आत्मा के ज्ञान से) जड़ मन का विनाश होने पर हमारी क्या क्षति हुई ? पहले (अज्ञानावस्था में) जिसकी सुख-दुःखमयीवासना है, इस प्रकार का मेरा मन हुआ था, अब तो मेरी एकमात्र अपरिच्छिन्न सुख विश्रान्ति हो गई है ॥३४,३५॥ अन्य भोग करता है, अन्य ग्रहण करता है, अन्य की अनर्थगति होती है, यह देखता है इस भोक्ता आदि की एकता के कारण अध्यासरूप मूर्खता किस जादूगर की चक्की के समान घुमाने की चातुरी है ॥३६॥ प्रकृति भोग करती है, मन ग्रहण करता है, देह को क्लेश प्राप्त होता है, आत्मा प्रवृत्ति आदि से दुष्ट (दोषारोपित) होता है। विचार करने पर केवल आत्मा में कुछ भी मूर्खता नहीं है, इसलिए कोई क्षति नहीं है ॥३७॥ न मेरी भोग भोगने की अकांक्षा है और न भोगों के त्याग में मेरी वांछा है जो आता है वह आये और जो जाता है वो जाये ॥३८॥ सुखों की मुझे अपेक्षा नहीं है और दुःखों में मेरी उपेक्षा नहीं है। सुख-दुःख चाहे आये अथवा जाये मैं इनमें मौन हूँ॥३९॥ विविध वासनाएँ मेरे शरीर में चाहे अस्त को प्राप्त हों चाहे उदित हों, न इस वासनाओं में मैं हूँ और न ये मेरी कोई है ॥४०॥ अत्यन्त विनष्ट हुए विवेकरूप सर्वस्व को दूरकर इतने समय तक अज्ञानरूपी शत्रु ने मुझे क्लेश पहुँचाया, किन्तु इस समय उत्पन्न हुए सर्वांग सुन्दर श्रीविष्णुप्रसाद से परम तत्त्व का ज्ञान पाकर मैंने इसका त्याग कर दिया है ॥४१,४२॥ इस समय परम ज्ञानरूपी मन्त्र से इस अहंकाररूपी पिशाच को शरीररूपी वृक्ष के खोखले से मैंने निकाल दिया है ॥४३॥ अहंकाररूपी यक्ष से विहीन यह मेरा शरीररूपी महान वृक्ष अत्यन्त पवित्रता को प्राप्त होकर प्रफुल्लित वृक्ष के समान सुशोभित हो रहा है ॥४४॥ दुराशारूपी दोष का नाश होने पर विवेकरूपी धन समृद्धि को प्राप्त कर मेरी मोहरूपी दरिद्रता नष्ट हो चुकी है, अतएव मैं परमेश्वररूप से स्थित हूँ॥४५॥ मैंने ज्ञातव्य सब कुछ जान लिया है तथा द्रष्टव्य सब कुछ देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो चुकी है, जिससे कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता है। मैं ऊँची और विस्तृत पारमार्थिक भूमिका को प्राप्त हो चुका हूँ, जिसमें अनर्थों का नाम-निशान नहीं है, विषरूपी

साँप नहीं रह गये हैं, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है, मोहरूप कुहरा नष्ट हो गया है, जिसकी चारों दिशाएँ रजो गुण (धूलि) से रहित है और जिसमें शीतल शान्तिरूपी वृक्ष है। विष्णु भगवान् की स्तुति से, प्रणाम से, प्रार्थना से, शम और नियम से मैं भगवान् आत्मा को पा चुका हूँ और मैंने इसे भलीभाँति जान लिया है। भगवान् विष्णु के अनुग्रह से विनाशी ब्रह्मरूप भगवान् आत्मा, जो अहंकार से शून्य है, चिरकाल से मेरे स्मृति पटल पर आरूढ़ हो गये हैं। वासनारूपी घोर वनों में, जहाँ पर इन्द्रियरूपी साँपों के अनेक बिल हैं, मरणरूपी बड़े-बड़े गड्ढे हैं, तृष्णारूपी करंजकुंज (करंजों की झाड़ियाँ) हैं, जो काम कोलाहल से पूर्ण हैं, जिनमें दुःखरूपी वनाग्नियाँ धधकती हैं तथा दुःखदायी वनाग्नि के सदृश क्रूर पर धन-प्राण हरनेवाले (चोर) हैं, अहंकार रूपी शत्रु ने नीचे गिरने और ऊपर चढ़ने के तुल्य लोकों की विपत्ति और सम्पत्तियों से, अधोगति और उत्तमगतियों से, आविर्भाव और तिरोभावोंसे एवं आशा-पाशों की विविध चेष्टाओं द्वारा मुझे ऐसे ही सर्वस्व हरण द्वारा पीड़ित किया, जैसे कि रात्रि के समय अल्प बलवाले पुरुष, को जंगल में पिशाच पीड़ित करता है। किन्तु इस समय मैंने प्रसन्न हुए विष्णु भगवान के बहाने अपनी ही क्रिया-शक्ति से स्वयं विवेक को उद्दीप्त कर लिया है। उक्त विवेक से परमेश्वर आत्मा के प्रबुद्ध होने पर मैं उस अहंकाररूपी पिशाच को ऐसे ही नहीं देख रहा हूँ जैसे कि सूर्य के उदित होने पर अन्धकार नहीं दिखाई देता है। जैसे बुझे हुए दीपक की गति ज्ञात नहीं होती यानी वह कहाँ चला जाता है यह मालूम नहीं होता वैसे ही मनरूपी बिल में निवास करनेवाले उस अहंकररूपी पिशाच की गति को परमेश्वररूप मैं नहीं जानता हूँ। जैसे सूर्योदय होने पर चोर भागने की तैयारी करता है वैसे ही ईश्वररूपी आपका साक्षात्कार होते ही मेरा अहंकार भागने के लिए तत्पर हो गया। पिशाच की नाईं भ्रान्तिवश मिथ्या उदित हुए अहंकार के चले जाने पर मैं जिससे अजगर भाग गया हो उस बगीचे के तुल्य स्वस्थ होकर बैठा हूँ। इस जगत् में ज्ञानवान् मैं अहंकाररूपी चोर से छुटकारा पा चुका हूँ और चिरकाल से निवृत्त हुआ हूँ यों सोचकर मैं विश्रान्ति को प्राप्त हो रहा हूँ और निर्वाण को प्राप्त हो रहा हूँ। वर्षा ऋतु की जलराशि से सींचे गये अतएव वनाग्नि की लपटों से रहित पवन के समान मैं हृदय में शीतलता को प्राप्त हो गया हूँ। मेरी आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है। आत्मतत्त्व के विचार से अहंकार के परिमार्जित होने पर क्या मोह है, क्या दुःख है, क्या तुच्छ आशाएँ हैं और क्या मानसिक चिन्ताएँ हैं यानी ये कुछ भी नहीं रहते हैं। जैसे चित्रनिर्माण की चेष्टा दीवार में ही होती है आकाश में नहीं होती वैसे ही अहंकार के रहते ही नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि भ्रम होते हैं। जैसे वस्त्र के मलिन होने पर उसमें कुंकुम का रंग शोभित नहीं होता है वैसे ही चित्त में अहंकारावेशरूप पित्तज उन्माद के रहने पर ज्ञान चमत्कार शोभित नहीं होता है। अहंकारूपी मेघ से शून्य, तृष्णारूपी मूसलाधारवृष्टि से रहित चित्तरूपी शरत्कालीन आकाश में आत्मरूपी चन्द्रमा के प्रकाश से शोभित होनेवाली निर्मलता शोभित होती है। हे आत्मन्, अहंकाररूपी कीचड़ से हीन, अत्यन्त प्रसन्न आनन्द के सरोवर प्रत्यगात्मरूप तुमको (ब्रह्म) बार बार नमस्कार है ॥४६-६६॥ हे आत्मन्, जिसके इन्द्रियरूपी भयंकर मगर शान्त हो गये हैं, जिसका चित्तरूपी बड़वानल नष्ट हो गया ऐसे आनन्द के सागर प्रत्यगात्मरूप तुमको (ब्रह्म) बारबार नमस्कार है। जिससे अहंकाररूप मेघ चला गया है और आशारूपी वनाग्नि जिसमें शान्त हो चुकी ऐसे निश्चल आनन्द पर्वतरूप प्रत्यगात्म ब्रह्म को पुनः पुनः नमस्कार है ॥६७,६८॥ हे आत्मन्,

जिसमें आनन्दरूपी कमल खिले हैं और चिन्तारूपी लहरें शान्त हो चुकी हैं ऐसे सुन्दर मानसरोवररूप प्रत्यगात्मभूत तुमको पुनः पुनः नमस्कार है। बुद्धि और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जिसके पंख है, जो हृदयरूपी कमल के मध्य में निवास करता है और जो मानसरोवर में हंस के समान सबके मन का हंसरूप है ऐसे आत्मा को बारबार नमस्कार है ॥६९,७०॥

हे पूर्णात्मन्– 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुति में कही गई सत्रह कलाओं से अथवा 'षोडशकलः सोम्यपुरुषः' इस श्रुति में दिखलाई गई सोहल कलाओं से जिसने अपने रूप की कल्पना है, वस्तुतः जो निरवयव है, सदा उदित अमृतरूपी चन्द्ररूप (✍) आपको नमस्कार है। सदा उदित, सन्ताप न पहुँचानेवाले, हृदय के अन्धकार (अज्ञान) का नाश करनेवाले, सर्वव्यापी होने पर भी अदृश्य, चैतन्यरूपी सूर्य को पुनः पुनः नमस्कार है ॥७१,७२॥ तेलरहित, परम प्रेम को उद्दीप्त करनेवाले, वृत्ति द्वारा निष्क्रमणरूप बत्ती से युक्त सब वस्तुओं के स्वभाव के आधाररूप बुद्धिप्रकाशक चैतन्यरूप दीपक को बार–बार नमस्कार है ॥७३॥

अब मेरा पौरुष सफल है, यों उसका अभिनन्दन करते हैं।

जैसे लोहे के घन से तपा हुआ लोहा टूट जाता है वैसे ही शम, दम आदि से युक्त मन से कामाग्नि से सन्तप्त मन को मैंने जबरदस्ती नष्ट कर दिया है। प्रत्यगात्मोन्मुख चक्षु आदि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थोन्मुख इन्द्रियों को नष्ट कर, प्रत्यगात्मोन्मुख मन से बाह्य पदार्थोन्मुख मन का उच्छेद कर और प्रत्यगात्मोन्मुख अहंकार से बाह्यपदार्थोन्मुख अहंकार उच्छेदकर अवशिष्ट चिन्मात्र मैं सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थित हूँ। श्रद्धा से अश्रद्धा का उच्छेद कर, अतृष्णा से तृष्णा का त्याग कर, विचारवती बुद्धि से अविचार, सन्देहादि रूप अप्रज्ञा का विनाशकर ज्ञातृत्वाभिमानशून्य ज्ञानमात्रस्वभाव ही तुम हो, ऐसे प्रत्यक्चैतन्यरूप तुमको नमस्कार है। मन से उच्छिन्न मन के निरहंकार होने पर तथा ब्रह्महंभाव से देहादि में अहंभाव के विनष्ट होने पर केवल स्वच्छ चिन्मात्रस्वभाव मैं रहता हूँ। भावना में हेतुभूत बुद्धि से रहित, अहंकाररहित, मनरहित, इच्छा हेतुभूत चित्त से शून्य मेरा शरीर एकमात्र प्राणनक्रिया से शुद्धस्वरूपवाले जीवन्मुक्त आत्मा में ही स्थित है। लीला से ही भोग–ऐश्वर्यदान द्वारा अपने अनन्त भक्तों पर अनुग्रह करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु आदि से भी उत्कृष्ट निरतिशयानन्द विश्रान्ति, जो परम शान्ति से युक्त है, मुझे प्राप्त हो गई। मेरा मोहरूपी वेताल शान्त हो चुका है, अहंकाररूपी राक्षस मुझको छोड़कर चला गया है और कुत्सित आशारूपी पिशाचिनी से मैं छुटकारा पा चुका हूँ, अतएव मैं सन्तापरहित हो गया हूँ। तृष्णारूपी रस्सी को तोड़कर दुरहंकाररूपी चिड़िया मेरे शरीररूपी पिंजर से उड़कर न जाने कहाँ चली गई है। निबिड़ अज्ञानरूपी घोंसले को ज्ञानाभ्यासवश चूर–चूर करके उठा देने पर अहंभावरूपी पक्षी मेरे शरीररूपी वृक्ष से उड़कर न मालूम कहाँ चला गया है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि दुराशाओं से और लम्बे अरसे से दुष्ट देह आदि में आत्मतत्त्व के अभिमान से मलिन और भयरूपीसर्पों के लिए हितैषी बहुत–सी मेरी दुर्वासानाएँ समाधि से उच्छिन्न हो गई हैं ॥७४–८३॥

अब नींद टूटने पर स्वप्न की दुर्दशा की तरह अपना पहले की अहंकार दशा का स्मरणकर

✍ चंद्रमा के पक्ष में प्रसिद्ध सोलह कलाओं से जिसका रूप बना हुआ है, कला से अतिरिक्त देवतारूप और अमृतस्वरूप, ऐसा अर्थ करना चाहिये।

आश्चर्य करते हैं।

इतने समय तक मैं कौन हुआ ? इससे यह मैं मिथ्या ही दृढ़ अहंकार को प्राप्त हुआ, ऐसा आश्चर्य है। आज मैं अनुभव में आ रहे निरतिशयानन्द स्वभाववाला हो गया हूँ। मेरी साक्षात्कारवृत्ति अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार हो गई है, क्योंकि अहंकाररूपी काले बादल ने मेरा सर्वथा त्याग कर दिया है। मैंने भगवान् आत्मा का वाक्य प्रमाण से दर्शन कर लिया है और उनका मनन से ज्ञान भी कर लिया है। समाधि में मन से श्लेषपूर्वक उन्हें पा लिया है और समाधि में उनका अनुभव कर लिया है। अपने शरीर के समान सदा अनुभूति में उनका नियोग भी कर लिया है। कहा भी है : देहात्मज्ञानवज्जानं देहात्मज्ञानबाधकम्। आत्मन्येव भवेद् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥ (देहात्मज्ञान के समान जिसे देहात्मज्ञान का बाधक ज्ञान हो जाता है, वह मुक्ति न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है) ॥८४–८६॥

अब दोष और विक्षेपरहित मेरा मन शान्त हो गया है, ऐसा कहते हैं।

विषयरहित, अतएव मनन और एषणारहित, अहंकारभ्रमों से सर्वथा मुक्त अतएव निश्चेष्ट, रागों के सम्पर्क से रहित और भोगोत्कण्ठा से शून्य मेरा मन ईंधनरहित अग्नि के समान शान्ति को प्राप्त हो गया है ॥८७॥

मन की शान्ति से ही सब आपत्तियों की निवृत्ति और निरतिशय आनन्दरूप आत्मा की प्राप्ति का निर्देश करते हुए उपसंहार करते हैं।

विविध योनियों में जन्मपरम्पराओं और काम, लोभ, मोहादि दोषों को देनेवाली, चिरकाल तक एकमात्र दुःखरूप, क्षण–प्रतिक्षण में विचित्र दुःखरूप, असह्य, दुस्तर बड़ी–बड़ी आपत्तियाँ नष्ट हो गई है और चैतन्यघन अद्वितीय पूर्णानन्द आत्मा प्राप्त हो गया है, कारण कि प्रत्यगात्मा में अज्ञानजाड्य ज्ञान से बाधित हो चुका है ॥८८॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

दुर्लभ आत्मा को प्राप्तकर बारबार प्रणाम कर रहे प्रह्लाद का आत्मा की स्तुति, अभिनन्दन और जैसे प्रिया प्रिय के साथ एकान्त में रमण करती है वैसे ही आत्मा के साथ एकान्त में रमण करना।

प्रह्लाद ने कहा : मानुष आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त सब सुखोत्कर्ष के स्थानों से भी बढ़कर आनन्दरूप प्रत्यगात्मा चिरकाल से मेरे स्मृतिपट पर आरूढ़ हुआ है। हे भगवान्, तुम भाग्य से मुझे प्राप्त हुए हो। अपरिच्छिन्न स्वभाववाले तुमको नमस्कार है। दर्शन कर प्रणाम करके चिरकाल तक समाधि में क्षीर–नीर की तरह सम्मिलित रूप से मेरे द्वारा आपका आलिंगन किया जाता है। हे भगवान्, तीनों भुवनों में तुम्हारे सिवा मेरा कौन परम प्रिय होगा ? जब तक तुम मिलते नहीं, तुम्हारे दर्शन नहीं होते तब तक मृत्यु होकर तुम अभक्तों का नाश करते हो और भक्तों की रक्षा करते हो, उपासना आदिकर्मों से आराधित होकर वरदान देते हो, स्तुतिकर्ता आदि के रूप से स्तुति करते हो, गमनकर्ता के रूप से चलते हो और सर्वरूप से व्यवहार करते हो। मैंने तो यह नित्य अपरोक्ष स्वभाव आत्मा को पा लिया है और देख लिया है। अब मेरे प्रति क्या करते हो अथवा कहाँ जाते हो ? *भाव यह*

कि तुम इस समय पहले की नाईं अन्यत्र नहीं जा सकते और कुछ कर नहीं सकते ॥१–३॥

हे विश्वजनीन, आपने अपनी सत्ता से सकल विश्व को भर रक्खा है, अतः नित्य सब जगह आप दिखाई देते हैं। अब इस समय आप कहाँ भागते हो ? हम दोनों का बहुत से जन्मों से व्यवहित अज्ञान व्यवधायक था। आज उसका नाश होने से अत्यन्त अभेदरूप समीपता पैदा हो गई है। हे बान्धव, बड़े भाग्य से मैं आपको देख पाया हूँ। आप कृतकत्य हैं, कर्ता हैं, सबका भरणपोषण करनेवाले हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। आप संसाररूपी पत्ते के वृन्तरूप, नित्य और निर्मल हैं, आपको नमस्कार है। हाथ में चक्र और कमल धारण करनेवाले (विष्णुरूप) आपको नमस्कार है। अर्धचन्द्र धारण करनेवाले शिवरूप आपको नमस्कार है। देवताओं के अधिपति (इन्द्ररूप) आपको नमस्कार है। कमलयोनि (ब्रह्मारूप) आपको नमस्कार है ॥४–७॥ व्यवहार दृष्टि से हम दोनों का लहर और लहर के जल के समान जो यह भेद है, वह व्यवहारदृष्टि या भेद असत्य कल्पना ही है। प्रवाह से अनादि, भाव और अभावों से विकसित होनेवाली, अनन्त वस्तुओं की विचित्रता से पूर्ण स्वरूपवाली अनन्त कल्पना से आप ही विस्तार को प्राप्त हुए हैं। पहले स्रष्टव्य (सृष्टि करने योग्य) पदार्थों का दर्शन करनेवाले आपको नमस्कार है तदनन्तर स्रष्टव्य पदार्थों की सृष्टि करनेवाले आपको नमस्कार है और सृष्टि करके अनन्तरूपों से विकास को प्राप्त होनेवाले आपको नमस्कार है अतएव सर्वस्वभाव और अधिष्ठानरूप से सर्वव्यापी आपको नमस्कार है ॥८–१०॥

इतने समय तक मेरे स्वरूप से आप ही मेरे अभिप्रायानुकूल चलने से श्रान्त हो गये हैं, इस समय आपने ही अपने को विश्राम के लिए प्राप्त कर लिया है, ऐसा कहते हैं।

मद्भाव को (जीवभाव को) प्राप्त हुए त्वत्स्वरूप मैंने, जो अपने कामादिदोषों, के अनुसार उपदिष्ट असन्मार्ग में प्रवृत्त होने के कारण नष्ट हुआ अतएव तिरोहित आत्मभाववाला तथा दीर्घ दुःख का भाजन हुआ, प्रत्येक जन्म में चिरकाल तक ऊपर, नीचे और मध्य लोको में बहुत से संसारभ्रम देखे तथा उनमें विवेक के अनुकूल दृष्टान्त दृष्टियाँ देखी। उस बहिर्लोक के दर्शन से आपने अपने को प्राप्त नहीं किया। तीनों लोको के दर्शन से तनिक भी पुरुषार्थरूप प्राप्त नहीं हुआ। यह सारा जगत् मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जलमात्र है। हे देव, जिसकी प्राप्ति होने पर पुरुषार्थेच्छा पूर्ण होती है, ऐसी वस्तु आपके सिवा इस जगत् में दूसरी नहीं है ॥११–१३॥

हे देव, आज यह तुम मुझे मिल गये हो, मैंने तुम्हें देख लिया है और मुझे तुम्हारा स्वरूप परिज्ञात हो गया है। मुझे तुम्हारी प्राप्ति हो गई है, तुमको मैंने ग्रहण कर लिया है, तुम मोहशून्य हो गये हो, तुमको नमस्कार है ॥१४॥

कैसे मैं देखा गया, ऐसा यदि कहो, तो चाक्षुष आदि सब वृत्तियों के प्रकाशन रूप से 'प्रतिबोधविदित् मतम्' (ब्रह्म प्रत्येक बोध में ज्ञात होता है) इस श्रुति में प्रदर्शित उपाय से मैंने तुम्हें देखा, ऐसा कहते हैं।

हे देव, अन्तःकरण के चक्षु द्वारा घटादिदेश निर्गमन में घटावच्छिन्न चैतन्यरूप जो नेत्र की पुतली कि किरणों से ओतप्रोत शरीर होकर स्थित है, वह यहाँ पर दर्शन रूप से कैसे नहीं दिखाई देता है ? जो त्वचा और उष्णत्व आदि स्पर्श को स्पर्शवृत्ति से व्याप्त करता हुआ जैसे तिल के अन्तर्गत तेल तिल से मिले हुए पुष्पों की सुगन्ध ग्रहण करता है वैसे ही शीत आदि स्पर्श को व्याप्त करके प्रकाशित करता है,

वह कैसे अनुभूत नहीं होता ? जो शब्द सुनने से शब्दशक्ति को (गायन, काव्य आदि के गुण चमत्कार को) प्रकाशित करता हुआ शरीर में रोमांच पैदा करता है, वह दूरवर्ती कैसे हो सकता है ? जिह्वारूपी पल्लव में लगी हुई मीठी, खट्टी आदि वस्तुएँ स्वादरसिक प्रेम के विषयभूत जिसे पहले ही स्वादित हो जाती है, वह किसको सुखरूप से स्फुरित नहीं होता है ? हाथ के समान वस्तु के ग्रहण में कारणभूत घ्राणेन्द्रिय से गले में डाली हुई माला के फूलों की सुगन्ध ग्रहण कर जो माला से अलंकृत अपने शरीर को प्रसन्नता से देखता है, वह किसको हाथ में स्थित की तरह स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं है ? ॥१५–१९॥ वेद–वेदांत के सिद्धान्त, तर्क, पुराण के गीत आदि से जिनका वर्णन हुआ वह विज्ञात आत्मा कैसे विस्मृति को प्राप्त होता है ? स्वच्छ परब्रह्म परमात्मरूप आपका साक्षात्कार होने पर वे ही सुन्दर देह के भोग आज मुझे यह पहले के समान अच्छे नहीं लगते ॥२०,२१॥

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इस श्रुति के अनुसार भी कहते हैं।

निर्मल दीपरूप तुमसे सूर्य प्रकाशता को प्राप्त हुआ है, शीतल हिमरूप तुमसे चन्द्रमा शीतलता को प्राप्त हुआ है, ये पर्वत तुम्हारे द्वारा ही गुरु (भारयुक्त) किये गये हैं, ये वायु आदि आकाशचारी तुमसे धारण किया गया है, यह पृथिवी तुम्हारे द्वारा ही अचल है और यह आकाश तुम्हारे द्वारा ही अवकाश देनेवाला है। बड़े भाग्य की बात है तुम मत्स्वरूपता को प्राप्त हो गये हो और भाग्य से मैं त्वत्स्वरूपता को प्राप्त हो गया हूँ। हे देव, मैं तुम हूँ और तुम मैं हो। बड़े भाग्य की बात है हम लोगों का भेद नहीं रहा ॥२२–२४॥

अब अखण्डार्थ में प्रमाणरूप से सम्पन्न अहं और त्वं शब्दों को नमस्कार करते हैं।

लक्ष्य महात्मा के बाधन में पर्यायरूप, कारणोपाधि विशिष्ट वाच्यार्थ तुम्हारे अथवा कार्योपाधिविशिष्टवाच्यार्थ मेरे शाखा के समान एकदेश भूतउपाधि द्वारा भेदकल्पना से संयुक्त त्वम और अहं शब्दों को पुनः पुनः नमस्कार है। अनन्त मुझ प्रत्यगात्मरूप को नमस्कार है, अत्यन्त सम स्वरूप को नमस्कार है, अहंकार रहित तथा रूपरहित मुझ प्रत्यगात्मा को नमस्कार है ॥२५,२६॥ सम, निर्मल निराकार साक्षिभूत, दिशा काल आदि से अनवच्छिन्न स्वात्मरूप मुझ प्रत्यक्स्वभाव में ही आप रहते हैं कभी भी पराक्स्वभाव में नहीं रहते ॥२७॥

यदि कोई प्रश्न करे कि प्रत्यक् स्वभाव में ही रहते हैं, यह कैसे जाना ? तो इस पर कहते हैं।

आपसे प्रेरित मन क्षोभ को प्राप्त होता है, आपकी प्रेरणा से चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ स्फुरित होती है, प्राण और अपान में प्रवाहित होनेवाली प्रचुर शक्ति उल्लास को प्राप्त होती है। 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।' इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित मन आदि की चुम्बक के समान प्रेरणा से हमें यह ज्ञात हुआ, यह अर्थ है ॥२८॥

आशारूपी रस्सी से खींचे गये, चर्म, मांस और हड्डियों से व्याप्त मनरूपी सारथि से युक्त शरीररूपी यन्त्र आपसे प्रेरित होकर चलते हैं ॥२९॥

तो क्या आप प्राण आदिशक्ति हैं अथवा देह में स्थित अहंकार आदि हैं, ऐसी आशंका होने पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

यह न मैं चित् देह ही हूँ, न तो मैं कोई प्राण आदि शक्ति हूँ और न देह में स्थित अहंकार आदि ही हूँ।

प्रश्न : तब आपको देह से क्या मतलब है ?

उत्तर : कुछ भी नहीं। देह अपनी इच्छानुसार चाहे गिरे चाहे उदित हो, उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥३०॥ मैं चिरकाल से 'मैं' हुआ हूँ, चिरकाल से मुझे मेरा स्वरूप लाभ हुआ है। जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि में शान्ति होती है वैसे ही चिरकाल से भ्रम शान्ति को प्राप्त होता है। चिरकाल से संसार में भ्रमणशील होने के कारण इतने काल तक दीर्घ संसार मार्ग में थका हुआ मैं इस समय जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि श्रान्त होकर विश्राम को प्राप्त होती है वैसे ही विश्राम को प्राप्त हुआ हूँ। सबसे परे सर्वरूप त्वत्स्वरूप मुझको नमस्कार है। जो गुरु अथवा वेदान्त तुमको मद्रूप कहते हैं, उनको भी नमस्कार है। जिससे अनन्त भोग प्रकाश्य हैं, फिर भी जो प्रकाश्यों की दोष वृत्तियों से स्पृष्ट नहीं है और जिसमें अभिनिवेश नहीं है (जो उदासीन है) ऐसी परमात्मा की साक्षिता सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है ॥३१-३४॥ हे आत्मन्, फूलों में सुगन्ध की तरह, धौंकनी में वायु की तरह तथा तिलों में तेल की तरह इस शरीर में सब जगह आप ही सार रूप हैं ॥३५॥

सर्वकर्ता भी तुम्हीं हो, ऐसा कहते हैं।

निरहंकाररूप होते हुए आप दुष्टों का नाश करते हैं, सज्जनों की रक्षा करते हैं, भक्तों को वरदान देते हैं, गर्जते हैं और व्यवहार करते हैं, यह आपकी मायावत्ता बड़ी विचित्र है। सृष्टि के समय में चिदात्मरूप आपसे बाहर-भीतर पदार्थों के प्रकाश द्वारा प्रदीप्त हुआ मैं जीवरूप से प्रवेश कर नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् को रचता हुआ तुम्हारे ही स्वरूप से वशीभूत वस्तुतः रच करके पालता हूँ। प्रलयकाल में उपरत-व्यापार होकर मैं फिर जगत् का उपसंहार करता हुआ तुम्हारे स्वरूप से ही उसका विनाश करता हूँ। जैसे वट के बीज के अन्दर वटता पहले थी, है और होगी वैसे ही परमाणुरूप के अन्दर यह संसार मण्डल था, है और होगा जैसे आकाश में बादल घोड़े, हाथी और रथों के आकार में दिखाई देता है वैसे ही हे देव, आप भी सैकड़ों पदार्थों के रूप से दिखाई देते हैं ॥३६-३९॥

अब स्वयं मुक्त होकर अपने से अभिन्न बद्धात्मा के मोक्षोपाय का उपदेश देते हैं।

बहुत प्रकार के विकारपूर्ण स्वभाववाले पदार्थों के बाध के लिए और निरतिशयानन्दस्वरूप के आविर्भाव के लिए असंगात्मदर्शन द्वारा भाव और अभावों से रहित होकर असंगतात्मभाव से ही सदा विमुक्त होओ, फिर बन्ध को प्राप्त मत होओ ॥४०॥

उसके उपाय भूत पूर्व पीठिका का उपदेश देते हैं।

मान, महाकोप, कलुषता और कुटिलता का त्याग कीजिये। महापुरुष प्राकृतिक गुण संकट में नहीं गिरते। मैं कौन हूँ, क्या हो गया, ऐसा विचार कर मोतियों के कणों के समान सफेद हँसी हँसते हुए अपनी पूर्वजन्मों की दीर्घ दुरात्मा दशा का बार-बार स्मरण करके उसका त्याग कर दीजिये। वे कार्य बीत चुके, वे बुरे दिन चले गये, जिनमें आप चिंतारूप अग्नि की अनेक ज्वाला से आक्रान्त हुए थे ॥४१-४३॥ आप देहरूपी नगर में विफल मनोरथवाले राजा के समान स्थित हैं। जैसे आकाश मुष्टियों से नहीं पकड़ा जाता वैसे ही आप दुःखों से गृहीत नहीं होते ॥४४॥ आप जिन्होंने मनरूपी हाथी पर विजय प्राप्त कर ली हैं, आज इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ों को जीतकर भोगरूपी शत्रु को चारों ओर से चूर्ण-विचूर्ण कर साम्राज्य सिंहासन पर स्थित है। अपार आकाश के पथिक आप जिनसे निरन्तर जगत् का उदय और अस्त होता

है, नित्य बाहर और भीतर प्रकाश करनेवाले सूर्य हैं। सूर्य भी अपार आकाश के पथिक हैं और नित्य उनका उदय और अस्त होता है तथा वह प्रकाशक भी हैं ॥४५,४६॥

यदि ऐसा है, तो सर्वत्र मैं आपको क्यों नहीं देखता हूँ, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे विभो, आप सर्वदा, सुप्त हो, जैसे कामिनी द्वारा भोगालोकन लीला के लिए कामुक प्रबोधित होता है वैसे ही भोक्ता का अदृष्ट शक्ति से भोगालोकन क्रीड़ा के लिए केवल उतने प्रबोध को आप प्राप्त होते ही पूर्णात्मरूप से प्रबोध को प्राप्त नहीं होते। इन्द्रियवृत्तिरूपी मधुमक्खियों द्वारा दूर से अतीत तथा नेत्ररूपी झरोखे पर बैठी हुई चित्–शक्ति से स्वीकृत उपाधिरूप शहद आपके द्वारा पिया जाता है ॥४७,४८॥

योगियों के उत्क्रमण के समय सुषुम्नादि मार्ग का प्रकाश भी तुम्हारे आधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

प्राण और अपान के निरोध में तत्पर योगियों द्वारा ब्रह्म–प्राप्ति का स्थान होने के कारण ब्रह्मपुररूप देह में प्रतिक्षण अभ्यस्त हृदय में एकत्र प्राणों को निकालकर परकायप्रवेश, अन्य स्थान में संचार आदि के अनुकूल विविध नाड़ी मार्गों में गमनागमन द्वारा (संचार द्वारा) अन्य ब्रह्माण्ड में जाने के लिए अथवा अर्चिरादि मार्गों से सूर्यमण्डल में जाने के लिए ब्रह्मरन्ध्र के सम्बन्धी सुषुम्ना आदि मार्ग के पूर्व स्वयं ज्योति आपके द्वारा देखे जाते हैं।

हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतनेनैष आत्मा निष्क्रामति।

इस श्रुति के अनुसार यद्यपि सब लोगों के मरण में नाड़ी के द्वार का प्रकार आत्मज्योति के अधीन ही है तथापि अयोगियों में पीड़ा परवशता आदि द्वारा उसकी अवधानशक्ति न रहने के कारण और योगियों के मरण समय में या अभ्यासकाल में सावधान रहने के कारण वे ही कहे गये हैं ॥४९॥

आप देहरूपी फूलमें सुगन्ध हैं, देहरूपी चन्द्र में परमार्थ सत्यभूत अमृत हैं, देहरूपी शाखा में रागादिरूपी पल्लवों की उत्पत्ति में निमित्तभूत रस हैं और देहरूपी हिम में शीतलता हैं। सब प्राणियों के शरीर में गर्व का निमित्तभूत जो स्नेह है, वह शरीररूप दूध के घी के सदृश सारभूत आप ही है। जैसे काष्ठ में अग्नि स्थित रहती है वैसे ही देह के अन्दर आप स्थित है। आप ही सर्वोत्तम स्वाद (अति मधु अमृतस्वरूप) हैं। सूर्यादि ज्योतियों के भी प्रकाश निमित्त आप ही हैं। पदार्थों के ज्ञाता तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के अवभासक आप ही हैं ॥५०–५२॥

आप सब वायुओं के स्पन्दरूप हैं, मन रूपी हाथी के मद के तुल्य भ्रान्ति के निमित्त हैं, ज्ञानरूपी अग्निशिखा के प्रकाश निमित्त और उष्णता निमित्त हैं। यह आत्मीय वाणी भी आपके उपसंहार से ही मरण, मूर्च्छा और स्वप्न में दीपक के समान लीन हो जाती है फिर देहान्तर में कहीं से उदित हो जाती हैं। जैसे सुवर्ण में कड़ा, बाजूबन्द आदि आभूषण आविर्भूत होते हैं वैसे ही संसार में स्थित पदार्थ राशियाँ आप में ही उदित होती हैं। आप ही क्रीड़ा के लिए स्वयं अपने से अपनी आप, यह, तुम, मैं आदि शब्दों से स्तुति करते हैं और कहते हैं यानी आप ही अपने में त्वम्, अहं आदि शब्दों से व्यवहार करते हैं आपसे अन्य कोई नहीं है। जैसे मन्द वायु से हिलाया जा रहा मेघ हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि आकारों से दिखाई देता है वैसे ही आप विविध जीवों के आकारों से दिखाई देते हैं। जैसे अग्नियों में ज्वाला हाथी और घोड़े के आकार से शोभित होती है वैसे ही पृथिवी में विविध सृष्टियों में आप अपने

से अभिन्न जीवों के आकार में दिखाई देते हैं। आप ब्रह्माण्डरूपी मोतियों के अविच्छिन्न दीर्घ तन्तु और भूतरूप धान्यों के चैतन्यरूपी रसायन से सींचे हुए क्षेत्र हैं। अनभिव्यक्त अतएव असत्यप्राय विद्यारूप बीज के अन्दर स्थित स्रष्टव्य पदार्थों का वह प्रसिद्धस्वरूप आप से सृष्टि द्वारा ऐसे प्रकाशित किया जाता है जैसे कि पकने से मांसों की आस्वादन के योग्य स्वादुता प्राप्त होती है। जैसे कि अन्धे के लिए वनिता की विद्यमान रूपलावण्य सत्ता भी विद्यमान नहीं रहती वैसे ही आपके स्थित न होने पर विद्यमान भी वस्तु शोभा स्थित नहीं रहती ॥५३-६१॥ जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित अपने मुख का सौन्दर्य कान्ताओं के चुम्बन आदि अर्थक्रिया प्रयुक्त तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता, वैसे ही वस्तुभूत आपसे रहित विद्यमान भी पदार्थ अर्थ क्रिया के लिए समर्थ नहीं होता। जैसे अन्धेरी रात में सूर्य के बिना वृक्ष, पर्वत आदि की ऊँचाई विद्यमान होती हुई भी भान न होने के कारण असत्प्राय रहती है वैसे ही आपके बिना काष्ठ लोष्ठ के तुल्य यह शरीर पृथिवी पर पड़ा रहता है। जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर अन्धकार नष्ट हो जाता है अथवा जैसे सूर्य के तेज को पाकर हिम नष्ट हो जाता है वैसे ही आपको प्राप्त कर यह सुख-दुःख क्रम नष्ट हो जाता है। जैसे प्रातःकाल में सूर्य के आलोकन से शुक्ल आदि वर्ण स्थिति को प्राप्त होते हैं वैसे ही आपके आलोकन से ही ये सुख आदि स्थिति को प्राप्त होते हैं। चूँकि आपके आलोकन से ही उत्पन्न हुए वे सुख आदि चरमसाक्षात्कार से दीप्त हुए आपके सम्बन्ध समय में ही नष्ट हो जाते हैं, परन्तु आपके द्वारा देखे गये ही वे दूर होते हैं अन्य उपाय से नहीं। दीपक के अभाव में स्फुटता को प्राप्त हुई अन्धकार की अन्धकारता दीपक के प्रकाश के सम्बन्ध के समय अपने धर्मी से वियुक्त होकर नष्ट हो जाती है। उसका धर्म तो सन्मात्रस्वभाव है, जो नष्ट नहीं होता ॥६२-६७॥

दृष्टान्त में कथित की दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं।

हे देव, इस प्रकार सुख-दुःख निर्दोष आपको देखकर ही उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त रीति से उत्पन्न होते ही बीजभाव के साथ नष्ट हो जाते हैं। जैसे निमेष के लाखवें हिस्से के रूप से प्रसिद्ध अतिसूक्ष्म काल-कला स्वतः ही नष्ट हो जाती है वैसे ही सुख-दुःख भी विषयों के हटने के कारण स्वतः भंगुर होने से इस नित्य निरतिशय आनन्द प्रकाशरूप आत्मा में क्षणभर भी रह नहीं सकते। इसी प्रकार अतिसूक्ष्म काल होने के कारण न दिखाई देनेवाली और गन्धर्वनगरी के समान मिथ्याभूत भी सुख-दुःखादि की भावना अज्ञात आपके प्रसाद से सत्य-सी प्रतीत होती है, किन्तु आपका साक्षात्कार होने पर विलीन हो जाती है। अज्ञात आपके प्रकाशरूप दुष्ट चक्षु से उत्पन्न हुई और सुज्ञात आपके प्रकाशरूप चक्षु से क्षीण हुई यह सुख-दुःखादि की भावना मर कर स्वप्न में फिर उत्पन्न हुई-सी स्वप्न में उत्पन्न होकर जाग्रत में फिर मरी हुई-सी किसके द्वारा देखी जा सकती है ? ॥६८-७१॥

मिथ्याभूत वस्तुओं की क्षणस्थायिता भी नहीं घट सकती, ऐसी अवस्था में उन्हें अर्थक्रियाकारी कहना महाआश्चर्य हैं, ऐसा कहते हैं।

क्षणभर भी स्थिर न रहनेवाली वस्तु कैसे अर्थक्रियाकारी हो सकती है ? कमलबुद्धि से कल्पित आकारवाले तरंगों से माला कैसे देखी जाती है ? ॥७२॥

यदि कोई शंका करे, बौद्धदर्शन के समान यहाँ पर भी क्षणिक पदार्थों से अर्थ क्रिया क्यों न होगी,

तो इस पर कहते हैं।

जब उत्पन्न होते ही नष्ट हुई वस्तु अर्थक्रिया करेगी, तो यह लोक बिजलियों से माला बनाकर आनन्द करेगा। भाव यह है कि बौद्धलोग भी क्षणिक पदार्थों से प्रामाणिक अर्थक्रिया सिद्ध नहीं कर सकते ॥७३॥ उक्त रीति से अत्यन्त दुर्घट भी सुख–दुःखादि संपत्ति को सुख–दुःख आदि की दुर्घटता जाननेवाले विवेकी जनों के हृदय में स्थित हुए आप ग्रहण करते हैं, किन्तु सम स्थिति का त्याग नहीं करते, यही अविवेकियों से विवेकियों में अन्तर है ॥७४॥

तब अविवेकियों में मैं कैसा हूँ, ऐसा प्रश्न होने पर तो कोई उत्तर नहीं है, क्योंकि अविवेकियों की कल्पनाएँ अनन्त और अनियत हैं, ऐसा कहते हैं।

हे सहजात्मन्, अविवेकियों में आकस्मिक विविध वासनाओं के उदय से आप जो हो, हे अनन्तरूपों और नामों के आस्पद, उनके स्वरूपकथन में मेरी वाणी समर्थ नहीं हैं ॥७५॥

आपकी अनन्तरूप और नामों की आस्पदता में कर्तृत्वाध्यास ही मूल है, ऐसा कहते हैं।

चेष्टारहित, निरवयव, निरहंकार, मूर्त स्थूल देहोपाधिवाले अथवा अमूर्त सूक्ष्म देहोपाधिवाले आपने कर्तृता का स्वीकार किया है ॥७६॥

अब विवेकी और विवेकियों में प्रसिद्ध दो रूपों से परमात्मा की स्तुति करते हैं।

हे ब्रह्माण्ड आदि अतिविस्तृत आकारवाले, आपकी जय हो, हे शान्तिपरायण, आपकी जय हो, हे भगवान्, आप सब प्रमाणों से परे हैं आपकी जय हो; हे भगवान, आप सब प्रमाणों से वेद्य है आपकी जय हो, हे जात (उत्पन्न हुए), आपकी जय हो; अजात (अजन्मा), आपकी जय हो, हे क्षत, हे अक्षत, आपकी जय हो। हे भाव, आपकी जय हो, हे अभाव, आपकी जय हो, हे जय, आपकी जय हो, हे अजेय, आपकी जय हो। मैं उल्लास को प्राप्त हो रहा हूँ, निर्वाण को प्राप्त हो रहा हूँ, स्थित हूँ, ज्ञाततत्त्व हूँ, आविद्यकरूप पर जय पाने के कारण मैं जयी हूँ। प्रारब्ध शेष के भी जय के लिए जी रहा हूँ। प्रत्यगात्मरूप मुझको नमस्कार है, ब्रह्मरूप तुम्हें नमस्कार है ॥७७–७९॥

त्वत्स्वरूप से स्थित होने पर मेरी सर्व अनर्थनिवृत्ति सिद्ध हो गई है, यों उपसंहार करते हैं।

मेरे दोषरहित आत्माराम रागरंजना से शून्यत्वत्स्वभाव होने पर मेरा बन्धन कहाँ, विपत्तियाँ कहाँ, सम्पत्तियाँ कहाँ और जन्म–मरण कहाँ ? अतः मैं शाश्वत सुख विश्रान्ति को प्राप्त होता हूँ ॥८०॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद के पुनः समाधिस्थ होने पर नायकरहित,
अतएव दस्युओं द्वारा क्षत-विक्षत दानवनगर की दुर्दशा का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, शत्रुनाशक प्रह्लाद पूर्वोक्त आत्मा का चिन्तन करते–करते निर्विकल्प परमानन्दपूर्ण समाधि को प्राप्त हो गया ॥१॥ निर्विकल्प समाधि में स्थित स्वरूपसाम्राज्य को प्राप्त प्रह्लाद चित्रलिखित की तरह निश्चल अतएव पर्वत से गढ़कर बनाया हुआ–सा शोभित हुआ ॥२॥ अपने घर में समाधि में स्थित हो रहे प्रह्लाद का भुवन के बीच में स्थित मेरु की

तरह बहुत समय बीत गया। असुरश्रेष्ठों द्वारा जगाने पर भी वह महामति जैसे बहुत सेक करने पर भी अकाल में बीज से अंकुर नहीं निकलता वैसे ही समाधि से विचलित नहीं हुआ ॥३,४॥ इस प्रकार पत्थर पर गढ़े हुए सूर्य के समान निश्चल ब्रह्मस्वरूप वह शान्त असुरपुर में हजार वर्ष तक बाह्य दृष्टि शून्य होकर स्थित रहा ॥५॥ उस भूमा की दशा में अत्यन्त परिणति से प्रह्लाद जिसमें आनन्द का लेश नहीं और परमात्मा का आभास नहीं ऐसी मरणावस्था को प्राप्त हुआ-सा लोगों को प्रतीत हुआ ॥६॥ तदनन्तर इस बीच में वह पातालमण्डल अराजक और प्रबल मात्स्यन्याय से (बलवान् सजातीयों और विजातीयों द्वारा दुर्बलों के तिरस्कार, वध आदि से) पीड़ित हुआ ॥७॥ हिरण्यकशिपु के मर जाने और उसके पुत्र प्रह्लाद के समाधिस्थ होने पर पाताल में कोई दूसरा राजा न रहा ॥८॥ असुरों के अधिपति की चाहवाले उन दानवों के बड़े प्रयास से भी प्रह्लाद समाधि से प्रबुद्ध नहीं हुआ ॥९॥ जैसे रात्रि में भ्रमर जिसकी पंखुड़ियाँ विकसित हो रही हों ऐसे कमल को नहीं पा सकते वैसे ही असुरों ने उस स्वामी को समाधि से बोध-युक्त नहीं पाया ॥१०॥ जैसे जिससे सूर्य अस्त हो गये हों, ऐसी भूमि के अन्दर सोये हुए पुरुषों की स्नान, दान, गमन, धावन आदि चेष्टाएँ नहीं होती वैसे ही चित्तरहित उसके अन्दर प्रबोध का लेश भी ज्ञात नहीं हुआ ॥११॥

तदनन्तर पहले भयभीत हुए निर्बल दैत्यों के अपने अभीष्ट देशों को चले जाने पर और बलवान् दैत्यों के दस्युओं की भाँति अराजक नगर में यथेच्छ लूट-पाट व्यवहार करने पर उक्त अराजकता से सारा पाताल चिरकाल तक बलवानों द्वारा दुर्बलों के उत्पीड़नरूप मात्स्यन्याय से अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया ॥१२,१३॥

मत्स्यन्याय का ही उपपादन करते हैं।

उसमें बलवानों द्वारा दुर्बलों के नगर छीने गये थे, मर्यादा, या क्रम का कहीं नाम-निशान न था, वनिताएँ सब लोगों से पीड़ित थी, नगर का मध्य भाग खण्डहर में परिणत हो गया था, सब पुरुष प्रलाप और रोदन से आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरे के वस्त्र हरते थे, बगीचे और नगर के वृक्ष ढह गये थे, व्यर्थ अनर्थों से सारा पाताल पीड़ित था, सब के सब असुर चिन्ताग्रस्त थे, अन्न, फल और बन्धु-बान्धवों का अभाव हो गया था, अनवसर के उत्पात से सारा पाताल विवश था, दिशाओं के मुख धूलि से व्याप्त थे, देवताओं के बच्चे भी उसका तिरस्कार करते थे, चाण्डाल, कुत्ते, सियार, राक्षस, पिशाच आदि तामस प्राणियों से वह आक्रान्त हो गया था, यहाँ के आदिनिवासी भद्र प्राणियों से वह शून्य हो गया था, उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी और सब अटारियाँ भग्न प्रायः हो चुकी थी ॥१४-१७॥ वह असुर मण्डल चारों ओर से भयोद्विग्न हो गया था, उसमें स्त्रियाँ, धन, मन्त्र, तन्निमित्तक युद्ध अनियत (नियमरहित) हो गये थे। जिनकी धन-सम्पत्ति और स्त्रियाँ हरी गई थी, उन लोगों के विलाप से वह कोलाहल युक्त था, अतएव कलियुग के समय में दूसरों के धन हरने में शूरवीर क्रूर दस्युओं के तुल्य था ॥१८॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

जगत् की व्यवस्था की सिद्धि के हेतु दैत्यकुल के रक्षार्थ
प्रह्लाद के प्रबोधन के लिए हरि की चिन्ता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, तदनन्तर क्षीरसागररूपी नगर में शेष शय्यारूप सिंहासन पर बैठे हुए अरिमर्दन भगवान् हरि ने, समस्त जगतों के नियमों का पालन ही जिनकी क्रीड़ा है, वर्षा ऋतु की निद्रा टूटने पर देवताओं के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए किसी समय अपनी बुद्धि से तीनों लोकों की तात्कालिक स्थिति का निरीक्षण किया ॥१,२॥ वे स्वर्ग का अवलोकन कर, भूलोक के निवासियों के शुभाशुभ आचरण का अवलोकन कर अपने मन से दैत्यों द्वारा पालित पाताल में शीघ्र गये यानी उन्होंने अपने मन से पाताल की स्थिति का निरीक्षण किया ॥३॥ पाताल में दानवराज प्रह्लाद के निश्चल समाधि में स्थित होने पर इन्द्र के नगरभूत स्वर्ग में संपत्ति को अतिवृद्धि को प्राप्त हुई देखकर पहले क्षीरसागर में सोये हुए तदनन्तर जाग कर शेषशय्या पर स्थित वहाँ पर भी पद्मासन लगाकर बैठे हुए हाथ में शंख, चक्र और गदा धारण किये हुए भगवान् विष्णु के मन ने त्रिलोकरूपी कमल के महा भ्रमररूपी अपने दैदीप्यमान शरीर से यह विचार किया ॥४–६॥

प्रह्लाद के समाधि से साम्राज्य में विश्रान्त होने से और पाताल के नायकरहित होने पर यह सृष्टि प्रायः दैत्य शून्य हो गई है, यह कम कष्ट की बात नहीं है ॥७॥ दैत्यों के न रहने पर प्रतिस्पर्धा से रहित पद को प्राप्त हुए देववृन्द जैसे अनावृष्टि के समय में नदी सूख जाती है वैसे ही रागद्वेष रहित हो जायेंगे ॥८॥ जैसे जल से रहित लता शुष्कता को प्राप्त होती है वैसे ही अभिमानशून्य होने के कारण स्वर्ग सुख से विमुख देवता राग–द्वेष के अभावरूप शम से शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों के उपद्रव से रहित मोक्ष नामक उस परमपद को प्राप्त होंगे ॥९॥

देववृन्द के शान्ति को प्राप्त होने पर–

मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनापिदधुर्नरान्।
तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मुष्या विद्युः।
तस्मादेतेसूरा विघ्नमाचरन्ति शपन्ति च।

(मनुष्यों की मुक्ति से भयभीत देवता उन्हें मोह से आच्छन्न करते हैं, इसलिए देवताओं को यह प्रिय नहीं हैं कि मनुष्य ज्ञानी हों, वे मनुष्यों के मुक्तिमार्ग में विघ्न डालते हैं और उन्हें शाप देते हैं।)

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते देवसंदूषिताशयाः॥

(संन्यासी भी आलसी, विषयवासना युक्त, चुगलखोर, झगड़ालू देखे जाते हैं, क्योंकि उनका मन देवताओं द्वारा दूषित रहता है) – इत्यादि श्रुति, स्मृति, वार्तिक आदि से सिद्ध मनुष्यों की देवदूषित चित्तता की असिद्धि से मनुष्यों में भी शमआदि की प्राप्ति होने से पृथिवी में सब यज्ञ आदि क्रियाएँ देवत्वरूप फल से रहित होकर उच्छेद को प्राप्त होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१०॥

यज्ञ आदि क्रियाओं के उच्छिन्न होने पर कर्मभूमि व्यर्थ हो जायेगी और कर्म के व्यर्थ होने पर

संसार का उच्छेद हो जायेगा ॥११॥

कर्म का उच्छेद हो, इससे आपकी क्या क्षति होगी ? ऐसा कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

प्रलयपर्यन्त रहनेवाले तीनों भुवन, जिनका मैंने निर्माण किया है, अकाल में ही जैसे धूप में हिमकण नष्ट हो जाता है वैसे ही नाश को प्राप्त हो जायेंगे ॥१२॥ इस प्रकार इन जगतों के विलीन होकर नष्ट होने पर अपनी लीला का नाश करने वाले मुझसे क्या उचित किया गया अर्थात् कुछ भी नहीं ? ॥१३॥ अपनी लीला का नाश होने से मैं भी जिसमें चन्द्रमा, सूर्य और तारे नष्ट हो गये ऐसे इस शून्य जगत् में लीला के लिए गृहीत अपने शरीर का उपसंहार कर फिर संसार की अनुत्पत्ति के लिए उस पूर्ण आत्मपद में स्थित हो जाऊँगा ॥१४॥ इस प्रकार अनवसर में ही जगत के नष्ट होने पर देव, मनुष्य आदि जीव वर्ग का मैं कल्याण नहीं देखता यह बात नहीं है मैं कल्याण देखता ही हूँ। क्योंकि 'वैराग्यात्प्रकृतौ लयः' इस स्मृति के अनुसार प्रकृति में लय होने पर सुषुप्ति की तरह सर्व दुःख निवृत्तिरूप श्रेय की सिद्धि है ही, किन्तु, 'तमेवेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो यातिपरांगतिम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति से सिद्ध अनेक जन्मों में किये निष्काम कर्म से होनेवाली विविदिषा द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार न होने से मूलअज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति न होने के कारण बीज के रहते फिर आवृत्ति की आशंका हो सकती है। निरतिशयानन्द प्राप्ति रूप श्रेय किसी को भी नहीं हो सकता, इसलिए क्रमशः सबका उक्त श्रेय की प्राप्ति के लिए दानव जीयें ॥१५॥ दैत्यों के उद्योग से देवता जिगीषु (उद्यमी) बनेंगे, देवताओं के कारण यज्ञ, तप आदि क्रियाएँ होगी, उससे संसार की स्थिति होगी, संसार नियम अन्यथा नहीं होगा ॥१६॥ इसलिए पाताल में जाकर जैसे वसन्त आदि ऋतु वृक्ष को फिर पूर्ववत् स्थित करती है वैसे ही मैं दानवराज प्रह्लाद को अपने कर्म में पूर्वस्थापित करता हूँ ॥१७॥ यदि मैं प्रह्लाद को छोड़ दूसरे को दानवराज बनाऊँ, तो वह निश्चय देवताओं पर चढ़ाई कर देगा ॥१८॥ प्रह्लाद का तो यह शरीर परम पवित्र और अन्तिम है। इस देह से वह कल्प पर्यन्त रहेगा ॥१९॥ देहधारी प्रह्लाद को कल्प पर्यन्त यहीं रहना होगा, इस प्रकार की परमेश्वर की नियति दैवी नियम से निश्चित है ॥२०॥ इसलिए जैसे गर्ज रहा मेघ पर्वत नदी के तट पर सोये हुए मयूर को जगाता है वैसे ही पाताल में जाकर दैत्यराज प्रह्लाद को ही जगाता हूँ ॥२१॥ जैसे मन की चेष्टा से रहित मणि अपने में संनिहित वस्तु के प्रतिबिम्ब को धारण करती है वैसे ही जीवन्मुक्तों की अनासक्तिरूप समाधि में स्थित प्रह्लाद दानवाधिपत्य को ग्रहण करे ॥२२॥ इस प्रकार सुर और असुरों के साथ यह सृष्टि नष्ट नहीं होगी तथा सुर और असुरों का द्वन्द्व युद्ध होगा ॥२३॥ यद्यपि स्रष्टव्य जगत् के सृष्टि और संहार ये दोनों मेरे लिए समान ही हैं तथापि यह पूर्वोक्त सृष्टि के अनुसार हो अन्य से मेरा क्या मतलब है ॥२४॥

यदि कोई शंका करे, योगनिद्रा द्वारा स्वरूपसुख गमन का त्यागकर दैत्यपुर गमन आपके लिए उचित नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

आसक्ति के अभाव से जो गमन आदि प्रयत्न है, वह योगगमन ही है वह अन्य और गमन नहीं है, क्योंकि योगनिद्रा से प्राप्त होनेवाला जो सुख है, वह गमनयत्न की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति में समान है और गमन प्रयत्न आदि की स्थिति और नाश में समान है ॥२५॥ इसलिए मैं पाताल में जाता हूँ और असुरराज प्रह्लाद को जगाता हूँ। चलता हुआ भी मैं निश्चलता को ही प्राप्त होता हूँ, कारण कि मैं अज्ञ

के समान संसारलीला नहीं करता ॥२६॥ हम मर्यादारहित दस्युओं के अनाचार से भयानक पाताल में जाकर जैसे सूर्य कमल को विकसित करता है वैसे ही प्रह्लाद को समाधि से जगाते हैं, उससे सम्पूर्ण जगत् को पूर्वोक्त रीति से स्थिरता को प्राप्त करते हैं, जैसे कि वर्षा ऋतु चंचल मेघराशि को पर्वत पर स्थिर करती है ॥२७॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

पाताल में जाकर शंखध्वनि से प्रबोधित प्रह्लाद से भगवान् का कल्पपर्यन्त राज्य करने के लिए कहना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा विचारकर सर्वात्मा भगवान् क्षीरसागररूप अपने नगर से अपने परिवार के साथ अपने शिखरों के साथ पर्वत की नाईं चले ॥१॥ भगवान् उसी क्षीरसागर के तले के छेद से जिसका जल रोक दिया गया था, द्वितीय इन्द्रनगर के तुल्य प्रह्लाद नगर में गये। वहाँ पहुँचने पर भगवान् श्रीहरि ने प्रह्लादनगर में सुवर्णमय गृह के अन्दर स्थित असुरराज प्रह्लाद को पर्वत की गुहा में बैठे हुए समाधिस्थ ब्रह्मा के समान देखा ॥२,३॥ वहाँ पर विष्णु भगवान् के तेज से वे सबके सब दैत्य धूलि के समान उड़ गये और सूर्य की प्रखर किरणों से भयभीत हुए उल्लूओं की भाँति दूर चले गये ॥४॥ दो या तीन मुख्य-मुख्य असुरों के साथ परिवारयुक्त भगवान् श्रीहरि ने जैसे तारों से परिवेष्टित चन्द्रमा आकाश में प्रवेश करता है वैसे ही असुरगृह में प्रवेश किया ॥५॥ भगवान् गरूड़रूपी आसन पर बैठे थे, श्रीलक्ष्मीजी उन पर चँवर डुला रही थी, शंख, चक्र, गदा, आदि आयुध आदि उनके परिवार थे और देवर्षि और मुनि उनकी स्तुति कर रहे थे ॥६॥ इस प्रकार के विष्णु भगवान् ने 'हे महात्मन्, जागो', यह कहते हुए और दिक्मण्डल को मुखरित करते हुए अपना पाँचजन्य शंख बजाया ॥७॥ भगवान् विष्णु के बल से उत्पन्न हुए उस महान् शब्द से, जिसका वेग एक साथ क्षुब्ध हुए प्रलयकाल के मेघ और सागर के शब्द के समान था, भयजनित मूर्च्छा को प्राप्त होकर आसुरी जनता भूमि पर गिर पड़ी, जैसे कि मत्त नील मेघ के शब्द से राजहंसावली भूमि पर गिर पड़ती है ॥८,९॥ किन्तु जैसे मेघ के शब्द से कुटज वृक्षों की पंक्ति खिल उठती है वैसे ही भयरहित वैष्णवी जनता आनन्द को प्राप्त होकर हर्षित हुई ॥१०॥ वर्षा ऋतु में वन में फूले हुए कदम्ब की तरह दानवराज प्रह्लाद धीरे-धीरे प्रबुद्ध हुआ ॥११॥

तदनन्तर जैसे गंगाजी धीरे-धीरे सारे सागर को भर देती है वैसे ही ब्रह्मरन्ध्र में उदित हुई प्राणशक्ति ने प्रह्लाद को पूर्ण कर दिया ॥१२॥ क्षणभर में जैसे उदय के अनन्तर सूर्य की प्रभा भुवन के मध्य को पूर्ण कर देती है वैसे ही प्राणों ने चारों ओर से प्रह्लाद को पूर्ण कर दिया ॥१३॥ तदनन्तर इन्द्रियों के नौ छिद्रों में प्रवृत्त होने पर उसकी चेतनाशक्ति लिंगदेह रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर विषयोन्मुख हो गई ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चेतनीय विषयोन्मुखी चित् चेत्याकार संस्कार का उद्बोध होने से चेत्य-सी होकर चिज्जड़ उभयतारूप मनस्ता को प्राप्त हुई, जैसे कि दर्पण पर पड़ी हुई मुखश्री द्वित्व को प्राप्त होती है ॥१५॥ चित्त के कुछ अंकुरित होने पर जैसे प्रातःकाल में नीलकमल विकसित होने लगते हैं वैसे ही उसके नेत्र विकसित होने लगे ॥१६॥ जैसे वायु से प्रेरित कमल में स्पन्द होता है वैसे ही भीतर प्रविष्ट

प्राण और अपान से उद्‌बोधित चारों ओर नाड़ी विवरो में जो संवेदन हुआ उसमें स्पन्द हो गया ॥१७॥ जैसे पूर्ण जल में तरंग होती है वैसे ही केवल एक निमेष में प्राणों से पूर्ण उसमें मन स्थूलता को प्राप्त हो गया ॥१८॥ जैसे सूर्य के आधे उदित होने पर तालाब में कमलों में स्फुरण हो जाता है वैसे ही उसके भी नेत्र, मन, प्राण और शरीर विकसित हुए ॥१९॥ इस बीच में जैसे ही भगवान् श्रीहरि ने 'जागो', यह कहा वैसे ही मेघ के गर्जन से मयूर के समान वह प्रबुद्ध हो गया ॥२०॥ त्रिलोकाधिपति भगवान् कल्प के आदि में जैसे नाभिकमल स उत्पन्न ब्रह्मा से कहते हैं वैसे ही प्रफुल्लनयन प्रह्लाद से, जिसे मैं प्रह्लाद हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा हो चुकी थी और जिसकी पूर्वावस्था की स्मृति दृढ़ हो चुकी थी, कहा ॥२१॥ 'हे साधो, तुम महती दैत्यराज्यश्री का और अपनी आकृति का स्मरण करो। तुम देह के विस्मरण से अनवसर में ही देह का अवसान किसलिए करते हो ? ॥२२॥

यदि – 'न वै सशरीरस्यप्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (सशरीर पुरुष के इष्ट और अनिष्ट का विनाश नहीं होता) इस श्रुति से तथा सब लोगों के अनुभव से देह का स्मरण अनर्थ का कारण है, ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

हेयोपादेय के संकल्प से रहित तुम्हारे शरीर में स्थित प्रिय आरै अप्रिय से क्या प्रयोजन है, इसलिए तुम इस समय अवश्य उठो। भाव यह कि हेयोपादेय संकल्प का त्याग होने से देह के रहने पर भी प्रिय और अप्रिय से तुम्हें कोई अनर्थ की प्राप्ति नहीं होगी ॥२३॥ हे वत्स, तुम्हें कल्पपर्यन्त इस देह से यहाँ पर रहना होगा। हम तुम्हारे यथार्थ और अगर्हित आयु के नियम को जानते हैं ॥२४॥ यहाँ पर राज्य सिंहासन पर ही स्थित हो रहे जीवन्मुक्तरूप तुमको कल्पतक इस शरीर को बिना किसी उद्वेग के व्यवहार में प्रेरित करना चाहिए ॥२५॥ हे निष्पाप, जैसे घड़े के फूटने पर घटाकाश महाकाश में समा जाता है वैसे ही इस शरीर के कल्पान्त में विनष्ट होने पर तुम्हें आत्मभूत निरतिशय महत्ता में निवास करना होगा ॥२६॥ तुम्हारा यह शरीर, जो कल्पान्त तक रहनेवाला है, लोक के विविध व्यवहारों को देख चुका है और जीवन्मुक्ति से सुशोभित है, शुद्ध हो गया है ॥२७॥

तो क्या कल्पान्त निकट है ? ऐसी आशंका होने पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे सज्जनशिरोमणे, अभी प्रलयकाल में उदित होनेवाले बारह सूर्य उदित नहीं हुऐ हैं, हिमालय आदि पर्वत मटियामेट नहीं हुए हैं और जगत् जला नहीं है, तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥२८॥ अभी तीनों लोकों की राख से धूसर तथा देवताओं की चंचल खोपड़ियाँ जिसकी चिह्नभूत हैं, ऐसी प्रलयकालीन प्रखर वायु नहीं बहती है, तुम क्यों शरीर को छोड़ते हो ? ॥२९॥ अशोक के वृक्षों पर मंजरियों की नाईं इस समय ब्रह्माण्ड में पुष्करावर्तनामक प्रलयकालीन मेघों पर बिजलियाँ नहीं चमकती हैं फिर तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥३०॥ जल रही भूमि के प्रकम्प से विदीर्ण होने के कारण जिसमें पर्वत शब्द कर रहे हों और अग्नि के जलने से जो उज्जवल हो ऐसी दिशाएँ विशीर्ण नहीं हुई हैं, व्यर्थ में तुम शरीर का क्यों त्याग करते हो ? ॥३१॥ यह वक्त, जिसमें प्रलयकाल के मेघ वृद्धि को प्राप्त हुए हों ऐसा नहीं हुआ है और जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक तीन देवता शेष रह गये हों, ऐसा नहीं हुआ है; इसलिए तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥३२॥ यहाँ पर दिशाएँ जर्जरित नहीं हुई हैं जिनके भेद का अनुमान लोकालोक पर्वत के शिखरों से होता है, जो भूमिरूपी

कमल की पँखुड़ियों के सदृश हैं, तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥३३॥ आकाश में बारहों आदित्यों की तोड़े जा रहे मेरु के टंकार की तरह ध्वनिवाली किरणें नहीं घूमती हैं और प्रलयकाल के मेघ नहीं गरजते हैं फिर तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥३४॥ मैं गरूड़ पर सवार होकर अण्डज आदि चार प्रकार के प्राणियों से व्याप्त तथा सूर्य आदि के प्रकाश से युक्त दसों दिशाओं में विहार करता हूँ, ऐसी स्थिति में तुम शरीर का परित्याग मत करो। भाव यह कि इस समय तुम्हारा मरना शोभा नहीं देता है ॥३५॥ ये हम लोग हैं, ये पर्वत हैं, ये प्राणी हैं, यह तुम हो, यह जगत् है, यह आकाश है, इसलिए तुम प्रलयपर्यन्त स्थायी शरीर का त्याग मत करो ॥३६॥

तो किसका मरना उचित है, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

जिसके व्याकुल मन को घन अज्ञान के सम्बन्ध से विविध दुःख छिन्न–भिन्न करते हैं, उसका मरना शोभा देता है; क्योंकि 'अत्यन्त पीड़तो जीवः स्थूलदेहंविमुंचन्ति' इस स्मृति से सिद्ध उसके मरण का हेतु उपपन्न है ॥३७॥ मैं कृश हूँ, मैं अत्यन्त दुःखी हूँ और मैं मूढ़ हूँ ये या इनसे अन्य भावनाएँ जिसकी मति को नष्ट करती हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥३८॥ जो भीतर अनेक आशारूप पाशों से बँधा है और चंचल मनोवृत्ति द्वारा इधर उधर ले जाया जाता है, उसका मरना शोभा देता है ॥३९॥ जैसे मूढ़ पुरुष महान् फल देनेवाले धान के अंकुर आदि को उसे खानेवाले पशु आदि के लिए काट देते हैं वैसे ही तृष्णाएँ जिसके हृदय को भग्न कर देती हैं, जिन्होंने विवेकरूपी अंकुर को हर लिया, उसका मरना शोभा देता है ॥४०॥ जिसके ताड़ वृक्ष के समान राग आदि की उन्नति से (अभिवृद्धि से) सम्पन्न मनरूपी वन में चित्तवृत्तिरूपी लता सुख–दुःखरूपी फलों से युक्त है, उसका मरना उचित है ॥४१॥ जिसके इस देहरूपी दुष्ट वृक्ष को, जिसमें रोमराजीरूपी शाखाओं का समूह है, काम आधि अनर्थरूपी जोर की आँधी दूर हर ले जाती है, उसका मरना शोभा देता है ॥४२॥ आधिव्याधिरूपी वनाग्नियाँ जिसके चंचल अंगरूपी लतावाले स्वदेहरूपी वन को जलाती हैं, उसका मरना उचित है ॥४३॥ जैसे सूखे हुए वृक्ष के खोखले में अजगर फुफकारता है वैसे ही काम क्रोधरूपी अजगर जिसके शरीर में फुफकारते हैं उसका मरना शोभा देता है ॥४४॥

मरणस्वरूप का पर्यालोचन करने पर भी तत्त्वज्ञानी का मरण संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो यह देह का परित्याग है वह लोक में मरणनाम से प्रसिद्ध है। वह त्याग तत्त्वज्ञानी का सत् आत्मा से नहीं किया जा सकता, असत् देह से भी उसका सम्पादन नहीं हो सकता, क्योंकि सत् आत्मा के निष्क्रिय होने से उसमें त्याग क्रिया का सम्बन्ध नहीं है और असंग आत्मा का देह संग प्रसिद्ध नहीं है एवं असत् देह से भी स्वपरित्याग असंभव है।

यदि कोई शंका करे कि देह की असत्ता में क्या कारण है ? तो उस पर कहते हैं।

प्रमाणों द्वारा अवश्य वेदनार्ह (जानने योग्य) आत्मा का ज्ञान ही देह आदि की असत्ता में कारण है, क्योंकि देहादि के सद्भाव की प्रतीति अज्ञाननिबन्धन है ॥४५॥

किसका जीवन शोभित होता है, ऐसा प्रश्न होने पर जिसका जीवन सफल है, उसे कहते हैं।

जिसकी बुद्धि स्वात्मतत्त्व के विचार से उचटती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानी का जीवन शोभित होता है। भाव यह है कि देह से प्राणों का उत्क्रमण मरण नहीं है किन्तु आत्मतत्त्व से मति का उत्क्रमण

ही मरण है। उक्त मरण ज्ञानी का कदापि नहीं हो सकता, इसलिए सदा ही उसका जीवन शोभा देता है। अज्ञानी की तो मति आत्मतत्त्व से सदा उत्क्रान्त रहती है, अतएव वह नित्यमृतस्वरूप है ॥४६॥ एक देह में अभिमान होने पर उसका त्याग मरण है, जिसका किसी देह में अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि देह के प्रिय और अप्रिय से लिप्त नहीं होती वह सब भावोंमें (देहों में) और विषयों में सम है उसके मरण का संभव न होने से सदा उसका जीवन ही शोभित होता है ॥४७॥ जो राग–द्वेष से रहित अन्तःशीतल बुद्धि से साक्षी के समान इस जगत् को देखता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥४८॥ असार जानकर हेय और उपादेय का त्याग कर रहे जिसने चित्त के विरामभूत साक्षी में अपने चित्त का समर्पण कर दिया है, उसका जीवन शोभित होता है ॥४९॥ जिसने शुक्ति, रजत आदि के सदृश वस्तु के समान भासमान बाह्यार्थकल्पना रूप मल में अनासक्त चित्त को ब्रह्म में ही लीन कर दिया, उसका जीवन शोभा देता है ॥५०॥ जो सत्य दृष्टि का अवलम्बन करके इस जगत्–व्यवहार को बिना वासना के लीला से करता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥५१॥ जो लोकव्यवहार करता हुआ भी दुःखहेतु पदार्थ की प्राप्ति होने पर न तो उद्वेग को प्राप्त होता है और न सुखहेतु वस्तु की प्राप्ति होने पर मन में प्रसन्न होता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥५२॥

तालाब से हंसों के समूह के समान जिससे गुणों का (शान्ति, क्षमा, माधुर्य आदि का) समूह चला जाता है, जिसके तत्त्वज्ञानी ही आत्मीय है और स्वयं शुद्ध है, उसका जीवन शोभित होता है ॥५३॥ जिसके गुण आदि के श्रवणगोचर होने पर, दर्शन होने पर और स्मरण होने पर प्राणियों को बड़ा आनन्द होता है, उसका जीवन सफल है ॥५४॥ हे दनुजेश्वर, जिसकी सम्पत्ति (उदय) होने पर जीवरूपी भ्रमर से युक्त जीवरूपी कुमुद हृदय से आनन्दित होते हैं, क्षयरोगरहित चन्द्रमा की पूर्णता के समान उसी का जीवन शोभित होता है अन्य का (अज्ञानी का) नहीं ॥५५॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

सदेह होता हुआ भी विदेह और कर्मपरायण होता हुआ भी
कुटस्थ ज्ञानी जिस क्रम से व्यवहार करे, उस क्रम का प्रतिपादन।

यद्यपि प्रह्लाद जीवन्मुक्त था तथापि उसके लिए केवलसंनिधि से राज्यपालन के निर्वाह के उपाय का उपदेश देने की इच्छावाले भगवान् श्री हरि देह के रहते भी उसके साथ सम्बध न रहने से पूर्वोक्त जीवन और मरण गौण ही हैं। मुख्य नहीं है यह कहने के लिए जीवन और मरण के लोकप्रसिद्ध स्वरूप को कहते हैं।

दृष्ट देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं फिर द्वितीय देह के ग्रहण के लिए पूर्व देह का त्याग (उत्क्रमणपूर्वक गमन) मरण कहा गया है ॥१॥ हे महामते, इन दोनों (स्थिरता और प्राणोत्क्रमण) पक्षों से तुम मुक्त हो, अतएव यहाँ तुम्हारा क्या मरना है *अथवा क्या जीवन है, क्योंकि 'अशरीरं शरीरेषु' 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते'* ऐसी श्रुतियाँ है ॥२॥

यदि मेरे जीवन और मरण नहीं हैं, तो आपने तुम्हारा जीवन शोभित होता है तुम्हारा मरना शोभित

नहीं होता, ऐसा क्यों कहा ? यदि प्रह्लाद की ओर से यह प्रश्न हो, तो उस पर कहते हैं।

हे शत्रुतापन, मैंने दृष्टान्त के लिए यानी ज्ञानी और अज्ञानियों के गुण और दोषों के प्रख्यापन के लिए यह सब कहा था। हे सर्वज्ञ, न तो तुम कभी जीवित हो और न कभी मरते हो ॥३॥ जैसे आकाश में स्थित भी वायु संगरहित (संबन्ध शून्य) होने के कारण आकाश शून्य होता है ऐसे ही देह दृष्टि शून्य तुम भी देह में स्थित होते हुए भी देहरहित होने के कारण अदेह हो ॥४॥

मेरी देह में स्थिति कैसे ज्ञात होती है ? इस पर कहते हैं।

हे सुव्रत, देह में शीत, उष्ण आदि स्पर्श के वेदन का निमित्त होने से और अन्यत्र उसके अदर्शन से देह में ही तुम हो। यदि कहो कि स्पर्श के संवेदन में असंग आत्मा कैसे कारण है, तो इस पर दृष्टान्त सुनो, जैसे वृक्ष के बढ़ने में कारण है वैसे ही असंग आत्मा स्पर्श के संवेदन में कारण है ॥५॥

यदि प्रह्लाद पूछे कि मेरी अदेहता कैसे ? तो इस पर कहते हैं।

तुम्हें तत्त्वज्ञान हो चुका है, अतएव तुम प्रबुद्ध हो गये हो, बोध होने पर सर्वद्वैत से रहित पुरुषों का शरीर यहाँ कहाँ रहता है, स्वप्न की निवृत्ति होने पर स्वप्न शरीर नहीं रहता। यह एक परिच्छिन्न देहरूप यद्यपि असंभाव्य है तथा अज्ञानियों में ही स्थित है ॥६॥

यदि अज्ञानी भी देह में रह कर देही है, तो स्पर्श के संवेदन से देह में स्थित मैं देही क्यों न रहूँगा ? इस पर कहते हैं।

प्रकाशक होने के कारण तुम्हारी सब वस्तुओ में स्थिति तुल्य है, इसलिए एकमात्र परमात्मा में बुद्धिवृत्तिवाले प्रकाशस्वरूप तुम सब कुछ हो, अज्ञानी के समान देह मात्र नहीं हो। कौन वस्तु तुम्हारी देह होगी, जिसका कि तुम अहंबुद्धि से ग्रहण करो और अदेह भी कौन होगी, जिसका कि तुम अनहंबुद्धि से त्याग करो ॥७॥

यदि कोई कहे कि जिसकी वृद्धि से अपने हर्ष की वृद्धि हो और जिसके विनाश निमित्त के दर्शन से विषाद हो वह देह है और उससे अन्य अदेह है इस प्रकार का भेद क्यों न होगा ? तो इस पर ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तत्त्वज्ञानी के हर्ष और विषाद के हेतु का कही संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चाहे वसन्त ऋतु का उदय (आगमन) हो चाहे प्रलयकाल की घनघोर आँधी बहे तथापि अप्रिय और प्रिय से शून्य आत्मा का क्या आया ॥८॥ पर्वतों के ढहने पर भी, प्रलयाग्नियों के धधकने पर भी और उत्पातवायुओं के बहने पर भी तत्त्वज्ञानी आत्मा में स्थित रहता है ॥९॥ सब भूत चाहे रहे चाहे सब कुछ चला जाय अथवा सबका नाश हो जाय या सब वृद्धि को प्राप्त हों, किन्तु तत्त्वज्ञानी आत्मनिष्ठ ही रहता है उससे विचलित नहीं होता ॥१०॥ इस देह के विनष्ट होने पर परमात्मा का विनाश नहीं होता है, इसके बढ़ने पर परमात्मा नहीं बढ़ता और इसके चेष्टा करने पर चेष्टा नहीं करता ॥११॥ देह के सम्बन्धी में 'अहं' इस प्रकार तादात्म्याध्यासरूप देही हूँ' तद्धर्मसंसर्गाध्यासरूप चित्त भ्रम के नष्ट होने पर मैं त्याग करता हूँ अथवा त्याग नहीं करता, इस प्रकार की निरर्थक कल्पना कैसे उद्यत हो सकती है ? ॥१२॥ हे तात, इस कार्य को करके मैं इस कार्य को करता हूँ, इसका त्यागकर के इसका त्याग करता हूँ, तत्त्वज्ञानियों के इस प्रकार के संकल्प सर्वथा नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥१३॥ ज्ञानी पुरुष इस संसार में सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं। कर्म के कभी–भी न करने पर वे सदा

अकर्तारूप से स्थित रहते हैं ॥१४॥ जब वे कर्ता नहीं हैं तब अभोक्तृत्व सहज ही उनमें प्राप्त हो गया। भला बतलाइये तो सही, धान आदि के बीज बोये बिना तीनों लोकों में कौन धान आदि का संग्रह करता है ? ॥१५॥ कर्तृत्व और भोक्तृत्व के शान्त होने पर एकमात्र निर्विक्षेपता ही अवशिष्ट रहती है। कर्तृत्व के मूलोच्छेद से बद्धमूल हुई निर्विक्षेपता ही विद्वानों द्वारा मुक्ति कही जाती है ॥१६॥ ज्ञानवान्, चैतन्यस्वरूप परमात्मस्वरूप के आविर्भाव से सब कुछ का तिरस्कार करके स्थित हुए शुद्धात्मापुरुष पहले प्राप्त न हुए किस ऐहिक फल को ग्रहण करें या पहले से गृहीत किस फल का त्याग करें ? ॥१७॥ ग्राह्य, ग्राहक और तत्संबन्धरूप अज्ञानावस्था में यथार्थरूप से प्रतीत क्रिया और कारक के संबन्ध से बने हुए अवान्तर वाक्यार्थरूप अवयवि क्रमवाले महावाक्यार्थ के अवयवों से यानी अंग–प्रधानक्रियाकलापरूप विकारों से रहित कूटस्थ आत्मा किसका ग्रहण करे और किसका त्याग करे ? ॥१८॥ ऐहिक और पारलौकिक इष्ट और अनिष्टों के साधनों के त्याग और उपादान के निमित्त ग्राह्यग्राहक संबन्ध के नष्ट होने पर रागादिविक्षेपों की शान्ति उत्पन्न होती है। वही रागादि के मूलोच्छेद स्थिरता को प्राप्त होकर मोक्षनाम से पुकारी जाती है ॥१९॥

इस प्रकार से स्थित हुए जीवन्मुक्त लोगों को भी जब तक प्रारब्ध का क्षय नहीं होता तब तक व्यवहार सिद्धि में दृष्टान्त कहते हैं।

उक्त निर्विक्षेपतारूप शान्ति में सदा स्थित हुए तुम्हारे जैसे शान्त पुरुष गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष के अवयवों की चेष्टाओं के तुल्य व्यवहार करते हैं ॥२०॥ परब्रह्म के ज्ञान से वासनारहित हुए तुम इस जगत् में आत्मनिष्ठ बुद्धि से अर्धसुषुप्त के समान इस राज्यपालन आदि व्यवस्था को देखो ॥२१॥ जिनका चित्त स्वात्मा में ही संलग्न है ऐसे ज्ञानी पुरुष, रमणीय अनात्म पदार्थों में सुख का अनुभव नहीं करते और केवल स्वात्मा में ही जिन्हें रसायन के समान मधुर सुख का आस्वाद होता है, वे आत्मा का स्पर्श न करनेवाले दुःखों के उपस्थित होने पर उद्विग्न नहीं होते ॥२२॥

यदि कोई कहे कि ज्ञानियों को जब सुख और दुःख हैं ही नहीं तब वे सुख की प्राप्ति और दुःख के परिहार के लिए कर्म क्यों करते है ? तो इस पर कहते हैं।

नित्यप्रबुद्ध असंग पुरुष, यथाप्राप्त इन कार्यों को जैसे दर्पण बिम्बों को ग्रहण करते है वैसे ही अनास्था से ग्रहण करते हैं। संसार स्थिति में सोये हुए आत्मनिष्ठ पुरुष स्वात्मा में ही जागरूक रहते हैं। सुषुप्त के सदृश आशयवाले वे बालकों की नाईं व्यवहार करते हैं ॥२३,२४॥ हे महात्मन्, भीतर भगवान विष्णु की पदवी को प्राप्त हुए तुम ब्रह्मा के एक दिन तक इस पाताल में ही विविध गुणों से युक्त राज्यलक्ष्मी का उपभोगकर विदेह कैवल्य नामक च्युतिरहित परम पद को प्राप्त होओ ॥२५॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

भगवान् का स्वाज्ञावर्ती दैत्यराज प्रह्लाद से सपरिवार पूजा ग्रहण कर
दैत्यराज्य में अभिषेकपूर्वक उसे वर देना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलय में जगद्रूपी रत्नों को अपने अन्दर समेट लेने के

कारण जगद्रूप रत्नों के सन्दूकरूप और सृष्टिकाल में त्रैलोक्यरूपी अद्‌भुत पदार्थ का दर्शन करनेवाले भगवान् विष्णु चाँदनी के समान शीतल वाणी से पूर्वोक्त बातें कहने पर पूर्वोक्त प्रह्लाद नामक देह ने, मारे आनन्द के जिसके नेत्रकमल विकसित थे और जिसने मनन ग्रहण कर लिया था, प्रसन्नता से निम्न निर्दिष्ट वचन कहे॥१,२॥ प्रह्लाद ने कहा : भगवान्, असुरों का क्या हित है और देवताओं का क्या अहित है, इस विचार से और सैकड़ों राज्यकार्यों से मैं अत्यन्त थक गया था, अतएव एक क्षण के लिए मैंने विश्राम लिया ॥३॥ हे देवाधिदेव, आपके प्रसाद से तत्त्वबोध द्वारा स्वरूपावस्थिति मुझे भली-भाँति प्राप्त हो गई है। मैं समाधि और असमाधिमें तथा सदेह और विदेह मुक्तियों में पारमार्थिक रूप से सदा समान ही हूँ॥४॥ हे महादेव, मैंने निर्मल अखण्ड मानस साक्षात्कार वृत्ति से चिरकालतक आपके दर्शन किये हैं। इस समय फिर चर्म चक्षु से भी बड़े भाग्यवश ये आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥५॥ हे महेश्वर, मैं सब संकल्पों से निर्मुक्त इस अनन्त अन्तर दृष्टि में निर्मल आकाश में आकाश की तरह न शोक से, न मोह से, न वैराग्य चिन्ता से, न देहत्याग के कार्य और न संसार भय से ही स्थित था। भाव यह कि शोक, मोहआदि निमित्तों से मैं समाधि में स्थित नहीं था, जिससे मेरे देह त्याग का प्रसंग आता ॥६,७॥

यदि कहें कि पिता के राज्य आदि के नाश आदि शोक के हेतु तो तुमने देखे ही है, उनका अपलाप कैसे करते हो ? तो इस पर कहते हैं।

एक तत्त्ववस्तु के विद्यमान रहते कहाँ से शोक, कहाँ से नाश और कहाँ से शरीर होगा ? कहाँ पर संसार, कहाँ पर स्थिति और कहाँ पर भय और अभय होंगे ? भाव यह है कि सचमुच यहाँ पर मैंने शोक के हेतु पिता के राज्यादिनाश आदि देखे, पर अद्वैत आत्मा में शोक हेतु नहीं है, इसलिए मेरी यह समाधि शोक हेतुक नहीं है ॥८॥

तब तुम्हारी समाधि का हेतु क्या है ? ऐसा यदि प्रश्न हो तो विचार से उत्पन्न विश्रान्ति की इच्छा ही मेरी समाधि में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

अपने-आप उत्पन्न हुई निर्मल यथेच्छा से ही देहत्याग आदि के संकल्प के बिना ही विस्तृत पावन पद में मैं स्थित हुआ हूँ॥९॥

यदि कोई कहे 'न च वैराग्यचिन्तया' इस अंश से वैराग्य का निराकारण उचित नहीं है, क्योंकि विचारपूर्वक समाधि में वैराग्य अनुकूल ही है ; प्रतिकूल नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

हे ईश्वर, हाय ! मैं विरक्त हूँ, संसार का त्याग करता हूँ, इस प्रकार की अज्ञानियों की चिन्ता हर्षशोकरूपी विकार देनेवाली है ॥१०॥

वैराग्य के समाधिकारण होने पर रागयुक्त देह में भी दुःख हेतुत्व का अनुभव होगा, अतः उसका त्याग भी समाधि में निमित्त होगा, वह भी अज्ञानियों का ही अभीष्ट है मेरा अभीष्ट नहीं है, ऐसा कहते हैं।

देह का अभाव होने पर दुःख नहीं रहते, देह में दुःख रहते हैं, इस प्रकार चिन्तारूपी विषैली नागिन मूर्ख को ही डँसती है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥११॥

इसलिए सुख प्राप्ति की इच्छा से अथवा दुःखनिवृत्ति की इच्छा से मैंने समाधि नहीं ली, ऐसा कहते हैं।

यह सुख है, यह दुःख है, यह मेरा है और यह मेरा नहीं है इस प्रकार दोलायमान चित्त मूढ़ को ही

नष्ट करता है, पण्डित (ज्ञानी) को नहीं ॥१२॥

तब भेदवासना के क्षय की इच्छा से तुमने समाधि ली होगी, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

मैं अन्य हूँ और यह अन्य है, इस प्रकार की वासना उन्हीं अज्ञानी जीवों को होती है, जिन्होंने तत्त्वज्ञान को बहुत दूर फेंक दिया है, तत्त्वज्ञानियों को ऐसी वासना नहीं होती ॥१३॥

संसार के त्याग के लिए अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिए तुमने समाधि ली होगी, ऐसा यदि कहें, तो उस पर कहते हैं।

यह त्याज्य हैं और यह ग्राह्य है इस प्रकार का दुर्बुद्धियों का मिथ्या मनोभ्रम अज्ञानी की तरह ज्ञानी को उन्मत्त नहीं बनाता ॥१४॥ हे कमलनयन, सब में आत्मरूप आपके व्याप्त होने पर हेयोपादेय पक्ष में स्थित दूसरी कल्पना कहाँ से हो सकती है ? ॥१५॥ भ्रान्तिज्ञान में सीप में रजत के समान भासित होनेवाले परमार्थरूप से भासित न होनेवाला यह सारा जगत् आत्मा और माया के अन्योन्यतादात्म्याध्यास रूप मिथुनीकरण से उत्पन्न हुआ है। यहाँ पर क्या वस्तु हेय और क्या वस्तु उपादेय है, जिसका कि त्याग अथवा ग्रहण किया जाय ॥१६॥

इसलिए मेरी तत्त्व विचार विश्रान्ति ही समाधि हो गई, ऐसा कहते हैं।

अपने स्वभाव से केवल द्रष्टा और दृश्य का विचार कर रहे असीम परमात्मरूप मैंने अपने आप में क्षणभर विश्राम लिया ॥१७॥ समाधिकाल में मैं इष्ट और अनिष्ट (प्रिय और अप्रिय) से रहित हेयोपादेय से विहीन था। इस समय (व्युत्थान काल में) यों (आपसे आज्ञप्त पदार्थों के ग्रहण की योग्यता से) स्थित हूँ ॥१८॥ वह अपने स्वभाव को प्राप्त हुआ मैं मेरे द्वारा स्वकर्तव्यता से प्राप्त किये गये आपसे आज्ञप्त सब कार्य करता हूँ, अपने राग से नहीं, किन्तु आपकी इच्छा का वशवर्ती होकर ॥१९॥

जैसे आपके द्वारा आज्ञप्त राज्य को, जो मुझे स्वभावतः प्राप्त है, मैं स्वीकार करता हूँ वैसे ही आप भी मेरे द्वारा की गई पूजा को, जो सर्वेश्वर होने के कारण आपको नियमतः प्राप्त है, ग्रहण कीजिये, ऐसा कहते हैं।

ये आप पुण्डरीकाक्ष हैं, तीनों जगतो में पूज्य हैं, इसलिए मुझसे शास्त्र और लोकप्रसिद्धि से प्राप्त पूजा को आप ग्रहण कीजिये ॥२०॥ ऐसा कहकर दानवराज प्रह्लाद ने क्षीरोदशायी भगवान् के आगे शैलराज जैसे पूर्ण चन्द्रमा को उपस्थित करता है वैसे ही अर्घपात्र उपस्थित किया ॥२१॥ प्रह्लाद ने अपने शंख, चक्र आदि आयुधों से युक्त, अप्सराओं द्वारा परिवेष्टित, देवताओं से परिवृत, पक्षिराज गरूड़ से युक्त, उदर के अन्दर स्थित त्रैलोक्य सहित, अपने सामने स्थित भगवान् विष्णु की, जिनके बाहर रोमकूप आदि में और भीतर वस्ति, उदर, हृदय आदि में लोक घूम रहे थे, पूजा की। पूजा करके खड़े हुए प्रह्लाद से कहा ॥२२,२३॥ 'हे दानवराज उठो, सिंहासन पर बैठो, मैं स्वयं अपने हाथों से शीघ्र तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ ॥२४॥ पाँचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर जो ये सिद्ध, साध्य और देववृन्द आये हैं वे तुम्हारा मंगल करे।' ऐसा कह कर भगवान् मेरु के शिखर पर मेघों के समान योग्य उस दानव को सिंहासन पर बैठाया ॥२५,२६॥ इसके बाद अप्रमेय भगवान् ने श्रीहरि ने विद्याधर और लोकपालों से परिवृत होकर बुलाये गये क्षीरोद आदि महासागरों, गंगा आदि जलप्रवाहों और सब तीर्थ

के जलों से, सब विप्र ऋषियों और सब सिद्धगणों के साथ असुरराज प्रह्लाद का दैत्यराज्य में ऐसे ही अभिषेक किया जैसे कि पहले स्वर्ग में देववृन्दों से इन्द्र का अभिषेक किया था ॥२७–२९॥ सुर और असुरों से स्तूयमान भगवान् श्रीहरि ने राज्य में अभिषिक्त, सुर और असुरों से प्रह्लाद से यह कहा ॥३०॥ हे अनघ, तुम जब तक पृथिवी और जब तक चन्द्र–सूर्य मण्डल हैं तब तक अखण्डित गुणों से प्रशंसनीय राजा होओ ॥३१॥ अनुराग, भय और क्रोध से रहित तुम, इष्ट और अनिष्ट फल का त्यागकर समबुद्धि से राज्य का पालन करो ॥३२॥ तुम निरतिशयानन्द भूमि देख चुके हो, अतएव तुम्हें सब भोगों से परिपूर्ण राज्य में अरतिरूप उद्वेग नहीं करना चाहिये और अपने पिता–पितामहों की भाँति स्वर्ग अथवा भूलोक में उद्वेग उत्पन्न नहीं कराना चाहिये ॥३३॥ प्रजा, शत्रु आदि के ऊपर निग्रह, अनुग्रह आदि ? यथा प्राप्त दृष्टियों में तत्–तत् पुरुषों के अनुरूप देश, काल और क्रिया से अपने ऊपर प्राप्त वध, बंधन आदि कार्य करो। राग, द्वेष आदि विषमता का त्यागकर रहो। देह से अतिरिक्त आत्मा ही इस भाव से लाभ और हानि में समानरूप से इदन्ता और ममता से वर्जित कार्य कर रहे तुम सुख–दुखों से पीड़ित नहीं होगे ॥३४,३५॥ तुम संसार के व्यवहार को देख चुके हो, अनुपम उस परम पद का भी तुम्हें अनुभव हो चुका है, इसलिए सर्वत्र सब कुछ तुम जानते हो। तुम्हारे लिए अधिक क्या उपदेश किया जाय ? अर्थात् व्यवहार और परमार्थ में तुम कुशल हो तुम्हारे लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है ॥३६॥ अनुराग, भय और क्रोध से रहित तुम्हारे राजा होने पर अब असुरों में दुःख रूपी दुर्ग्रन्थि नहीं रहेगी और देवताओं में स्थित वह दुःख दुर्ग्रन्थि मेरे द्वारा असुरों का संहार नहीं करायेगी ॥३७॥ अब जैसे वर्षा ऋतु में बढ़ी हुई बड़ी–बड़ी तरंगवाली नदी वनस्थली को प्लावित कर देती है वैसे ही आंसुओं की धारा असुरनारियों की कर्णमंजरियों को प्लावित नहीं करेगी ॥३८॥ आज से लेकर देव–दानवों के युद्ध से वंचित जगत् स्पन्दरहित सागर के समान स्वस्थ–सा हो जायेगा। देवता और असुरों की नारियाँ एक दूसरे के पतियों से बन्दी न होकर अपने ही अन्तःपुरों और पतियों के विश्वास को प्राप्त हों ॥३९,४०॥ हे दानव, तुम कृष्णपक्ष की रात्रियों में गाढ़ निद्रा और अन्धकाररूप अज्ञानान्धकार को दूर कर सदा उदित, स्वप्रकाश ब्रह्मात्म स्फूर्तिवाले होकर असुरों की स्त्रियों के विलासों से रमणीय तथा काम आदि शत्रुओं से अपराभूत राज्यलक्ष्मी का चिरकाल तक उपभोग करो ॥४१॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

भगवान् विष्णु का पुनः क्षीरसागर में गमन,
आख्यान का उत्तम फल और समाधि से जीवन्मुक्तों के व्युत्थान में हेतु का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा कह कर सुर, नर और किन्नरों के सहित भगवान् पुण्डरीकाक्ष, जो सुर, नर और किन्नरों से युक्त होने के कारण ही दूसरे संसार के समान विस्तृत थे, असुरगृह से चले ॥१॥ प्रह्लाद आदि द्वारा पीछे से छोड़ी गई पुष्पांजलियों की राशि से, जो पक्षिराज गरुड़ के पीछे के पंखों पर राशिभूत हो गई थी, आच्छन्न किये जा रहे भगवान् क्रम से क्षीरसागर में पहुँचकर तदनन्तर सुरवृन्द को विदाकर जैसे सफेद कमल पर भ्रमर बैढता है वैसे ही शेषशय्या पर

स्थित हुए ॥२,३॥ इस प्रकार शेषनाग के शरीररूपी आसन पर भगवान् विष्णु, स्वर्ग में देवताओं के साथ इन्द्र और पाताल में असुरराज प्रह्लाद तीनों ही सन्तापरहित होकर स्थित हुए॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अवशेष पापों को दूर करनेवाली प्रह्लाद की ज्ञानप्राप्ति मैंने आपसे कही, जो चन्द्रमा के अमृत के समान शीतल है॥५॥ उसको जो मनुष्य , चाहे वे बड़े पातकी ही क्यों न हों, संसार में बुद्धि पूर्वक विचार करेंगे, वे शीघ्र परमपद को प्राप्त होगे॥६॥ सामान्य विचार से भी जब पाप का नाश हो जाता है तब वेदान्त वाक्यों के विचार से कौन परम पद को प्राप्त न होगा ? ॥७॥ अज्ञान पाप कहलाता है, वह विचार से नष्ट होता है, इसलिए पाप की जड़ उखाड़ फेंकनेवाले विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये॥८॥ प्रह्लाद की इस सिद्धि का विचारकर रहे लोगों के सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते है, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥९॥

विदेह मुक्त के साथ समाधि मुक्त के विश्रान्ति सुख की समता होने पर फिर उसके व्युत्थान में हेतु जानने की इच्छा कर रहे रामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवान्, महात्मा प्रह्लाद का परम पद में परिणत मन पाँचजन्य शंख की ध्वनि से कैसे प्रबुद्ध हुआ ? भाव यह है कि मन का विलय होने पर पाँचजन्य शंख ध्वनि का श्रवण ही दुर्लभ है, फिर इससे वह कैसे प्रबुद्ध हुआ ? ॥१०॥

प्रारब्ध शेष से उद्‌बोधित शुद्धवासना सहित भगवद् इच्छा ही समाधिमुक्त के प्रबोध में हेतु है यों विदेहमुक्त से समाधिमुक्त का अन्तर कहने के लिए संदेह औरै विदेह मुक्तियों का विभाग दिखलाते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप आकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी, लोक में दो प्रकार की मुक्ति होती है, एक सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। उसका यह विभाग है, उसे आप सुनिये॥११॥ जिस अनासक्त मतिवाले पुरुष का इष्ट और अनिष्ट कर्मों के त्याग और ग्रहण में राग नहीं है, उसकी स्थिति को आप जीवन्मुक्ति जानिये॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वही देह धारण में हेतुभूत प्रारब्ध शेष का भोग द्वारा क्षय होने पर पुनर्जन्म से रहित विदेह मुक्ति कही गई है। विदेह मुक्ति में स्थित भुने हुए बीजों के सदृश अतएव पुनर्जन्म रूपी अंकुर से रहित पुरुष देहदृश्यता को प्राप्त नहीं होते, किन्तु जीवन्मुक्त पुरुषों के हृदय में शुद्ध, पवित्र, तृष्णा, कार्पण्य आदि से रहित, आत्मध्यानमयी शुद्धसत्त्वानुपातिनी वासना ऐसे ही रहती है जैसे कि सुषुप्त पुरुष के हृदय में रहती है॥१३-१५॥ हे रघुवर, देह धारण हेतु प्रारब्ध के शेष रहने पर हजारों वर्षों के बाद भी हृदयमें स्थित उसी वासना से वे प्रबोध को प्राप्त होते हैं॥१६॥ हे महाबाहो, प्रह्लाद हृदय में स्थित अपनी शुद्धसत्त्वमयी वासना से, जो शंख ध्वनि से उद्‌बुद्ध हुई थी, प्रबोध को प्राप्त हुआ था॥१७॥

यदि किसी को शंका हो कि श्रोत्रेन्द्रिय के विलीन होने पर शंख ध्वनि का भी ग्रहण नहीं हो सकता, अतः शंख ध्वनिमात्र से कैसे प्रबोध हुआ ? तो उसका परिहार करते हुए कहते हैं ।

भगवान् हरि सब प्राणियों के आत्मा हैं उनको जैसा भान होता है वह सब शीघ्र वैसा ही हो जाता है, क्योंकि वे सत्य संकल्प हैं॥१८॥ भगवान् वासुदेव ने जब प्रह्लाद प्रबोध को प्राप्त हो, ऐसा विचार किया तभी पलक भर में ऐसा हो गया॥१९॥ स्वयं अकारण यानी शुद्धरूप भूतों के कारण यानी अव्यक्त

उन्होंने काम, कर्म आदि निमित्तों से अपने में ही जगत् की सृष्टि के लिए वासुदेवमयरूप से शरीर ग्रहण किया है, ऐसी ही श्रुति, स्मृति और पुराणों में प्रसिद्ध है ॥२०॥

इसीलिए उनके शरीर का दर्शन होने पर आत्मदर्शन होता है और आत्मदर्शन होने पर उनका दर्शन सुलभ हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

आत्मदर्शन से शीघ्र भगवान् का दर्शन हो जाता है और भगवान् की आराधना से शीघ्र अपने–आप आत्मा का दर्शन हो जाता है ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सृष्टि का अवलम्बन करके आप शीघ्र आत्मदर्शन के लिए प्रयत्न करें। विचारत्मा आप नित्यपद को प्राप्त होंगे ॥२२॥ हे रामचन्द्रजी, दुःखरूपी मुसलाधार वृष्टिवाली संसाररूपी वर्षा ऋतु, जो चारों ओर व्याप्त है, विचाररूपी सूर्य को न देख रहे लोगों को परम अज्ञान देती है ॥२३॥ यह अत्यन्त दैदीप्यमान माया विष्णुरूप आत्मा के प्रसाद से धीर पुरुषों को ऐसे ही पीड़ित नहीं करती जैसे मन्त्रसिद्धपुरुषों को पिशाची पीड़ित नहीं कर सकती ॥२४॥ जैसे अग्नि की ज्वाला वायु के कारण ही निबिड़ता को प्राप्त होती है और अन्त में क्षीणता को प्राप्त हो जाती है वैसे ही संसार जाल रचनारूप यह विष्णुमाया आत्मा की इच्छा से ही देहादिरूप निबिड़ अनर्थता को प्राप्त हुई है। निश्चय भक्ति, ध्यान आदि से आराधित आत्मा की इच्छा से ही विवेक , विचार आदि के जन्म के समय क्षीणता को प्राप्त हो जाती है, अतएव ईश्वरप्रसाद से उत्पन्न विचार आदि से ही अवश्य ज्ञान लाभ होता है, यही इस उपाख्यान का तात्पर्य है ॥२५॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

यद्यपि ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से लभ्य है तथापि ईश्वर पर भार देना ठीक नहीं। अपने पौरुष द्वारा इन्द्रियों को वश में करने से ज्ञान प्राप्त होता है, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे सब धर्मों के ज्ञाता, हे भगवान्, जैसे चन्द्रमा की किरणों से औषधियाँ आह्लादित होती हैं वैसे ही स्फटिक के समान शुद्ध आपके वचनरूपी किरणों से हम आह्लादित हुए हैं ॥१॥ जैसे कर्ण भूषण के लिए कानों द्वारा वांछित, गुरु, देवता आदि की प्रसन्नता से पाप दूर करने के कारण पवित्र और कोमल फूल ग्रहण करने पर सुख देते हैं वैसे ही कानों को भले लगनेवाले पवित्र और कोमल आपके वचन हम लोगों द्वारा गृहीत होने पर सुख देते हैं ॥२॥ भगवान्, यदि पौरुष प्रयत्न से ही सब कुछ प्राप्त होता है, तो प्रह्लाद भगवान् के वर के बिना भी अपने ही पौरुष से क्यों प्रबुद्ध नहीं हुआ है ? इससे अपने पौरुष से ही सर्वत्र ज्ञान लाभ होता है, ऐसा जो नियम पहले कहा था उसका भंग हो गया, यह भाव है ॥३॥

अपने पौरुष से सिद्ध होनेवाली पुरुषार्थ सिद्धि में भगवान् का वर भी द्वार विशेष ही है स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए पूर्वोक्त नियम भंग नहीं हुआ , इस आशय से संक्षेप में उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महात्मा प्रह्लाद ने जो कुछ प्राप्त किया वह सब अपने पौरुष से ही उसने प्राप्त किया, दूसरे से नहीं ॥४॥

अथवा विष्णु से प्रह्लादात्मा का भेद न होने के कारण आत्मप्रयत्न से प्राप्त वह प्रह्लाद प्रयत्न से ही

बोध को प्राप्त हुआ, ऐसा यहाँ पर परिहार हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे तिलों के अन्तर्गत और तिलों से निकाला हुआ तेल भिन्न नहीं है वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं है। जैसे शुक्लता (कपास) और वस्त्र भिन्न नहीं हैं वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं और जैसे फूलों का सार सुगन्ध है वैसे ही जीवों का परमार्थ सार विष्णु हैं, इसलिए भी उनमें अभेद जानना चाहिये ॥५॥

अथवा कार्य और कारण उपाधि का त्याग करने पर विशिष्ट चिन्मात्र का अभेद है ही। इस प्रकार लक्ष्यपरक विष्णु और आत्मा शब्द की पर्यायता ही है, ऐसा कहते हैं।

जो विष्णु है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही विष्णु है। जैसे विटप और पादप शब्द पर्याय हैं वैसे ही विष्णु और आत्मशब्द पर्याय हैं। भाव यह कि विटपवत्व (शाखावत्व) और पादकरणकपान कर्तृत्वरूप उपाधि का भेद होने पर भी खण्ड वृक्ष स्वरूप में जैसे विटप और पादप शब्दों की पर्यायता है वैसे ही कार्य और कारणरूप उपाधि का भेद होने पर भी परिशिष्ट चिन्मात्र स्वरूप में आत्मा और विष्णु शब्दों की पर्यायता ही है ॥६॥ पहले प्रह्लाद नामक आत्मा ही स्वयं अपने द्वारा अपनी परम शक्ति से विष्णु भक्ति में नियोजित हुआ ॥७॥ स्वात्मभूत विष्णु से ही प्रह्लाद ने स्वयं इस वर का उपार्जन किया। अपने मन को स्वयं ही विचारयुक्त बनाकर अपने आत्मा का उसने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया ॥८॥ कभी स्वात्मभूत विष्णु द्वारा ही आत्मा अपने प्रयत्न से किये गये विचार के बल से स्वयं प्रबुद्ध किया जाता है और कभी भक्तिरूप प्रयत्न से प्राप्त होनेवाले विष्णु देह द्वारा बोधित होता है ॥९॥

अन्वय से प्रदर्शित अर्थ को व्यतिरेक के दर्शन द्वारा भी दृढ़ करते हैं।

चिरकाल से आराधित भी परम प्रसन्न हुए भी ये भगवान् अविचारशील पुरुषों को ज्ञान नहीं दे सकते ॥१०॥

'तुम्हें आत्मज्ञानपर्यन्त विचार प्राप्त हो' इस प्रकार वर दे रहे भगवान् हरि को पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न विचार ही मुख्यरूप से अभिमत है वर मुख्यरूप से अभिमत नहीं। अन्यथा तुम्हें ज्ञान हो, ऐसा ही वरदान देते, इस आशय से कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार में पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न हुआ विचार मुख्य कारण है, वर आदि गौण हैं, इसलिए तुम मुख्य हेतु में संलग्न होओ ॥११॥ *(जिस विषय में प्रयत्न करने से विचारोदय होता है, उसे दर्शाते हैं।)* इसलिए दसों इन्द्रियों को जबरदस्ती अपने वश में कर अभ्यास करते हुए सब प्रयत्नों से मन को विचारवान् बनाओ ॥१२॥ कहीं पर किसी के द्वारा जो कुछ भी पाया जाता है वह अपने यत्न से प्रयुक्त शुभाचरण से ही पाया जाता है, दूसरे से कहीं पर भी नहीं ॥१३॥ पौरुष प्रयत्न का अवलम्बन कर इन्द्रियरूप पर्वत को लाँघकर संसाररूप सागर को पार कर परम पद को प्राप्त होओ ॥१४॥ यदि पौरुष प्रयत्न के बिना भगवान् विष्णु का दर्शन हो, तो ये भगवान् मृग और पक्षियों का क्यों नहीं उद्धार करते यानी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार क्यों नहीं कराते ? ॥१५॥

गुरुजी शिष्य के प्रयत्न के बिना ही शक्तिपात आदि द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं यह योगशास्त्र आदि में प्रसिद्ध है, इसमें व्यभिचार आयेगा, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

अपना पौरुष किये बिना यदि गुरु अज्ञानी का उद्धार करते हैं, तो ऊँट अथवा बैल का उद्धार

क्यों नहीं करते हैं ? गुरुभक्ति आदि प्रयत्न ही वहाँ पर भी ज्ञानोत्पत्ति में गुरुकृपा को द्वार बनाते हैं, यह भाव है ॥१६॥

ज्ञान की दृढ़ता से बाधित मनवाले अपने आत्मा से जो परमपुरुषार्थरूप परमपद प्राप्त किया गया, वह न तो भगवान् विष्णु से कुछ प्राप्त किया जा सकता है, न गुरु से और न धन से ही प्राप्त किया जा सकता है ॥१७॥ अभ्यास और वैराग्य से युक्त आत्मा से जिसने इन्द्रियरूपी साँपों को अपने वश में कर लिया है, उससे जो परम पुरुषार्थ प्राप्त किया जा सकता है, वह तीनों जगतों से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥१८॥ हे वत्स, तुम अपने आत्मा को यह उत्कृष्ट है, यह समझकर श्रवण आदि से अपने–आप सिद्ध करो तथा सिद्ध हुए उसका अपने–आप निरन्तर अनुसन्धान द्वारा पूजन करो, अपने आत्मा का अपने आप तत्त्वतः साक्षात्कार कर उसीमें अपने–आप भली भाँति स्थित होओ ॥१९॥

यदि अपने प्रयत्न से उत्पन्न विचार से ही ज्ञान उदय होता है, तो शास्त्रों में विष्णु भगवान् की आराधना का विधान किसलिए है ? ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

विषयों में आसक्ति की प्रबलता के कारण अध्यात्मशास्त्रों से, इन्द्रियजय आदि प्रयत्नों से और विचारों से दूर भागनेवाले मूर्खों की कथंचित् शुभ मार्ग में प्रवृत्ति के लिए विष्णु की भक्ति की कल्पना की गई है ॥२०॥

पूर्वोक्त अर्थ को युक्तियों से दृढ़ करते हैं।

शास्त्र में अभ्यास और प्रयत्न पहले मुख्य विधि कही गई है। उनके अभाव में पूज्य पूजारूप विधि गौण है ॥२१॥ यदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली गई, तो पूजनों से क्या फल प्राप्त है ? यदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं हुई, तो पूजनों से क्या फल प्राप्त है, यानी कुछ भी नहीं ॥२२॥ विचार और उपशम के बिना पूर्णानन्द आत्मा स्वतन्त्ररूप से तत्त्वतः प्राप्त नहीं होता। विचार और उपशम से रहित (विषयासक्त) पुरुष का ईश्वर भी क्या अप्रिय कर सकता है ? ॥२३॥ विचार और उपशम से युक्त अपने चित्त को प्रसन्न करो। उसके प्रसन्न होने पर आप परम पुरुषार्थरूप सिद्धिता को प्राप्त हो जाओगे। नहीं तो आप जंगली गदहे के सदृश हो ॥२४॥ जैसे विष्णु आदि देवताओं की विनय प्रार्थना स्वयं की जाती है, वैसे ही अपने ही चित्त की प्रणय प्रार्थना क्यों नहीं की जाती है ? ॥२५॥ इन सभी लोगों के अन्दर भगवान् विष्णु स्थित हैं। उनका परित्याग करके जो बाह्य आराधना करते हैं, वे नराधम हैं। भाव यह कि मनोभक्ति ही मुख्य विष्णु भक्ति है बाह्यभक्ति मुख्य नहीं है ॥२६॥ हृदयरूपी गुहा में निवास करनेवाला चित्–तत्त्व ही आत्मा का (विष्णु का) मुख्य शाश्वत स्वरूप है। हाथ में शंख, चक्र, गदा धारण किया हुआ आकार गौण है ॥२७॥ जो मुख्य आकार का त्याग कर गौण रूप का अनुसरण करता है वह, सिद्ध अमृत का त्याग कर साध्य धान आदि को कृषि द्वारा उत्पन्न करता है ॥२८॥

तब बाह्य विष्णु भक्ति का अधिकारी कौन है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

हे वत्स रघुनन्दन, जो उन्मत्त मनवाला पुरुष आत्मज्ञान के चमत्कार में कदापि स्थिति को प्राप्त होता ही नहीं, आत्मविवेकलाभ से शून्य और अन्तगर्त अज्ञ मन का वशीभूत हो वह शंख–चक्र–गदाधारी परमेश्वर की पूजा करे ॥२९,३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, परमेश्वर के पूजन से, वैराग्यकारी क्लेशप्रद तपस्या से उसका चित्त बहुत समय में निर्मलता को प्राप्त होता है ॥३१॥ नित्य के अभ्यास

और विचार से चित्त बहुत जल्दी निर्मल हो जाता है। आम ही धीरे-धीरे पुष्प, फल आदि में अतिसुगन्धिरूप दशा को प्राप्त होता है ॥३२॥ हे शत्रुतापन, शास्त्र में विष्णु पूजाक्रमरूप निमित्त से जो फल कहा गया है उसे भी अपने ही संकल्प से प्राप्त करता है ॥३३॥ जो अमित तेजवाले विष्णु से वरदान पाता है। उसने भी अपने ही अभ्यास रूपी वृक्ष का वह फल प्राप्त किया ॥३४॥ जैसे धान आदि बीजों के अंकुर का उद्‌गम स्थान खेत होता है वैसे ही सब श्रेष्ठ पुरुषार्थों के आग्रहों तथा सब चिरकाल के लिए भोग्य सम्पत्तियों का उद्‌गम स्थान अपना मनोनिग्रह ही है ॥३५॥ निधि, रत्न आदि के लाभ के लिए पृथ्वी खोदेने के लिए उत्सुक पुरुष का या अश्वमेध के अश्व को खोजने के लिए उत्सुक सगर लड़कों का अथवा मन्दराचल को खींच रहे देवता, असुर आदि का अपने मन के निग्रह के सिवा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है यानी मन की एकाग्रता के बिना महाकार्यों की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है ॥३६॥ तब तक मनुष्य हजारों जन्मों तक संसार में भटकते रहते हैं जब तक कि मनरूपी मत्त महासागर प्रशान्त नहीं हो जाता ॥३७॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्रादि देवाधिदेव चिरकाल तक पूजित हों और दया भी करते हों, फिर भी वे मनोव्याधि के उपद्रवों से बचा नहीं सकते ॥३८॥ बाह्य इन्द्रियों से अनुभव में आनेवाले और अन्तःकरण से अनुभव में आनेवाले भयानक विषयरूप का त्यागकर जन्मक्षय के लिए जन्मादि विकारशून्य सन्मात्र का अखण्डाकार चिन्तन कीजिये ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से निर्मुक्त, निरामयैकसंविन्मय, स्वयं निरतिशयानन्दरूप से भासित होनेवाले अनन्तरूप सन्मात्र का, जो सबका सार है, निरन्तर तदाकारवृत्ति से आस्वाद लीजिये। यों उसका आस्वाद ले रहे आप जन्मरूप नदी के उस पार पहुँच जाओगे ॥४०॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

मन की निराशता की सिद्धि के लिए दृश्य की
व्यर्थ दुःखस्वरूपता का गाधि के आख्यान में विस्तार से प्रदर्शन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार नाम की यह माया अपरिमित भ्रान्ति की हेतु हैं। यह अपने चित्त पर विजय पाने से ही क्षय को प्राप्त होती है। अन्यथा नहीं ॥१॥ हे अनघ, जगन्मायाप्रपंच की विचित्रता के ज्ञान के लिये इस इतिहास को मैं आपसे कहूँगा। आप ध्यान देकर सुनिये ॥२॥ मेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष वन के समान इस पृथिवी तल में कोशलनामक विविध रत्नों का भंडार भूत देश है ॥३॥ वहाँ पर गाधि नाम से प्रख्यात कोई गुणवान ब्राह्मण हुआ। वह परम श्रोत्रिय, धीमान् और मूर्तिमान् धर्म-सा था ॥४॥ जैसे निष्कलंक निर्मल आकाश में भुवन विराजमान् होता है वैसे ही बाल्यावस्था से विरक्त निष्कलंक निर्मल चित्त से वह विराजमान था ॥५॥ किसी अभीष्ट तपस्यारूप कार्य को अपना लक्ष्य बनाकर वह बंधुओं के समूह से हटकर तपस्या करने के लिए वन में चला गया ॥६॥ वहाँ पर जैसे चन्द्रमा अतिदर्शनीय अश्विनी आदि तारों से मण्डित और प्रसन्न-निर्मल आकाश को प्राप्त होता है वैसे ही वह विप्रराज फूले हुए कमलों से युक्त तालाब को प्राप्त हुआ ॥७॥ जब तक

भगवान विष्णु का दर्शन न मिले तब तक तपस्या करने के लिए वर्षाकाल के कमल के समान गले तक जल में डूबा हुआ वह ब्राह्मण उस तालाब में प्रविष्ट हुआ ॥८॥ तालाब के जल में डूबे हुए तथा निवास स्थानभूत तालाब के कमलों का सूर्य के वियोग से संकोच होने पर उनके सहवास स्नेह से तनिक मलिन मुखकमलवाले उसके आठ मास व्यतीत हो गये ॥९॥ तदनन्तर एक समय जैसे वर्षा ऋतु में ग्रीष्म से संतप्त पृथिवी तल पर काला मेघ आता है, वैसे ही तपस्या से कृश उसके पास श्यामलकान्तिवाले भगवान श्रीहरि आये ॥१०॥

श्रीभगवान् ने कहा : हे विप्र, जल के मध्य से उठो, मनमाना वर लो । तुम्हारा नियमरूपी वृक्ष अभीष्ट फल से युक्त हो गया है ॥११॥ ब्राह्मण ने कहा : भगवान्, असंख्य ब्रह्माण्डों में विद्यमान प्राणियों के हृदयकमल मध्य में स्थित भ्रमररूप और त्रिजगत् रूपी कमलिनी के तालाबरूप भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥१२॥ हे भगवान्, आपसे रचित इस संसार नामक माया को, जो परमात्मा में अध्यस्त है और जीवों को अन्धा बनानेवाली है, मैं देखना चाहता हूँ ॥१३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, 'इस माया को तुम देखोगे और देखने के बाद इसका त्याग करोगे' ऐसा ब्राह्मण से कहकर भगवान् गन्धर्वनगर के समान अदृश्य हो गये ॥१४॥ भगवान् विष्णु के चले जाने पर वह उत्तम ब्राह्मण शीतल और निर्मल मूर्ति होने के कारण क्षीरसागर से चन्द्रमा के समान जल से उठा ॥१५॥ वह चन्द्रमा के दर्शन और स्पर्श से विकसित कमल की भाँति त्रिलोकी के अधिपति भगवान् के दर्शन से बहुत प्रसन्न हुआ ॥१६॥ तदनन्तर हरि भगवान् के दर्शन से आनन्द में मग्न हुए उसके वन में कितने ही दिन ब्राह्मणोचित तप, स्वाध्याय, अतिथि पूजा आदि से व्यतीत हुए ॥१७॥ एक समय जैसे महर्षि योगबल से अतीत और अनागत को देखने के विमान सरोवर में चिन्तन करते हैं वैसे ही विष्णु भगवान् के वचन का चिन्तन कर रह उसने फूले हुए कमलवाले तालाब में स्नान करना आरम्भ किया ॥१८॥ तदनन्तर स्नानविधि में सब पापों की निवृत्ति के लिए (अघमर्षण के लिए) उसने जल के भीतर कुशयुक्त अपने हाथ से आवर्त–सा किया ॥१९॥ जल में डूबकी लगा कर प्रणव आदि मन्त्रों के स्मरणरूप उस अघमर्षण विधि में जल के मध्य में स्थित उसके मन्त्र, ध्यान आदि विस्मृत हो गये और ज्ञान विपरीत ग्रहणोन्मुख हो गया । उसने अपने घर पर अपने को वायु वेग से कन्दरा के बीच में गिरे हुए वृक्ष के समान मृत और शोचनीयता को प्राप्त हुआ देखा । उसने अपने को प्राण और अपान वायुओं के प्रवाह से मुक्त, नाश को प्राप्त हुआ, निर्वात स्थान में गिरे हुए कदली के वृक्ष आदि के समान प्रशान्त अवयव चेष्टावाला, पीले मुँहवाला, वृक्ष के सूखे हुए पत्ते के समान मुरझाया हुआ, शव हुआ–सा, जिसकी नाल कट गई हो ऐसे कमल के समान कुम्हलाया हुआ, प्रातःकाल जिससे तारे अस्त हो गये ऐसे आकाश के समान अस्त नेत्र वाला देखा । वह अनावृष्टि से ग्रस्त ग्राम के समान चारों ओर धूलि से धूसरित था, करुण विलाप करनेवाले दुःखी दीन बन्धुओंसे, जिनका मुँह बाष्पधारा से आर्द्र था, वह ऐसे परिवृत था जैसे कुरर नामक पक्षियों से वृक्ष आवृत होता है । बाँध के टूट जाने से बह रहे जल से जिसका मुखरूप कमल हरा जा रहा हो, ऐसी कमलिनी के तुल्य भार्या ने उसके चरण परड़ रक्खे थे । ऊँचे गूँज रहे (रोदन कर रहे) भौंरों के समान प्रलाप और दीर्घ स्वर के आलाप में आसक्त माँ ने उसकी ठुड्डी, जो नूतन मूँछ–दाढ़ी से युक्त थी, पकड़ रक्खी थी ॥२०–२७॥ जैसे ओस बहा रहे सूखे पत्तों से वृक्ष परिवेष्टित होता है वैसे ही

पास में बैठे हुए दुःखी अश्रु धारा बहा रहे अन्यान्य लोगों से वह परिवेष्टित था ॥२८॥ वियोग के भय से मानों संयोग का त्याग कर रहे अतएव दूर हटे हुए हाथ, पैर आदि अंगों से अनात्मीयजनों की भाँति वह आवृत था ॥२९॥ परस्पर न सटे हुए ओठों से और कुछ मलिन सफेद दाँतों से अपने जीवन को इतने समय तक वृथा गया यों हँस रहे विरक्त पुरुष, के समान मौन ध्यान को प्राप्त हुआ-सा, पंक से बनाया हुआ-सा, फिर न जागने के लिए सोया-सा, दीर्घ विश्राम कर रहा-सा था ॥३०,३१॥ बान्धवों के रोने पीटने के कोलाहल से मिली हुई वाणियों को, किसका मेरे प्रति अधिक स्नेह और किसका कम यों विचार करने के लिए, मानों, यत्न से सुन रहा था ॥३२॥ तदनन्तर उस समय राशिभूत निरन्तर प्रलापों से व्याकुल चेष्टा वाले छाती पीटने के साथ मूर्च्छा से उत्पन्न नेत्र के जलप्रवाह से सराबोर दुःखी आत्माओं द्वारा, जो दीर्घ विलाप आदि के घर्घर शब्द से पूर्ण थे, उसका अमंगल शव फिर न देखने के लिए घर से बाहर निकाला गया और श्मशान में ले जाया गया। वह श्मशान माँस, आँतें और चर्बी के पंक से दूषित, सूखे और ताजे खून से तर तथा सैकड़ों कंकालों से व्याप्त था, चील-गीधरूपी मेघों से उसमें सूर्य की किरणें आच्छन्न थी, चिता की अग्नि से अन्धकार न था, सियारों के मुख से निकली हुई अशुभ ज्वालाओं से उसमें पृथ्वी पल्लवयुक्त-सी प्रतीत होती थी, वहाँ पर बह रही खून की नदियों में कोई सफेद चील और कौए स्नान करते थे और कोई डूब गये थे, खून से तर आँतों के समूहरूपी जाल में बूढे पक्षी बँधे हुए थे। वहाँ पर उन बन्धुओं ने प्रदीप्त अग्नि में जैसे समुद्र बड़वानल में अपने जलप्रवाह को भस्म करते हैं वैसे ही उसे भस्म किया ॥३३-३८॥

सूखे हुए इन्धनों से खूब बढ़ी हुई ज्वालाराशिरूपी जटाओं से युक्त उस चिता ने चट-चट शब्दों से शव को शीघ्र जला दिया ॥३९॥ अग्नि ने, जिसने बढ़ रहे कट-कट शब्दों से और छोड़ी गई दुर्गन्ध से मेघमण्डल को व्याप्त कर दिया था, उसकी अस्थि राशि को, जिससे बढ़े हुए रस निकल चुके थे, जैसे हाथी सूराखवाले बाँस के समूह को चारों ओर विदलित कर देता है वैसे ही विदलित कर दिया ॥४०॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

गाधि का भिलनी के गर्भ में जन्म, किरात स्थिति और कीरपुर में राज्य प्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद जल के भीतर स्थित हुए गाधि ने मानसिक दुःखों से भरी हुई अपनी बुद्धि से निर्मल आत्मा में अन्तरात्मा से अपने को भूतमण्डल नामक देश की सीमा के गाँव के नजदीक रहनेवाले चाण्डालों की स्त्री के गर्भ में स्थित अतएव आकुल देखा ॥१,२॥ गर्भवास के दुःखों से वह पीड़ित था, उसके कोमल अंग थे और वह अपनी विष्टा के समान चाण्डाली के हृदय में सोया था, अतएव व्याकुल था ॥३॥ क्रमशः परिपक्व होने के कारण जैसे वर्षा ऋतु काले मेघ को समय पर पैदा करती है वैसे ही समय पर चाण्डाली से उत्पन्न किया गया वह काली कान्तिवाला तथा मलमूत्र आदि से वेष्टित था ॥४॥ चाण्डालों के घर में उत्पन्न हुआ और चाण्डालों का अत्यन्त प्रिय शिशुरूप इधर-उधर चल रहा वह यमुना प्रवाह में गिरे हुए कर्णभूषणरूप नील कमल के समान था ॥५॥ बारह वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ, तदनन्तर सोलह वर्ष की अवस्था में स्थित, स्थूल कन्धावाला,

विशालकाय, उदीयमान मेघ के समान था ॥६॥ शिकार खेलने के लिए कुत्तों से परिवृत होकर एक वन से दूसरे वन में विहार कर रहा, लाखों मृगों को मार रहा वह व्याधों की अवस्था को प्राप्त हुआ था ॥७॥ तदनन्तर तमाल की लता के समान चाण्डाल कन्या से उसने विवाह कर लिया था। वह स्तनरूप स्तवकों से सुशोभित थी, नूतन पल्लव के समान उसके हाथ थे। दाँत साफ न करने के कारण मलिन और स्वाभाविक शुक्लता के कारण निर्मल उसकी दन्तपंक्ति थी और वह स्वयं श्याम थी। नव पल्लवों का अनुकरण करनेवाले बहुत से विलासों से उसके अंग पूर्ण थे ॥८,९॥ जैसे काली भँवरी के साथ काला भौंरा पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वनान्तों में विहार करता है वैसे ही श्यामवर्ण वाला वह नूतन होने के कारण ही अभीष्ट श्यामवर्णवाली उसके साथ पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वन प्रान्तों में विहार करता था ॥१०॥ वन की पर्णलताओं के (ताम्बूल लताओं के) पत्ते में निवास कर रहा व्यसनों से आतुर वह पुरुष का आकार धारण किये हुए विन्ध्याचल के समान भीषण था ॥११॥ वह वन के कुंजों में विश्राम करता था, पर्वत की गुफाओं में सोता था, पत्तों की ओट में छिपा रहता था, बड़ी–बड़ी झाड़ियों को उसने अपना निवास स्थान बना रक्खा था ॥१२॥ वह किंकिरात की मंजरियों के कर्ण भूषणों से अलंकृत रहता था, जूही की मालाओं से विभूषित रहता था, केवड़े के कर्णपूरों से बड़ा सुन्दर लगता था और आम के बौरों की माला से आच्छन्न रहता था ॥१३॥ फूलों की सेजों पर लेटा रहता था, पर्वत के तटों पर घूमता था, वनों के विषय में असाधारण ज्ञान रखता था और मृगों का शिकार करने में पण्डित था ॥१४॥ तदनन्तर जैसे खैर काँटों को पैदा करता है वैसे ही उसने वनों में अपने कुल के अंकुररूप पुत्रों को, जिनके चरित्र अत्यन्त विषम (श्रवण के भी अयोग्य) थे, उत्पन्न किया ॥१५॥ पहले वह स्त्री–पुत्र आदि परिवारवाला हुआ, उसके बाद उसका यौवन क्षीण हो गया, तदनन्तर वृष्टि रहित भूमि की तरह धीरे–धीरे जर्जर हो गया ॥१६॥ तदुपरान्त भूतमण्डल नामक देश की अपनी जन्मभूमि में जाकर दूर पर्ण कुटी बनाकर मुनीश्वर के समान रहने लगा ॥१७॥ वह जरा से अत्यन्त जर्जरता को प्राप्त हो गया। अपने शरीर के समान प्रमाणवाले उसके लड़के थे, वह गड्ढे में उत्पन्न सुखे हुए तमाल वृक्ष के सदृश था ॥१८॥ वह बड़ा प्रौढ़ था, चाण्डाल की गृहस्थी कर रहा था, उसके बहुत से बन्धु बान्धव थे, नाम, कर्म और वचन बड़े क्रूर थे और वह बहुत बड़ी कुटुम्ब वृद्धि को प्राप्त हुआ था। उसने अपने को इस प्रकार देखा ॥१९॥ तदनन्तर अन्य चाण्डालों से वृद्ध, अपने पूर्वोक्त भ्रम का अनुसरण कर रहे कुटुम्बी गाधि ने अपना जितना कुटुम्ब था उसे मृत्यु द्वारा आवृत कर जैसे वृष्टि–जल का प्रवाह वन में गिरे हुए सूखे पत्तों को ले जाता है वैसे ही गया देखा ॥२०,२१॥ दुःख से पीड़ित वह झुण्ड से बिछुड़े हुए मृग के समान एकाकी ही वन में रोता था। उसके नेत्र आँसुओं से भीगे रहते थे और उसका कोई अवलम्बन न था ॥२२॥ शोक से व्याकुल बुद्धिवाले उसने कुछ दिन वहाँ बिताकर जैसे सूखे कमलवाले सरोवर का हंस आदि त्याग कर देते हैं वैसे ही स्वदेश का त्याग कर दिया ॥२३॥ अवलम्बनरहित और शोकपीड़ित वह किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित हो रहे की नाईं वायु से उड़ाये गये बादल की भाँति बहुत देशों में भटकता फिरा ॥२४॥ एक समय आकाश में सुन्दर विमान के समान आकाश में विचरण करनेवाला वह कीर लोगों के निवासभूत देश में श्रीमती पुरी में पहुँचा ॥२५॥ वह स्वर्ग मार्ग के तुल्य राजमार्ग के मध्य में पहुँचा जहाँ पर रत्नों और वस्त्रों से आच्छादित मार्ग स्थित वृक्ष, लताएँ और अंगनाएँ नाच रही

थी, टखनों तक फूल बिखरे हुए थे, अधीन राजाओं, ललनाओं और नागिरक लोगों से जो ठसाठस भरा था और चन्दन तथा अगर से सुशोभित था ॥२६,२७॥ वहाँ पर उसने चलने से चंचल हुऐ सुमेरु पर्वत के, जिसमें श्रेष्ठ मणियों से देवताओं के मन्दिर बने थे, तुल्य श्रेष्ठ रत्नों के झूले से अलंकृत मंगल हाथी को देखा ॥२८॥ जैसे रत्न परीक्षा में कुशल पुरुष चिन्तामणि को देखने की इच्छा से रत्न के लिए विहार करे वैसे ही राजा के मरने पर राजा के लिए वह इधर-उधर विहार कर रहा था ॥२९॥ उस चाण्डाल ने कौतूहल से विस्फारित दृष्टि से स्पन्दयुक्त पर्वत के तुल्य उस हाथी को चिरकाल तक देखा ॥३०॥ उस हाथी ने देख रहे उस चाण्डाल को अपनी सूँड़ से पकड़कर जैसे मेरू अपने तट पर सूर्य को संलग्न करता है वैसे ही बड़े आदर के साथ उसको अपने गण्डस्थल पर चढ़ाया ॥३१॥ जैसे प्रलयकाल के मेघ के आकाश में आरूढ़ होने पर सागर गरजते हैं वैसे ही उसके गण्डस्थलपर आरूढ़ होने पर चारों ओर विजय के नगारे बजने लगे ॥३२॥ मनोरथों को पूर्ण करनेवाला राजा सुशोभित हुआ। तदनन्तर जागे हुए पक्षियों की ध्वनि के समान राजा की जय हो, इस प्रकार की जनध्वनि उत्पन्न हुई, जिसने दिशाओं को भर दिया था ॥३३॥ इसके बाद सागरों की, जिनका जल तटों से टकराया हो, ध्वनि के समान बन्दिवृन्दों का तुमुल कोलाहल हुआ ॥३४॥ क्षीरसागर के मन्थन से जनित क्षोभ से घूम रही लहरियों ने जैसे मन्दराचल को परिवेष्टित किया था वैसे ही सुन्दर-सुन्दर ललनाओं ने, अलंकृत करने के लिए, उसे घेर लिया ॥३५॥ जैसे वेलाएँ, जिनमें सूर्य नाना प्रकार के मणियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण तत्-तत् प्रभाओं से सुशोभित रहता है, अपने तटवर्ती पर्वत को पूरित करती हैं वैसे ही उन्होंने सूत्रों में गुँथे हुए रत्नों से उसे परिपूर्ण किया ॥३६॥ जैसे वृष्टियाँ जल प्रवाहों से वन मध्य में स्थित उत्तम शिखर को विभूषित करती है वैसे ही हिम के समान शीतल स्पर्श वाले हारों से उन युवतियों ने उसे विभूषित किया ॥३७॥ जैसे चंचल कररूपी पल्लववाली बसन्तशोभा वनको फूलों से वेष्टित करती है वैसे ही विचित्र वर्ण और सुगिन्ध वाले फूलों से स्त्रियों ने उसे परिवेष्टित किया ॥३८॥ जैसे पर्वत मेरु आदिधातुओं की प्रभाराशियों से मेघ को लिप्त करता है वैसे ही विविध रंग, रस और सुगन्धिवाले विलेपनों से उन्होंने शीघ्र उसका लेप किया ॥३९॥ जैसे मेरु सन्ध्याकाल के मेघ, तारे, चन्द्रमा और आकाश गंगा से व्याप्त आकाश को ग्रहण करता है वैसे ही रत्न और सुवर्ण के भूषणों से भूषित उसने उनके हर चित्त को हर लिया ॥४०॥ भाँति-भाँति के विलासों से युक्त ललनारूपी लताओं से परिवेष्टित और मणि और सुवर्ण के आभूषणों से विभूषित वह विलास युक्त छोटी-छोटी लताओं से परिवृत रत्नरूपी पुष्प और वस्त्रों से सुशोभित कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हुआ ॥४१॥ इस प्रकार के उसके पास जैसे फूले हुए मार्ग के वृक्ष के समीप पथिक जाते हैं वैसे ही परिवार युक्त सब प्रकृतियाँ आई ॥४२॥ उन्होंने जैसे देवता ऐरावत हाथी पर इन्द्र का अभिषेक करते हैं वैसे ही उसी हाथी पर उसका सिंहासन में अभिषेक किया ॥४३॥ जैसे कौआ परिपुष्ट, प्राणविहीन जंगली हरिण को पाता है वैसे ही उस चाण्डाल ने कीरनगर के मध्य में इस प्रकार राज्य प्राप्त किया ॥४४॥ कीरदेश की नारियों के करकमलों से जिसके चरण दबाये जाते थे, सर्वांग में कुंकुम के लेप से जो सन्ध्याकाल के समान सुन्दर था, इस प्रकार का वह नागरिक ललना जनों से युक्त होकर जैसे फूले हुए वन में सिंहिनियों के झुण्ड से युक्त सिंह सुशोभित होता है वैसे ही कीरनगर में सुशोभित हुआ ॥४५,४६॥ जैसे तालाब में सूर्य की किरण और मद से

सन्तप्त हुआ हाथी जल के प्रवाहों से क्रीड़ा करता है वैसे ही सिंहों से विदीर्ण किये गये हाथियों के कुम्भों से गिरे हुए मोतियों से विभूषित शरीरवाला और चिन्ता एवं विषाद से शून्य वह सज्जनों के साथ भोगों से आनन्द लेता था ॥४७॥ चारों ओर उसकी राज्यशक्ति व्याप्त थी, अतएव सब दिशाओं में उसकी आज्ञा चलती थी। कुछ दिनों में स्वेच्छा से ही उसकी सारी राज्यव्यवस्था सिद्ध हो गई थी। प्रकृतियों ने ही उसके समस्त अधीनस्थ राजाओं का भार वहन किया था, इस प्रकार का वह गवल इस नामसे प्रसिद्ध होकर वहाँ पर राजा हुआ ॥४८॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

उसे दूसरे चाण्डाल से चाण्डाल जानकर लोगों के
अग्नि में प्रवेश करने पर उसका भी अग्नि में भस्म होना और गाधि का प्रबुद्ध होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वह विलासवती सुन्दरियों से परिवृत मन्त्रिमण्डल द्वारा सन्मानित, सब सामन्तों द्वारा वन्दित, छत्र और चँवरों से लालित अप्रतिहत आज्ञावाला तथा सुन्दर आकृतिवाला था। उसे राज्य के सब गुण ज्ञात थे। उसकी प्रजाओं के शोक, भय, क्लेशआदि नष्ट हो गये थे। निरन्तर स्तुतिमंगल और आनन्दपूर्ण वृत्ति से, आसवों से अत्यन्त उन्मत्त हुए पुरुष की नाईं, वह अपने स्वभाव को भूल गया ॥१–३॥ कीरदेश में उस चाण्डाल ने आठ वर्ष तक राज्य किया। तब तक उसने दया, दाक्षिण्य, शौचादि सद्वृत्तियों को पूर्णरूप से धारण किया ॥४॥ तदनन्तर एक समय वह अपनी इच्छा से भूषणरहित अतएव अन्धकार सा तारे चन्द्रमा, सूर्य के तेज और मेघों से रहित आकाश के तुल्य स्थित था ॥५॥ वह हार, बाजूबन्द कड़े आदि आभूषणों का बहुत आदर न करता था क्योंकि प्रभुता से परिपूर्ण चित्त को कृत्रिम आभूषण आदि भले नहीं लगते ॥६॥ जैसे अस्त को प्राप्त होता हुआ सूर्य मुख्य आकाशरूपी आँगन से आकाश के अन्तिम भाग को जाता है वैसे ही वह मुख्यजनों से आश्रित भीतर के आँगन से साधारण लोगों से सेवित बाहरी आँगन में पूर्वोक्त वेष से अकेला ही गया। वहाँ पर उसने वसन्त में उत्पन्न हुए कोकिलों के समूह की नाईं मधुर गा रहे काले और स्थूलदेहवाले चाण्डालों के संघ को देखा ॥७,८॥ वह जैसे भ्रमर पंक्ति, जिसके पंख शब्द कर रहे हों, वृक्ष को कम्पित करती है वैसे ही करपल्लव की लीला से वीणा के तारों को मधुर स्वर के साथ बजा रहा था ॥९॥ उनमें से एक बूढ़ा चाण्डालों का नेता उठा जिसके लालनेत्र थे और जो हिमसे आच्छन्न पर्वत के काँचमय श्रृंग के समान वृद्धावस्था से सफेद हुए केशों से आच्छन्न काले शरीर का था ॥१०॥ उसने 'कटंज' इस पूर्वनाम से कीर देश के अधिपति गवल का सहज संबोधन करते हुए कहा : जैसे श्रृंगारी पुरुष मधुरकण्ठवाले कोकिल का सम्मान करता है वैसे ही यहाँ पर राजा गानविद्या में कुशल मधुर कण्ठवाले आपका सम्मान करता है क्या ? जैसे वसन्त फल और पुष्पों की राशियों से आम के वृक्ष को पूर्ण कर देता है, वैसे ही घर, वस्त्र, आसन आदि के दान से राजा आपको पूर्ण करता है क्या ? आपके दर्शनों से सूर्योदय से कमल के समान तथा चन्द्रमा के उदय से औषधियों के समान मैं परम आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ। बंधुओं का दर्शन सब आनन्दों को, बड़े–बड़े लाभों की और अनन्त विश्रामों की चरम सीमा है।

चाण्डाल के ऐसा कहने पर राजा ने उस काल में उत्पन्न हुई विभिन्न चेष्टाओं से ही उसका तिरस्कार किया। उसी समय झरोखे में बैठी हुई स्त्रियों और अमात्यआदि प्रकृतियाँ यह चाण्डाल है यह जानकर अत्यन्त उदास हुई ॥११-१६॥ जैसे तुषार से भरनेवाली वृष्टि से कमल शोभित नहीं होते और जैसे उत्पातों से युक्त ग्राम शोभित नहीं होते और जैसे वनाग्नि से भरे हुए पर्वत शोभित नहीं होते वैसे ही वे नागरिक शोभित नहीं हुए ॥१७॥ जैसे वृक्ष की चोटी पर बैठी हुई बिल्ली के फुफकार का सिंह तिरस्कार करता है वैसे ही राजा ने चाण्डाल के संभाषण का तिरस्कार किया ॥१८॥ उसने तुरन्त जैसे राजहंस अनावृष्टि से जिसके कमल म्लान हो रहे हों ऐसे तालाब में प्रवेश करता है वैसे ही आनन्दरहित अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥१९॥ जिसके तने के बड़े खोखले में अग्नि लगी हो ऐसे सेमल आदि का वृक्ष जैसे म्लानता को प्राप्त होता है वैसे ही वह सब अवयवों में भीनी हुई म्लानता को प्राप्त हुआ ॥२०॥ वहाँ पर चूहे ने जिसकी जड़ खा डाली हो ऐसे कुंकुम के फूलों की झाड़ी के समान सब लोगों को उसने उदास देखा ॥२१॥ तदनन्तर उन मन्त्री, नगरवासी और नारियों ने जैसे घर में ही स्थित शव का लोग स्पर्श नहीं करते वैसे ही उसका स्पर्श नहीं किया ॥२२॥ जैसे दुःखी अत्यन्त स्नेहवाली ललनाएँ शव का दूर से ही त्यागकर देती हैं ऐसे ही सेवकों ने असत्कृत उसका दूर से ही त्याग कर दिया ॥२३॥ उसके मुँह पर आनन्द की रेखा भी न थी, शरीर काला पड़ गया था, शोभा ने तो उसका सर्व त्याग कर दिया था, इसलिए वह श्मशान भूमि के समान था। दुःखी नागरिकों ने उसका कुछ भी सम्मान नहीं किया ॥२४॥ उसका शरीर धुएँ के समान मैला था। जैसे पर्वत के शिलामय प्रदेश के समीप अग्नि नहीं जाती वैसे ही परिताप दशावाली जनता उसके समीप नहीं गई ॥२५॥

अपनी आज्ञाशक्ति से उसने जनता को क्यों वशीभूत नहीं किया ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

योद्धाआदि के समुदाय से उपेक्षित मन्दोत्साह हुई उसकी आज्ञा, भस्म में जलबिन्दुओं के समान, आज्ञापन योग्य पुरुष को प्राप्त न कर सकी ॥२६॥ जैसे लोग राक्षस से भयभीत होकर भागते हैं वैसे ही क्रूर कार्यकारी आकारवाले तथा संगति से अशुभ फल देनेवाले उससे भयभीत होकर लोग विशेषरूप से भागते थे ॥२७॥ यद्यपि वह बहुत से लोगों के बीच में रहता था तथापि जैसे परदेश में धन आदि गुणों से रहित पथिक बहुत बड़े जनसमुदाय के बीच रहता हुआ भी अकेला ही रहता है वैसे ही वह भी अकेला ही हुआ ॥२८॥ जैसे पथिक वायु के कारण शब्द कर रहे तथा मोतियों की राशि से युक्त भी कीचकनाम के विशेष बाँसों को वचन नहीं देते हैं यानी उनसे बातें नहीं करते वैसे ही खूब पुकार रहे एवं मोतियों के हारों से अलंकृत भी उसे नगरवासियों ने प्रतिवचन नहीं दिया ॥२९॥ इसके अनन्तर हम सब लोग चिरकाल तक चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हैं, प्रायश्चितों से हमारी शुद्धि होगी नहीं; अतएव हम लोग अग्नि में प्रवेश करते हैं, ऐसा निश्चयकर नगर में सब नागरिक तथा मन्त्रियों ने सूखी हुई लकड़ियों से बढ़ाई हुई चिताएँ चारों ओर बनाई ॥३०,३१॥ तब आकाश में तारों के समान चारों ओर उसमें चिताओं के प्रज्वलित होने पर सारे नगर के लोग विलाप करने लगे ॥३२॥ करुण विलाप करनेवाला और आँसुओं की धारा वर्षानेवाली नारियों द्वारा नगर व्याप्त था तथा वहाँ जल रहे कुण्डों के आस-पास लोग किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रो रहे थे ॥३३॥ जैसे वायुओं से अरण्य दृढ़तर शब्द करता है वैसे ही अग्निकुण्डों में प्रविष्ट हुए मंत्रियों के सेवकों के रोदन द्वारा सारा नगर खूब आँसू बहा रहा था और विलाप कर रहा

था ॥३४॥ चिताओं में जले हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों के मांस से अधिक गन्धवाली उत्पात की आँधी द्वारा मिट्टी के ढेरों से उठे हुए धूलि कणों से ऐसा प्रतीत होता था मानों उस पर तुषार की वृष्टि हुई हो ॥३५॥ वायु से दूर–दुर तक फैली चर्बी की गन्ध से दूर से लाये गये पक्षियों और पिशाच आदि के मण्डलों से छिन्न सूर्यवाला वह नगर बादलों से जिसमें सूर्य आच्छन्न हो ऐसे आकाश की नाईं हुआ ॥३६॥ वायु से उड़ाई गई चिताओं की अग्नि से उस नगर का आकाश मण्डल जल रहा था तथा उड़े हुए अग्नि कणों के संघातरूपी तारों से दिशाएँ कर्बुरित हो गई थी ॥३७॥ वहाँ पर उन्मत्त चोर लुटेरों द्वारा आभूषण आदि के हरण के समय बालक और कुमार रो और काँप रहे थे, भयभीत नागरिकों ने अपने जीवन और नाम का त्याग कर दिया था एवं किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रह गई थी ॥३८॥ उस नगर में घर नहीं दिखाई देते थे, चोरों ने सब धनसंचय लूट लिया था, लोगों ने अपने पुत्र–कलत्र का त्याग कर दिया था और मरने के लिए सब नगरवासी व्यग्र थे ॥३९॥ इस प्रकार इस कष्ट पर विधिविपर्यय के, जिससे सारी जनता की पूर्ण प्रलय के समान स्थिति थी, प्रवृत्त होने पर शोक से व्याकुल चित्तवाले गवलने, राज्य के सज्जनों के संसर्ग से जिसकी धीर बुद्धि पवित्र हो गई थी, विचार किया। मेरे ही कारण यह अनर्थ, जो अकाल प्रलयमय और सब नेताओं का नाशकारी है, इस देश में उत्पन्न हुआ है। मेरे जीवन के क्लेश से क्या प्रयोजन है मेरे लिए मरना ही महोत्सव है। लोकनिन्दनीय दुष्ट जीव का जीवन की अपेक्षा मरण अच्छा है ॥४०–४३॥ ऐसा विचार कर गवल ने अपने शरीर को पतंग की नाईं बिना किसी उद्वेग के प्रज्वलित अग्नि में आहुति बना दिया ॥४४॥ गवल नामक उस देह के निर्वेदवश अग्नि में गिरने और अवयवों से व्याकुल होने पर अपने अंगों के दाहवश हिलने–डुलने के कारण जल के अन्दर अघमर्षण कर रहे गाधि तुरन्त बोध को प्राप्त हुए ॥४५॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलावलम्बी हो गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए स्नानार्थ चली गई और दूसरे दिन रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर आ गयी ॥४६॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

अतिथि से अपना पूर्वोक्त कीरराज वृत्तान्त सुन कर,
स्वयं वहाँ जाकर, देखकर और पुनः पुनः पूछ कर गाधि का विस्मित होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्र, तदनन्तर श्रीगाधिजी जैसे समुद्र का अति संक्षुब्ध तटवर्ती आवर्त शान्त होता है ऐसे पूर्वोक्त संसार भ्रम से शान्त हुए ॥१॥ जैसे प्रलय के समय ब्रह्माजी जगत् की रचना से विरत होते हैं वैसे ही मन की रचनारूप मोह से वे विरत हुए ॥२॥ जैसे मदिरा आदि के मद के शान्त होने पर स्वच्छ चित्त हुआ पुरुष' मैं अमुक हूँ' इस बोध को प्राप्त होता है वैसे ही निद्रारहित बुद्धिवाले शान्त हुए गाधि धीरे–धीरे पूर्वोक्त गाध्य अहंभाव बोध को प्राप्त हुए ॥३॥ जो स्नान के लिए जल में उतरा था वह गाधि मैं हूँ यह अवशिष्ट स्नान, तर्पण आदि कृत्य मेरा कार्य है यह पहले देखा गया चाण्डाल राज्यआदि मेरा कार्य नहीं है यह उन्होंने वैसे ही देखा जैसे कि रात्रि के बीतने पर अन्धकारावरण

के क्षीण होने पर लोग देखते हैं ॥४॥ जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में वसन्त कमल को, जिसका मुकुलरूपी मुख उत्पन्न हो चुका हो, जल के अन्दर से बाहर करता है वैसे ही गाधि ने, जिन्हें अपने स्वरूप का स्मरण हो चुका था, जल से पैर बाहर किया ॥५॥ पूर्वानुभूत जल, दिशा और आकाशवाली इस पृथिवी को फिर अन्य-सी देख वे परम विस्मय को प्राप्त हुए ॥६॥ मैं कौन हूँ क्या देखता हूँ, मैंने क्या किया यों क्षण भर भ्रूभंगपूर्वक अन्दर विचार करते हुए स्थित रहे ॥७॥ थके हुए मैंने उस थकावट से ही क्षणभर में ही भ्रम देखा। ऐसा विचारकर वह जैसे उदयाचल से सूर्य निकलते हैं वैसे ही जल से बाहर निकले ॥८॥ उठकर उन्होंने विचार किया मेरी वह माता कहाँ है और वह स्त्री कहाँ है ? जबकि मैं माता और पत्नी के बीच में मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥९॥ जैसे वायु से उड़ाये गये पत्ते का माता-पिता स्थानीय लताप्रधान वृक्ष तलवार से नष्ट हो जाता है वैसे ही मुझ मन्दभाग्य के माता और पिता, जब मैं बालक ही था तभी, मृत्यु से नष्ट हो गये थे ॥१०॥ मैं अविवाहित हूँ जैसे ब्राह्मण चित्त में क्षोभ पैदा करनेवाली दुष्ट मदिरा के रस को नहीं जानता वैसे ही मैं क्षोभकारिणी स्त्री का स्वरूप भी नहीं जानता ॥११॥ मेरे जन्मभूमि के अमात्य बन्धु-बान्धव मुझसे बहुत दूर है, जिनके बीच में मैंने प्राण त्यागे थे, वे न मालूम कौन थे ? ॥१२॥ इसलिए उत्पन्न हुए ये विविध प्रकार के पदार्थ और जन्म आदि का अभिमान गन्धर्वनगर के समान मैंने क्या देखा ? ॥१३॥

स्वप्न के समान बाध होने के कारण उसकी असत्यता का निश्चय कर उसकी उपेक्षा करते हैं।

यह बन्धुओं के बीच में मृत स्थिति रहे इस मायाजनित मोह में यह कुछ भी सत्य दृष्टिगोचर नहीं होता ॥१४॥ जैसे मदोन्मत्त सिंह वनराजियों में घूमता है वैसे ही यह प्राणियों का चित्त अनन्त भ्रान्तियों में नित्य घूमता है ॥१५॥ इस प्रकार गाधि ने चित्त में उस मोह का विचार कर उसी अपने आश्रम में कुछ दिन बिताये ॥१६॥ वहाँ एक समय गाधि के पास कोई प्रिय अतिथि ब्रह्मा के पास दुर्वासा की तरह आया। श्रान्त हुए उसने वहाँ पर विश्राम लिया। जैसे वसन्त फल, पुष्प, रस आदि से वृक्ष को परम प्रसन्नता को प्राप्त कराता है वैसे ही गाधि ने फल, पुष्प, रस और भोजन से उस अतिथि को प्रसन्नता को प्राप्त कराया ॥१७,१८॥ एकान्त में दोनों ने सन्ध्यावन्दन और जप किया। दोनों ही क्रम से कोमल पल्लवों के शयनों पर आकर बैठे ॥१९॥ तदनन्तर उन दोनों तपस्वियों की अपने तप, ध्यान आदिकर्मों के अनुरूप शान्तरस प्रधान कथा ऐसी ही प्रवृत्त हुई जैसे कि भगवान् सूर्य का उत्तर दिशा से सम्बन्ध होने पर वसन्त में वसन्त ऋतु के अनुरूप पुष्पशोभा प्रवृत्त होती है ॥२०॥ गाधि ने बातचीत के सिलसिले में उस अतिथि से पूछा कि ब्रह्मन्, आप क्यों कृश हैं और क्यों थके हैं ? ॥२१॥ अतिथि ने कहा : भगवान्, मेरी अत्यन्त कृशता और श्रम का कारण सुनिये। हम लोग असत्यवादी नहीं हैं, जो वास्तव बात है, उसे मैं आपसे कहता हूँ ॥२२॥ इस भूतल में उत्तर दिशारूपी निकुंज है, उसमें कीर नाम से विख्यात समृद्ध और विशाल देश है ॥२३॥ उसमें पुरवासी लोगों से सन्मानित हो रहा और विविध प्रकार के आत्मा को अच्छे लगनेवाले भोगों में तृष्णायुक्त और चित्तरूपी वेताल से मोहित मैं एक मास रहा ॥२४॥ वहाँ पर कहीं एक समय एक ने कथा के सिलसिले में मुझसे कहा : हे द्विज, यहाँ पर आठ वर्ष चाण्डाल राजा हुआ ॥२५॥ तदनन्तर गाँव में पूछे गये सब लोगो नें आठ वर्ष तक यहाँ पर चाण्डाल राजा हुआ, यह कहा ॥२६॥ वह अन्त में जाना गया और शीघ्र अग्नि में प्रविष्ट हो गया। उससे सैकड़ों

ब्राह्मणों ने यहाँ पर अग्नि में प्रवेश किया ॥२७॥ हे विप्र, उनके मुख से यह सुनकर उस देश से बाहर निकलकर मैंने शुद्धि के लिए प्रयाग में प्रायश्चित्त किया ॥२८॥ आज तीसरे चान्द्रायण के बाद पारणा करके मैं यहाँ आया हूँ, इसी कारण मैं थका हूँ और अत्यन्त कृश हूँ ॥२९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब गाधि ने यह सुना तब उन्होंने ब्राह्मण से फिर पूछा। उन्होंने यही बात कही इससे विपरीत बात नहीं कही ॥३०॥ इसके बाद आश्चर्य को प्राप्त हुए गाधि ने उस रात्रि को वहाँ पर बिताकर जगद्रूपी घर के महादीपस्वरूप सूर्य के उदित होने पर और प्रातःकाल स्नानविधि कर चुकने पर पूछकर अपने अतिथि के चले जाने पर विस्मय से भरी हुई बुद्धि से यह विचार किया ॥३१,३२॥ 'जो बात मैंने भ्रान्ति दशा में देखी वही मेरे अतिथि ने सत्य कही। मेरा इस प्रकार का रूप शाम्बरी माया है क्या ? ॥३३॥ जो मैंने बन्धुओं के बीचमें अपना वह मरण देखा वह तो निःसन्देह माया ही है उसमें संवाद अर्थात् सत्यत्व देखा नहीं जा सकता, किन्तु अवशिष्ट जो अतिथि के चान्द्रायण में निमित्तभूत अपना चाण्डाल वृत्तान्त है, उसे मैं देखूँगा ॥३४॥ मैं अपने उस चाण्डाल वृत्तान्त को देखने के लिए खेदरहित होकर भूतमण्डल देश की सीमा में स्थित ग्राम में शीघ्र जाता हूँ' ॥३५॥ ऐसा विचार कर रहे गाधि मण्डलान्तर को जाने के लिए उद्यत होकर जैसे सूर्य मेरु के पार्श्वभाग को देखने के लिए उदित होते हैं वैसे ही उठे ॥३६॥ उद्योगी बुद्धिमान् पुरुष, मनोराज्य को भी पा जाता हैं। गाधि ने जाकर स्वप्न में देखा हुआ ज्यों का त्यों पाया ॥३७॥ उद्योग से दुष्प्राप्त भी सब कुछ प्राप्त होता है। देखिये, न जगन्माया को स्वप्न में देख रहे गाधि उसे नेत्रगोचर करने को तत्पर हुए ॥३८॥ गाधि घर से निकल कर मार्ग में वर्षा ऋतु के जल प्रवाह के वेग से त्वरायुक्त हुए। उन्होंने वाततुरंगम के (वायु ही जिसका वाहन है यानी मेघ के) तुल्य बहुत से देशों को लाँघ डाला ॥३९॥ जैसे काँटों को चाहनेवाला अकेला ऊँट बबूल के वन में जाता है वैसे ही गाधि एकाकी ही पूर्वोक्त प्रकार के आचार–विचारवाले उक्त भूतण्डलनामक देश में पहले गये ॥४०॥ फिर वहाँ पर बुद्धि में स्थित (स्मृति पथ में आरूढ़ हो रहे) अवयव संनिवेश से (आकार प्रकार से) गन्धर्व नगर के तुल्य किसी एक गाँव को उन्होंने देखा ॥४१॥ उस गाँव के छोर पर गाधि ने भुवन के नीचे पाताल में नरक मण्डल के समान उसी चाण्डाल गृह को देखा ॥४२॥ गन्धर्व के समान गाधि ने जिसमें जन्म आदि के विस्तार का चित्त में विचार किया था और जो गृह आदि में प्रचुर आसक्तिवाला था इस तरह अपना चाण्डालत्व चिह्नों से देखा ॥४३॥ पहले देखे गये चाण्डाल गृह ने अपने उसी आकार–प्रकार से गाधि के मन को अपूर्व वैराग्य में पहुँचा दिया ॥४४॥ वह चाण्डालगृह वर्षाऋतु की मूसलाधार वृष्टि से छिन्न–भिन्न हो गया था, उसकी दीवारों पर जौ के अंकुर जमे थे, उसका आधा छप्पर अस्त–व्यस्त हो गया था एवं उसमें कुछ–कुछ शयन के भग्नावशेष दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह दारिद्र्य के समान कठोर था, दुर्भाग्य के समान दीवारमात्र अवशिष्ट गृहाकार था, चौर्य आदि दौरात्म्य के समान उसके अवयव शिथिल हो गये थे और दुर्दशा के समान उसका एक भाग खण्डित हो गया था ॥४५,४६॥ गाधि ने दाँतों से चबाई हुई गाय, घोड़े, भैंस आदि की सफेद हड्डियों से, जो मानों गवाही देने के लिए वहाँ पर पड़ी थीं, चारों ओर व्याप्त, जिनमें उसने पहले भोजन और पान किया था, वर्षा के निश्चल जल से भरे हुए अतएव ऐसा मालूम पड़ता था आसव आदि से भरे हैं ऐसे खप्परों से आवृत, तृष्णाओं के समान लम्बी लम्बी सूखी हुई उन्हीं आँतों से लता के समान स्तम्भ आदि

के वेष्टनों द्वारा परिवेष्टित उस प्राक्तन अपने घर को शुष्क शवप्राय हुए प्राक्तन देह के समान बड़ी त्वरा से चिरकाल तक देखा ॥४७–५०॥ गाधि को बड़ा आश्चर्य हुआ वह जैसे पथिक म्लेच्छनगर को लाँघकर आर्यों के देश में जाता है वैसे ही उसके समीपवर्ती कुग्राम में गये ॥५१॥ वहाँ पर उन्होंने लोगों से पूछा : हे सज्जन, क्या आपको इस गाँव के छोर पर पहले हुए चाण्डाल वृत्तान्त का स्मरण है। सभी धीमान् पुरुष चिरकाल की घटनाओं को भी हथेली में रक्खे हुए आँवले के समान स्पष्टरूप से देखते है, ऐसा मैंने सज्जनों के मुँह से सुना है ॥५२,५३॥ हे सज्जन, यहाँ पर एकान्त में निवास करनेवाले अतिवृद्ध चाण्डाल का, जो दुःखों की मूर्ति के समान था, क्या आपको स्मरण है ? हे साधो, यदि आप उसको जानते हैं, तो यथार्थरूप से मुझसे कहिये। हे पथिक, सन्देह को निवृत्त करने में बड़ा पुण्य कहा गया है ॥५४,५५॥ गाधि नाम के ब्राह्मण ने ग्रामीण लोगों से अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योग के साथ बार–बार पूछा जैसे कि आतुर पुरुष अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योग के साथ चिकित्सक से पूछता है ॥५६॥ ग्रामीणों ने कहा : हे ब्रह्मन्, जैसे आप कहते हैं वह ठीक वैसे ही है, उसमें कुछ भी हेर–फेर नहीं है। यहाँ पर क्रूर आकृतिवाला कटंजनाम का चाण्डाल हुआ ॥५७॥ जिसका वृक्ष के पत्र समूह की नाईं पुत्र, पौत्र, सुहृद, चाकर और बन्धु–बान्धवों का संघ अति विस्तृत हुआ ॥५८॥ जैसे वनाग्नि पर्वत के पुष्पफल से पूर्ण वन को नष्ट कर देती है वैसे ही काल ने जिस वृद्ध के सारे कुटुम्ब को नष्ट कर दिया ॥५९॥ तदनन्तर जो देश का त्याग कर कीरप्रदेश में गया, वहाँ पर बिना किसी उद्वेग के आठ वर्ष तक राजा हुआ ॥६०॥ वहाँ यथार्थ वृत्तान्त जानकर लोगों ने जिसे ऐसे ही दूर कर दिया जैसे कि लोग अनर्थ की राशि को दूर कर देते हैं और जैसे ग्राम में विष वृक्ष को दूर कर देते हैं ॥६१॥ तदुपरान्त लोगों के अग्नि में प्रवेश करने पर आर्यों के संसर्ग से आर्यता को प्राप्त हुआ वह स्वयं अग्नि में प्रविष्ट हुआ ॥६२॥ हे प्रभो, आप इतने प्रयास से चाण्डाल को क्यों पूछते हैं, क्या वह आपका बन्धु था या आप स्वयं उसके बन्धु हो गये ? ॥६३॥ इस प्रकार कह रहे ग्रामीणों से फिर–फिर पूछ रहे गाधि वहाँ पर सब प्रान्तों में पूरा एक महीना रहे ॥६४॥ जिस प्रकार गाधि ने चाण्डालता का अनुभव किया था उसी प्रकार सभी ग्रामीणों ने ज्यों–का–त्यों सारा वृत्तान्त कहा ॥६५॥ सब प्राणियों के मुँह से सत्य वचन सुनकर स्वयं भी अबाधित प्रत्यभिज्ञा से जैसे अनुभूत हुआ था वैसे देख कर लज्जा से गूढ़ आकृतिवाले गाधि चन्द्रमा के कलंक की नाईं अपने हृदय में उत्पन्न हुए परम विस्मय को प्राप्त हुए ॥६६॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

गाधि का कीरनगर में जाकर आश्चर्यपूर्वक देखकर तपस्या से
भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना तथा विष्णु का यह सब माया है, यह कहना।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चाण्डालों के घर में चिरकाल से आसक्त गाधि का मन फिर आश्चर्य में पड़ गया, क्योंकि अद्भुत दृश्य को देखने से गाधि का मन तृप्त नहीं हुआ ॥१॥ वहाँ गाधि ने प्रलयकाल के उपद्रव से नष्ट हुए त्रिलोक को जिस तरह ब्रह्मा देखते हैं उसी तरह बहुत से स्थानो और घरों को देखा ॥२॥ जैसे पिशाच सूखी हड्डियों की मालाओं से परिवेष्टित श्मशान के वृक्ष पर अपने

आप कहता हैं, वैसे ही जंगल में खण्डहर में उसने अपने मन में कहा कि परिखा में खाई में गाड़ी हुई ये मरे हुए हाथियों के दाँतों की मालाएँ आज भी प्रलयकाल को लक्ष्य करके मेरु की चोटियों के समान स्थित हैं ॥३,४॥ यहाँ पर पहिले मैंने मद्य पीकर उन्मत्त हुए अपने चाण्डाल भाईयों के साथ बंदरियों का मांस पके हुए बाँस के अंकुरो के साथ खाया था ॥५॥ हाथियों के मद से तीखा मद्य पीकर मैं चाण्डाल तरुणी का सिंहचर्म पर आलिंगन कर यहाँ पर सोया था ॥६॥ यहाँ पर मैंने मांस और खल से पुष्ट हुई कुत्तियाँ मृत हाथियों के दांत रूपी खूँटों पर रस्सियों से बाँधी थी ॥७॥ यहाँ पर हाथियों के मोतियों की तीन उखाओं के (थालियों के) परिमाणवाला हाथियों के दाँतों का पात्र था, जो काले मेघ की शोभा को धारण किये हुए भैंसे के चर्म से ढका हुआ था ॥८॥ ये वे भूमिस्थल हैं जहाँ पर आम के पत्तों पर कोकिलों के समान चाण्डाल बालकों के साथ चिरकाल तक मैंने धूलि–क्रीड़ा की थी ॥९॥ यहाँ पर उन बालकों के साँस से बजते हुए बंसी के ताल स्वर के समान गान किया था, कुत्ती का रुधिर पीया था और मुर्दे को सजानेवाली वस्तुओं से सबकी सजावट की थी ॥१०॥ यहाँ पर विवाहों में अपने सब कुटुम्ब के साथ कुटुम्बवाले मैंने जैसे सागरमें कल्लोल ध्वनिपूर्वक नृत्य करते हैं वैसे ही उत्कृष्ट ध्वनिवाला नृत्य किया था ॥११॥ यहाँ पर दूसरे दिन के भोजन के लिये पकड़े हुए काक, भास आदि पक्षियों का जो उड़ने के कारण चंचल थे; बाँस का पिंजड़ा बनाया था ॥१२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, इस तरह की पहिले हुई चाण्डालों की क्रियाओं का (कुकर्मों का) स्मरण करते हुए गाधि, जिनका सिर आश्चर्य से काँप रहा था, विधाता की विचित्र लीलाओं का विचार करने लगे ॥१३॥ कर्तव्य को जाननेवाले गाधि उस देश से बहुत काल के बाद चले एवं क्रम से भूतमण्डल नामक देश को छोड़कर दूसरे देश में पहुँचे ॥१४॥ तदनन्तर बहुत–सी नदियों, पर्वतों, देशों तथा जंगलों का उल्लँघन करके हिमालय पर्वत के मध्य में रत्न के समान श्रेष्ठ पूर्वदृष्ट कीर देश में पहुँचे ॥१५॥ वहाँ पर गाधि, जिस प्रकार संसार की यात्रा करने से थके हुए नारदजी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं वैसे ही रत्नों से समृद्ध पर्वत के समान ऊँचे महलोंवाले राजनगर में पहुँचे ॥१६॥ उसके बाद अपने उपभोग में आये हुए अपने महल, देखे हुए दूसरों के मकान और पूर्व में अपने आनन्द के साधनभूत बाग बगीचों को और नगर के बहुत से स्थानों को देखते हुए गाधि नागरिक लोगों से पूछने लगे : हे सज्जनों, क्या आप लोगों को स्मरण है कि यहाँ का राजा चाण्डाल था, यदि आप जानते हैं, तो इस विषय विधिपूर्वक शीघ्र वर्णन कीजिये ॥१७,१८॥

नागरिक लोगों ने कहा : हे द्विज, यहाँ आठ वर्ष तक चाण्डाल राजा हुआ, जिसको मंगल हस्ती ने राजा बनाया था अन्त में स्वरूप ज्ञात होने पर अग्नि में जल गया। हे तपस्विन्, आज इस बात को हुए बारह वर्ष बीत गये हैं ॥१९,२०॥ इस प्रकार कुतूहल से भरे हुए गाधि जिस–जिस मनुष्य को देखते थे उस–उस मनुष्य से पूछते थे और उसी के मुख से सुनते थे और आस्वादन करते थे ॥२१॥ इसके अनन्तर गाधि ने उस नगर में बल–वाहन के साथ (सेना अश्वादि के सहित) राजमहल से बाहर निकले हुए राजा के रूप में चक्रधर भगवान् विष्णु को देखा ॥२२॥ उड़ती हुई धूलिरूपी मेघों द्वारा आकाश को आच्छादित करती हुई सेना को देखकर अपनी पूर्वराज्यावस्था का स्मरण करके अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए गाधि ने कहा ॥२३॥ ये वे ही कीर देश के नृप की कामिनियाँ हैं, जिनकी त्वचाएँ कमल के

मध्यभाग की तरह कोमल हैं और जिनका रंग पिघले हुए सुवर्ण की भाँति सुन्दर है और जिनके नेत्र चंचल नीलकमल के सदृश हैं ॥२४॥ ये चन्द्रमा की किरणों की राशि के सदृश श्वेत, निश्चल निर्झर के समान, तथा आकाशों के फूलों की राशि के समान चँवरों का समूह सामने है ॥२५॥ मनोहर ललनाएँ इन चँवरों को डुला रही हैं, मानों वन की लताएँ खिले हुए पुष्पों की समृद्धि कँपाती हो ॥२६॥ कल्पवृक्ष से युक्त मेरु पर्वत की शिखर परम्परा के समान ये वे सब दिशाओं के भागों में उन्मत्त हाथियों के जम घर हैं ॥२७॥ ये वे इन्द्र के यम आदि लोकपालों के समान राजा के यम, वरुण, कुबेर के समान तेजस्वी अधीन देशों के राजा लोग हैं ॥२८॥ ये कल्पवृक्ष लताओं के कुंजों की तरह सुन्दर, सब अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली एवं हर एक वस्तुओं से भरी हुई घरों की पंक्तियाँ विस्तृत हैं ॥२९॥ यह वही कीर जनता का राज्य है, जिसका मैंने पहले उपभोग किया था और जिसका आज अपने पूर्वजन्म के चरित्र की भाँति मुझे प्रत्यक्ष हुआ है ॥३०॥ यह बिलकुल सत्य है कि यह समाचार पहले स्वप्न की तरह देखा गया फिर जाग्रद्भूत होकर सामने खड़ा है, न मालूम किससे, क्यों और किसलिये इस माया का बार–बार आविर्भाव होता है ॥३१॥ कष्ट की बात है, जैसे विस्तार को प्राप्त हो रहे जाल से पक्षी विवश हो जाता है वैसे ही मैं फैल रहे मन के दीर्घ मोह से विवश हो गया हूँ ॥३२॥ हा ! बड़े खेद की बात है, अप्रबुद्ध और वासना से नष्ट हुआ मेरा मन नन्हें से बालक के मन की नाईं विस्तृत विविध भ्रमों को देखता है ॥३३॥ यह बड़ी माया पहले तपस्या से प्रसन्न किये गये विष्णु भगवान् ने भली–भाँति मुझे दिखाई है। अब मुझे अच्छी तरह सारा वृतान्त का स्मरण हो गया है ॥३४॥ इसलिए अब पर्वत की गुफा में जाकर ऐसा यत्न करूँगा, जिससे इस मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त का और इसकी स्थिति के निमित्त का मुझे ज्ञान हो जाय ॥३५॥ ऐसा सोचकर गाधि उस नगर से चले गये और पर्वत की गुफा में जाकर थके हुए सिंह की तरह बैठ गये ॥३६॥ वहाँ उस बड़े भारी तेजस्वी गाधि ने डेढ़ वर्ष तक चुल्लूभर पानी पीकर विष्णु भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कठिन तपस्या की ॥३७॥ इसके अनन्तर जल की तरह स्वच्छ मूर्तिवाले, कमल नेत्र एवं नीलकमल की तरह श्यामवर्णवाले विष्णु भगवान् शरत् काल में जलस्वरूप एवं नीलकमलों से श्यामवर्णवाले बड़े भारी सरोवर की नाईं गाधि पर प्रसन्न हो गये ॥३८॥ गाधि के निवासभूत पर्वतराज की उस गुफा में भगवान् उनके पास आये और आकाश में मेघ के समान विशुद्ध श्याम कान्तिवाले भगवान् वहाँ खड़े हो गये ॥३९॥

श्रीविष्णु भगवान् ने कहा : हे गाधि, क्या तुमने मेरी गुरुतर माया को देखा और संसाररूपीजाल के कार्य को भी देखा जिसमें भाग्य ही निमित्त है ? ॥४०॥ हे गाधि, मनोवांछित इस मायादर्शन के प्राप्त होने पर पर्वतभूमि में तपस्या करके निष्कलंक हुए तुम और क्या चाहते हो ? ॥४१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार कह रहे विष्णु भगवान् के दर्शन कर द्विजों में श्रेष्ठ गाधि ने पुष्पों की राशि से भगवान् के चरणों की पूजा की ॥४२॥ पुष्पों को बिखेरते हुए गाधि ने अर्घ्य देकर और प्रदक्षिणा के साथ शीघ्र प्रणाम कर जैसे चातक मेघ से कहता है वैसे ही विष्णु भगवान् से यह वाक्य कहा ॥४३॥ हे भगवान्, यह जो आपने अत्यन्त अन्धकारमय माया दिखाई है, उसको आप जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल में पृथिवी को प्रकट करते हैं उसी प्रकार प्रकट कीजिये ॥४४॥ हे देव वासनारूपी मल से मलिन मन जिस भ्रम को स्वप्न की नाई देखता है, वह जाग्रदवस्था में भी क्यों

दिखाई देता है ? ॥४५॥ हे अविद्यादिमल से रहित प्रतिष्ठावाले, मुझे जल के अन्दर क्षणभर के लिए स्वप्न की तरह उपलब्ध हुआ यह भ्रम अधिक काल तक दृष्टिगोचर क्यों हुआ ? ॥४६॥ मेरे चाण्डाल विषयक मिथ्या ज्ञान से कल्पित समयकी दीर्घता एवं अल्पता तथा चाण्डाल शरीर का जन्म और नाश मन में ही क्यों न स्थित रहे वे बाहर कैसे स्थित हैं ? ॥४७॥

श्रीभगवान् ने कहा : हे गाधि, जिस संसाररूपी भ्रम को तुम देखते हो यह सब जिसको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, अतएव वासनारूपी व्याधि से जो ग्रस्त है उस मनोभाव को प्राप्त हुए आत्मा का स्वरूप है, वस्तुतः कुछ नहीं है ॥४८॥

यदि कहो है, तो मन में ही है बाहर कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, दिशा आदि कुछ भी बाहर नहीं हैं। ये सब अंकुर में पत्तों के समूह की नाईं अपने चित्त में ही हैं ॥४९॥ जिस प्रकार अंकुर से फल, पुष्प आदि बाहर प्रकट होते हैं उसी प्रकार पृथिवी, आकाश आदि पदार्थ भी मनोभाव को प्राप्त हुए आत्मा से बाहर प्रकट होते हैं ॥५०॥ यह सत्य है कि पूर्वोक्त पृथिवी आदि चित्त में स्थित हैं बाहर कभी नहीं रहते हैं, क्योंकि यह देखा गया है कि पल्लव अंकुर में स्थित है और फल की शोभा पल्लवाधीन है ॥५१॥ वर्तमान विषय में चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा रूपालोक प्रत्यय, भावी विषय में मनस्कार प्रत्यय, (अर्थात् भावी काल में विषय का मन से समर्थन किया जाता है, अतः भावी विषय में मनस्कार प्रत्यय होता है) एवं अतीत विषय में तत्ता प्रत्यय होता है, क्योंकि अतीत स्मृति का विषय होता है अतः तीनों प्रत्ययोंके ज्ञापक तीन काल हुए और कालों की व्यंजिका सूर्य की क्रिया है। इसलिए सबका पर्यवसान क्रिया में ही हुआ। इस क्रियात्मक वस्तुओं का उपसंहार और सृष्टि मन स्वयं ऐसे ही करता है जैसे कि कुम्हार घट का नाश और सृष्टि करता है ॥५२॥ इस पूर्वोक्त बात का सब बालक, वृद्ध और वनिताएँ स्वप्न, भ्रम, मद, आवेग, राग, रोग आदि की बुद्धियों में अनुभव करते हैं अर्थात् स्वप्नभ्रमादि सब चित्त के ही धर्म हैं ॥५३॥ जैसे जड़ों से (मूलों से) पृथिवी को आक्रान्त किये हुए वृक्ष में लाखों फल और पुष्प रहते हैं, उसी प्रकार वासनाओं से युक्त चित्त में लाखों (पृथ्वी आदि) वृत्तान्त रहते हैं। भाव यह है कि सदधिष्ठान के अवष्टम्भ के बल से चित्त संसार को धारण करता है ॥५४॥ जैसे पृथिवी से उखाड़े गये वृक्ष में पत्ते आदि नहीं रहते वैसे ही वासना रहित जीव के जन्म आदि नहीं होते हैं ॥५५॥ जिस चित्त में सदधिष्ठान के अवलम्बन से अनन्त जगत्–रूपी जाल फँसा है उस चित्त में यदि चाण्डालत्व प्रकट हो गया, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कुछ आश्चर्य नहीं है ॥५६॥ जिस प्रकार प्रचुर वेगवाली तथा विविध प्रकार के मानसिक चिन्तारूपी विकार को पैदा करनेवाली चाण्डालता प्रतिभास के द्वारा (अज्ञान के द्वारा) तुम्हें ज्ञात हुई है उसी तरह एक ब्राह्मण अतिथि आया, उसने भोजन किया, वह सोया और उसने कथा कही' यह भी सब तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥५७,५८॥ उसी प्रकार 'मैं उठ कर जाता हूँ, मैंने भूतमण्डल नाम के ग्राम को प्राप्त किया, ये भूत हैं, ये ग्राम हैं' यह भी तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥५९॥ उसी प्रकार कटंजनाम के चाण्डाल का यह नष्ट हुआ प्राक्तन घर है, यों मनुष्यों से कहे गये कटंज के गृहरूप भ्रम को तुमने देखा ॥६०॥ उसी प्रकार 'मैंने कीर देश को प्राप्त किया और कीरदेश के वासियों ने मुझसे चाण्डाल के राजा होने की कथा कही' यह सब भी तुमने भ्रम ही देखा ॥६१॥ हे द्विजोत्तम, इस प्रकार तुमने यह सब

मोहजाल देखा है, जिसको तुम यह सत्य है, यों जानते हो और जिसको यह असत्य है, यह भी तुम जानते हो ॥६२॥ वासनाओं से ओतप्रोत चित्त अपने भीतर क्या नहीं देखता, वर्ष भर में सिद्ध (पूरा) होनेवाले कार्य को भी स्वप्न में सिद्ध हुआ देखता है ॥६३॥ न अतिथि है, न वे कीर हैं, न वे भूत हैं और न वह नगर है। हे महाबुद्धिवाले, यह सब तुमने व्यामोह से (अज्ञान से) देखा है ॥६४॥ तुम भूतदेश और कीर देश को अभी भी नहीं गये, किन्तु अतिथि का वाक्य सुनकर भूतदेश को जाते हुए तुमने रास्ते में थकावट के कारण किसी पर्वत की गुफा में विश्राम किया और वहीं श्रम से विमूढ़ चित्त होने के कारण स्वप्न की तरह यह वह भूतमण्डल है, यह चाण्डाल का घर हैं इत्यादि सब तुमने भ्रमात्मक देखा है, परमार्थतः नहीं देखा है ॥६५,६६॥ हे द्विज, उसी प्रकार वहीं पर कीरनगर भी भ्रमात्मक देखा है और दूसरे दिन अघमर्षण के समय भी सब मायापूर्ण वस्तुएँ (या कार्य) देखी हैं ॥६७॥ हे मुनि, केवल ये ही पूर्वोक्त भ्रम तुमने नहीं देखे प्रत्युत सब कालों में समस्त दिशाओं में मदोन्मत्त की नाईं घूम रहे तुमने मन से विशिष्ट भ्रम देखा है ॥६८॥ इसलिए उठो और शान्त बुद्धि होकर अपना ब्रह्मचर्याश्रमोचित अग्निहोत्रादि एवं स्वाध्याय आदि कर्म करो, क्योंकि यहाँ मनुष्य अपने कर्म किये बिना कल्याण को प्राप्त नहीं होते हैं ॥६९॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, तीनों लोकों के तपस्वियों से पूजित एवं भगवान् के चरण स्पर्शादि से पवित्र हाथोंवालो पंडित और मुनियों के समूह से घिरे हुए पद्मनाभ भगवान्, इस प्रकार कह कर अपने स्थान क्षीर सागर को चले गये ॥७०॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

गाधि का भूतमण्डल और कीर देश में पुनः जाकर पुनः-पुनः
श्रीहरि से पूछ कर तथा यह सब माया है यह निश्चयकर क्रम से जीवन्मुक्त होना।

भगवान् के वाक्य के अर्थ को असंभावना और विपरीत भावना की दृढ़ता से न समझ रहे गाधि जगत् के अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के बिना ही पूर्वदृष्ट देशआदिका बाध हो सकता है या नहीं यह परीक्षापूर्वक अनुभव करनेकी इच्छा से फिर भूतमण्डल आदि देशों में भटके, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त भगवान् विष्णु के चले जाने पर फिर गाधि स्वयं अपने मोह के विचारके लिए भूतमण्डल आदि देशों में आकाश में मेघ की नाईं क्रम से भटके ॥१॥ तदनन्तर लोगों के मुँह से अपने चाण्डलत्व आदि के वृत्तान्त को पूर्वानुभूत के तुल्य ही सुनकर और चिह्नों से देखकर फिर पर्वत की गुफा में जाकर उन्होंने श्रीहरि भगवान् की आराधना की ॥२॥ तदुपरान्त थोड़े ही समय में भगवान् श्रीहरि उनके पास आये। भगवान एक बार थोड़ी-सी आराधना से ही बन्धुता को प्राप्त हो जाते हैं ॥३॥ जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है वैसे ही प्रसन्न हुए भगवान् गाधि के प्रति बोले : हे गाधि, तपस्या से तुम फिर क्या चाहते हो ? ॥४॥

गाधि ने कहा : हे देवदेव, मैंने छः महीने तक भूमण्डल और कीरराज्यमें भ्रमण किया। वहाँ पर जनप्रवादों में भी मेरे वृत्तान्त में व्यभिचार नहीं आया यानी वह ज्यों-का-त्यों सुना गया ॥५॥ हे प्रभो,

आपने मुझसे तुमने माया से भूतमण्डल देखा, ऐसा क्यों कहा ? महात्माओं का वचन मोह के नाश के लिए होता है न कि मोह की वृद्धि के लिए। माया से दृष्ट पदार्थ कालान्तर में अवश्य व्यभिचरित होते हैं, किन्तु ये तो अव्यभिचरित हैं, अतः ये माया है, ऐसा कैसे समझा जा सकता है ? यह भाव है ॥ ६॥

मायिक पदार्थ भी जनप्रवादों में अव्यभिचरित हो सकते हैं, इसमें उपपत्ति कहते हैं।

श्री भगवान् ने कहा : गाधे, काकतालीय न्याय से प्रसिद्ध भूतमण्डल देश के और कीरदेश के लोगों के मन में, तुम्हारे मन की नाईं, कटंज चाण्डाल की स्थिति अपरोक्ष रूप से भ्रान्तिवश प्रतिबिम्बित है ॥७॥

वे भी अपनी भ्रान्ति से ही वैसा कहते हैं, इसलिए उनके वचन का संवाद सत्यता का आपादक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए वे तुम्हारे वृत्तान्त को जैसे का तैसा कहते हैं। बाधक ज्ञान के बिना प्रतिभास (भ्रम) अभ्रमता को प्राप्त नहीं होता ॥८॥ किसी चाण्डाल द्वारा गाँव के छोर पर बनाया गया मकान, जो कि यह पहले मैंने बनाया था यों तुम्हारे भ्रान्तिजनित आग्रह का विषयीभूत है और अब ईंटों के टुकड़ों के रूप में परिणत हो गया है, तुमने देखा था ॥९॥ कभी भ्रान्ति रूप प्रतिभास बहुतों का भी एक–सा ही होता है। कौए की ताड़ के पेड़ के नीचे स्थिति के समान मनोगति बड़ी विचित्र है ॥१०॥ देखो न बहुत से लोग एक ही स्वप्न देखते हैं जैसे कि निद्रा के समान भ्रमप्रद मदिरा के मद से मत्त चित्तवाले बहुत से समानरूप से घूम रही–सी दिशाओं को देखते हैं ॥११॥ एक ही नीली वनस्थली में मृग के बच्चों के समान बहुत से बालक एक ही बालू आदि से बनाये हुए गृह, हल, दुर्ग आदि की भ्रमलीला में खेलते हैं ॥१२॥ वध, बन्धन, पराजय, पलायन आदि विविध आकारवाले अपने प्रारब्धफल पाक के प्राप्य होने पर भी बहुत से सैनिक आदि लोग एक ही समय एक तरह के जय, लाभ, भोग आदि प्रयोजनों की भ्रान्ति से उनके लोभ से युद्ध आदि द्वारा यत्न करते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥१३॥

यदि मानस कल्पना ही जगत् है, तो हेमन्त आदि समय धान आदि के अंकुरों का प्रतिबन्धक और जौ आदि के अंकुरों का सहायक है, इस लोक प्रसिद्धि का बाध होगा, क्योंकि मानस कल्पना का बाह्य काल सहायक नहीं हो सकता है, गाधि की इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं।

काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) का दाता है ऐसा जो लोकप्रवाद है, उसमें विरोध नहीं आता है क्योंकि प्रतिबन्ध और अनुज्ञा का हेतुभूत काल भी संकल्प मात्र ही है। यानी दिशा विशेष से अवच्छिन्न सूर्य की क्रिया को देखकर मन ही शास्त्रानुसार मास, ऋतु आदि भेदों की कल्पना करता है।

शंका : तब अकल्पितकाल कौन है ?

समाधान : जो अकल्पित अखण्डकाल (परमात्मा) है, वह स्वात्मा में स्थित रहता है, किसी के लिए न तो प्रतिबन्धक होता है और न किसी को अभ्युज्ञा ही देता है ॥१४॥

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

अमूर्त जो भगवान काल है, उसे तो पण्डित लोग जन्मादि विकार रहित ब्रह्म ही कहते हैं। वह न तो कभी किसी का कुछ भी त्याग करता है और न कभी किसी का कुछ भी ग्रहण करता है ॥१५॥

प्रथम काल की संकल्परूपता सिद्ध करते हैं।

वर्ष, कल्प, युगरूप जो यह लौकिक काल है, वह जन्यमात्र के कालरूप उपाधिजन्य होने के कारण सुर्य क्रिया, चन्द्र पिण्ड आदि पदार्थ समूहों द्वारा संकल्पित होता है और उस काल द्वारा प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञावश सब पदार्थों के समूह उनकी क्रिया फल आदि की व्यवस्था संकल्पित होती है ॥१६॥

प्रासंगिक शंका का खण्डन कर प्रस्तुत का अवलम्बन कर कहते हैं।

उन भ्रान्तचित्तवाले भूतदेश के और कीर देश के लोगों ने सदृश प्रतिभास से उत्पन्न भ्रम को वैसे ही देखा ॥१७॥

तब मुझे क्या करना चाहिये ? यह पूछने पर कहते हैं।

हे साधो, स्वव्यापार में तत्पर होकर यानी अपने वर्ण और आश्रम के आचरण में तत्पर होकर आप बुद्धि से अपने आत्मा का विचार कीजिये तथा मोहरहित होकर यहीं रहिये, मैं जाता हूँ ॥१८॥

ऐसा कह कर सबके अधिपति भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये और चिन्ता से व्याप्त बुद्धि से युक्त गाधि कन्दरा में जा बैठे ॥१९॥ तदनन्तर पर्वत पर कुछ महीनों के बीतने पर वहीं उस गाधि ने पुण्रीकाक्ष भगवान् की पुनः आराधना की ॥२०॥ एक समय उन्होंने आये हुए प्रभु को देखा, प्रणाम किया, मन, वचन और कर्म से उनकी पूजा की तथा प्रश्न की अनुज्ञा के वाक्य से पूछा ॥२१॥

गाधि ने कहा : हे भगवन्, अपनी इस चाण्डाल स्थिति का चित्त से स्मरण कर रहा और इस जन्म, मरण आदि अनर्थ प्रचुर संसार माया का स्मरण कर रहा मैं अत्यन्त मोह को प्राप्त हो रहा हूँ ॥२२॥ इसलिए महामोह की निवृत्ति के लिए उपाय कह कर झटपट न चले जाइये, किन्तु संशय से उत्पन्न मोह का नाश होने तक स्थित होइये और मुझे एक ही निर्मल कर्म में नियुक्त कीजिये ॥२३॥

श्री भगवान् ने कहा : हे ब्रह्मन्, यह जगत् मायारूपी महाशम्बरासुर का आडम्बररूप है। इसमें आत्मतत्त्व के विस्मरण से यानी आवरण के निमित्तभूत अज्ञान से सब आश्चर्यमय कल्पनाएँ होती हैं ॥२४॥

माया में हजारों अघटित घटनाएँ हो सकती हैं, ऐसा कहते हैं।

तुमने भूतमण्डल और कीरनगर में जो वैसा देखा, वह सब संभव ही है, क्योंकि निद्रा आदि में असंभावित पदार्थों का भ्रम लोगों को दिखाई ही देता है ॥२५॥ भूतदेशवासियों और कीरदेशवासियों ने तुम्हारी ही तरह मिथ्या होते हुए भी सत्य की तरह वैसा भ्रम देखा, क्योंकि समान संकल्प से समान काल आदि का संभव है ॥२६॥ मैं तुम्हारे चाण्डाल निन्दा सम्बन्ध को प्रगटानेवाले यथार्थ विषय को कहूँगा, तुम इसे सुनो, इससे मार्गशीर्ष की लता के तुल्य तुम्हारी चिन्ता नष्ट हो जायेगी ॥२७॥ जो यह कटंज नाम का चाण्डाल भूतमण्डल में पहले हुआ, वह तुम्हारे द्वारा देखे गये उसी आकार-प्रकार से वैसे ही युक्त पहले हुआ। वैसे ही कलत्र रहित होकर दूसरे देश में गया, कीरदेश का अधिपति हुआ और तदनन्तर अग्नि में प्रवेश कर गया ॥२८,२९॥

यदि उस प्रकार का अन्य पुरुष हुआ, तो उसका वृत्त मेरे अनुभव पथ में कैसे आरूढ़ हुआ। इस प्रकार की आशंका होने पर कहते हैं।

तब जल के अन्दर डूबे हुए तुम्हारे मन में उस प्रकार की कटंज के आचार की स्थिति भ्रान्ति से केवल प्रतिभासित हुई, क्योंकि ऐसा ही तुम्हारा संकल्प था ॥३०॥

जो वस्तु कभी न देखी गई हो, दूसरे देश में हो और बीत चुकी हो, उसका सामने वर्तमान रूप से

दर्शन कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे द्रष्टा पुरुष कभी अनुभूत वस्तु को भी बिलकुल भूल जाता है वैसे ही चित्त कभी न देखी गई वस्तु को भी पूर्वदृष्ट के समान देखता है ॥३१॥ हे गाधे, जैसे स्वप्न से मनोरथ, संनिपात के भ्रम होते हैं वैसे ही जाग्रत् में भी मन से स्वयं भ्रम देखे जाते हैं ॥३२॥ जैसे त्रिकालदर्शी योगी की दृष्टि से भविष्यत् वस्तु भी उसके उत्तर काल में होनेवाले दृश्यमान पदार्थों की अपेक्षा भूतकालस्थ होती है वैसे ही हे गाधे, अतीत कटंज का चरित भी वर्तमान प्रतिभा को प्राप्त होता है ॥३३॥

यदि कहो आत्मभिन्न कटंज में और अनात्मीय उसके घरबार, स्त्री–पुत्र आदि में मेरा वही मैं हूँ, तदीय ही वह (गृह आदि) मेरा है, यों मज्जन कैसे हुआ ? तो इस पर थोड़ा कहा जाता है। अतत्त्वज्ञ सभी लोगों का अनात्मा देह में और अनात्मीय गृह, कलत्र आदि में 'अहम्' 'मम ऐसा अभिमान दिखाई देता है, केवल आत्मवित् का ही उनमें मज्जन नहीं होता, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यह देह मैं हूँ तथा ये घर–द्वार आदि मेरे हैं, यों आत्मज्ञानी निमग्न नहीं होता। यह देह मैं हूँ तथा ये घर–द्वार आदि मेरे हैं, यों अनात्मज्ञानी निमग्न होता है ॥३४॥

सबमें अहंभावना से भी तत्त्वज्ञानी का उनमें मज्जन नहीं होता है, क्योंकि परिच्छिन्न अहंभाव ही मज्जन का हेतु है, ऐसा कहते हैं।

सब कुछ मैं ही हूँ ऐसी भावना से तत्त्वज्ञानी दुःखी नहीं होता, वह पदार्थों में भेदरूप अनर्थ भावना का ग्रहण नहीं करता है। इसी कारण वह सुख, दुःख से युक्त भ्रमों में जल में तुम्बी के समान निमग्नप्राय होता हुआ भी (卐) नहीं होता ॥३५,३६॥

तब मैं कैसा हूँ, ऐसा पूछने पर तुम अन्तरालवर्ती (मध्यवर्ती) हो, ऐसा कहते हैं।

विविध वासनाओं से ग्रस्त चित्तवाले, चेतनारहित तुम जिसकी महाव्याधि कुछ शेष रह गई हो, उस रोगी के सदृश हो, जैसे किंचित् अवशिष्ट महाव्याधिवाला पुरुष स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं होता वैसे ही तुम भी स्वरूप में अवस्थित आत्मा को प्राप्त नहीं हुए हो ॥३७॥ जैसे गृह रचना या गृह प्रवेश आदि सम्यग् प्रयत्न से रहित पुरुष वृष्टि का निवारण करने में समर्थ नहीं होता वैसे ही ज्ञान के परिपूर्ण न होने के कारण तुम मनोभ्रम का निवारण करने में समर्थ नहीं हो ॥३८॥ जो ही तुम्हारे चित्त में सहसा प्रतिभासित होता है ऊँचे पुरुष से वृक्ष के समान क्षणभर में उसी से तुम आक्रान्त हो जाते हो यानी उसके अभिमान से तिरस्कृत हो जाते हो ॥३९॥ यहाँ पर इस माया चक्र का मध्यभूत चित्त चारों ओर घूमता है। यदि पुरुष उस चित्त आत्मा में प्रविलापन द्वारा तिरस्कार करके स्थित हो जाय, तो वह माया चक्र कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचाता है ॥४०॥ तुम उठो, पर्वत के कुंज में दस वर्ष तक अखिन्न बुद्धि होकर चित्त निरोध का अभ्यास करो। तदनन्तर तुम अनन्त ज्ञान प्राप्त करोगे ॥४१॥ ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वायु में लीन मेघ की नाईं, बुझे हुए दीपक की भाँति और यमुना की तरंग की भाँति एक क्षण में वहीं पर अन्तर्हित हो गये ॥४२॥ जैसे शरद् ऋतु के बाद (पतझड़ में) वृक्ष पत्तों से रहित हो जाता है (विरसता को प्राप्त हो जाता है) वैसे ही गाधि विवेकवश उत्पन्न हुए वैराग्य को प्राप्त हुए ॥४३॥ गाधि

卐 सर्वोहंभावना में भी अहंकारता है, इसलिए निमग्नप्राय कहा है।

ने, जिनकी मति घूम रही भ्रमराशि से उन्मुक्त हो चुकी थी, प्राक्तन कर्म रूप दैवकी योग्य चाण्डाल भाव प्रदर्शनरूप विचित्र चेष्टा की थोड़ी निन्दा की ॥४४॥ जैसे गीला मेघ पर्वत पर जाता है वैसे ही करुणा से आर्द्र चित्तवाले गाधि कल्याणकारी चित्तनियमन के अभ्यास के लिए तथा सर्वश्रेष्ठ पद में विश्रान्ति के लिए ऋष्यमूक पर्वत पर गये ॥४५॥ वहाँ पर सब संकल्पों का त्यागकर गाधि ने दस वर्ष तक तप (मन तथा इन्दियों का संयम) किया, उससे उन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया ॥४६॥ आत्मज्ञान प्राप्ति के उपरान्त महात्मा गाधि अपनी पारमार्थिक सत्ता प्राप्त कर भय-शोक रहित हो तथा निरन्तर उदित जीवनमुक्त स्वरूपवाले अतएव अपरिच्छिन्न स्वानन्द मद से आघूर्णित और पूर्ण चित्तवाले हो षोड़श कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा के समान अपरिच्छिन्न ब्रह्माकाश में विहार करने लगे ॥४७॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

चित्त के आक्रमण केउपायों का, उत्तम ज्ञान के माहात्म्य का तथा
चित्तरूपी सर्प के स्थूलतारूपी दोष के हेतुओं का वर्णन।

पूर्व सर्गों में वर्णित गाधि के वृत्तान्त की प्रस्तुत कथा में योजना करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनन्दन, इस प्रकार अत्यन्त फैली हुई यह महामोहमयी विषम माया अचिन्तनीय है, एकमात्र परमात्मा ही इसका आश्रय और विषय है ॥१॥

दुर्ज्ञानता को ही तीन प्रकारों से दर्शाते हैं।

कहाँ दो मुहूर्त के भ्रम से लोकदर्शन, और कहाँ अनेकों वर्षों में मुक्त होनेवाला चाण्डाल का भ्रम, कहाँ भ्रमावस्था में प्राप्ति और कहाँ प्रत्यक्ष दर्शन, कहाँ निसन्देह असत्यता और कहाँ सत्य में परिणत होना ? इसलिए मैं कहता हूँ, हे महाबाहो, यह विषम माया असावधान मनवाले पुरुष को प्रति दिन संकट में डालती है ॥२-४॥

चितंनाभिः किलाऽस्येह मायाचक्रस्यसर्वतः । स्थीयतेचेत्तदाक्रम्यतन्न किंचित् प्रबाधते ॥

इस प्रकार भगवान् ने जो अन्त में गाधि को उपदेश दिया, उसके उपाय को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

हे ब्रह्मन्, अधिकारी लोग परिपूर्ण आनन्दस्वरूप आत्मा को परिच्छिन्न समझनारूप अंगच्छेद के हेतुभूत तथा वेग से बह रहे इस मायाचक्र का निरोध कैसे करें ? ॥५॥

भगवान् द्वारा उपदिष्ट माया चक्र को रोकने के प्रकार का पहले विस्तार करने के लिए उक्त का अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, आप चित्त को घूम रहे और भ्रान्ति देनेवाले इस संसारूपी मायाचक्र महानाभि (पहिये के बीच का भाग) जानिये ॥६॥ पुरुष प्रयत्न से बुद्धि द्वारा उस चित्तरूपी महानाभि के (पहिये के बीच के हिस्से के) रुकने पर मायाचक्र, जिसकी नाभि पकड़ ली गई है, भ्रमण से रुक जाता है ॥७॥ जैसे रस्सी के रोकने पर रस्सी में लपेटा हुआ काँसे आदि का बनाया हुआ क्रीड़ाचक्र (लट्टू) नहीं चलता है वैसे ही मोहचक्र, जिसकी मनरूपी नाभि रोक दी गई है, नहीं चलता ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी,

आप चक्रयुद्धों में मुख्य तथा उनको रोकने और घुमाने आदि में कुशल है, इसलिए आप उक्त दृष्टान्त को क्यों नहीं जानते हैं ? नाभि में रोका गया चक्र वश में आता है, अन्यथा नहीं ॥९॥ हे रामचन्द्रजी, इसलिए प्रयत्न से चित्तरूपी नाभि को रोककर संसाररूपी चक्र को आत्मा को जन्मपरम्परा की प्राप्ति कराने से रोकिये ॥१०॥ इस चित्तनिरोधरूपी उपाय के बिना आत्मा को अनन्त दुःख प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि के प्राप्त होने पर उस दुःख को क्षण भर में नष्ट हुआ ही जानिये। यदि मेरे कथन में संशय हो, तो आप वैसा करके देखिये, यह अर्थ है ॥११॥

इससे अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं।

केवल चित्तवशीकरणरूप परम औषधि के सिवा यह संसाररूपी महारोग प्रयत्न से भी शान्त नहीं होता ॥१२॥ इसलिए हे राघव, तीर्थस्नान, दान, तपस्या आदि कर्मों का मार्ग छोड़कर परम कल्याण के लिए भीतरी चित्त को ही वश में कीजिये ॥१३॥ जैसे घड़े के अन्दर घटाकाश रहता है वैसे ही चित्त के अन्दर ही संसार है। जैसे घड़े के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं रहता वैसे ही चित्त का नाश होने पर संसार नहीं रहता ॥१४॥ जैसे घटाकाश में रोका गया मच्छरादि जिसमें दुःखपूर्वक संसरण है ऐसे आकाश कोटर को भाग्यवश घड़े के विनाश से नष्ट कर, अनुपम महाकाश में प्रवेश कर बन्धन रहित ही सुखी होता है वैसे ही आप भी चित्त के नाश से चित्तरूपी घटाकाश का विनाश कर अतुलित ब्रह्माकाश में प्रवेश कीजिये ॥१५॥

चित्त के नाश का क्या उपाय है ? इस पर कहते हैं।

बाह्य बुद्धि से वर्तमान क्षण का अनायास भजन कर रहा और भूत तथा भविष्यत् का भजन न कर रहा चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है। भूत, भविष्यत् विषयों के अनुसन्धान के त्याग से ही क्रमशः चित्त का क्षय होता है, यह अर्थ है ॥१६॥ हे राघव, यदि आप भावी विषयों के संकल्प का और उसके अंशभूत पदार्थों का अनुसन्धान त्याग प्रत्येक क्षण में सावधानी से कीजिये, तो आप पवित्र अचित्तता को प्राप्त ही हैं ॥१७॥ जब तक संकल्प कल्पना है तब तक चित्त विभूतियाँ रहती हैं तथा जब तक मेघ का विस्तार रहता है तब तक वृष्टि के (आकाश जल के) बिन्दु रहते हैं ॥१८॥

इसी प्रकार चित्त के रहने पर संकल्पों का भी वारण नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं।

जब तक चेतन (चिदात्मरूप) चित्त सहित है तब तक अवश्य संकल्पों की कल्पना होगी, जब तक जगत् चन्द्रमा के किरणों से युक्त रहेगा तब तक ओस की बूँदें अवश्य होंगी ॥१९॥ यदि चेतन चित्त से पृथक् है यानी कूटस्थ है, यों भावना की जाय, तो अपने सार के मूलों को (काम, कर्म, वासना आदि को) मूलाज्ञाननाश के साथ महासिद्ध के समान जले हुए ही जानिये ॥२०॥

यदि कोई शंका करे कि भले ही मूल अज्ञान के साथ संसारमूलों का दाह हो, तथापि चेतन में फिर कल्पनारूपी मल के कारण चित्त आदि की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? इस पर कहते हैं।

चित्त से पृथक् हुआ चेतन प्रत्यक्चेतन (आत्मा) कहा जाता है। वह स्वभावतः मनरहित है। उसमें कल्पनारूपी मल का संभव नहीं है ॥२१॥

चित्तरहित जो चेतनस्वरूप है, वही परमार्थ सत्यता है, वही निरतिशय आनन्दरूपता है, वही परमात्स्वभावभूत अवस्था है, वही सर्वावभासक चिद्रूपा है और वही परमार्थ दृष्टि है, किन्तु जिस

अवस्था में दुष्ट मन है वह वैसी नहीं है ॥२२॥

निन्द्यता के बीजों को दिखलाते हैं।

जहाँ पर मन रहता है वहीं पर जैसे श्मशान के समीप कौए आते है वैसे ही सदा विविध आशाएँ और सुख–दुःख समीप में आते हैं ॥२३॥

यदि कोई शंका करे कि ज्ञानियों के भी मन है फिर उनमें आशा आदि क्यों उत्पन्न नहीं होते ? तो उस पर कहते हैं।

ज्ञानियों का मन है यह बात ठीक है तथापि उनके मानस संकल्प में आशा आदि सब भावों की व्यवस्थापिका संसाररूपी लता के वासनारूपी बीज ही नहीं उगते, क्योंकि वे तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाते हैं ॥२४॥

जो पदार्थ पहले वास्तविक रूप से ज्ञात हों उनका किस उपाय से अवस्तुत्वज्ञान रूप बाध होता है, ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

शास्त्र और सज्जनसंगति के निरन्तर अभ्यास से जगत् के पदार्थों की अवास्तविकता ज्ञात होती है ॥२५॥ चित्त को अविवेक से हटाकर उद्यम के (पुरुषप्रयत्न के) साथ अवश्य इसी जन्म में ज्ञान प्राप्त करूँगा, इस तरह के दृढ़ निश्चयों से शास्त्रों और सत्संगति में जबरदस्ती लगाना चाहिये ॥२६॥

किस मुख्य कारण का अवलम्बन करके शास्त्र आदि से भी आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए ऐसा यदि कोई कहे, तो स्वयंज्योतिरूप प्रत्यगात्मा का ही अवलम्बन करके आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए, क्योंकि उससे वेद्य पदार्थों की विलक्षणता से उसी की स्वतः प्रथिति होती है, इस आशय से कहते हैं।

परमात्मा के दर्शन में मुख्य कारण आत्मा ही है, देखिये न अगाध जल में गिरा हुआ रत्न रत्न से ही (प्रकाशमान् अपने स्वरूप से ही) देखा जाता है ॥२७॥

पूर्व श्लोक में उक्त मुख्य कारणता को स्पष्ट करते हैं।

चूँकि अपना आत्मा ही अपने से अनुभूतदृश्य वस्तुएँ दुःख ही हैं, यों विवेकसे उन्हें छोड़ना चाहता है, अतएव अपने आत्मा के अवलोकन में दृश्य प्रतिकूल स्वभाववाली आत्मा ही स्वयं एक मुख्य कारण कहा गया है। यदि आत्मा स्वयं भी असुख जड़स्वभाव होता, तो दृश्य के प्रतिकूल न होता, यह भाव है ॥२८॥

इसलिए आप आत्मा के लाभ के लिए सदा आत्मा में तल्लीन होइये, ऐसा कहते हैं।

बात कर रहे, त्याग कर रहे, ग्रहण कर रहे, आँखें खोल रहे, बन्ध कर रहे भी आप मनन से (मन के व्यापार से) रहित अनन्त चिन्मात्र में परायण (तल्लीन) होइये ॥२९॥ उत्पन्न हो रहे, जी रहे, मर रहे तथा अन्यान्य कर्मों में निरत हुए आप शोधन द्वारा निर्मलता को प्राप्त हुए संवित्मात्रांशरूपस्वात्मा में स्थिर होइये। उत्पत्ति और मरण का ग्रहण उनके तुल्य सुख, दुःख तथा अन्यान्य दुर्दशाओं में भी आत्मपरता के अविस्मरण के विधान के लिए हैं, यह समझना चाहिये ॥३०॥ यह (सन्मुख स्थित), वह (दूर देश में स्थित) मेरा है, यह प्रत्यभिज्ञायमान देह मैं हूँ, इस प्रकार की वासनाओं का भली–भाँति त्याग कर एकाग्रता से भीतर स्थित संवित्मात्र में तत्पर होइये ॥३१॥ वर्तमान स्थिति (बाल्यावस्था)

और भविष्य स्थिति (यौवन, राज्य आदि की स्थिति) इन दोनों में जब तक देह रहे तब तक एक बुद्धि होकर स्वसंवित् से ध्यान ओर समाधि में तत्पर रहिये ॥३२॥ बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था में, सुखों में, दुःखों में, जाग्रत् अवस्था में, स्वप्नावस्था में और सुषुप्ति अवस्था में स्वसंवित् में (चिन्मात्र में) तल्लीन होइये ॥३३॥ बाह्य विषयरूपी मल का त्यागकर मन को खूब गला रहे आप आशापाशरूपी मल को छिन्न–भिन्न कर स्वसंवित् में परायण हो जाइये ॥३४॥ अपने संकल्प से किये गये शुभ और अशुभरूप संकेतों में जिनकी आशारूपी विषूचिका शान्त हो गई है, अतएव जिनकी यह इष्ट है और यह अनिष्ट है, यह दृष्टि नष्ट हो चुकी है ऐसे आप संवित् रूपी सार–पदार्थ में संलग्न होइये ॥३५॥ कर्ता (विज्ञानमय), कर्म (बाह्यविषय) और करणों (इन्द्रियों) सहित तथा अपना स्पर्श न करनेवाले इस प्रकार के संसारों का जैसे मणि अपने अन्दर प्रतिबिम्बों का विस्तार करती है वैसे ही अपने विस्तार कर रहे, विकल्परहित तथा आलम्बन रहित आप स्वचिन्मात्र परायण होईये ॥३६॥

जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्त की–सी निर्विकल्प तथा अत्यन्त स्थिर स्थिति की भावना कर रहे आप 'मैं सब हूँ' यह विचार करेक मात्र सत्तारूप होइये ॥३७॥ नाना दशा (जाग्रत् और स्वप्नदशा) और अनानादशा (सुषुप्ति दशा) से मुक्त अथवा सृष्टि और प्रलय दशा से मुक्त, मुक्तरूप से सम में (ब्रह्म में) संलग्न तथा सबकी नाना बुद्धिवृत्तियों के दीप के तुल्य प्रकाशक आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥३८॥ आत्मता (स्वता) और परता (अन्यता) का त्यागकर जगत् की स्थिति में द्वैतज्ञानशून्य आप आत्मा का अवलम्बन कर वज्र के स्तम्भ की नाईं स्थिर होइये ॥३९॥ एक मात्र धैर्यधर्मवाली उदार बुद्धि से आशा रूप मानसिक जालों का भीतर उच्छेद कर धर्माधर्म रहित होइये ॥४०॥ आत्मज्ञान सम्पन्न एवं तत्त्व का आस्वाद ले रहे पुरुष के लिए हलाहल विष भी अमृत बन जाता है। भाव यह है कि सबके अमृत होने पर विष की भी अमृतता अर्थात् (सहज) सिद्ध हो गई ॥४१॥ जब निर्मल और अखण्ड चैतन्य का अज्ञान होता है तब संसाररूपी भ्रम का कारणरूप महामोह उदित होता है ॥४२॥ जब निर्मल और अखण्ड स्वसंवित् में (चित्त में) स्थिति होती है तब संसार भ्रम का कारणभूत मोह नष्ट हो जाता है ॥४३॥ अपने स्वरूप को प्राप्त हुए एवं आशारूपी महासागर को पार किये हुए आपकी बुद्धि सूर्य की किरणों के समान चारों ओर फैलेगी ॥४४॥

मुक्त पुरुष की अन्यत्र आशा की संभावना तो दूर रही, बल्कि अमृत आदि रसायन के आस्वाद में भी आत्मानन्द के आस्वाद में विघ्न की संभावना से विष की नाईं हेयता बुद्धि हो जाती है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपनी अद्विितीयानन्दस्वरूपता का दर्शन कर रहे अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म में स्थित पुरुषों को स्वादिष्ट अमृत आदि रसायन भी प्रतिकूल विष के समान लगता है ॥४५॥ जो लोग हमारे प्रत्यगात्मभाव को प्राप्त हुए हैं यानी जीवन्मुक्त पुरुष हैं जन्म को सार्थक करने से, पुरुषार्थ साधन से तथा सफल पौरुषवाले होने से उन श्रेष्ठतम पुरुषों के साथ हम सदा मैत्री करते हैं। अन्य लोग तो पुरुषार्थ के उपयोगी पौरुष से हीन होने के कारण नाममात्र के पुरुष हैं, पुरुष शब्द के अर्थ का उनमें नामनिशान भी नहीं है, इसलिए लम्बी बाहुवाले वे गदहों के समान उपेक्षा के ही पात्र हैं, दर्शन आदि के योग्य भी नहीं है ॥४६॥

इस प्रकार अन्य महान् योगी और उपासक भी जगत् में हैं ही, उनसे भी तत्त्वज्ञानी में ही कौन उत्कर्ष (श्रेष्ठता) है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

अपनी संवित् से सबसे उन्नत स्थितिवाले अतएव उत्कर्ष की परम सीमा में पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानी के सामने योगी आदि ज्ञानप्राप्ति के लिए उन-उन महापुरुषों के पास जाते हैं। वे जैसे हाथी मेरु आदि पर्वत के सामने एक निकटवर्ती क्षुद्र पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाते हैं वैसे ही जाते हुए प्रतीत होते हैं। मेरु के समान सर्वोन्नत दृढ़रूप से विश्रान्त नहीं मालूम पड़ते हैं ॥४७॥

अपनी संवित् से उन्नत स्थिति का उपपादन करते हैं।

स्वसंविद्रूपी दिव्य चक्षुवाले तत्त्वज्ञानी के, जिसकी सीमाएँ पहले किसी के द्वारा नहीं देखी गई, वर्तमान समय में व भविष्य में भी देखने योग्य नहीं हैं, अन्तःकरण का कल्पित सूर्य आदि सभी तेज उपकार नहीं करते हैं। इसलिए स्वसंवित् से ही उसकी उन्नत स्थिति है, यह अर्थ है ॥४८॥

ये सूर्य आदि केवल उपकार ही नहीं कर सकते, सो बात नहीं है, किन्तु तत्त्ववेत्ता के सन्मुख अवस्तुता को ही प्राप्त होते हैं, ऐसा कहते हैं।

विद्या से जिसने आत्मतत्त्व का ज्ञान पा लिया है, ऐसे तत्त्ववेत्ता के सन्मुख ये महाप्रकाशवाले सूर्य आदि मध्याह्न के दीपकों की नाईं अवस्तुता को प्राप्त होते हैं ॥४९॥ तेज के कार्य प्रकाशनों में, योगसिद्धि के वशित्व आदि प्रभावों में, शारीरिक बलवानों में, ऐश्वर्य, आयु आदि से श्रेष्ठों में तथा वाग्मता आादि उन्नति से युक्त सबमें तत्त्वज्ञानी परम उन्नत है। सब उन्नतियाँ तत्त्वज्ञानी में अध्यस्त हैं, यह अर्थ है ॥५०॥ तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष जिस जगदीश्वर की दीप्ति से सूर्य अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारा दीप्त होते हैं, उसके तुल्य सुशोभित होते हैं ॥५१॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन लोगों को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ वे पृथिवी के बिलों में रहनेवाले कीड़ों से, गदहों से और पशु-पक्षियों से भी गये गुजरे कहे गये हैं। तत्त्वज्ञान का अभाव होने पर उससे भी अधम करोड़ों योनियों की प्राप्ति होती है, यह भाव है ॥५२॥ तभी तक अज्ञान रूपी वेताल है जब तक देहधारी सत् भी आत्मा की अज्ञान से असत्ता मानने के कारण अनात्मवान् है अतएव वह अचेतन है, इसलिए आत्मज्ञानी ही चेतन से संयुक्त है, ऐसा विद्वानों का कथन है ॥५३॥ जो आत्मतत्त्व को नहीं जानता, उसकी सबकी-सब चेष्टाएँ दुःख के लिए ही हैं। वह भूतल में इधर-उधर चलता फिरता हुआ भी शवरूप से ही भ्रमण करता है, केवल आत्मज्ञानी ही सचेतन है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ॥५४॥ जैसे चारों ओर से घने मेघ के उदित होने पर प्रकाश शोभा दूर चली जाती है वैसे ही चित्त के स्थूल होने पर आत्मज्ञता, जो थोड़ी बहुत उपार्जित भी हो चुकी हो, दूर भाग जाती है ॥५५॥ इसलिए मन को प्राप्त भोगों के (विषयों के) सेवन के तिरस्कार द्वारा और अप्राप्त भोगों की अभिलाषा के त्याग द्वारा समय से अजीर्ण पत्र के समान धीरे-धीरे कृश बनाना चाहिये ॥५६॥

मन की स्थूलता के हेतु कौन हैं ? जिनके त्याग से मन में कृशता हो, ऐसी आशंका होने पर मन की कृशता के हेतुओं को कहते हैं।

अनात्मा में (देह, इन्द्रिय आदि में) आत्म भाव से, इस देहमात्र में आस्था से, पुत्र, कलत्र और कुटुम्ब से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥५७॥ अहंकार के विकास से, ममतारूपी मल में आसक्ति

से तथा यह शरीर मेरा आत्मा या भोग स्थान है, इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥५८॥ जरा–मरणरूपी दुःख से पूर्ण, व्यर्थ ही दिन–पर–दिन बढ़े हुए दोषरूपी साँपों के विषरूप पूर्वोक्त 'इदं मम' इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥५९॥ आधि (मानसिक व्यथा) और व्याधि (शारीरिक व्यथा) की अभिवृद्धि से, संसार की रमणीयता, चिरस्थायिता आदि के विश्वास से और यह हेय है यह उपादेय है इस प्रयत्न से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६०॥ स्त्री, पुत्र आदि के प्रति स्नेह से तथा मणि और स्त्रियों के लोभ से, जो आपततः रमणीय प्रतीत होता है, उत्पन्न हुए धन के लोभ से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६१॥ दुराशारूपी दुग्ध के पान से, भोगरूपी पवन के बल से, आदरप्रदान से तथा नाना विषयों में संचार से चित्तरूपी सर्प स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६२॥ विष से जैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता होती है वैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता को सूचित करनेवाले भीषण भोगों के सेवन से, जिसके स्वरूप और स्वभाव आवागमनवाले हैं, चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६३॥ शरीररूपी बुरे गड्ढे में चिरकाल से उगे हुए इस अद्भुत चित्तरूपी विष वृक्ष को विचाररूपी मजबूत आरे से जबरदस्ती निःशंक काट डालो। विविध चिन्ताएँ ही जिसमें लम्बी–लम्बी मंजरियाँ हैं, जो जरा, मरण और व्याधिरूपी फलों के समूह से लदा है, कामोपभोगों के समूह ही जिसमें खिले हुए फूल हैं, आशा ही बड़ी–बड़ी शाखाएँ हैं, विकल्प ही पत्ते हैं और जो पर्वत के तुल्य अचल है ॥६४,६५॥

इस समय उसी चित्त का गजरूप से वर्णन करते हैं।

हे रघुवर, हे राजाओं में सर्वश्रेष्ठ, आप चित्तरूपी हाथी को अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धिरूपी नखराशियों से चीर डालिये। उक्त चित्तरूपी हाथी के आगम, अनुमान रूपी नेत्र आत्मतत्त्व विवेक में प्रमाद करनेवाले हैं, वह एक बहिर्मुखरूप संसारपर्वत तट पर बैठता है, अतएव अन्तर्मुख विश्रान्ति सुख का अनुभव करने में असमर्थ है, द्वेष, ईर्ष्या आदि से भीषण होने के कारण उग्र है, सज्जनों द्वारा गृहीत होनेवाले शम, दम, तितिक्षा आदिरूप कमलवन के अवलोकन में उत्कण्ठित तो है, पर अत्यन्त क्रोधी है यानी उसके रक्षण में अयोग्य है, सुख और दुःख ही उसके शीतल और गर्म बाष्प वाले मद को बहानेवाले गण्ड स्थल हैं, वह शरीररूपी भीषण वन में रहता है और बड़े–बड़े काम आदि विकार ही उसके दाँत हैं, अतएव वह धैर्य आदि क्रिया का उच्छेदरूप कार्य करता है ॥६६,६७॥

स्त्री चिह्न आदि कुत्सित स्थानों में नित्य आसक्ति को प्राप्त, शरीररूपी मांस के ग्रसन के तुल्य अन्तर्भाव के आपादन से पुष्ट, पर मर्मभेदनरूपी दुष्कर्म में कठोर चोंचवाले, केवल स्वार्थ में ही दृष्टि रखनेवाले, वृद्धि को प्राप्त हुई तामस वृत्तियों से मलिन, वहन करनेवाले आत्मा के भारभूत, दुष्ट चेष्टावाले, कठोर शब्दकर रहे तथा दुर्वासनाओं से आविर्भूत अपने चित्तरूपी कौए को (✎) दोषों की शान्ति के लिए शरीर रूपी घोंसले के अन्दर से दूर हटाइये ॥६८,६९॥

उसी चित्त का पिशाचरूप से वर्णन कर उसे न हटाने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

✎ कौए के पक्ष में श्मशान आदि गर्हित स्थानों में सदा आसक्त, मांस के ग्रसन से पुष्ट शव आदि के मर्मस्थानों को नोचने में कठोर चोंचवाले, एक आँखवाले, गाढ अन्धकार के भागों के समान काले, वृक्ष आदि के भारभूत, दुष्ट चेष्टाएँ करनेवाले, कर्णकठोर काँव–काँव शब्द कर रहे दुर्गन्धि से चले हुए कौए को, यों अर्थ करना चाहिए।

अज्ञानरूपी महान् वटवृक्षों पर बैठे हुए, तृष्णारूपी पिशाचिनी द्वारा सेव्यमान्, चित्त के हटने पर चेतनरहित अनन्त कोटि देहरूपी अरण्य में चिरकाल तक भटके हुए इस चित्तरूपी पिशाच को चिदात्मा के गृहभूत हृदय से जब तक विवेक, वैराग्य, गुरुसमीप गमन, पुरुषप्रयत्न आदि स्वतन्त्र मन्त्रों द्वारा पुरुष नहीं हटाता तब तक यहाँ पर आत्मसिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥७०,७१॥

अब मन का सर्परूप से निरूपण करते हुए उसका त्याग कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी साँप को, जिसकी शुभ और अशुभ रूप दो दाढ़ हैं, जो एक-दो नहीं अनेकानेक मनुष्यों की हत्या कर चुका है, चिन्ता ही जिसका विष है शरीर ही गर्हित केंचुल है, निरन्तर श्रम आदि दोषों से रहित प्राण वायु ही जिसका भोजन है, जो सबको विविध भय और मृत्यु देता है एवं हृदयकमल रूपी सेमर के पेड़ के खोखले में स्थित है, चिदेकरस ब्रह्मरूपी गरुड़ के बोधक 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' इत्यादि मन्त्रों के अमोघ प्रभाव से मूलअज्ञान के साथ नष्ट कर भय को सर्वथा मिटा कर निर्भय होइये ॥७२,७३॥ शरीररूप शवराशियों के निरन्तर अनुसन्धान से (दूसरे पक्ष में भक्षण से) अमंगल आकार को धारण करनेवाला, विविध दिशाओं में भ्रमण से उत्पन्न श्रम से पीड़ित, अपमान, व्यय, शोक, भय आदि से (दूसरे पक्ष में कौए, चील आदि के चोंचों के प्रहारों से) क्षत-विक्षत शरीर से सुषुप्ति में श्मशान-वृक्ष के तुल्य सुप्त देह का (श्मशान-वृक्ष का) सेवन करनेवाला, भोगों की अभिलाषावश दिशाओं में इधर-उधर दौड़ रहा, ऊपर को गर्दन किया हुआ एवं अधीर और बढ़ी-चढ़ी अभिलाषावाला चित्तरूपी गिध्ध यदि आपके देह वृक्ष से उड़कर चला जाय, तो आपकी खासी जीत है ॥७४,७५॥

अब उसी मन का बन्दर के रूप से निरूपण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भला चाहनेवाले, चंचल तथा व्याकुल अंग-प्रत्यंगवाले मनरूपी महामर्कट, जो वनप्रान्तों में दिशाओं के मध्यों में खूब भटका है, एक जन्मरूपी भूमि से दूसरी जन्मरूपी भूमि में गया है, चिन्ता और उसके संसार बन्धन का अपनी चेष्टाओं द्वारा अनुकरण कर रहा है तथा आँख और नाक जिसके फूल हैं, भुजा आदि जिसकी शाखाएँ हैं और चंचल अंगुलियाँ जिसके पत्ते हैं, ऐसे देहरूपी वृक्ष पर उल्लास को प्राप्त हो रहा है, उसको सिद्धि के लिए चारों ओर से घेरकर भीतर ही भीतर मार डालिये ॥७६,७७॥

अब उसी चित्त का मेघ के रूपक से वर्णन करते हैं।

परमार्थ सुखरूप सत्फल के (मेघ पक्ष में पकी हुई फसल) नाश के लिए असमय में उपस्थित हुए, हृदयरूपी आकाश में स्थित चित्तरूपी मेघ, जिसके मुखसदृश बहिर्मुखवृत्ति के अग्रभाग में प्रतिबिम्बन द्वारा बिजली के सदृश चिदाभास प्रकाशसंक्रान्त है, जो अनर्थ समूहरूपी मूसलाधार वृष्टि कर रहा है। वासनारूपी आँधी ने जिसे भीतर चक्कर में डाल रक्खा है, उसका संकल्पों के बार-बार समर्थनों के त्यागरूप मन्त्रों के प्रभाव से उत्साहपूर्वक उच्छेद कर जीवन्मुक्तिरूप महान्पद पाकर नित्य मुक्तात्मा ही होइये ॥७८,७९॥

अब उसी मन का जाल के रूपक से निरूपण करते हैं।

जिसका आत्मा ही उपादान कारण है ऐसी कल्प की आदि सृष्टि से लेकर आज तक किये गये

पुण्य–पाप कर्मों से निरन्तर गाँठ देने से मजबूत बनाये गये, मन्त्रों द्वारा छिन्न–भिन्न नहीं हुए, अग्नि से जलाये न गये, आत्मा में महती पीड़ा की कल्पना करे, अतएव सब विविध योनियों के विविध जन्मों के क्रमशः बन्धन के लिए लम्बी रस्सी के समान स्थित चित्तरूपी जाल को, जिसमें असंख्य शरीर पंक्तियाँ गुँथी गई हैं, असंकल्परूप शस्त्रों से जबरदस्ती काटकर आप स्वयं पुनर्जन्म शंकारहित होकर सुखपूर्वक विहार कीजिये ॥८०,८१॥

अब मन के संकल्प का अजगर के रूपक से वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी उसके वध का उपाय कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप संकल्परूपी घोर अजगर को, जिसने क्रोध आदि रूप सविष (विषैले) फुफकार से दक्षिण–उत्तर मार्ग से जानेवाले जीवों को जला डाला है, जिसके फुफकार पर तत्त्व का बोध तो अत्यन्त दुर्लभ है, जो अत्यन्त विषैला है, अतएव अपने विष से जिसने सब भुवनों को संतप्त कर दिया है, तृष्णारूपी मुँह को खोलकर विषयरूपी भोग्य वस्तुओं के लिए चार प्रकार के शरीररूपी दण्ड को जिसने कँपाया है, जो मोक्ष के उद्योग में आलसी होने के कारण मन्दगतिवाला है और देहरूपी गुहा में सोया है, शीघ्र परम वैराग्य नामक महाअग्नि से जबर्दस्ती भस्म करके आप अपने स्वरूप में पूर्णानन्द वैभववाले होइये ॥८२,८३॥

वैराग्य से संकल्प पर विजय पाने से चित्त शुद्धि होने पर उसी प्रकार ज्ञान और समाधि के क्रम से चित्त पर विजय भी हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

हे साधु शिरोमणे, जैसे अस्त्र के प्रयोग से घोर अस्त्र का शमन किया जाता है वैसे ही शुद्ध चित्त से चित्त का शीघ्र शमन कर आप बन्दर से छुटकारा पाये हुए वृक्ष जिसकी शोभा नष्ट–भ्रष्ट नहीं हुई उसके समान चिरकाल तक चंचलता को त्याग कीजिये ॥८४॥ पूर्वोक्त रीति से और पूर्व में उपदिष्ट तत्त्वबोध से प्रत्यगात्मा में उपशम को प्राप्त हुए मन को राग आदि मलों से शून्य बनाकर निर्मल चित्त से स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहपर्यन्त सब दृश्य समूह को हेयदृष्टि से तिनके के टुकड़े से भी तुच्छ (स्वप्न शरीर आदि के समान अत्यन्त उपेक्षा के योग्य) समझकर संसार से पार हुए आप प्रारब्ध शेष के भोगार्थ ' आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इस श्रुति में प्रदर्शित लीला से लोक संग्रह के लिए सोम आदि का पान कीजिये, ऋत्विक् आदि के साथ यज्ञों में विहार कीजिये तथा शास्त्र से अविरुद्ध लौकिक विषय में रमण कीजिये। उससे आपको पुनर्बन्धन की प्राप्ति नहीं होगी ॥८५॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

शान्त परम पद में विश्रान्ति की इच्छा कर रहे उद्दालक मुनि के
मन के विविध दोषों से विक्षेप का बहुत प्रकार से वर्णन।

श्रवण और मनन से आत्मतत्त्व का निर्णय होने पर भी चित्तविश्रान्ति के बिना विक्षेपरहित जीवन्मुक्त सुख की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए विक्षेपशून्य जीवन्मुक्ति सुख के लिए समाधि के अभ्यासों में तत्परता के साथ बोध वृद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है, यों उद्दालक–चरित्रवर्णन के

द्वारा उपदेश देने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उद्दालक चरित्र के वर्णन के लिए पहले चित्त के चरित्रों में अविश्वसनीयता कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐहिक, पारलौकिक और दूर स्थित विषयों में आसक्ति होने के कारण बड़े लम्बे, वासनाप्रचुर हाने के कारण अत्यन्त महीन, प्रमाद कर रहे पुरुष के तुरन्त ही समाधि सुख के विच्छेद के हेतु होने के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, आत्मा के प्रतिबिम्ब के ग्रहण में योग्यतारूप निर्मलता होने के कारण सफेद अतएव छूरे की धार के तुल्य चित्त के चरितों में प्रमादवश विश्वस्त मत रहिये ॥१॥ हे नीतिशास्त्र के मर्मज्ञ, सत्कूलरूपी खेत में उत्पन्न हुई देहरूपी लता में चित्तशुद्धि, श्रवण आदि (देहरूपी) उपायों से यह परमात्म ज्ञानरूप आपकी बुद्धि लता चिरकाल में उत्पन्न हुई है । इसे आप विवेकरूपी जल के सेक से बढ़ाइये ॥२॥

वह बाल्यावस्था से यदि सींची जाय, तो बढ़ती है । वृद्धावस्था आदि से देहरूपी लता के मुरझाने पर उसके गिरने की शंका से उसका उद्धार भी नहीं हो सकता उसकी मंजरियों को बढ़ाना तो दूर की बात रही, ऐसा कहते हैं ।

जब तक कालरूपी सूर्य से यह देहरूपी लता मुरझाती नहीं तभी तक पृथ्वी पर न गिरी ही इस देह लता का गुरुसेवा, श्रवण आदि से उद्धार कर बुद्धिरूपी लता का पालन कीजिये ॥३॥

आगे कहे जानेवाले आख्यानरूप मेरे वाक्य के अर्थ का श्रवण पूर्वक बार-बार मनन करना विवेक सेक है । उसीमें सब मनन युक्तियाँ विद्यमान हैं, ऐसा कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप मेरे वाक्यार्थों के एकमात्र तत्त्वज्ञ हैं । जैसे मयूर मेघ के गर्जन की भावना से सुख को प्राप्त होता है वैसे ही मेरे वाक्यों के अर्थों की एकमात्र भावना से आप भी सुख को प्राप्त होते हैं ॥४॥

उक्त आख्यायिका का अवतरण कर उसके अर्थ विचार कर्तव्यता को कहते हैं ।

'तत्' और 'त्वम्' आदिपदार्थ के शोधन में तत्पर बुद्धि से 'अन्नेन सोम्य शुंगेनापो मूलमन्विच्छ' इस श्रुति में प्रदर्शित युक्ति द्वारा कारण से अतिरिक्त कार्यांकुर के अपलाप से देह आदि के आरम्भक और बाह्य प्रपंच के आरम्भक पाँच महाभूतों को उद्दालक मुनि के समान छिन्न-भिन्न और मूल अविद्या के तहस-नहस होने से शिथिलकर उनके अधिष्ठानभूत सन्मात्र के अन्वेषण में धीरों से भी धीर बुद्धि से मन में विचार कीजिये ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवान्, उद्दालक मुनि ने किस क्रम-से-उन पंचमहाभूतों को छिन्न-भिन्न कर अपने अन्तःकरण में विचार किया ? ॥६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार प्राचीन काल में उद्दालक मुनि ने पंचमहाभूतों के विचार से अकुण्ठित परम दृष्टि प्राप्त की । उस प्रकार को आप सुनिये ॥७॥ इस जगत्रूपी जीर्ण-शीर्ण घर के किसी विस्तृत कोने में, जो पर्वतरूपी उल्टे करके रक्खे हुए बर्तनों से भरा है और भूमि की आग्नेयी दिशा में गन्धमादन नाम से शैलराज पर एक अद्‌भुत भूमि भाग है । उसके ऊपर खूब फूल बिखरे रहते हैं, फूले हुए पेड़ ही कपूर के तुल्य सफेद पराग और केसरों से चारों ओर से व्याप्त होने के कारण उसके कर्पूर-केसर हैं; उस पर भाँति-भाँति के पक्षी रहते हैं, नाना प्रकार की लताएँ सुशोभित रहती हैं, उसके तट वनपशुओं के झुण्डों से भरे रहते हैं, फूलों के केसरों से उसकी शोभा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है, उसके किसी प्रदेश पर विशाल महारत्न हैं

तो कहीं पर चंचल कमल खिले हैं, कहीं पर सरोवररूपी दर्पण उसकी शोभा बढ़ाये रहते हैं, तो कहीं पर कुहरारूपी केशों से वह व्याप्त रहता है ॥८–११॥ उस गन्धमादन पर्वत के भूमि भाग पर किसी एक उठे हुए शिखर पर, जिसमें सीधे वृक्ष हैं, टखनों तक फूल बिखरे रहते हैं और घनी ठण्डी छायावाले महावृक्ष हैं वहाँ पहले उद्दालक नाम के एक मौनी मुनि रहते थे। वे यत्न से मैं अवश्य पुरुषार्थ का साधन करूँगा ऐसा अभिमान रखते थे और शास्त्र, अनुमान आदि प्रमाण में कुशल थे। उनका मन महा उदार था और वे बड़े तपस्वी थे। अभी उन्हें युवावस्था प्राप्त नहीं हुई थी ॥१२,१३॥ पहले तो वे अल्प प्रज्ञावाले, अविचारवान्, परमपद में विश्रान्ति को अप्राप्त, अप्रबुद्ध तथा प्रबोध के अनुकूल पुण्यपूर्ण अन्तःकरणवाले थे ॥१४॥ तदनन्तर क्रमशः तपस्या से शास्त्रार्थ के नियमों के अभ्यास परिपाक से क्रमों से उन्हें विवेक प्राप्त हुआ जैसे कि भूतल को वसन्त ऋतु प्राप्त होती है ॥१५॥ तदनन्तर एकान्त में ही निवास कर रहे, संसाररूपी रोग से भयभीत बुद्धिवाले, पवित्र, मनवाले उन्होंने किसी समय निम्ननिर्दिष्ट रीति से विचार किया ॥१६॥ प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थों में से प्रधान मोक्षरूप पुरुषार्थ क्या है ? इसमें विश्रान्ति होने पर फिर शोक नहीं होता तथा जिसे प्राप्त करके फिर जन्म से सम्बन्ध नहीं होता ॥१७॥ जैसे मेरु पर्वत के शिखर पर मेघ चिरकाल तक विश्राम को प्राप्त होता है वैसे ही जिसमें मन के व्यापारों का त्याग हो चुका हो ऐसे परम पावन पद में मैं, चिरकाल तक कब विश्रान्ति को प्राप्त होऊँगा ? ॥१८॥ जैसे चंचल (अशान्त) कल्लोलों की ध्वनि के समान ध्वनिवाली तरंगें समुद्र में शान्त हो जाती हैं वैसे ही मेरे अन्दर भोग तृष्णाएँ, जिनकी ध्वनि शान्त कल्लोलों की ध्वनि के समान गंभीर है, कब शान्त होगी ? ॥१९॥ मुझे यह कार्य करके यह भी दूसरा कार्य कर्तव्य है, इस कल्पना का मैं परमपद में विश्रान्त बुद्धि से अपने अन्दर कब उपहास करूँगा ? ॥२०॥ जैसे कमल के पत्ते में स्थित जल भी स्पर्श न होने के कारण कमल के पत्ते में नहीं लगता वैसे ही केवल आभास से मेरे चित्त में स्थित होते हुए भी उपेक्षा करने के कारण सम्बन्धरहित विविध विकल्प मेरे चित्त में कब न लगेंगे ? ॥२१॥ मैं बहुत–सी बड़ी–बड़ी तरंगों से भरी हुई तथा अविवेक से खूब बढ़ी हुई तृष्णारूपी नदी को विवेकबुद्धिरूपी नौका से कब पार कर जाऊँगा ? ॥२२॥ मैं जगत् के प्राणियों से की जा रही असन्मयी तथा चित्त को व्यग्र करनेवाली इस बाह्यप्रवृत्ति का बालकों की क्रीड़ा के तुल्य कब उपहास करूँगा ? ॥२३॥ जैसे जिसका उन्माद रूपी वात रोग निवृत्त हो चुका हो ऐसे पुरुष की विक्षिप्तता शान्त हो जाती है वैसे ही विकल्पों से विक्षिप्त, झूले के समान अशान्त मेरा मन कब शान्ति को प्राप्त होगा ? ॥२४॥ आविर्भूत हुए स्वरूप के प्रकाश के छिटकने से जगत् की विविध गतियों का उपहास कर रहा मैं ब्रह्माण्ड शरीरवाले (सर्वव्यापक) आत्मा के समान परिपूर्ण बुद्धि होकर कब अन्तःकरण में सन्तोष को प्राप्त होऊँगा ? ॥२५॥ जैसे मंथन से उत्पन्न विक्षेप से मुक्त हुआ क्षीरसागर समाधिस्थ भगवान् श्रीविष्णु से सुशोभित आकारवाला, प्रशान्त और मंथन से निकली हुई अमृत, कौस्तुभ आदि वस्तुओं में निस्पृह हो शान्ति को प्राप्त होता है वैसे ही परमात्मा से एकरस आकारवाला सौम्य, धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग में स्पृहारहित हो मैं कब अन्तःकरण में शान्ति को प्राप्त हूँगा ? ॥२६॥ सैकड़ों आशापाशरूपी इस अचल–अटल सारी दृश्यशोभा को सन्मात्ररूप से देख रहा मैं कब अपने अन्दर अपरिच्छिन्नता को प्राप्त होऊँगा ? ॥२७॥ जिसकी कल्पनाएँ शान्त हो गई ऐसी बुद्धि से बाहरी और भीतरी सारे प्रपंच को चिन्मात्र देख रहा मैं कब उस की

भावना से स्थिर होऊँगा ? ॥२८॥ जिसका चित्त शान्त हो गया है ऐसे स्वरूपवाला अतएव उत्तम चिदेकरसता को प्राप्त हुआ मैं जन्मान्धता के सदृश अनादि मूलअज्ञान के हटने से कब परम आलोक को प्राप्त होऊँगा ? ॥२९॥ अभ्यास से प्राप्त होने योग्य सुन्दर चैतन्यरूपी प्रकाश से बाधितानुवृत्तिरूप होने के कारण तुच्छ (थोड़ी बची हुई) आयुशेषरूप काल कला को आत्मा से सम्बन्ध न होने के कारण दूर से ही कब देखूँगा ? ॥३०॥ इष्ट और अनिष्टों से निर्मुक्त हेय और उपादेय से रहित एवं स्वयंज्योति परम पद में स्थित हुआ मैं कब अन्तःकरण में सन्तोष को प्राप्त होऊँगा ? ॥३१॥ दुराशारूपी उल्लूओं से भरी हुई, जिसने मूर्खता से (दूसरे पक्ष में बर्फ से) हृदयरूपी कमल को जीर्ण-शीर्ण कर दिया है तथा मेरी यह अविद्या अन्धकाररूपी काली रात्रि कब नाश को प्राप्त होगी ? ॥३२॥ पर्वत की गुफा में निर्विकल्प समाधि से शान्त मनोव्यापारवाला (चिदेकरसता से मनोवृत्तिरहित हुआ) मैं कब शिला की समता को प्राप्त होऊँगा ? ॥३३॥ मेरा अहंकाररूपी हाथी, जिसकी स्वांशभूत अभिमान वृत्तियाँ ही बड़े मदप्रवाह हैं, परमार्थ सन्मात्र के ज्ञानरूप सिंह के द्वारा निहित होकर कब नाश को प्राप्त होगा ? ॥३४॥ निर्विकल्प ध्यान में मग्न हुए मौन व्रतधारी मेरे मस्तक पर वनधूर्णिकाएँ (एक प्रकार की चिड़ियाँ) कब तिनकों का घोंसला बनायेगी ? ॥३५॥ ध्यान में स्थिर बुद्धिवाले अतएव पर्वत के ठूँठ के समान निश्चल स्थितिवाले मेरे वक्षःस्थल पर लम्बमान जटाओं के अग्रभाग में बनाये गये घोंसले में चिड़ियाँ कब निःशंक होकर विश्राम लेगी ? ॥३६॥ तृष्णारूपी कंजे के वृक्षों से चारों ओर व्याप्त, काम आदिरूपी मृगों से जर्जर जन्मरूपी झाड़ियों से भरे हुए संसाररूपी जंगली तालाब का त्यागकर मैं कब जाऊँगा ? ॥३७॥ इस प्रकार की चिन्ताओं से परवश हुए उद्दालक नाम के ब्राह्मण ने बार-बार ध्यान में बैठते हुए वन में ध्यानाभ्यास किया ॥३८॥ किन्तु विषयों से हरे जा रहे अतएव बन्दर के समान चंचल चित्त में प्रसन्नता प्रदान करने वाली समाधि स्थिरता उन्हे नहीं मिली ॥३९॥ किसी एक समय बाह्य विषयों के संबन्ध के त्याग के अनन्तर उनका चित्तरूपी वानर सात्त्विक देवता आदि से भोग्य विषय में या सात्त्विक वृत्ति के सुखास्वाद में मनोरथों द्वारा चंचलता को प्राप्त हुआ ॥४०॥ किसी समय उनका मनरूपी वानर चंचलतावश अन्दर होनेवाले समाधि सुख-सम्बन्ध का त्याग कर जैसे विष से मरा हुआ पुरुष जठराग्नि सम्बन्धी देह की उष्णता का त्यागकर अन्य लोक में जाता है वैसे ही विषयों को प्राप्त हुआ ॥४१॥ हे कमलनयन, कभी उनका मन हृदयाकाश में उदित हुए सूर्य के सदृश तेज को (📖) देखकर विषयों में उन्मुख हो गया ॥४२॥ कभी उनका मन हृदयवर्ती गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकार का थोड़ी-बहुत ब्रह्म की

📖 इस विषय में श्रुति है : नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ यानी योगी की पहले तुषार के समान चित्तवृत्ति होती है, उसके बाद धुएँ के समान चित्तवृत्ति होती है, तदनन्तर सूर्य के समान चित्तवृत्ति होती है, तदुपरान्त भीतर का वायु बाह्य वायु के समान क्षुभित होता है, तत्पश्चात् जुगनू के समान चित्तवृत्ति होती है, तदुपरान्त बिजली के तुल्य, तदुपरान्त स्फटिक के समान, तदनन्तर पूर्ण चन्द्र के सदृश चित्तवृत्ति होती है। इस तरह तुषार धुआँ, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली, स्फटिक और पूर्णचन्द्रमा के रूप के सदृश ये बुद्धि के रूप योगियों के अनुभव सिद्ध है। योग करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्योतक ये पूर्वरूप (चिह्न) आविर्भूत होते हैं।

अभिव्यक्ति से त्याग कर (कुछ शमन कर) उसी समय विषय वासना के जागने से विषय लम्पट होकर भयभीत पक्षी के समान उड़कर चला जाता था ॥४३॥ कभी उनका मन बाह्य स्पर्शों का (विषयों के सम्बन्धों का) और आभ्यन्तर स्पर्शों का (समाधिसुख–सम्बन्धों का) त्यागकर तम (अज्ञान) और तेज (आत्मज्योति) के अन् तराल में (सन्धि में) लीन होकर निद्रारूपी शाश्वती (चिरकाल तक चलनेवाली) स्थिति को प्राप्त होता था ॥४४॥ जैसे वायु द्वारा तटवर्ती जल में डूबाया गया और तट की लहरों से हिलाया जा रहा वृक्ष बड़े संकट में स्थित रहता है वैसे ही बड़ी–बड़ी गुफाओं में ध्यानमग्न मनवाले उद्दालक पूर्वोक्त रीति से ध्यानवृत्तियों में व्याकुल मन के मध्य में तुच्छ तृष्णारूपी तीर तरंगों से दोलायित शरीरवाले होकर बड़े संकट में स्थित रहे ॥४५,४६॥ तदनन्तर व्याकुल मनवाले मुनि जैसे सूर्य प्रतिदिन महामेरु में अकेले ही भ्रमण करते हैं वैसे ही पर्वत पर भ्रमण करते थे ॥४७॥ एक समय वे सब प्राणियों से दुष्प्राप्य एवं सबके संचार से रहित कन्दरा में ऐसे ही पहुँचे जैसे मुनि सबके संचार से रहित मोक्षदशा को प्राप्त होता है ॥४८॥ उस कन्दरा में वायु द्वारा विक्षेप–व्याकुलता न थी, कोई मृग–पक्षी वहाँ कभी नहीं पहुँचे थे, देवता ओर गन्धर्वों तक को उसका दर्शन कभी नहीं मिला था और वह परमाकाश के (ब्रह्म के) समान शोभायमान थी ॥४९॥

पुष्पों की राशियों से वह कन्दरा चारों ओर आच्छन्न थी, नरम हरी घास से ढकी होने से बड़ी भली लगती थी, अतएव मालूम होता था कि मानों ज्योतिरूप रस के (चन्द्रमा के) पत्थरों के साथ यानी चन्द्रकान्त मणियों के साथ जोड़ी हुई मरकत मणियों से बनाई गई है ॥५०॥ उसके दरवाजे पर बड़ी मीठी और ठण्डी छाया थी, रत्नरूपी दीपकों से वह जगमगाती थी ओर वनदेवियों के अन्तःपुर की कुटी के समान बड़ी गुप्त थी ॥५१॥ उसके दरवाजे पर केवल शीत निवारण करनेवाले आलोक फैलते थे, शरद् ऋतु के प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा के समान न वह अति उष्ण थी और न अति शीतल थी। सुवर्ण के समान पीला उस का रंग था ॥५२॥ वह गुफा बाल सूर्य से सूखी हुई थी (इससे यह व्यक्त होता है कि उसका मुँह पूर्व की ओर था) उसमें बिना शब्द का मन्द–मन्द पवन बहता था (इससे यह व्यक्त होता है कि पश्चिम की ओर उसमें खिड़कियाँ थी) और मंजरियों से लदे हुए वृक्षों से वह युक्त थी (इससे उसमें सुगन्धि व्यक्त होती है)। वह स्वयंवर के लिए तत्पर अतः हाथ में वरमाला ली हुई राजकन्या के समान थी ॥५३॥ वह गुफा कमल के मध्यभाग के समान कोमल थी, अतएव ब्रह्मा के विश्राम के योग्य थी, चारों ओर फूलों की राशियों से कोमल और बड़ी मनोहर थी तथा उपशम पदवी के समान सदा ही आश्रय लेने के अनुरूप थी ॥५४॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

गुहा में आसनस्थित, समाधि में प्रवेश करने की इच्छावाले
मुनि द्वारा चिन्तित चित्त प्रबोधन के उपायों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीराममचन्द्रजी, जैसे भ्रमर बहुत प्रकार के भ्रमण से मिले हुए कमल गर्भ में प्रवेश करता है वैसे ही वे धर्मात्मा मुनि बहुत प्रकार के अन्वेषण से मिली हुई पद्मगर्भ के समान

मनोहर गन्धमादन गुफा में प्रविष्ट हुए ॥१॥ जैसे सृष्टि–रचना से वैराग्य होने पर सत्यलोक में स्थित अपराजिता नाम की अथवा भगवन्नाभिकमल रूप अपनी नगरी में प्रवेश कर रहे ब्रह्माजी विराजमान होते हैं वैसे ही समाधिप्रविणता से उस गुफा में प्रवेश कर रहे वे विराजित हुए ॥२॥ (✍) वहाँ पर उन्होंने जैसे इन्द्र मेघ को जिसके मध्य में बिजलियाँ स्वगुच्छ के समान फैली रहती हैं, राशिभूत करते हैं वैसे ही ताजे (न मुरझाये हुए) पत्तों से कोमल आसन बनाया, जिसमें उनका शरीर ही गुच्छ के समान शोभित हो रहा था ॥३॥ जैसे सुमेरु नील रत्नमय अपने तट पर आकाश को, जिसमें तारे ही बहुमूल्य रत्न हैं, बिछाता है वैसे ही उन्होंने उस आसन के ऊपर सुन्दर मृगचर्म बिछाया ॥४॥ जैसे मेघ वृष्टि से अपने जाड्य का (जलता का) त्याग कर सफेद और गर्जन रहित होकर पर्वत के शिखर पर बैठता है वैसे ही शुद्ध अन्तःकरणवाले वे चित्त की वृत्तियों को जड़ विषय के त्याग से लघु बनाते हुए उस पर बैठे ॥५॥ प्रबुद्ध (ज्ञानी) कपिल आदि के समान दृढ़ सिद्धासन (卐) बाँधकर एड़ी से वृषणों को (अण्डकोशों को) दबाकर उत्तर की ओर मुँह किये हुए उन्होंने ब्रह्मा आदि गुरु–परम्परा के लिए प्रणामांजलि की ॥६॥ समीप में (विषयों में) दौड़े हुए मनरूपी मृग को वासनाओं से हटाकर उन्होंने निर्विकल्प समाधि के लिए यह विचार किया ॥७॥ अरे मूर्ख मन, तुम्हारा संसार वृत्तियों से क्या मतलब है ? बुद्धिमान् लोग अवसान में (अंत में) दुःख देनेवाले कर्म का सेवन (आचरण) नहीं करते हैं ॥८॥ जो शान्तिरूपी रसायन का त्यागकर विषय भोगों की ओर दौड़ता है, वह मन्दार वन का त्याग कर विष वृक्षों से भरे हुए जंगल में जाता है ॥९॥ चाहे तुम पाताल में जाओ चाहे ब्रह्मलोक में भी चले जाओ, किन्तु शम रूपी अमृत के बिना उस निरतिशय सुख में विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हो सकते ॥१०॥ हे मन, तुम सैकड़ों भोग आशाओं से पूर्ण होने पर पूर्वोक्त रीति से सब दुःख देते हो । अब तुम भोगाशाओं का त्यागकर दुःखस्पर्शरहित निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण अत्यन्त सुन्दर परम कल्याण को (निर्वाण को) प्राप्त होओ ॥११॥ भाव (इष्ट वस्तु का सम्पादन) और अभावमय (अनिष्ट का निवारण) ये विचित्र विषय तुम्हारे उत्कट दुःख के लिए ही हैं, ये सुख के लिए कभी नहीं हो सकते हैं ॥१२॥

हे मूर्ख चित्त, मेढकी जैसे मेघ में शब्दादिक व्यर्थ वृत्तियों से भ्रमण करती है वैसे ही तुम शब्द आदि इन गर्हित वृत्तियों से क्यों निरन्तर भ्रमण करते हो ? ॥१३॥ हे मनरूपी मेढकी, जरा बतला तो सही, इतने समय तक व्यर्थ भुवन में (मेढकी के पक्ष में जल में) त्वरा से भटक रही अन्धी तूने क्या फल पाया ? ॥१४॥ हे चित्त, जिससे मन और वाणी का अगोचर विदेह कैवल्य सुख तुम्हें मिले, जिसमें तुम्हें जीवन्मुक्ति विश्रान्ति सुख मिले, उस सकलवृत्ति के शमरूप समाधि में उद्योग क्यों नहीं करते हो ? ॥१५॥

शब्द आदि विषय दुःख के लिए ही है 'ऐसा जो पूर्व में कहा है, उनमें से प्रत्येक का दृष्टान्तों के उदाहरणों द्वारा विस्तार करते हैं।

✍ 'पद्मकूटीमिव' इससे वहाँ पर प्रविष्ट हुए उनको निरतिशय आनन्द रस–पान से विश्रान्ति मिलेगी, यह अभिव्यक्त होता है ।

卐 पद्मासन का ग्रहण सिद्धासन का उपलक्षण है, क्योंकि एड़ियों से वृषणों को दबाना उसी में घट सकता है ।

हे मूर्ख, व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थान से बढ़ी हुई श्रोत्रेन्द्रिय तादात्म्यापत्तिरूप श्रोत्रता को प्राप्त कर ('प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः श्रृण्वन् श्रोत्रम्' इत्यादि से श्रवण आदि के समय आत्मा के श्रोत्रादि भाव का श्रवण है।) व्याध के गीत और घंटा की ध्वनि से मोहित मृग के समान शब्दनुसारिणीवृत्ति से नाश को प्राप्त मत होओ ॥१६॥ हे मूर्ख मन, उस स्पर्शोन्मुखता से (स्पर्शार्ह सुखानुभव की इच्छा से) केवल दुःख के लिए त्वगइन्द्रियता को प्राप्त होकर तू हाथिनी पर लोलुप हाथी के समान बंधन को मत प्राप्त हो। पीलवान लोग सिखाई हुई हथिनी से बन गज को लुभाकर गर्त की ओर लाकर गर्त में गिराने आदि से बाँधते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥१७॥ अरे अन्धे मन, दुष्ट अन्नों की अभिलाषा से रसनेन्द्रियता को प्राप्त होकर बंसी में बँधे हुए मांस के टुकड़े पर (चारे पर) लोलुप मछली के समान तू नाश को प्राप्त मत हो ॥१८॥

हे मूढ, तू कान्ता सम्बन्धी नाना प्रकार के रूपों में तत्पर चक्षुरिन्द्रियता के प्राप्त होकर प्रकाश में लोलूप पतंगे के समान दाह को प्राप्त मत हो ॥१९॥ गन्ध के अनुभव की इच्छा से घ्राणेन्द्रियता का आश्रय लेकर हाथी द्वारा मसले गये कमल के अन्दर स्थित भँवरे के समान शरीर रूपी कमल के अन्दर बन्धन को प्राप्त मत हो ॥२०॥ अरे मूर्ख ! मृग, भँवरा, पतंगे, हाथी और मत्स्य एक –एक शब्द आदि विषय से विनष्ट हुए यानी मृग एकमात्र शब्द से, भँवरे एकमात्र गन्ध से, पतंगे एकमात्र रूप से, हाथी एकमात्र स्पर्श से और मछलियाँ एकमात्र रस से विनष्ट हुईं; संमिलित सब अनर्थों से व्याप्त हुए तुम्हें कहाँ से सुख हो सकता है ? ॥२१॥ हे चित्त, जैसे क्षुद्र रेशम का कीड़ा अपने स्वाभाविक लार के फेन का अपने बन्धन के लिए कोशरूप से प्रसार करता है वैसे ही तुमने भी वासनाजाल की अपने कुवितर्क से रचना की है ॥२२॥

तब प्रमाद से प्राप्त हुए इस बन्धन पर कैसे विजय प्राप्त हो सकती है ? ऐसा कोई पूछे, तो इस पर कहते हैं।

पहले कर्म, उपासना आदि से शरत्कालीन मेघ के समान शुद्धि को जिसमें संसाररूपी दोष का सर्वथा त्याग हो चुका हो उसे प्राप्त होकर श्रवण, मनन आदि का परिपाक होने के कारण ज्ञानोदय से यदि वासनाजाल का सर्वथा उच्छेद कर शान्त होते हो, तो तुम्हारी असीम विजय है ॥२३॥

सारे वक्तव्य का संकलन कर एक उक्ति से कहते हैं।

यदि तुम जगत्–प्रवृत्ति को जन्म तथा मरणकी एवं बल आदि और दरिद्रता आदि अवस्थाओं का पालन करनेवाली (धात्रीरूप), मरने के बाद भी नरक, स्थावर आदि गतियों में संताप देनेवाली जानते हुए भी नहीं छोड़ोगे, तो विनष्ट हो जाओगे ॥२४॥

अथवा अपने वैरी चित्त को उपदेश नहीं देना चाहिए, किन्तु जबरदस्ती उसे बाँध कर विचार द्वारा उसका उच्छेद ही कर डालना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

अथवा हे अनघ, मैं तुम्हें यह हित उपदेश क्यों दूँ ? आत्मा से पृथक् चित्त नाम की क्या कोई वस्तु है ? यों विचार कर रहे पुरुष का चित्त ही नहीं है ॥२५॥

अथवा चित्त के उच्छेद के लिए पृथक् प्रयत्न करने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह मूलअज्ञान के अन्वय व्यतिरेक का अनुसरण करता है यानी मूलअज्ञान के अस्तित्व से उसका अस्तित्व है और

मूलअज्ञान के अभाव से उसका अभाव है। अतएव मूलअज्ञान के उच्छेद से ही उसका उच्छेद करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जब तक निबिड़ अज्ञान है तब तक घनीभूत चित्त है, जब तक वर्षा ऋतु के मेघ रहेंगे तब तक अवश्य प्रचुर कुहरा रहेगा। जितना अज्ञान क्षीण होता जायेगा उतना ही चित्त भी कृश होता जायेगा। जितना वर्षा ऋतु का विनाश होगा उतना ही कुहरा क्षीण होगा। विचार से शुद्ध हुआ चित्त वासनाक्षय से जितनी सूक्ष्मता को प्राप्त हुआ (शरत्काल के मेघ की तरह) मैं उसको उतना क्षीण हुआ भी समझता हूँ ॥२६-२८॥

अविवेकी का चित्त उपदेश के अयोग्य ही है, किन्तु विवेकी का चित्त भी चाहे वह नष्ट हो रहा हो चाहे नष्ट हो चुका हो सुतरां उपदेश के अयोग्य है, इस आशय से कहते हैं।

असत् अथवा नाश को प्राप्त हो रहे चित्त का जो यह उपदेश किया जाता है, यह आकाश के, जल के और वायु के ताड़ने के समान व्यर्थ है ॥२९॥

उक्त का ही अनुवाद द्वारा उपसंहार करते हैं।

चूँकि तुम दिन पर दिन क्षीण हो रहे हो, इसलिए क्षीयमाण होने के कारण असन्मय तुमको मैं त्यागता हूँ। विद्वान् जन परित्याज्य को उपदेश देना भारी मूर्खता ही कहते हैं ॥३०॥

अपना उससे असम्बन्ध देखना ही उसका त्याग है, इस आशय से कहते हैं।

हे असन्मयचित्त, मैं अहंकारवासना से रहित निर्विकल्प स्वयं ज्योति चैतन्य हूँ। अहंकार के बीजभूत तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥३१॥

मुझसे कौन अपराध हुआ ? जिससे विनाश के लिए आप मेरा त्याग करते हैं, ऐसा यदि मन की ओर से प्रश्न हो, तो देहआदि में अहंकाररूपी दुर्दृष्टि का अवलम्बन ही तुम्हारा अपराध है, ऐसा कहते हैं।

तुमने यह, वह, मैं यों व्यर्थ दुर्दृष्टि का अवलम्बन किया है। वह दुर्दृष्टि शंका विष से हुई विषूचिका के समान मिथ्या हेतुक होती हुई भी मूढ़ों के विनाश के लिए होती है, यही तुम्हारा अपराध है, यह अर्थ है ॥३२॥ जैसे हथिनी और हाथी की बिल्व के अन्दर स्थिति नहीं हो सकती है वैसे ही अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व की इस प्रकार के परिच्छिन्न मन के अन्दर परिच्छिन्न स्थिति (देहआदि में अहंकार भाव से स्थिति) नहीं हो सकती है ॥३३॥

चित्त की त्याज्यता में दूसरा भी हेतु कहते हैं।

हे चित्त, खेद की बात है कि तुमने बड़े भारी जीर्ण कुएँ आदि के समान अगाध तथा काम, क्रोध, लोभ आदिरूप साँप, बिच्छू, पिशाचआदि के निवासभूत होने के कारण दुःखदायी इस वासना को ही अपने निवासस्थान के रूप में अपनाया है, किन्तु मैं तो इसका अनुसरण नहीं करता हूँ। इसलिए उसके अनुगामी तुम्हारा त्याग करता हूँ, यह भाव है ॥३४॥ यह (देह) वह (आत्मा) मैं हूँ ऐसी भ्रान्ति की जो तुमने अहन्ता से कल्पना की है, वह अविचारशील बालकों के तुल्य व्यर्थ मोह है। मैं तो विचारशील हूँ, मुझको वह मोह कहाँ ? यानी कुछ भी नहीं है, यह भाव है ॥३५॥

'अहम' की नास्तिता को ही विचारकर विशद करते हैं।

पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक मैंने तिल-तिल पर विचार किया। यह 'अहम्' नाम का पदार्थ मुझे

नहीं मिला। 'अहम्' रूप से स्थित कौन होगा ? ॥३६॥

यदि अहंपदार्थ है ही नहीं, तो तुम कौन हो ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

तीनों जगतों में जिसने सब दिशारूपी कुंजों को भर रक्खा है यानी जो दिशाकृत परिच्छेद से रहित है, एक यानी वस्तुकृत परिच्छेद से रहित है, ज्ञेय क्रम से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन अवस्थारूप काल से किये गये परिच्छेद से शून्य है, अतएव सब प्रकारों में वस्तु अवान्तर स्वरूपशून्य है इस प्रकार का ज्ञानरूप ही मैं हूँ॥३७॥ जिसका परिच्छिन्न रूप नहीं है, जिसकी नाम की कल्पना नहीं है, एकत्व संख्या नहीं है, न जिसकी अन्यता है, न महत्ता है और न अणुता है, वह ज्ञानरूप मैं हूँ॥३८॥ हे चित्त, चूँकि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसलिए साक्षीभूत अपने ज्ञेय दुःखकारण तुमको, जो चारों ओर फैले हो, देखता हूँ। दुःख के कारण होने से ही तुम आगे कहे जानेवाले विवेक का उपार्जन कर विवेक से उत्पन्न बोध द्वारा मुझसे मारे जाते हो ॥३९॥

विवेचन का प्रकार दिखलाते हैं।

देह में यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु है, यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन है ? भाव यह कि इदन्ता से गृहीत हो रहे मांस आदि में वह अहंशब्दार्थ कोई भी नहीं है क्योंकि इदन्ता और अहन्ता का परस्पर विरोध है ॥४०॥ स्पन्दनांश सारा का सारा प्राणवायुओं का है, ज्ञानांश परमात्मा का है, बुढ़ापा और मरण देह के धर्म हैं, यह 'अहम्' रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? ॥४१॥

हे चित्त, मांस अहं पदार्थ से पृथक् है, रक्त भी उससे अतिरिक्त है, हड्डियाँ भी 'अहम्' से भिन्न हैं, बोध (ज्ञानेन्द्रियव्यापार) उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अतिरिक्त है फिर 'अहम्' रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? भाव यह कि मांस अदि तो आत्मा से भिन्नरूप से प्रतीत हो रहे हैं, अतः उनमें अहन्ता उपपन्न नहीं हो सकती ॥४२॥ यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दो कान हैं, यह चक्षु है, यह स्पन्द है (कर्म की हेतु कर्मेन्द्रियाँ हैं), फिर यह 'अहम्' रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? भाव यह कि नासिका आदि भी इदन्ता से प्रतीत होने के कारण अहंशब्दार्थ नहीं हैं ॥४३॥ परमार्थरूप से विचार करने पर मन 'अहम्' नहीं है, तुम (चित्त) 'अहम्' नहीं हो, वासना भी 'अहम्' नहीं है। शुद्ध चित्प्रकाश यह आत्मा तो अहन्ता से रहित ही विलसित होता है यानी आत्मा तो अहन्ता से सर्वथा अस्पृष्ट है, यह भाव है ॥४४॥ उक्त आत्मा में यदि अध्यारोप दृष्टि हो, तो मैं ही सर्वत्र अधिष्ठान हूँ, इसलिए सब कुछ मैं ही हूँ अथवा यदि अपवाद दृष्टि हो, तो यहाँ मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है वही वास्तविक है। एक देहमात्र में सीमित अहंभावरूप दूसरा अहंकार क्रम नहीं है। भाव यह कि इस जगत् में सर्वत्र प्रतीयमान मैं ही हूँ अथवा यहाँ पर प्रतीयमान कुछ भी मैं नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है, वही वास्तविक है। दूसरा परिच्छिन्न विषय में अहंप्रतीतिरूप क्रम वास्तविक नहीं है ॥४५॥ अज्ञानरूपी धूर्त ने वंचना द्वारा स्वरूपवियोग से चिरकाल तक ऐसे ही मुझे क्लेश पहुँचाया जैसे कि मस्त भेड़िया जंगल में मृग के बच्चे को क्लेश पहुँचाता है ॥४६॥ बड़े सौभाग्य का विषय है कि अब मैं अज्ञानरूपी चोर को पहचान गया हूँ। अपने वास्तविक स्वरूपरूपी धन को हरनेवाले इसको फिर नहीं अपनाऊँगा ॥४७॥

परस्पर विरोधी स्वभाववाले हम दोनों का कोई सम्बन्ध भी नहीं है, एकता की बातें तो दूर रही, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जैसे पर्वत पर स्थित मेघ पर्वत का कोई नहीं होता वैसे ही दुःखरहित मैं दुःख के भाजन उसका सम्बन्धी नहीं हूँ और वह मेरा सम्बन्धी नहीं है ॥४८॥

यदि तुममें अहंकार आदि सर्वथा नहीं है, तो तुम वचन आदि से कैसे व्यवहार करते हो ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

नट के समान तात्कालिक तद्भाव की कल्पना द्वारा अहंकार बनकर यह (तुम्हें उपदेश आदि) कहता हूँ, नेत्र आदि से जानता हूँ, बैठता हूँ तथा चलता हूँ। वास्तव में आत्मदर्शन से मैं अहंकारशून्यता को प्राप्त हो गया हूँ ॥४९॥ मुझे इसका पूरा निश्चय है कि वास्तव में ये चक्षु आदि मैं ही हूँ। यदि ये मुझसे भिन्न हैं, तो जड़ हैं चाहे मेरे शरीर में रहें अथवा जायें। ये मेरे कोई नहीं हैं ॥५०॥ बड़े खेद की बात है, जगत्‌रूपी बालक का वेतालरूपी तथा ताड़ के पेड़ से भी लम्बी और अनूठी आकृतिवाला यह 'अहम्' कौन है ? किसने और कैसे इसकी कल्पना की है ? ॥५१॥

अब अपनी पूर्वावस्था की अविचारदशा के लिए शोक करते हैं।

जैसे तृण–हीन खराब पर्वत में हरिण दीर्घकाल तक व्यर्थ इधर–उधर लुढ़कता है वैसे ही मैं इस संसाररूपी गड्ढे में इतने दीर्घकाल तक वृथा लुढ़कता रहा ॥५२॥

अब प्रत्येक इन्द्रिय के विषय से सम्बद्ध अहं प्रतीति के भाजन का अन्वेषण करते हैं।

यदि चक्षु अपने लिए आलोकन में प्रवृत्त हुआ, तो संसार में 'अहम्' नामक कौन है जो मोहित हुआ ? ॥५३॥ यदि त्वचा अपने विषय में स्पर्श के लिए तत्पर हुई, तो यह 'अहम्' नामक दुष्ट पिशाच के तुल्य कौन उदित हुआ ? ॥५४॥ रसनेन्द्रिय के अपने विषय रसों में प्रवृत्त होने पर मैं मीठा भोजन करनेवाला हूँ, इस प्रकार का गर्हित भ्रम कहाँ से आता है ? ॥५५॥ श्रवणतृष्णा से विवश बेचारी श्रोत्रेन्द्रियाँ के शब्दरूप विषय को प्राप्त होने पर निर्बीज अहंकार दुःख की प्राप्ति कैसी ? ॥५६॥ अपनी नासिका की अभिलाषावश अपने गन्ध को प्राप्त होने पर 'मैं सूँघनेवाला हूँ' ऐसे जिसे अभिमान होता है, उस चोर को मैं जानता ही नहीं हूँ ॥५७॥ पूर्वोक्त स्थलों में प्रसिद्ध यह अहन्ता की कल्पना मृगतृष्णा के समान व्यर्थ होती है। उस अहन्ता की कल्पना के निर्विषय होने पर यह (देह) 'अहम्' (मैं) हूँ, इस प्रकार का जो भाव है, वह भ्रान्ति ही है, इसलिए देह में अहंभाववासना का सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥५८॥

यदि कोई कहे कि वासना के अभाव में बाहरी प्रवृत्तियाँ सर्वथा विरत हो जायेगी, इसलिए पुरुष का जीवन ही न रहेगा, तो उस पर कहते हैं।

यह शरीर वासनाहीन होने पर भी अपने जीवन के हेतु कर्म में चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा स्वतः बाहर प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति में वासना कारण नहीं है। दाम, व्याल और कट की, जो वासनारहित थे, पहले युद्धादि प्रवृत्तियों का वर्णन किया जा चुका है ॥५९॥

यदि वासना के बिना भी शरीर बाहर प्रवृत्त होता है तो प्रवृत्ति प्रयुक्त दुःख भी अवश्य होगा ही, ऐसी अवस्था में वासना के त्याग से क्या लाभ हुआ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे चित्त, यदि वासनारहित कर्म किया जाय, तो तात्कालिक भोगाभास में मैं दुःखी हूँ, यह अभिमान नहीं होता, भावी (आगे होनेवाले) सुख–दुःखों का अनुभव नहीं होता, इसलिए उनसे होनेवाले शोक,

मोह, भय, विषाद, चिन्ता, उद्वेग आदि सब संतापों की शान्ति ही इसका गुण है, यह भाव है ॥६०॥

अब इन्द्रियों को सम्बोधित कर इस अर्थ का विचारपूर्वक उन्हें उपदेश देते हैं।

इसलिए हे मूर्ख इन्द्रियाँ, भीतर अपनी वासना का त्यागकर तुम सब कर्म करो, उससे तुम्हें दुःख प्राप्त नहीं होगा ॥६१॥ जैसे बालक पहले मिट्टी के खिलौने बनाते हैं फिर उनके विनाश से उन्हें पश्चात्ताप होता है वैसे ही तुमने (इन्द्रियों ने) भी विषयों के उपार्जन और उनके विनाश में केवल दुःख के लिए ही अज्ञ आत्मा में भोगवासना की व्यर्थ स्थापना की है ॥६२॥

अतएव विद्वानों की वासना आदि सब दृष्टियाँ अज्ञान से बाधित होकर अपने कार्य राग आदि के साथ शुद्धात्मा ही हो गई, इसलिए उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे निष्पाप, ज्ञानी की ही दृष्टि में जैसे तरंग, बुद्बुदे, फेन आदि जल से पृथक् नहीं हैं वैसे ही वासना आदि सब दृष्टियाँ आत्मा से पृथक् नहीं हैं। अज्ञानी की दृष्ट में तो उनकी पृथक् सत्ता है ॥६३॥

अतएव अज्ञानियों ने तृष्णा से ही इन्द्रियों का विनाश किया है, ऐसा कहते हैं।

हे इन्द्रियरूपी बालकों, जैसे रेशम के कीड़े अपने से उत्पन्न हुए तन्तु से नष्ट हो जाते है वैसे ही तुम लोग भी स्वतः उत्पन्न हुई तृष्णा से ही नष्ट हुए हो ॥६४॥ जैसे पर्वत के पथिक पर्वत के शिखर पर जाते–जाते पित्तवश घूम रही दृष्टि से गिरकर विषम गर्तमय भूभाग में गिरते हैं वैसे ही जरा, मरण आदि क्लेशों से पूर्ण इस संसाररूपी पत्थर कंकड़ पूर्ण भूमि में तुम लोग तृष्णा से ही लुढ़क रहे हो ॥६५॥ जैसे छेदे हुए मनकों में (मनियों में) गुँथी हुई दीर्घ डोरी मोतियों के बन्धन में कारण होती है वैसे ही आप लोगों के एक जगह बन्धन में वासना ही हेतु है ॥६६॥ एकमात्र भ्रान्ति से बनाई हुई यह (वासना) वस्तुतः सत्य नहीं है। हँसिये से पत्तों के समान एकमात्र असंकल्प से ही यह काटी जाती है ॥६७॥ जैसे वायु का झोंका दीपकों के तथा चमक रहे उल्का, बिजली आदि तेजों के विनाश के लिए होता है वैसे ही बढ़ रही यह (वासना) आप लोगों के ही विमोहन और क्षय के लिए (मरण आदि दुःख के लिए) है ॥६८॥ इस कारण सब इन्द्रियों के कोश केतुल्य आधारभूत हे चित्त, तुम सब इन्द्रियों के साथ ऐकमत्य को प्राप्त होकर निश्चय अपने को असत्स्वरूप (मिथ्याभूत) जानकर केवल निर्वाणरूप निर्मल बोध मात्र होकर स्थित होओ, फिर चित्तरूप का ग्रहण मत करो ॥६९॥ हे चित्त, सकल शास्त्रतत्त्वज्ञाताओं के अभिमत द्वैत वासना परिहाररूप (अभिमत विषयत्यागरूप) मन्त्र युक्ति से असंख्य दुःखवाली अहंकारवासनारूपी विषम विष तुल्य अज्ञान से पैदा हुई विषूचिका का भली–भाँति त्यागकर संसार शून्य हो मरण आदि सब भयों के स्थान परिपूर्णानन्दात्मा ही तुम होओ, यह अर्थ है ॥७०॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

वासनाओं तथा अहंकार से आत्मा की अस्पृष्टता तथा शरीर और मन का वैर इत्यादि का वर्णन।

उद्दालक ने कहा : परिच्छिन्न तिल आदि फूल आदि से वासित होते हैं आत्मचित् तो आर–पाररहित (असीम) है। स्थूल पृथिवी, जल, तेज, वायु कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों से वासित होते हैं, चित् तो परमाणु से, अपंचीकृत आकाश से और अव्याकृत आकाश से सूक्ष्मतम है, अतएव

उसका तनिक भी स्पर्श करने के लिए वासना आदि समर्थ नहीं हैं। साक्षात् उसके स्पर्श में असमर्थ होने पर भी उसके चैत्य के स्पर्श द्वारा वासना आदि उसका स्पर्श करेंगे। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह चैत्य रहित है ॥१॥

यदि कोई प्रश्न करे कि चैत्यन्यरूप तुम्हारे द्वारा अप्रकाशित विषय में वासना का उदय नहीं दिखाई देता, अतः तुम्हीं से ये वासना आदि विस्तारित हैं इस पर ये तुम्हारा स्पर्श न करनेवाले कैसे हैं ? तो इस पर कहते हैं।

मैंने उनका विस्तार नहीं किया है, किन्तु बुद्धि में और अहंकार में चित् के प्रतिबिम्बवश जड़ इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों की सूक्ष्म अवस्थारूप अतएव शून्य (असत्-रूप) होती हुई भी वेतालों के समान त्रास देने में उद्यत विस्तृत वासनाओं का मन अनुभव करता है ॥२॥ जाग्रत् अवस्था में बुद्धि और अहंकार से बहुत बार किये गये विषय विचारों से और मन से अनुभूत विषयों से मेरा संपर्क नहीं है, क्योंकि लेप रहित चित् ही मैं हूँ, मन आदि का संघातरूप नहीं हूँ। श्रुति ने भी कहा है : 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः' वह (स्वप्नदर्शी पुरुष) वहाँ (स्वप्न में) जो कुछ देखता है, उससे असंस्पृष्ट होता है, क्योंकि यह पुरुष असंग है ॥३॥

एवं स्थूल शरीर से किये गये पाप-पुण्यरूप कर्म से भी उसका सम्बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

देह अपनी दुश्चेष्टाओं से वृद्धि को प्राप्त हुई संसारस्थिति का चाहे ग्रहण करे, चाहे त्याग करे, किन्तु मैं तो उसकी दोनों अवस्थाओं में निर्लेप चित् ही हूँ॥४॥

अतएव जन्म-मरण भी मेरे नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

चित् के जन्म-मरण नहीं हैं, क्योंकि वह सर्वव्यापक और चित्‌रूप है। अतएव क्या जीव मरता है और क्या किसी के द्वारा मारा जाता है यानी जीव का मरना और मारना दोनों असंगत हैं ॥५॥

अविनाशी अद्वितीयात्मा का दर्शन होने पर वध्य-घातक बुद्धि ही नहीं रह जाती है, अतएव आत्यन्तिक अभय सिद्धि हो जाती है, यह आशय है। जिसको जीवन से प्रयोजन है, उसे मरने से भय होता है, किन्तु चित् का जीवन से कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चित् का जीवन से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सर्वात्मा चित् ही सब वस्तुओं का जीवन है। यदि सब देश, काल और वस्तुओं में फैली हुई स्वरूपभूत चिति ही इसका जीवन है, तो उस जीवन से कब क्या दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्य होगी, जिसके लिए उसकी इच्छा होगी ? ॥६॥

मरण और जीवन केवलमात्र मन की कल्पनाएँ हैं, इस कारण भी मरण और जीवन में द्वेष और वांछा की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

जीता है और मरता है, इस प्रकार की कल्पना, जो कुविकल्पों की मालाओं से भरी हुई है, मनों की ही है, निर्मल स्वरूप आत्मा की नहीं हैं ॥७॥ जो देह में अहंभावता को प्राप्त है, वह देह के भाव और अभावरूप जन्म मरणों के फन्दे में पड़ता है। आत्मरूप तुममें देहाहंभाव नहीं है; इसलिए तुम्हारे भाव और अभावरूप जन्म-मरण कहाँ से होंगे ? ॥८॥

देह में अहंभावना क्या अहंकार की है अथवा मन की है या पदार्थ समूह की है ? इनमें से पहले के दो (अहंकार और मन) प्रमाण वैद्य नहीं हैं, इसलिए असत्स्वरूप हैं। पदार्थ भी अत्यन्त जड़ हैं,

अतएव वे भी अभिमान योग्य नहीं हैं, इसलिए अहंभावना का न तो कोई विषय है और न आश्रय है, ऐसा कहते हैं।

अहंकार व्यर्थ मोहरूप है, मन मृगतृष्णारूप है तथा पदार्थ समूह जड़ है; अतः अहंकार भावना किसे हो ? ॥९॥

उक्त अर्थ को ही प्रकारान्तर से विस्तारपूर्वक कहते हैं।

देह रक्तमांसमय है, मन विचार से नष्ट हो चुका और चित्त आदि सब जड़ हैं। फिर देह में अहंभावना कैसे हो ? ॥१०॥ सब इन्द्रियाँ नित्य स्वस्वविषय व्यापाररूप केवल स्वोदरपूरण में ही लगी हैं अहंकारपुष्टिरूप परोपकार में नहीं लगी है, सब पदार्थ पदार्थस्वरूप में स्थित हैं, अतः अहंभाव भावना कैसे हो ? ॥११॥ सत्त्व आदि गुण गुणों के प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहरूप अपने व्यापार में स्थित हैं, प्रकृति (प्रधाननाम की माया) गुणसाम्यावस्थारूप स्वभाव में स्थित है और सत् (ब्रह्म) स्वात्मभूत सत्स्वभाव में विश्रान्त है, अतः अहंभावना कैसे और किसको हो ? ॥१२॥

इस देह में जो चिदात्मा है, वह भी सर्वगामी (सर्वव्यापक), सब देहों में स्थित, सर्वकालमय महान् अद्वितीय परमात्मा ही मैं हूँ, यों निश्चय कर स्थित है, वह भी अहंकारास्पद नहीं है, यह अर्थ है ॥१३॥ ऐसी अवस्था में 'अहम्' रूप से जो केवल इस देह का अभिमानी है, उसकी कैसी आकृति है, (क्या जाति है, अथवा कैसी अंगों की बनावट है) वास्तव में कौन है, किस रूप से निर्दश के योग्य है, किस हेतु से बनाया गया है, कैसी उसकी रूपरेखा है और किसका विकार है ? अहंभाव से मैं किसका ग्रहण करता हूँ अथवा अहंभाव के अभाव से मैं किसका त्याग करता हूँ ॥१४॥

अतः निर्वचन के अयोग्य होने से अहंकार मिथ्या ही है, इसलिए आत्मा से उसका सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए अपने अस्तित्व और अभाव में उपपत्ति रखनेवाला 'अहम्' नाम का कोई पदार्थ यहाँ पर नहीं है। अतः निरहंकारस्वरूप मेरा किसके साथ और कैसे सम्बन्ध हो सकता है ॥१५॥ अहंकार का सर्वथा अभाव होने पर किसका किससे कौन सम्बन्ध ? सम्बन्ध का अभाव सिद्ध होने पर 'त्वम्' 'अहम्' ऐसी द्वैत कल्पना विलीन हो जाती है ॥१६॥

इस प्रकार सद्वस्तु से व्यतिरिक्त इदं पदार्थ का अन्वेषण करने पर भी उसका मिथ्यात्व ही अन्त में सिद्ध होता है, यों सद् ब्रह्मअद्वैत का साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ। शोक का अवकाश ही कहाँ है ? ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार जो कुछ भी इस जगतीतल में स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। मैं 'सत्' (ब्रह्म) ही हूँ, मैं 'तत्' (ब्रह्म) ही हूँ, व्यर्थ शोक क्यों करता हूँ ? ॥१७॥

सत्–अद्वैत की सिद्धि के बल से भी अहंकार का निरास किया जा सकता है इस आशय से कहते हैं।

सर्वव्यापक एक ही निर्मल पद के रहने पर अहंकार रूप कलंक का कैसे और कहाँ से उदय हो सकता है ? ॥१८॥ पदार्थ शोभा बिलकुल है ही नहीं, एकमात्र सर्वव्यापक आत्मा ही है अथवा पदार्थ शोभा भले ही हो फिर भी उसका किसी के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है ॥१९॥

सम्बन्ध का उपपादन करते हैं।

मन अपने अवयवरूप से कल्पित सब इन्द्रियों से मन में ही स्वप्न के समान उल्लास को प्राप्त होता है। बाह्य विषयों का स्पर्श करने के लिए समर्थ नहीं होता; किन्तु चित् तो इन्द्रियों और बाह्यविषयों से अलिप्त स्वरूप (असंगस्वभाव) है। ऐसी अवस्था में किसका किसके साथ सम्बन्ध कैसे और किसके द्वारा हो सकता है ? ॥२०॥

सम्बन्धाभाव में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे एक स्थान पर देखे गये भी पत्थर और लोहे की शलाकाओं का (सींकों का) परस्पर सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही एक स्थान पर देखे गये भी देह, इन्द्रिय, मन और चित् का परस्पर सम्बन्ध नहीं है ॥२१॥

यदि कोई कहे कि तब लौकिक पुरुषों का 'यह मेरा धन है' ऐसा व्यवहार कैसे होता है ? तो इस पर कहते हैं।

अहंकाररूपी भ्रम के अज्ञानवश उदित होने पर यह सारा जगत् 'यह मेरा है और यह इसका है' यों वृथा भ्रान्त हुआ है ॥२२॥ यह अहंकार चमत्कार आत्मतत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। तत्त्वज्ञान होने पर तो जैसे सूर्य के ताप से हिम–कणिका गल जाती है वैसे ही यह गल जाता है ॥२३॥ आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार का मेरा अनुभव सिद्ध जो सत्त्व है, उसकी मैं भावना करता हूँ ॥२४॥

अब अहंकार के मार्जन के उपायों को कहते हैं।

मैं आकाश की नीलिमा के समान उत्पन्न हुए इस अहंकाररूप महाभ्रम का जिससे पुनः कभी स्मरण न हो ऐसा विस्मरण ही उत्तम समझता हूँ ॥२५॥ चिरकाल से आरूढ़ हुए अहंकार भ्रम का समूल परित्याग कर शान्तात्मा हुआ मैं जैसे शरत् काल का आकाश अपने निर्मल स्वभाव में स्थित रहता है वैसे ही निर्मल आत्मा में स्थित हूँ ॥२६॥

अहंकार भ्रम के रहने पर क्या हानि है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

देहआदि में वृद्धि को प्राप्त हुआ अहंभाव अनर्थों की परम्पराओं की सृष्टि करता है, पाप का विस्तार करता है और सन्ताप की वृद्धि करता है ॥२७॥ दुर्वासनारूपी जल से भरे हुए हृदयरूपी आकाश में अहंकाररूपी मेघ के विकास को प्राप्त होने पर शरीररूपी कदम्ब वृक्षरूपी आकाश में अहंकाररूपी मेघ के विकास को प्राप्त होने पर शरीररूपी कदम्बवृक्ष पर दोषरूपी मंजरियाँ चारों ओर से विकसित हो उठती है ॥२८॥ मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्म तक रहता है एवं जीवन आदि ऐहिक दुःख मरण पर्यन्त रहता है और भोग्यवर्ग नाश से खण्डित होता है, यह दुःख वेदना बड़ी कष्टकारिणी है ॥२९॥ जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्यकान्त मणियों की अग्नि शान्त नहीं होती है वैसे ही दुर्बुद्धियों की 'यह मुझे मिल गया, इसको मैं प्राप्त करूँगा' इस प्रकार की सन्तापप्रद पीड़ा कभी शान्त नहीं होती ॥३०॥ जैसे जल की आश्रयभूत (जल से भरी हुई) मेघमाला गुरुतर पर्वत पंक्ति की ओर दौड़ती है वैसे ही 'यह है यह नहीं है' इस प्रकार की चिन्ता, जिसका आश्रय अज्ञ पुरुष है, जड़ अहंकार की ओर अग्रसर होती है ॥३१॥ अहंकार के क्षीण होने पर सूखा हुआ संसाररूपी वृक्ष रागरूपी अंकुर की उत्पादनशक्ति से रहित अतएव पत्थर के तुल्य होकर फिर अंकुर को उत्पन्न नहीं करता है, पनपता नहीं है ॥३२॥ अपनी तृष्णारूपी काली नागिनें, जिन्होंने देहरूपी वृक्ष में अपना बिल बनाया है,

विचाररूपी गरुड़ के आने पर न मालुम कहाँ चली जाती हैं ॥३३॥ इसलिए विश्व के मिथ्याभूत अज्ञान से उत्पन्न अतएव अध्यास से ही सन्मय और असन्मय व्यवहारवाला होने पर 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इस प्रकार का भेदव्यवहार भी क्या है ? ॥३४॥

भाव यह कि विश्व के असत्य सिद्ध होने पर उससे होने वाला सारा का सारा भेदव्यवहार भी असत्य है, जब यह भेदव्यवहार असत्य हो गया तब 'त्वम्' 'अहम्' यह भेद व्यवहार भी कहाँ सत्य रहा ?

अतएव सत्य प्रयोजन से सर्वथा रहित ही यह जगत् पहले कारणत्व के अयोग्य अज्ञान से उदित होता है। जो वस्तु बिना कारण के उत्पन्न हुई वह 'सत्' कैसे कही जा सकती है ? ॥३५॥

इस रीति से उत्पत्ति से पहले देहआदि की जैसे स्थिति थी वैसी ही सर्वदा रहती है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

सृष्टि से पूर्व अनादि अनन्तकाल में मिट्टी में घटरूप आकार के समान ब्रह्म में हीं शरीर था, वैसे ही इस समय भी है और आगे भी वैसे ही होगा ॥३६॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे जल, जो कि पूर्व और उत्तर कालमें तरंग आदि से अविकृत केवल मात्र जलरूपसे स्थित रहता है, मध्य में कुछ समय के लिए चंचल होकर पूर्व और उत्तर काल में प्रसिद्ध सौम्यता का त्याग कर तरंगरूप होकर जल ही रहता है दूसरी वस्तु नहीं होता वैसे ही देह आदि भी तीनों कालों में ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥३७॥ इस देह में जो केवल एक क्षण के लिए चेष्टा युक्त है, और भंगोन्मुख (जिसका भंग तुरन्त होना ही चाहता है) तरंग में जिन्होंने अहंरूप से विश्वास किया वे मन्दमति उसके नाश से नष्ट हो गये यानी भंगोन्मुख तरंग के समान क्षण विनश्वर तथा जीवनरूप एक क्षण के लिए चेष्टायुक्त शरीर में अहंरूप से आस्था मन्दमतियों की ही हो सकती है, अन्यों की नहीं ॥३८॥

देश से परिच्छिन्न होने के कारण भी देह आदि वस्तुओं में आस्था उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

उत्पत्ति के पूर्व और नाश के पश्चात् सर्वत्र देहआदि सब वस्तुएँ नहीं हैं। अपने आधार वित्तेभर या हाथ भर प्रदेश में उनकी विद्यमानरूप से प्रतीति होती है। यदि विकल्पपूर्वक यह विचार किया जाय कि उनकी उक्त सकल प्रदेश में प्रतीति होती है या उस एक देश में, तो यह निर्वचन करना कठिन हो जायेगा। उनमें भी हतरूपिणी यह आस्था कौन है ? यानी अनुचित है ॥३९॥

उक्त न्याय को लिंगदेह में भी दिखलाते हैं, वह भी सत् से व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चित्त (चित्तउपलक्षित लिंग शरीर) अपनी उत्पत्ति से पूर्व समय में और पूर्व प्रदेश में स्वसाक्षी चिन्मात्र स्वभाव ही था। उत्तरकाल और अन्य प्रदेश में नष्ट हुआ देश से परिच्छिन्न भी आकाश में लीन हुए की भाँति अत्यन्त तिरोहित हुआ वह सत् है या असत् है यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार का तुम्हारा चित्त (लिंगदेह) वर्तमान समय में और इस प्रदेश में सत् से व्यतिरिक्त क्या उदित हुआ यानी कुछ भी नहीं ॥४०॥

यदि कोई पूछे कि स्थूल, सूक्ष्म देह आदि यदि असत् ही हैं, तो उनका भान कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे स्वप्न के विकारों में असत्य भी स्वशरीरोच्छेद आदि सत्य–सा प्रतीत होता है, जैसे बाघ, चोर

आदि की भयदृष्टियों में बाघ आदि के न रहने पर भी सर्वत्र बाघ आदि की शंका होती है, मदिरा आदि के नशे में न घूमती हुई पृथिवी भी, घूमती हुई–सी प्रतीत होती है अथवा जैसे नाव की सवारी से हुए भ्रम में पृथिवी पेड़ आदि के न चलने पर भी वे चलते हुए–से प्रतीत होते हैं, जैसे वात, पित्त आदि के संनिपात में भय आदि के हेतु के न रहने पर भी भय आदि होते हैं, जैसे नेत्र आदि इन्द्रिय के दोष दूषित होने पर द्विचन्द्रत्वभ्रान्ति होती है, जैसे अतिप्रियतम के लाभ आदि से होनेवाले आनन्द में और विधुरों की काम आदि दोषावेश दशाओं में भाव और अभाव का रूप चंचल यानी केवल प्रतीतिकाल में ही स्थायी रहता है कुछ कामिनी आदि का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है शीघ्र ही बाध होने से नष्ट हो जाता है वैसे ही यह स्थूल, सूक्ष्म देह आदिरूप जगत् की भ्रान्ति भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि स्वप्न आदि थोड़े समय तक रहते हैं और जगत् भ्रम मोक्ष पर्यन्त रहता है यों समय में न्यूनता और अधिकता के सिवा उनमें विशेषता नहीं है ॥४१–४३॥ हे चित्त, जैसे पुत्र, आदि के न मरने पर भी वंचक पुरुष के कथन से उत्पन्न हुई उनके मरण की बुद्धि तथा उससे कल्पित वियोग दुःख रागी पुरुष को मार डालते हैं वैसे ही वह समय में न्यूनता और अधिकता तुम्हें पीड़ित करती हैं जिसे तुमने व्यवहारिक वस्तुओं में सत्यता के भ्रम से वियोग और संयोगवश नित्य सुख और दुःख के उदय में निमित्त बना रक्खा है ॥४४॥ अथवा यह तुम्हारा अपराध नहीं है, किन्तु तुममें अहंभाव के अभ्यासवाले मेरा ही यह अपराध है। यहाँ पर असद्रूप तुममें अहंभाव के अभ्यास से मैं मृगतृष्णा के तुल्य मिथ्या तुमको सत्–सा देखता हूँ। इसीसे तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह सब मेरा किया हुआ हो गया है ॥४५॥

अतएव तुम्हारे विवेकज्ञान से ही मेरे अपराध रूप तुम्हारी शान्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जो कुछ भी यह विशाल दृश्यमण्डल है, वह सबका सब अवास्तविक ही है, ऐसा निर्णय करके मन के मननरूप व्यापार से शून्य निर्वाण पद को प्राप्त होता है ॥४६॥

तुम्हारे कारण हुई भोगवासनाओं का भी उसी से क्षय हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

यह अवास्तविक है, ऐसा मन में दृढ़ निश्चय होने पर हेमन्तऋतु में वृक्षों की मंजरियों की नाईं भोगवासनाएँ क्षीण हो जाती हैं ॥४७॥ अथवा चित् के प्रतिबिम्ब के ग्रहण से चिद्रूप होने के कारण रागरहित हुआ (विरक्त हुआ) अतएव संकल्प और विकल्परूप व्यसन का त्याग कर चुका तथा चरम साक्षात्कारवृत्ति से आत्मसाक्षात्कार कर चुका, मन ही स्वयंस्वस्थ (मोक्षविश्रान्तिमान्) होता है, मैं नहीं, क्योंकि मैं तो सदा एकरूप हूँ, सदा अद्विितीय ब्रह्म रूप हूँ, फिर मेरी मोक्षविश्रान्ति प्राप्ति कैसी ? ॥४८॥ चित्त अपने–आप बाहर प्रवृत्त हुए अपने अवयवरूप इन्द्रिय आदि का संवरण कर तत्त्वबोध द्वारा परामात्मरूप अग्नि में प्रक्षिप्त होकर चित्त–स्वरूप को जला कर अत्यन्त शाश्वत परम शुद्धि को प्राप्त होता है ॥४९॥ जैसे वीर पुरुष युद्धभूमि में स्थित अपने शरीर को स्वर्गगामी अपने से भिन्न देखकर और उस शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले घर, खेत, धन आदि की वासना का त्यागकर अपने नाश तक को स्वीकार करके ब्रह्मलोक को जीतता है वैसे ही चित्त देह को अपने से भिन्न जानकर, विषय–वासना का त्यागकर और अपने विनाश तक को स्वीकार कर ब्रह्मलोक पर विजय पाता है यानी मोक्षविश्रान्ति को प्राप्त होता है ॥५०॥ मन शरीर का शत्रु (संतापक) है और शरीर मन का रिपु (संतापक) है। जैसे आधार और आधेयरूप जल और घड़े का कार्यभूत संयोग दोनों में से एक के नष्ट

होने पर नष्ट हो जाता है वैसे ही इन दोनों में से एक की वासना के विनाश से ये दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥५१॥ जैसे परस्पर एक–दूसरे के पोषक होने के कारण अनुरागवाले, परस्पर संतापक होने के कारण द्वेषवाले बाघों के रहते वन के हिरण को सुख नहीं होता वैसे ही पूर्वोक्त रीति से परस्पर प्रबल विरोध रखनेवाले इन दोंनों के (शरीर और मन के) रहते बेचारे जीव को सुख नहीं होता, किन्तु इनका मूलअज्ञान के द्वारा विनाश ही परमसुख है ॥५२॥

यदि कोई शंका करे कि मरण से भोगायतन देह का नाश होने के कारण ही सब दुःखों का परिहार क्यों न होगा ? तो उस पर कहते हैं।

इन दोनों में से देह का विनाश होने पर भी एक के (मन के) रहने पर पुनः देहकल्पना अवश्य होगी, अतः मरण की बात आकाश में जा रही स्त्री ने भूमि निगल डाली इस कथा के समान असंभावित है (✍) ॥५३॥

यदि कोई प्रश्न करे कि मन और देह के रहने पर जीव की क्या क्षति है ? तो उस पर कहते हैं।

स्वाभाविक विरोधवाले ये दोनों जहाँ पर इकट्ठे होते है वहाँ पर जैसे लड़ रहे दो योद्धाओं के मध्य में स्थित पुरुष के शरीर पर तलवार और बाणों की बौछार गिरती है वैसे ही अनर्थों की परम्पराएँ अवश्य ही गिरती है ॥५४॥ परस्पर विरुद्ध देह और मन जहाँ पर संघटित होते है उस वैषयिक सुखभोग में जो मूर्ख अनुराग रखता है उसे आवरणरहित (खुले हुए) बड़वानल में, जिसमें निरन्तर समुद्र का जल गिरता है, फेंक देना चाहिये। वह वहाँ पर भी अनुराग करेगा। वैषयिक सुख भोग बड़वानल से कम भीषण नहीं है। वैषयिक सुखभोग में अनुराग करनेवाला बड़वानल में भी अवश्य अनुराग करेगा, यह भाव है ॥५५॥

'रागद्वेषवतोः' ऐसा जो पहले कहा है, उसमें मन के देह में राग–द्वेष के अंशों को दिखलाते हैं।

जैसे बालक अपने संकल्प से यक्ष की कल्पना करता है वैसे ही मन अपने संकल्प से शरीर की कल्पना कर इसके लिए आयु पर्यन्त भोजन की कल्पना कर पुष्ट बना कर अपने अभिनिवेश से होनेवाले सब दुःखों को इसे देता है ॥५६॥

मन में देह के द्वेषांश को उसके निमित्त के साथ दिखलाते हैं।

तदनन्तर उन दुःखों से तापित शरीर मन को मारने की इच्छा करता है अर्थात् दुर्विषयों के सेवन से मन में राग–द्वेष, शोक, मोह, पाप आदि के जनन द्वारा मन को पीड़ित करना चाहता है। मन से उत्पन्न हुआ अतएव मन का पुत्ररूप शरीर पितृ स्थानीय मन को कैसे मारना चाहता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आततायी बने हुए (पीड़ाप्रद) पिता को पुत्र भी मारता ही है ॥५७॥

उसकी शत्रुता का लोकप्रसिद्ध न्याय से उपपादन करते हैं।

प्रकृति से ही कोई किसी का शत्रु नहीं है और प्रकृति से ही कोई किसी का कभी मित्र भी नहीं है। जो सुख देता है वह मित्र कहा गया है और दुःखदायी शत्रु कहे गये हैं ॥५८॥ विविध दुःखों का अनुभव कर रहा शरीर अपने मन का विनाश करने की इच्छा करता है एवं मन क्षण भर में शरीर को अपने दुःखों का

(✍) 'व्योम्न्ययःस्त्रियाँ' इस पाठ में लोहे की स्त्री प्रतिमा ने आकाश में भूमि निगल डाली, इस कथा के समान है, यह अर्थ है। लोहे की प्रतिमा का आकाश में जाना और वहाँ पर भूमि को निगलना जैसे अत्यन्त असंभावित है वैसे ही मन के रहते मरण भी अत्यन्त असंभावित है, यह आशय है।

स्थान (भोगायतन) बना लेता है ॥५९॥

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को दुःख देनेवाले तथा स्वभाव से ही अत्यन्त विरुद्ध इन मन और शरीर के संगत होने पर सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥६०॥

मन का विनाश होने पर तो देह को फिर दुःख प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

मन का ही विनाश होने पर शरीर दुःख का भाजन नहीं होता है, इसलिए शरीर भी मन के विनाश में उत्कण्ठित होने के कारण ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपायों में नित्य यत्न करता है ॥६१॥

यदि कोई कहे, तब मन भी देह के विनाश के लिए क्यों यत्न नहीं करता है ? तो, इस पर कहते हैं।

जिस मन को आत्मविवेक नहीं हुआ उसके द्वारा शरीर चाहे नाश को प्राप्त किया गया हो चाहे न किया गया हो वह आपत्तियों का स्थान बनकर अनर्थों की ही सृष्टि करता है, इसलिए शरीर के नाश में मन की इष्टसिद्धि नहीं होती है, यह अर्थ है ॥६२॥ जैसे शरीर से जलरूप मेघ और तालाब परस्पर एक दूसरे से पुष्टि को प्राप्त होते हैं, वैसे ही शरीर से जड़रूप ये मन और शरीर परस्पर के अनुग्रह से पुष्टि को प्राप्त हुए हैं ॥६३॥

यदि कोई पूछे कि परस्पर विरुद्ध इन दोनों की एकत्र स्थिति किसलिए है ? तो अन्नपाक के लिए परस्पर विरुद्ध जल और अग्नि की एकत्र स्थिति के समान पुरुष के भोग और मोक्ष के उपायों के व्यवहार के लिए ही इनकी एकत्र स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

विरुद्ध होने के कारण दो प्रकार से स्थित भी ये अन्योन्यतादात्म्याध्यास से एकरूप होकर दुःखों का भोग करने के लिए एक साथ भोग और मोक्ष के व्यवहार साधन में तत्पर हुए हैं, जैसे कि लोक में परस्पर विरुद्ध होने के कारण पृथक्-पृथक् स्थित भी जल और अग्नि अन्नपाक के लिए एकरूप होते हैं ॥६४॥

देह को जो चित्त के अधीन कहा, उसका फल कहते हैं।

विनाशी चित्त के क्षीण होने पर देह उन्मूलित हो जाता है और चित्त के बढ़ने पर वृक्ष के समान सैकड़ों शाखाप्रशाखावाला होता है ॥६५॥ मन के क्षीण होने पर शरीर क्षीण वासनावाला होकर क्षीण हो जाता है। देह के क्षीण होने पर मन क्षीण नहीं होता, इसलिए मन को ही क्षीण करना चाहिए ॥६६॥ संकल्परूपी वृक्षों से भरे तृष्णारूपी लतावाले मनरूपी वन को छिन्न-भिन्न कर विस्तृत मुक्तिरूपी भूमि को प्राप्तकर मैं सुखपूर्वक विहार करता हूँ ॥६७॥ संकल्प का नाश होने पर क्षीण हो रहा अतएव मन में (मनःस्वभाव में) स्थित न हुआ यह मन वासनाजाल से रहित होकर वर्षा ऋतु के अन्त में मेघ के समान नष्ट हो जायेगा ॥६८॥ त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र नाम की धातुओं का संघातरूप यह देहनामक मेरा शत्रु मन के क्षीण होने पर चाहे नष्ट हो जाय, चाहे रहे मेरी कोई भी क्षति नहीं है ॥६९॥

देह के न रहने पर दुःख क्यों नहीं रहेगा, ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो देह सम्बन्ध के हेतुभूत मन के नाश से देह का संबन्ध नहीं है, दुःखप्राप्ति तो दूर गई, इस आशय से कहते हैं।

जिसके लिए भोगेच्छु अपनी देह की इच्छा करता है वह मेरा सम्बन्धी नहीं है और न मैं ही उसका सम्बन्धी हूँ। मेरे सुखलेश से क्या प्रयोजन है ? ॥७०॥ मैं देह नहीं हूँ, इस अवश्य ज्ञातव्य अर्थ में युक्ति

को सुनिये। यदि देह मैं (आत्मा) होऊँ, तो सब अंगों के रहने पर भी शव (मुर्दा) क्यों व्यवहार नहीं करता ? इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है ॥७१॥ शव में बोध आदि के अदर्शन से यह सिद्ध हुआ कि मैं देह से अतिरिक्त हूँ, नित्य हूँ, मेरी ज्योति कभी अस्त नहीं होती। जो व्यापक होने के कारण सूर्यमण्डल में भी स्थित होने से सूर्य से संगत होकर आकाश में सूर्य को जानता हूँ, वही चिद्रप मैं हूँ ॥७२॥ न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे दुःख है, न अनर्थ है और न मुझमें दुःखिता है। मेरा शरीर रहे चाहे न रहे मैं सन्ताप शून्य होकर स्थित हूँ ॥७३॥

भूमा में (सर्वव्यापक ब्रह्म में) मन आदि की प्राप्ति ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे राजा के निकट पामर लोग नहीं रह सकते वैसे ही जहाँ पर आत्मा है वहाँ न मन रहता है, न इन्द्रियाँ रहती है और न विविध वासनाएँ ही रहती हैं ॥७४॥ मैं उस परमपद को प्राप्त हो चुका हूँ। मैं सजातीय विजातीय और स्वगत भेद रहित हूँ, मैं सबसे उत्कृष्ट ब्रह्मरूप हूँ, तीनों तापों की शान्ति से निर्वाणरूप हूँ, परिपूर्ण होने के कारण अंशरहित हूँ, आप्तकाम होने के कारण मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है अतएव मैं निरीह हूँ ॥७५॥ जैसे तिलों से पृथक् किये गये तेल का पेरे हुए तिलों से कोई संबन्ध नहीं रहता वैसे ही मन, देह, इन्द्रिय आदि से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रारब्ध शेष के भोग के लिए इस स्वात्मरूप श्रेष्ठ पद से व्यवहाराभास में अवतीर्ण हुए पूर्व वासना से पृथक्कृत मतिवाले मेरा यह देहेन्द्रिय आदि परिवार परिजन की भाँति विनोद हेतु है ॥७६,७७॥

पूर्वोक्त प्रारब्ध शेष भोगलीला में स्वच्छता आदि गुण सम्पत्तियाँ मेरी हृदयंगम कान्ताएँ हैं, यों उनका निरूपण करते हैं।

स्वच्छता, पूर्णकामता, सत्ता (सद्रूपता), सर्वप्रियता, सत्यता (अबाध्यता), ज्ञानिता, आनन्दस्वरूपता, निर्विकारता, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, निर्लोभता, अबाधित स्वभावता, कान्तिमत्ता, एकतानता, सर्वात्मकता, निर्भयता, द्वित्वादिविकल्पअभावना आदि ये मेरी नित्य उदित हुई स्वस्थ, सम, सुन्दरी तथा सुन्दर उदयवाली कान्ताएँ हैं, जो एकमात्र आत्मनिष्ठ मुझे सदा प्रिय हैं ॥७८–८०॥ सबमें सब कुछ सदा सर्वथा कल्पना से संभव है, अतः सब विषयों के प्रति मेरे राग–द्वेष और उनके फल सुख–दुःख क्षीण हो गये हैं ॥८१॥ इसलिए मैं शरत् –ऋतु में आकाश में मेघखण्ड के समान शीतल (त्रिविधताप शून्य) आत्मा में दृश्यभाव का त्याग करके विश्राम लेता हूँ, क्योंकि मेरा मोह मिट चुका है, मेरा मन क्षीण हो गया है, अतएव चित्त के संकल्प विकल्प भी मुझमें नहीं रह गये हैं ॥८२॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

जलाने, जलप्लावन आदि द्वारा अपने शरीर में विष्णु शरीर की भावना कर रहे
उद्दालक मुनि का विकल्पों को हटाकर समाधि में विश्राम लेना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, विशुद्ध तथा विशाल बुद्धि से इस प्रकार निर्णय कर पद्मासन लगाकर और नेत्रों को आधे मीच कर मुनि बैठ गये ॥१॥ जिसने ॐकार का उच्चारण किया, उसको परमपद अवश्य प्राप्त हो गया, क्योंकि ॐ यह अक्षर परब्रह्म का प्रधान नाम और अन्तरंग

प्रतीक है, अतः यह अक्षर परब्रह्म ही है ऐसा निश्चय कर उद्दालक मुनि ने घण्टे के अधोभाग में लटके हुए लोहेके जीभ के आकार के लटकन को अच्छी तरह ताड़न करने से घण्टे के आकाशभाग में उत्पन्न नाद की तरह ॐकार का, जिसका ऊँचा स्वर था तथा ध्वनि ऊपर को गई थी, उच्चारण किया ॥२,३॥ उद्दालक मुनि ने तब तक ॐकार का उच्चारण किया जब तक उनकी उस प्रकार से उच्चारित प्रणव ध्वनि मूलाधार से उठकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त परिव्याप्त न हुई और उनके संवित्तत्त्व (ॐकाराकारबुद्धि-तत्त्व) और जीवतत्त्व (जीवाख्यचैतन्य यानी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) अर्द्धमात्रा के उच्चारण के बाद यानी अर्धमात्रोच्चारण का उपशम होने पर जो निरंश कूटस्थ चैतन्य (ब्रह्मचैतन्य) अनुभूति में अभिव्यक्त होता है, उसी ब्रह्मचैतन्य के अभिमुख न हो गये ॥४॥

निर्विकल्प समाधि की स्थिति की योग्यता की सिद्धि के लिए पहले उसी प्रणव द्वारा स्थूल देह का शोषण (सुखाना), दहन (जलाना), दुष्ट भस्मांशका निरसन (दूर करना), आप्लावन (क्षालन), दूसरे दिव्य शरीर का निर्माण आदि प्रणव भावना से सम्पन्न हुआ, यह कहते हैं।

अर्धमात्रा सहित अकार, उकार, मकाररूप तीन अववयवाले प्रणव के प्रथम अंश उदात्त 'अकार' का उच्च स्वर से तारभाव अभिव्यक्त होने पर बाहर निकलने के लिए उद्यत प्राणों द्वारा मूलाधार से लेकर ओष्ठ पुट तक शरीर को ध्वनित करने पर रेचक नामवाले प्राण निकलने के क्रम ने जिस प्रकार अगस्त्य ऋषि ने जल पीकर समुद्र को रिक्त कर दिया था उसी प्रकार समस्त शरीर को खाली कर दिया अर्थात् उद्दालक मुनि ने रेचन द्वारा शरीर को सुखा दिया ॥५,६॥

मुनि का रेचित प्राण वायु कहाँ ठहरा, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार पक्षी घोंसले को छोड़कर आकाश में घूमता है उसी प्रकार उनका रेचित प्राणवायु शरीर का त्यागकर ब्रह्म की भावना से अभिव्यक्त हार्दरस से भरे हुए बाह्याकाश में स्थित हुआ ॥७॥

निरन्तर ब्रह्मभावना से क्या हुआ यह कहते हैं।

प्राणों के निष्क्रमण और संघर्ष से हृदय में भावना द्वारा उत्पन्न हुई जलती ज्वालाओंवाली अग्नि ने, जिस प्रकार उत्पात पवन से पैदा हुई दावाग्नि शुष्क वृक्षों को जला देती है उसी प्रकार उनके सारे शरीर को जला दिया ॥८॥ इस प्रकार प्रणव के प्रथम अंश में जितनी यह पूर्वोक्त अवस्था हुई, सब भावना से ही हुई, हठ से नहीं हुई, क्योंकि हठयोग से अर्थात् बलात्कार से प्राणों को बाहर निकालने में मूर्छा, मरण आदि का भय रहता है ॥९॥ इसके अनन्तर दूसरे 'उकार' अंश के अनुदात्स्वरसे गंभीर उच्चारण के समय प्रणव की समस्थिति होने पर प्राणों का निश्चल कुम्भक नाम का क्रम हुआ ॥१०॥ वे प्राण न बाहर थे, न भीतर थे, न अधोभाग में थे, न ऊर्ध्वभाग में थे और न दिशाओं में थे, बाँध में रुके हुए जल की तरह संक्षुब्ध थे ॥११॥ अग्नि शरीररूपी नगर को जलाकर बिजली की तरह क्षण भरमें शान्त हो गई, बरफ की तरह सफेद रंगवाली शरीर की भस्म दिखाई दी ॥१२॥ जिस अवस्था में शरीर की निश्चल एवं श्वेत हड्डियाँ मानों कपूर के चूर्ण से सुसज्जित शय्या में उचित सुख से सोई हुई-सी भावना से मालूम पड़ी ॥१३॥ आँधी से उड़ाई हुई हड्डियों से युक्त वह भस्म श्री महादेवजी के भस्मधारणरूपी व्रतवाले की नाईं प्रचण्ड वायु ने तपस्या से कृश शरीर की तरह अभक्ष्य अपने शरीर में लगाई अर्थात् उड़ाई ॥१४॥

प्रचण्ड वायु से उड़ाई हुई वह हड्डियों से मिली हुई भस्म क्षण भर आकाश को ढक, कर शरद् ऋतु की बदली की तरह कहीं चली गई ॥१५॥ इस प्रकार यह जितनी भी अवस्था प्रणव के दूसरे अंश में (कुम्भक क्रम में) हुई सब भावना द्वारा ही हुई हठ से नहीं हुई, क्योंकि हठयोग दुःखद होता है जैसे कि पूर्वक्रम में बताया गया है ॥१६॥ इसके अनन्तर प्रणव के उपशान्तिप्रद तृतीय मकार क्रम में अर्थात् मकारोच्चारण के समय में पूरण करने के कारण प्राणों का 'पूरक' नाम का क्रम उत्पन्न हुआ। (यद्यपि रेचक, कुम्भक और पूरक समग्र प्रणव के ही साधन सिद्ध है तथापि रेचक में प्रथम भाग का ही विस्तार किया जाता है कुम्भक में मध्यभाग का और पूरक में चरम भाग का (अन्तिम भाग का), क्योंकि कण्ठ से निकलते हुए प्राणवायु से कण्ठ स्थानीय अकार भागकी ही अभिव्यक्ति होती है, संकुचित हो रहे ओष्ठों के उकार भाग की और ओष्ठों के सम्पुटित होने पर मकार भाग की अभिव्यक्ति होती है। मकार भागकी अभिव्यक्ति के समय प्राणवायु यद्यपि पुनः प्रवेश करता है, तो भी उसमें प्रणव के संस्कार का ही अनुवर्तन होता है, इसलिए तत्–तद् भाग के अवसर विभाग की उक्ति है, ऐसा समझना चाहिये) ॥१७॥ इस तृतीय अवसर में, जीव चैतन्य में (जीवचित् में) अर्थात् जीवात्मा में भावना द्वारा भावित अमृत के (ब्रह्म के) मध्य में गये हुए प्राणों ने हिम के स्पर्श की तरह सुन्दर शीतलता प्राप्त की ॥१८॥ इस प्रकार गगन कोष में स्थित कुहरा शीतल मेघ भाव को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार आकाश के मध्य में स्थित प्राण क्रम से चन्द्रमण्डलता को प्राप्त हुए ॥१९॥ अमृतमय कलाओं के समूह से भली भाँति पूर्ण एवं धर्ममेघाख्यसमाधि की तरह प्रह्लाद से भरे हुए, रसायन महासागररूपी उस चन्द्रमण्डल में प्राणवायु जिस प्रकार गवाक्ष में झरोखे में गई हुई चन्द्र किरणें स्फटिक दण्डाकार हो जाती है उसी तरह अमृतमय किरणों की धारा बन गये ॥२०,२१॥ जिस प्रकार महादेवजी के सिर पर अमृतमय गंगा की धारा गिरती है उसी प्रकार प्राणों की वह अमुतमय धारा शेष बचे हुए शरीर की भस्म पर आकाश से गिरी ॥२२॥ जिस प्रकार मंथन करने से चंचल मन्दराचलवाले समुद्र से पारिजात वृक्ष उत्पन्न हुआ था उसी प्रकार उक्त अमृतमय धारा से चन्द्रबिम्ब की तरह कान्तिवाला चार भुजाओं से युक्त शरीर उत्पन्न हुआ ॥२३॥ नारायणरूप से प्रादुर्भूत एवं कमल की तरह खिले हुए नेत्र एवं प्रसन्न मुखवाला अतएव कान्ति से मनोहर उद्दालक का शरीर अत्यन्त सुशोभित हुआ ॥२४॥ जिस प्रकार जल का समुदाय सरोवर को एवं वसन्त ऋतु में कोमल पत्तों को पैदा करनेवाले पार्थिव रस वृक्ष को सर्वांगपूर्ण बना देते हैं उसी प्रकार अमृतमय प्राणों ने उनके शरीर को सर्वांगपूर्ण बना दिया ॥२५॥ जिस प्रकार चक्राकार भँवरों से बह रही श्री गंगाजी को जल पूर्ण करते हैं उसी प्रकार प्राणों ने अन्दर कुण्डलिनी को पूर्ण किया ॥२६॥

दहन, प्लावन आदि द्वारा विष्णु शरीररूप से उनकी उत्पत्ति कहने का प्रयोजन कहते हैं।

जिस प्रकार शरद ऋतु में अन्तिम वृष्टि से धुला हुआ और शीघ्र सूखा हुआ रास्ता वर्षाकाल के कीचड़ बगैरह के नष्ट हो जाने पर निर्मल हो जनता के यातायात आदि कार्य के योग्य हो जाता है उसी प्रकार उक्त ब्राह्मण का शरीर भी दहन, प्लावन आदि की भावना से कलुषिता रहित होकर प्रकृत समाधिरूप कार्य में स्थित हो गया ॥२७॥ इसके बाद पद्मासन लगाकर उस भावमय शरीर में दृढ़ता से स्थित होकर उद्दालक मुनि ने जिस प्रकार बन्धन स्तम्भ में हाथी को बाँधते हैं उसी प्रकार देह में पाँचों इन्द्रियों को बाँधकर निर्विकल्प समाधि के लिए तथा मन को, जिसमें प्राणायाम द्वारा प्राणवायुरूपी मृग

शान्त हो चुके थे और जो आशा, लोभ, तृष्णा, उत्कण्ठा, प्रतीक्षा आदि के पीछे-पीछे दौड़नेवाला था उसे स्वच्छ बनाने के लिए ऐसे उद्योग किया जैसे कि शरत्काल शान्त मृगवाले तथा दिशाओं में फैले हुए अपने निर्मल स्वभाव को स्वच्छ करने के लिए उद्योग करता है। परन्तु इस अवस्था में जिस प्रकार ढीले गढ़े हुए अश्व आदि बाँधने के घँटे को अश्व आदि से खींची गई रस्सी उखाड़ कर खींच लेती है उसी प्रकार पूर्वानुभूत घर, खेत, पुत्र, मित्र आदि की चिन्ता ने उनके मन को दूर आकृष्ट किया ॥२८-३०॥ जिस प्रकार अति शीघ्रता से बह रहे जल को पुल अर्थात् बाँध रोक देता है उसी प्रकार उन्होंने गृह, पुत्र, मित्र आदि क्षुद्र विषयो में भागते हुए उन्मत्त व्याकुल मन को विवेकबल से निर्मल बनाकर रोक दिया ॥३१॥ जिस प्रकार संध्याकाल निश्चल आँख की पुतली के सदृश भ्रमरों से युक्त कमलों को संकुचित कर देता है उसी प्रकार उन्होंने निश्चल पुतलियों से मनोहर एवं दोनों पलकों के मिलने से सघन केशों से युक्त पक्ष्मोंवाले नेत्रों को आधा मींच लिया ॥३२॥ जिस प्रकार चक्रवर्ती का प्रशस्त जन्म समय जगत् का कल्याण सूचित करने के लिए शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु उसके जन्म देश में सम अर्थात् न अतिवेग से और न अति मन्द चाल से बहता है उसी प्रकार उक्त ऋषि ने मौनी होकर प्राण, अपान के वेग को मुख में क्षोभ, वैषम्य आदि से रहित कर दिया ॥३३॥ जिस प्रकार कछुआ अपने रंगों एवं इन्द्रियों को विषयों से इस प्रकार पृथक् कर देता है। जिस प्रकार तिलों से तेल पृथक् किया जाता है ॥३४॥ जिस प्रकार छोटे कुण्डे से सहसा ढँकी हुई मणि दूर तक फैली हुई किरणों को छोड़ देती है उसी प्रकार समस्त बाह्य स्पर्शों को (बाह्य विषयों के) उस धीर बुद्धिवाले ने सहसा दूर छोड़ दिया ॥३५॥ जिस प्रकार वृक्ष पत्रों के कोश में स्थित रस को (जल को) मार्गशीर्ष में नष्ट कर देता है उसी प्रकार उन्होंने समस्त वस्तुओं का दर्शन छूट जाने से मनोवासना रूप आभ्यन्तरिक विषयों को आकर्षण द्वारा बाध होने से अधिष्ठानतत्त्व में विलीन कर दिया ॥३६॥ इसके बाद जिस प्रकार मुख में कसकर बाँधा हुआ जलपूर्ण औंधा (अधोमुख) बेड़ा अन्दर वायु के प्रवेश के बिना दूसरे छिद्रों से जल के न चूने से इतर रन्ध्र कोशों को रोकता है, उसी प्रकार उन्होंने मूलाधार के अवरोध से एड़ी द्वारा मलद्वार के संकोच से नवद्वार के (नौ द्वारों से निकलनेवाले) वायुओं को रोक दिया ॥३७॥

जैसे मेरु अपने रत्नों के प्रकाश से पूर्ण एवं कल्पवृक्षों के पुष्पों से सुशोभित अतएव विशद शिखर को धारण करता है वैसे ही उस धीर ने अपने आत्मरूपी रत्न के प्रकाश से प्रकाशित तथा प्रसन्न मुखरूप कमलपुष्प से सुशोभित एवं रजोगुण तथा तमोगुण से अनावृत कन्धे को धारण किया ॥३८॥ जैसे हाथी पकड़नेवाले लोग विन्ध्याचल के गड्ढे में युक्तियों से वश में किये हुए उन्मत्त हाथी को पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार उन्होंने एक विषय में धारणा-ध्यान-समाधिरूप संयम के प्रति उन्मुख (आकृष्ट) एवं प्रत्याहाररूप उपायों से वश में किये हुए मन को हृदयाकाश में धारण किया ॥३९॥ जिस प्रकार शरद् ऋतु में आकाश निर्मल सौम्यता को प्राप्त करता है उसी प्रकार उन्होंने क्षोभ आदि विहीनता प्राप्त करके निर्वात एवं परिपूर्ण समुद्र की अचल शोभा को हर लिया। भाव यह है कि धारणा द्वारा आत्म ध्यान में पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त की ॥४०॥ जिस प्रकार सामने उड़ते हुए मच्छरों को वायु दूर उड़ा ले जाता है उसी प्रकार ब्रह्माकार चित्तवृत्ति में विक्षेप करने के लिए विपरीत भावना से उठे हुए विकल्पों को उन्होंनें दूर भगा दिया अर्थात् नष्ट कर दिया ॥४१॥ जिस प्रकार शूरवीर पुरुष सामने आये हुए शत्रुओं

को रण में तलवार से काट डालता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी उद्दालक ने अपनी इच्छानुसार बार–बार आ रहे विपरीत भावनाजन्य (मिथ्यावासना से उत्पन्न) विकल्पों को दृढ़ मन के द्वारा नष्ट कर दिया ॥४२॥ विकल्पों के समूह का उच्छेद हो जाने पर उन्होंने अपने हृदयाकाश में चंचल, काजल की तरह काले तमोगुण की अधिकता से उत्पन्न अन्धकार को देखा, जिसने विवेकरूपी सूर्य को आच्छन्न कर दिया था ॥४३॥ उन्होंने पवन से काजल के समान सत्त्वगुण के उद्रेक से उदित ज्ञानरूपी प्रकाशवाले अन्तःकरणरूपी सूर्य से उस तमोगुणरूपी अन्धकार को भी शीघ्र अच्छी तरह नष्ट कर दिया ॥४४॥ जैसे रात्रि सम्बन्धी अन्धकार के शान्त हो जाने पर कमल उदित हो रहे सूर्य से युक्त प्रातः सन्ध्या को देखता है, वैसे ही उद्दालक ने तमोगुणरूपी अन्धकार के शान्त हो जाने पर मनोहर तेज के समूह को देखा अर्थात् उन्हें सत्त्वगुण के अनुरूप तेजःपुंज का भ्रम हुआ ॥४५॥ जिस प्रकार हाथी का बच्चा स्थल कमलों के वन को छिन्न–भिन्न कर देता है उसी प्रकार उन्होंने उस भ्रम को नष्ट कर दिया।

शंका : उन्होंने उक्त भ्रम को सत्त्वगुण के विरोधी रजोगुण आदि से नष्ट कर दिया अथवा और किसी से ?

समाधान : जिस प्रकार पिशाच बर्तन में भरे हुए रक्त को अत्यन्तवेग से क्षणभर में पी जाता है उसी तरह वे तेजःपुंजात्मक भ्रम को शीघ्र पी गये अर्थात् अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार होने से उसका बाध हो गया, रजोगुणादि द्वारा तेजःपुंज का नाश नहीं हुआ ॥४६॥ जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर रात्रि में तालाब की तरंगों से चंचल कमल बन्ध हो जाता है अथवा जिस प्रकार उन्मत्त घूरता हुआ शराबी रात्रि में नशे से निद्रा को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार उस मुनि का चंचल और घूरता हुआ मन तेजःपुंज के उपरत होने पर विषय का लाभ न होने से निद्रा में डूब गया ॥४७॥ जिस प्रकार वायु मेघ पंक्ति को, दुष्ट हाथी नीलकमलिनी को और सूर्य रात्रि को छिन्न–भिन्न कर देता है उसी प्रकार उस मुनि ने उस निद्रा को भी शीघ्र छिन्न–भिन्न कर दिया ॥४८॥ जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश की ओर दृष्टि लगाये हुए पुरुष को आकाश में बालों के गोले, मयुर आदि के पुच्छ की तरह चमचमाहट प्रतीत होती है उसी प्रकार उनके मन ने निद्रा का नाश होने पर आकाश विविधरूपवाले है ऐसी भावना की ॥४९॥ जिस प्रकार मेघ तमाल पुष्प को, वायु कुहरे को और दीपक अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार मुनि ने स्वच्छ स्वभाववाले आकाश में देखे हुए नाना रूपों को भी नष्ट कर दिया ॥५०॥ जिस प्रकार निद्रा–भंग हो जाने पर शराबी विक्षिप्त–सा (पागल–सा) हो जाता है उसी प्रकार आकाश के पूर्वोक्त भ्रमात्मक ज्ञान का नाश होने पर उस मुनि का मन मूढ़ अर्थात् मोहाक्रान्त हो गया ॥५१॥ जिस प्रकार सूर्य संसार से रात्रि द्वारा उत्पन्न अन्धकार को हटा देता है उसी प्रकार इस विवेकी ने उस मोह को मन से हटा दिया ॥५२॥ इसके अनन्तर तेज अन्धकार, निद्रा, मोह आदि से रहित मन किसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त करके क्षण भर के लिए शान्त हो गया ॥५३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, नहर द्वारा खेत में पहुँचाया गया सरोवर का जल खेत को भरकर पुल अर्थात् बाँध से रुककर जिस प्रकार नहर द्वारा लौट कर उलट प्रवाह से फिर स्थान पर सरोवर में आ जाता है उसी प्रकार मन क्षणभर विश्रान्त होकर पुनः शीघ्र बाह्यप्रपंचाकार वृत्ति को प्राप्त हो गया ॥५४॥ उसके अनन्तर, सुवर्ण जिस प्रकार नूपुर भाव को प्राप्त करता है अर्थात् नूपुराकार में परिणत हो जाता है उसी

प्रकार पूर्व में ध्यानादि से चिरकाल तक किये गये अनुसन्धानवश और समाधि में किये गये अनुभव द्वारा रसास्वाद के कारण फिर वहीं आकृष्ट हुआ चिदाकारवृत्ति को प्राप्त हो गया, अर्थात् चिदंशप्रधान सविकल्प समाधि के रूप में परिणत हो गया ॥५५॥

इस प्रकार सविकल्प समाधि से क्रमशः इन्धनशून्य अग्नि की तरह दिन पर दिन क्षीण हो रहा उनका मन क्षीर नीर के समान चिदेकरस बन गया, ऐसा कहते हैं।

इसके अनन्तर जिस प्रकार घड़े में स्थित पंकिल जल का पंक जल के सूख जाने पर घट भाव को प्राप्त करता है अर्थात् घट से सम्बद्ध हो जाता है उसी प्रकार अपने चित्तत्व को छोड़कर आत्मतत्त्वरूप एकरसता को प्राप्त हुआ उनका चित्त पूर्ववस्था से अन्य ही हो गया अर्थात् अधिष्ठान चित्तत्व में लीन हो गया ॥५६॥

चित्त के चित्तत्व के निवृत्त होने पर उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य की बिम्बचैतन्य में एकता हो गई, ऐसा कहते हैं।

एक रसाकार बुद्धिवाला वह जिस प्रकार तरंग आदि के भेद को छोड़ता हुआ समुद्र जलसामान्यरूप को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार प्रतिबिम्ब वृत्त्याकार को छोड़ कर शुद्ध चित् (स्वप्रकाशात्मक ब्रह्म) सर्वसाक्षिचित्सामान्यरूप को प्राप्त हो गया ॥५७॥

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित उद्दालक को समाधि के परिपाक से तत्त्वसाक्षात्कार और उसका फल 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है) इस श्रुति में प्रदर्शित ब्रह्मभाव प्राप्त हुआ, यह दर्शाते हैं।

उसके अनन्तर उस समाधि से तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुए उद्दालक द्वैत के प्रतिभास से रहित होकर जगत् के अधिष्ठानभूत शुद्धस्वरूप महत् चिदाकाश हो गये ॥५८॥ इसके अनन्तर अमृत के गृहस्वरूप समुद्र की नाईं उद्दालक ने बाह्य प्रपंच के दर्शन से रहित होकर ब्रह्मादि उत्तम प्रकृतिवालों से आस्वादित निरतिशय आनन्द वहाँ प्राप्त किया ॥५९॥ उद्दालक ऋषि शरीर से पृथक् होकर शुद्ध हुए की नाईं अनिवर्चनीय अवस्थिति को प्राप्त करते हुए सन्मात्रस्वभावरूप होकर आनन्द के सागर हो गये ॥६०॥ जैसे शरद् ऋतु के स्वच्छ आकाश में समस्त कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा स्थित होता है। वैसे ही द्विजचेतनात्मा उद्दालक आनन्दरूपी सरोवर में हंस की तरह स्थित हो गये ॥६१॥ वह उद्दालक ऋषि निर्वात दीपक के सदृश कान्तिवाले, चित्रलिखित के सदृश अनन्यमनस्क, निस्तरंग समुद्र के गम्भीर, एवं पूर्व में जो वृष्टि कर चुका हो बाद में निर्जल और मूक (गर्जन शून्य) हो गया हो ऐसे मेघ की स्थिति के समान स्थितिवाले हो गये ॥६२॥ इसके अनन्तर इस महालोक में (परम पद में) चिरकाल तक स्थित हुए अथवा इस महाप्रकाश में चिरकाल तक स्थित हुए उद्दालक ऋषि ने आकाश में चलनेवाले बहुत से सिद्ध और देवताओं को देखा ॥६३॥ वहाँ उनके चारों ओर इन्द्रपद और सूर्य पद देनेवाले और अप्सराओं से निबिड़ सिद्धियों के बहुत से विचित्रगण भी आ गये ॥६४॥ जैसे गंभीर बुद्धि उदारपुरुष बच्चों के विलास के साधन खिलौनों का आदर नहीं करता वैसे ही क्षोभरहित गम्भीर बुद्धिवाले उद्दालकने उन सिद्धिगणों का आदर नहीं किया ॥६५॥ उत्तरायण के आधारभूत दिग्भाग में सूर्य जिस प्रकार छः मास तक रहता है उसी प्रकार उद्दालक उस आनन्द-मन्दिररूप समाधि में सिद्धियों के गणों का

अनादर करके छः महीने तक स्थित रहे ॥६६॥ जब सर्वोत्कृष्ट सप्तम भूमिका में स्थिति रूप जीवन्मुक्तपद को प्राप्त हुए तब वहाँ उनके पास सिद्ध, सुर, गणदेवता, ब्रह्मा, महादेव आदि सब उपस्थित रहे॥६७॥ उस आनन्द में चित्त का रसास्वादलक्षण परिणाम न होने से वह उद्दालक 'अनानन्द' पद को प्राप्त हो गये, अतः उनका संविदात्मचैतन्य विषयी मनुष्यों की नाईं न क्षुद्र आनन्द में रहा और न दुःख में ही रहा, किन्तु स्वप्रकाशैकरसपूर्ण रहा ॥६८॥ जिस पुरुष ने स्वर्ग देख लिया उसका प्रेम पृथिवी पर किसी भोगसमाग्री में नहीं होता उसी प्रकार मन क्षणभर अथवा हजार वर्ष तक उक्त स्थिति को प्राप्त कर भोगसामग्री में प्रेम नहीं करता ॥६९॥ वह सर्वोत्कृष्ट पद है, वही सर्वोत्कृष्ट शान्त गति है, वही शाश्वत कल्याण कर है, वह शिव है, वहाँ पर विश्रान्ति को प्राप्त हुए मनुष्य को भ्रम फिर बाधा नहीं पहुँचाता ॥७०॥ जैसे जो पुरुष चैत्ररथ (कुबेर का उद्यान) प्राप्त कर चुके हो वे खदिर के (खैर के) उद्यान में नहीं जाते हैं वैसे ही सन्तपुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार करके इस बाह्य प्रपंचात्मक दृष्टि को फिर प्राप्त नहीं करते हैं ॥७१॥ जिस प्रकार राजा लोग दीनता को कुछ नहीं गिनते उसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि द्वारा परिष्कृत चित्त–से महाआनन्द पदवी को प्राप्त करके जीव दृश्य का आदर नहीं करते ॥७२॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, उस पद में विश्रान्ति को प्राप्त हुआ अतएव बोध को प्राप्त हुआ चित्त षष्ठम भूमिका में दूसरों के महाप्रयत्न से समाधि व्युत्थानदशा के प्रति बोध को प्राप्त करता है या सप्तम भूमिका में उसको भी प्राप्त नहीं करता है ॥७३॥ जिस प्रकार सूर्य चैत्र मास में नीहार पटल (कुहरे) से दूर रहता है उसी प्रकार उद्दालक ऋषि सिद्धियों से दूर रहे। समाधि में छः महीने वास करके समाधि से जागरूक उन्होंने परम तेजस्विनी, प्रणाम करने की लालसावाली तथा चन्द्रबिम्ब के सदृश शरीर को धारण की हुई स्नेह युक्त रमणियों को देखा एवं गौर मन्दारपुष्पों की धूलि से धूसरित भ्रमरों से (भौंरों से) और चँवरो से युक्त फहराती हुई पताकाओं के समूहवाली दिव्यविमानों की पंक्तियों को देखा ॥७४–७६॥ करकमल में कुशा की पवित्री के चिह्नवाले हमारे जैसे मुनियों को और विद्याधरियों सहित विद्याधरों के अधिपतियों को भी देखा ॥७७॥

उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनि से कहा : हे भगवान्, आप हमारे प्रणाम से अनुग्रह पूर्ण दृष्टि से हमको देखिये ॥७८॥ हे भगवान्, आइये और इस विमान पर चढ़कर देवताओं के नगर को चलिये (स्वर्ग को चलिये), क्योंकि संसार के उपभोगों की अन्तिम सीमा स्वर्ग ही है॥७९॥ हे विभो, प्रलयपर्यन्त अपने वांछित और उचित भोग्य पदार्थों का उपभोग कीजिये क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप फल के भोगने के लिए होती हैं ॥८०॥ जिस प्रकार हाथियों के चारों ओर हथिनियाँ उसकी उपासना करती है उसी प्रकार हार एवं चँवरों को धारण की हुई गन्धर्व ललनाएँ आपकी उपासना करती हुईं खड़ी हैं, कृपया इनको देखिये ॥८१॥ हे भगवान्, धर्म और अर्थ दोनों का सार काम है और काम का सार सुन्दर युवतियाँ है। ये वारांगनाएँ वसन्त में मंजरी के समान स्वर्ग में ही होती हैं ॥८२॥ इस प्रकार कह रहे इन सब अतिथियों की यथोचित पूजाकर के वे मुनि मिथ्यात्व आदि के निश्चय से (स्वर्ग और स्वर्ग के विविध भोग मिथ्या हैं इस निश्चय से) बिना किसी प्रकार के कौतूहल से बैठे रहे ॥८३॥ उस धैर्य पूर्ण बुद्धिवाले मुनि ने गन्धर्व ललनाएँ आदि विभूति का न तो अभिनन्दन ही किया और न त्याग ही किया अर्थात् उनसे उदासीन रहे और हे सिद्धों, आप लोग जाइए, ऐसा कहकर फिर अपने समाधिरूप व्यापार

में लग गये ॥८४॥ इसके अनन्तर अपने धर्म में निरत अतएव भोगों में प्रेम न करते हुए उद्दालक मुनि की चिरकाल तक प्रतीक्षा, प्रणाम, प्रशंसा आदि द्वारा उपासना कर सिद्ध लोग कुछ दिनों में स्वयं चले गये ॥८५॥ जीवन्मुक्त वह मुनि वनों में और मुनियों के आश्रमों में सुखपूर्वक यथेच्छ विहार करते रहे ॥८६॥ मेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय और विन्ध्याचल की चोटियों पर और द्वीप, उपवन, दिशा, कुंज, जंगल और अरण्यभूमि इन सबमें यथेच्छ विहार करते रहे ॥८७॥ उस समय से उद्दालक द्विज पर्वतों की भीतर की गुफाओं में ध्यानरूपी लीला से परमपद प्राप्ति पूर्वक रहने लगे ॥८८॥ समाधि में बैठे हुए मुनि कभी एक दिन में, कभी एक महीने में, कभी एक वर्ष में और कभी कई वर्षों में समाधि से जागते थे ॥८९॥ उस समय से उद्दालक मुनि व्यवहारकाल में भी चिद्भावरूप एकत्व को प्राप्त हो समाहित चित्त ही रहते थे। अज्ञ के समान विक्षिप्तचित्त नहीं रहते थे। अर्थात् व्यवहारिक दशा में भी ध्यानस्थ ही रहते थे ॥९०॥ जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य का तेज सर्वत्र सम रहता है उसी प्रकार अन्तःकरणवृत्ति के अनुगत और उसके साक्षी चिद्मात्र के निरन्तर साक्षात्कारूपी समाधि के अभ्यास से अपरिच्छिन्न चिद्भाव को प्राप्त करके वह मुनि सर्वत्र राग-द्वेष को छोड़ देने से और करुणा से अविषम ब्रह्मभाव के दर्शन से सम रहे ॥९१॥ वह मुनि चित्सामान्य के निरन्तर अभ्यास के कारण सत्तासामान्य को प्राप्त करके अर्थात् दृश्य और उसके संस्कार का मूलोच्छेद होने पर उसके प्रथनरूप चित्त्वव्यवहार का उपरम होने से स्वप्रकाशात्मक निरतिशय आनन्दसन्मात्र भाव का परिशेष होने के कारण सत्ता समान्य को प्राप्त करके चित्रस्थ सूर्य के समान इस दृश्यप्रपंच में न आविर्भाव को (उदय को) प्राप्त करते थे और न तिरोभाव को (अस्त को) प्राप्त रहते थे ॥९२॥

इस प्रकार उक्त स्थिति को दिखाते हुए उपसंहार करते हैं।

सब विक्षेपों के उपशमन होने के कारण तथा परमपद की प्राप्ति से शान्त चित्त जन्ममरणरूपी पाशों का विनाश कर चुके और संशय रहित उस मुनि ने शरद् ऋतु के आकाश के समान शान्त, अपरिच्छिन्न, अतितेजस्वी, स्फुट अर्थात् निरावरण होने के कारण प्रकाशमय, प्राक्तनदशा का अत्यन्त विस्मरण होने के कारण चित्तरहित ब्रह्मस्वभावापन्न शरीर को धारण किया पहले की नाईं उद्दालक शरीर को धारण नहीं किया। अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो गये ॥९३॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

सत्ता समान्य का लक्षण, उद्दालक का युक्ति से देहत्याग क्रम तथा
त्यक्त देह से चामुण्डा का स्वभूषण निर्माण।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवान्, आप आत्मज्ञानरूपी दिन के लिए सूर्य स्वरूप हैं, मेरे संशयरूपी तिनकों के लिए अग्निरूप हैं एवं अज्ञान से होनेवाले तापत्रय सन्ताप के लिऐ चन्द्रमा स्वरूप हैं; अतः कृपापूर्वक बतलाइये कि सत्तासामान्य क्या है अर्थात् सत्तासामान्य का क्या लक्षण है भाव यह है कि अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश करने में, ज्ञान प्रयुक्त संशयविपर्यय का उच्छेद करने में तथा संशय-विपर्यय प्रयुक्त सब दुःखों के उच्छेद में केवल आप ही समर्थ हैं, अतएव

सत्तासामान्य का लक्षण बताने की कृपा कीजिए ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब चित् पूर्ण शुद्ध है, उसमें कुछ नहीं है, ऐसी भावना से यानी तीनों कालों में भी दृश्य वस्तुतः नहीं है यों श्रुति, युक्ति और अनुभव से निरन्तर अनुसन्धान करने से चैत्य संस्कारों का मूलोच्छेद होने पर चित्त भली भाँति क्षीण हो जाता है तब जड़ और चेतन सबमें अनुगत स्वतःसिद्ध सत्तामात्र ही सत्तासामान्य होता है। छठी भूमिका में चित्त के अवान्तर भेदों का परिमार्जन कर चित् सामान्यभूत चैत्याभाव की अत्यन्त भावना करने से चैत्यसंस्कारों का आत्यन्तिक उच्छेद होने पर जब चित्त क्षीण हो जाता है तब स्वमात्रसत्तासे स्वतःसिद्ध हो रही परिशिष्ट चित्–अचित् दोनों में अनुगत सत्ता ही सत्तासामान्य होती है, अर्थात् विक्षेप के हेतुभूत चित्त का अभाव होने से आत्मा की स्वरूपसत्ता ही अवशिष्ट रहती है, यह भाव है ॥२॥ समस्त वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य जब सकल प्रपंच का बाध होने पर अन्तःकरण की वृत्तियों और वृत्ति के विषयों से रहित होकर स्वात्मा में अर्थात् बिम्ब चैतन्य में लीन होता है तब उस बिम्ब की असत् रूप की नाईं (जिसमें रूप नहीं हैं यानी आकाश की नाईं) स्वच्छ सत्तासामान्यता समझना चाहिये ॥३॥ चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त हुआ अखण्ड चैतन्य जब बाह्य एवं आभ्यन्तर का जो कुछ है इन सबका अपलाप कर (यह कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय कर) स्थित होता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिये ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त हुआ अखण्ड चैतन्य समस्त भूतप्रपंच का अपलाप कर के अपने पारमार्थिक स्वरूप से स्वप्रकाशात्मक सत्ता सामान्यात्मक, केवल चित्स्वरूप होता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिये ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार कछुआ अपने–आप ही अपने में अंगों को लीन कर लेता है उसी प्रकार जब दृश्य प्रपंच को किसी भावना आदि प्रयत्न के बिना ही आत्मा अपने से अपने में लीन कर देता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिए ॥६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि यह उक्त सप्तम भूमिका रूढ़दृष्टि तुर्यातीत पद के समान है, इसीलिए सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों को सदा होती ही है यानी सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों की समानस्वरूपस्थिति में भेद नहीं है ॥७॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह बोध से उत्पन्न दृष्टि पंचमादि भूमिकाओं में भी समाधिस्थ ज्ञानी को होती है, सप्तम भूमिका में तो व्युत्थित को भी अर्थात् जो समाधिस्थ नहीं है उसको भी होती है, केवल अज्ञ को कभी नहीं होती है ॥८॥ जिस प्रकार पृथिवी पर प्रसिद्ध पारदादि (पारा आदि) रस एवं आकाशरूपी गली में वायु किसी वस्तु से स्पृष्ट नहीं होते उसी प्रकार इस दृष्टि में स्थित गम्भीर स्वभाववाले सब जीवन्मुक्त लोग किसी भी ऐहिक अथवा पारलौकिक भोग की तृष्णा रूपी धूलि से स्पृष्ट नहीं होते ॥९॥

उसीका उदाहरण देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आस्मत्प्रभृति अर्थात् हमारे सदृश्य मनुष्य लोक में इस दृष्टि में स्थित है, आकाशरूपी वीथी में नारदादि मुनिगण इस दृष्टि में स्थित हैं और उससे भी ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मा, विष्णु, महादेह आदि इस दृष्टि में स्थित हैं ॥१०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समस्त भय का नाश करनेवाली इस पदवी का अवलम्बन करके वे उद्दालक प्रारब्धकर्मों का क्षय होने तक संसाररूपी घर में रहे ॥११॥ इसके अनन्तर बहुत काल के बाद उद्दालक की यह दृढ़ बुद्धि हुई कि मैं इस देह को छोड़कर विदेह मुक्त हो जाऊँ ॥१२॥ हे

श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार चिन्तित अर्थ में दृढ़ निश्चयवाले वे उद्दालक ऋषि बद्ध पद्मासन होकर आधी आँखें मींचकर पर्वत की गुफा में पत्तों के आसन पर बैठ गये ॥१३॥ मलद्वार के अवरोध से नव द्वारों का संयम कर शब्द-स्पर्शादि विषयक वृत्तियों को बदरी फल की तरह एक-एक चुनकर हृदय में उनका निवेश करके फिर उनके पारमार्थिकस्वरूप की अपने अंग के समान भावना कर अर्थात् स्वात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर चिदात्मा एवं सैन्धवघन के समान एक रस हुए उद्दालक ने चित्सामान्य को प्राप्त किया ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, प्राणवायुओं को रोकते हुए, समरूप से स्थित कण्ठवाले, तालू के मूलतल में फाटक के समान लगे हुए जिह्वामूल से उन्नत हुए-से सुन्दर मुँहवाले, न बाहर न भीतर, न नीचे, न ऊपर, न रूपादि विषयों में, न शून्यआकाश में कहीं भी मन और दृष्टि को संयुक्त न कर रहे एवं दाँतों से दाँतों का स्पर्श न कर रहे तथा प्राणों के प्रवाहों के अवरोध से सम यानी उनकी क्रियाओं से उत्पन्न हुए शरीर, मन और इन्द्रियों के चांचल्य से शून्य, प्रसन्नवदन, चिद्रूप ब्रह्मानन्द के अनुभव से सीधे खड़े हुए रोंगटों से पुलकित शरीरवाले वे उद्दालक ऋषि अन्तःकरण के एकदेशभूतवृत्तिभेदों में प्रतिबिम्बित चित् के निरन्तर अनुसन्धान से स्वोपाधिभूत वृत्ति भेदों के विलयाभ्यास के कारण बिम्भभूत चित् सामान्य को प्राप्त हो गये एवं उन्होंने बिम्बभूत चिन्मात्र के अनुसन्धान अभ्यासवश हृदय में सर्वोत्कृष्ट आनन्द प्रवाह का अनुभव किया ॥१५-१८॥

उस उद्दालक ऋषि का पूर्ववत् सत्तासामान्य अनुप्रवेश कहते हैं।

जब तक निरतिशय आनन्द का आस्वाद प्राप्त नहीं होता तभी तक चित्त अपनी वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न क्लेश को सहन न करता हुआ बाह्यविषयों में प्रवृत्त होता है। आनन्द का आस्वादन करने पर तो 'गुड़पिपीलिका' न्याय से वहीं पर आसक्त हुआ चित्त अपने स्वरूप को भी भूलकर अपने में अनुगत चित्सामान्य को निरतिशय स्वप्रकाश सत्तासामान्य को प्राप्त करा देता है, इसी को चित्सामान्यावस्थाक्रम का लय और सत्तासामान्य प्राप्त कहते हैं। यही बात कही गई है। उद्दालक ने आनन्द के आस्वादन से चित्सामान्य दशाक्रम के लयवाले, विश्वम्भर, अनन्त, परिपूर्ण, सत्तासामान्य को प्राप्त किया ॥१९॥ विक्षेप-वैषम्य से सर्वथा रहित स्वभाववाले एवं अनुपम आनन्द से अत्यन्त मनोहर मुखकान्तिवाले वे उद्दालक ऋषि सर्वोत्कृष्ट आनन्दपदवी को प्राप्त हो बैठ गये ॥२०॥

आनन्द के आविर्भाव के द्योतक रोमांच चिह्नों की भी क्रम से उपरति दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्त रोमांचोंवाले तथा मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा चिरकाल में जिनका जगद्विषयक भ्रम क्षीण हो चुका था, ऐसे उद्दालक ऋषि जीते हुए ही निर्वाण पद को प्राप्त करके प्रारब्ध भोग के हेतुभूत शेष दोषों के क्षय के कारण विशुद्ध हो गये ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा उद्दालक चित्रलिखित के समान अनन्यचित्त एवं अचल होकर समस्त कलाओं से परिपूर्ण शरद्ऋतु के स्वच्छ आकाश के चन्द्रमा के समान विशुद्ध हो गये ॥२२॥

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' इस श्रुति में कहे गये प्रकार के अनुसार उन्हीं में उनके प्राणों का तप्त जल की उष्णता के समान क्रम से उपशमन हुआ, इस आशय से कहते हैं।

धीरे-धीरे कुछ दिनों में वह उद्दालक ऋषि जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में वृक्षों का रस निर्मल सूर्य किरणों के तेज में शान्त हो जाता है उसी प्रकार जन्म-मरण से छुटकारा पाकर अपने प्राप्त करने

योग्यस्थान शुद्ध आत्मा में शान्त हो गये अर्थात् उद्दालक ने अपने प्राणों को स्वात्मा में लीन कर दिया ॥२३॥

प्राणों के उपशमन होने पर उनके परिशिष्ट स्वरूप को कहते हैं।

समस्त संशयों का विनाश हो जाने से निःसन्देह अतएव विकाररहित एवं समस्त तुच्छ विषयों में आसक्त हुई अन्तःकरणवृत्तियों से रहित स्वभाववाले अतएव अभिराम (मनोहर) वे उद्दालक ऋषि हिरण्यगर्भपदपर्यन्त सब विषयसुख अग्नि से चिन्गारियों की तरह जिससे बाहर निकले थे, ऐसे वाणी के अगोचर उस सुख को प्राप्त हो गये, जिस सुख को प्राप्त करके इन्द्रलक्ष्मी भी (इन्द्र का ऐश्वर्य भी) समुद्र में तृण के समान समझी जाती है ॥२४॥ वह उद्दालक ब्राह्मण प्रति ब्रह्माण्ड के भेद से अनन्त आकाशों को व्याप्त करनेवाली दिशाओं को भी व्याप्त करनेवाला अर्थात् देशकृत परिच्छेद से रहित, सर्वदा समस्त वस्तुओं में पूर्ण, सकल वस्तुओं के आधारभूत भुवनों का धारण-पोषण करनेवाला (✍) बड़े भाग्यों से और उत्तम जनों से सेवा करने योग्य, वाणी के अगोचर, अनन्त, आद्य अर्थात् काल से अपरिच्छिन्न, पारमार्थिक सत्तावाले, सबको ब्रह्मरूप एक रस में मस्त करनेवाले सर्वोत्कृष्ट भूमाख्य परम सुखस्वरूप ही हो गये ॥२५॥ इसके अनन्तर उद्दालक के जीवात्मा के निर्मलस्वरूप आद्य पद को प्राप्त होने पर उस उद्दालक ब्राह्मण का शरीर छःमास तक वहीं पड़ा हुआ सूर्य की किरणों से तप्त होकर सूख गया और बह रहे वायु की टक्कर से उत्पन्न हुए भयंकर शब्द से रमणीयता को प्राप्त करता हुआ बाल वृक्षरूपी भुजाओं की बजाने योग्य शिरातन्त्रियों से पर्वत के विलास के लिए वीणा हो गया ॥२६॥ जिसके अनन्तर चिरकाल बाद उस पर्वतभूमि पर, जहाँ उद्दालक का शव पड़ा हुआ था, पर्वत के न्याय के साथ पीले केशोंवाली ब्राह्मी आदि सब माताएँ किसी भक्त की अभिमत फलसिद्धि के लिए इस प्रकार आई जिस प्रकार पीली ज्वालाओं की पंक्तियाँ अग्नि के पास आती हैं ॥२७॥

उन माताओं में से समस्त पण्डितों की एवं देवताओं की भी पूज्य रात्रि के समय नूतन-नूतन आभूषणों के वैचित्र्य से एक-से-एक सुन्दर नये-नये लास्यादि वृत्तान्तवाली चामुण्डा नाम की माता ने सूर्य की किरणों से सूखे हुए उस ब्राह्मण के शव को अति शीघ्र ही उद्यत तलवार और खट्वांग के (शस्त्रविशेष के) मध्य में स्थित अपने मुकुट का भूषण बना दिया ॥२८॥

जिसका मूढ़दृष्टि लोगों से कल्पित, मलमांसादि से निर्मित स्थूल शरीर भी तीनों लोकों से वन्दनीय देवी के सिर का भूषण बनकर सर्वोत्कर्ष पा गया, उस विषय में विशेष क्या कहा जाय, यों ज्ञान के महत्त्व का उत्कर्ष दिखलाते हुए कहते हैं।

इस प्रकार उद्दालक ऋषि का वह तुच्छ शरीर महाभगवती चामुण्डा के लीला विलास के लिए बने हुए शिराभूषणों की उस माला में आनन्द के साथ सो गया जिस माला में मोरों के (मयूरों के) मनोहर पुच्छरूपी चंचल मेघखण्ड विराजमान थे और जो मालानूतन-नूतन मन्दार पुष्पों से परिवेष्टित थी और जिसके अग्रभागों में पुष्पों का गुच्छा था अतएव वेणी के (चोटी के) छल से पीछे आ रहे लता-जाल पर मानों भौंरा (भ्रमर) आनन्द से लेटा हो, ऐसा वह शव मालूम हुआ ॥२९॥

उक्त उद्दालक के आख्यान का उपसंहार करते हुए उस आख्यान का परिशीलन करनेवाले मनुष्यों

✍ इससे उसकी सर्वाधिष्ठानता अभिव्यक्त हुई, अतः कोई वस्तु उससे भिन्न नहीं है।

के संसाररूपी ताप उपशमन और परम पुरुषार्थ का लाभ दिखलाते हैं।

समस्त दृश्य पदार्थों के विवेक में स्फूर्ति को प्राप्त हुए आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंवाली, पूर्वोक्त प्रकार से प्रदर्शित उद्दालक के विदेहकैवल्य प्राप्ति पर्यन्त चरित्र की आदर एवं निरन्तर अभ्यास से हुई शिक्षारूपी कल्पवल्ली (कल्पलता) जिस पुरुष के हृदयरूपी वन में उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर भूमि में आरूढ़ होकर फैल गई, वह पुरुष तीनोंतापरूप (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों तापरूपी) सूर्य से व्याप्त व्यवहाररूपी कानन में विहार करता हुआ भी सत्य, शान्ति, दान्ति आदिगुणों से सुगन्धित, शीतल व सहज संतोषस्वरूप छाया से कभी भी वियुक्त नहीं होता। अपितु सर्वोत्कृष्ट मोक्षफल के साथ 'न स पुनरावर्तते' इस श्रुति के अनुसार पुनरावृत्तिरहित स्वात्मभाव से सम्बन्ध को प्राप्त करता है। इसलिए ऐसी लता का हृदय में आरोप करके विस्तार करना चाहिये ॥३०॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

मायारूपी अन्धकार से शून्य वासनारहित
प्रबुद्ध पुरुष व्यवहाररत होने पर भी समाधिस्थ है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त विचार, वैराग्य और समाधि के अभ्यास के क्रम से विहार कर रहे आप अपने आत्मस्वरूप का विचारकर भूमाख्य परम पद में विश्रान्ति को प्राप्त होइये ॥१॥ शास्त्र के श्रवण से, पदार्थ तत्त्व के परीक्षण से, गुरुवचनों पर विश्वास से तथा अपने चित्त के शोधन से तब तक विचार करना चाहिये जब तक सब दृश्य के बाध के अभ्यास से परमपद प्राप्त न हो जाय ॥२॥ वैराग्य के अभ्यास, शास्त्रर्थविचार, प्रज्ञा, गुरु–उपदेश और यमनियमों के क्रम से पुण्य पद प्राप्त होता है अथवा केवल प्रज्ञा से ही पुण्य पद प्राप्त होता है ॥३॥ सम्यक् प्रबोधयुक्त तीक्ष्ण और दोषरहित मति अन्यान्य सब सामग्रियों से विहीन होती हुई भी जीव को परम पद प्राप्त करा देती है ॥४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवान्, हे भूत और भविष्यत् के ज्ञाता, कोई प्रबुद्ध पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थ के तुल्य विश्रान्त रहता है; कोई एकान्त में आश्रय ले कर समाधि में स्थित रहता है। इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है, यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥५,६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस मायिक विश्व को अनात्मरूप (मिथ्या) देख रहे पुरुष की जो यह अन्तःशीतलता यानी ज्ञान प्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता है, वही समाधि कही जाती है, क्योंकि पूर्णकामता के प्राप्त होने पर विक्षेपों का प्रसंग ही नहीं रहता। मन के रहने पर दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है, जो विक्षेप का हेतु है, किन्तु मेरा मन नहीं है, ऐसा निश्चय कर पूर्णकाम हुआ कोई पुरुष व्यवहारनिरत होता है और कोई ध्यान में निरत होता है। यदि अन्तःकरण शीतल हो, तो ये दोनों ही सुखी हैं। जो अन्तःकरण की शीतलता है, वह अनन्त तपस्याओं का फल है ॥७–९॥

यदि समाधि स्थान में स्थित पुरुष का चित्त अपनी वृत्ति से चंचल हो, तो उस पुरुष की वह समाधि उन्मत्त पुरुष के ताण्डव के तुल्य है। पुरुष का चित्त वासनाविहीन हो तो उसकी उन्मत्त चेष्टा ब्रह्म–समाधि के तुल्य है। जो प्रबुद्ध व्यवहाररत है और जो प्रबुद्ध वनवासी है, ये दोनों ही समान हैं, क्योंकि

दोनों ही सब सन्देहों का उच्छेद करनेवाले परमपद में प्रतिष्ठित हैं ॥१०–१२॥

व्यवहार निरत और अरण्यवासी दोनों ही समान कैसे हो सकते है ? व्यवहारी पुरुष को कर्तृत्वप्रयुक्त बन्धन क्यों नहीं होगा ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

जैसे कान्ता आदि की कथा के श्रवण में अन्यत्र आसक्त मनवाला पुरुष कथा श्रवण करता हुआ भी राग आदि विकारों का उदय न होने से रागादिप्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता, वैसे ही वासनारहित यह मन व्यवहार करता हुआ भी अकर्ता ही है यानी कर्तृत्वप्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता ॥१३॥ जैसे स्वप्न में निश्चल देहावयववाले सुषुप्त पुरुष का मन भी गर्तपात और उसमें निवास का कर्ता बनता है वैसे ही प्रचुरवासनावाला चित्त कर्म न करता हुआ भी कर्ता के तुल्य होता है यानी कर्तृत्वप्रयुक्त दोषों से बद्ध होता है ॥१४॥ चित्त का जो अकर्तृत्व है वह उत्तम समाधि है, उसी को आप केवलीभाव जानिये और वही श्रेष्ठ परम सुख विश्रान्ति है ॥१५॥ चित्त चंचलता और अचंचलता से समाधि में और असमाधि में परम कारण कहा गया है, इसलिए उसी को आप अंकुररहित यानी वासनारहित कीजिये ॥१६॥ वासनारहित मन स्थिर कहा गया है, वही ध्यान है, वही केवलीभाव है और वही सदा शान्तता है ॥१७॥ स्वल्पवासनावाला यानी चतुर्थी आदि भूमिकाओं में क्षीणवासनावाला मन अकर्ता है। उससे सप्तम भूमिका प्रतिष्ठारूप पद प्राप्त होता है ॥१८॥ प्रचुर वासनावाला यह मन कर्तृत्व–भाजन (कर्ता) है। कर्ता होने के कारण ही सब दुःख देता है, इसलिए वासना को क्षीण बनाना चाहिये ॥१९॥ जिससे आत्मा देह दृश्य में अहंताममताअभिनिवेश से रहित होता है, शोक, भय और एषणाओं से शून्य होता है और स्वस्थ (स्वरूपस्थित) होता है, वह 'समाधि' कही जाती है ॥२०॥ सब पदार्थों में अहंताममताअध्यास का मन से त्यागकर अपनी अभिरुचि के अनुसार आप चाहे पर्वत पर समाधिस्थ होकर बैठिये अथवा घर में व्यवहाररत होकर बैठिये ॥२१॥ भलीभाँति समाहित चित्तवाले अहंकार आदि दोषों से रहित गृहस्थों के लिए घर ही निर्जन (एकान्त) वनभूमि है ॥२२॥ नित्य अपरोक्ष प्रत्यगात्मा में स्थित, समाहित मन और दृष्टिवाले आप लोगों के आकाश आदि महाभूतों के तुल्य वन और घर समान हैं ॥२३॥ हे राजपुत्र, जिसका चित्तरूपी महामेघ शान्त हो चुका यानी जो शरत् के आकाश के तुल्य निर्मल है, उस पुरुष के लिए जनरूपी ज्वालाओं से उज्जवल नगर भी शून्य (निर्जन) वन ही हैं ॥२४॥ हे शत्रुतापन, राग आदि वृत्तिवाले चित्त से मत्त हुए पुरुष के लिए निर्जन वन भी प्रचुर लोगों से संकीर्ण नगर हैं ॥२५॥ यह राग आदि से विक्षिप्त हुआ चित्त विविध विषयभ्रम का अन्दर लय होने से फिर सैकड़ों व्युत्थानों की बीजभूत सुषुप्ति को प्राप्त होता है। राग आदि की वासनाओं से रहित चित्त मोक्ष को प्राप्त होता है। आप जैसे चाहे वैसा करें ॥२६॥

यदि कोई कहे कि पहले व्यवहार निरत और तत्त्वज्ञानी इन दोनों की समाधि तुल्य कैसे कही ? तो इस पर कहते हैं।

जो सर्वभावपदातीत अथवा सर्वभावात्मक आत्मा को सदा देखता है वह समाहित कहा जाता है। तत्त्वज्ञानी समाधि में सर्वभावपदातीत तत्त्व को देखता है और व्यवहार में सर्वभावात्मक तत्त्व को देखता है यों केवल एक पिण्ड में अहंकार न होने से उसमें राग आदि की प्रसक्ति नहीं होती है, यह भाव है ॥२७॥ जिस विस्तृत स्वरूप के अन्दर राग–द्वेष क्षीण हो चुके हों और जिसके लिए सब भाव समान हैं वह समाहित

कहा जाता है ॥२८॥ हे जनेश्वर, उसका मन जैसे स्वप्न में वैसे ही जाग्रत् में भी इस दृश्य को सत्रूप से सद् ही देखता है। जगत् को (सद् से व्यतिरिक्त रूप को) नहीं देखता है ॥२९॥

प्रशान्त चित्तवाले के लिए नगर भी शून्य (निर्जन वन) है, ऐसा जो पहले कहा था, उसकी उपपत्ति कहते हैं।

जैसे बाजार में इकट्ठे हुए बहुत से लोग अपने-अपने व्यवहार करते हुए भी उदासीन (जो न शत्रु हैं और न मित्र हैं) के लिए कुछ भी उपकारक न होने से सब प्रकार से असत् ही हैं, क्योंकि उनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ग्राम भी ज्ञानी के लिए, ग्रामवासी जनों के साथ सम्बन्ध न होने से, अरण्य तुल्य ही हैं यानी विक्षेप हेतु नहीं है ॥३०॥ जिसका मन सदा अन्तर्मुख है यानी बहिर्मुख नहीं है वह पुरुष चाहे सोया हो, चाहे जागा हो, चाहे चलता हो वह नगर, देश और ग्राम को अरण्य के समान देखता है ॥३१॥ नित्य अन्तर्मुख स्थितिवाले पुरुष के लिए पृथिवी आदि महाभूतों से व्याप्त यह सारा जगत् बाधित होने के कारण सर्वथा अनुपयोगी होने से शून्यता को प्राप्त हो जाता है ॥३२॥ अन्तःशीतलता (ज्ञान प्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता) प्राप्त होने पर तो ज्वररहित पुरुषों के तुल्य सारा का सारा जगत् जीवनपर्यन्त शीतल हो जाता है। भीतर तृष्णा से सन्तप्त लोगों का जगत् वनाग्नि सन्तापमय होता है, क्योंकि भीतर सभी जीवों का चित्त जैसे तप्त या शीतल होता है वही बाहर जगत् के रूप से स्थित होता है ॥३३,३४॥ द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ अन्तःकरण तत्त्व के बाहरी भागों के तुल्य स्थित हैं ॥३५॥ वट के फल के अन्दर वट बीजों के समान जो सदा अपने अन्दर रहता है, वही दैदीप्यमान होकर विकास होने पर पुष्प की गन्ध के समान बाहर प्रकट होता है ॥३६॥

आरोप दृष्टि से कहकर अपवाद दृष्टि से कहते हैं।

कोई वस्तु न तो बाहर है और न कहीं पर भीतर है, तो जगदाकार का भान कैसे होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिस वस्तु का पूर्व वासना के बल से विकास हुआ उसके वेष से परमार्थ तत्त्व ही उदित हुआ है ॥३७॥ आत्मतत्त्वरूप जो आन्तर वस्तु है वही बाह्यरूप होकर जगद्रूप से प्रतीत होती है। जैसे डिब्बे में रक्खा हुआ कपूर गन्धरूप से विकसित (अधिक प्रदेश में विस्तृत) होता है वैसे ही वह तत्-तत् उपाधियों के अनुसारी संकोच होने पर भी विकसित होता है ॥३८॥ आत्मा ही जगद्रूप से और अहन्ता से बाह्यत्वेन और आन्तरत्वेन खूब स्फुरित होता है। वस्तुतः वह न तो चक्षु आदि से अदृश्य अहंकाररूप है और न उससे दृश्य बाह्य स्थूल रूप है, किन्तु विभु यानी दोनों में अनुस्यूत सन्मात्ररूप है ॥३९॥ अतएव यह आत्मा अपने चित्त को ही पूर्व-पूर्व अनुभव के अनुसार बहिर्मुख चक्षु आदि द्वारा बाह्य (जगदाकार) देखता है। अन्दर स्थित जाग्रत्-वासना आदि से हृदय में स्थित स्वप्न को देखता है ॥४०॥

न कोई वस्तु बाह्य है और न कोई आन्तर है, ऐसा जो पहले कहा उसका युक्ति से अनुभव कराते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का जगत् दोनों अनुस्यूत सत् आत्मा से पृथक् होकर असत् ही है अतःशान्त ही है यानी मृत ही है, किन्तु पृथक्करण के अभाव में उसकी सत्ता से ही बाह्य और

आभ्यन्तर भेद के रहने पर उसमें अहंताममता का अध्यास होने से उसका नाश होने पर बड़े भारी नाश का भय होता है ॥४१॥

बड़े भारी नाश के भय का ही उपपादन करते हैं।

तत्–तत् मानसी व्यथाओं से हतात्मा पुरुष के द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि सब पदार्थ तीनों तापों की ज्वालाओं से ज्वलित होकर प्रलयारम्भकाल ही हो जाते हैं ॥४२॥

सन्मात्र आत्मा का साक्षात्कार होने पर तो कर्मेन्द्रियों द्वारा व्यवहार करने पर भी अभिमान न होने से हर्ष शोक आदि जनित तनिक भी विक्षेप नहीं होता, इसलिए सदा समाधिस्थ पुरुष की समानता ही रहती है अर्थात् व्यवहाररत भी ज्ञानी पुरुष समाधिस्थ के तुल्य ही होता है, इस आशय से कहते हैं।

जो पुरुष अन्दर एकमात्र आत्मरति होकर कर्मेन्द्रियों से क्रिया करता हुआ हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता, वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥४३॥ सर्वगत आत्मा का साक्षात्कार कर रहा अतएव शान्तधी जो पुरुष न शोक करता है और न ध्यान करता है, वह समाधिस्थ हो जाता है। जगत् की गति को उत्पत्ति और विनाश युक्त देखता हुआ जो पुरुष मूढ़ जनों में प्रसिद्ध अहंता, ममता आदि दृष्टियों पर उपहास करता है वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥४४,४५॥

क्यों उपहास करता है, ऐसा यदि कोई कहे तो अहन्ता–ममता आदि दृष्टियों के विषय अभिमान और अभिमन्तव्यरूप अहन्ता और जगत् आश्रय के सिद्ध न होने से मिथ्या हैं, इसलिए उपहास करता है, ऐसा कहते हैं।

उन्हें (अहन्ता और जगत् को) सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्स्वभाव मेरे आश्रित मानेंगे अथवा श्रुति सिद्ध ब्रह्मभाव के आश्रित मानेंगे। मुझमें तो उनका संभव नहीं है, क्योंकि द्रष्टा दृश्य का आश्रय नहीं हो सकता। परब्रह्म में भी उनका संभव नहीं है, क्योंकि असंग अद्वितीय, कूटस्थस्वरूप समब्रह्म अहन्ता और जगत् के जन्म आदि विभ्रमता का आधार नहीं हो सकता है। जैसे शरद ऋतु की धूप से मिश्रित दूर से दिखाई दे रही लहरियों में द्रवीभूत रजत के समान स्फुरित हो रही पुंजीभूतकान्ति लहरियों के अन्दर नहीं है, क्योंकि समीप में जाने पर और लहरियों में डूबकर खोजने पर वह दिखाई नहीं देती और न उनके अन्दर और बाहर स्थित आकाश में है, क्योंकि आकाश में प्राप्य आदि चार प्रकारों की क्रियाओं के फल का दर्शन नहीं होता अतएव लहरों की क्रिया से उत्पन्न फल का वह आश्रय हो यह संभव नहीं है। अतः उस कान्ति के समान अहन्ता और जगत् निराश्रय होने के कारण मिथ्या ही हैं ॥४६॥

अहन्ता और जगत् के भेद का निराकरण कर उनके द्रष्टा के भेद का निराकरण करते हैं।

जिस ज्ञानी का आभ्यन्तरप्रत्यगात्मरूप अहन्तारहित हो गया, जिस ज्ञानी के दृश्य जगत् विभाग आदि नहीं हैं, मन नहीं है और मन के अधीन कल्पनावाले चेतनत्व और अचेतनत्व नहीं हैं, वह एक सर्वात्मा है उससे अतिरिक्त जन (चेतन) नहीं है, क्योंकि भगवती श्रुति भी कहती है : *'नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'* यानी उससे अतिरिक्त द्रष्टा नहीं है ॥४७॥

उसके लक्षणों को कहते हैं।

जो आकाश के समान स्वच्छ है, बाह्यचेष्टाओं का भली–भाँति (शास्त्र और शिष्टाचार के अविरोध से) आचरण करता है और हर्ष, क्रोध आदि विकारों में काठ और ढेले के समान शान्त स्वभाववाला है,

सब जीवों को अपने समान और परद्रव्य को ढेले के समान स्वभाव से ही न कि भय से देखता है वही सम्यक् दर्शनवान् है ॥४८,४९॥

तत्त्वज्ञानी ही समदर्शी होता है, इसमें युक्ति कहते हैं।

मूढ़ पुरुष महान् (हिरण्यगर्भ के ऐश्वर्यपर्यन्त) अथवा अल्प (कौड़ी भर) स्वर्ण, कामिनी आदि विषय को मिथ्या नहीं देखता और उसके अधिष्ठान सद्रूप का उसने अनुभव नहीं किया, इसलिए सन्मात्रस्वभाव से भी उसे नहीं देखता, किन्तु तत्त्वज्ञानी ही उसे पूर्वोक्त रीति से देखता है, इसलिए दोनों प्रकार से उसमें समदर्शिता की उपपत्ति होती है, यह भाव है ॥५०॥

जिसके आशय में समदर्शिता बद्धमूल हो गई वह सब जगत् और सब अवस्थाओं में हर्ष, विषाद आदि से लिप्त नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार आशयवाला ब्रह्मपद को प्राप्त हुआ पुरुष चाहे निष्किंचन रहे चाहे ऐश्वर्य आदि अभ्युदय को प्राप्त हो, चाहे पुत्र, बन्धु-बान्धवआदि की मृत्यु को प्राप्त हो, चाहे पूर्वोक्त अभ्युदय स्थिति को प्राप्त न हो। चाहे उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों से परिपूर्ण और बन्धु-बान्धवों से भरपूर घर में रहे, चाहे सब प्रकार के भोगों से शून्य विशाल अरण्य में रहे। चाहे मदिरापान में निरत होकर प्रबल कामवेदना के साथ नाचे, चाहे सब आसक्ति का त्याग कर निर्विकार हो पर्वत पर तपस्या के लिए जाय, चाहे चन्दन, अगर और कपूर से शरीर का लेप करे, चाहे धधकती हुई ज्वालाओं से प्रचुर विस्तारवाली अग्नि में गिरे, चाहे महापाप करे, चाहे प्रचुर पुण्य करे, चाहे आज ही मृत्यु को प्राप्त हो, चाहे अनेक प्रलयों के बाद मरे, यह (समदर्शी) महात्मा कुछ (अहन्ता का आश्रय मरण, दुःख आदि विकारों से युक्त देह, मन आदि) नहीं होता है, अतएव उस महात्मा ने वह कुछ भी नहीं किया। जैसे कीचड़ में गिरा हुआ सुवर्ण कलंकित नहीं होता वैसे ही वह कलंक को प्राप्त नहीं होता है ॥५१-५६॥

अज्ञ जनों में किसको कलंक होता है यानी कौन कलंकी है, ऐसा प्रश्न होने पर उसका निर्देश करते हैं।

शास्त्रों द्वारा जिनकी अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) प्राप्त नहीं है, ऐसे विषयों के सेवन से दूषित वासनारूप ऐन्द्रिक संवित्,उनके आयतन देह और उनके भोग्य शब्दार्थरूप विषयों से, जो शुक्ति रजत के समान हैं, अहंकार प्रधान लिंगात्मा कलंकित होता है ॥५७॥

किस उपाय से कलंक की शान्ति होती है, ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

वस्तु स्थितिका भली-भाँति ज्ञान होने से सब वस्तुओं के प्रशमन होने के कारण चित्त का कलंक बाधवश असत्ता से स्वतः शान्त हो जाता है ॥५८॥

तब संसार दुःख प्राप्ति का क्या कारण है ? ऐसी शंका होने पर संसार दुःख प्राप्ति का उपाय कहते हैं।

अहंकार के अध्यास से वासनारूपी अनर्थों के उद्‌बुद्ध होने से पुरुष के जन्म में विचित्र सुख-दुःख होते हैं ॥५९॥

अतएव अहन्ता की शान्ति होने से संसारदुःख की निवृत्ति हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे रज्जू में सर्पभ्रान्ति के शान्त होने पर 'यह साँप नहीं है,' – यों निर्भय प्रयुक्त आह्लाद होता है

वैसे ही अहन्ता की शान्ति होने पर चित्त में सर्वदुःख वैषम्यशून्यतारूप समता प्राप्त होती है ॥६०॥

पाप के फल की तरह पुण्य का फल भी ज्ञानी को नहीं होता, यों उसके सब कर्मों की क्षति हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी जो कुछ काम करता है, जो भोजन करता है, जो देता है अथवा जो यज्ञ में हवन आदि करता है वह ज्ञानी का नहीं है न उनमें ज्ञानी निरत ही रहता है। वह चाहे करे, चाहे न करे उनके फल से वह लिप्त नहीं होता है ॥६१॥ ज्ञानी का न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न कर्मत्याग से ही उसका कोई प्रयोजन है। अपने यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से वह आत्मा में ही स्थित है ॥६२॥

फल की इच्छा से उसके उपायभूत कर्म में पुरुष की प्रवृत्ति होती है, किन्तु ज्ञानी पूर्णकाम है, अतएव उसको उक्त फलेच्छा ही उदित नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्थर से मंजरियाँ उत्पन्न नहीं होती वैसे ही ज्ञानी पुरुष से इच्छाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। कदाचित् इच्छाएँ उत्पन्न होती भी हैं, वे जल में तरंगों के समान तद्रूप (उससे अभिन्न) ही हैं यानी कभी वासनाभ्यास वश उदित हुई इच्छाएँ भी परमार्थदृष्टि से उसकी स्वात्मभूत ही हैं ॥६३॥

ज्ञानी की सर्वात्मता को और सबकी तदात्मता को (ज्ञानिरूपता को) दृढ़ करते हुए दोनों की निष्प्रपंच चिन्मात्रता ही परमार्थतः फलित हुई, यह दर्शाते हैं।

ज्ञानी सब जगद्रूप हैं और अखण्ड जगत् ज्ञानीरूप है, क्योंकि इस जगत् में विभागिता (त्रिविध परिच्छेदशालिता) कुछ भी नहीं हैं। भेदकार्य कारणोपाधियों के तत् तत् साक्षिचिन्मात्र होने पर वह (तत्त्वज्ञानी) सर्वजगत् का अधिष्ठान सन्मात्र ही है, कारण कि वह परम, पूर्ण होने से पुरुष और सब दोषों से अस्पृष्ट होने से पावन जो परमात्मा है एकमात्र तद्रूप ही है। इस रीति से सब द्वैतबन्धनों से निर्मुक्त सत्स्वरूपमात्र परिशिष्ट वह नित्यमुक्त हो गया ॥६४॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

अज्ञात स्वस्वरूप चैतन्य द्रष्टा होने के कारण जिस
दृश्य स्वरूपता को धारण करता है वह चित् ही है उससे अन्य नहीं है, यह वर्णन।

इस प्रकार सारे जगत् का चित् से अभेद परमार्थरूप से सिद्ध होने पर व्यवहार अवस्था में भी जगत् वैचित्र्य तत्–तत्रूप चित्स्वरूप ही है, ऐसा फलितार्थ हुआ, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, आत्मरूपी मीर्च के (आत्मा ही हुआ स्वप्रकाशरूप तीक्ष्णता से युक्त मिर्चा, उसके) अन्दर चेतन होने के कारण तीक्ष्णताप्रथितिरूप जो अनुभव है, वही स्वरूपज्ञान का अभाव होने के कारण मैं, तुम आदिरूप घट, दीवार भेद आदिरूप और उसके आधार देश–कालरूप जगत् है। यह चित् का अभेद होने से फलितार्थ हुआ ॥१॥ आत्मरूपी लवण के (नमक के) अन्दर चित् होने के कारण लवणता प्रथितिरूप (प्रसिद्ध) जो वेदन है, वह अहं, त्वम् आदि; घट, दीवार भेद आदिरूप और उसके आधार देश, काल आदि से युक्त जगद्–रूप से स्थित है ॥२॥ आत्मारूपी ईख के अन्दर चित् होने से जो स्वतः माधुर्यवेदन है, वह तत् तत् आकारों से अभिव्यक्त अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप

और घट, दीवार भेद आदिरूप जगत् हैं ॥३॥ आत्मरूप पाषाण का चित् होने से जो स्वतः काठिन्य प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेद आदिरूप और देश, कालादि रूपता को प्राप्त हुआ है ॥४॥ आत्मरूप पर्वत का चेतन होने से जो स्वतः गुरुता प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेदादिरूप भुवनरूप से स्थित है ॥५॥ आत्मरूपी जल का चित् होने से जो स्वतः द्रवत्व आदि में वर्तन है वह आवर्त आदि, अहन्ता त्वन्ता, आदि घट, दीवार भेद आदि तत्-तत् आत्मसत्ता के समान स्थित है ॥६॥ आत्मरूप वृक्ष चित् होने से जो शाखादिरूप से प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेद आदिरूप भुवन आदि के समान वर्तमान और भासमान है ॥७॥ आत्मरूपी आकाश का चित् होने से जो शून्यता प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेद आदिरूप भुवन आदि है, ऐसी कल्पना है ॥८॥ आत्मरूपी आकाश का चित् होने से जो मूर्त पदार्थों के अन्दर छिद्रता प्रथितरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता भेद और शरीर आदि रूपसे प्रदीप्त हैं ॥९॥ आत्मरूप दीवार का जो स्वतः निरन्तर निबिड़ताप्रथितिरूप का अनुभव है वह अहन्ता आदि भेद से दृश्य होने से चित् से व्यतिरिक्त-सा (भिन्न-सा) बाहर स्थित है ॥१०॥ आत्मसत्ता का चित् होने से जो स्वतः एकमात्रसत्ता के रूप से वेदन है वह अहन्तादि, भेदआदि चिदाभास के तुल्य स्थित है ॥११॥ आत्मप्रकाश का जो स्वतः अवभासन है वही अहन्ता त्वन्ता आदि की और वृत्ति भेद से भिन्न चिदाभासों में अनुगत सामान्य की कल्पना करता है वह जीव है ॥१२॥ आत्मरूपचन्द्रमा के अन्दर जो चिद्रूप चिदमृत है उसके द्वारा स्व-प्रकाश रूप से स्वतः आस्वादित वह अहन्ता आदिरूप से आविर्भूत हुआ है ॥१३॥ परमात्मरूपी गुड़ के अन्दर जो चित् स्वादुरूप है उसी का वह अपने में ही अहन्तारूप से स्वतः आस्वादन करता है ॥१४॥ परमात्मारूप मणि का चित् होने के कारण जो अन्दर स्वयं स्फुरण होता है उसीकी चेतनारूप स्वरूप में वह 'अहम्' इत्यादिरूप से कल्पना करता है ॥१५॥

मायिक जगदाकार का जो अभाव हैं, वह केवल स्वप्रकाश स्वात्मानुभव स्वरूप ही है, इसका भलीभाँति परिज्ञान कराने के लिए ही 'पश्यति', 'वेत्ति', 'आस्वादयति', 'आस्वाद्यते' (देखता है, जानता है, स्वाद लेता है, आस्वादित होता है) इत्यादि कर्मकर्तुभाव से व्यवहार होता है, न कि तथोक्त जगदाकार अनुभव स्वप्रकाश स्वात्मानुभव से भिन्न है, यों उनके भेद का साधन करने के आशय से वैसा व्यवहार होता है, यों कहते हैं ।

यह आत्मा यहाँ पर परमार्थतः जानने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण जानने योग्यवस्तु का अपने अन्दर न अनुभव करता है और स्वाद लेने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण न तो आस्वाद्य वस्तु का स्वाद लेता है ॥१६॥ यह आत्मा विकार होने योग्य वस्तु का अभाव होने पर अपने भीतर विभिन्न जीवादि चैतन्य रूप से कुछ भी विकार नहीं करता है और प्राप्त वस्तु के न रहने से उसकी प्राप्ति नहीं करता है ॥१७॥ असत् जगदाकार का अधिष्ठानभूत ही अनन्त आत्मा, जिसका कि स्वरूप परिपूर्ण है, सर्वदा एकरूप होकर अपने स्वरूप में ही महान् पर्वत के समान अवस्थित है ॥१८॥

तब 'यदात्ममरिचस्य' इत्यादि कथन का क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्न पर उसका अभिप्राय कहते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी, इस वचोभंगी से यानी 'यदात्ममरिचस्य' इत्यादि वाक्यों से मैंने आपको इसका

दिग्दर्शन कराया कि अहंतादि (जीवभाव आदि) एवं जगत्तादिका (जगद्भाव आदि का) तनिक भी भेद नहीं है ॥१९॥ न चित्त है, न प्रमाता है और न जगदाकार आदि विभ्रम है, पहले वर्षाकाल में बरस चुकने के कारण बाद में शरत्–काल में शब्दशून्य हुए मेघ के समान शुद्ध अर्थात् अधिष्ठान–सदात्मरूप से परिशिष्ट बाधित जगत् शान्त हुआ ही शान्ति को प्राप्त होता है ॥२०॥ जैसे द्रवस्वभाव होने के कारण जल ही जल में आवर्त आदि भाव को प्राप्त होता है, वैसे ही मायावी सर्वज्ञ ही अपनी माया से संयुक्त ज्ञप्तिरुप आत्मा में अहंतादिरूपको यानी जीव और जगत् के रूप को प्राप्त होता है ॥२१॥ जैसे जल में द्रवत्व रहता है, जैसे सदा गमन करनेवाले वायु में स्पन्द रहता है, वैसे ही परमार्थरूप से केवल ज्ञप्तिस्वरूपवाले सर्वज्ञ परमात्मा में अहंता, देश काल आदि रहते हैं ॥२२॥

यदि जीव का स्वरूप और जगत् का स्वरूप दोनों ज्ञप्ति से भिन्न नहीं है, तब ज्ञप्ति के जीव और ईश्वरभाव में परस्पर क्या भेद रहा ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

ईश्वर अपने शरीर भाव में निरतिशय आनन्दरूप स्वरूपज्ञान को ज्ञान की अभिवृद्धिसे यानी समग्र आवरण और परिच्छिन्नतासे शून्य ज्ञान की अभिवृद्धि से सदासर्वदा ही जानता है और अहंकार एवं स्थूल–देहस्वरूप जीवभाव में तो चेतनरूप होता हुआ भी जीवन के हेतुभूत प्राण, इन्द्रिय और विषयों के साथ अनेकविध अध्यासों के कारण 'मैं जीव आदिस्वरूप वही आत्मा हूँ' यों जानता है, तात्त्विक ज्ञान उसे नहीं रहता, यही उनमें भेद है ॥२३॥

इसलिए जीव की ज्यों–ज्यों भ्रान्ति होती जाती है, त्यों–त्यों ईश्वर का विवर्त (उपादान की सत्ता से विषम सत्तावाला परिणाम) होता जाता है। यह कहते हैं।

जिस–जिस कारण और कर्मों की वासना से जिस प्रकार के विषय परिज्ञान से अज्ञानी जीवात्मा को जिस दर्शन, लाभ और उपभोग के वैचित्र्य से जिस–जिस तरह के प्रिय, मोद, प्रमोद आदि विभिन्न विभिन्न प्रकार के उपभोगों का आविर्भाव होता है अथवा वह अनन्य स्वरूप में जैसी भोक्ता, भोग्य और भोग की विचित्रतारूपी अन्यता का अनुभव कर लेता है, उस–उस जीव की काम आदि की वासना से वह परमेश्वर वैसे–वैसे अपने अंगों को विवर्तित करता है यानी वैचित्र्य धारण करता है ॥२४॥ जब इसने (जीव ने) सत्–शास्त्रों से और सद्–गुरुओं के उपदेशों से यह जान लिया कि इस भोग्य जगत् का जीवन (सार) या परमार्थ स्थिति अधिष्ठानसन्मात्ररूप स्फूर्ति ही है और भोक्ता का जीवन (सार) जिसके अधीन समस्त जीवों के जीवन है ऐसा आनन्दस्वरूप जीवन ही है, तब भोग्य और भोक्ता दोनों के अधिष्ठानों की चिद्रूपता ही अवशिष्ट रह गई, ऐसी स्थिति में जीव और ईश्वर का कभी भी भेद नहीं है ॥२५॥

जीव और ईश्वर का भेद करनेवाले अज्ञान के विनष्ट हो जाने पर प्राज्ञ और तुरीय का भेद भी निवृत्त हो जाता है, अतः अखण्डपूर्णानन्दैकरस चिन्मात्र का साम्राज्य सिद्ध हुआ, यह कहते हैं।

जैसे वास्तव में जीव और ईश्वर का भेद नहीं है, वैसे ही इस प्राज्ञ और तुरीय दोनों का भेद भी नहीं है। श्रीरामजी, असलियत में आप उन सबको शान्त अखण्ड पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप ही जानिये ॥२६॥

निचोड़ अर्थ का अनुवादपूर्वक उपसंहार करते हैं।

समस्त जगत् पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप, आनन्दैकरस, विषय एवं अपने भेदक धर्मों से शून्य, एक,

आदि–मध्य से शून्य, प्रशान्त ब्रह्मस्वरूप ही है। ऐसी स्थिति में 'सर्वं प्रशान्तम्' (सब प्रशान्त ब्रह्मरूप है) इत्यादि तात्कालिक शब्दमयी दृष्टिपदों से बोधित होनेवाले अर्थों के अभेदसंसर्ग का उल्लेख करनेवाली आहार्य (बनावटी) भेददृष्टि साक्षात् प्रयोजन न होने के कारण मिथ्या ही है, क्योंकि विरोधका भान होने पर भागत्याग–लक्षणा का आश्रय ले कर लक्ष्यार्थ अखण्ड का बोध कराना ही उसका प्रयोजन है। उक्त वाक्य से बोध्य अखण्डरूप अर्थ तो ॐकार से लक्षित जो विशुद्ध चैतन्य है, वहीं है, अतएव यह सब ॐकार स्वरूप है, यही कहना चाहिए। ॐकार से विशुद्ध चैतन्य यों लक्षित होता है – ॐकार, जगत् और ब्रह्म का एकीकरण कर तदनन्तर विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीयस्वरूप अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा यों ॐकार के चार तरह पादों का विभाग कर पूर्व पूर्व पादों का उत्तरोत्तर पादों में उपसंहार कर लेने के अनन्तर चतुर्थ आधी मात्रा से असंसृष्ट अद्वय पूर्णानन्दएकरस नित्य–अपरोक्ष प्रत्यक्–चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म बोधित होता है ॥२७॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

किरात देश के सुरघु के वैराग्य का वर्णन तथा उसके प्रति मांडव्य का उपदेश।)

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, पहले के मुनि इसी विषय में यानी शब्दरूपा भेददृष्टि केवल बोध के लिए है, इस कहे गये अर्थ में ही प्राचीन इतिहास का, जिसमें भीलों के राजा सुरघु का अत्यन्त विस्मय करानेवाला वृत्तान्त है, उदाहरण देते हैं ॥१॥

सुरघु के निवास देश को बतलाने के लिए उसके पास के हिमालय के शिखर का वर्णन करते हैं।

यहाँ हिमालय की चोटी कैलास नाम का पर्वत है, वह क्या है ? उत्तरदिशा का सार है, भूमि से निकले हुए कपूर का समूह है, शिवजी का कल्याणमय हास्य है, विशुद्ध चन्द्रमा का तेजःपुंज है अथवा उत्तर दिशा का सार, शिवजी का हास्य और चन्द्रमा का प्रकाश ये सब पृथ्वी में आकर मानों एक कपूर का ढेर बन गये हैं। पर्वतों में श्रेष्ठ हिमालय के द्वारा धारण की गई शिखरो की परम्परारूप मोतियों की माला का सुमेरु मणि है अथवा यों कहिये कि वह शैलों में विहार करनेवाले हाथियों से निकले हुए मुक्ता समुदाय का नायक संग्रहक राशि है। भगवान् विष्णु के क्षीर सागर की तरह सुरपति इन्द्र के स्वर्ग की तरह और ब्रह्मा के आशय विष्णु नाभिकमल की तरह वह शशिमौली पार्वती पति का तो घर अर्थात् ससुर द्वारा निर्मित निवास स्थान है ॥२–४॥ दिव्यांगनाएँ जिस पर आरूढ़ है, ऐसे अतिचंचल रत्नों की शलाकाओं से युक्त रुद्राक्ष वृक्षों में लटक रहे झूलों से वह ऐसे शोभता है, जैसे समुद्र चंचल रत्न रूपी शलाकाओं से युक्त लहरियों से शोभता हो ॥५॥ जहाँ प्रमत्त प्रमथगणों की अंगनाओं के चरणों से विताड़ित विलासी शोकरहित पुरष ऐसे भले लगते हैं, जैसे अशोक वृक्ष ॥६॥ उस शिखर पर जिन–जिन दिशाओं में भगवान् शंकर का विचरण होता है उन–उन दिशाओं में (मस्तक में धारित चन्द्रमा की ज्योत्सना के सम्पर्क से) चन्द्रकान्त मणि के द्रवों से प्रपात स्थानों में झरने बह रहे हैं और जिन दिशाओं में उनका विचरण नहीं होता, उन दिशाओं में बहते हुए झरने भी रुक जाते हैं ॥७॥ अनेक ब्रह्माण्डों के आधार ब्रह्म की नाईं जो लताओं, वृक्षों, गुल्मों, बावड़ियों, तालाबों, नदियों, नदों, पशुओं, हरिणों

और भूतों का आधार है अथवा उन लता आदियों से वह समस्त ब्रह्माण्ड की तरह आच्छादित है ॥८॥ उस हिमालय के शिखरभूत कैलास के मूल देश में हेमजट (सुवर्ण के सदृश पीत जटावाले) नाम के किरात उस भाँति निवास करते थे, जिस भाँति वटवृक्ष के मूल देश में चींटियाँ निवास करती है ॥९॥ कैलास पर्वत के नीचे पर्वतों के अरण्यों में उत्पन्न होनेवाले रुद्राक्ष और अन्यान्य वृक्षों के फल, पुष्प, कन्दमूल आदि से वे क्षुद्र किरात अपना जीवन व्यतीत करने के कारण उल्लू के समान निकट–जीवी होकर रहते थे ॥१०॥ उन किरातों का एक राजा था, वह उदारचेता और शत्रुओं के दुर्गों का जीतनेवाला था, विजयलक्ष्मी तो मानों उसके हाथ थी। प्रजा के पालन में दक्ष था, उसका नाम था–सुरघु, वह अत्यन्त बली था, बड़े–बड़े शत्रुओं के दर्प को देवों के समान मिनट भर में विचूर्णित कर देता था, पराक्रम में वह सूर्य के सदृश था, गति में शरीरधारी वायु के तुल्य था। अपने अनेकविध राज्य वैभवों से तथा विविध धन संपत्तियों से उसने गुह्यकों के नायक कुबेर को मात कर दिया था। उच्च आत्मज्ञान के कारण सूराधीश इन्द्र के गुरु बृहस्पति के और रस, अलंकार आदि से परिपूर्ण काव्यों की विविध रचनाओं के कारण असुर देश के शुक्राचार्य के ऊपर उसने विजय पा रक्खी थी ॥११–१३॥ जैस सहस्रांशु दिवाकर (सूर्य) किसी प्रकार की अंगों में थकावट का अनुभव किये बिना क्रमशः एक के पीछे एक अनेक दिवसों का निर्माण करते हैं, ठीक उसी तरह वह सुरघु नाम का राजा अंगों में किसी प्रकार की थकावट का अनुभव किये बिना जिस समय जो राजकार्य प्राप्त होते गये, उनको निग्रह और अनुग्रह की व्यवस्था से करता था ॥१४॥ अनन्तर निग्रहानुग्रह–व्यवस्था से किये जानेवाले उन राजकार्यों से उत्पन्न सुख और दुःखों के कारण उसकी पारमार्थिक गति ऐसे लुप्त हो गई जैसे कि फंदे में फँसे पक्षी की गति लुप्त हो जाती है ॥१५॥

दुःख से जनित चिन्ता और शोक को दिखलाते हैं।

कोल्हूयन्त्र में जैसे तिल पीसे जाते हैं, वैसे इन दुःखी प्रजाजनों को बलपूर्वक मैं क्यों पीसता हूँ यानी दुःख दे रहा हूँ ? सभी प्राणियों को वैसे ही दुःख होता है, जैसे कि मुझे होता है ॥१६॥

कर्तव्य के संशय में प्रथम कोटि को दिखलाते हैं।

इसलिए इन दुःखीजनों को मैं धन दूँ, इनके ऊपर निग्रह करना व्यर्थ है जैसे धन मिलने पर मैं आनन्दित होता हूँ, वैसे ही सम्पूर्ण मनुष्य धन से ही आनन्दित होते हैं ॥१७॥

अब दूसरी कोटि बतलाते हैं।

अथवा धर्मशास्त्र ने जिस पुरुष के लिए जैसा निग्रह यानी वध, बन्धन आदि दण्ड योग्य ठहराया हो, उसे वैसे ही दण्ड दूँ, क्योंकि बिना दण्ड दिये यह प्रजा अपनी–अपनी मर्यादा में ऐसे प्रवृत्त नहीं होती, जैसे कि जलके बिना नदी प्रवृत्त नहीं होती ॥१८॥ वध और बन्धन आदि से यह मेरा दण्डनीय है, यह पुरस्कार आदि से सदा अनुकम्पनीय है, भाग्यवश आज सुखी हूँ तो दुर्भाग्यवश आज दुःखी हूँ, यह सब परिशेष में कष्ट ही है, हा कष्ट ! ॥१९॥ जैसे सोये हुए प्यासे पुरुष का बहुत काल की तृष्णा से युक्त मन जल के बड़े बड़े आवर्तों में घूमकर कहीं एक जगह विश्राम नहीं पाता, वैसे ही भूमि पति सुरघु का उपर्युक्त विकल्पों से चंचल हुआ मन कहीं एक जगह विश्राम को प्राप्त नहीं हुआ ॥२०॥ किसी एक समय जैसे देवर्षि नारद इन्द्र के घर आते हैं वैसे ही जिन्होंने समस्त दिशारूपी मण्डलों में भ्रमण किया

है, ऐसे महर्षि माण्डव्य उस राजा के घर पर आये ॥२१॥ इस राजा ने सम्पूर्ण शास्त्रों के विज्ञाता, सन्देहरूपी दुष्ट वृक्ष-स्तम्भ के छेदन में कुठारस्वरूप उन महामुनि माण्डव्य का पूजन किया और पूछा ॥२२॥ सुरघुने कहा : हे महामुने, जैसे भूमि पर वसन्त ऋतु के अथवा विष्णु के आने पर लोक परम सुखी होते हैं, वैसे ही आपके शुभागमन से मैं अत्यन्त सुखी हुआ ॥२३॥ भगवान्, आज मैंने पुण्यवान् जनों में धर्मतः प्रथम स्थान प्राप्त किया, क्योंकि कमल को विकसित करनेवाले सूर्य के समान आपने मेरे ऊपर कृपादृष्टि की है ॥२४॥ सम्पूर्ण धर्मों के जाननेवाले हे भगवान्, आप परम पद में चिरकाल से ही विश्रान्ति पा चुके हैं, अतः जैसे सूर्य अन्धकार को काट डालता है, वैसे ही मेरे इस संशय को काट दीजिये ॥२५॥ महाराज बड़ों के संसर्ग से भला किसको दुःख से छुटकारा नहीं होता ? दुःख के स्वरूप को भली-भाँति जाननेवाले विज्ञ जन सन्देह को ही महान् दुःख कहते हैं ॥२६॥ जैसे सिंह के नख हाथी को उत्पीड़ित करते हैं, वैसे ही मेरे शत्रु, मित्र आदि के शरीरों के विषय में मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रह से जनित चिन्ताएँ मुझे अत्यन्त उत्पीड़ित कर रही हैं ॥२७॥ हे भगवान्, इसलिए सूर्य की किरणों के समान मेरी बुद्धि में सर्वदा सम दृष्टि का उदय जैसे हो और विषमदृष्टि का उदय जैसे न हो, वैसा कृपापूर्वक कीजिये ॥२८॥ माण्डव्य ने कहा : राजन, जैसे (धूप से) कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही वैराग्य, त्याग आदि स्वयत्न से तथा आत्मसाक्षात्कार होने तक निरन्तर अनुष्ठित श्रवण, मनन आदि आत्मा के अभिव्यंजक उपायों से यह मन की मृदुता यानी हर्ष, विषाद आदि कण्टकों से होनेवाली छेदन योग्यता विनष्ट हो जाती है ॥२९॥ हे राजन्, जैसे शरत्-काल के आगमन मात्र से बड़े-बड़े मेघमण्डल विलीन हो जाते हैं, वैसे ही केवल अपनेपन का विचार करने से ही मन का भीतरी संताप शीघ्रातिशीघ्र विलीन हो जाता है ॥३०॥ हे राजन्, अपने ही मन से भीतर विचार कीजिये कि जो अपने सम्बन्धी शत्रु, मित्र आदि, अपने शरीर में रहनेवाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि वस्तुएँ है, वे तत्त्वतः कौन है एवं युक्ति से उनका प्रकार क्या है ? ॥३१॥ मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ?, यह दिखाई देनेवाला जगत् क्या है ? कैसे जन्म और मरण होते हैं ?, इसका भी अन्दर से विचार कीजिये, यों विचारने से आप महत्ता को (अविचार से भासनेवाली मिथ्या परिच्छिन्नता के निकल जाने के कारण अपरिच्छिन्नता को) अनायास प्राप्त हो जायेंगे ॥३२॥ जब तथोक्त विचार से अपने सत्स्वरूपभूत स्वभाव को आप जान जायेंगे, तब आपके निश्चल मानस को हर्ष, अमर्ष आदि अवस्थाएँ उत्तोलन नहीं कर पायेगी अर्थात् उन्नमन और आनमन के हेतु पदार्थों से तराजू की स्थिति जैसे अनियत (असंतुलित) हो जाती है, वैसे आपके अन्तःकरण की स्थिति अनियत नहीं होगी ॥३३॥ जैसे तरंग अपने उत्तंग स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध जलस्वभाव होकर शान्त हो जाता है, वैसे ही चिन्ताज्वर से मुक्त हुआ आपका मन अपने संकल्प विकल्पात्मक स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध ब्रह्मस्वभाव हो कर शान्ति को, निर्विक्षेपता को प्राप्त हो जायेगा ॥३४॥

तब क्या मन की सत्ता ही विनष्ट हो जायेगी ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे पहले मनु के बाद कलिकाल को प्राप्तकर अनेकविध पापों से आक्रान्त हुआ भूमण्डल फिर दूसरे मनु की गति में विद्यमान रहता हुआ ही पापों से छुटकारा पाता है, वैसे ही जीवन्मुक्त के व्यवहार में समर्थ होने से मन भी विद्यमान रहता हुआ ही पहले के अपने रूप को छोड़ देता है ॥३५॥

केवल दुःखनिवृत्ति ही तत्त्वज्ञान का फल नहीं है, किन्तु जिस साम्राज्य में ब्रह्मा आदि देवताओं के ऊपर भी अनुकंपा की जाती है, वैसा निरतिशयानन्द साम्राज्य भी फल है, ऐसा कहते हैं।

जैसे लोक में प्रजाजन पालन करनेवाले सन्तुष्ट पिता की कृपा के पात्र होते हैं, वैसे ही वे विभव सम्पन्न ब्रह्मा आदि बड़े देवता भी विदित तत्त्व अतएव सन्तुष्ट आपकी कृपा के पात्र होंगे ॥३६॥

जब आकाश आदि की भी महत्ता उसकी सत्ता के अधीन है, तब उसकी सर्वातिशायिनी (सभीसे बढ़ी चढ़ी) महत्ता में तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

हे राजन्, विवेक जनित ज्ञानरूप दीप से आत्मतत्त्व को जान लेने पर आप मेरू, समुद्र और आकाश को भी उत्तम अर्थ देनेवाली महत्ता पायेंगे ॥३७॥ हे साधो, जैसे गाय के खुरमात्र जल में हाथी नहीं डूबता, वैसे ही महत्त्व प्राप्त कर लेने पर आपका अन्तःकरण संसारिक वृत्तियों में नहीं डूबेगा ॥३८॥ राजन्, जैसे शिथिल शरीरवाला मच्छर गाय के खुरमात्र जल में डूब जाता है, वैसे ही काम, कार्पण्यआदि दोषों से दूषित मन तुच्छ कार्य में भी मोह को प्राप्त हो जाता है ॥३९॥ केवल दृश्य का अवलम्बन करनेवाली अन्तःकरण की वासनारूपी उक्त अपनी दीनता से कीड़े की भाँति आप कीचड़ में फँस रहे हैं ॥४०॥

तब किन किन विषयो में या कितने समय तक वैराग्य करना चाहिए ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे महाबाहो, जब तक स्वयंज्योति परमात्मा का ही अवशेषरूप से अनुभव नहीं किया जाता जब तक समस्त प्रपंच का स्वयं परित्याग करना चाहिए ॥४१॥

अनेक तरह की श्रुतियों और शास्त्रों का पर्यालोचन करना चाहिए। अनेक तरह की श्रुतियों और शास्त्रों का पर्यालोचन भी तब तक करना चाहिए, जब तक कि आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार न हो, ऐसा कहते हैं।

जैसे जिस धातु में सुवर्ण का अस्तित्व है, उस धातु का तब तक शोधन किया जाता है, जब तक केवल सुवर्ण अवशिष्ट नहीं रह जाता, वैसे ही तब तक समस्त अध्यात्म आदि शास्त्र देखे (बिचारे) जाते हैं, जब तक कि केवल आत्मा प्राप्त नहीं हो जाता है ॥४२॥ सर्वात्मक बुद्धि से सर्वदा सभी प्रकारों से सब देशों में सभी दृश्यों का परित्याग कर पूर्णात्मा अपने आप से ही प्राप्त होता है। एकाध बार, किसी एक जगह, किसी प्रकार कुछ विषयों का परित्याग करनेमात्र से वह प्राप्त नहीं होता, यह तात्पर्य है ॥४३॥

कहे गये ही अर्थ को व्यतिरेक से भी दृढ़ करते हैं।

जब तक सम्पूर्ण दृश्यों का परित्याग नहीं होता, तब तक आत्मा का लाभ नहीं होता यानी साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि सभी अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो शेष रहता है, वही आत्मा कहा जाता है ॥४४॥ साधो, व्यवहार में भी जब तक विरोधी वस्तु को नहीं छोड़ते तब तक सामान्य गाय, धन आदि वस्तु भी जब प्राप्त नहीं की जा सकती, तब असाधारण आत्मा के लाभ की तो कथा ही क्या ? ॥४५॥ राजन्, अन्यान्य सब कार्यों को छोड़कर जिस विषय की प्राप्ति के लिए आत्मा स्वयं सब प्रकार से प्रयत्न करता है, उसी को प्राप्त करता है, दूसरे को नहीं ॥४६॥ इससे आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए सभी विषयों का परित्याग करना चाहिए सबका परित्याग करने पर जो कुछ (जिसे छोड़ नहीं सकते, ऐसा तत्त्व) दिखाई देगा, वही परम पद है ॥४७॥ मणियों में सूत की नाईं सम्पूर्ण कार्य और कारणों की परम्परारूप जगत् में अनुगत सद्रूप वस्तु में केवल अपनी कल्पना से अभिव्यक्त मिथ्याभूत

सद् से भिन्न वस्तुओं का निःशेष परित्याग कर, अनन्तर अपने (मन के) स्वरूप का भी मूलअज्ञान का नाश होने से बाध–द्वारा प्रविलापन कर मन जिस सच्चिदानन्दैकमात्र वस्तु को प्राप्त होता है, वही पर ब्रह्म का स्वरूप है ॥४८॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

एकान्त में बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यों का परित्याग कर रहे
राजा सुरघु को विचार से स्वात्मलाभ हुआ, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त प्रकार से इस सुरघु राजा को उपदेश देकर भगवान् माण्डव्य अपने सुन्दर मुनियों के रहने योग्य देश की ओर चले गये ॥१॥ तत्त्वद्रष्टा उक्त मुनि के चले जाने पर उस राजा ने एकान्त और अनिन्दित स्थान में जाकर बुद्धि से विचार किया कि स्वयं मैं कौन हूँ ? ॥२॥

राजा पहले बाह्य दृश्यों में आत्मता और आत्मीयता का विचार से निरास करते हैं।

मैं न मेरु पर्वत हूँ और न मेरा मेरू पर्वत है, मैं न जगत् (ऊपर और नीचे के लोक) हूँ और न मेरा जगत् है, मैं न पर्वत हूँ और न मेरे पर्वत हैं, मैं न पृथ्वी हूँ और न मेरी पृथ्वी है। मेरा न तो यह किरातमण्डल है और न मैं ही किरातमण्डल हूँ, केवल अपने संकेत से यानी सब लोगों की संमति से पट्टाभिषेक आदि के द्वारा मैं राजा बनाया गया हूँ, यों अपनी कल्पना से ही मेरा केवल देश ही है। मैंने यह कल्पना छोड़ दी, मैं न देश हूँ और न मेरा यह देश है, अब नगर बचा, पर इस नगर के विषय में भी कल्पना त्याग से यही निश्चय निकलता है–ध्वजाओं और बागोंकी पंक्तियों से युक्त सेवक और उद्यानों से भरी, हाथियों, अश्वों और सामन्तों से युक्त नगरी न तो मैं हूँ और न तो नगरी मेरी है। मिथ्याभूत कल्पना से सम्बन्ध रखनेवाला तथा कल्पना का विनाश होने पर नष्ट हो जानेवाला यह भोग समुदाय तथा भार्या आदि कुटुम्ब परिवार मैं नहीं हूँ और न तो वह सब मेरा ही है ॥३–७॥ एवं सेवकों, सेनाओं, वाहनों और अन्य नगरों से युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और मेरा राज्य नहीं है, क्योंकि घुँघची और कर्षापण के सम्बन्ध की नाईं यह सम्बन्ध अनादि अन्ध परम्परा के व्यवहार से केवल कल्पित है ॥८॥

केवल कल्पना के त्यागरूप उपाय से बाह्य विषयों के साथ अपने सम्बन्ध का निरास कर अब अचेतन होने के कारण देह, इन्द्रिय आदि के साथ भी आत्मा के सम्बन्ध का निरास करने के लिए आरम्भ करते हैं।

हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त केवल देह मैं हूँ, ऐसा हो सकता है अतः इस विषय में भी मैं अपने भीतर पूर्णरूप से शीघ्र विचार करता हूँ॥९॥ इस शरीर में विद्यमान मांस और अस्थि मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे अचेतन हैं, मेरे सम्बन्ध को भी वे (माँस और अस्थि) प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जल में कमल की भाँति मैं असंग हूँ॥१०॥ मांस जड़ है, अतः मांस मैं नहीं हूँ, (रक्त जड़ है, अतः) वह भी मद्रूप होने में समर्थ नहीं है। हड्डियाँ भी जड़ हैं, अतः हड्डियाँ भी मैं नहीं हूँ और न किसी हालत में वे मांस आदि मेरे हैं ॥११॥ कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ) मैं नहीं हूँ और मेरी कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं। इस

देह में जो कुछ जड़ पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं चेतन हूँ ॥१२॥ भोग मैं नहीं हूँ और भोग मेरे नहीं है, मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं और जड़ एवं असत् स्वरूपवाली ज्ञानेन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ ॥१३॥ संसाररूपी दोष का मूल कारण मन मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह अचेतन है। अनन्तर अब दृष्टात्मक (जाने जाते हैं, इसलिए दृष्टात्मक) बुद्धि और अहंकार भी मैं नहीं हूँ और वे मेरे नहीं हैं क्योंकि अन्तःकरण की अवस्थारूप होने के कारण वे तो जड़ हैं ॥१४॥ जिसका स्वरूप अति चपल है, ऐसा शरीर से लेकर मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि तक जो स्थूल–सूक्ष्म भूतों का समूह है, वह भी मैं उक्त रीत से नहीं हूँ। अब जो कुछ बचा है उसे भी देखकर विचारता हूँ ॥१५॥ अब बाकी तो प्रमाता जीव है, वह विषयों के साथ जब प्रकाशता है, तब 'मैं इसे जानता हूँ' यों त्रिपुटी–साक्षात्कार से बोधित होनेवाला यह प्रमाता आत्माका तात्त्विक स्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥१६॥ इसी युक्ति से साक्षिसंवेद्य प्रमिति और प्रमेयको छोड़ता हूँ, क्योंकि चेत्य नहीं हूँ, यह निश्चित है। (इतने विचार के अनन्तर अब) इस निश्चय पर आरूढ़ हुआ कि समस्त विकल्पों से शून्य, विशुद्ध साक्षीरूप शेष आत्मा मैं हूँ ॥१७॥

'हार कहीं खो गया' इस भ्रम से यत्र तत्र खोज रहे पुरुष को अपने गले में ही उसे दिख जाने पर हार प्राप्ति जैसे आश्चर्यभूत होती है, वैसे ही उस साक्षी के केवल दर्शन से ही सुरघु को आत्मप्राप्ति आश्चर्यभूत हुई, उसे दिखलाते हैं।

अहो अत्यन्त आश्चर्य का विषय है अनादि काल से लेकर प्रयत्न कर रहा लब्धात्मा भी मैं आज ही परम पुरुषार्थस्वरूप फलका भाजन हुआ, (क्योंकि आज तक मैं अज्ञान में डूबा हुआ था) यह मैं तत्पदबोध से असीम आत्मरूप हूँ, इस परम आत्मा का कहीं पर अन्त नहीं है ॥१८॥

अपने अनुभव के साथ 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है) इत्यादि श्रुतियों का संवाद देते हैं।

जैसे मोतियों में अनुस्यूत रूप से सूत अवस्थित रहता है, वैसे ही ब्रह्मा, इन्द्र यम, वायु और समस्त प्राणियों के समूह में यह निखिल ऐश्वर्यों से परिपूर्ण तत्पदबोध से आत्मा अनुस्यूतरूप से अवस्थित है ॥१९॥ उस प्रकार की यह चितिशक्ति समस्त मलों से परे हैं, विषयों के आमय से (बीमारी से) वर्जित है, समस्त दिशाओं के मण्डलों को परिपूर्ण यानी व्याप्त कर लेनेवाली है और अज्ञानियों के भय की हेतु होने से भयंकर आकार धारण करनेवाली है ॥२०॥ यह चितिशक्ति समस्त मानसिक वृत्तियों में निवास करती है, (क्योंकि 'प्रतिबोधविदितं मतम्' यानी जब समस्त वृत्त्यात्मक बोधोंमें पड़े हुए चित्प्रतिबिम्बों के स्वरूप से ब्रह्म विदित होता है, तभी ब्रह्म ज्ञात होता है, यह श्रुति है) सूक्ष्म यानी इसका परिज्ञान करना साधारण खेल नहीं है, अत्यन्त कठिन है, उत्पत्ति और विनाश दोनों से रहित है, पाताल से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त भुवनों के भीतर निवास करती है एवं समस्त शक्तियों की मंजुषा (पिटारी) है ॥२१॥ यह चिति निरतिशयानन्दरूप सर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण है , समस्त प्रकाश–योग्य पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली दीपिका है और सम्पूर्ण संसाररूपी मोतियों की मालाको गुहने के लिए विशाल सूत्र है ॥२२॥ यह चिति शक्ति सम्पूर्ण आकार और विकारों से युक्त है, समस्त विकारों से रहित है तथा सब भूतों के समूह की रूपता को प्राप्त हुई इस चितिशक्ति ने सदा सर्वभाव को प्राप्त किया है ॥२३॥ यही चिति शक्ति चौदह भुवनों के भेद से चौदह प्रकार के भूतों के संगों को उनके अन्दर

धारण करती है। अनुभवात्मक जगत् की यह कल्पना भी इस चितिशक्ति को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है ॥२४॥ सुख और दुःख की अवस्था का जो परिज्ञान होता है, वह तो केवल मिथ्या अवभास है और नाना प्रकार के आकारों से अवभासमान जो आत्मा है, वह सब कुछ परा चिति ही है ॥२५॥ यही चिति समस्त जगत् में अनुगत मेरी आत्मा है, जो मेरी बुद्धि का साक्षी है, वह यही चिति है। वहाँ यह चितिशक्ति द्रष्टा और दृश्य के भेद से काल्पनिक शरीरवाली होकर 'मैं राजा हूँ' ऐसा भ्रम पैदा करती है यानी ज्ञानदशा के पहले उसी ने 'मैं राजा हूँ' यह भ्रम पैदा किया था, यह भाव है ॥२६॥ शरीररूपी रथ पर आरूढ़ हुआ मन इसी चितिशक्ति के प्रसाद से अनेक तरह के संसारों की लीलाओं में जाता है, दौड़–धूप करता है और नृत्य करता है ॥२७॥ वास्तव में ये मन, शरीर आदि वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं। तुच्छ मन आदि के नष्ट हो जाने पर भी इस आत्मा का कुछ बिगड़ने नहीं पाता ॥२८॥ चित्तरूपी नटों द्वारा बनाया गया जगज्जालरूपी यह नाटक इसी एक साक्षी रूपी बुद्धि से, जो कि दीपक की शिखा की नाईं है, देखा जाता है ॥२९॥ अत्यन्त दुःख की बात है कि निग्रह और अनुग्रह की स्थिति में मुझे देहविषयिणी चिन्ता व्यर्थ ही हुई, क्योंकि यहाँ परमार्थ में यह कुछ भी नहीं है ॥३०॥ अहो, अब तो मैं जाग गया हूँ, मेरा असद्विचार नष्ट हो गया, जो दृष्टव्य था, उसे समग्ररूप से मैंने देख लिया और यह जो प्राप्तव्य था, उसे प्राप्त कर लिया ॥३१॥ जगत् में जो यह सब कुछ दृश्य दिखाई देता है, वह चिन्निष्पन्दांश मात्रांश से चित् का निष्पन्द यानी माया से जीवभाव का विभ्रम, उसका अंश है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह अवयवों से युक्त लिंग शरीर का भ्रम, इसकी मात्राएँ हैं –बाह्य और अन्तःकरण के अभेद विभ्रम, इनका अंश है – जाग्रत् और स्वप्न के दृश्यों का विभ्रम, निष्कर्ष यह निकला कि माया से होनेवाले चित् के जीवभ्रम के अंशभूत सत्रह अवयवोंवाले लिंग शरीर के मात्राभूत बाह्य और अन्तःकरण के अभेद विभ्रमों के अंश जाग्रत् और स्वप्नों के दृश्यों के विभ्रम से) भिन्न दूसरा स्थायी यानी त्रिकालाबाध्य कुछ भी नहीं है ॥३२॥

पूर्वोक्त प्रणाली से जब जगत् मिथ्या सिद्ध हुआ, तब निग्रह और अनुग्रह तथा उनके हेतु हर्ष और अमर्ष भी निराश्रय, प्रकाररहित, विषयरहित और स्वरूप–रहित ही सिद्ध हुए, ऐसा कहते हैं।

लोक में वे निग्रह और अनुग्रह कहाँ है, किस तरह के हैं, किस मैं रहते हैं, उनका रूप क्या है, इसी तरह उनके हेतु हर्ष और अमर्ष की परम्परा भी कहाँ है अर्थात् सभी व्यर्थ यानी मिथ्या ही हैं ॥३३॥

आत्ममोह के निकल जाने पर सुख और दुःख की प्राप्ति भी नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

क्या सुख है ? और क्या दुःख है ? यानी काल्पनिक सुख और दुःख दोनों ही मिथ्या हैं। यह सब कुछ व्यापक परब्रह्म स्वरूप ही है। पहले मैं व्यर्थ ही मूढ़ बन कर बैठा था, अब भााग्यवश अपने वास्तव स्वरूप में अवस्थित हुआ हूँ॥३४॥ जिसका आनन्दैकरस पूर्वस्वभाव से अनुभव होता है, ऐसा ब्रह्मरूप आलोक में क्या शोक है, क्या मोह है, क्या प्रेक्षण है, क्या कार्य है, क्या अवस्थान है और क्या गमन है अर्थात् शोक आदि की तनिक भी संभावना नहीं है॥३५॥ अलौकिक चमत्कार से परिपूर्ण यह चिदाकाश नाम की वस्तु सबका अतिक्रमण कर यानी सबसे परे अपना अस्तित्व रखती है। हे निरतिशयानन्दरूपी सौन्दर्य से परिपूर्ण, निःशेषतत्त्वरूप निर्गुण चिदाकाश, आपको मेरे बार–बार नमस्कार हैं, प्रबल सौभाग्य से मैं आपको देख सका हूँ॥३६॥ अहो, निश्चितरूप से मैं प्रबुद्ध हो चुका हूँ जो ज्ञातव्य था उसे भली–

भाँति पूर्णरूप से मैंने जान लिया। सम्यक्–ज्ञान होने पर जिसका आविर्भाव होता है अथवा जो सम्यक्–ज्ञानरूपी अभ्युदय है, उस अनन्त आत्मरूपतत्त्व को नमस्कार है ॥३७॥ राग, द्वेष आदि दोषों के निकल जाने के कारण मेरी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूपी तीनों अवस्थाएँ चली गई हैं। तथा निश्चल सुषुप्ति कला से उपाधियों के हट जाने के कारण मैं परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हुआ हूँ, इसलिए मैं संसार भ्रम से रहित अतएव आकाश आदि अध्यारोपरूपी राग से शून्य प्रत्यक्–ब्रह्म में परम समता से (आत्यन्तिक अभेद से) निवास करता हूँ, अब कभी मैं फिर विषमता को प्राप्त नहीं होऊँगा, यह भाव है ॥३८॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त उस सुरघु के देह विनाशपर्यन्त असंगरूप से आचरण तथा
देह विनाश के बाद आकाश के समान अवस्थान का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, जैसे विश्वामित्र ने अपने तपोबल से ब्रह्मत्व प्राप्त किया था, वैसे ही उक्त प्रकार से हेमजट नामक भीलों के राजा सुरघु ने विवेक के अध्यवसाय से (निश्चयात्मक ज्ञान से) परमपद को प्राप्त किया ॥१॥ पुनः पुनः दिवस मालाओं का निर्माण करनेवाले भगवान् सूर्य की नाईं वह राजा बार–बार धर्म, अर्थआदि की प्राप्ति की हेतुभूत क्रियाओं का अनुष्ठान करता था, दैवात् उन क्रियात्मक चेष्टाओं से दुःख–पर्यवसित फलों के होने पर भी वह दुःखी नहीं होता था ॥२॥ तभी से लेकर वह राजा चिन्ता ज्वर से मुक्त होकर अपने राजोचित निग्रह और अनुग्रहरूपी कार्यों में वैसे अटल बना रहता था, जैसे प्रबल प्रवाह के सामने नदी के मध्य में रहनेवाला पर्वत अटल बना रहता है ॥३॥ हर्ष और विषाद रहित होकर प्रतिदिन अपने आय, व्यय आदि कार्यों को करते हुए उस उदार और गम्भीर आकृतिवाले राजा ने समुद्र की सुन्दरता चुरा ली यानी समुद्र की शोभा पर विजय पाई ॥४॥ जैसे प्रकाशमयी कम्पनशून्य अपनी शिखा से दीपक अत्यन्त शोभित होता है, वैसे ही वह राजा सुषुप्ति के समान निश्चल प्रकाश–मयी चित्तवृत्ति से अत्यन्त शोभित होता था। वह न निर्दयी था, न दयालु था, न द्वन्द्वों से युक्त था, न मत्सरवाला था, न बुद्धिमान् था, न बुद्धिरहित था, न अर्थी था और न अनर्थी था। भीतर शान्ति पहुँचानेवाली तथा निश्चलता के कारण अत्यन्त धीर समदर्शनात्मक वृत्ति से वह ऐसे शोभित होता था, जैसे परिपूर्ण समुद्र और चन्द्रमा शोभित होते हैं ॥५–७॥ चूँकि यह सब जगत् केवल चित्तत्त्व की कलना ही है, यों निश्चय करने के कारण उसकी बुद्धि भौतिक सुख–दुःखात्मक विकारों से रहित अतएव परिपूर्णरूप से प्रकाशित हो रही थी, इसलिए प्रबुद्ध तथा चित् में लय को प्राप्त वह राजा शरीर से उल्लसित होते, चित्त से विकसित होते, पूर्णरूप से अवस्थित रहते, जाते, बैठते और सोते सदा सर्वदा पर ब्रह्म की समाधि में ही स्थित रहता था ॥८,९॥ कमल की भाँति जिसके नेत्र थे और जिसके शरीर में तनिक भी वार्धक्यादि का विकार प्राप्त नहीं हुआ था, ऐसा वह सुरघु राजा आसक्तिरहित राज्य करते हुए सैकड़ों वर्ष पर्यन्त इस भूमण्डल में विद्यमान रहा ॥१०॥ उसके बाद जैसे बरफ का कण गर्मी से शोषित होकर स्वकीय मूर्तस्वरूपका अपने आप परित्याग कर देता है, वैसे ही उस राजाने इस

देह नामधारी पंचात्मक अवयव–संनिवेश का अपने आप ही परित्याग कर दिया ॥११॥ जैसे नदियों का जल दो किनारों से पार होते ही पानी परिच्छिन्नता का परित्याग कर परिपूर्ण यानी परिच्छिन्नता से रहित असीम समुद्र में प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही वह राजा ब्रह्म साक्षात्कारात्मक वृत्ति की सामर्थ्य से (जन्म आदि के प्रतिबीजभूत अविद्यारूपी आवरण का तिरोधान हो जाने के कारण) समस्त हिरण्यागर्भादि कारणों के नियन्ता तथा सृष्टि और प्रलय के हेतु परब्रह्म परमात्मा में प्रविष्ट हो गया ॥१२॥

उस परम पद में प्रवेश कर सुरघु किस प्रकार का हुआ, इसे कहते हैं।

जैसे घटाकाश घट के फूट जाने पर महाकाश के साथ एकीभूत हो जाता है वैसे ही यह महात्मा सुरघु जिसने कि ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक प्रज्ञा से विमल आनन्दैकरस तथा स्वप्रकाशात्मक तेजको स्वात्मरूप से प्राप्त कर लिया था और जन्म आदि विकारों से रहित अवस्था को प्राप्त कर लेने के कारण जिसके समस्त शोक शान्त हो चुके थे–पूर्णरूप से पर स्वरूप ही हो गया यानी परमात्मा के साथ एकीभूत हो गया। यही इसका निर्वाण था, यह भाव है ॥१३॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

अद्वितीय पर ब्रह्म में स्वाभाविक चित्तैकाग्रयात्मक समाधि के स्वरूप के ज्ञान के लिए सुरघु और परिघ के संवाद का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : कमल के समान नेत्रोंवाले हे राघव, राजा सुरघु के समान आप भी हर्ष, शोक आदि के निमित्त पापों का तत्त्वज्ञान से समूल उच्छेद होने पर द्वन्द्वरहित परम पद को प्राप्त कीजिये और उत्तम मोक्षरूपी विभूति के लिए शोक का परित्याग कर दीजिये ॥१॥ जैसे घोर अन्धकार में बैठा हुआ बालक प्रकाश को प्राप्त कर खिन्न नहीं होता, वैसे ही गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकार में डूबा हुआ मन इस बोधात्मक दृष्टि का अवलम्बन लेकर प्रकाश को प्राप्त कर सन्तप्त नहीं होता ॥२॥

जैसे कुएँ में गिर रहे प्राणी को मजबूत तृणसमुदाय के अवलम्बन से विश्रान्ति–सुख मिलता है, वैसे ही मोहरूपी गहरे कुएँ में गिर रहे मन को सुरघु के प्रकरण में दर्शाई गई विवेकावस्था से विश्रान्ति सुख मिलता है ॥३॥ हे श्रीरामजी, आपने समस्त भूमण्डल को सुशोभित किया है। अब आप इस परम पवित्र दृष्टि को बार–बार परिशीलन के द्वारा अत्यन्त दृढ़ बनाइये, दूसरों को उसका उपदेश भी दीजिये और सदा सर्वदा एक ब्रह्म की समाधि में ही तत्पर हो जाइये ॥४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, जैसे वायु के द्वारा हिलाया गया मोर का पंख अत्यन्त चपल होता है, वैसे ही यह मन अति चपल है, अतः भला बतलाइये कि यह अति चंचल मन किस तरह और किस रूप से एक वस्तु में स्थिर रह सकता है ? ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जिस समय सुरघु आत्मसाक्षात्कार कर लेने के अनन्तर प्रबुद्ध हो चुके थे, उसी समय उसी तत्त्वज्ञ सुरघु राजा और राजर्षि पर्णाद का (इसीका 'परिघ' यह दूसरा भी नाम है) परस्पर इस विषय में अत्यन्त अद्भुत संवाद हुआ था, इसका आप श्रवण कीजिये ॥६॥ हे रामजी, उन दोनों ने अपने अपने मन को, जो बोध को प्राप्त हुआ था, एक समाधान में ही लगा रक्खा था, मैं यह

उनका परस्पर का सुन्दर संवाद आपसे कहता हूँ ॥७॥ रथ के अक्ष–दण्ड की (धुरे की) नाईं आधारभूत अथवा रथ में परिघ नामक शस्त्र शत्रुदल के शूर–वीरों का विदलन करने में जैसे अत्यन्त विख्यात है, वैसा अत्यन्त विख्यात पारसीक देश का एक राजा हुआ। वह बड़े–बड़े शूरवीर शत्रुओं का विनाश कर देता था। उसका नाम था–परिघ ॥८॥ हे रघुनंदन, जैसे नन्दनवन में रहनेवाले कामदेव का वसन्त मित्र है, वैसे राजा परिघ सुरघु का परम मित्र था। किसी समय जैसे प्रलयकाल के प्राप्त होने पर संसार में बड़ी भारी अनावृष्टि होती है, वैसे ही इस राजा के राष्ट्र में बड़ी भारी अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) हुई। उसमें कारण राजा का दोष नहीं था, किन्तु कारण था – प्रजाओं का पापरूपी दोष। जंगल में प्रज्वलित अग्नि में जैसे प्राणियों की पंक्ति–की–पंक्तियाँ नष्ट भ्रष्ट हो जाती हैं, वैसे ही अनावृष्टि से वहाँ की बहुत सी जनता क्षुधा से गतप्राण होकर नष्ट भ्रष्ट हो गई। प्रजा का कष्ट देखकर राजा परिघ अपार विषाद से ग्रस्त हुआ। जैसे बटोही जले गाँव को छोड़ देता है, वैसे ही उसने अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अपना सारा राज्य छोड़ दिया। प्रजा जनों को विनाश से बचाने के लिए उसने अनेक उपाय किये, उन्हें कुछ भी लाभ नहीं हुआ, अतः अपने राज्यसे विरक्त होकर मृगचर्मधारी बड़े बड़े मुनियों की नाईं अरण्य में तप करने के लिए चला गया। जिसे नागरिक नहीं जानते थे, ऐसे किसी दूर अरण्य में विरक्तात्मा होकर ऐसे रहने लगा जैसे दूसरे परलोक में रहता हो ॥९–१४॥ जिसकी बुद्धि शान्त हो चुकी थी तथा जिसने अपना दमन किया था, ऐसा पर्वत के गुहा मन्दिर में तपश्चर्या कर रहा वह राजा परिघ वहाँ स्वयं शुष्क और जीर्ण–शीर्ण पत्तों का भक्षण करता था। *(यहाँ 'कन्दरमन्दिरे' इस शब्द से उसकी अत्यन्त विरक्ति सूचित होती है, क्योंकि उसने पर्णकुटी का भी परित्याग कर केवल पर्वत की गुफा का आश्रय लिया था)* ॥१५॥ बहुत काल तक उसने अग्नि की नाईं केवल सुखे पत्तों का ही भक्षण किया, इसलिए बड़े–बड़े तपस्वियों के बीज में इसने अपना 'पर्णाद' नाम प्राप्त किया ॥१६॥ तभी से लेकर जम्बूद्वीप में पर्णाद नाम का यह उत्तम राजर्षि मुनियों के मण्डल में अत्यन्त विख्यात हुआ ॥१७॥ तदनन्तर एक हजार वर्ष की दारूण तपश्चर्या से अभ्यासवश अन्तःकरण की परमशुद्धि तथा ईश्वर के अनुग्रह से जनित आत्मज्ञान उसने प्राप्त किया। वह द्वन्द्वों से परे हो गया था, उसकी समस्त विषयाभिलाषाएँ निकल चुकी थी,उसका अन्तःकरण प्रसन्न था,उसका विषयराग हट गया था, वह आक्षेपों से वर्जित था तथा जीवन्मुक्त एवं प्रबुद्ध–मति था ॥१८,१९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे हंसों के साथ भ्रमर कमलिनी में विहार करते हैं वैसे ही यहाँ जिर्ण पर्णाद अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी समय सिद्ध (तत्त्वज्ञान पा चुकनेवाले) तथा साध्य (तत्त्वज्ञान की इच्छावाले) मुनिवरों से परिवृत होकर इस त्रिलोकीरूपी मठिका में विहार करता था ॥२०॥ किसी समय यत्र–तत्र विचर रहे राजर्षि पर्णाद उस स्वर्णजट नामक, देश के अधिपति राजा सुरघु के सदन में (निवास स्थान में) प्राप्त हुआ जो कि रत्नों से विनिर्मित तथा सुमेरूपर्वत के दूसरे शिखर के समान ऊँचा था ॥२१॥ पहले से ही वे मित्र थे, वहाँ उन्होंने परस्पर एक दूसरे का पूजन किया। वे पूर्ण थे, दोनों ही ज्ञातव्य तत्त्व जान चुके थे संसार से परे यानी जीवन्मुक्त हो गये थे। अनन्तर उन दोनों ने एक दूसरे से यह कहा : अहो, निश्चित मेरे कल्याणमय पावन सत्कर्मों का यह फल है, जो कि मैंने आपको पाया। एक दूसरे का शरीर से आलिंगन कर परस्पर आनन्दित आकृतिवाले वे दोनों एक पर्वत के ऊपर चन्द्र और सूर्य की नाईं एक आसन पर बैठे ॥२२–२४॥

परिघ ने कहा : हे सुरघो, आपके दर्शन से मेरा चित्त अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुआ और चन्द्रबिम्ब में गोता लगानेवाले मन की नाईं मेरा मन अत्यन्त शीतलता को प्राप्त हुआ। चितिशक्ति की प्रधानता होने पर आनन्द का आविर्भाव होता है मनन शक्ति की प्रधानता होने पर सन्ताप शान्त हो जाता है ॥२५॥ तालाब के किनारे पर अवस्थित छिन्न आशावाले वृक्ष के समान सहज आनन्द का समर्पण करनेवाला स्वाभाविक प्रेमवियोगावस्था में सैकड़ों शाखा-प्रशाखाओं को प्राप्त होता है ॥२६॥ साधो, विश्वास गर्भित उन पहले की सुखदुःख की कथाओं, लीलाओं तथा व्यापारों का बार-बार स्मरण कर मैं आनन्द से परिपूर्ण हो जाता हूँ ॥२७॥ राजन्, जैसे आपने महामुनि माण्डव्य के प्रकाश से परम तत्त्व जाना वैसे ही मैंने तप से आराधित परमात्मा के प्रसाद से यह ज्ञान पाया है ॥२८॥ महाराज, क्या आप समस्त दुःखों से छुटकारा पा चुके हैं ? और जैसे कोई भूमण्डल का स्वामी उत्तरोत्तर पर्वतों का अतिक्रमण कर मेरु के ऊपर विश्रान्ति करे, वैसे ही क्या आप परम कारणरूप (विवर्तापादानत्व से उपलक्षित) परब्रह्म में उत्तरोत्तर भूमिकाओं के परिपाक से विश्रान्ति कर चुके हैं ? ॥२९॥

हे परमकल्याण, जैसे शरत्-काल में तालाब के जल में धूल आदि का आवरण न होने के कारण उसमें प्रसन्नता (स्वच्छता) उत्पन्न होती है, वैसे ही क्या आपके चित्त में आत्मारामता के कारण प्रसन्नता, रजोगुण और तमोगुण अनावरणरूपता उत्पन्न होती है ? ॥३०॥ हे सौभाग्यसम्पन्न राजन्, सुप्रसन्न एवं गंभीर समदृष्टि से क्या आप समस्त जनों के हित के साधन अवश्य कर्तव्य कर्मो को करते हैं ? ॥३१॥ राजन्, शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से रहित, धीर तथा धन-धान्यों से सम्पन्न जनता समस्त चिन्ताओं से निर्मुक्त होकर क्या आपके देश में निवास करती है ? ॥३२॥ महाराज, उत्कृष्ट सस्यआदि फलों से सम्पन्न, विविधफलों से विनम्र कल्पलता की नाईं पृथिवी क्या आपकी प्रजाओं का समय समय पर तत् तत् ईच्छित फलों की पूर्तियों द्वारा सदा सर्वदा पोषण करती है ? ॥३३॥ राजन्, चन्द्रमा की अनेक किरणों की नाईं समस्त दिशाओं में तुषार के समूह के सदृश आपका क्या पवित्र यश फैला है ? ॥३४॥ महात्मन्, जैसे तालाब का जल अपने अन्दर रहने वाली कमल के नाल की भूमि को भर देता है, वैसे ही क्या आपने-अपने प्रशस्त गुण-गणों से दिशाएँ भर दी हैं ? ॥३५॥ क्या धान की क्यारियों के कोने में अवस्थित अतिप्रसन्न कुमारियाँ प्रत्येक गाँव में आपके आनन्दवर्धक यशोगान कर रहीं हैं ? धान्य, धन, विभव, सेवक, स्त्रीजन, पुत्र, परिवार और नगरादि सर्वत्र स्थानो में कुशल तो है न ? ॥३६,३७॥ शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से रहित यह आपकी देहरूपी लता ऐहिक फल के साधनरूप से विहित का शरीरी आदि और पारलौकिक फल के साधन रूप से विहित ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं से होनेवाली पुण्यरूपी जो फल है, उनको करती तो हैं न ? ॥३८॥ हे जितेन्द्रिय, ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखाई देनेवाले, पर असलियत में आत्मतत्त्व में भारी प्रतिबन्धक होने के कारण महान् वैरी इन विषयरूपी सर्पों में आपका अन्तःकरण वैराग्य धारण करता तो है न ? ॥३९॥ अहो, अपने दोनों को एक दूसरे से अलग हुए बहुत काल व्यतीत हुआ, परन्तु वसन्त ऋतु और पर्वततट की नाईं समय प्राप्त होने पर फिर मिल गये ॥४०॥ प्रियवर, इस जगदीतल में इष्ट और अनिष्ट जनों के संयोग एवं वियोग से होने वाली वे सुख और दुःख की अवस्थाएँ हैं ही नहीं, जो देहधारी प्राणियों के द्वारा अनुभूत न होती हैं ॥४१॥ इसी तरह हम लोग इन अत्यंत दीर्घकालिक सुख और दुःख की अवस्थाओं में चिरकाल तक

वियोगी थे, परन्तु फिर भी इस समय हम लोग एक दूसरे से मिल गये हैं, क्योंकि प्राणियों के कर्मों के अनुसार होनेवाली भगवदिच्छा का विलास अद्‌भुत है यानी कुछ और ही है ॥४२॥

परिध द्वारा कहे गये अर्थ का अनुमोदन करते हुए सुरघु उसी अर्थ को कहते हैं।

सुरघु ने कहा : भगवन्, भगवान् की इच्छारूपी इस नियति की सर्पगति के समान गम्भीर और विस्मयकारक गति को कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता ॥४३॥ प्रियवर, विधि ने इस प्रकार आप और हमलोग दोनों को देशतः अत्यन्त दूर तथा कालतः भी अधिक समय तक अलग रखकर आज फिर संघटित किया है। अहो, भला बतलाइये विधि के लिए क्या असाध्य है ? ॥४४॥

महात्मन्, आज तो हम लोग अत्यन्त सुखी होकर अवस्थित हैं, आपके आगमनरूपी पुण्यों से हम अत्यन्त पवित्र हो गये हैं। महानुभाव देखिये आपके आगमन से क्षीण पाप हुए हम लोगों के पुण्यरूपी वृक्षों ने वह चित्त– समाधानरूपी फल दिया जिससे कि हम लोग सम्पूर्ण व्याकुलताओं से विमुक्त होकर कृतकृत्य हो गये ॥४५,४६॥ राजर्षि, नगर में अवस्थित हम लोगों की सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ आज आपके शुभागमन से चारों ओर फलोन्मुखता को प्राप्त हो गई ॥४७॥ हे महानुभाव, आपके पुण्य वचन और दर्शन चारों ओर से मानों अमृतों की मधुर राशि बरसा रहे हैं, क्योंकि सज्जन पुरुषों का समागम मोक्षसुख की प्राप्ति सदृश होता है ॥४८॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

अज्ञानरूपी आवरण के हट जाने पर नित्यचित्–स्फुरण की अवस्था से
विद्वानों की सदा सर्वदा अद्वितीय ब्रह्म में ही समाधि होती है, यह वर्णन।

महर्षि श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, तदनन्तर चिरकाल तक करीब करीब उस तरह की प्राचीन प्रेम से ओतप्रोत विश्वासपूर्ण कथालापों से सुरघु के सुन्दर सदन में विश्रान्ति लेकर राजा परिघ, जिसका शस्त्रविशेष का नाम के सदृश नाम है, कहने लगे ॥१॥

क्या यह राजा सुरघु मेरे पूछने पर व्यवहार और समाधि दोनों दशाओं में तत्त्व में तत्त्ववित् पुरुष के सुख का उत्कर्ष और अपकर्षरूप तारतम्य कहेगा या नहीं, इसकी परीक्षा करने के लिए पहले अपने अनुभव का उद्‌घाटन करते हैं।

परिघ ने कहा : राजन्, इस संसाररूपी जाल में रह कर जो जो कर्म किये जाते हैं, वे समाहित चित्तवाले ज्ञानी के लिए तो सुखकारक हैं, पर उससे भिन्न अज्ञानी के लिए सुखकारक नहीं हैं ॥२॥

इस तरह अपने अनुभव का प्रकाशन कर वह युक्त है या अयुक्त इस विषय में दूसरे के अनुभव की जिज्ञासा कर रहे राजा परिघ मानों समाधि में ही अधिक विश्रान्ति है, यों दिखलाते हुए प्रश्न करते हैं।

हे राजन्, समग्र संकल्पों से शून्य, विश्रान्ति के सबसे उत्तम स्थानरूप, विक्षेपात्मक दुःखो के उपशम में परम साधन तथा सांसारिक सुखों की अपेक्षा अधिक प्रशस्त समाधि का क्या आप अनुष्ठान करते हैं ? ॥३॥

जबकि आपका यह अनुभव है। समाहित चित्तवाले पुरुष के सभी कर्म सुख के लिए हैं और आपके

इस अनुभव के साथ मेरा भी अनुभव संवाद रखता ही है, तब समाधि में अधिक विश्रान्ति का प्रदर्शन तथा व्यवहार और समाधि का भेद मानकर किया गया प्रश्न दोनों आपके अयुक्त ही हैं, इस आशय से तत्त्वज्ञ राजा सुरघु : 'संकल्परहित विक्षेपात्मक दुःखों का परम उपशम और सांसारिक सुखों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ, इस अंश का आत्मरूपता में भी संभव होने के कारण तन्मात्र का स्वीकार करते हुए विश्रान्ति स्थान समाधि का अनुष्ठान करते हैं ?' यह प्रश्नांश असंभव है क्योंकि अविश्राम के हेतु मन का तो बाध हो ही चूका है यों मानकर आक्षेप करते हैं।

सुरघु ने कहा : भगवान, युक्त होने के कारण आप मुझसे यही कहिये कि सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित निरतिशय उपशमरूप (आत्मा) सांसारिक सुखों की अपेक्षा प्रशस्त है, परन्तु यह आप मुझसे क्यों कहते हैं कि समाधि का अनुष्ठान करना चाहये ॥४॥ महात्मन्, जो तत्त्वज्ञ पुरुष है, वह चाहे चुप-चाप ही सदा व्यवहार करे चाहे अव्यवहार करे, तो भी उसका समाहित चित्तता को छोड़ कर और क्या स्वरूप हो सकता है ? क्योंकि अनावृत-स्वभाव होने के कारण कभी भी असमाहित चित्तवाला नहीं हो सकता ॥५॥

यदि आत्मस्वरूप में अटल अवस्थित रहना ही समाधि है, यह आपका मत है, तो वह सदा है ही, फिर कुछ भी करने को बाकी नहीं रहता, ऐसा कहते हैं।

जिनका चित्त प्रबुद्ध हो गया है, ऐसे तत्त्वज्ञ मुनि सदासर्वदा जगत् के व्यवहार को करते हुए भी आत्मरूप अद्वितीय चित्त्व में परमनिष्ठा वाले होने के कारण सदा समाधि सम्पन्न ही है ॥६॥

यदि आप मुझे अज्ञानी मानते हैं, तो भी समाधि का उपदेश अयुक्त है ऐसा कहते हैं।

जिसका अन्तःकरण परमशान्तिरूपी विशुद्धता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसा पुरुष चाहे पद्मासन लगावे चाहे परब्रह्म को हाथ जोड़े तो भी उसको किसी भी उपाय से किसी तरह की समाधि नहीं लग सकती, क्योंकि जहाँ चित्त का लगाना है उसको वह जानता ही नहीं, यह भाव है ॥७॥ भगवन्, चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं कहलाता, किन्तु समस्त आशारूप तृणों के लिए अग्निरूप जो आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार है, वही समाधि कहलाता है, क्योंकि *'सम्यक् आधानम्समाधिः'* सम्यक् यानी समस्त ईच्छित विषयों का समूल बाध से पारमार्थिक स्वरूप में चित्त का जो आधान अवस्थान है, वह समाधि है यों समाधि शब्द की व्युत्पत्ति है यह भाव है ।।८॥

महात्मन्, मनीषी लोग समाधि शब्द का एकाग्र, सदासर्वदा, तृप्त, सत्य अर्थ का ग्रहणकरने वाली परा प्रज्ञा ही (अबाधित आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक विज्ञान) अर्थ कहते हैं ॥९॥

उसीका फलतः वर्णन करते हैं।

क्षोभ से रहित, अहंकार से शून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में न गिरनेवाली और सुमेरु से भी अधिक स्थिर आकारवाली प्रज्ञा समाधि शब्द से कही गई है ॥१०॥ चिन्ता से वर्जित, अभीष्ट पदार्थ को प्राप्त हेय और उपादेय से रहित तथा परिपूर्ण जो मानसिक वृत्ति है, वह समाधि शब्द से कही गई है ॥११॥

वैसी समाधि तो मुझको पहले से ही सिद्ध है, उसके अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जिस समय से लेकर मन का तत्त्वज्ञान के साथ अत्यन्त (सर्वदा के लिए) सम्बंध हो जाता है, उस समय से लेकर महात्मा विद्वान् की समाधि लगातार बनी ही रहती है, कदापि विच्छिन्न नहीं होती ॥१२॥ जैसे क्रीड़ा कर रहे बालक के हाथ से दूर खींचा गया कमल का तन्तु टूट जाता है, वैसे प्रबुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानी की समाधि लगकर पुनः टूट नहीं जाती, यहाँ व्यतिरेकी दृष्टान्त है ॥१३॥

यदि शंका हो कि तत्त्ववेत्ता को भी ब्रह्माकारवृत्ति का विच्छेद होने पर व्युत्थानावस्था में समाधि का भंग हो जायेगा, तो इस पर कहते हैं।

जैसे सूर्य सारे दिन प्रकाश से विराम नहीं करता, अपितु प्रकाशपूर्ण ही रहता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी की प्रज्ञा जीवनपर्यन्त यानी विदेह मुक्ति पर्यन्त तत्त्व के अवलोक से विराम नहीं करती, अपितु दृढ़ संस्कार के कारण सदा सर्वदा अनुवर्तन करती ही रहती है ॥१४॥

आत्मस्वरूप को आवृत करनेवाले अज्ञान का एक बार उदित हुई ब्रह्माकार वृत्ति से समूल नाश हो जाता है तो फिर वह आवरण करने की शक्ति ही नहीं रखता, इसलिए तत्त्ववेत्ता को स्वरूपावरणरूप समाधि भंग का प्रसंग ही नहीं है इस आशय से कहते हैं।

जैसे नदी निरन्तर जल के प्रवाह से क्षणमात्र भी रुक नहीं सकती, वैसे तत्त्ववित् की आत्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मक दृष्टि स्वरूपज्ञान से क्षणमात्र भी रुक नहीं सकती यानी तत्त्वज्ञ का साक्षात्कारात्मक बोध किसी आवरण से आवृत नहीं होता ॥१५॥

अथवा परम प्रेम का भाजन होने से एक बार भी प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान का विस्मरण नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

जैसे काल अपनी कलाओं की गति का कभी भी विस्मरण नहीं करता, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुष की बुद्धि अपने आत्मस्वरूप का कभी भी विस्मरण नहीं करती। जैसे सर्वत्र सदा-गतिस्वभाव वायु अपनी गतिका विस्मरण नहीं करता, वैसे ही तत्त्ववित् ज्ञानी की प्रज्ञा निश्चय करने योग्य चितिमात्र का कभी विस्मरण नहीं करती ॥१६,१७॥

जिसका आवरण विनष्ट हो चुका है, ऐसा आत्मा स्वाकारवृत्तियों को लगातार उत्पन्न करता ही स्थित रहता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे काल के मूर्तिरूप सूर्य आदि अपनी गति को बटोरते हुए (निरन्तर गति सम्पन्न होते हुए) ही सदा स्थित रहते है, वैसे ही विषयों से विनिर्मुक्त (अनावृत) चैतन्य स्फूर्ति भी अपनी गतियों को यानी स्वाकार वृत्तियों को बटोरती हुई (निरन्तर आत्माकार-वृत्तियों से सम्पन्न होती हुई) ही रहती है ॥१८॥

अथवा तत्त्वज्ञ के जीवनकाल का आत्मावबोध असाधारण धर्म है, अतः उससे तत्त्वज्ञ का कभी भी वियोग नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

जैसे घट आदि पदार्थ सत्ता से (अस्तित्व से) विहीन होकर कभी भी उपलब्ध नहीं होते, ऐसे ही तत्त्वज्ञानी का समय आत्मज्ञान से विहीन होकर कभी भी उपलब्ध नहीं होता ॥१९॥

अथवा जैसे अग्नि का उष्णत्व स्वभाव है, वैसे ही तत्त्वज्ञ का आत्मबोध स्वभाव है, इसलिए तत्त्वज्ञ का आत्मबोध से विच्छेद नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

जैसे संसार में उष्णत्व आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त अग्नि आदि गुणवान् पदार्थ कभी भी उक्त

गुणों से विहीन नहीं रहते, वैसे ही आत्मा की पहचानकर चुकनेवाला आत्मवान् ज्ञानी कभी भी आत्मज्ञान से विहीन नहीं होता ॥२०॥ मैं सदा–सर्वदा ही आत्मज्ञान से सम्पन्न हूँ, सदा–सर्वदा ही निर्मल–स्वभाव हूँ, सदा–सर्वदा ही शान्तात्मा हूँ और सदा–सर्वदा ही समाधियुक्त हूँ। मेरा समाधि से विच्छेद किससे और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मेरी समाधि आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, अतः उसका अस्तित्व सदा सर्वदा बना हुआ ही है ॥२१,२२॥

यदि आप यह मानते हैं कि मन है, तो वह सदा सर्वदा समाहित ही है और यदि यह मानते हैं कि मन नहीं है, तो समाधि भी है ही नहीं क्योंकि विक्षेप का हेतु ही नहीं रहा, इस आशय से सुरघु उपसंहार करते हैं।

इसलिए यदि मेरा मन है तो वह किसी भी समय समाधि से वर्जित नहीं और यदि नहीं है, तो मन किसी भी समय समाधि से युक्त नहीं है, अर्थात् समाधि करने की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि विक्षेपकारण के न रहने से अद्वितीय आत्मतत्त्व की एकरूपता का ही सदा सर्वदा संभव है ॥२३॥ चूँकि यह जो कुछ दिखलाई पड़ता है, वह सभी कुछ सदा सब प्रकार सर्वव्यापक आत्मस्वरूप ही है, इसलिए यह समाधि क्या होगी और असमाधि भी क्या कही जायेगी ? अर्थात् उन दोनों के स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता ॥२४॥ उत्तम महात्मन्, जिनकी बुद्धि से भेद का विघटन हो गया है यानी जिनकी बुद्धि में तनिक भी भेद के लिए स्थान नहीं है अतएव जो कार्यों के परिणामों में यानी सुख–दुःख आदि विकारों से होनेवाली भेद–भावनाओं से विनिर्मुक्त हो चुके हैं ऐसे बड़े–बड़े तत्त्ववित् सदा सर्वदा एक ही स्वरूप से समदृष्टि होकर स्थित रहते हैं, इसलिए समाहित और असमाहित के भेद को मानकर प्रवृत्त हुआ आपका वह वाणी का प्रपंच किस अर्थ का बोधक होगा ? किसी अर्थ का नहीं अर्थात् आपकी वाणी का विलास मिथ्या ही है, यह भाव है ॥२५॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

राजा परिघ के द्वारा परीक्षण के अनन्तर जिसकी स्तुति की गई है,
ऐसे तत्त्ववित् सुरघु का अपनी सजग स्थिति का सविस्तार वर्णन।

परिघ ने कहा : राजन्, आप निश्चितरूप से तत्त्व को जान चुके हैं और उस उत्तम परम पद की प्राप्ति भी कर चुके हैं, अत्यन्त शीतल अन्तःकरण से युक्त होने के कारण आप ऐसे सुशोभित (प्रकाशित) हो रहे हैं, जैसे कि शीतलात्मा परिपूर्ण चन्द्रमा ॥१॥ हे महाराज, स्नेह के कारण अत्यन्त मधुर, सुशीतल, आनन्दरूपी पुष्परस से परिपूर्ण, उत्तम श्री से सम्पन्न आप कमल के समान अत्यन्त भले लगते हैं ॥२॥ जैसे तट के झंझावात के झकोरों से निर्मुक्त तथा निर्मलत्व आदि गुणों से युक्त विस्तृत समुद्र सुशोभित होता है, वैसे ही निर्मल अतएव विस्पष्टरूप से दिखाई देनेवाले आशय से, अन्तःकरण से (समुद्र–पक्ष में अन्तःप्रदेश से) युक्त, गम्भीर, पूर्ण, व्यापक स्वरूप तथा संसाररूपी वायु के झकोरों से निर्मुक्त आप सुशोभित हो रहे हैं ॥३॥ हे तत्त्वज्ञ, स्वच्छ, आनन्द से परिपूर्ण, अहंकाररूपी काले बादलों से शून्य, विस्पष्ट, विस्तीर्ण और अति गम्भीर होने के कारण आप ऐसे शोभते हैं, जैसे शरत् काल का

आकाश ॥४॥ हे राजन्, आप सभी इष्ट और अनिष्ट विषयों में एक–से दिखाई देते हैं, सभी विषयों में आप सन्तुष्ट रहते हैं, सभी विषयों में आसक्ति से वर्जित है, अतएव सर्वत्र सुशोभित हो रहे हैं ॥५॥ महाराज, आपने अपनी उत्तम बुद्धि से क्या सार है एवं क्या असार है, इसका विचारपूर्वक निर्णय किया है और उसके पारंगत हो गये हैं एवं यह भी जानते हैं कि यह दृश्यमान समस्त प्रपंच एकरूप से अवस्थित अखण्ड परब्रह्मस्वरूप ही है ॥६॥ सत् और असत् के निर्णय के तत्त्व को जाननेवाले हे राजन् प्रसन्न चित्त से युक्त तथा आरोह और अवरोह की हेतु (संसार में आवागमन की हेतु) भोगासक्ति से होनेवाली लालच से शून्य आपका शरीर अवस्थित है ॥७॥ हे भाग्यवान्, जैसे समुद्र फेन अन्दर में अवस्थित अमृत से तृप्त रहा करता है, वैसे ही जिसकी अपेक्षा संसार में दूसरी परमार्थ वस्तु है ही नहीं, ऐसी स्वात्मरूपी वस्तु से ही आप पुनः संसार–प्राप्ति में अहेतुभूत अपनी महिमा में ही परितृप्त रहते हैं ॥८॥

परिघ द्वारा कथित अर्थ का सभी युक्तियों से समर्थन और अनुमोदन कर रहे सुरघु कहते हैं।

सुरघु ने कहा : हे मुने, संसार में वह वस्तु ही नहीं है, जो कि हम लोगों के लिए उपादेय हो, जो कुछ यह दृश्य है, वह सब कुछ भी नहीं है यानी मिथ्या ही है ॥९॥ उपादान करने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण कुछ भी हेय यानी त्याज्य नहीं है, क्योंकि जिस वस्तु का ग्रहण कर लिया हो, उसका परित्याग ही तो होना है, ऐसी स्थिति में अब आप बतलाइये कि त्याग के विरोध और त्याग से हट जानेवाले ग्रहण के (उपादान के) बिना 'यह हेय है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कहा जा सकता ॥१०॥

यदि शंका हो कि जो तुच्छ है, वह हेय और जो अतुच्छ है, वह उपादेय क्यों नहीं होगा ? तो इस पर कहते हैं।

महाराज, देश और कालवश सभी पदार्थ तुच्छ और अतुच्छ हो जाते हैं, इसलिए दीर्घकाल से मेरी तुच्छ और अतुच्छ विषयक मानस स्थिति नष्ट हो चुकी है। इसी विषय में दृष्टान्त है सम्पूर्ण भूमण्डल का राजा मुक्त हो जाने पर एक छोटे से गाँव में भी, जो कि पहले तुच्छ था, सन्तुष्ट रहता है और पहले के विस्तृत राज्य को भी तुच्छ समझता है, अतः समयवश ही तुच्छत्व और अतुच्छत्व की बुद्धि होती है ॥११॥ संसार में देश और काल के प्रभाव से तुच्छ में अतुच्छत्व और अतुच्छ में तुच्छत्व भावना हो जाती है, इसलिए पण्डितों को तुच्छ और अतुच्छ बुद्धि से किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करनी चाहिए ॥१२॥ लोक में निन्दा और स्तुति दोनों राग से होते हैं और राग इच्छा को कहते हैं, जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा पुरुष अत्यंत उदार आत्मवस्तु की ही इच्छा करता है, क्योंकि वहाँ स्तुति और निन्दा की प्रसक्ति ही नहीं है ॥१३॥ इस त्रिलोकी में स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनपंक्तियाँ आदि भूत सत्यता से रहित हैं, वास्तव में यहाँ कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है ॥१४॥ इस मांस और अस्थिमय अध्यात्म जगत में तथा काष्ठ, मृत्तिका और शिलामय अधिभूतजगत् में, जो कि जर्जर, वांछनीय तथा शून्यात्मक है, क्या चाहा जाय ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१५॥ राजन्, जैसे दिवस–शोभा का विनाश हो जानेपर तदनुगामी प्रकाश और ताप दोनों का विनाश हो जाता है, वैसे ही इच्छा का विनाश हो जानेपर तदनुगामी राग और द्वेष दोनों का विनाश हो जाता है यानी राग–द्वेषमूलक प्रवृत्ति और निवृत्ति का निरास हो जाता है ॥१६॥

यदि सभी वस्तुएँ असारभूत हैं, तो आश्रय करने योग्य सारभूत वस्तु कौन है ? इस प्रश्न पर

सारभूत वस्तु बतलाते हैं।

मित्रवर, अब इस विषय में अधिक वाक्यों का प्रयोग करना व्यर्थ है। यदि अन्तःकरण चारों ओर से रागमुक्त होकर तथा समस्त विक्षेपरूपी विषमता से रहित होकर अपने आत्मस्वरूप में ही परितृप्त रहे, तो वही सबसे उत्तम विश्रान्ति है। सर्वातिशायी सुख के लिए केवल इसी एक दृष्टि का सदा सर्वदा आश्रय करना उचित है ॥१७॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

उपायों का परिज्ञान रखनेवाला पुरुष जिन उपायों द्वारा मानस दोषों से विचलित नहीं होता और अपनी आत्मा का संसार दुःख से उद्धार करता है, उन उपायों का कथन।

श्रीवसिष्ठ महाराज ने कहा : भद्र श्रीरामजी, तत्त्वज्ञ सुरघु और राजा परिघ दोनों पूर्व वर्णित प्रकार से जगत्-विभ्रम का विचार कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने परस्पर एक दूसरे का विशिष्ट पूजन किया और अपने-अपने कार्यों में तत्पर हो यथा स्थान प्रस्थान किया ॥१॥ हे राघव, उस वर्णन किये गये संवादरूपी उत्तम बोध-हेतु का श्रवण कर किया गया निश्चय ही बोध के लिए पर्याप्त है। अतः इसी सुरघु और परिघ के संवाद के श्रवण से जनित निश्चयात्मक ज्ञान से आप प्रत्यक्ष-रीति से प्राप्त पद हो जाइये। क्योंकि परमपद की प्राप्ति के लिए उतना सुप्रतिष्ठित बोध ही पर्याप्त है ॥२॥ पण्डितों के साथ विचार करने के कारण या अपने निश्चल विचार के कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम प्रज्ञा से हृदयाकाश में अहंकाररूपी काले मेघ के निःशेष गल जाने पर; समस्त लोगों से अनुमोदित, फलात्मक बोध से युक्त (शरत्-पक्ष में सस्यादि फलों से युक्त), अतएव प्रसन्नता बढ़ानेवाले, राग आदि मलों से रहित (शरत्-पक्ष में पंक आदि मलों से शून्य), विस्तृत चित्तरूपी शरत्काल के उपस्थित होने पर; जो ध्यान करने योग्य, समग्र अनर्थों के नाशक, आत्मरूपता के कारण सुगम, सम्पूर्ण आनन्दों की निधि, अत्यन्त प्रसन्न परमात्मारूपी चिदाकाश में अवस्थित रहता है और जो सदा केवल आत्मा के विचार में निरत, सदा बाह्य आसक्ति से शून्य, सुखी तथा पुनःपुनः आदर से केवल चिन्मात्र वस्तु में आस्वाद लेनेवाला है, वह मानसिक शोकों से कभी विचलित नहीं होता ॥३-६॥ रामजी, जैसे जल में रहनेवाला कमल कीचड़ आदि कलंकों से कलंकित नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञ व्यवहार में निरत अतएव अज्ञानी जनों द्वारा 'यह राग और द्वेष से भरा है' यों कल्पित हो रहे भी राग, द्वेष आदि भीतरी कलंकों से कलंकित नहीं होता ॥७॥ जैसे हाथियों से सिंह पराभव को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जो सम्यक् ज्ञान से युक्त, निर्मल, भीतर से प्रसन्नमन मुनि है, वह कभी भी मन से पराभव को प्राप्त नहीं होता ॥८॥ जैसे नन्दनवन में विषैले काँटों से युक्त वृक्ष नहीं होते, वैसे ही ज्ञानी पुरुष का केवल विषयोपभोगों में शरण लेनेवाला अतएव अत्यन्त दीनता से युक्त मन नहीं होता, क्योंकि उसका चित्त बड़ा है यानी क्षुद्र विषय सुखों की अभिलाषा से वर्जित है ॥९॥ जैसे विरक्तपुरुष, कामुकपुरुष के समान पत्नी आदि का मरण होने पर दुःखी नहीं होता, वैसे ही जिसने चारों ओर से विचारकर विषय, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त दृश्यरूप मिथ्याभ्रान्ति का परिज्ञान कर लिया है, ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुष का अन्तःकरण दुःखी नहीं होता ॥१०॥

विज्ञाता पुरुष को भावी दुःखों के हेतु पापों का भी सम्बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं।

हे साधो, जैसे धूली आकाश तल को स्पर्श नहीं कर सकती, वैसे ही विचारपूर्वक मनोमोह का स्वरूप भली भाँति जान लेनेवाले पुरुष को पाप, जिनका स्वरूप जगत् में मिथ्याभूत कर्तृत्वाभिमान से उत्पन्न हुआ है वे (पाप) स्पर्श नहीं कर सकते ॥११॥ हे श्रीरामजी, जैसे अन्धकाररूपी रोग का महान् औषध दीपक है, वैसे ही जगदाकार में फैले हुए इस अज्ञानरूपी रोग का सबसे बड़ा औषध 'यह जगत् अविद्यामात्र है' इस प्रकार का विचारजनित ज्ञान ही है ॥१२॥ जैसे यह स्वप्न है, इस प्रकार जाने गये स्वप्न से स्वाप्निक भोग भूमि का सदा सर्वदा के लिए विनाश हो जाता है, वैसे ही ज्यों ही यह अविद्या है, इस प्रकार अविद्या का स्वरूपज्ञान हो गया, त्यों ही उसका सदासर्वदा के लिए विनाश हो जाता है ॥१३॥ जैसे जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श नहीं करता (यदि जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श करेगा, तो नेत्रों के बन्ध हो जाने के कारण जल में उनके देखना आदि व्यवहार ही लुप्त हो जायेंगे), वैसे ही व्यवहार में निरत हुए भी साधु पुरुष को, जो कि अद्वितीय परब्रह्म में बुद्धि रखता है और भीतर से आसक्ति वर्जित है, अविद्यारूपी पाप स्पर्श नहीं करता ॥१४॥ हे श्रीरामजी, दैदीप्यमान चिद्रूपी प्रकाश का उदय हो जाने पर अज्ञानरूपी रात्रि सदा के लिए विलीन हो जाती है और परमानन्द को प्राप्त हुई ज्ञानी की प्रज्ञा प्रकाशित रहती है ॥१५॥ शास्त्ररूपी सूर्य से बोधित हुआ पुरुष अज्ञानरूपी निद्रा का विनाश होने के बाद उस विज्ञान को प्राप्त करता है, जिसकी प्राप्ति से मनुष्य को फिर कभी मोह नहीं होता ॥१६॥

अब विद्या की स्तुति करते हैं।

वे ही दिन जीवनपूर्ण हैं और वे ही क्रियाएँ आनन्द से युक्त हैं, जिन दिनों और क्रियाओं में सदा सर्वदा हृदयरूपी आकाश में आत्मारूपी चन्द्रमा से उदित हुई चिद्रूपिणीज्योत्सना खिल रही हो या प्रकाश रही हो ॥१७॥ जैसे चन्द्रमा अपने अमृत से भीतर शीतलता को प्राप्त करता है, वैसे ही मोह का अतिक्रमण कर लेनेवाला पुरुष निरन्तर आत्मचिन्तनरूपी अमृत से अपने भीतर शीतलता को प्राप्त करता है ॥१८॥ वे ही मित्र मित्र है, वे ही शास्त्र शास्त्र हैं और वे ही दिन दिन हैं, जिनके कारण वैराग्यरूपी उल्लास से युक्त आत्माकार वृत्तिरूपी चित्त का अभ्युदय विस्पष्ट रीति से सिद्ध होता है ॥१९॥ पाप के विनाश से वर्जित अतएव जिन मनुष्यों की आत्मा को जानने में उपेक्षा हैं वे जन्मरूपी जंगल के पौधे हैं, दीन हैं और चिरकाल तक संसार दुःखों से दुःखित होकर शोक किया करते हैं ॥२०॥ हे श्रीरामजी, विषयाभिलाषारूपी सैकड़ों बन्धों से बँधे, भोगरूपी तिनकों में अत्यन्त लालच कर रहे, बुढ़ापे के कारण जर्जर आकार को प्राप्त हुए, शोकजनित उच्छवास से विड़म्बित हो रहे; दुःखरूपी भारी बोझ को ढो रहे, जन्मरूपी जंगल में जी रहे, कुकर्मरूपी कीचड़ से चारों ओर चुपड़े गये, मोहरूपी स्वल्प जलाशय में सो रहे; रागरूपी दाँतों की पंक्तियों से चबाये गये, तृष्णारूपी चर्ममयी नासारज्जू से (नाथ से) खींचे गये, मनरूपी बनिये की आज्ञा में स्थित रहे, बान्धवरूपी बन्धनों के कारण चलने फिरने में अशक्त हुए; पुत्र और स्त्री की शिथिलता से जनित जीर्णतारूपी गोबर में बार–बार डूब रहे, सदा थके हुए, विश्रान्ति से वर्जित, आवागमन के दीर्घ मार्गों में भग्न; आवागमन के कारण चारों ओर से क्षीण, संसाररूपी अरण्य में चक्कर काट रहे, शीतल छाया को प्राप्त नहीं हुए, तीव्र विषय संसर्ग जन्य तापों से संतापित; केवल बाहरी आकार से सुन्दर पर भीतर से दीन, बाह्यचक्षु आदि इन्द्रियों से प्रभावित, काम्य कर्मों में

रुचि बढ़ानेवाले अर्थवादरूपी घण्टानादों से भ्रमित, पापरूपी कोड़ों के आघातों से पीड़ित; जन्म-मरणरूपी गाड़ी के बोझ से लदे हुए, अज्ञानरूप विकट अटवी में लुठित अतएव भग्न-शरीर; अपने अनर्थ में ही सर्वदा निमग्न, दुःखी, दीन, जड़ीभूत शरीर, कर्मों के बोझ से सदा करुण क्रन्दन कर रहे इस जीवरूपी बैल का संसाररूपी स्वल्प तालाब से दीर्घकाल तक उत्तम प्रयत्न करके ज्ञानरूपी बल से उद्धार करना चाहिए ॥२१-२९॥

उद्धार कर चुकने पर जीव के फिर कीचड़ में फँसने की शंका का निवारण करते हैं।

हे रघुवीर, तत्त्वसाक्षात्कार से चित्त के क्षीण हो जाने पर जीव संसार में फिर कभी भी जन्म-ग्रहण नहीं करता और वह चित्त की क्षयदशा में ही संसार-सागर से पार हो जाता है ॥३०॥

उद्धार के उपायों का ज्ञान तो सद्गुरुओं के समीप जाने से मिलता है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, बड़े बड़े सत्-पुरुषों के समागम से संसाररूपी समुद्र का उल्लघंन करने की युक्ति उस प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार समुद्र का उल्लघंन करने के लिए नाविक से नौका प्राप्त होती है ॥३१॥ हे श्रीरामजी, मरुभूमि की नाईं जिस भूमि में मोक्षरूपी फल को देनेवाला और मानसिक शान्तिरूपी शीतलछाया को करनेवाला तत्त्वज्ञ सत्-पुरुषरूपी वृक्ष विद्यमान न हो, वहाँ विद्वानों को नहीं रहना चाहिए ॥३२॥ श्रीरामचन्द्रजी, मनोहर और तापोपशामक शीतलवचन ही जिसके पत्ते हैं, परोपकार परायणता ही जिसकी उत्तम छाया है और मुसकुराहट ही जिसके पुष्प हैं, ऐसे सत्पुरुषरूपी चम्पा के वृक्ष के नीचे मनुष्य को क्षणभर में ही आत्यन्तिक विश्रान्ति (आत्मलाभरूप विश्रान्ति) प्राप्त हो जाती है ॥३३॥ जिसको तनिक भी विवेक हुआ हो, ऐसे बुद्धिमान् पुरुष को इस संसार में स्वल्प भी निद्रा नहीं लेनी चाहिए, जहाँ कि स्वात्मप्राप्ति रूप विश्रान्ति का अभाव है और जो महामोह से जनित संताप रूपी संपत्ति को देनेवाला है ॥३४॥ आत्मा ही आत्मा का मित्र है, इसलिए इन साधुसमागम आदि उपायों से अपने आप ही अपना उद्धार कर लेना चाहिए, न कि देहाभिमान के गर्व से जन्म कीचड़ के समुद्र में अपने को फँसा देना चाहिए ॥३५॥ बुद्धिमान् व्यक्तियों को अपनी बुद्धि, शास्त्र और सज्जनों की सहायता लेकर प्रबल प्रयत्न से इस देहाधीन दुःख के विषय में विचार करना चाहिए कि यह क्या है ? कैसे आया ? इसका मूल क्या है ? और इसका विनाश किससे हो सकता है ? ॥३६॥ अज्ञान में डूबी हुई अपनी आत्मा का उद्धार करने में मनुष्यों को धन, मित्र, अनात्मशास्त्र और बान्धव ये कुछ भी उपकार नहीं करते ॥३७॥

तब कौन उपकार करता है, इस प्रश्न पर कहते हैं।

सदा सर्वदा ही साथ रहनेवाले विशुद्धमनरूपी मित्र के साथ कुछ परामर्श करने से आत्मा संसार सागर से पार हो जाता है ॥३८॥ वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नों के द्वारा किये गये आत्मविचार से उत्पन्न आत्मतत्त्व साक्षात्कार रूपी बड़े जहाज से यह भवसागर पार किया जाता है ॥३९॥ अनेक मनुष्यों के द्वारा प्रतिदिन शोक को प्राप्त हो रहे तथा दुष्ट आशाओं के द्वारा दाह को प्राप्त हो रहे आत्मा की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, किन्तु अत्यन्त आदर से इसका उद्धार करना चाहिए ॥४०॥ अहंकार ही जिसका मजबूत आलान (हाथी बाँधने का खूँटा) है, तृष्णा ही जिसको बाँधने की रस्सी है, मन ही गण्डस्थल से झरनेवाला जिसका मद है और जन्मरूप कीचड़ में जो फँस गया है, ऐसे जीवरूपी हाथी

का उद्धार करना चाहिए ॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आत्मा की इतने ही यत्न से रक्षा की जा सकती है, जितने यत्न से अपने अज्ञान को दूर कर अहंकार निकाल दिया जाय ॥४२॥ मन के द्वारा रची गई बाह्य और आध्यात्मिक आसक्तियों का निरसन कर जो अहंकारभाव काट दिया जाता है, बस उतने काटनेमात्र से ही परमात्मा का ज्ञान होने तक अनुष्ठित विचार में आत्मा पूर्णरूप से विस्पष्ट–रीति से प्रकट भाव को प्राप्त हो जाता है ॥४३॥

उसमें भी दुस्त्यज देहाभिमान का परित्याग ही मुख्य है, इस आशय से कहते हैं।

काठ और मिट्टी के ढेले की तरह यह देह है, इस प्रकार का जो देखना है, उतने मात्र से ही देवाधिदेव परमात्मा जाना जाता है ॥४४॥ अहंकाररूपी मेघ के विनष्ट हो जाने पर पहले चैतन्यरूपी सूर्य दिखाई देता है, तदनन्तर उस परमात्मदर्शन की भूमिका का परिपाक हो जाता है और उससे परमपद प्राप्त हो जाता है ॥४५॥ जैसे अन्धकार का उच्छेद हो जाने पर प्रकाश का परिज्ञान स्वतः हो जाता है, वैसे ही अहंकार का विच्छेद हो जाने पर आत्मा का परिज्ञान स्वतः हो जाता है ॥४६॥ अहंकार के विनष्ट हो जाने पर जो निरतिशयानन्द विश्रान्ति की स्वरूपभूत निर्विकल्प अवस्था आविर्भूत होती है, वह परिपूर्ण अवस्था है, उसीका उत्तम प्रयत्न से सेवन करना चाहिए ॥४७॥

उसी निर्विकल्प अवस्था का वर्णन करते हैं।

परिपूर्ण समुद्र की तरह असीम वह निर्विकल्प अवस्था न तो सब लोगों के मन की विषय है, न तो किसी उपमान से उपमित की जा सकती है और न विषयों के सम्बन्धों को प्राप्त करती है ॥४८॥ यदि चेतन के प्रकाशात्मक अंश से गृहीत स्थिरता को प्राप्त तुरीय दृष्टि प्राप्त हो, तो उसी तुरीय दृष्टि से निर्विकल्प अवस्था का (परमेश्वर–स्वरूपाविर्भाव–दशा का) सादृश्य कहा जा सकता है, दूसरे का नहीं ॥४९॥

किस तरीके से तुर्यावस्था की संभावना होगी ? तो इस पर कहते हैं।

तुर्यावस्था में स्थित निर्विक्षेपत्व अंश को लेकर सुषुप्ति के पास पहुँचा हुआ जो सादृश्य है, उस सादृश्य से सुषुप्ति अवस्था के समीप तुर्यावस्था संभावित होती है यानी यदि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानरूपी आवरण न होता, तो वह तुर्यावस्था ही होती, इस रीति से सुषुप्त अवस्था से उसकी संभावना की जा सकती है। वह निर्विकल्प परमात्मभावावस्था सम्पूर्ण आकारों से परिपूर्ण तथा आकाश–कोश की नाईं सर्वत्र व्याप्त है ॥५०॥

घट का विनाश होने पर जैसे घटाकाश महाकाशस्वरूप हो जाता है, वैसे ही मन, अहंकार आदि उपाधियों का विनाश होने से त्वं पद से लक्षित होनेवाले आत्मा के स्वरूपभूत हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

मन और अहंकार का विलय होने पर समस्त पदार्थों के भीतर रहनेवाली जिस निरतिशयानन्दात्मक परमात्मस्वरूपावस्था का आविर्भाव होता है, उस अवस्था का, जो स्वयं समाधि से सिद्ध, तथा सुषुप्त अवस्था के साथ पूर्वोक्तरूप से किसी अंश में मिलती जुलती है, वाणी से परिज्ञान नहीं होता, केवल अपने इस हृदय में ही उसका अनुभव होता है, अपने अनुभव के सिवा उसका दूसरा परिचायक नहीं है, यह भाव है ॥५१,५२॥ जैसे साधारण खांड आदि के स्वरूप का अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से परिज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्मा के स्वरूप का भी अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से परिज्ञान नहीं होता ॥५३॥

यह सब सर्वव्यापक आत्मस्वरूप ही है। यदि यह सब आत्माका ही स्वरूप है, तो उसका किस तरह अनुभव होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जब चित्त बाह्य विषयों से उपरत हो जाता है और प्रत्यगात्मा में क्षीरोदक के समान एकरसरूप से उसका निश्चल परिणाम हो जाता है, तब चर और अचरों के स्वरूपभूत तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का साक्षीरूप से प्रकाश करनेवाला आत्मा स्वयं ही अनुभूत हो जाता है, इस विषय में तनिक भी संशय नहीं करना चाहिए ॥५४॥ उस प्रकार चतुर्थ भूमिका में आत्मा का अनुभव होने के अनन्तर पाँचवी भूमिका में विषयवासनाओं का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, उसके बाद छठी भूमिका में किसी तरह के प्रयत्न के बिना ही शुभ परम पुरुषार्थरूप अपने आत्मा का स्फुट प्रकाश यानी सदा ही पूर्णता का अनुभव सिद्ध होता है। उसके बाद सातवीं भूमिका में समाधि और असमाधि की समता के कारण विषमता का अत्यन्त निरास हो जाने से, समुद्र के भीतर विलीन नमक के समान स्व-स्वरूप में सुखैकरसता स्वरूप से परिणमन होता है अर्थात् अपने में ही परमात्मभाव हो जाने से स्वरूपनिष्ठा सिद्ध हो जाती है। इस परिणमन के तत्त्व का ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी इयत्तारूप से परिज्ञान नहीं कर सकते, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियाँ है, यह भाव है ॥५५॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

सह्याद्रि पर्वत का, वहाँ स्थित अत्रि ऋषि के आश्रम का तथा महर्षि अत्रि के
आश्रम मे स्थित विलास और भास नाम के दो तपस्वियों के जन्म, कर्म और शोक का वर्णन।

आत्मदर्शन के उपायों की उपेक्षा करने पर शोक, मोह आदि दुःखों की परम्परा हट नहीं सकती, इस विषय में भास और विलास की आख्यायिका का अवतरण करनेवाले महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं :

कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, 'पुत्र आदि मेरे हैं, यह देह आदि मैं हूँ' इत्यादि अभिमान का परित्याग कर शास्त्र आदि से संस्कृत मन से ही संकल्पात्मक चित्त का छेदन कर यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जाय, तो चित्र में लिखित सूर्य के समान जगत्-रूपी दुःख का कभी भी अस्त नहीं होता। प्रत्युत महान् समुद्र की नाईं असीम संसाररूपी विपत्ति अनन्तता को प्राप्त करती ही रहती है ॥१,२॥

जल के तरंगों की क्रीड़ाओं की हेतु, मेंघों से और तज्जनित नील अन्धकारों से श्याम तथा दुःख-कारण संसाररूपी वर्षा ऋतु बार-बार आती रहती है ॥३॥ इसी विषय में सह्याद्रि के शिखर पर रहनेवाले भास और विलास नाम के दो विशुद्धात्मा मित्रों के संवादरूपी इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण देते हैं ॥४॥ अपनी ऊँचाई से आकाश का अतिक्रमण कर लेनेवाला, उपत्य का भाग से (तराई या पर्वत के पास की भूमि से) पृथ्वी का अतिक्रमण कर लेनेवाला और भूमि के भीतर प्रविष्ट मूलभाग से पाताल का अतिक्रमण कर लेनेवाला तीनों लोकों में विजयी एक पर्वत है। उसका नाम है - सह्य, उसमे भाँति-भाँति के असंख्य फूल हैं, असंख्य निर्मल झरने बह रहे हैं, गुह्यकों (देव विशेषों) द्वारा वहाँ की धन-सम्पत्तियों की चारों ओर से रक्षा की गई है, वहाँ के रत्नों की दीप्तियों से मनुष्यों की दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। मोतियों के समूह से भरे तथा मानसिक आदि रत्नों की दीप्तियों से प्रकाशित हो रही दीवारों

से युक्त सुवर्णमय नितम्ब देश से वह गण्डस्थल से एरावत की नाईं बड़ा भला लगता है। उस पर्वत पर कहीं अनेक तरह के पुष्पों के समूह के समूह मिलकर प्रवाहित हो रहे हैं, कहीं हरिताल, गौरिक आदि धातुएँ भरी पड़ी हैं, कहीं विकसित कमलों से सुशोभित सरोवर हैं, कहीं रत्नों से युक्त शिलाएँ हैं। उस पर्वत पर किसी स्थान में झरनों की गुनगुनाहट हो रही है, कहीं वायु प्रवेश से बाँसों के मधुरशब्द हो रहे हैं, कहीं गुहाओं से निकला वायु सनसनाहट कर रहा है, कहीं भ्रमरों का मंजुल घुंघुम शब्द हो रहा है। उसके शिखर पर अप्सराएँ कहीं गान गा रही हैं, उसके वनप्रदेश में मृग और पक्षियों के सुन्दर शब्द हो रहे हैं। उसके ऊपरी प्रदेश में मत्तों की नाईं मेघ गर्ज रहे हैं और आकाश प्रदेश में पक्षियों के शब्द हो रहे हैं ॥५–१०॥ उस पर्वत की गुहाएँ विद्याधरों से आश्रित हैं, जिनमें भँवरों के मधुर गीत हो रहे हैं, ऐसे कमलों का वह आगर है, उसके नीचे देश में किरात अपना निराला गीत गा रहे हैं, वनों के वृक्षों में पक्षियों का मधुर कलनाद हो रहा है। सारे संसार का मानों यह दूसरा घर है, क्योंकि उस पर्वत का ऊपरी हिस्सा देवों से भरा है, नीचे का हिस्सा मनुष्यों से भरा है और पृथ्वी के भीतर का हिस्सा नागों से भरा है। उसकी छोटी छोटी कन्दराओं में सिद्ध लोग रहते हैं, भीतरी भागों में अनेक निधियाँ गड़ी हैं। चन्दन–वृक्षों में सर्प रहते हैं और शिखरों की चोटियों पर सिंह रहते हैं ॥११–१३॥ उस पर्वत का शरीर नीचे गिरे हुए पुष्परूपी अभ्रों से आच्छादित, तत्क्षण गिरे हुए पुष्पों का अन्तरिक्षस्थ धूलिरूपी अभ्र से धूलीमय, गिर रहे (उड़ रहे) पुष्पों के झंझावातरूपी भ्रम से भ्रान्त–हृदय तथा पुष्पों के वृक्षों से धवलवर्ण है। वह अनेक तरह की धातुओं की धूलिरूपी अभ्रों से कपिलवर्ष और रत्नों की शिलाओं के ऊपर अवस्थित मन्दार वृक्ष के (कल्पवृक्ष विशेष के) ऊपर आरूढ़ सिद्ध स्त्रियों की नाईं मनोहर नगर कि अंगनाओं का चारों ओर से आश्रय–स्थान है ॥१४,१५॥ उप पर्वत में जिन्होंने मेघरूपी नील वस्त्रों का परिधान किया है और मूक रत्नों को धारण करने से अत्यन्त शोभित हो रही है, ऐसी सुवर्णमयी शिलारूपी सुन्दरियाँ शिखररूपी पुरुषों का आलिंगन करने के कारण अभिसारिकाएँ बनी हुई है ॥१६॥

उस पर्वत में उत्तर किनारे के शिखर पर जहाँ फलों से लदे विनम्र वृक्ष हैं, रत्नमयी अनेक बावड़ियों से जल के झरने बह रहे हैं और जो आम्रवृक्ष की शाखाओं के द्वारा ऊपर की ओर विस्तारित फूलों के गुच्छों से तन्तुर यानी ऊँचे दाँतों से युक्त होकर स्थित है, तथा जिसकी दिशाओं के तटों में विकसित कोलक, पुन्नाग (श्वेत कमल) और नील कमल विद्यमान हैं, जिस पर सूर्य लताओं के विस्तार से ढक जाता है, जो रत्नों के दीप्ति समूहों से अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है, बह रहे जम्बूरसों से पूर्ण है और स्वर्ग स्थान की नाईं अत्यन्त आनन्द देनेवाला है : महान्, सिद्धों का श्रम हरनेवाला, ब्रह्मलोक के सदृश, स्वर्ग की नाईं रमणीय, शिवजी के नगर की उपमावाला अत्यन्त सुन्दर महामुनि अत्रि का आश्रम है ॥१७–२०॥ उस बड़े विस्तीर्ण आश्रम में आकाशमार्ग में रहनेवाले बृहस्पति और शुक्र की नाईं शास्त्रों को जाननेवाले विद्वान् तपस्वी, जिनके नाम भी बृहस्पति और शुक्र थे, रहते थे ॥२१॥ किसी समय की बात है वहाँ पर एक ही आश्रम में रहनेवाले उन दोनों तपस्वियों के विशुद्ध स्वरूपवाले दो पुत्र ऐसे उत्पन्न हुए जैसे कि तालाब में दो कमलों के पौधों में फूलों की प्रकृति कलियाँ उत्पन्न होती हैं ॥२२॥ उनके नाम थे – विलास और भास। पिताओं के स्थान में ही वे दोनों क्रमशः लता और वृक्ष के दीर्घ पल्लवों की नाईं बढ़ने लगे ॥२३॥ वे दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यन्त स्नेह रखते थे, परस्पर

प्यार करते थे और मित्र थे। जैसे तिलों में तेल और पुष्पों में सुगन्ध एक दूसरे से मिलेजुले रहते हैं, वैसे ही वे दोनों एक दूसरे से मिलजुल कर रहते थे ॥२४॥ जैसे पुत्र के लिए मिले हुए अनुरक्त पति-पत्नी एक दूसरे से अलग नहीं होते, वैसे ही वे दोनों कभी भी एक दूसरे से अलग नहीं होते थे, उन दोनों के मन समान होने के कारण ऐसा मालूम पड़ता था कि एक ही मन ने मानों दो भागों में बँट कर दो स्वरूप धारण कर लिये है ॥२५॥ अत्यन्त मनोहर शरीरवाले वे दोनों बालक कमल में दो भँवरों की नाईं एक दूसरे से मुदित होकर मुनियों से विराजित उसका सुन्दर आश्रम में उसी प्रकार प्रेमयुक्त होकर निवास करते थे ॥२६॥ अल्पकाल में ही बाल्यावस्था का अतिक्रमण कर नवीन प्रिय उन दोनों ने उदय को प्राप्त सूर्य और चन्द्रमा के समान युवावस्था प्राप्त की ॥२७॥ तदनन्तर जैसे अपने खोते से उड़कर दो पक्षी अन्यत्र चले जाय, वैसे ही वृद्धावस्था से पीड़ित उन दोनों के वे दोनों पिता (शुक्र और बृहस्पति) शरीर को छोड़ परलोक चले गये ॥२८॥ पिताओं के मर जाने पर पानी से निकाले गये कमल की भाँति वे दोनों चेहरे से दीन, शरीर से सन्तप्त और उत्साह से रहित हो गये ॥२९॥ हे रामजी, उक्त बालकों ने अपने पिताओं की दाह आदि क्रिया कर अत्यन्त विलाप किया, क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान् भी लौकिक स्थिति का उल्लघंन करने में असमर्थ होते हैं ॥३०॥

श्रीरामजी, तदनन्तर और्ध्वदेहिक (मरण के बाद की) क्रिया कर व्यथाग्रस्त उन दोनों ने शोक से निकली करूणापूर्ण दीन वाणी से (पिताओं के विषय में) अत्यन्त विलाप किया, उनकी समस्त सचेष्टाएँ निकल गई, वे मरे नहीं, पर विलाप के कारण एका-एक अशून्य हृदय हो गये यानी मूर्छित हो गये और उस समय चित्र में लिखित मनुष्यों की नाईं उनकी स्थिति हुई ॥३१॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान से रहित भास के वचनों से उसके दुःखसागर में पर्यावर्तन का विस्तारपूर्वक वर्णन।

महामुनि श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से तथा दावाग्नि के ताप से सर्वांगीण सूखे हुए अरण्य में उत्पन्न दो वृक्षों के समान अत्यन्त शोक से पराजित पिता के वियोगजन्य संताप से सर्वांगीण सूखे हुए वे दोनों दृढ़ तपस्वी अवस्थित थे ॥१॥ घर, खेत, धन, आदि पदार्थों में अत्यन्त विरक्ति को प्राप्त हुए वे दोनों ब्राह्मण, झुण्ड से अलग हुए दो मृगों की नाईं, अलग अलग होकर जंगल में अपना-अपना कालक्षेप करते थे ॥२॥ तदनन्तर उसी अवस्था में क्रमशः उनके दिन, मास और वर्ष बीतते चले और वे दोनों, गड्ढे में उत्पन्न दो वृक्षों की नाईं, बूढ़ापे को प्राप्त हुए ॥३॥ बहुत समय बीत जाने पर एक समय प्रारब्धवश से कुछ समय बिछुड़े हुए वे दोनों जर्जर तपस्वी, जिन्हें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, एक दूसरे से फिर मिल गये और परस्पर यह कहने लगे ॥४॥

विलास ने कहा : हे मेरे उत्तम जीवनरूपी वृक्ष के फल, हे मेरे हृदय में सदा सर्वदा रहनेवाले अमृत के सागर (चन्द्रमा) और हे इस जगत् के महाबन्धो भास ! आपका स्वागत हो ॥५॥ प्रियवर, मुझसे अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये ? यह बतलाओ। क्या तुम्हारी तपश्चर्या सफल हुई ? ॥६॥ हे साधो, क्या तुम्हारी बुद्धि संसाररूपी अग्नि से जनित संताप से रहित हो गई ? क्या

तुमने तत्त्वज्ञान से आत्मा प्राप्त कर लिया ? क्या तुम्हारी विद्या सफल हो गई ? अच्छा, कहो तुम कुशल तो हो ? ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, उस प्रकार प्रश्न पूछनेवाले तथा संसार से उद्विग्न हुए अपने मित्र (भास) अत्यन्त आदरपूर्वक वक्ष्यमाण प्रकार से स्पष्ट कहने लगा ॥८॥ भास ने कहा : हे माननीय साधु पुरुष, मेरा तो आज ही आगमन शुभ हुआ क्योंकि उत्तम भाग्यवश मुझको तुम्हारा दर्शन हो गया। पर भैया, इस दुःखमय ससार में चक्कर काट रहे हम लोगों की कुशलता कैसे हो सकती है ? ॥९॥ प्रिय बन्धो, जब तक ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं हो जाता, जब तक मन में उत्पन्न होनेवाला काम, संकल्प आदि नष्ट नहीं हो जाते और जब तक इस संसार के पार नहीं लग जाते, तब तक मैं कुशल कैसे हो सकता हूँ ? ॥१०॥ जैसे लताओं के बन्धन सरोते आदि से काटे जाते हैं, वैसे ही जब तक चित्त में उत्पन्न हुई आशाएँ पूर्णरूप से काटी नहीं जाती, तब तक हमें कुशलता कहाँ ? जब तक आत्मज्ञान (शोधित 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ का परिज्ञान) प्राप्त नहीं हो जाता, जब तक समभाव का उदय नहीं होता और जब तक अखण्ड वाक्यार्थ–बोध नहीं हो जाता, तब तक हम लोगों की कुशलता कहाँ ? ॥११,१२॥ हे साधो, आत्मा की प्राप्ति के बिना और ज्ञानरूप महान् औषध के बिना यह संसाररूपी दुष्ट महामारी पुनः पुनः उत्पन्न होती ही रहती है ॥१३॥

प्रिय मित्र, यह संसाररूपी दुष्ट वृक्ष जो पहलें अंकुरित होने पर शैशवरूप विकार टहनीरूपी विकास को पाता है, तदनन्तर उसका अतिक्रमण कर यौवनरूपी पत्ते धारण करता है और तदनन्तर जरारूपी कुसुम से कुसुमित होता है वह बार–बार प्राप्त होता ही रहता है ॥१४॥ इस शरीररूपी जीर्ण शीर्ण वृक्ष से मरणरूपी मंजरी (बौर), जिस पर बान्धवों के आक्रन्दनरूपी भँवरों के गुंजार शब्द होते रहते हैं और वृद्धावस्थारूप पुष्प लगते हैं, बार–बार उत्पन्न होती रहती है ॥१५॥ जिनमें कर्मों का उपभोग किया जा चुका है, ऐसी वसन्त आदि ऋतुओं से सारहीन, प्राचीन दिवसों से पूरित अतएव प्रायः नीरस यह संवत्सरों की परम्परा पुनः व्यर्थ ही बिताई जाती है। भाव यह है कि यदि प्राणी का दुष्ट प्रारब्ध हुआ तो उसको मरण के बाद नरक, स्थावर भाव या पशु आदि निकृष्ट योनियो में जन्म प्राप्त हो जाता है और यदि अच्छा प्रारब्ध हुआ तो स्वर्ग प्राप्त होता है। मरण के अनन्तर यदि नरक आदि मिले, तो वहाँ पर वसन्त आदि ऋतुओं में जिनमें कि ठंडी, गर्मी, वायु, वर्षा, सर्प, मच्छर आदि दुःखदायी असंख्य प्रतिबन्धक भरे पड़े हैं दुष्कृत कर्मों का उपभोग करना ही पड़ता है, अतएव इस ऋतुओं में सरसता कहाँ रही, इन्हीं के कारण वसन्त आदि छः ऋतुओं के मिलने पर हुआ वर्ष भी विरस ही होगा और सुतरां वर्ष परम्परा भी, इस अभिप्राय से 'भुक्तकर्मर्तुविरसा' यह 'संवत्सरावली' का विशेषण है।

अच्छे प्रारब्ध से मरण के बाद यदि स्वर्ग मिला, तो वहाँ पर गया हुआ प्राणी दूसरे पुण्य का साधन कर नहीं सकता, क्योंकि स्वर्ग में केवल भोग ही भोग होता है, पुण्य का संचय नहीं होता, जो पहले का संचित पुण्य होगा, उसका तो व्यय ही होगा। दूसरी बात यह है कि स्वर्ग में अपने अपने पुण्यों के अनुसार ऊँचे नीचे फलों का उपभोग कर रहे दूसरे जीवों को देखकर प्राणी को हर्ष, असूया आदि होते है, ऐसी स्थिति में हर्ष, अमर्ष, असूया, काम आदि दोषों की अधिकता से शम, दम आदि का अनुष्ठान न हो सकने के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति भी स्वर्ग में दुर्लभ है। अतः विषयानुरक्ति से जिन–जिन विषयों का वहाँ पर बैठकर प्रतिदिन उपभोग किया जाता है, उन सबका पहले अनेक बार उपभोग किया

जा चुका है, नवीन विषय तो कोई है नहीं, अतः प्राचीन अनुभूत विषयोपभोग से दिन भी प्राचीनप्राय हुए। वर्षात्मक काल दिवसों से पूर्ण है, अतः 'एवंविध प्राचीन दिनों से पूरित' एतदर्थक 'पुराणदिवसोम्भिता' यह दूसरा विशेषण 'संवत्सरावली' का है ॥१६॥

यदि दैवात् मरण के बाद फिर मनुष्य का शरीर मिला, उसमें भी अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मण आदि का शरीर मिले, तो भी वर्तमान शरीर के मिलने पर केवल विषयासक्ति के कारण हो रहा भ्रमण जैसे दुर्वार है, वैसे ही उसमें भी भ्रमण दुर्वार ही होगा, इस आशय से कहते हैं।

फल ही विषयोपभोग ही जिनमें भयंकर सर्प रहते हैं, हजारों विषयोपभोगों की तृष्णाएँ ही जिनमें उत्पन्न काँटे भी हैं, ऐसी देहरूपी पर्वत की महान् भीषण गुफाओं में यानी गुफाओं के सदृश देहस्थ छिद्रों में अवस्थित इन्द्रियों की आसक्तियों में तथा ऐहिक एवं पारलौकिक भोगों की हेतुभूत लौकिक और वैदिक क्रियाओं में ही जीव सदा सर्वदा लुढ़कता रहता है, अतः उनमें भी आत्मा और अनात्मा के विवेक की संभावना नहीं है, यह भाव है ॥१७॥ जिनमें सुख के लेशमात्र आकार ही है, ऐसे चिरकाल और अल्पकाल तक भोग्य होने के कारण दीर्घ एवं अदीर्घ पुण्य-पापात्मक कर्मरूपी दुःखों से कभी समाप्त न होनेवाले आगम और अपगमसे युक्त रात्रियाँ (कालमात्र) समस्त जन्मों में आती और जाती रहती हैं ॥१८॥ जिनके फल मिथ्या ही हैं, तथा जो कुत्सित आशाओं के आवेश से पल्लवित हैं, ऐसे तुच्छ कर्मों के द्वारा मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुष अपनी आयु यों ही नष्ट कर डालते हैं ॥१९॥

जनमों-जनम विवेक के विरोधियों की प्रबलता और विवेक के सहायकों की दुर्बलता है, इसका सविस्तार वर्णन करते हैं।

जिसने परमात्मा में बन्धन के हेतु विवेकरूपी आलान को उखाड़ फेंका है और जिसने तृष्णा विषयरूपी हथिनी में कामासक्त होने के कारण निद्रा खो दी है, ऐसा मनरूपी मदोन्मत्त हाथी दूर-दूर चारों ओर दौड़ता रहता है ॥२०॥ जिससे परम पुरुषार्थ का हेतुभूत आयुरूप चिन्तामणि तथा विवेकरूप चिन्तामणि व्यर्थ गिर रहा है, ऐसे शरीर वृक्ष के ऊपर अवस्थित हृदयरूपी बड़े घोंसले में रहनेवाला जीभ की चंचलता में संलग्न अत्यन्त प्राचीन स्वादु अन्न आदि में अभिलाषारूपी गीध बढ़ता ही रहता है ॥२१॥ जीर्ण-शीर्ण पत्ते के सदृश, रसशून्य, सुख से वर्जित दिवसों से परिच्छिन्न यह तुच्छ शरीर लता जिसके अवयव क्षय, दुर्बलता, रोग आदि से कार्य में असमर्थ हो गये हैं वह नष्ट हो जाती है ॥२२॥ जैसे कुहरे से आहत (आक्रान्त) कमल धूसर (मटमैला) हो जाता है, वैसे ही वृद्धावस्था में पुत्र, चाकर आदि के द्वारा जनित अपमानरूपी धूलि से आहत, शारीरिक शोभा से वर्जित मुख धूसर हो जाता है ॥२३॥ जैसे सूख रहे सरोवर से राजहंस तत्क्षण भाग जाता है, फिर कभी नहीं लौटता, वैसे ही यौवनरूपी जल जिसमें से नष्ट हो रहा है, ऐसे सुख रहे शरीररूपी सरोवर से आयु भाग जाती है, पुनः कभी नहीं लौटती ॥२४॥ कालरूपी पवन के द्वारा बलपूर्वक कँपाए गये जर्जर जीवनरूपी वृक्ष से भोगरूपी फूल और दिवसरूपी पत्ते नीचे गिरते जाते हैं यानी विनष्ट हो जाते हैं ॥२५॥ जिनमें भोग ही बड़े-बड़े सर्प रहते हैं और जिन्होंने आन्तर दुःखात्मक मेढकों को धारण किया है, ऐसे मोहों के अन्धकूपों में अवस्थित जल-प्रवाहो में मन डूबता रहता है ॥२६॥ अनेक तरह के अनुरागों में लगी हुई यह तरल तुच्छ तृष्णा, देवमन्दिरों के ऊपर लगी पताका की नाईं, ऊँची ही चढ़ी रहती है ॥२७॥ इस संसाररूपी

तन्त्र के (ताँतों के) जीवन आशा से भरे आयुरूपी तन्तु को महान् कालरूपी बिल में रहनेवाला मृत्युरूप चूहा सदा कतरता रहता है ॥२८॥ जिसमें यौवन ही बड़े–बड़े तरंग हैं; चल रही चंचल तलवार के सदृश काम, क्रोध, द्वेष, भय आदि ही जिस में फेन हैं तथा लोभ, तृष्णा आदि से यत्र–तत्र होने वाले परिभ्रमण ही जिसमें बड़े–बड़े आवर्त हैं, ऐसी जीवितरूपी दुष्ट नदी व्यर्थ ही जा रही है ॥२९॥ शिल्प, तर्क, नीतिशास्त्र आदि कौशलों से व्याप्त जगत् के व्यवहाररूप तरंगों से परिपूर्ण, क्षुब्धतारूपी कोटरों से युक्त यह प्रवृत्तिरूपा नदी, जिसका पारावार ही नहीं है, प्रत्येक जन्म में ऐसे ही निरर्थक बहती रहती है ॥३०॥ ये बन्धुजनों के समूहरूपी असंख्य नदियाँ गम्भीर कोटरवाले विशाल काल सागर में निरन्तर गिरती रहती हैं ॥३१॥ हे प्रियवर, जनम–जनम में यह नहीं जाना जाता है कि परमपुरुषार्थ की साधनभूता यह देहरूपी रत्नशलाका विनाशरूपी कीचड़ से पूर्ण सागर के पेट में किस जगह समा गई है ॥३२॥ चिरकाल से चिन्तारूपी चक्र में बँधा हुआ तथा दुष्ट क्रियाओं के अनुष्ठान में निरत यह चित्त, समुद्र के छिद्रवाले बड़े आवर्त में घूम रहे तृण की नाईं, घूमता रहता है ॥३३॥ असंख्यकायरूपी तरंगों में बह रहा तथा चिन्तारूपी ताण्डव नृत्य से युक्त चित्त क्षणभर भी विश्रान्ति नहीं पा रहा है ॥३४॥ मैंने यह किया, यह करता हूँ और यह करूँगा, इस प्रकार की कल्पनाओं के जाल में फँसकर मतिरूपी पक्षिणी अत्यन्त मोहित हो जाती है ॥३५॥ मित्र, जैसे मत्त हाथी नील कमलों का उच्छेदन कर देता, वैसे ही यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, इस प्रकार के द्वन्द्वरूपी मदोन्मत्त हाथी मेरे मर्मस्थानों का भेदन कर रहा है ॥३६॥ भद्र, चिरकालिक चिन्ता नदी के समान् आवर्त में, जिसमें तरंगों के समूह भरे पड़े हैं, अत्यन्त चपल मनरूपी मत्स्य क्षण भर में ही महती वृद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥३७॥ आत्मा का तनिक भी स्पर्श नहीं करनेवाले तथा अनात्मभूत देह आदि की ही शरण लेनेवाले उस प्रकार के असंख्य दुःखों को देहात्मबुद्धि से बटोरकर पुरुष दीनता को प्राप्त करता है ॥३८॥

सब जन्मों में दुःख के स्थान अनेक हैं, यों बतला रहे महानुभाव भास प्रकृत विषय का उपसंहर करते हैं।

अनेकविध सुख और दुःखों के बीचमें पड़ा हुआ, विशाल जरामरणरूपी आँधी से बार–बार मर्दित हुआ तथा जगत्–रूपी उदयाचल पर लोट रहा यह प्राणी सुखे पत्ते की नाईं जर्जरता को प्राप्त होता है ॥३९॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसका समर्थन करने के लिए बन्धन अन्तःकरण की आसक्ति से होता है और अन्तःकरण की आसक्ति के त्याग से उसका विनाश हो जाता है, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, उन दोनों ने उस प्रकार संसार की असारता के विचार से ओतप्रोत कुशल प्रश्न एक दूसरे से किया। तदनन्तर समय आने पर विशुद्ध ज्ञान पाकर वे दोनों मुक्त हो गये ॥१॥ हे महाबाहो, इसलिए मैं कहता हूँ कि जाल के समान बन्धन के हेतुओं से परिपूर्ण चित्त को संसार–तरण में यथार्थ आत्मज्ञान के सिवा और दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥२॥

जैसे साधारण तुच्छ पक्षी के लिए दुस्तर सागर गरुड़जी के लिए गाय के खुरमात्र के समान है, वैसे ही पहले जिस दुःख का वर्णन किया जा चुका है, वह यद्यपि असीम है, तथापि भव्यमति (विवेकी) पुरुष के लिए वह अत्यन्त कोमल है यानी वह उसका उच्छेद अनायास कर सकता है ॥३॥

स्थूल और सूक्ष्म दो देहों में होनेवाले अभिमान का परित्याग ही संसार के उच्छेद का उपाय है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे तटस्थ दर्शक पुरुष दूर से ही जनसमूह को देखता है, वैसे ही देहाभिमान से रहित, चिन्मात्र स्वरूप अपनी आत्मा में निष्ठा रखनेवाले महात्मा लोग दूर से ही देह को देखते रहते हैं ॥४॥ भले ही देह दुखों से अत्यन्त क्षुब्ध हो जाय, उससे हमें (आत्मा में) कौन सी क्षति पहुँची ? रथ के घुरारहित होने पर या तुट जाने पर सारथियों को कौन सी क्षति पहुँचती है ? ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन के क्षुब्ध हो जाने पर चित्स्वभाव आत्मा के पूर्णत्व–स्वरूप में क्या क्षति हुई ? क्या तरंगों के रूप में जल का विस्तार हो जाने पर पूर्णस्वभाव समुद्र में विपरित्य यानी पूर्णतास्वरूप की हानि पहुँचती है ? ॥६॥

अहन्ता का त्याग होने पर किसी को भी कहीं पर भी ममता की प्राप्ति नहीं होती, इस अभिप्राय से कहते हैं।

भला बतलाईये कि हंस जल के कौन और पाषाण जल के कौन होते हैं और शिलाएँ काष्ठों की कौन होती हैं ? अर्थात् कोई नहीं होती, वैसे ही भोग परमात्मा के कौन होते हैं ? अर्थात् अचेतन और असंग चित्त में कभी भी ममता नहीं हो सकती, यह भाव है ॥७॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार बीच–बीच में अनेक पर्वतों से व्याप्त होने पर भी उत्तर पर्वत और दक्षिण समुद्र का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही परमात्मा और संसार का भी पस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या कहीं आकाश रज्जू से बाँधा जा सकता है ? ॥८॥ अपनी गोद में धारण किये गये कमल भी जल के कौन होते है ? अर्थात् जैसे कोई नहीं हैं, वैसे ही यहाँ आत्मा के शरीर भी कोई नहीं हैं ॥९॥ जैसे काठ और जल के अन्योन्य आघात से बड़े बड़े उत्तंग कण आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही देह और आत्मा के तादात्म्यअध्यास से सुख, दुःख आदि चित्त वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१०॥

आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध आध्यासिक है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे जल और काष्ठ के केवल सान्निध्य से ही जल में काठ के प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, वैसे ही (अध्यासिक सम्बन्ध से) आत्मा में शरीर दिखाई देते हैं ॥११॥ जैसे दर्पण, तरंग आदि में पड़े हुए प्रतिबिम्ब वास्तव में न सत्य हैं और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं, वैसे ही आत्मा में प्रतीयमान शरीर भी न सत्य है और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं ॥१२॥ जैसे परस्पर आहत होने पर काठ, जल और पत्थर कभी भी दुःखित नहीं होते, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशरूपी पाँच भूतों के, जो देह आदि के स्वरूप में परिणत हुए हैं वे कोड़ा, चन्दन आदि से संयुक्त अथवा स्त्री, पुत्र आदि से वियुक्त होने पर कभी दुःखित नहीं होते ॥१३॥ जैसे काठ के साथ सम्बन्ध को प्राप्त जल से कम्प, शब्द आदि क्रियाओं की उत्पत्ति होती है, वैसे ही सामीप्य संसर्ग से चैतन्य के द्वारा अधिष्ठित होकर चारों ओर से बोधित इस देह से कम्प, शब्द आदि क्रियाएँ होती हैं ॥१४॥

भासमान सुख, दुःख आदि के अनुभव किसको होते हैं ? इस शंका पर किसी को नहीं होते, ऐसा

समाधान कहते हैं।

शुद्ध चैतन्य और जड़ देह को ये सुख, दुःख आदि के अनुभव नहीं होते, उक्त केवल अज्ञान को ही होते हैं, जब अज्ञान नष्ट हो जाता हैं, तब हम लोगों की केवल शुद्ध चिति ही अवशिष्ट रह जाती है ॥१५॥ जैसे काठ और जल का सम्पर्क होने पर उनमें से किसी को सुख और दुःख का अनुभव नहीं होता, वैसे ही देह और और देहाभिमानी आत्मा का सम्बन्ध होने पर उनमें से किसी को भी सुख, दुःख आदि का अनुभव नहीं होता है ॥१६॥

तब तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ दोनों में समानता ही रही, इस पर कहते हैं।

अज्ञानी पुरुष जिस रूप से इस संसार को देखता है, इसको उस रूप से सत्य ही मान लेता है और ज्ञानी पुरुष जिस रूप से इस संसार को देखता है उसको उस रूप से सत्य नहीं मानता ॥१७॥

तब ज्ञानी पुरुष को अपने प्रारब्ध के अनुसार होनेवाले भोगानुभव किस तरह के रहते हैं ? इस पर कहते हैं।

जैसे पत्थर और जल के सम्बन्ध भीतर के अनुप्रवेश से वर्जित होते हैं, यानी जल के भीतर न पत्थर का प्रवेश होता है और न पत्थर के भीतर जल का प्रवेश होता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को आसक्ति वर्जित मानसिक वृत्तियों के होने पर जायमान बाह्य विषयों के अनुभव भीतरी संग से (अभिमान से) रहित होते हैं ॥१८॥ जैसे जल और काठ का सम्बन्ध भीतर के सम्बन्ध से रहित होता है, वैसे ही देह और देही आत्मा का सम्बन्ध भी भीतर के सम्बन्ध से (परमार्थ सम्बन्धसे) रहित होता है ॥१९॥ जैसे जल और काठ का तथा प्रतिबिम्ब और जल का सम्बन्ध अन्तःसंग से रहित यानी तादात्म्य सम्बन्ध से शून्य होता है, वैसे ही देह और देही का भी सम्बन्ध अन्तःसंग से रहित यानी तादात्म्य सम्बन्ध से शून्य ही होता है ॥२०॥

पूर्वश्लोक में जल और काठ का दृष्टान्त संसर्गाभाव के बोधन केलिए और यहाँ तादात्म्य के अभाव के बोधन के लिए दिया गया है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिए। शंका हो कि यदि सुख, दुःख आदि के ज्ञान का निषेध करते हैं, तो उनके ज्ञान को छोड़कर इस संसार में दूसरे ज्ञान का अभाव होने के कारण शून्यता ही प्रसक्त हो जायेगी ? तो इस आशंका पर कहते हैं।

वेद्य विषयों से रहित शुद्ध संवेदन ही सर्वत्र अवस्थित है, द्वैत से कलंकित दूसरी संवित् है ही नहीं, क्योंकि द्वैत विषय का निरूपण ही नहीं हो सकता ॥२१॥

जो असत् है, उसका भी भ्रान्तिवश अस्तित्वरूप से भान होता है, यह कहते हैं।

जैसे वेतालरूप से भावना करने पर अवेताल वस्तु भी विशाल वेताल स्वरूप हो जाती है, वैसे ही दुःखशून्य चैतन्यरूप आत्मा भी अन्तःकरण में दुःख भावना करने से स्पष्ट दुःखित्वरूप से भासने लगता है ॥२२॥ जैसे वास्तव में सम्बन्ध न होने पर स्वाप्निक अंगना के साथ क्रीड़ा आदि व्यापार में आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है अथवा जैसे वेतालरूप न होने पर ठूँठ अँधेरे में आध्यासिक सम्बन्धवश वेतालरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा के साथ वास्तव में देह आदि का सम्बन्ध न होने पर भी मन की भावना से उसके साथ देहादि का आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है ॥२३॥ जैसे जल और काठ का परस्पर सम्बन्ध असत्–प्राय (मिथ्यारूप ही) है वैसे ही शरीर और परमात्मा का सम्बन्ध भी मिथ्या ही

है ॥२४॥ जैसे भीतरी सम्बन्ध का (अहन्ता के अध्यास का) अभाव होने के कारण काष्ठों के पतनों से जल पीड़ित नहीं होता, वैसे ही देह आदि के अध्यासों से शून्य आत्मा शारीरिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता ॥२५॥ विद्वानों का यह निश्चित मत है कि चूँकि देह में अहंभावना करने से ही आत्मा देह के दुःखों से दुःखित है, इसलिए देह भावना का परित्याग करने से ही पुरुष मुक्त हो जाता है ॥२६॥ हे प्रिय श्रीरामचन्द्रजी, छोटे तालाब में गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ एक दूसरे से यद्यपि सम्बद्ध है, तथापि अहन्ताध्यास से रहित होने के कारण जैसे दुःखी नहीं होते, ऐसे ही आत्मा, देह, इंद्रिय और मन एक दूसरे से यद्यपि पर्याप्तरूप से सम्बद्ध है, तथापि अहन्ताध्यास का वास्तव में अभाव होने के कारण वे परमार्थतः दुःख से रहित ही सदा सर्वदा रहते हैं ॥२७,२८॥ हे श्रीरामजी, संसार में अहन्ताध्यास ही समस्त प्राणियों के जरा, मरण और मोहरूपी वृक्षों का उपादान कारण यानी मूल कारण है ॥२९॥ जो जीव अहन्ताध्यास युक्त है, वह इस संसाररूपी सागर में डूबा हुआ है और जो अहन्ताध्यास से निर्मुक्त है, वह संसाररूपी सागर से पार हो चुका है ॥३०॥ अहन्ताध्यास से युक्त मन, काम आदि वृत्तियों की असंख्यता के कारण, अनन्त शाखा-प्रशाखाओं से युक्त वृक्ष के सदृश कहा जाता है और अहन्ताध्यास से वर्जित मन विलीन चित्त कहा जाता है ॥३१॥ श्रीरामजी, आप मुझसे यह जान लीजिए कि जैसे भीतर से खण्डित हुए स्फटिक निर्मित लिंग आदि पूजा के लिए अपावन यानी अयोग्य हो जाते हैं, वैसे ही विषयासक्त हुआ यह मन अपवित्र हो जाता है और जैसे खण्डित न हुए स्फटिक आदि से निर्मित लिंग आदि पवित्र रहते हैं, वैसे ही विषयों में आसक्ति से वर्जित यह मन सदा सर्वदा पवित्र ही रहता है ॥३२॥ विषयों की आसक्ति से वर्जित और विक्षेप आदि मलों से रहित चित्त संसारी होता हुआ भी निःसंशय मुक्त ही है और विषयो में आसक्त चित्त चिरकालिक तपश्चर्या से युक्त होता हुआ भी अत्यन्त बन्धन से ग्रस्त ही है ॥३३॥ अहन्ता आदि अध्यास से युक्त मन संसाररूपी बन्धन से बँधा है और अहन्ता आदि अध्यास से रहित मन संसाररूपी बन्धन से छुटा हुआ है, अकेला अहन्ता अध्यास ही बन्ध और मोक्ष में कारण है ॥३४॥ जैसे बड़े बड़े काष्ठ भारों को पार उतारनेवाली जलस्थ नौका स्वयं लकड़ी की होती हुई भी लकड़ी के छेदन, भेदन, दहन आदि गुण-दोषों से तथा जल के चलन, परिवर्तन, निर्मलपन, गन्देपन आदि गुण-दोषों से गुण-दोषवती नहीं होती, वैसे ही अहन्ता आदि अध्यास से निर्मुक्त पुरुष शरीरयात्रार्थ सब कुछ करता हुआ भी, कर्ता नहीं होता ॥३५॥ जैसे स्वप्न में, जो सुख और दुःख दोनों से भरा है, वास्तव में कुछ न करने पर भी स्वप्नावस्थायुक्त जीव को बाघ आदि से जनित भय, पलायन आदि में व्याकुलता हो जाती है, वैसे ही वास्तव में कर्ता न होने पर भी जीव अहन्ता आदि के अध्यासवश कर्ता हो जाता है ॥३६॥ जैसे स्वप्नावस्था में देह की चेष्टा न होने पर भी चित्त की कर्तृता से आत्मा में कर्तृत्व विद्यमान है, वैसे ही पुत्र, सेवक आदि को देख रहे जाग्रदवस्था युक्त आत्मा में देह की चेष्टा न होने पर भी स्पष्टरूप से चित्त की कर्तृता से कर्तृत्व विद्यमान है; यह कर्तृत्व भी मुख्य कर्तृत्व के सदृश ही एक तरह से हैं, क्योंकि विक्षुब्ध को (चंचल चित्त को) सुख दुःख देखे जाते हैं ॥३७॥ मन के कर्तृत्व न होने पर आत्मा का अकर्तापन स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाता है, क्योंकि शून्यचित्त पुरुष कर्ता होते हुए भी अभिमान नहीं करता ॥३८॥ श्रीरामजी, चित्त से जो किया गया है, उसीका आप फल पाते हैं और चित्त से जो नहीं किया गया है, उसका फल नहीं पाते हैं। देह

कहीं कर्म के प्रति कारण नहीं है क्योंकि चित्त में कर्तृत्व शक्ति नहीं है, यह बात नहीं है, अतएव चित्त की कर्तृत्वशक्ति से ही सब कर्मों की स्थिति हो जायेगी, फिर देह में कर्तृत्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥३९॥ यद्यपि मन भले ही कुछ करे, तथापि यदि वह उसमें आसक्त नहीं है, तो वह अकर्ता के सदृश ही है। आसक्ति वर्जित मन कर्मों के फलों का भोक्ता नहीं होता, यों तत्त्वज्ञ महानुभाव कहते हैं ॥४०॥ दूर देश में अवस्थित कान्ता में जिस पुरुष का मन आसक्त है, वह पुरुष जैसे सामने के कार्यों से (शीत, उष्ण आदि के अनुभवरूप कार्यों से) लिप्त नहीं होता, वैसे ही आसक्ति वर्जित पुरुष ब्रह्महत्या, अश्वमेघ आदि के पुण्य–पापों से लिप्त नहीं होता ॥४१॥ अहन्ता आदि अनात्म अध्यासों से विनिर्मुक्त जीव विक्षेपों से शून्य सुखों का पूर्ण अनुभव करता है। वह बाहर से कुछ करे या कुछ न करे, पर सर्वथा कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित ही है ॥४२॥

आसक्ति का त्याग करने से ही सभी जीवन्मुक्त पुरुष के गुण मन में सिद्ध हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जो अन्तःकरण भीतरी आसक्तियों से शून्य होगा, वह न कर्ता होगा, न बद्ध होगा, न अयुक्त होगा और न लिप्त होगा अर्थात् अकर्ता, विमुक्त, प्रशान्त, युक्त और अलिप्त ही होगा ॥४३॥

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, इससे सबके भीतर रहनेवाले आत्मा से भिन्न बाहर से लगे हुए पाँच कोशों का तथा भोग्यवर्गरूप बन्धनों में डालनेवाले समस्त पदार्थों का निरास करने में यही एक मुख्य उपाय निश्चित हुआ कि अखिल दुःखों को देनेवाली क्रूर आसक्ति का परित्याग करना चाहिए यानी इतने विचार से यही निश्चित हुआ आसक्ति परित्याग ही बन्धन के निरास में हेतु है, यह तात्पर्य है ॥४४॥

हे राघव, तीक्ष्ण धारवाले तलवार आदि शस्त्र के समान नीले यमुना जल में मिश्रित हुआ स्फटिक मणि की नाईं अति स्वच्छ गंगाजल जैसे (उसके साथ) एकरूपता को प्राप्त हो जाता है; वैसे ही आसक्ति दोष से रहित, अतएव संसारदशा से प्राक्तन प्रत्यक्–तत्त्व को, जो आकाश के सामन निर्मल कान्तिवाला है, प्राप्त हुआ मन समस्त प्रपंच के उपशमरूप मलों से शून्य परमात्मा के साथ एकरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

संसक्ति और असंसक्ति के लक्षण, वन्ध्या–अवन्ध्याविभाग तथा फल का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : भगवान्, संग किस प्रकार से होता है ? किस तरह का संग मनुष्यों को बन्धन में डालता है ? कैसा संग मोक्ष का कारण हैं ? और संग की चिकित्सा (निवृत्ति) कैसे की जा सकती है ? ॥१॥

वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, शरीर (क्षेत्र) और शरीरी (क्षेत्रज्ञ) आत्मा का जो विभाग है यानी शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है, यों जो उनकी विरुद्ध स्वभावता है, उसका भली प्रकार केवल पर्यालोचन न करने से ही एक दूसरे में एक दूसरे का तादात्म्य और एक दूसरे में एक दूसरे के धर्मों का विनिमय होता है। इसी विनिमय भावना से शरीर में उत्पन्न हुआ जो आत्माभिमान है यहीं संग कहलाता है और इसी

संग से संसाररूपी बन्धन उत्पन्न होता है ॥२॥

संग के अन्यान्य लक्षण कहते हैं।

आत्मा का स्वरूप असीम है यानी उसका काल से, देश और वस्तु से किसी तरह परिच्छेद नहीं हो सकता, अज्ञानवश उसमें उक्त त्रिविध परिच्छिन्नता का निश्चय हो जाने पर जीव का अपना अपरिच्छिन्न सुखस्वभावता का विस्मरण हो जाता है, इस प्रकार के उक्त विस्मरण से इधर उधर के तुच्छ विषयों से वह आभ्यन्तर सुख चाहने लगता है, अतः जो वैषयिक सुखार्थिता है, यही बन्धन की हेतु संग कहलाती है ॥३॥

बन्धन हेतु आसक्ति की विरोधिनी असंग स्थिति का लक्षण कहते हैं।

श्रीरामजी, यह दिखाई दे रहा समस्त प्रपंच आत्मस्वरूप है, इसलिए मैं उसमें से किसको चाहूँ और किसको छोड़ दूँ, इस प्रकार की परिपक्व विचारणा से जनित जीवन्मुक्त के शरीर की जो अवस्था है, उसे आप असंग-स्थिति जानिए ॥४॥ मैं अहंकार से परिच्छिन्न (स्वल्पता को प्राप्त) नहीं हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है, इसलिए मिथ्याभूत शरीर में विषयों से जनित सुख हों चाहे न हों, मैं तो देहादिक के साथ कभी संग को प्राप्त न होनेवाले स्वभाव से युक्त हूँ, इस प्रकार जिसका भीतर से दृढ़ निश्चय है, वह मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाता है ॥५॥ हे श्रीरामजी, जो अपने सर्वकर्मत्याग की यत्र तत्र बड़ाई नहीं करता, जो फल के उद्देश्य से कर्मों में अभिनिवेश नहीं करता, जो फल की सिद्धि और असिद्धि में सदा एक-सा रहता है और जो ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मफलों का परित्याग कर देता है, वही पुरुष असंसक्त कहलाता है ॥६॥ सदा सर्वदा केवल आत्मस्वरूप में निष्ठा रखनेवाले जिस महात्मा का अन्तःकरण हर्ष और क्रोध के वश में नहीं होता, वही लोक में असंसक्त और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥७॥ जो पुरुष, अत्यन्त कुशलतापूर्वक सम्पूर्ण कर्म और तज्जनित फल आदि केवल मन से ही, न कि कर्म से, परित्याग करता है, वह असंसक्त कहलाता है साधारण लोगों को अच्छे अच्छे कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए बाहर से तो वह कर्म आदि का अनुष्ठान करता रहता है, पर भीतर से उनमें आसक्ति नहीं रखता। यह 'न कर्मणा' इस वाक्य से बतलाया ॥८॥

तीन प्रश्नों का समाधान कर चतुर्थ प्रश्न का समाधान करते हैं।

हे राघव, संसक्ति के अभाव से अनेक तरह के फलानुरागों द्वारा उत्पन्न हुई निखिल दुष्ट चेष्टाएँ विनष्ट हो जाती हैं और श्रवण आदि शुभ चेष्टाएँ निर्विघ्नतापूर्वक कल्याण का सम्पादन करती रहती हैं ॥९॥

अब आसक्ति से होनेवाले परिणामों का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं।

भद्र, आसक्ति से विस्तार को प्राप्त हुई समस्त दुःखराशियाँ गड्ढे में उत्पन्न काँटेवाले वृक्षों की नाईं हजारों शाखा-प्रशाखाओं में फैल जाती हैं ॥१०॥ जिसका नाक नाथ से खींचा गया हो, ऐसा गदहा भयभीतात्मा होकर जो अपनी गति से मार्ग में भार ढोता है, वह आसक्ति के फल का ही एक विस्तार है। किसी देश में गदहे को भी नाथ लगाते हैं। अथवा 'गर्दभ' शब्द को बैल आदि भारवाहक ग्राम्य पशुओं में उपलक्षण मान लेना चाहिए ॥११॥

वृक्ष एक स्थान में चुपचाप खड़ा होकर अपने स्थावर शरीर से ठंड, वायु और धूप के क्लेश को जो

सहता (अनुभव करता) रहता है, वह भी आसक्ति के फल का ही विस्तार है ॥१२॥ भूमि के बिल में पड़ा हुआ अतएव अपने अंगों में पीड़ा का अनुभव कर रहा बेचैन कीट जो काल काट रहा है, वह भी आसक्ति के फल का विस्तार है ॥१३॥ क्षुधा से जिसकी पाँख कृश हो गई है तथा जिसकी बुद्धि बाण, पत्थर, मिट्टी के ढेले आदि के अभिघात से भय ग्रस्त हो गई है, ऐसा वृक्ष की शाखाओं पर शयन कर रहा पक्षी अपनी आयु को जो खपाता है, वह आसक्ति के फल का विस्तार है ॥१४॥ दूब, कोंपलों और तिनकों का आहार करनेवाला मृग भीलों के बाणों की पीड़ा से अपनी देह को जो छोड़ देता है, वह भी आसक्ति के फल का विस्तार है ॥१५॥ पुण्य और पाप के अधिकारी ये जन–समूह ध्वस्त–विध्वस्त होकर बार बार जन्म धारण कर रहे कृमि और कीट भाव को जो प्राप्त होते हैं, वह संसृति के फल का विस्तार है ॥१६॥ जलाशय में तरंगों की नाईं ये असंख्य भूत (प्राणी) उत्पन्न हो होकर जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥१७॥ लता और तिनकों के समान शक्तिहीन दशा को प्राप्त अतएव चलने–फिरने की शक्ति से शून्य मनुष्य पुनः पुनः जो मर जाते हैं, वह संसक्ति के फल का विस्तार है ॥१८॥ भूमि के अन्दर स्थित जल को अपने अपने मूलों से पीकर तृण, गुल्म, लता आदि अपने अपने विजातीय स्वरूप को जो उत्पन्न करते हैं, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥१९॥ अपनी अनर्थ परम्पराओं के अनुरूप वियोग, भ्रान्ति, पतन आदि हजारों विक्षेपों के हेतु असंख्य बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों से परिपूर्ण यह संसाररूपी नदी जो बढ़ने पाई है, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥२०॥ हे श्रीरामजी, आसक्ति दो प्रकार की कही गई है एक वन्द्या (वंदनीय) यानी प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या यानी पुरुषार्थ फल से शून्य। इनमें पहली वन्द्या आसक्ति खुद तत्त्वज्ञ महात्माओं की है और दूसरी वन्ध्या सर्वत्र प्रसिद्ध समस्त अज्ञानियों की है ॥२१॥ आत्मतत्त्वज्ञान से रहित, देह आदि असत्य वस्तुओं से जनित जो अत्यन्त दृढ़ यानी चिरकाल से भावित पुनः पुनः संसार में आसक्ति है, वह वन्ध्या आसक्ति कही जाती है ॥२२॥ आत्मा के स्वरूपज्ञानरूप हेतु के द्वारा यथार्थ और अयथार्थ वस्तु के (नित्यानित्यवस्तु के) विवेक से उत्पन्न हुई, अबाध्य आत्मतत्त्व का अवलम्बन करनेवाली जो पुनःसंसार से शून्य आसक्ति है, वह वन्द्या आसक्ति कही जाती है ॥२३॥

सर्वोत्कर्षत्व की सम्पादक यही वन्द्या आसक्ति है, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामजी, जिनके हाथों में शंख, चक्र गदा है, ऐसे भगवान् विष्णु इसी वन्द्या संसक्ति के प्रभाव से विविध मत्स्य आदि अवतारों में की गई लीलाओं द्वारा तीनों लोकों का पालन करते हैं ॥२४॥ इसी वन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य से भगवान् सुर्यनारायण आकाशमार्ग में किसी प्रकार का अवलम्बन लिए बिना प्रतिदिन निरन्तर संचरण किया करते हैं॥२५॥ हे राघव, जिसने प्राकृत प्रलय में विदेह–कैवल्यरूप परम शान्ति के लिए दो परार्ध वर्ष पर्यन्त हरि आदि की कल्पना की है, ऐसा हिरण्यगर्भ का शरीर वन्द्या संसक्ति की ही सामर्थ्य से व्यवहार करता है ॥२६॥ केवल लीला से गौरीरूपी आलान (बन्धन–स्तम्भ) में आसक्त तथा भस्म से अत्यन्त सुशोभित महादेवजी का शरीर इसी वन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य से अवस्थित है॥२७॥ जिन्होंने आत्मतत्त्व के विज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठा पाई है, ऐसे सिद्ध, लोकपाल तथा अन्यान्य देवता जो इस जगत् के प्रांगण में स्थित रहते हैं, वह भी वन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥२८॥ तीन लोकों से भिन्न अन्यान्य भुवन (महः, जनः, तपः आदि लोकों में रहनेवाले तत्त्वज्ञ

महात्मा लोग) मरण से रहित शरीर के यन्त्रों के समूहों को जो धारण करते हैं, वह भी वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥२९॥

वन्ध्या संसक्ति में वन्ध्यात्व (निष्फलत्व) ही है, इसका उपपादन करते हैं।

माँस के टुकड़ों में गीध की नाईं विषयों में झूठमूठ रम्यत्व की कल्पना कर जो मन झपटता है, वह वन्ध्यासंसक्ति की सामर्थ्य है ॥३०॥

मुक्त और अमुक्त दोनों के सारे व्यवहार संसक्ति से ही होते हैं, यों विस्तारपूर्वक बतलाते हैं।

संसक्ति के प्रभाव से वायु समस्त भुवनों के कोटरों में बहता है, पाँच भूत अपने अपने स्वरूप में रहते हैं और यह जगत्–स्थिति चलती है ॥३१॥ संसक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फल में मच्छरों की नाईं अपना अपना व्यवहार कर रहे देवता स्वर्ग में, मनुष्य पृथ्वी में, सर्प और असुर पाताल में अवस्थित हैं ॥३२॥

हे रामजी, समुद्र में तरंगों की नाईं ये असंख्य भूत जो उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, गिरते हैं उठते हैं, यह भी संसक्ति का विलास है ॥३३॥ झरनों के जलकणों के समान उड़–उड़ कर विरसतापूर्वक ये भूत जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्ति का प्रताप है ॥३४॥ मछली के सदृश एक दूसरे के अंगों को निगल रहे, जड़ता से जर्जर तथा भ्रमग्रस्त ये जनसमूह आकाश में शीर्ण शुष्क पत्ते के समान जो भ्रमण कर रहे हैं, वह भी संसक्ति का प्रताप है ॥३५॥

प्रिय रामजी, वृक्ष के ऊपर मच्छरों की पंक्ति की नाईं पाताल में जल–प्रवाह के सदृश आवर्त वृत्ति धारणकर आकाश में जो नक्षत्र चक्र घुम रहा है, वह भी संसक्ति की सामर्थ्य है ॥३६॥ कभी उदय तो कभी अस्त, कभी वृद्धि तो कभी ह्रास, कभी उत्थान तो कभी पतन इस विविध दशाओं से सदा ही शिथिल; कालरूपी बालक के गेंद रूप; जड़तायुक्त; जलमय तथा अनेकविध कलंकों से म्लान चन्द्र का शरीर यद्यपि इन बहुविध दोषों के कारण परित्याग करने योग्य है, तथापि आज तक जो वह नहीं छोड़ता, यह संसक्ति का ही परिणाम है ॥३७॥ अनेक तरह के अपार युगावर्तों के दुःखानुभव से कठोर हुए मनोरूपी छेदनयोग्य व्रणविशेष के दुःख से दुःखी इन्द्र आदि देवगण भी जो उच्छेदन द्वारा उसकी चिकित्सा नहीं करता, वह भी संसक्ति का फल है ॥३८॥

केवल आत्मा और अनात्मा के विवेक से उत्पन्न ज्ञान से ही संसक्ति का उच्छेद हो सकता है, इसका दिग्दर्शन कराने के लिए आसक्ति का विषय जगत् केवल वासना से ही कल्पित है, यह कहते हैं।

हे राघव, वासना के वश से किसी ने सर्वोत्कृष्ट चिदाकाश में इस विचित्र जगत्‌रूपी चित्र की रचना की है, उसे आप देखिए ॥३९॥ श्रीरामजी, शून्य आकाश में केवल मन के असंगरूपी रंग से बनाया गया जो जगद्रूपी विचित्र चित्र है, वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता ॥४०॥ जैसे अग्नि की ज्वाला तिनकों को खा डालती है, वैसे ही तृष्णा इस संसार में आसक्त मनवाले व्यवहारी जीवों के शरीरों को खा डालती है ॥४१॥

आसक्ति दोष से प्राप्त हुए तथा तृष्णा के द्वारा खाये गये शरीर असंख्य हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भला बतलाइये कि समुद्र की बालु और त्रसरेणुओं की गिनती करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् जैसे कोई नहीं हो सकता, वैसे ही चारों ओर से विषयों में आसक्त

मतिवाले जीव के शरीरों की गिनती करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं हो सकता ॥४२॥ चोटी से लेकर मूल तक मेरु पर्वत का अवलम्बन करनेवाली मोतियों की लतारूपी गंगा के तरंगरूपी मोतियों की गणना कदाचित् कोई कर सकता है, पर आसक्त चित्तवाले जीवों के शरीरों की गणना तो कोई नहीं कर सकता ॥४३॥ जिनका चित्त संसारमें आसक्त है, उन्हीं जीवों के लिए ये रम्य अन्तःपुर की पंक्तियाँ, जिनके नाम रौरव, अवीचि, कालसूत्र आदि हैं, किसी कारीगर ने बनाई हैं ॥४४॥ श्रीरामजी, आसक्त चित्तवाला अतएव दुःखों से सूखा हुआ पुरुष जल रही नरकरूपी अग्नियों के लिए एक तरह से इन्धन का संग्रह (समूह) है, यह आप जानिए, क्योंकि नरकरूपी अग्नियाँ उसी काष्ठ–संचय से जलती हैं ॥४५॥ इस जगती–तल में जो कुछ भी दुःखजाल है, वह सब आसक्तचित्त पुरुषों के लिए ही कल्पित है ॥४६॥ जैसे जल के तरंगों से संवलित बड़ी–बड़ी नदियाँ समुद्र के प्रति जाती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण दुःखों की परम्पराएँ आसक्त चित्तवाले पुरुष के प्रति जाती हैं ॥४७॥ चिति–शक्ति ही जिसका स्वरूप है, जिसने भारभूत शरीर को धारण किया है और जो जीव के लिए जन्म और मरण की अवस्था चाहती है, उस अविद्या ने ही इस समस्त प्रपंच का विस्तार किया है ॥४८॥ हे श्रीरामजी, जैसे वर्षाकाल में बड़ी–बड़ी नदियाँ महान् विस्तार को प्राप्त होती हैं, वैसे ही विषयोपभोगों में आसक्ति न करने से सम्पूर्ण विभूतियाँ महान् विस्तार को प्राप्त होती है ॥४९॥ हे रामजी, भीतरी आसक्ति शरीरों के लिए अंगारे है और भीतरी आसक्ति का परित्याग अंगों के लिए उत्तम रसायन है, यह आप जानिए ॥५०॥ अवलम्बन के लिए तृणविशेषों को चाहनेवाली लता जैसे अवलम्बित तृणों से जनित अग्नि से दग्ध हो जाती है, वैसे ही अन्दर में अवस्थित संसक्तिरूपी अग्नि से प्रकृतिभूत जीव भी दग्ध हो जाता है ॥५१॥

यहाँ प्रकृति के कार्य देह आदि के साथ जीव का सम्बन्ध होने के कारण जीव 'प्रकृति' कहा गया है।

आसक्ति से शून्य अतएव आकाश के समान निर्मल–स्वरूप से अवस्थित, चारों ओर से शान्त, असत् के सदृश, सत् के समान भासमान मन सर्वत्र सुख का ही हेतु है ॥५२॥ विद्या विषय में उत्तम उदय हो प्राप्त हुए यानी प्रबुद्ध हुए अविद्या विषय में (प्रपंच में) क्षय को प्राप्त हुए यानी अनुसन्धान से शून्य हुए तथा सर्वत्र दृश्यवस्तुओं में आसक्ति से वर्जित हुए अपने अन्तःकरण से जो पुरुष सदा–सर्वदा अवस्थित रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥५३॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

सम्पूर्ण अर्थों में आसक्ति के त्याग से मन चिन्मात्रस्वरूप में सुस्थिर तथा चिन्मात्रशेष जिस क्रम से हो जाता है, उस क्रम का कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, विवेकी विद्वान् पुरुष भले ही सर्वदा तत् तत् समय के योग्य समस्त व्यवहारों में निरत रहे, भले ही तत्–तत् व्यवहार में उचित सभी प्रिय, पुत्र आदि के साथ रहे, भले ही निषिद्ध लौकिक एवं शास्त्रीय समस्त कार्यों में व्यस्त रहे, तथापि उसे अपने मन को वैसा बनाना चाहिऐ, जैसे मैं अभी आगे जाकर कहूँगा। अथवा एक काल, एक देश और एक सेवक आदि के सहभाव

से कतिपय कर्मों में तत्परता–संपादक परिच्छिन्न संसक्ति का परित्याग करने के लिए पहले सम्पूर्ण देश, काल आदि समस्त उपकरण सामग्री से निखिल जगत् के व्यवहाररूप कर्मों में स्वयं निरत हो कर भी पीछे से अपने मन को वैसा बनाना चाहिए जैसे मैं आगे वर्णन करूँगा ॥१॥ न साध्य पदार्थों की चेष्टाओं में, न अतीत काल की वस्तुओं की चिन्ताओं में, न वर्तमान कालीन वस्तुओं में, न आकाश में, न नीचे, न मध्य में, न दिशाओं में और न लताओं में मन को आसक्त करना चाहिए ॥२॥ न आधिभौतिक भार्या, चाकर आदि विषयों में, न उनके उपभोग की इन्द्रियवृत्तियों में, न आध्यात्मिक वस्तुओं में और न प्राण, मूर्धा तथा तालू में – जो योग शास्त्र में वर्णित काम्य सिद्धि अनुकूल धारणा के स्थानस्वरूप हैं – मन को कभी आसक्त करना चाहिए ॥३॥ न भौंहों के बीच में, न नासिका के मध्य में, न मुख में, न दक्षिण नेत्र की कनीनिका में, न अन्धकार में, न प्रकाश में और न इस हृदयरूपी आकाश में मन को आसक्त करना चाहिए ॥४॥ न जाग्रत् में, न स्वप्न में, न सुषुप्ति में, न शुद्ध सत्त्वगुण में, न तमोगुण में, न पीतरक्त आदि रजोगुण में और न गुणों के समाहार में मन को आसक्त करना चाहिए ॥५॥ न कार्य वर्ग में, न स्थिरकारण अव्यक्त में, न सृष्टि के आदि काल में, न मध्य काल में, न अन्तकाल में, न दूर में, न समीप में, न सामने, न नामरूपात्मक पदार्थ में और न जीव में मन को आसक्त करना चाहिए ॥६॥ न रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में; न विषयाभिलाषा की परवशतारूपी मोह में, न विषयोपभोग–फलरूपी आनन्दवृत्तियों में; न खेचरी आदि सिद्धियों में, न अतीत–अनागत वस्तुओं का परिज्ञान होना, दीर्घजीवी होना आदि सिद्धियों में मन को आसक्त करना चाहिए ॥७॥ निश्चल बुद्धि की साक्षिभूता चिति में केवल विश्रान्ति कर परिपूर्ण भूमानन्द से युक्त अतएव सर्वत्र दृश्य पदार्थों में नीरस–सा होकर अवस्थित होइये ॥८॥

'इव' शब्द से यह दिखलाया कि मन की इस प्रकार की स्थिति भी मिथ्या ही है।

उस प्रकार चिति में विश्रान्ति पाकर अवस्थित हुआ जीव समस्त संगों से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ यह जीव इन समस्त व्यवहारों को चाहे करे, चाहे न करे, उससे कुछ भी उसका बिगड़ने नहीं पाता ॥९॥ जैसे आकाश मेघों के साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता वैसे ही अपने स्वरूप में निरत जीव, क्रियाओं का (विहित या निषिद्ध कर्मों का) अनुष्ठान करे चाहे न करे, पर क्रियाजनित फलों के यानी स्वर्ग, नरक आदि के साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥१०॥ अथवा पूर्वोक्त सात्त्विक बुद्धि का भी परित्याग कर निर्विकार चित्–स्वरूप जीव अपने स्वरूप में उस प्रकार शान्त होकर अवस्थित रहे, जिस प्रकार कि प्रदीप्त हो रहा मणि अपने स्वरूप में शान्त होकर अवस्थित रहता है ॥११॥ हे रामचन्द्रजी, जिसने अपने स्वरूप में परम विश्रान्ति प्राप्त कर ली है, जिसका अन्तःकरण आत्म–साक्षात्काररूप महान् उदय को प्राप्त कर चुका है एवं जिसकी व्यवहार और तत् सम्बन्धी फलों में तनिक भी इच्छा नहीं रह गई है, ऐसा जीव भले ही लोक–दृष्ट्या व्यवहार करे, तथापि वह कर्मजनित फलों का स्वल्प भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सम्बन्ध की हेतु अविद्या, काम और कर्म की वासनाओं से शून्य है, हाँ, उस समय वह तब तक देह भार को सहता रहता है, जब तक कि प्रारब्ध का क्षय नहीं होता ॥१२॥

श्रुति भी कहती है 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये।'

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

असंग सुख में परम शान्ति को प्राप्त कर रहा पुरुष व्यवहार से उत्पन्न दोषों से जिस प्रकार से दुःखी नहीं होता, उस प्रकार सयुक्तिक उपपादन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र जो असंग से उत्पन्न सुख के निरन्तर आस्वाद में संलग्न हैं और जिनके अन्तःकरण अत्यन्त विशाल हैं, ऐसे जीवन्मुक्त महानुभाव, चाहे व्यवहार करें, तो भी सदा–सर्वदा निर्भय और शोक शून्य ही होकर अवस्थित रहते हैं ॥१॥

उनकी वैसी स्थिति होती है, यह आपने किस प्रमाण से जाना ? इस प्रश्न पर प्रमाण कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यद्यपि पुत्र और धन का विनाश तथा बन्धन, मान, अपमान आदि क्षोभ के (घबड़ाहट के) हेतुओं से साधारण लोगों को क्षुब्ध शरीर–सा मालूम पड़नेपर भी वास्तव में क्षुब्धशरीर से शून्य जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ महाविद्वान् की चित्त वृत्ति सदा–सर्वदा परमार्थ सुख में ही संलग्न रहती है। उससे तनिक भी उसका वियोग नहीं होता, अतएव वह अन्दर से परिपूर्ण रहता है तथा उसके मुख में पूर्ण–चन्द्रमा की नाईं परम शोभा दीख पड़ती है, यही दीख पड़नेवाली पूर्णचन्द्र की शोभा ही तत्त्वज्ञ की पूर्वोक्त अवस्था में प्रमाण है। चन्द्रपक्ष में ज्योतिश्चक्र और रथादि की गति से क्षुब्ध शरीर से शून्य पूर्ण चन्द्र पूर्णिमा की रात्रि में संमुख होने से सूर्य की विषमता न होने के कारण भीतर अमृत से परिपूर्ण रहता है। उसके वदन सदृश बिम्ब में उत्तम शोभा दीख पड़ती है ॥२॥

जिस तत्त्ववित् के अनुग्रह से दूसरे भी जब क्षोभरूपी मलिनता से निर्मुक्त हो जाते हैं, तब उस तत्त्ववित् की क्षोभशून्यता में तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

जिस महात्मा का अन्तःकरण इन्द्रियों की आसक्तियों से वर्जित, केवल चैतन्य मात्र का अवलम्बन करनेवाला तथा समस्त चिन्ता ज्वरों से निर्मुक्त है, उस महात्मा से सम्पूर्ण जन, निर्मली से जल की भाँति, प्रसन्न (विशुद्ध) हो जाते हैं ॥३॥ सदा सर्वदा आत्मदृष्टि में निमग्न रहनेवाला तत्त्ववित् बाहर से चंचल होते हुए भी अपने स्वरूप से तनिक भी टस से मस नहीं होता, अतएव साधारण जनों द्वारा यह जो क्षुब्ध–सा देखा जाता है, वह जलगत सूर्य–प्रतिबिम्ब की क्षुब्धता के दशर्न के समान मिथ्या ही है ॥४॥ स्वस्वरूप में निरन्तर रमण करनेवाले तथा परम मोक्षरूपी उदय को प्राप्त हुए तत्त्ववित् महात्मा साधारण लोगों को ऊपर ऊपर से मोर के पंख की नाईं चपल मालूम पड़ते हैं, परन्तु भीतर से मेरु पर्वत की नाईं अटल हैं ॥५॥

विक्षोभ के प्रतीत होने पर भी वस्तुतः तत्त्ववित् में क्षोभ नहीं रहता, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे रंजक जपाकुसुम (फूल) आदि उपाधियों से चिकना स्फटिक मणि (वास्तव में) रंग से युक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मस्वरूप को प्राप्त हुआ तत्त्ववित् का अन्तःकरण (उपाधियों से) सुख–दुःख से रंग से युक्त नहीं होता ॥६॥ जैसे जल रेखा कमल को रंजित नहीं कर सकती, वैसे ही जिसने जीव और ईश्वर के स्वरूप को भलीभाँति जान लिया है अतएव जो परम निरतिशयानन्दरूप परम अभ्युदय को प्राप्त हुआ है, ऐसे तत्त्ववित् के चित्त को संसारिक दृष्टि रंजित नहीं कर सकती ॥७॥

जब तक जीव भीतर भली प्रकार आसक्ति से वर्जित नहीं होता, तब तक उसका बाहर की आसक्ति से वर्जित होना दुर्लभ है, इस आशय से असंसक्त का लक्षण कहते हैं।

जब यह जीव परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर समस्त कल्पनाओं के हेतुभूत मलों से वर्जित होता हुआ ध्यानाभाव–दशा में भी आत्म ध्यान की तरह निरतिशय सुख में निमग्न रहता है, तब 'स्वसक्त' कहलाता है। तत्त्ववित् को स्वभावतः निरतिशयानन्द आत्मा का स्फुरण (प्रकाश) होने के कारण वह निर्विकल्प समाधि की नाईं सदा–सर्वदा आत्मध्यान में ही लगा हुआ रहता है, अतएव बाह्यध्यान–व्यापारों के न रहने पर भी तथोक्त स्फुरण की सामर्थ्य से निरतिशानन्द सुखसमुद्र में अवगाहन करनेवाला यह 'स्वसक्त' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, यह तात्पर्य है ॥८॥

ज्ञान की परिपक्व अवस्था के उत्कर्ष से आत्मसक्तिमें भी क्रमशः उत्कर्ष बढ़ता जाता है और तदनुसार संग भी क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं।

केवल आत्मा में विश्रान्ति होने से ही जीव संसार में असंगभाव को प्राप्त करता है। केवल आत्मा के ज्ञान से ही विषयसंग क्षीणता को प्राप्त होता है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त स्वरूपवाली असंसक्त दृष्टि में परिणत, प्रियाप्रिय आदि द्वन्द्वों से शून्य तथा नित्य कभी अस्त न होनेवाले उदय से युक्त जीव जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्ति में अवस्थित हो जाता है ॥१०॥ स्वसंसक्तिरूपी दृष्टि में अभ्यास क्रम से परम प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ जीव पवित्र सूर्यभाव को (परम पावनस्वप्रकाश आत्मस्वरूपता को) ऐसे प्राप्त होता है, जैसे क्रमशः अपनी कला के क्षय से जलमय मण्डल में पड़ा हुआ सूर्य प्रतिबिम्बस्वरूप चन्द्रमा अमावस्या में सूर्यरूपता को प्राप्त होता है ॥११॥

जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्तस्थ है, यह जो पहले कहा था, उसे विशद करते हैं।

चित्त के विषय सम्बंधिनी वृत्तियों से शून्य हो जाने पर क्षीण वृत्तिवाले अन्तःकरणों की जो वासनाओं से निर्मुक्त प्रशान्त स्थिति है, वही जाग्रत्–में सुषुप्ति कही जाती है ॥१२॥ हे श्रीरामजी, उक्त सुषुप्त–दशा को प्राप्त होकर जी रहा तथा व्यवहार कर रहा पुरुष सुख–दुःखरूपी रस्सों से कभी भी आकृष्ट नहीं होता ॥१३॥ जो पुरुष जाग्रत् में ही सुषुप्तस्थ होकर जगत् के व्यवहाररूपी कार्यों को करता है, निरंहभाव के सादृश्य से नर्तक प्रतिमा के तुल्य शरीरवाले उस पुरुष को सुख–दुःख का अनुभव प्राप्त नहीं होता ॥१४॥ चित्त में चोट (पीड़ा) पहुँचानेवाली अहंकाररूपा ही शक्ति है, क्योंकि वह इष्ट और अनिष्ट के संयोग और वियोग से संताप देती है। परन्तु जब चित्त आत्मरूपता को प्राप्त हो गया, तब वह चित्त में क्या और कैसे चोट पहुँचा सकती है ? ॥१५॥ पूर्व से ही यानी साधन अवस्था से ही लेकर अभिनिवेश का परित्याग कर कर्मों का अनुष्ठान कर रहा निर्विकार बुद्धिवाला जीव जीवन्मुक्त–स्वरूप से अवस्थित रहता है और उन कर्मों के फलों से बद्ध नहीं होता ॥१६॥ हे अनघ, सुषुप्ति की विकारशून्य वृत्ति का अवलम्बन लेकर आप वर्णाश्रम–स्वभाव के अनुसार प्रारब्ध परिपाक से प्राप्त हुए लौकिक या शास्त्रीय कर्मों का चाहे अनुष्ठान करिये चाहे मत करिये, उससे कुछ होनेवाला नहीं है ॥१७॥

आश्रमोचित कर्मों का भी परित्याग कर देना चाहिए, ऐसा जो लोग मानते हैं, उसके प्रति कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष को कर्म का अनुष्ठान या परित्याग कुछ भी नहीं भाता, किन्तु जिन्होंने आत्मतत्त्व को जान लिया है, ऐसे महात्मा जिस समय जो प्राप्त हो जाता है, तदनुसार अनुवर्तन करते हुए अवस्थित रहते हैं ॥१८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुषुप्ति अवस्था में रहनेवाली निर्विकार बुद्धि से युक्त यानी तत्त्वज्ञ होकर कुछ करते हैं तो भी अकर्ता ही हैं और यदि उस बुद्धि से शून्य यानी अतत्त्वज्ञ होकर आप

कुछ नहीं करते हैं, तो भी कर्ता ही हैं, ऐसी परिस्थिति में आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये ॥१९॥

हे राघव, जैसे किसी प्रयोजन की अभिलाषा न रखकर केवल लीलावश ही बालक पलंग के ऊपर स्पन्दन क्रीड़ा करता है, वैसे ही आप भी किसी प्रयोजन की अभिलाषा न करते हुए कर्मों का अनुष्ठान कीजिये ॥२०॥ विषय सम्बन्ध से शून्य चैतन्यरूप परम पद में प्रतिष्ठित हुआ अतएव बाह्य इन्द्रियों के व्यापाररूप जाग्रत्–दशा में भी सुषुप्त निर्विकार वृत्ति में समारूढ़ लब्धात्मा तत्त्वज्ञ जो जो कर्मानुष्ठान करता है, उसमें वस्तुतः उसका कर्तृत्व नहीं रहता ॥२१॥ सुषुप्ति की विकारशून्य अवस्था को प्राप्त कर और अपने चित्त में समस्त वासनाओं से रहित होकर ज्ञानी भीतर से ऐसी शीतलता को प्राप्त करता है जैसे चन्द्रमा अमृत से अपने भीतर शीतलता को प्राप्त करता है ॥२२॥ जैसे छह ऋतुओं में अविकृत स्वभाव होने के कारण पर्वत एक सा रहता है वैसे ही पूर्णचन्द्र के बिम्ब की नाईं महान तेजस्वी पूर्णात्मा निर्विकार अवस्था में प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञ समस्त आपत्तियों की अवस्थाओं में सदा सर्वदा एक सा रहता है ॥२३॥ जैसे वायु से बाहर के वृक्ष, तृण आदि में कंपन होने से ऊपर–ऊपर से पर्वत के प्रस्पन्दित (प्रकम्पित) होने पर भी वास्तव में पर्वत का भीतरी प्रकम्पन नहीं होता, वैसे ही सुषुप्ति दशा में अवस्थित धीरात्मा तत्त्वज्ञ लौकिक या वैदिक क्रियाओं के होनेपर यों ही ऊपर से चंचलता को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में उसके भीतर कुछ भी कंपन (चांचल्य) नहीं होता ॥२४॥

जैसे क्रियाओं में उसकी निर्विकारता है, वैसे ही मरण और जीवन में भी उसकी निर्विकारता है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी पूर्वोक्त निर्विकार सुषुप्त अवस्था में स्थित होकर तथा समस्त चित्तविक्षेप आदि पापों से निर्मुक्त होकर इस शरीर को गिरा दीजिए अथवा पर्वत के समान भीतर से निष्कम्प होकर दीर्घकाल तक उसको धारण कीजिये ॥२५॥

तत्त्वज्ञों को सदा सर्वदा ही तुरीयावस्था होती है, यही कहना युक्तिसंगत हो सकता है, परन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं हो सकता कि तत्त्वज्ञों को सुषुप्ति में ही वह तुर्य स्थिति होती है, इस प्रकार की आंशका को मन में रखकर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यही सुषुप्ति–स्थिति अभ्यास योग से जब दृढ़ता को प्राप्त हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ महात्माओं के द्वारा तुर्य स्थिति कही जाती है अतः उक्त शंका का अवसर नहीं हो सकता ॥२६॥

तब सुषुप्ति स्थिति कहने का अभिप्राय क्या है ? इस प्रश्न पर वैसा कहनेका अभिप्राय कहते हैं।

सुषुप्ति अवस्था में आनन्दमय प्रत्यागात्मा में अशेष दुःखों का अभाव तथा निरतिशय सुख की परिपूर्णता रहती है, अतः तत्त्वज्ञ को दुःख शून्य निरतिशय सुख समृद्धि है, इसे विस्पष्ट रूप से बतलाने के लिए सुषुप्ति स्थिति का निर्देश किया गया है।

इस निर्विकार सुषुप्ति स्थिति में तत्त्वज्ञ भीतर से निरतिशयानन्द से ही परिपूर्ण रहता है, उसके समस्त दोष प्रक्षीण होकर रहते हैं, मन आत्यन्तिक विनाश को प्राप्त हुआ रहता है और महान जीवन्मुक्ति लक्षण के उदय से परिपूर्ण रहता है ॥२७॥

निर्विकार सुषुप्ति अवस्था में स्थित तत्त्वज्ञ को जगत् का अनुभव कैसे होता है ? उसे बतलाते हैं।

उक्त सुषुप्ति अवस्था में सदा सर्वदा रहनेवाला ज्ञानी अत्यन्त प्रमोद से परिपूर्ण और निरतिशय

आनन्दरूपी मद से मत्त होकर इस जगत् की रचना को सदा एक तरह की मानों लीला ही देखता रहता है ॥२८॥

यदि शंका हो कि उस प्रकार की लीला का अनुभव कर रहा ज्ञानी उस जगत् में फिर आसक्त भी तो हो जायेगा ? तो नहीं ऐसा प्रकार समाधान करते हैं।

हे श्रीरामजी, जिसके शोक, भय एवं अन्यान्य सांसारिक मिथ्या प्रपंच सदा के लिए निवृत्त हो गये हैं तथा जो संसाररूपी विभ्रम से वर्जित है ऐसा तुर्यावस्था में सदा–सर्वदा आसीन हुआ आत्मज्ञानी फिर इस संसार चक्र में कभी भी गिरता नहीं है ॥२९॥

क्यों संसार में नहीं गिरता ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

पर्वत पर चढ़ा हुआ धीर पुरुष पर्वत को हरा भरा यानी दूर से पर्वत को अत्यन्त सुन्दर समझनेवाले भ्रमग्रस्त नीचे के प्रदेश में अवस्थित पुरुष को देखकर जैसे हँसता है, वैसे ही वह ज्ञानी अपनी पुण्यमयी तुर्य स्थिति को प्राप्त कर जैसे यह भ्रमित जगत् है, उसको दोष दृष्टि से देखकर हँसता है, पुरुषार्थ बुद्धि से नहीं ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले अनानन्द को यानी अवस्थात्रय पद को प्राप्त हुआ ज्ञानी इस तुर्यावस्था में तो सदा–सर्वदा केवल आनन्द में ही नियतरूप से लीन होने के कारण विनाश शून्य स्थिति को (महानन्दपद को) प्राप्त कर अवस्थित रहता है ॥३१॥

इस प्रकार जीवन भर ज्ञानी की तुर्यावस्था रहती है, यह कह कर अन्त में विदेह अवस्था को प्राप्त हुए ज्ञानी की तुर्यातीत अवस्था होती है, यह कहते हैं।

अनानन्दपद की (अवस्थात्रयपद की) अपेक्षा महत् होने से तुर्यपद महानन्द कहलाता है, यह महानन्दपद जीवन्मुक्त पुरुष को सदा सर्वदा ही रहता है। विदेह मुक्ति में तत्त्वज्ञ को अनानन्दपद का स्मरण नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षा महत् का भी आकलन न होने से अनानन्द और महानन्द दोनों से अतीत हो गया है, इससे भी मुक्त योगी तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है ॥३२॥

उक्त स्थिति का ही वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, जैसे जल में डाला हुआ सैन्धव नमक का टुकड़ा जलमय हो जाता है, वैसे ही जिसका सम्पूर्ण जन्म हेतु काम और कर्मों की वासनारूप फाँसी छिन्न भिन्न हो गई है और अखिल अज्ञाननिमित्तक देह, इन्द्रिय आदि में अहम् अभिमान नष्ट हो गया है, ऐसा महात्मा योगी परमानन्दरूपीपरमार्थ स्थिति को प्राप्त होता है ॥३३॥ सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

पर चित्–वस्तु व्यवहार विषय न होने के कारण शरीर आदि के निरास के द्वारा केवल तुर्य का वर्णन।

तुर्यातीत पद वाणी आदि का विषय नहीं है, इसे बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुश्रेष्ठ, जितने अंशमें तुर्यावस्था का (📖) साक्षात् अनुभव होता है,

---

📖 जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपी तीनपादों का परामर्श कर अनन्तर जाग्रत् आदि अवस्थाओं के साक्षी चिन्मात्र में उनके प्रविलापन–क्रम से जो केवल चैतन्य–परिशेषात्मना अवस्थिति प्राप्त होती है, वह तुर्यावस्था कहलाती है।

उतने ही अंश में कैवल्यपद (केवल चिन्मात्र में अवस्थित– स्वरूप कैवल्यपद) जीवन्मुक्त और वेदवचनों का विषय होता है यानी जीवन्मुक्तों का अधिकृत तथा श्रुतिवाक्यों का प्रतिपाद्य विषय होता है क्योंकि वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति का उतने ही अंशमें पर्यवसान है, यह भाव है ॥१॥

हे महाबाहो, जैसे वायु–प्राप्य आकाश पुरुषों का प्राप्य विषय नहीं है, वैसे ही इससे ऊपर का तुर्यातीत पद यद्यपि विदेह मुक्तों का प्राप्य है, तथापि जीवन्मुक्त और वेदवचनों का अधिकृत या प्रतिपाद्य विषय नहीं है, क्योंकि विषयता के सम्पादक मन का उस अवस्था में विनाश हो चुका है ॥२॥ जैसे आकाशवीथी (मार्ग) वायुओं को प्राप्त है, वैसे ही दूर से भी अति दूर यानी अत्यन्त दुरधिगम्य उक्त विश्रान्तिस्थान (तुर्यातीतपद) विदेहमुक्त पुरुषों का प्राप्य है ॥३॥

इससे सदेहमुक्त पुरुषों की पंचम भूमिका से लेकर सप्तम भूमिका तक ही स्थिति रहती है, यह कहते हैं।

निरतिशयानन्दरूपी मद से मत्त महाज्ञानी कुछ समय तक पूर्वोक्त निर्विकारात्मक सुषुप्त अवस्था से जगत्स्थिति का अनुभव कर उसके बाद तुर्यावस्था को प्राप्त होता है ॥४॥

तुर्यातीत पद में जब तक विश्रान्ति प्राप्त न हो जाय, तब तक ज्ञान की दृढ़ता करनी चाहिए, न कि केवल मध्यवर्ती भूमिकाओं में विश्रान्ति प्राप्त हो जाने तक ज्ञान की दृढ़ता करनी चाहिए, यों कहते हैं।

हे रघुनायक, जिस प्रकार तुर्यातीत पद का परिज्ञान रखनेवाले आत्मतत्त्वज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पद को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार आप भी सुख–दुःखादि द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त होकर उस परम पद को प्राप्त कीजिए ॥५॥

उसमें भी पहले पंचम भूमिका का ही शास्त्रीय व्यवहारों के निर्वाह के लिए अभ्यास करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

हे शत्रुसंतापक श्रीरामजी, निर्विकार सुषुप्ति अवस्था को (पंचमभूमिकात्मिका को) प्राप्त कर आप उसी से शास्त्रीय आदि व्यवहारों में निरत होइये, यों व्यवहार करने से चित्र में विद्यमान चन्द्रमा का जैसे कलाक्षय या राहू के साथ सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही आपका क्षय (मरण) या तज्जनित उद्वेग (भय) नहीं होगा ॥६॥

यदि शंका हो कि देह का विनाश हो जाने पर संवित् का विनाश अवर्जनीय होने के कारण संवित्–स्वरूप मेरा विनाश क्यों नहीं होगा, तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, शरीररूपी घर का विनाश होता है या नहीं होता ? इस प्रकार के सन्देह चक्र में आप मत पड़िये, क्योंकि यह मेरा शरीर है, इत्यादि जो अनुभव है, वह केवल भ्रम है ॥७॥

यदि देहानुभव भ्रम है, तो वही नष्ट हो जाय, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चाहे देह विनष्ट हो जाय, चाहे वह विनष्ट न हो जाय यानी स्थिर रहे, उससे आपको क्या प्रयोजन है ? आप तो केवल आत्मज्ञान की स्थिरता में प्रयत्नशील हो जाइये, यह देह जैसे है, वैसा भले ही बना रहे ॥८॥

स्वात्मबोध में सन्देह का निराकरण करते हैं।

भद्र, आप जगत् के अधिष्ठानभूत सत्यतत्त्व को जान गये हैं, सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाओं के

अधिष्ठान को भी जान गये है और अखण्ड वाक्यार्थ के स्वरूप को भी प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए आप तुर्यातीतरूपी महान् उदय के लिए शोकशून्य हो जाईये ॥९॥ श्रीरामजी, अभीष्ट और अनभीष्ट विषयों को छोड़कर आप शीतल साक्षात्कार रूपी आलोक की शोभा से ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, जैसे कि अन्धकार और मेघमण्डल से विनिर्मुक्त शरत्पूर्णिमा की रात्रि का आकाशमण्डल सुशोभित हो रहा हो ॥१०॥ जैसे योग, मन्त्र और तप की सामर्थ्य से आकाशगमन की सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी आकाश को छोड़कर पृथ्वी पर नहीं दौड़ता, वैसे ही आत्मज्ञान से सम्पन्न मन भी निम्नकोटि के विषय सुखों के पीछे भागता नहीं ॥११॥

हे श्रीरामजी, समस्त ब्रह्माण्ड में देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य विशुद्ध चैतन्य की ही सत्ता है, दूसरे की नहीं, इसलिए आपको 'यह, वह, मैं, यह शरीर और वह पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि विविध भ्रमों में नहीं पड़ना चाहिए ॥१२॥

जब केवल विशुद्ध चित् ही है, तब उससे भिन्न 'आत्मा' यह दूसरा नाम कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं ।

सर्वत्र व्यापक चैतन्य का 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहार के लिए ही कल्पित है, नाम, रूप आदि भेद तो इस चैतन्य से अत्यन्त दूर ही है ॥१३॥ जैसे समुद्र जलस्वरूप ही है, उससे भिन्न तरंग आदि कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी, जल आदि कुछ भी नहीं हैं ॥१४॥ जैसे समुद्र में पूर्ण जल के सिवा दूसरा कुछ भी प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जगद्रूप से विस्तृत आत्मा के सिवा दूसरा कुछ भी प्राप्त नहीं होता ॥१५॥ हे प्राज्ञ श्रीरामजी, यह देहादि, वह धनादि और मैं आदि की व्यवस्था आप किसमें करते हैं ? देह आदि भावो में से जो आप हैं और जो आपके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? और जिनमें आप हैं, और जो आपके नहीं हैं, उसका स्वरूप क्या है ? अधिष्ठान–दृष्टि से किसी के साथ भवद्रूपता और भवत्सम्बन्धिता नहीं हो सकती । हाँ, अध्यास दृष्टि से वैसा हो सकता है, पर वह तो तात्त्विक नहीं है, यह भाव है ॥१६॥

परमार्थ में भेद है ही नहीं, इसलिए भेदाधीन देह, देह के साथ सम्बन्ध और देह ग्रहण आदि कलंकों की संभावना ही नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

जैसे भगवान् भास्कर में अन्धकारपट से किसी प्रकार के कलंक की सम्भावना नहीं हो सकती, वैसे ही भेदाधीन कलंक की आत्मा में भी किसी प्रकार से सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तव में आत्मा में न तो भेद है, न देह है और न उनका सम्बन्ध ही है ॥१७॥

कथंचित् भेद मान लिया जाय और देह आदि भी सत्य मान लिये जाय, तो भी उनके साथ आत्मा का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, यों प्रौढ़ि बतलाते हुए कहते हैं ।

हे शत्रुनिषूदन, भेद का अंगीकार करने पर भी और देह आदि को सत्य मान लेने पर भी व्यापक आत्मा का उनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह आपसे मैं कहता हूँ ॥१८॥ जैसे छाया और धूप विस्तार का तथा प्रकाश और अन्धकार का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही शरीर और आत्मा का भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता ॥१९॥ हे श्रीरामजी, जैसे सदा–सर्वदा परस्पर विरुद्ध रहनेवाले शीत और उष्ण का एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही चैतन्य और जाड्य धर्मों से परस्पर अत्यन्त

विरुद्ध देह और आत्मा का भी (एक दूसरे से) कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥२०॥

यदि शंका हो कि देह और आत्मा का संयोग या तादात्म्य सम्बन्ध भले ही न हो, परन्तु समवाय तो हो सकता है, तो इस पर कहते हैं।

जो कि समवाय सम्बंध अयुतसिद्ध पदार्थों का है, वह इन जड़ देह और चेतन आत्मा का कैसे अनुभूत हो सकता है, अर्थात् उनका समवाय सम्बन्ध है, यह अनुभव नहीं हो सकता ॥२१॥

श्रीरामजी, दावाग्नि में समुद्र है, यह उक्ति जिस प्रकार दुरवबोधार्थ है, उस प्रकार चिन्मात्रस्वरूप आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध है, यह जो उक्ति है, वह भी असम्भवार्थक है। यदि देह को चैतन्य का आश्रय माना जाय, तो विषय न हो सकने के कारण उसका स्मरण ही नहीं हो सकेगा। यदि देह को आत्मा का विषय मानेंगे, तो आश्रय न हो सकने के कारण समवाय आदि असिद्ध हो जायेंगे और विषयतासम्बन्ध तो मिथ्यावस्तु में भी रहता है, ऐसी स्थिति से उसमें सत्यत्व रह नहीं सकता, इसलिए तथोक्ति दुरवबोधार्थ है, यह भाव है ॥२२॥

तब अध्यस्त ही सम्बन्ध हो ? इस पर कहते हैं।

जैसे सूर्य की किरणों में प्रतीत हुआ समुद्र विभ्रम किरणों के यथार्थ साक्षात्कार से विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से यह देह और आत्मा का परस्पर हुआ सम्बन्ध विभ्रम भी विनष्ट हो जाता है ॥२३॥

'शुद्धमपापविद्धम्' (आत्मा निर्मल और समस्त पापों से विवर्जित है) इत्यादि श्रुतियों से निश्चित स्वाभाविक विशुद्धि के साथ विरोध होने से भी आत्मा अशुद्ध देह आदि के साथ तनिक भी स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहते हैं।

चिदात्मा समस्त मलों से विवर्जित, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं समस्त विकारों से रहित है और देह विनाशी एवं समस्त मलों से परिपूर्ण है, ऐसी स्थिति में विशुद्धि आदि गुणों से युक्त आत्मा अविशुद्धि आदि से उपप्लुत शरीर के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ? ॥२४॥

यदि शंका हो कि देह का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है, तब देह में क्रिया आदि कैसे हो सकते हैं, क्योंकि आत्मसम्बन्ध से शून्य मृत देह में क्रिया आदि देखने में नहीं आते, तो इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, प्राणवायु से अथवा प्राण स्थिति के प्रयोजक अन्न आदि भूतों से प्राप्त बल होकर ही देह स्पन्दन को प्राप्त करती है, इसलिए आत्मा के साथ देह का स्वल्प भी सम्बन्ध नहीं है। तात्पर्य यह निकला कि देहगत स्पन्द में प्राण अथवा बल ही प्रयोजक है, आत्मा नहीं ॥२५॥

पूर्वोक्त रीति से द्वैत को सत्य मानने पर भी जब आत्मा के साथ देहादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब उसको असत्य मानने पर आत्मा के साथ देह आदि का सम्बन्ध नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ? यों प्रौढिवाद का उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

हे धीमन्, जब द्वैत की सत्यता मानने पर भी आत्मा के साथ (पूर्वोक्त प्रणाली से) देहादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब द्वैत की असत्यता में इस प्रकार सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती, यह भाव है ॥२६॥

द्वैत की असिद्धि ही कैसे है ? ऐसी आशंका कर शरीर और आत्मा के सम्बन्ध में दर्शाई गई दूषण

युक्ति का वहाँ पर (द्वैत की असिद्धि में) भी अतिदेश करते हैं।

हे श्रीरामजी, यदि कोई द्वैत में सत्यता की आशंका करे तो उसमें पूर्वोक्त इन्हीं युक्तियों का आश्रय करना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि द्वितीय वस्तु की सिद्धि होने पर ही द्वैत की सिद्धि हो सकती है। यदि द्वितीय वस्तु चित् है, तो उसमें भेदक का अभाव होने से द्वैतसिद्धि की आशा करना ही व्यर्थ है। यदि द्वितीय वस्तु जड़ है, तो छाया और धूप की नाईं चित् और जड़ का परस्पर विरोध होने से पूर्वसिद्ध चित् के विरुद्ध जड़ पदार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि चित् अपने से असम्बद्ध अर्थ का साधन करता है, तो उससे भी कुछ मतलब सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दावाग्नि में सागर है, इस कथन के सदृश ही तथोक्त कथन असंभवार्थक है। यदि द्वैत को अध्यस्त माना जाय, तो वह चित्साक्षात्कार से विलीन हो जायेगा। निर्मलत्व आदि आत्म स्वभाव से विरुद्ध, मलिन देहादि जड़ पदार्थों की असंग आत्मा से सिद्धि कैसे हो सकती है इत्यादि पूर्वोक्त युक्तियों का प्रकृत में भी साम्य होने के कारण उपन्यास करना चाहिए, इसलिए द्वैतभ्रम का परित्याग कर अद्वितीय चिन्मात्र में ही आप निष्ठा कीजिये। उसमें न तो किसी का कभी बन्धन होता है और न किसी का कभी मोक्ष होता है यानी उक्तावस्था में बन्ध, मोक्ष आदि की शंका ही नहीं हो सकती ॥२७॥

वह कौन-सी स्थिति है, जो मुझे प्राप्त करनी है, इस प्रश्न पर उस स्थिति को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले से ही शान्त हुआ यह समस्त बाह्य और आभ्यन्तर जगत् आत्मस्वरूप ही है, इस प्रकार के स्पष्ट अनुभव को सभी अवस्थाओं में आप दृढ़ बनाइये ॥२८॥

विरुद्ध दृष्टि का परित्याग करने पर ही सर्वत्र आत्मदृष्टि दृढ़ होती है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ' इत्यादि प्रत्ययों का दुर्द्दष्टि शब्द से व्यवहार किया गया है, यदि आप इन प्रत्ययों में वस्तुबुद्धि रखते हैं, तो अवश्य आप दीर्घकालीन दुःख की ही अभिलाषा रखते हैं, यह मुझे कहना पड़ेगा ॥२९॥

यदि शंका हो कि देह, दुःख आदि का अनुभव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होता है और आत्मा का भी अनुभव श्रुति और तदनुकूल युक्तियों से होता है, इसलिए जब दोनों अनुभव प्रमाण-जनित होने के कारण समान ही हैं, तब ऐसा कौन विशेष है कि जिसके आधार पर आप यह कहते हैं : आत्मदृष्टि अवलम्बन कर देहादि दृष्टि का परित्याग कर देना चाहिए, तो इस शंका पर कहते हैं।

श्रीरामजी, पर्वत और तिनके में तथा रेशम और पत्थर में जो विशेष कहा जाता है, वही विशेष परमात्मा और शरीर की समानता के प्रति कहा जा सकता है। भाव यह है जैसे पर्वत और तिनका इन दो के मध्य में दूर से चक्षु के द्वारा पर्वत पर ही दृष्टि पड़ती है, क्योंकि पर्वत बड़ा और स्थिर है, इसलिए उसमें अनायास दृष्टि सरल हो जाती है। तिनका अतिचंचल और तुच्छ है, अतः दूर से चक्षु के द्वारा तृण-दृष्टि दुष्कर हो जाती है। इसी प्रकार रेशम और पत्थर के बीच में भी मृदु और सुख स्पर्श होने के कारण त्वचाइन्द्रिय से रेशम का स्पर्श ही उपादेय होता है, कठोर और दुःखद होने के कारण पाषाण का स्पर्श उपादेय नहीं होता, प्रत्युत हेय ही होता है, बस इसी प्रकार परमात्मा और देहादि अनात्मा के बीच में भी अपरिच्छिन्न, सदा-सर्वदा स्वप्रकाश और आनन्दरूप होने के कारण परमात्मदृष्टि उपादेय एवं सुकर है और तुच्छ, अस्थिर और मन आदि से सापेक्ष होने के कारण देहादि अनात्मदृष्टि हेय और

दुष्कर है, यों आत्मा और अनात्मा की दृष्टि में महान् वैषम्य होने से साम्य नहीं हो सकता ॥३०॥

विरोध होने से भी शरीर और आत्मा के संबन्ध की नाईं सादृश्य भी निरस्त किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध तेज और तिमिर का एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीर का भी एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता ॥३१॥

विरोध होने से ही देह और देही के परस्पर तादात्म्य की शंका भी नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे शीत और उष्ण का ऐक्य वाणी के विलास में भी कहीं नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही जड़ और प्रकाशस्वरूप देह और आत्मा का भी संयोग नहीं हो सकता। जब आत्मा और अनात्मा का संयोग ही असम्भव है, तब उनका ऐक्य तो दूरतः ही निरस्त है, यह भाव है ॥३२॥ यह देह प्राणवायु से ही चलती है, उसी से आती और जाती रहती है एवं देह की नाड़ियों में विलास करनेवाले प्राणवायु से ही शब्द करता है। पहले आत्मा के साथ संयोगादि सम्बन्ध के बिना भी प्राणवायु से देह चेष्टा होती है इसका प्रतिपादन किया था और इस समय आत्मा के साथ ऐक्य न होने पर देह–चेष्टा प्राण से हो सकती है यह प्रतिपादन किया, इसलिए पुनरुक्ति की शंका नहीं करनी चाहिए ॥३३॥ जैसे छिद्रयुक्त बाँसों से वायु के द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं वैसे ही शरीर के कण्ठरूप छिद्र से उद्गत प्राणवायुओं से *(जबकि वे कण्ठ, तालू आदि स्थानो में जिह्वा आदि के द्वारा अभिघात से निकाले जायेंगे, तब)* क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग आदि शब्द प्रकट होते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥३४॥

इसी युक्ति से चक्षु आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों का स्पन्द भी वायु से ही होता है आत्मा का तो कार्य केवल संवित् ही है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं।

विषय–प्रदेश में होनेवाले चक्षुःस्पन्द में हेतुभूत कनीनिका का परिस्पन्द भी केवल प्राण–वायु से ही होता है, यों समस्त इन्द्रियों के स्फुरण से उत्पद्यमान उक्त स्फूर्तिरूपा संवित् ही केवल आत्मा से होती है, दूसरा कुछ भी नहीं होता ॥३५॥

यद्यपि वह सर्वगत और नित्य है, तथापि चित्त और उसकी वृत्तियों में ही अभिव्यक्त होती है, अन्यत्र नहीं ऐसा कहते हैं।

यद्यपि आकाश, पत्थर, दीवार आदि सर्वत्र स्थानों में आत्मा की स्थिति (सत्ता) विद्यमान है, तथापि दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं इस चित्त में ही वह दीखाई पड़ती है ॥३६॥

अतएव चित्त के गमन से ही आत्मा का परलोक में गमन आदि व्यवहार भी होता है, ऐसा कहते हैं।

शरीररूपी आलय को छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासना के अनुसार जाता है, वहीं पर आत्मा अनुभूत होता है ॥३७॥ जहाँ पुष्प रहता है, वहीं पर जैसे गन्ध की संवित् (ज्ञान) रहती है, वैसे ही जहाँ चित्त होता है, वहीं पर आत्मा की संवित् रहती है ॥३८॥ जैसे सर्वत्र अवस्थित आकाश दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र अवस्थित आत्मा चित्त में दिखाई पड़ता है ॥३९॥ जैसे पृथ्वी में नीचे का स्थान जलका आश्रय स्थान होता है, वैसे ही अन्तःकरण ही चैतन्य–प्रतिबिम्बि का आश्रय स्थान है ॥४०॥ जैसे सूर्य की प्रभा आलोक का विस्तार करती है, वैसे ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित्

आत्मसंवित् व्यावहारिक और प्रातिभासिक जगत्–स्वरूप का विस्तार करती है ॥४१॥ अतः भूतोंकी उत्पत्ति में (संसृति में) अन्तःकरण यानी समष्टि आत्मा हिरण्यगर्भ ही कारण है, आत्मा तो समस्त पदार्थों से परे है, इससे प्रतिबिम्ब द्वारा भूतोत्पत्ति में कारण होते हुए भी आत्मा स्वतःकारण नहीं है ॥४२॥

तब अन्तःकरण का कारण कौन है ? इस प्रश्न पर उसका कारण कहते हैं।

प्रखर बुद्धिवाले विद्वान लोग यह कहते हैं कि संसार की सृष्टि में विचार, अज्ञान और मूढ़ता ही सारभूत है और यही अन्तःकरण में हेतु है ॥४३॥ अन्यथाग्रहण के संस्कारों की सामर्थ्यरूप मोह से विभ्रमों की बीज घनीभूत सत्ता का (चित्तपरिणाम का) अन्तःकरण ने ग्रहण किया है, जैसे मोह से असम्भावित अन्धकार सूर्य से दिखाई देता है, वैसे ही सम्मोह से ही असंभावित जन्मादि परम्परा आत्मा में दिखाई देती है। अथवा जैसे सूर्य से ही उसको ग्रसनेवाला राहुरूप तम दिखाई देता है, वैसे ही तथोक्त कारण से चित्त परिणाम को ग्रहण करनेवाला अज्ञान 'मैं अज्ञ हूँ' यों प्रत्यक्षरूप से आत्मा में सभी पुरुषों को दिखाई पड़ता है ॥४४॥

तब चित्त विनाश किस कारण से होता है ? इस प्रश्न पर चित्त विनाश में कारण कहते हैं।

हे रामजी, जैसे दीप से अन्धकार तत्क्षण ही असत्ता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही अबाधित आत्मा के केवल स्वरूप–ज्ञान से ही चित्त तत्क्षण असत्ता को पूर्णरूप से प्राप्त यानी नष्ट हो जाता है ॥४५॥ इसी चित्त के कारण से संसार का कारणभूत अज्ञान प्राप्त हुआ है, अतः अधिकारी जन को स्वयं उसके विषय में विचार करना चाहिए अथवा इससे संसार के कारणभूत चित्त के विषय में विचार करना चाहिए, जिसके कि जीव, अन्तःकरण, चित्त, मन आदि अनेक नाम हैं ॥४६॥

श्रीरामजी ने कहा : मान्यतम हे भगवान्, चित्त के ये नाम किस योग से यानी किस व्युत्पत्ति से योगरूढ़ि को प्राप्त हुए हैं, हे ब्रह्मन्, उसी को मुझसे इसलिए कहिए कि जिससे आपके द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त विचारों की सिद्धि हो जाय ॥४७॥

उसमें पहले रूढ़ि और योगांश से जीव नाम का निर्वचन करने के लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, जैसे तरंगों के समूह केवल जल से ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ये समस्त पदार्थ, जो आत्मतत्त्व के साथ ऐक्याध्यास होने के कारण आत्मतत्त्वरूप प्रतीत होते हैं, केवल चित्त से (समष्टि चित्त से) ही सदा उत्पन्न होते हैं ॥४८॥

उत्पन्न पदार्थों के स्थावर–विभाग में हेतु बतलाते हैं।

जैसे समुद्र का जल चंचल तरंगों में स्पन्दात्मा होकर अवस्थित रहता है, वैसे ही आत्मा चित्त से उत्पन्न उन पदार्थों में कहीं–कहीं पर केवल स्पन्दरूपात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥४९॥ जैसे तरंगभाव को प्राप्त हुए जलों में जल अस्पन्दस्वरूप होकर रहता है, वैसे ही उन पदार्थों में कहीं पर परमात्मा अस्पन्दन स्वरूपात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥५०॥ उन भावों में अचंचल (स्थिर) पत्थर आदि पदार्थ तो अपने स्वरूप में अवस्थित हैं और सुरा के फेन की नाईं अत्यन्त उत्कट स्पन्द से युक्त पुरुष चंचल हैं यानी अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं हैं ॥५१॥ उसमें उन–उन शरीरों में सर्वशक्ति तत्–तत् पदार्थ–स्वरूपापन्न आत्मा के द्वारा कल्पित अज्ञान की कलना प्रसिद्ध है,

इसलिए स्वयं आत्मा ही उक्त स्वकल्पित अज्ञानस्वरूप होकर सुषुप्ति और प्रलय में अवस्थित रहता है ॥५२॥ प्रतिबिम्ब भाव को संप्राप्त अनन्त आत्मा के द्वारा भासित–सा होकर प्रस्फुरित हुआ उक्त अज्ञान ही रूढ़ि अंश को लेकर जीव कहा जाता है । वही इस संसार में महामोहरूपी माया के पिंजड़े में फँसा हुआ हाथी है ॥५३॥

उसमें योगांश को कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सभास अज्ञान ही प्राण–धारण करने से 'जीव' यों कहा गया है, अहन्ता होने से यानी सर्वप्रथम 'अहम्' (मैं हूँ) यों व्यवहार करने के कारण अहंभाव से (अहंनाम से), निश्चय करने के कारण बुद्धि नाम से और संकल्प करने के कारण मन नाम से कहा गया है ॥५४॥ जीव मन आदि की प्रकृति (कारण) होने से प्रकृति, उपचित (बृद्धिगत) होने से देह, अज्ञान अंश की प्रधानता से जड़ और चैतन्य की प्रधानता से चेतन कहा जाता है ॥५५॥ अज्ञान और ज्ञान के साक्षी दोनों के बीच में रहनेवाला साभास मन ही तत् तत् नाना–रूपता को प्राप्त होकर जीव, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार आदि अनेक नामों से व्यवहृत होता है ॥५६॥

परमात्मा का ही उपाधि में प्रवेश हो जाने से उसके अनेक नाम हो जाते हैं, इसमें श्रुतियों का प्रमाण रूप से प्रदर्शन करते हैं।

हे अनघ, उस प्रकार के जीव के स्वरूपों का बृहदारण्यक आदि अनेक वेदान्त ग्रन्थों में अनेक तरह से (📖) निश्चितरूप से कथन किया गया है ॥५७॥

(📖) 'स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः' (यह आत्मा ब्रह्मा से लेकर तृण तक के देहों में नखाग्रपर्यन्त प्रविष्ट है यानी जल में सूर्य की नाईं प्रतिबिम्बित है), इसका उपक्रम कर 'प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्वाक् पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामधेयानि' (प्राणन क्रिया को कर रहा आत्मा प्राण नामवाला, वदन क्रिया को कर रहा वाक् नामवाला, दर्शन क्रिया को कर रहा चक्षु नामवाला, श्रवण क्रिया को कर रहा श्रोत्र नामवाला, मनन क्रिया को कर रहा मन नामवाला होता है, आत्मा के ये सब नाम कर्मकृत हैं), इसी प्रकार 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्र मति मृत्यो रूपाणि' (स्वप्रकाश आत्मा संनिहित्वादि से बुद्धि के सदृश होकर अन्योन्य धर्म आदि का अध्यास होने पर प्राप्त और प्राप्तव्य दोनों लोकों में संचरण करता है, बुद्धि का ध्यान व्यापार होने पर आत्मा मानों ध्यान करता हुआ–सा, प्राणादि वायुओं के चलने पर चलता हुआ–सा प्रतीत होता है । स्वप्नाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति के अवभासक रूप से स्वप्नाकार होकर जाग्रत्–व्यवहाररूप इस लोक का अतिक्रमण करता है यानी उसका अभिमान छोड़ देता है । अज्ञानरूपी मृत्यु के अहमभिमान आदि स्वरूपों का अतिक्रमण करता है), इसी प्रकार 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।', 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।', 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ॥' (संकल्प आदि बुद्धि के गुणों से तथा जरा, मृत्यु आदि शरीर के गुणों से ज्ञानरूप व्यापक आत्मा आरे के अग्रभाग की नाईं दिखाई पड़ता है,' 'केश के अग्रभाग के सौ बार किये गये भाग का पुनः सौ बार किया गया जो विभाग है, उसकी नाईं जीव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानना चाहिए, वह जीवस्वरूप से अनन्त हो जाता है, जगत् की सृष्टि कर उसीमें आत्मा ने

अतएव वैदिक मार्ग का अनुसन्धान न करनेवाले कुतार्किकों द्वारा की गई विरुद्ध विरुद्ध जीवस्वरूपकी कल्पनाओं का समादर नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी मूढ़ों ने, जो कुत्सित कल्प विकल्पों की सिद्धि के लिए दुष्ट तर्क–वितर्क करने में निपुण हैं, इस जीवादि संज्ञाओं में केवल मोह के लिए व्यर्थ ही अभिनिवेशों की कल्पना कर रक्खी है ॥५८॥

इस युक्ति–प्रयुक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि न तो शुद्ध आत्मा संसारी है और न देह ही संसारी है, किन्तु मध्यवर्ती जीव ही संसारी है, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो, इस प्रकार यह जीव ही संसार का कारण है, विचार वाणी आदि से शून्य यानी जड़ देह ने इसमें किया ही क्या ? अर्थात् जड़ शरीर से संसार स्थिति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥५९॥

अतएव देह का विनाश होने पर भी जीव का विनाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जैसे आधार (घट) और आधेय (जल) इन दो में से किसी एक का विनाश होने पर दूसरा नष्ट नहीं होता, वैसे ही शरीर आदि का नाश होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता ॥६०॥ जैसे एक पत्ते के रस का विनाश होने पर भी वृक्षव्यापी रस का विनाश नहीं होता, किन्तु अन्य पत्ते में उसकी सत्ता रहती ही है, वैसे ही देह का विनाश होने पर भी देहव्यापी आत्माका विनाश नहीं होता, किन्तु यदि वह वासनायुक्त है, तो शरीरनाश के बाद वासना में स्थित रहता है एवं जैसे क्षीण हुआ पत्ते का रस सूर्य की किरणों में चला जाता है, वैसे ही यदि वह वासनाशून्य है, तो ब्रह्माकाश स्वभाव में स्थित रहता है ॥६१,६२॥ जिस महामूर्ख को इस प्रकार भ्रम हो कि शरीर के नष्ट होने पर मैं नष्ट हो गया, तो उस मूर्ख के लिए मैं यों मानता हूँ कि माता के स्तन से उसके लिए वेताल का समुत्थान हो गया है ॥६३॥

तात्पर्य यह है कि 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'(शरीर सम्बन्ध से रहित हुए आत्मा को सुख या दुःख कुछ भी स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति से देह विनाश भय का अहेतु प्रतीत होता है, ऐसी अवस्था में अभय हेतु शरीर–विनाश में ये हेतुत्व का मिथ्या परिज्ञान रखनेवाले महामूर्ख को अपनी माता के स्तन से भी वेताल के समुत्थान की संभावना हो सकती है और उस सम्भावना से स्तन्यपान न हो सकने से उसका जीवन भी दुर्लभ हो जायेगा।

यदि शंका हो कि देह जीव से भिन्न है, इसलिए देह के विनाश से जीव को भय न हो, तो भले ही मत हो किन्तु चित्त जीवस्वरूप है, इसलिए चित्त के नाश से जीव को भय हो सकता है तो इस पर कहते हैं।

यदि उस उपाधि का आत्यन्तिक नाश होगा, जो कि वज्र की बेड़ी के समान अत्यन्त दृढ़ बन्धनभूत

अनुप्रवेश किया, उसमें प्रवेश कर आत्मा पृथ्वी आदि मूर्त और आकाश आदि अमूर्त स्वरूप हो गया।), 'सं एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत.........तस्मादिदन्द्रो नाम । यदेतद्हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्', (उस परमेश्वर ने मूर्घा के मध्य भागरूप सीमा प्रदेश में छिद्र कर उसीके द्वारा शरीर में प्रवेश किया, ...इससे इन्द्र नाम हुआ, संकल्प आदि साधनभूत मन और बुद्धि है, वह संज्ञान है, आज्ञप्ति, विज्ञान और प्रज्ञान है) तथा 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः ।', 'एको देवो बहुधा विचारः', 'एक सन् बहुधा विचारः', (तुम एक अद्वितीय हो, अनेक में प्रविष्ट हो, एक आत्मदेव बहुत प्रकार से विचरण करता है) इत्यादि श्रुति या इस तरह के आत्मा के अनेकविध नामों में प्रमाण हैं ।

है, तो यह जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपता का स्मरण कर निरतिशयानन्दरूपी अभ्युदय को प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि आप चित्त के नाश से जीव–विनाश की जो सम्भावना करते हैं, वह शास्त्रों में जीव के लिए मोक्ष कहा गया है ॥६४॥ 'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' यों लोगों द्वारा विनाशित्व आदि से विशिष्ट जो जीव कहा जाता है, उसे निश्चितरूप से मैं मिथ्या और असत् मानता हूँ, क्योंकि देश और काल से व्यवहित होकर यानी पूर्व शरीर–त्यागने के बाद विभिन्न–विभिन्न देश और काल में जाकर वह अन्य देह को ग्रहण करके पुनःपुनः अनुभूत होता है ॥६५॥ इस संसार में मरण नाम की नदियों में, तरंगों के भीतर तृण के सदृश, प्रतीत होने वाले जीवों के द्वारा देश और कालवश तिरोहित स्वरूपों से उक्त प्रकार के भावों की 'मर गया, नष्ट हो गया उत्पन्न हुआ' आदि पदार्थों की भ्रान्तिवश से कल्पना की जाती है ॥६६॥

कल्पना की विलक्षणता में वासना की विलक्षणता हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे बन्दर वन के एक वृक्ष को छोड़ कर दूसरे वृक्ष पर चला जाता है, वैसे ही वासना में आरूढ़ जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर पर चला जाता है ॥६७॥ हे राघव, जिस शरीर पर वह चला गया, उस शरीर को भी छोड़कर दूसरे विस्तृत देश और दूसरे काल में दूसरे शरीर पर भी थोड़े ही समय में चला जाता है ॥६८॥ जैसे आसक्त उपमाता बालकों को इधर–उधर ले जाती है, वैसे ही अपनी ही वंचक वासना, जिसका कि जीवों का यथार्थ स्वरूप आवृत कर जीना ही स्वभाव है, बहुत काल तक इधर–उधर जीवों को ले जाती है ॥६९॥ अपने अपने कार्यों की सिद्धियों में एक दूसरे का परस्पर उपयोग करने के कारण जो एक दूसरे के जीवन के उपाय यानी साधन हैं, ऐसे वासनारूपी रज्जु से बँधे हुए जीव पहले से ही जीर्ण तो हैं ही, फिर भी पर्वतों की कुक्षियों में यानी पर्वततुल्य जड़ शरीर में अत्यन्त दुःखपूर्वक प्राणों को क्षीण कर रहे हैं ॥७०॥ श्रीरामजी, जीर्णों से भी अधिक जीर्ण होकर जिन्होंने दरिद्रता, रोग, वियोग आदि से जनित दुःखों के बोझों को ढोया है तथा अनेक योनियों में दुर्दशाग्रस्त परिणामों से जर्जर यानी दुःखों से शिथिल हुआ जिनका जीवन है, ऐसे जीव हृदय में उत्पन्न वासनाओं की परम्परा से नरकों में दीर्घकाल तक निवास करते हैं, आश्चर्य है कि वासनादोष से जनित दुर्दशा असीम है, यह भाव है ॥७१॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि वसिष्ठ महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चले गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकालीन विधि के लिए चली गई और रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर दूसरे दिन आ गई ॥७२॥

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

शरीर भौतिक है, अतः वह शोक, मोह के योग्य नहीं है,
इसका तथा दृग–दृश्य के सम्बन्ध और विशुद्ध साक्षी का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाभाग श्रीरामजी, आप देह के उत्पन्न होने पर न तो उत्पन्न होते हैं और न देह के विनष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अपने स्वरूप में आप किसी तरह के कलंक से कलंकित नहीं हैं यानी निज स्वरूप से आप विशुद्ध हैं, अतः आपकी देह कोई चीज नहीं है ॥१॥

'मैं गोरा हूँ', 'मैं मोटा हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा में देहरूपता का साक्षात् अनुभव होता है, अतः देह का विनाश होने पर आत्मा की स्थिति कैसे हो सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जो कुण्ड और बदर का (बेर के वृक्ष या फल का) न्याय है और जो घट और आकाश की मर्यादा है, वही यहाँ पर भी (देह और आत्मस्थल में भी) समझनी चाहिए। (तात्पर्य यह है कि जैसे 'कुण्डे में बेर', 'घटाकाश' इत्यादि व्यवहारों में कुण्डे और बेर का तथा घट और आकाश का सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर उनका तादात्म्य प्रतीत नहीं होता, वैसे ही' मैं गोरा हूँ' इत्यादि व्यवहार से शरीर और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह नहीं हैं।) ऐसी स्थिति में एक कुण्ड या घट के नष्ट हो जाने पर कुण्ड और बदर तथा घट और आकाश दोनों भी नष्ट हो गये, ये इस प्रकार मूर्खों की व्यर्थ कल्पना है ॥२॥ नश्वर-स्वभाववाले इस देह के नष्ट हो जाने पर आत्मा अपनी सहज स्थिति को प्राप्त हो जाता है, ऐसी हालत में 'देह का विनाश होने पर मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकार की भावना से जो दुःखी होता है, उस मन्द बुद्धि को धिक्कार है ॥३॥

यदि आत्मा का देह के साथ तादात्म्य नहीं है, तो जैसे शाखा के कम्पनों सें वृक्ष में कम्पन होता है, वैसे ही देह की प्रवृत्ति से आत्मा संसार का भागी क्यों होता है ? इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार घोड़े आदि की लगाम और रथ का सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से रहित है, उसी प्रकार चिति का भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से रहित है ॥४॥ हे श्रीरामजी, जैसे सरोवर, तद्‌गत पंक और निर्मल जल का सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से युक्त नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रिय और आत्मा का सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से युक्त नहीं है ॥५॥ जैसे मार्ग पथिकों के संयोग और वियोग की अवस्था में आस्था (अहन्ता और ममता के अभिमान) एवं परिवेदन से यानी उसके वियोग से जनित (विलाप से) वर्जित है, वैसे ही देह और देही का संयोग और वियोग अहन्ता-ममता अभिमान एवं वियोग-जनित विलाप से वर्जित हैं ॥६॥

वैसे क्यों है ? इस पर कहते हैं।

जैसे कल्पित वेताल के कराल वदन, दाँत आदि विकारों से जनित प्राथमिक भय के पुनः पुनः स्मरण से बालक को मोहनेवाली भीतियाँ मिथ्या ही हैं, वैसे ही ये कल्पित स्नेह, सुख आदि मिथ्या ही हैं ॥७॥ जैसे एक ही वृक्ष से विलक्षण विलक्षण पुतलियाँ (भीतियाँ) बनाई जाती हैं, वैसे ही पाँचभूतों के संघात से विभिन्न विभिन्न जनसमूह बनाये गये हैं ॥८॥ जैसे लकड़ियों के बोझे में लकड़ियों के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज आदि पाँच भूतों के शरीर में पाँच भूतों के पिण्ड के सिवा और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता ॥९॥ हे मनुष्यों, तुम लोग पाँच भूतों का क्षोभ, नाश और उत्पत्ति होने पर हर्ष, अमर्ष और विषाद के वश में क्यों हो जाते हो ? ॥१०॥

अपनी देह में स्नेह आदि की अयोग्यता बतलाकर अब स्त्री आदि के शरीरों में भी स्नेह आदि की अयोग्यता है, यह बतलाते हैं।

जिसका स्त्री नाम यह दूसरा अभिधेय (वाच्य) है, ऐसे तुच्छ भूतों के समूह में यानी स्त्री-शरीरात्मक पाँच भूतों के पिण्ड में पुरुषों को ऐसी क्या विशेषता प्रतीत होती है, जिससे कि उनकी अग्नि में पतंगे की नाईं, विषयाग्नि में व्यामोह और राग से दृश्यमान गिरने की चेष्टा युक्तिसंगत कही जाय ॥११॥

सुकुमार और सुन्दर अवयव–सन्निवेश ही स्त्री के शरीर में अतिशय है, तो इस पर कहते हैं।

सुकुमार और सुन्दर अवयवों के संनिवेश अंश को लेकर विलक्षणता का जो उपपादन करते हैं, वह तो केवल अज्ञानियों के लिए ही सन्तोष का विषय हो सकता है, पर जो तत्त्वज्ञ हैं, उनको तो उसमें उपस्थित पाँचभूतों का ही दर्शन होता है ॥१२॥

भाई आदि में राग का निवारण करते हैं।

जैसे एक पत्थर से उत्पन्न हुई दो पाषाण–प्रतिमाओं के परस्पर आलिंगित होने पर भी राग नहीं होता, वैसे ही चित्त और शरीर के आलिंगित होने पर भी राग नहीं होता ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टी से बनाई गई प्रतिमाओं का समागम होने पर भी जिस प्रकार उनका परस्पर ममता आदि से शून्य भाव होता है, उसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा और मन का समागम होने पर भी आपका ममता आदि से शून्य ही भाव हो ॥१४॥ जैसे पत्थर की बनाई गई प्रतिमाएँ अन्योन्य स्नेह–सम्बन्ध के भाजन नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राण भी अन्योन्य स्नेह सम्बन्ध के भाजन नहीं है अतः उनमें से किसके विषय में यहाँ शोक करना चाहिए ? ॥१५॥ जैसे यत्र यत्र भिन्न भिन्न प्रदेशमें उत्पन्न हुए तिनकों को तरंगें पर्याप्त रूप से एकत्र करती हैं, वैसे ही आत्मा भिन्न भिन्न प्रदेश में उत्पन्न भूतों को एकत्र करता है ॥१६॥ जैसे समुद्र के जल में तृण एक दूसरे से मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं, वैसे ही रागाभिमान से विनिर्मुक्तिपूर्वक ही पुत्र, पशु आदि प्राणी अथवा पृथ्वी आदि भूत स्वनिर्मित देह में या स्वाधिष्ठान आत्मा में एक दूसरे से मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं ॥१७॥ जैसे सागर आवर्ताकार की कल्पना से वृद्धिगत आकार को प्राप्त कर तृण, काठ आदि पदार्थों को बटोरता हुआ रहता है, वैसे ही आत्मा भी चित्ताकृति को प्राप्त कर देह, भूत आदि को बटोरता हुआ रहता है ॥१८॥

तब किस उपाय से आत्मा भूतसम्बन्ध के हेतुभूत चित्तभाव से मुक्त होता है ? इस प्रश्न पर उस उपाय को बतलाते हैं।

जैसे जल अपनी स्पन्दन क्रिया से ही मलिनता का परित्याग कर स्वयं ही स्वच्छता को प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मा प्रबोध से विषयरूपता का परित्याग कर स्वयं ही आत्मरूपता को प्राप्त करता है ॥१९॥ तदनन्तर प्रबोधकालमें ही मन के द्वारा सम्पादित भूताश्लेष से विनिर्मुक्त होकर अपने देह को उस प्रकार देखता है, जिस प्रकार कि वायु के कन्धे पर चढ़े हुए देव आदि भूमण्डल को देखते हैं ॥२०॥

दर्शन का फल बतलाते हैं।

भूतसमूह को अपने से पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है और जैसे सूर्यकान्ति दिवसमें परम प्रकाश को प्राप्त करती है, वैसे ही वह परम प्रकाशको प्राप्त करता है ॥२१॥ तदनन्तर जैसे मद्य के मद से मत्त हुआ पुरुष मद के निकल जाने पर भीतर अपने पूर्व विज्ञान का स्मरण करता है, वैसे ही आत्मा अपने ही से अपने प्रमाण प्रमेयरूपी विकारों से विनिर्मुक्त स्वरूप को जान लेता है ॥२२॥ जिस प्रकार समुद्र में तरंगरूपी कणों के कल्लोलों से असीम जल प्रस्पन्दित होता है उसी प्रकार आत्मा ही समस्त वस्तुओं से मानों उदित हुए विश्व के रूप से प्रस्पन्दित होता है ॥२३॥ हे श्रीरामजी, जिनका समस्त राग विनष्ट हो गया है, जिनके पाप दूर हो गये हैं तथा जो परब्रह्मपद को प्राप्त हो चुके हैं ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष उसी प्रकार के विशिष्ट विज्ञान से युक्त होकर इस संसारमण्डल में विचरण करते

हैं ॥२४॥ जैसे समुद्र की ऊर्मियाँ विविध श्रेष्ठ रत्नों से सम्बद्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण सिल्लियों (एक प्रकार के पत्थरों) के टुकड़ों की भाँति ही व्यवहार करती है, वैसे ही वासना वर्जित उत्तम महात्मा लोग भी चित्त के व्यवहारों से सम्बन्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण ऊपर ऊपर से ही व्यवहार करते हैं ॥२५॥ जैसे तीर और काष्ठों से समुद्र म्लान (दीन) नहीं होता तथा जैसे रजःकणों से आकाश म्लान नहीं होता, वैसे ही जिसने अपनी आत्मा को भली प्रकार पहचान लिया है, ऐसा आत्मवान् (आत्मज्ञानी) पुरुष इस संसार में निजी लौकिक व्यवहारों से म्लान नहीं होता ॥२६॥ जैसे समुद्र को गत, आगत, स्वच्छ, चपल, मलिन एवं जड़ तरंगों से राग और द्वेष नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञानी को गत, अभ्यागत, स्वच्छ, मलिन, जड़ एवं चंचल भोगों से राग और द्वेष नहीं होता ॥२७॥

तत्त्वज्ञ को क्यों अनुराग नहीं होता ? इस शंका पर कहते हैं।

चूँकि तत्त्वज्ञ पुरुष इस जगत् में मन, मनन (संकल्प) जो सब कुछ विद्यमान है, वह सब विषयोन्मुखता को प्राप्त चित्तत्त्व के विलास का एक उल्लास है, यों जानते हैं, इसलिए उनको किसी से राग या द्वेष नहीं होता ॥२८॥

जो अहम्, भूत आदि तथा तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धों से दिखाई पड़ती हैं, वह सब केवल मन का ही विस्तार है, मन की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत् में दो पदार्थ हैं एक दृश्य और दूसरा द्रष्टा इन दो पदार्थों के बीच में केवल दृष्टि के यानी दृष्टि स्वरूप साक्षीभूत आत्मा के द्वारा सिद्ध हुआ जो दृश्य पदार्थ है, वह असत् है या सत् है ? इस विषय का अभी तक निर्णय न हो सकने के कारण दृश्य हर्ष और शोक के लिए अयोग्य ही है और दूसरा स्वतःसिद्ध जो साक्षीरूप आत्मा है, वह तो असंग है, इसलिए उत्पन्न हुए भी हर्ष और शोक से वह सम्बद्ध नहीं होता, ऐसी स्थिति में दृक् और दृश्य दोनों को सत् या असत् मानने पर भी हर्ष-शोक की संभावना नहीं हो सकती, यह तात्पर्य है ॥३०॥

क्या असत्य वस्तु के विषय में हर्ष और शोक होते है ? या सत्य वस्तु के विषय में ? या सत्यासत्य वस्तु के विषय में ? इन तीन विकल्पों में भी हर्ष और शोक की योग्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो असत्य वस्तु है, उसके विषय में हर्ष-शोक करना व्यर्थ ही है, क्योंकि वह तो असत्य ही ठहरा। जो सत्य वस्तु है उसके विषय में भी हर्ष-शोक करना अनुचित है, क्योंकि सत्य वस्तु सदा-सर्वदा प्राप्त ही है, इसलिए ऐसी वस्तु के विषय में लाभ-प्रयुक्त हर्ष और हानि-प्रयुक्त शोक ये कैसे हो सकते हैं ? अब तृतीय विकल्प बचा, वह भी अयुक्त है, क्योंकि सत्य-असत्य एक वस्तु हो ही नहीं सकती, कारण कि एक वस्तु में सत्यत्व और असत्यत्व ये दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। ऐसी परिस्थिति में यह तृतीय विकल्प प्रथम विकल्प के सदृश हो जाने से प्रथम विकल्पोक्तदूषण ही इसमें आ गया। जब ऐसी वास्तव में स्थिति है, तब जगत् में हर्ष-शोक-योग्य किसी वस्तु के न रहने से उसके लिए आपको शोक करना व्यर्थ ही है ॥३१॥ हे सुन्दरनेत्रवाले श्रीरामजी, मिथ्या दर्शनरूपी भ्रम को छोड़कर आप यथार्थ वस्तु का अवगम करिये। जब मनुष्य यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर प्रौढ़ बन जाता है, तब इस संसारमें कहीं पर भी वह मोह को प्राप्त नहीं होता ॥३२॥

भोग-सुख के लिए सभी लोग विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध मानते हैं, उस सम्बन्ध की अवस्था

में अभिव्यक्त होनेवाला जो सुख है, उसका स्वतः प्रकाश होने के कारण वह अनुभूतिस्वरूप है, वृत्तिरूप उपाधि के बल से प्रतीयमान भेद, तारतम्य आदिके निरास से अखण्ड के साथ ऐक्य होने पर वह सुख ब्रह्मस्वरूप ही है, पृथक् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

रम्य विषय और इन्द्रियजनित वृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अपनी आत्मा में उत्पन्न जो परमात्मस्वरूपसुख है, वह रम्य विषय और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध के विस्तार से अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है। इसलिए अनुभूत–स्वरूप सुख ब्रह्म ही कहा जाता है ॥३३॥

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर सर्वोत्तम जो सुखानुभूति होती है, वह अज्ञानी पुरुष को संसार प्रदान करती है और तत्त्वज्ञ ज्ञानी पुरुष को सर्वोत्तम सदा उदयस्वरूप मोक्ष प्रदान करती है यानी विषयाकार वृत्ति से आस्वादित सुख विषयों में राग आदि दोषों का उद्भावन कर संसार देता है और विषयों का विवेककर अखण्ड अद्वितीय आत्मभावसे गृहीत सुख मोक्ष देता है, यह भाव है ॥३४॥

रम्य विषयों का और इन्द्रियवृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होनेवाला जो सुख है, वह आत्मस्वरूप ही है, ऐसा महात्मा लोग कहते हैं।

वह सुख विषयसंग से युक्त होने पर संसार कहलाता है और विषय संग से विनिर्मुक्त होने पर मुक्ति कहलाता है ॥३५॥ दुःखरूपी बीमारी से वर्जित दृश्य और ऐन्द्रियक वृत्तियों के सम्बन्ध से जनित सुखानुभव, यदि क्षय और अतिशय से यानी पुण्य के तारतम्यसे जनित वृत्तिनाश और वृत्ति वैशद्य के उत्कर्ष से होनेवाले क्षय और अतिशय से शून्य हो जाय, तो वह मुक्तिस्वरूप हो जाता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥३६॥ दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से होनेवाली जो अखण्ड पूर्णानन्द स्फुरण–स्वरूप दृश्य और दर्शन से वर्जित सुखानुभूति होती है, उसका अवलम्बन करने से संसार की अनुत्पत्ति होती है ॥३७॥ उक्त प्रकार की दृष्टि का अखण्ड–पूर्णानन्द–स्फुरणात्मक सुखानुभूति का) अवलम्बन करने पर आत्मस्वरूप को आवृत करनेवाली सुषुप्ति दृष्टि का विच्छेद हो जाता है और आत्मस्वरूप–दृष्टि प्रकाशित रहती है। उसी एकमात्र दृष्टि का अवलम्बन करने पर ही तुर्यावस्था प्राप्त होती है और उसीके अवलम्बन से मुक्ति कही जाती है ॥३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से निर्मुक्त और परम बुद्धि से युक्त यह स्वरूप दृष्टि होती है, तब दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध के असली तत्त्व को जानकर पुरुष तुर्यावस्था को प्राप्त होता है। *(तुर्यस्वरूपा मुक्तिमें आत्मा का जो स्वरूप रहता है, उसे बतलाते हैं)* हे श्रीरामजी, तुर्यतारूप मुक्तिमें आत्मा न तो स्थूल रहता है, न अणु रहता है, न प्रत्यक्षात्मक वृत्ति का विषय रहता है, न अविषय रहता है, न चैतन्य युक्त रहता है, न जड़ रहता है, न असत् ही रहता है, न अस्तित्वरूप भावविकार से युक्त रहता है ॥३९,४०॥ उक्त अवस्था में आत्मा न अहंरूप रहता है, न अन्य स्वरूप रहता है, न एकत्व संख्या से युक्त रहता है, न अनेकत्व से यानी एकत्व संख्या के अभाव से युक्त रहता है, न समीप में रहता है, न दूर में रहता है, न सत्ताश्रय रहता है और न सत्ताश्रयत्व के अभाव से युक्त रहता है ॥४१॥ तुर्यावस्था में आत्मा न तो प्राप्य है, न अत्यन्त अप्राप्य है, न सर्वात्मक है, न व्यापक है, न पदों का वाच्य है, न तो पदों का अवाच्य है, (क्योंकि तुर्यत्वादि पदों से लक्षित होता है), न पाँच भूतों का आत्मा (स्वभाव) है और न पाँच भूतों के स्वरूपभूत ही है ॥४२॥

उक्त अर्थ में युक्ति कहते हैं।

मन के साथ जो चक्षु आदि छः इन्द्रियाँ है, उनका विषय जो यह दृश्यत्व को प्राप्त यानी जगत् है, उसका अतिक्रमण करनेवाला जो पद होगा, वह इस जगत् में विद्यमान किसी दृश्य पदार्थ का स्वरूप नहीं हो सकता, किन्तु स्वस्वरूप हो सकता है ॥४३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार का यह जगत् है, उस प्रकार के इस जगत् को भलीभाँति जाननेवाले पुरुष के लिए यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूप से वर्जित वस्तु नहीं है ॥४४॥

तब क्यों भूमि आदिभूत दिखाई देते हैं ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यह आत्मा ही अपने स्वरूप में काठिन्य, द्रवता, स्पन्द, आकाशरूपी अवकाश और प्रकाश के अवलोकनों से क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेजरूप जगत्-भावों में विद्यमान है यानी नट के समान अवस्थित है, यह भाव है ॥४५॥

यह आपने कैसे निश्चय किया कि आत्मा ही उस प्रकार से अवस्थित है ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चूँकि वस्तुओं की जो-जो सत्ता है, वह आत्मा के प्रकाश के सिवा दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए जो कोई यह कहे कि मैं आत्मप्रकाश से व्यतिरिक्त हूँ, तो उसका वैसा कहना उन्मत्त की नाईं बकवासमात्र ही है, यह आप जानिये ॥४६॥

जो कुछ पहले कहा, उस सबको एकत्र कर उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, समस्त काल और असीम कालक्रमों के बीच में प्रविष्ट अनेक जगत् तथा उन अनेक जगतों में जीव के अनैकविध संसार यह सब एक आत्मा ही है, इसको छोड़ और कोई दूसरी कला की गणना है ही नहीं, अतः हे महानुभाव, आप पहले इस प्रकार की बुद्धि से युक्त होकर उक्त बुद्धि से यानी तत्त्वदर्शन से इस संसार से अपना छुटकारा पा जाइये ॥४७॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

दो तरह की अहंभावना ग्रहण करने योग्य है, तीसरी अहंभावना त्याग करने योग्य है, तीनों अहंभावनाओं के त्याग से मुक्ति की इच्छा नहीं होती, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे चिन्तामणि के स्वरूप को जाननेवाले देवता चिन्तामणि को प्राप्त कर लेते हैं वैसे ही पूर्वोक्त विचारात्मक दृष्टि से द्वैत का परित्याग कर आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले तत्त्ववित् महात्मा स्वरूपावस्थितिरूप मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥१॥

सर्वत्र अहंभाव-दृष्टि को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं।

हे श्रीरामजी, अब आप इस द्वितीय दृष्टि का श्रवण कीजिये, इसका श्रवण करने से आप अविचल अपने आत्मा का साक्षात्कार कर लेंगे और दिव्य दृष्टि से सम्पन्न हो जायेंगे ॥२॥ मैं आकाश हूँ, मैं आदित्य हूँ, मैं दिशाएँ हूँ, मैं अधः हूँ, मै ऊर्ध्व हूँ, मैं दैत्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं लोक हूँ और मैं चन्द्र आदि की प्रभा हूँ। मैं अन्धकार हूँ, मैं मेघ हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं समुद्र आदि हूँ तथा रेणु, वायु, अग्नि एवं यह समस्त जगत् मैं ही हूँ ॥३,४॥ तीनों लोकों में सब जगह जो स्वरूपभूत आत्मा अवस्थित है, वह मैं हीं हूँ। इस

सर्वात्मक स्वरूप से भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? अर्थात् मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता हूँ। देहादि भी मुझसे भिन्न कौन हैं ? एक अद्वितीय वस्तु में द्वित्व (स्वरूपगतभेद) किस प्रकार हो सकता है ? ॥५॥ हे रामजी, यों विचारकर आप निश्चयात्मक ज्ञान से युक्त हो जाइये, तदनन्तर आत्मा के भीतर रहनेवाले जगत् को स्वस्वरूप भूत देखिये। यों जगत् को स्वस्वरूपभूत देखने के अनन्तर आप हर्ष और विषाद से पराजित नहीं होगे॥६॥ हे कमलनयन पापशून्य श्रीराघव, इस समस्त जगत् के आत्मस्वरूप से अवस्थित हो जाने पर क्या अपना और क्या पराया रहेगा ? यह आप मुझसे कहिये अर्थात् अपना और पराया कुछ भी नहीं रहेगा ॥७॥ तत्त्वज्ञ से भिन्न ऐसी कौन वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो वह तन्निबन्धन हर्ष और विषाद से ग्रस्त हो जाय। यदि उसका ऐसी वस्तु के आ जाने से विषाद दिखलाई पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, किन्तु अतत्त्वज्ञ ही है, क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है चिन्मय नहीं, यह जानना चाहिए ॥८॥ ये आगे कही जानेवाली दो अहंकार की दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं, उनकी तत्त्वज्ञान से प्रवृत्ति होती है, वे मोक्ष को देनेवाली तथा पारमार्थिक है॥९॥ हे रघुकुलतिलक उन दो अहंकार-दृष्टियों में पहली सबसे परे आकाश की नाईं स्थूल स्वभाव वर्जित, जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं से युक्त तथा दृश्यों से शून्य 'मैं हूँ' इस प्रकार की है और दूसरी 'सभी कुछ मैं हूँ' इस प्रकार की है ॥१०॥ हे पापशून्य रामजी, इन दो से पृथक् एक तीसरी अहंकारदृष्टि स्वभावतः ही , न कि शास्त्रतः चली आ रही है। इसका स्वरूप है -'देह मैं हूँ' । इस दृष्टि को आप केवल दुःखदायक ही जानिये, न कि विश्रान्तिदायक ॥११॥ अब आप इन तीनों अहंकारों को भी छोड़कर जो अवशिष्ट रहनेवाला अहंभावनाशून्य पूर्ण चित्स्वभाव है, उसका अवलम्बन कर उसी अवलम्बन योग्य वस्तु में निरत होकर अवस्थित रहिए॥१२॥ यद्यपि आत्मा शोधन द्वारा अखिल प्रपंच स्वरूप से निर्मुक्त तथा बाध के द्वारा समस्त पदार्थों की सत्ता का अतिक्रमण करनेवाला है; तथापि जगत् के बोध स्वरूप उपाय के द्वारा निखिल जगत् को पूर्ण करनेवाला सबका प्रकाशक यह आत्मा है॥१३॥

युक्ति, शास्त्र और गुरुवचन ये तो केवल दिशामात्र का सूचन करने के लिए हैं, उसका परिचय तो केवल अपने अनुभव से ही होता है, इस आशय से कहते हैं।

हे तत्त्वज्ञश्रेष्ठ, अपने ही अनुभव से शीघ्र देखिये कि आप सदा-सर्वदा उदित स्वभाव तत्-पदलक्ष्य परब्रह्म स्वरूप ही है अतः आप देह आदि की वासनाओं से युक्त अहंकार तादात्म्याध्यास का परित्याग कर दीजिये ॥१४॥

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उपनिषद के प्रमाण-गम्य उस पुरुष के विषय में पूछता हूँ) इत्यादि श्रुति से यह ज्ञात होता है कि धर्माधर्म के सदृश श्रुति और श्रुत्युक्त युक्तियों में केवल विश्वास रखने से ही अलौकिक आत्मा का परिज्ञान होता है, ऐसी स्थिति में आप यह कैसे कहते हैं कि आत्मा केवल अपने अनुभव से ही वेद्य है ? तो उस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, आत्मा न तो अनुमान से (युक्ति से) स्फुट होता है और न आप्त वचन आदि से स्फुट होता है, किन्तु वह सर्वदा सब प्रकार से केवल अनुभव से ही प्रत्यक्ष यानी स्फुट होता है। धर्म आदि के समान अत्यन्त परोक्ष आत्मवस्तु का प्रतिपादन करने के लिए श्रुति आदि की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु सबके अनुभव से सिद्ध सत्तावाले आत्मा का विवेचन करने के लिए ही उनकी प्रवृत्ति है ॥१५॥

सबको आत्मा प्रत्यक्ष है, इसका उपपादन करते हैं।

बाह्य और आन्तर विषयों में अन्तःकरणकी वृत्ति के सम्बन्ध से अभिव्यक्त होनेवाला जो अर्थप्रकाशरूप साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान प्रसिद्ध है और जो अनुमिति, उपमिति और शाब्द ज्ञान आदि भी प्रसिद्ध हैं, वह सब, विषय और अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधि के परित्याग से अपरोक्ष आत्मरूप से ही अवशिष्ट रहते हैं। श्रुति भी कहती है। 'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते' ॥१६॥

आत्मा प्रत्यक्ष और परोक्ष वेद्य, व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों से विलक्षण है, इस कथन से दृश्य और दर्शन दोनों से भी वह निर्मुक्त है, इसका उपपादन करते हैं।

यह प्रकाशात्मक आत्मदेव न तो सत् है और न असत् है, न अणु है और न महान् है, न सत् और असत् की दृष्टि के मध्य में यानि सत्यासत्य है, किन्तु वही द्योतनात्मक देव इस दृश्यमान समस्त जगत् का स्वरूपभूत है ॥१७॥

इस प्रकार वाग् आदि कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति में निमित्त होने के कारण वागादि से व्यवहृत न होनेवाले आत्मा का परिचय देकर अब वागादि और उनके (वागादि के) विषयों का उसमें बाध करके उसीका परिशेष करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

आत्मा ही इस प्रकार बोलता है, परन्तु वह कहा नहीं जा सकता। ये वाक् आदि और उनसे व्यवहृत होनेवाले पदार्थ आत्मा से अन्य नहीं हैं, हे रामजी, आप आत्मा को अनामय (अविकारी) ही देखिए ॥१८॥

आत्मा और अनात्मा, यह नाम-रूप जो विभाग है, उसकी भी उसी आत्मा ने अपनी ज्ञानशक्ति से यानी मायाशक्ति से कल्पना कर रक्खी है, अतः बाध्यत्व की उपपत्ति है, इस आशय से कहते हैं।

यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है, यों जो संज्ञाभेद है, इसकी स्वयं आत्मा ने ही अपने में अपनी सर्वगत शक्ति से (मायाशक्ति से) कल्पना कर रक्खी है ॥१९॥

हे श्रीरामजी, वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालों में सब जगह अवस्थित है, वह यद्यपि सदा नित्य स्वप्रकाश, पूर्ण एवं अपरोक्ष स्वभाव है, तथापि सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण स्थूल-विषयों में आसक्त बुद्धिवाले पुरुष उसका परिज्ञान नहीं कर सकते है ॥२०॥

स्थूल-विषयों की आसक्ति में तो मोहवश पुर्यष्टकरूप उपाधि में (पाँचभूत, कर्म, वासना और विद्या इन आठ वस्तुओं से बने हुए लिंग शरीर में) प्रतिबिम्ब पड़ने से आत्मा की जायमान जीवभावापत्ति निमित्त है, इस आशय से कहते हैं।

सर्ग के क्रम से उत्पन्न भोग्य और भोगायतन आदि अनेक पदार्थों में पुर्यष्टकरूपी दर्पण में अपनी मायावश स्वतः आत्मा ही जीवरूप से प्रतिबिम्बित होता है।२१॥ जैसे पंखे आदि के संयोग से आकाश में सर्वदा सर्वत्र स्थित वायु अभिव्यक्त किया जाता है, वैसे ही पुर्यष्टक के उदय से ही सदा सर्वत्र स्थित स्वयं आत्मा 'अहम्' इस रूप से अभिव्यक्त किया जाता है ॥२२॥ जैसे सब पदार्थों का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, वैसे ही महेश्वर चित्स्वरूप परमात्मा भी सर्वत्र विद्यमान है तथा व्यापक है, वह कहीं एक जगह पर ही यानी किसी एक देह में ही रहता है, ऐसी बात नहीं है ॥२३॥

परिच्छिन्न अहंस्वरूप से परमात्मा के स्फुरण में तो पुर्यष्टक हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वायु होने पर रजःकण प्रस्फुरित होते हैं अथवा जैसे दीपक होने पर दर्शन प्रस्फुरित होता है,

वैसे ही पुर्यष्टक के होने पर ही उसमें जीव प्रस्फुरित होता है, न कि पत्थर में प्रस्फुरित होता है ॥२४॥ जैसे आकाश में सूर्य के रहने पर ही सब मनुष्यों को तत्–तत् क्रिया से होनेवाले फलों की अभिलाषा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही पुर्यष्टक में परम प्रेमास्पद निरतिशयानन्दात्मक स्वात्मा के रहने पर ही यह स्वेच्छाप्रीति और विचित्र भोगों की इच्छा प्रस्फुरित होती है ॥२५॥

यद्यपि आत्मा सब व्यवहारों से दूर है, तो भी 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि श्रुति से आत्मा ही प्रिय और अप्रिय का निर्वाहक है, यह भाव है।

वैसा भले ही हो, उससे क्या हुआ ? इस पर कहते हैं।

आकाश में सूर्य स्थित होने पर तत्–तत् इच्छाफल में अनुरूप स्थिति रखनेवाला यह व्यवहार यदि विनष्ट हो जाता है, तो उससे सूर्य में क्या आया ? अर्थात् कुछ नहीं ॥२६॥ स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के अवस्थित होने पर आत्मसत्ता से अपनी स्थिति को प्राप्त करनेवाली देह यदि नष्ट हो जाती है, तो उससे आत्मा में क्या हुआ ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२७॥

तब आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप कैसा है ? तो उस पर कहते हैं।

सबका यह आत्मा किसी समय न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है ॥२८॥

इसलिए आत्मा को अज्ञान से ही अनर्थ की भ्रान्ति हुई है, यह कहते हैं।

आत्मा के प्रबोध से उत्पन्न, आत्मशून्य वस्तु में आत्मभाव को प्राप्त हुई, रज्जु में सर्प भ्रम के सदृश, भ्रान्ति केवल दुःख के लिए ही है ॥२९॥

प्रबोध होने पर आत्मा किस प्रकार का रहता है ? उसे कहते हैं।

यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि इसका कोई आदि कारण नहीं है, और यह नष्ट भी नहीं होता क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है। वह आत्मभिन्न वस्तु की कभी भी अभिलाषा नहीं करता है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥३०॥ यह आत्मा दिशा या काल से परिच्छिन्न नहीं है , अतः कभी यह बद्ध नहीं होता, जब बन्ध ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँ से होगा, इससे वास्तव में आत्मा का अमोक्ष ही स्थित है ॥३१॥ हे राघव, मैंने पहले जो आत्मा के गुण बतलाये हैं, उन गुणों से युक्त ही यह आत्मा सबका है, इसलिए यह सब लोग अविचार से जनित मोह को प्राप्त होकर चारों ओर रो रहे हैं ॥३२॥ हे सुमते, मेरे वचनों से आपने जगत् की पूर्वापर रचना का निःशेषरूप से भली–भाँति परिज्ञान कर लिया है, अतः मूर्खता को प्राप्त हुए मनुष्यों की नाईं आप शोक मत कीजिये ॥३३॥ जैसे गेहूँ आदि को पीसने के लिए विनिर्मित जल–चक्की आदि यन्त्र के द्वारा गेहूँ आदि का पीसना प्रवृत्त होने पर पुरुष केवल संनिधिमात्र से उक्त कार्य को करता हुआ–सा पर स्वतः तो काम आदि व्यापारों से शून्य होकर स्थित रहता है, वैसे ही विद्वान् को मोक्ष और बन्धरूपी दोनों ही कल्पनाओं का परित्याग कर तथा स्वतः समस्त व्यापारों से शून्य होकर देह आदि से व्यवहार करना चाहिए ॥३४॥ मोक्ष न तो आकाश की पीठ के ऊपर है, न तो पाताल में है और न भूमि के तल पर है, किन्तु सम्यक् ज्ञान से चिन्मात्र–स्वरूपता को प्राप्त निर्मल चित्त ही मोक्ष है ॥३५॥ इच्छा करने योग्य विषयों में अनासक्ति करने से अन्तःकरण का जो बोधात्मक वृत्ति से स्वयं क्षय हो जाता है, वही आत्मतत्त्व को जाननेवाले तत्त्वज्ञों

द्वारा मोक्ष शब्द से कहा जाता है ॥३६॥ हे श्रीरामजी, जब तक निर्मल आत्मा का प्रबोध उदित नहीं हुआ है, तब तक मूर्खतायुक्त कार्पण्य से पुरुष नित्य-प्राप्त आत्मा में अप्राप्ति की कल्पना कर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करता है ॥३७॥ सर्वातिशायी नित्य आत्मा के ज्ञान को प्राप्त कर जब चित्त पारमार्थिक चिन्मात्रस्वरूप को प्राप्त हो जाता है, तब चाहे दस मोक्ष रहें, तो भी यह उनकी इच्छा नहीं करता, फिर स्वल्प एक मोक्ष को चाहेगा ही कैसे ?॥३८॥ हे अभव (संसार शून्य), यह मोक्ष है और यह बन्ध है, इस प्रकार की तुच्छ कल्पना का परित्याग कर महात्मा होकर उस मोक्ष रूप आप ही हो जाइये ॥३९॥

हे श्रीरामजी, समस्त कल्पनाएँ जिसमें से निर्मूल हो गई है, ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर आप सगर के पुत्रों द्वारा खोदी गई पृथिवी की मेखला तक यानी समुद्रपर्यन्त पृथिवी-मण्डल का दीर्घ काल तक पालन कीजिये, क्योंकि आप समस्त आसक्तियों से परे हो चुके हैं तथा आपकी आत्मज्योति उदित हो चुकी है, इसलिए राज्य आदि का पालन आपके लिए किसी तरह से दोष का हेतु नहीं हो सकता ॥४०॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

प्रमाद से संसार-भ्रान्ति, प्रबोध से सदा पूर्णता तथा जीवन्मुक्त के गुणों का वर्णन।

'ये मूढ़ लोग अविचार से ही रोते हैं', यह जो पहले कहा था, उसी का आरम्भ में सविस्तार विचार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जैसे रम्य रमणी, पुत्र आदि के मुख को न देख रहे विरही पुरुष के हृदय में म्लानता (दीनता), कृशता आदि विकृत स्वरूप को उत्पन्न करनेवाली उदासीनता निरन्तर उत्पन्न होती है, वैसे ही प्रलय और सुषुप्ति में अज्ञान से आवृत होने के कारण निरतिशयानन्दस्वरूप अतएव परम प्रेमास्पद अपने स्वरूप को न देख रहे आत्मा में काम-कर्मों की वासना के परिपाक क्रम से सृष्टि और जाग्रतकाल में चिद्विलास से सूक्ष्म, स्थूल, समष्टि और व्यष्टि शरीर उत्पन्न होते हैं ॥१॥ जैसे मदिरा के स्वाद से मद की महाशक्ति प्राप्त होती है, वैसे ही अहन्ताध्यास से जीव स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अधीन हो जाता है और उससे यह निरतिशय निबिड़ स्नेह से भरी अनर्थ रूपा माया यानी मिथ्याभूत माया प्राप्त हुई है, जो कि राग, लोभ, मोह आदि मद की महाशक्ति है ॥२॥ जैसे मरुभूमि में सूर्य किरणों के ताप से जल प्रतीत हो जाता है, वैसे ही उक्त स्वरूपवाली इस रागादि की शक्ति स्वरूपा महामाया से, जो प्रवृत्ति, भोग, पुण्य, पाप, वासना अनर्थ परम्परारूप विकारों से युक्त है तथा जिसने परमात्मा के अन्यथा भाव से अपना अस्तित्व बना रक्खा है यह समस्त जगत् प्रतीत हो रहा है ॥३॥ मन, बुद्धि, अहंकार, वासना और इन्द्रिय इस प्रकार के नाम और रूप की कल्पना करनेवाले स्वस्वरूपरूपी जलों से आत्मारूप समुद्र प्रस्फुरित होता है ॥४॥

अनर्थप्राप्ति के प्रकार को बतलाकर अब उसके उच्छेदन का उपाय बतलाने के लिए जैसे एक ही वृक्ष अंकुर, काण्ड, मूल और शाखाओं आदि के प्ररोह क्रम से चारों ओर फैलकर अवस्थित होता है, वैसे ही एक ही अन्तःकरण पहले चिन्तन करने से चित्त, तदनन्तर मनन करने से मन, तदनन्तर निश्चय करने से बुद्धि और तदअनन्तर निश्चयाभिमान से अहंकार यों नामों को धारण कर चारों ओर फैलकर

अवस्थित है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित्त और अहंकार यों दो प्रकार का व्यवहार केवल वाणी में ही है, वास्तव में नहीं है, क्योंकि जो चित्त है, वही अहंकार है और जो अहंकार है, वही चित्त है ॥५॥ जैसे बर्फ से भिन्न शुक्लत्व की कल्पना की जाती है, पर वास्तव में बर्फ और शुक्लत्व में परस्पर कोई पार्थक्य नहीं है, वैसे ही चित्त और अहंकार की कल्पना व्यर्थ ही की जाती है, वास्तव में उनका परस्पर कोई भेद नहीं है ॥६॥

चित्त और अहंकार की एकता की उक्ति का फल कहते हैं।

भद्र श्रीरामचन्द्रजी, जैसे पट का विनाश होने पर पट (वस्त्र) और शुक्लत्व दोनों का विनाश हो जाता है, वैसे ही मन और अहंकार इन दोनों के बीच में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन एवं अहंकार दोनों का विनाश हो ही जाता है ॥७॥

अब उसके उच्छेदन का उपाय कहते हैं।

'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकार की तुच्छ मोक्षेच्छा, सांसारिक बन्ध बुद्धि तथा अन्यान्य इच्छाओं का परित्याग कर अपने वैराग्य और आत्मा–अनात्मा के विवेक से केवल मन को ही विनष्ट कर देना चाहिए ॥८॥

मोक्षेच्छा का त्याग क्यों करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

हे रामभद्र 'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकार की यदि भीतर इच्छा उत्पन्न हो गई, तो मन सबल हो गया, यह जान लेना चाहिए। मनन की ओर मन के एक दम उत्कण्ठित हो जाने पर वही मन शरीर के आकार में परिणत हो जाता है और फिर बहिर्मुखता का सम्पादन कराकर केवल दोष को ही उत्पन्न करता है। अतः किसी पदार्थ की इच्छा करनी ही नहीं चाहिए। चाहे वह पदार्थ मोक्ष हो, चाहे सांसारिक वस्तु हो। पदार्थ की इच्छा ही तुच्छ है ॥९॥

मन का परिच्छिन्न शरीर के आकार में परिणत होना ही दोष है, न कि शुद्ध आत्मा के आकार में परिणत होना दोष है, इस आशय से कहते हैं।

सम्पूर्ण परिच्छन्न वस्तुओं से परे अथवा समस्त भूतगणों में व्याप्त आत्मा में क्या बंध है और क्या मोक्ष है ? इसलिए हे श्रीरामजी, आप परिच्छिन्नता–मनन का ही निर्मूलन कर दीजिए ॥१०॥

प्राण आदि वायुओं से होनेवाले चलन आदि धर्मों से युक्त देह इत्यादि से आत्मा विलक्षण है यह बतलाते हैं।

वायु स्पन्दनरूप धर्म से युक्त है, अतः जब वह इस तुच्छ देह में चलता है, तब हाथ, पैर और रसनारूपी पल्लवों की पंक्ति चलने लगती है ॥११॥ जैसे वायु वृक्ष में पल्लवों की पंक्ति को चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देह में अंगों की पंक्तियों को पर्याप्तरूप से चलाता है ॥१२॥ सब पदार्थों को व्याप्त कर लेनेवाली अतिसूक्ष्म चिति न तो स्वतः चल है और न किसी से चलायमान होती है, जैसे अचल मेरूपर्वत वायुओं से कम्पित नहीं होता, वैसे ही यह चिति भी प्राण आदि वायुओं से कम्पित नहीं होती ॥१३॥

शुद्ध आत्मभाव में आत्मा का संचलन नहीं होता तो भले ही न हो, पर सर्वात्मरूपता के भाव में तो उसका वैसे संचलन हो सकता है, जैसे शाखा के संचलन से वृक्ष का संचलन होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे अपने प्रकाश के द्वारा दीपक घट आदि पदार्थों को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही बोध के द्वारा

अपने स्वरूप में अवस्थित चिद्रूपी आत्मा, जिसमें समस्त अर्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं, इन अखिल ब्रह्माण्डों को प्रकाशित कर देता है। निष्कर्ष यह निकला कि जैसे स्फटिक की शिला चल रहे अनेक पदार्थों के प्रतिबिम्बों की स्वरूपता को प्राप्त होती हुई भी स्वयं अचल रहती है, वैसे ही आत्मा चल रहे पदार्थों की स्वरूपता को प्राप्त होता हुआ भी स्वयं अचल ही रहता है ॥१४॥ आत्मा और देह की तनिक भी समानता नहीं है, यह जब वस्तु स्थिति है, तब दुर्बुद्धियों को 'यह देह ही मैं हूँ, हाथ आदि अंग मेरे हैं तथा स्त्री, पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि अत्यन्त दुःखप्रद व्यर्थ मोह नहीं है, तो फिर है क्या ? ॥१५॥ आत्मा और शरीर का अत्यन्त वैधर्म्य होने पर भी देह में ज्ञातृत्व और आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विरुद्ध धर्म अविद्या के कल्लोलरूपी रागादि से उपहित तथा देह आदि के साथ तादात्म्य और संसर्गाध्यास से जनित होने के कारण अनित्य मिथ्या भ्रान्ति से ही सदा प्रतीत होते हैं ॥१६॥

उपलब्धि के अनुसार ही उत्तरोत्तर भ्रान्ति की बीजभूत वासना भी बढ़ती जाती है यों कहते हैं।

उसमें 'यह मैं आगन्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार की वासना, ऐसी व्यर्थ उत्पन्न होती है, जैसे तूलाज्ञान से आवृत मरुभूमिस्थ धूप से मृगतृष्णा उत्पन्न होती है ॥१७॥ असलियत में असत्य ही है, तथापि असत्यत्वरूप से अज्ञात अतएव सत्य-सी दीखाई पड़नेवाली यह अज्ञतारूपा वासना (अविद्या) मनरूपी मत्त मृग को, जो विषयों की तृषा से आक्रान्त है, उस प्रकार खींचती है, जिस प्रकार जल की तृषा से आक्रान्त मृग को मृगतृष्णा खींचती है ॥१८॥ हे रामजी, जैसे जिसका स्वरूप जान लिया गया हो, ऐसी चाण्डाल-कन्या ब्राह्मणों की पंक्ति में से भाग जाती है, वैसे ही जिसका तात्त्विक स्वरूप जान लिया हो, ऐसी अविद्यारूपी वासना भाग जाती है और नष्ट हो जाती है ॥१९॥ हे रामभद्र, जैसे 'यह मृगजल है' इस प्रकार तात्त्विक स्वरूप से जाना गया मृगजल प्यासे मृग को अपनी ओर नहीं खींचता, वैसे ही 'यह अविद्या है' इस प्रकार तत्त्वतः जानी गई अविद्या मनरूपी मृग को नहीं खींचती ॥२०॥

श्रीरामजी, जैसे दीपक से अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश आ जाता है, वैसे ही परमार्थरूप आत्मा के अवबोध से वासनामूल नष्ट हो जाता है और अपरिच्छिन्न आत्म प्रकाश आविर्भूत हो जाता है ॥२१॥ जैसे ताप से तुषार कणिका गल जाती है, वैसे ही 'अविद्या का अस्तित्व किसी तरह नहीं है', इस प्रकार शास्त्र और तदनुकूल युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या तत्क्षण गल जाती है ॥२२॥ इस जड़ देह के लिए भोगों से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार के निश्चय से युक्त तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओं के हेतुभूत मल को (अज्ञान को) ऐसे छिन्न भिन्न कर देता है, जैसे सिंह पींजड़े को छिन्न भिन्न कर देता है ॥२३॥ हे श्रीरामजी, अपने हृदय से इच्छाओं के परिवारभूत देहाभिमान आदि का निश्चितरूप से परिहार हो जाने पर पुरुष चन्द्रमा की नाईं सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है और अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त करता है ॥२४॥ हे मर्यादापुरुषोत्तम, जैसे वृष्टि से धोया गया पर्वत परम शीतलता को प्राप्त करता हैं, वैसे ही उक्त देहाभिमान का विनाश हो जाने पर पुरुष निरतिशय शीतलता को प्राप्त करता है। जैसे राज्य मिल जाने पर दरिद्र परम विश्रान्ति को धारण करता है, वैसे ही वह परम विश्रान्ति को धारण करता है ॥२५॥ जैसे शरद्काल में निर्मलत्व आदि शोभा से आकाशतल अत्यन्त सुशोभित होता है, वैसे ही वह तत्त्वज्ञानरूपी उत्तम शोभा से सुशोभित होता है और जैसे कल्प के अन्त में (महाप्रलय में) समुद्र अपनी सीमा में नहीं समाता, वैसे ही वह अपने में नहीं समाता यानी उस समय

किसी से परिच्छिन्न नहीं होता ॥२६॥ जैसे मेघ वर्षाकाल में बरस चुकने के कारण शरत्काल में गर्जन आदि से शून्य हो जाता है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता उक्त दशा में समस्त अभिनिवेशों से शून्य हो जाता है और जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूप में स्थित रहता है, वैसे ही वह अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे अचल मेरु स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है, वैसे ही अचल तत्त्ववेत्ता स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है यानी न तो किन्हीं विषयों से हर्षित होता है और न भयस्थानों से प्रकम्पित होता है। ईंधनों के शान्त हो जाने पर अग्नि की नाईं अति स्वच्छ कान्ति से विराजित होता है ॥२८॥ तत्त्ववेत्ता मुनि अपने ही स्वरूप में ऐसे उत्तम शान्ति से समन्वित रहता है, जैसे वायुरहित प्रदेश में दीपक अपने स्वरूप में शान्त रहता है। और परम तृप्ति को ऐसे प्राप्त करता है, जैसे अमृत पी जानेवाला पुरुष परम तृप्ति को प्राप्त करता है ॥२९॥ जैसे मध्यदीपवाला घट, मध्यज्वालावाला अग्नि और प्रस्फुरित कान्तिवाला मणि अपने भीतर प्रकाश को प्राप्त करते हैं, वैस ही तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने भीतर परमप्रकाशस्वरूपता को प्राप्त करता है ॥३०॥

तत्त्ववित् महानुभाव सब भूतों के आत्मस्वरूप, सर्वत्र सत्तावाले, सबके नियन्ता, सबके नायक, व्यवहार–दशा में सर्वाकार और परमार्थ दशा में निराकार अपने आत्मा को देखता है ॥३१॥ आत्मतत्त्व स्वरूप को पहचान लेनेवाला महात्मा भूतपूर्व उन तुच्छ दिवसों की पंक्तियों का स्मरण कर हँसता है, जिनमें काम–बाणों की परम्पराओं से चंचल चित्त विद्यमान था ॥३२॥ तत्त्ववेत्तापुरुष विषयी पुरुषों के संग और विषयों के अनुरंजन से वर्जित, मान और मानसिक चिन्ताओं से शून्य, आत्मविषय में आसक्त, परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरण युक्त होता है ॥३३॥ आत्मज्ञानी कामरूपी कीचड़ के लेप से रहित, बन्धन स्वरूप आत्मभ्रम से शून्य, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से उन्मुक्त तथा संसाररूपी सागर से तरा हुआ रहता है ॥३४॥ तत्त्वज्ञ विद्वान् सबसे उत्तम सार्वभौम शान्ति को, साधारण जीवों के लिए अत्यन्त दुर्लभ परमपद को तथा संसारताप में पुनः पुनः सन्ताप–स्वरूप आवृत्ति से वर्जित यानी अनावृत्तिपद स्वरूप साम्राज्य को प्राप्त हुआ रहता है। समस्त लोगों के द्वारा कर्म और वाणी से उस महाविद्वान् का सुन्दर परम पावन चरित्र चाहा जाता है, पर वह कुछ भी नहीं चाहता। सभी मनुष्य उसके चरित्र फलों का अनुमोदन करते हैं, पर वह किसी का अनुमोदन नहीं करता यानी उदासीन रहता है ॥३५,३६॥

तत्त्वज्ञ न तो कुछ देता है, न किसी का ग्रहण करता है, न किसी की स्तुति करता है, न किसी की निन्दा करता है, न अपने स्वरूप के तिरोधान को प्राप्त होता है, न उदय को प्राप्त होता है यानी फिर स्वरूप के आविर्भाव को प्राप्त नहीं होता, न सन्तुष्ट होता है और न शोक करता है ॥३७॥ समस्त आरम्भों का (लौकिक, वैदिक कर्मों का) परित्याग करनेवाला, समस्त उपाधियों से वर्जित तथा समस्त आशाओं को तिलाजंलि देनेवाला पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥३८॥

महाराज वसिष्ठ श्रीरामभद्र को जीवन्मुक्त के लक्षणों की शिक्षा देते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे जल धाराओं का निःशेषरूप से परित्याग कर मेघ परिपूर्णरूप से प्रशान्त हो जाता है, वैसे ही आप भी समस्त अभिलाषाओं का परित्याग कर अन्तःकरण से मौन हो जाइये यानी प्रशान्त हो जाइये ॥३९॥

अभिलाषा के परित्याग की प्रशंसा करते हैं।

हे श्रीरामभद्र, जिस प्रकार चन्द्र–बिम्ब की नाईं अत्यन्त शीतल नैराश्य अपने अन्तरात्मा को सुख–शान्ति पहुँचाता है, उस प्रकार अंग में आलिंगित वरवर्णिनी (अपने पति में अनन्य भाव रखनेवाली अति कमनीय कान्ता) पुरुष के अन्तरात्मा को सुख–शान्ति नहीं पहुँचाती है ॥४०॥ हे राघव, जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को सुशीतल करनेवाला नैराश्य अन्तरात्मा को सुख पहुँचाता है, उस प्रकार कण्ठ में संलग्न चन्द्रमा भी अन्तरात्मा को सुख नहीं पहुँचाता ॥४१॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार नैराश्य से सम हुए अन्तःकरण से युक्त उदारमति मौनी तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है, विकसित कुसुमों से परिपूर्ण एवं नूतन लताओं से विराजित कुसुमाकार उस प्रकार सुशोभित नहीं होता ॥४२॥ श्रीरामजी, नैराश्य से जैसी शीतलता प्राप्त होती है, वैसी शीतलता न तो हिमालय से, न मोतियों से न कदली काण्डों से, न चन्दन से और न हिमांशु से प्राप्त होती है ॥४३॥ पुरुष को न तो राज्य से, न तो स्वर्ग से, न तो चन्द्रमा से, न तो वसन्त से और न कान्ता के कमनीय संसर्ग से वैसा उत्तम सुख मिलता है, जैसा निराशा से उत्तम सुख मिलता है यानी राज्य आदि की अपेक्षा निराशा ही सबसे बढ़ चढ़ कर सुख है ॥४४॥ हे साधो, जिस मोक्षनामक परम सुख के लिए तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की नाईं कुछ भी उपकार नहीं कर सकती, वह मोक्षात्मक निरतिशय सुख नैराश्य से ही प्राप्त होता है ॥४५॥ हे रघुकुलकमलदिवाकर, आपत्तिरूपी करंज (करंजुवे) वृक्ष के लिए परशुरूप, परम निरतिशय विश्रान्ति सुख के स्थानस्वरूप, शान्तिरूपी वृक्ष के फूलों के गुच्छ स्वरूप नैराश्य का आप आश्रय लीजिये ॥४६॥

हे श्रीरामजी, नैराश्य से अलंकृत आकृतिवाले महात्मा की दृष्टि में पृथ्वी गाय के खुर की तरह, सुमेरु पर्वत स्थाणु की तरह (काटे गये वृक्ष के अवशिष्ट भाग की तरह), दिशाएँ साधारण पिटारियों की तरह और सारा त्रिभुवन तृण की तरह प्रतीत होता है ॥४७॥ भद्र, इस जगत् में जो लौकिक और शास्त्रीय दान, आदान यानी धन आदि का स्वीकार, समाहार यानी संग्रहवृत्ति से कोश आदि का बढ़ाना, विहार यानी धनव्यय से पुत्र के साथ क्रीड़न, विभव यानी वस्त्र, अलंकार आदि सम्पत्ति इत्यादि क्रियाएँ हैं, वे आशावर्जित महापुरुष के द्वारा हँसी जाती हैं, क्योंकि उनके लिए प्रयत्न तो अत्यन्त करना पड़ता है, फिर उनसे जो फल होते हैं, वे अत्यन्त तुच्छ होते हैं और परिणाम में अनर्थ के सम्पादक है, परन्तु मूढ़ पुरुषों का उनमें वैसा ग्रह नहीं है, इसलिए वे हँसी के पात्र हैं, यह भाव है ॥४८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आशा जिसके हृदय में अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, ऐसे सम्पूर्ण त्रिभुवन को तृण के सदृश समझनेवाले उस महात्मा की उपमा किससे दी जा सकती है ? ॥४९॥ भद्र, 'मुझे यही होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए' इस प्रकार की इच्छा जिसके चित्त में नहीं होती, ऐसे स्वाधीन चित्तवाले या सर्वेश्वरस्वरूपवाले विद्वान् की मनुष्य किस प्रकार तुलना कर सकते है ? ॥५०॥ श्रीरामभद्र, समस्त संकटों के पारभूत, संकट और मल से वर्जित, सुखात्मक तथा बुद्धि की परम सार्थकतास्वरूप नैराश्य का आप अवलम्बन कीजिये ॥५१॥

हे श्रीरामजी असलियत में आप में (आत्मा में) न तो आशाओं का अस्तित्व है और न आपका (आत्मा का) आशाओं से किसी तरह का सम्बन्ध ही है । इस जगत् को अज्ञानवश से उत्थित मिथ्या भ्रममात्र उस प्रकार जानिये, जिस प्रकार दौड़ रहे रथ के ऊपर अवस्थित पुरुष को दोनों ओर बगल की दिशाओं में विद्यमान तरु, गुल्म आदि में पहियों के परिभ्रमण से भ्रमवश परिभ्रमण होता दिखाई पड़ता

है। अथवा हे श्रीरामजी, आप आशाओं का अवलम्बन मत कीजिये। आशाएँ एक तरह की चोर हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के विवेक विज्ञानरूपी धनसम्पत्ति का अपहरण कर वे पुरुषों को आत्मसुख से वंचित कर देती हैं। जगत् का वैषयिकसुख मूढ़ पुरुषों से ही सैकड़ों तरह की अभिलाषाओं के द्वारा चाहा जाता है। जैसे दौड़ रहे रथ में लगे हुए पहियों के ऊर्ध्व और नीचे प्रदेश में होनेवाला घुमाव नेमी का आश्रय करनेवाले पिपीलिका इत्यादि जीवों के पतन, पेंषण (कुचला जाना) आदि अनर्थ का कारण होता है, वैसे ही मिथ्या भ्रममात्र जगत् भी उसका आश्रय करनेवाले यानी भ्रान्तिरूप जगत् में सत्यत्वमति रखनेवाले जीवों के जन्म, मरण आदि अनर्थों का कारण है यानी अनर्थों के लिए ही जगत् समुत्थित है, यह जानिए।

अथवा उत्तम सुख की अभिलाषा से निम्न कोटी के सुखों की अभिलाषा का अपहरण करने के लिए उत्तरोत्तर अन्य अन्य आशाओं का परिग्रह करना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में आशाओं की अभिवृद्धि ही होगी, आशा का विनाश नहीं होगा, इस प्रकार की श्रीरामचन्द्रजी की आशंका को ताड़कर महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामजी, उत्कृष्ट आशाएँ निकृष्ट आशाओं की अपहर्त्री हैं, इस अभिप्राय से नैराश्य का कथन मैंने नहीं किया है, ऐसा आप जानिये, क्योंकि जगत् तो मिथ्या भ्रम है, यानी मिथ्याभूत वस्तुओं में अभिलाषाओं की परम्परा का उत्पादन कर वह पुरुषों को चक्कर में डालता है। और जैसे दौड़ रहे रथ में स्थित पुरुष को दिक्चक्रो में क्रमशः भ्रमण उत्पन्न होता है अथवा दौड़ रहे रथ के वेग से दिक्मोह उत्पन्न होता है, वैसे ही भ्रान्तिवश जगत् उत्पन्न है, अतः इस प्रकार के मिथ्या भ्रमणशील जगत् में उत्कर्षप्रयुक्त अपकर्ष कथा ही अप्रसिद्ध है। अथवा आशाएँ आशाओं की चोरी नहीं करती, अतः आत्मवेत्ता किसी की भी चाहना नहीं करता, क्योंकि जगत् भ्रममात्र है, इस जगत् में ऐसी कोई पुरुषार्थस्वरूप वस्तु नहीं है, जो चाहने योग्य हो, अतः आप आशाओं से कुछ भी सम्बन्ध मत रखिये, इस पक्ष में शेष अंश पूर्व की तरह समझ लेना चाहिए ॥५२॥

आशाओं के आत्यन्तिक निरास के हेतु का अन्वेषण करने पर उसका परिज्ञान न होने के कारण मोह को प्राप्त हुए–से श्रीरामजी को देखकर पूर्वोक्त देह आदि में अहम्भाव और ममता का परित्याग ही आत्यन्तिक नैराश्य में हेतु है, इसका आग्रहपूर्वक स्मरण करा रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं :

हे महाबाहो, बोधित होने पर आप देह तथा देह–सम्बन्धी जरा आदि मेरे हैं, पूर्वोक्त काल में प्रसिद्ध और वर्तमान काल में प्रत्यक्ष देह मैं ही हूँ, इत्यादि रूप से मूर्खों की नाईं क्यों भ्रम में पड़े हुए हैं ? ॥५३॥

आपका वैसा कहना यद्यपि उचित है, तथापि आशारूपी दुःखकी निवृत्ति किस प्रकार से होगी ? तो इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, यह सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही है, यहाँ विविधरूपता है ही नहीं, जगत् को अद्वितीय परमात्मस्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते ॥५४॥ हे राघव, इन पदार्थों के समूहों का जो यथार्थ आत्मभूत स्वरूप है, उसको जानने से ही पुरुष बुद्धि के परम विश्रान्तिस्वरूप नैराश्य को प्राप्त होता है ॥५५॥

समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप किस प्रकार का है ? इसे कहते हैं।

उत्पत्ति, विनाश और विकल्पों से विनिर्मुक्त, आदि और अन्त में स्थित जो स्वरूप है वही पदार्थों का स्वरूप है, ऐसी भावना कर आप अपनी स्थिति कीजिये ॥५६॥ श्रीरामजी, जैसे वीर केसरी के पास से हिरनी पलायन कर भाग जाती है, वैसे ही समस्त विकल्पों के परित्यागरूपी महावैराग्यसे वीरता को प्राप्त हुए अन्तःकरण से युक्त पुरुष के पास से यह मोहकारी संसरणशील माया पलायन कर भाग जाती है ॥५७॥

इसी प्रकार काम आदि दोष भी भाग जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जिसकी बुद्धि धीर है, ऐसा तत्त्ववित् महात्मा वनलता की नाईं अतिचपल उन्मत्त कामातुर कान्ता को जर्जर प्रस्तर की मूर्ति के तुल्य देखता है ॥५८॥ हे अंग, जैसे वायु पर्वत को न आनन्द दे सकता है, न खेद दे सकता है और न धैर्य से प्रच्युत कर सकता है, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुषों को विषयोपभोग न तो आनन्द पहुँचा सकते हैं, न तो आपत्तियाँ भीतर खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य सम्पत्तियाँ धैर्य से च्युत कर सकती हैं ॥५९॥ भद्र जिसके विषय में बाल अंगनाएँ अनुरक्त हैं, ऐसे भी तत्त्वज्ञ मुनि के अन्तःकरण में उदार बुद्धि के कारण कामदेव के बाण छोटे-छोटे टुकड़े होकर धूलिरूपता को प्राप्त हो जाते हैं ॥६०॥ आत्मा के तत्त्व को पहचान लेनेवाले अपराधीन (इन्द्रियों के अवशीभूत) विद्वान् को राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते। श्रीरामजी, इस प्रकार महाविद्वान् में उनके द्वारा जब तनिक-सा स्पन्दन भी नहीं हो सकता, तब उनके द्वारा आक्रमण की तो कथा कैसे हो सकती है ? ॥६१॥ जैसे पथिक मरुभूमि में रमण या विश्राम नहीं करता, वैसे ही विद्वान, जो लता और वनिता में एक-सी दृष्टि रखता है तथा जिसका पर्वत की नाईं विकार शून्य निष्कम्प आकार है, वह इन तुच्छ विषयोपभोगों में रमण नहीं करता ॥६२॥

तब क्या विद्वान् खाना, पीना आदि का परित्याग कर देता है ? तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे लोचन आसक्त न होकर आलोक का उपभोग करता है वैसे ही जिसका अन्तःकरण किन्हीं भोग्य पदार्थों में आसक्त नहीं है ऐसा तत्त्वज्ञ मुनि अयत्न से प्राप्त अनिषिद्ध अन्न, पान आदि सब भोग्यजात का केवल देहमात्र के धारण के अनुकूल चेष्टा से (व्यापार से) उपभोग करता है ॥६३॥

जो तत्त्वज्ञ गृहस्थ है, वह अपने स्त्री आदि के लिए उपभोग का आस्वाद होने पर भी रागी पुरुष की नाईं भ्रमग्रस्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे भद्र, काकतालीय की नाईं प्राप्त हुई ललना आदि भोगपंक्तियाँ आस्वादित होने पर भी तत्त्वज्ञ धीर पुरुष को न दुःख के लिए तथा न तुष्टि के लिए होती है ॥६४॥ जैसे दो वीचियाँ शैलेन्द्र मन्दराचल को क्षोभ नहीं पहुँचा सकती, वैसे ही जिसने प्रत्यक्-दृष्टि के मार्ग का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष को सुख-बुद्धि और दुःख बुद्धि दोनों तनिक भी क्षोभ नहीं पहुँचा सकती ॥६५॥ अवहेलना से यानी असत्यत्वबुद्धि से विषयों को देख रहा मृदु, दमनशील तथा समस्त चिन्ता आदि ज्वरों से विनिर्मुक्त तत्त्ववित् सब भूतों में अन्तरात्मस्वरूप से स्थित आत्मपद का ही अवलम्बन कर अवस्थित रहता है ॥६६॥ अनेक भुवनों को उत्पन्न कर रहे अपनी आत्मा में परम विश्रान्ति लेनेवाले हिरण्यगर्भ की ही नाईं तत्-तत् कालोचित क्रियाओं में व्याप्त होने पर भी देहादियुक्त तत्त्ववेत्ता किसी प्रकार से विक्षेप से युक्त नहीं रहता यानी विक्षेपशून्य ही रहता है ॥६७॥ जैसे वसन्त आदि ऋतुओं के

आने पर पर्वत किसी प्रकार का क्षोभ प्राप्त नहीं करता, वैसे ही कालानुसार, देशानुसार एवं क्रमानुसार आपत्तियों के तथा सुख–दुःखों के आने पर भी तत्त्ववित् क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ॥६८॥ हे श्रीरामजी, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के व्यापारों के विषयों में डूब रहे भी आत्मज्ञ विद्वान् का कुछ भी विनष्ट नहीं होता, वह सदा–सर्वदा अनासक्त मन से युक्त है ॥६९॥

भीतरी आसक्ति ही दोष की उत्पादक है, ऊपर ऊपर की बनावटी आसक्ति दोष की उत्पादक नहीं है, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे सुवर्ण भीतर के कलंक से ही कलंकित कहा जाता है , ऊपरी पंक आदि के लेपनरूपी कलंक से कलंकित नहीं कहा जाता, वैसे ही प्राणी भावासक्ति से यानी भीतरी आसक्ति से ही समासक्त कहा जाता है, ऊपरी बनावटी आसक्ति से आसक्त नहीं कहा जाता ॥७०॥

आन्तर आसक्ति के त्याग से देहदुःख आदि की भी प्रसक्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

शरीर से पृथक् यानी भिन्न आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर रहे नित्यानित्य विवेक के विज्ञान सम्पन्न ज्ञानी के भले ही अंग काटे जायें, तथापि उसका कुछ भी काटा नहीं जाता ॥७१॥

देह से अतिरिक्त आत्मा का विस्मरण होने पर तो फिर दुःख होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

जैसे एक बार प्रिय बन्धु का परिज्ञान हो जाने के अनन्तर फिर वह अज्ञात नहीं हो जाता, वैसे ही विमल प्रकाशस्वरूप जो आत्मा है, उसका कभी यदि ज्ञान हो गया, तो वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता ॥७२॥

विस्मरण की अप्राप्ति में दृष्टान्त और उपपत्ति से युक्त हेतु बतलाते हैं।

जैसे पर्वत के तट से छू रही वर्षाकालीन नदी वर्षा की निवृत्ति हो जाने पर फिर नहीं छूती, वैसे ही सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने पर रज्जु में फिर सर्पभावना नहीं होती ॥७३॥

निष्कर्ष यह निकला कि आत्म भ्रान्ति की निवृति हो जाने पर आत्मा का विस्मरण फिर नहीं होता।

जैसे अग्नि के ताप से जिसके अंग विशुद्ध हो चुके हैं तथा जो निःशेषरूप से अपने स्वभाव को यानी केवल सुवर्णस्वरूपता को प्राप्त हुआ है, ऐसा कीचड़ में निमग्न हो रहा सुवर्ण भी फिर मल को ग्रहण नहीं करता, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥७४॥ हे श्रीरामजी, अपने हृदय की ग्रन्थि का उच्छेद हो जाने पर फिर देहादि के गुणों से आत्मा का बन्धन नहीं होता, क्या वृक्षस्थ वृन्त से यानी डंठली से टूट गये फल को कोई भी समर्थ पुरुष पुनः डंठल के साथ पूर्ववत् जोड़ सकता है ? अर्थात् नहीं जोड़ सकता ॥७५॥ पत्थर का छेदन और मणि के तात्त्विक स्वरूप का विचार इन दोनों की सहायता से जो मणि का अंश नहीं है, उस अंश को काटकर पत्थर के अन्तर्गत मणि की प्राप्ति की जाती है। इस प्रकार प्राप्त हुई मणि का पुनः पूर्ववत् पाषाण के साथ सन्धान करने के लिए कौन पुरुष सामर्थ्य रख सकता है अर्थात् कोई नहीं रख सकता ॥७६॥ अविद्या का असली स्वरूप जान लेने के अनन्तर कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें डूबता है यानी फँसता है ? चाण्डालों के उत्सव विशेष का परिज्ञान हो जाने के अनन्तर कौन द्विजन्मा उस उत्सव में संमिलित होने की प्रतीक्षा करेगा ? ॥७७॥ जैसे विशुद्ध सलिल में हुई दुग्ध भ्रान्ति दुग्ध स्वरूप का विचार करने के अनन्तर विनिवृत्त हो जाती है, वैसे ही संसारिक वासना बुद्धिस्थ आत्मा का स्वरूप का विचार करने के अनन्तर

विनिवृत्त हो जाती है ॥७८॥ इस लोक में श्रेष्ठ श्रेणी के ब्राह्मण लोग तब तक जलबुद्धि से मद्य पी लेते हैं, जब तक उसका असली स्वरूप नहीं जान लेते। असली स्वरूप को जान लेने पर तो उसका परित्याग कर देते हैं ॥७९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्ववेत्ता पुरुष रूपलावण्ययुक्त कामिनी को भी चित्र में लिखित कान्ता की प्रतिमा की नाईं ही देखते हैं, क्योंकि वह द्रव्यमात्र समारम्भ है यानी उसका तात्त्विक स्वरूप पंचभूतात्मक द्रव्यमात्र ही है ॥८०॥ हे श्रीरामजी, जैसे चित्र में चित्रित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुंकुम आदि रंगस्वरूप पाँच भूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही रूप और लावण्य से युक्त जीवित कामिनी के भी केश, ओष्ठ आदि पांच भूतोंके स्वरूप से अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है, इसलिए कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्ता में तत्त्वतः समानता होने के कारण जीवित-कान्ता की क्या उपादेयता हो सकती है ? ॥८१॥

यदि शंका हो कि जैसे स्त्री आदि विषयों का अनुभूयमान जो स्वरूप है, उससे विपरीत ही उनका तात्त्विक स्वरूप है, वैसे ही स्वात्मानुभव का भी परम प्रेमास्पदत्वरूप से अनुभूयमान जो आनन्दस्वरूप है, उससे विपरीत ही क्यों नहीं होगा? तो इस पर कहते हैं।

जैसे गुड़ के अनुभूत स्वाद मधुर रस का अनुभूत गुड़, अनुभवकरण जिह्वा तथा अनुभव करनेवाले देवदत्त आदि के दाह, कर्तन आदि सैकड़ों प्रयत्नों से भी 'यह माधुर्य का अनुभव नहीं है, किन्तु तिक्तता आदिका अनुभव है' यों-अन्यथा नहीं कर सकते, वैसे ही आत्मा के तात्त्विक आनन्दानुभव को भी अन्यथा नहीं कर सकते ॥८२॥

अतएव जब एक बार अनुभूत पदार्थ को भी अन्यथा नहीं कर सकते, तब केवल उसी एक वस्तु में व्यसनी पुरुष के द्वारा सदा-सर्वदा अनुभूयमान पदार्थ को अन्यथा नहीं कर सकते, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

परपुरुष में व्यसन (आसक्ति) रखनेवाली नारी, घर के कार्य में व्यग्र रहने पर भी, उसी परपुरुष सम्बन्धरूपी रसायन का अपने अन्दर आस्वाद लेती है ॥८३॥ हे श्रीरामजी, इस प्रकार विशुद्ध परब्रह्मतत्त्व में उत्तम विश्रान्ति को प्राप्त हुआ धीर तत्त्वज्ञ पुरुष इन्द्र के साथ हजारों देवताओं से भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥८४॥ भद्र, भला बतलाइये तो सही कि ऐसा कौन बलिष्ठ स्वामी है, जिसने परपुरुष के संग में व्यसन रखनेवाली अपनी पत्नी को उसके संकल्प में अवस्थित परकान्तसंगमरूपी महोत्सव का विस्मरण कराया हो ॥८५॥ हे राघव, सांसारिक विभिन्न विषयानन्दरूपी जो अनेक पुण्यरस हैं, वे सब जिसमें शहद के छत्ते की नाईं एक रस हो जाते हैं, ऐसे स्वात्मानन्दचिदालोक के निरन्तरास्वादनधारा को प्राप्त हुए ही तत्त्वज्ञ महात्मा की मति का विस्मरण कौन करा सकता है ? इस विषय में शिवधर्मोत्तर में भी कहा गया है :

ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्। विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैवधावति ॥

यानी एक बार भी जिसने ज्ञानामृतरूपी रस का आस्वाद ले लिया हो, उसका मन समस्त व्यापारों को छोड़कर उसीमें अनुधावन करता है ॥८६॥

समग्र सुख और दुःख से युक्त व्यवहारों को यानी घरके कामों को विधिपूर्वक कर रही पति, सास और ससुर के द्वारा पीड़ित भी कुलजनों के आश्रित वधु, जो पर संग में आसक्ति रखनेवाली है, जिस

प्रकार संकल्प कान्त से आनन्दविभोर होती है और दुःखों से पीड़ित नहीं होती, उसी प्रकार जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसकी भली प्रकारकी दृष्टि यानी तत्त्वबुद्धि है तथा जो सुन्दर आचरणों से युक्त है, ऐसा महात्मा पर्याप्तरूप से व्यवहार में निरत होने पर भी अपने अन्तरात्मा से प्रसन्नता को प्राप्त करता रहता है ॥८७–८९॥

उसमें भी जो तत्त्वज्ञ सप्तम भूमिका में आरूढ़ है, उसकी अत्यन्त स्थिरता रहती है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सप्तम भूमिका में समारूढ़ योगी छिन्नांग हुआ भी छेदित नहीं होता, गिर रहे अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी रोता नहीं है, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता, विनष्ट देह होता हुआ भी नष्ट नहीं होता ॥९०॥

हे राघव, मन के विनाशपर्यन्त भूमिका में सुप्रतिष्ठित पुरुष धीर तत्त्वज्ञ यद्यपि पूर्वकालिक प्रारब्धफलरूपी कर्म से विधुर भोगशून्य दरिद्र–अवस्था में या माण्डव्य की नाईं शूलाधिरोहण (शूली पर चढ़ाना) रूपी संकटावस्थाओं में या उत्तम नगरस्थ सदन में या भयंकर अटवी में या तपोवन में भले ही रहे, तथापि वह सदा–सर्वदा सुख दुःख के संनिपात से दूर ही रहता है, तनिक भी संसारिक हर्ष, शोक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता, यह भाव है ॥९१॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

बड़े–बड़े अधिकारों में भी हर्ष, शोक आदि के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक मुक्त देवता, असुर, मनुष्य आदि का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, अपने राज्य में समयोचित तत्–तत् व्यवहार में तत्पर होते हुए भी राजा जनक निखिल मानसिक चिन्तारूपी ज्वर से रहित तथा भीतर आकुल मति से वर्जित होकर ही सदा–सर्वदा अवस्थित हुए ॥१॥ आपके पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों में सर्वदानिरत होने पर भी भीतर आसक्ति से वर्जित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया ॥२॥ राग आदि की कालिमा से शून्य होने के कारण आत्मज्ञान को प्राप्त हुए महाराज मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का पालन करते हुए तथा सर्वदा जीवन्मुक्त स्वरूप होकर राज्य का संरक्षण किया ॥३॥ विचित्र सैन्य तथा बाहुबल का जिनमें उपयोग होता था, ऐसे युद्धों में तथा अनेक व्यवहारों में दीर्घकाल तक स्थित रहे महाराज मान्धाता आखिर परम पद को प्राप्त हुए ॥४॥ पाताल की पीठ पर आसीन होकर बलिराज यथार्थ–से व्यापार को करते हुए भी सदा त्यागी, सदा अनासक्त और जीवन्मुक्तरूप से स्थित हैं ॥५॥

'दिवस स्थितिम्' ऐसा यदि पाठ हो, तो 'पाताल में निवास करने के लिए भगवान् के द्वारा नियमित दिवसों का परिपालन करते हुए महाराज बलि जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिए।

दानवों का अधिपति नमुचि सदा–सर्वदा देवताओं के साथ युद्ध या मर्यादा व्यतिक्रम में तथा अनेकविध देव और दानवों के आचरण एवं विचार–विमर्शों में तत्पर होता हुआ भी भीतर से सन्तप्त (खिन्न) नहीं होता था ॥६॥ इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करनेवाले मानी वृत्रासुर ने,

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त उदार था, भीतर प्रशान्त मन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया ॥७॥ पाताल तल का परिपालन करनेवाले दानवोचित कर्मों का अनुष्ठान कर रहे भक्त प्रवर प्रह्लाद अविनाशी, वाणी के अगोचर परम सुख को (मोक्ष को) प्राप्त हुए ॥८॥ हे श्रीरामजी, यद्यपि केवल माया में ही निरत रहता था तथापि हृदयस्थ चिदाकाश एकरूपता से आविर्भूत शम्बरासुर ने इस संसाररूपी माया का परित्याग कर दिया ॥९॥ दानवों की कार्य सिद्धि के लिए भगवान् नारायण के साथ युद्ध कर रहे कुशल शम्बरासुर ने अथवा कुशल नाम के एक अन्य दानव ने परम तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर इस संसार का परित्याग कर दिया ॥१०॥ समस्त देवताओं का मुखस्वरूप अग्नि क्रिया समूह में तत्पर होता हुआ भी यज्ञीय लक्ष्मी का चिरकाल तक उपभोग करता हुआ परन्तु मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में रहता है ॥११॥ जैसे पैरों से आक्रमण करने पर आकाश सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त देवताओं के द्वारा पीयमान सोम, जिसके भीतर ब्रह्मात्मक रसायन यानी (पुनरुज्जीवन का अमृत) विद्यमान है, सुख, दुःख आदि के संसर्ग को प्राप्त नहीं होता ॥१२॥ पत्नी के लिए चन्द्रमा के साथ जिन्होंने युद्ध किया था, ऐसे देवताओं के गुरु बृहस्पति स्वर्ग लोक में देवताओं के पौरोहित्याधिकार की विचित्र चेष्टाओं को कर रहे भी मुक्त होकर यहाँ अवस्थित है ॥१३॥ आकाशतल में चमकनेवाले, विद्वान तथा नीतिशास्त्र रचना के द्वारा समस्त अभिमत अर्थों का परिपालन करनेवाले असुरदैशिक शुक्राचार्य निर्विकार बुद्धि होकर ही काल बिताते हैं ॥१४॥ ऊपर के लोकों का और प्राणिसमूहों के अंगों का चिरकाल से संचरण करा रहा वायु भी मुक्त ही स्थित है, जो सदा सर्वदा सर्वत्र संचरण करता है ॥१५॥ हे श्रीरामजी, नैकविधप्राणियोंके समूह के अत्यन्त वेगवूर्वक ऊपर, नीचे और मध्यलोक की गतियों से होनेवाले निरन्तर आवर्तन एवं उनसे जनित उद्वेगों के स्वरूप का परिज्ञान रख रहे ब्रह्मा भी अखिन्न बुद्धि तथा सममन होकर अपने दो परार्धवर्षपर्यन्त अतिविस्तृत आयुष्य को बिताते हैं ॥१६॥ भगवन् श्रीहरि यद्यपि नित्यमुक्त हैं तथापि जरा, मरण, युद्ध आदि द्वन्द्वों की युद्धलीला से इस संसारमण्डल में बहुत काल तक संचरण करते हैं ॥१७॥ जैसे कोई कामुक कामिनी को धारण करे, वैसे ही नित्यमुक्त, भगवान् त्रिनेत्र शंकरजी सौन्दर्य तरु की मंजरीरूपा भगवती गौरी को अपने देहार्ध में परिधारण करते हैं। भगवान् त्रिनेत्र न तो कामुक हैं और न भगवती गौरी कामिनी ही हैं, किन्तु एक ब्रह्म और दूसरी ब्रह्मविद्या है, यह ध्वनित किया है ॥१८॥ मुक्त होते हुए भगवती गौरी ने भी त्रिनेत्र धूर्जटि को चन्द्रमा की कला की नाईं अति स्वच्छ अत्यन्त धवलवर्ण मोतियों के हार के सदृश अपने गले में लगाया है ॥१९॥ जिसकी विचित्र दुरवगाह बुद्धि थी यानी साधारण बुद्धिवाले लोग जिन पदार्थों को समझ नहीं सकते उन पदार्थों को शीघ्र समझ लेने की तीव्रातितीव्र बुद्धि जिसमें थी और जो वीर था, ऐसे ज्ञानरूपी रत्न के एकमात्र समुद्र स्वामी कार्तिकेय ने मुक्त होते हुए भी तारकासुर आदियों से रण क्रीड़ा की ॥२०॥ हे श्रीरामजी, ध्यानरूपी सलिल से धोई गई, धीर मुक्त बुद्धि से ही भृंगीश ने (शिवजी के गणविशेष ने) अपनी माता को अपने रुधिर और मांस का प्रदान किया था। *(इस विषय में पुराणों में उल्लेख है कि जब भृंगीश गण भगवती देवी का अनादर कर केवल शिवजी की आराधना में तत्पर हुआ, तब कुपित देवी ने माता और पिता के भागस्वरूप रुधिर और मांसरूप देह में से अपने मातृभाव को लौटाने की याचना की, इस याचना के अनुसार उसने शिवजी के प्रति एकनिष्ठभक्ति के प्रकाशनार्थ अनायास माता के द्वारा अपने*

देह में आये हुए रक्त, मांस आदि को नोचकर उनको प्रदान कर दिया) ॥२१॥ महामुनि नारदजी यद्यपि मुक्त स्वभाव हैं, तथापि इस जगत्रूपी जंगल के खण्ड में कलह कौतुक को प्रवृत्त करनेवाली शान्त बुद्धि से यत्र तत्र विचरण करते हैं ॥२२॥ भद्र श्रीरामजी, समस्त भुवनों में अत्यन्त मान्य, समर्थ यह विश्वामित्र महर्षि यद्यपि जीवन्मुक्त मानस हैं, तथापि वेदशास्त्र में विहित यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान किया करते हैं ॥२३॥ जीवन्मुक्त होकर ही सहस्रमुख, नागराज शेष पृथ्वी को धारण करते हैं, सूर्य भगवान् दिवसों की परम्पराओं का निर्माण करते हैं, यमराज धर्माधर्म विचारपूर्वक लोगों का नियमन करते हैं ॥२४॥ इस पूर्वोक्त महानुभावों के सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में विमुक्तस्वरूपता को प्राप्त होकर संसार में अनासक्तस्वरूप से अवस्थित हैं ॥२५॥ विचित्र शोक, मोह अनर्थों के उत्पादक तथा पुत्र, स्त्री, धन–सम्पत्तिआदि का संग्रहकर युद्ध, वध, बन्धन आदि आचारों से युक्त भी इन सांसारिक राज्यादि व्यवहारों में संस्थित कुछ पुरुष भीतर शान्ति से समन्वित यानी मुक्त रहते हैं और कुछ मूढ़ तो शिला के सदृश रहते हैं, यानी अज्ञान में फँसे रहते हैं ॥२६॥ कुछ महानुभावों ने उत्कृष्ट आत्मज्ञान का सम्पादन कर चित्तविक्षेप की निवृत्ति के लिए तपोवन का आश्रय लिया। जैसे भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि ॥२७॥ कुछ तत्त्वज्ञ महात्मा आत्मज्ञान प्राप्तकर राज्यकर्म में ही छत्र, चाामर आदि से रक्षित होकर रहते हैं। जैसे जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि ॥२८॥ कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधारभूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में अवस्थित हैं। जैसे बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि ॥२९॥ कुछ तो देवताओं के पद को प्राप्त होकर विमानों की पंक्तियों के ऊपर आरूढ़ होकर स्थित हैं। जैसे अग्नि, वायु, वरुण, यम, तुम्बरु, नारद आदि ॥३०॥ कुछ महानुभाव पाताल की कन्दरा में जीवन्मुक्त होकर सुस्थित हैं। जैसे बलि, सुहोत्र, अन्ध, प्रह्लाद आदि ॥३१॥ तिर्यक् योनियों में भी सदा कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं जैसे गरुड़, हनुमान, जाम्बवान् आदि और देवयोनियों में भी मूर्खबुद्धिवाले बहुत से महामूढ़ विद्यमान हैं ॥३२॥

यदि शंका हो कि जितने सात्त्विक हैं उन सबमें देवता अधिक सात्त्विक हैं, अतः जिनकी ज्ञान और ऐश्वर्य शक्ति स्वभावतः ही अभिव्यक्त होती है, ऐसी देवयोनियों में मूर्खों की संभावना कैसे हो सकती है ? तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति ईश्वर की सर्वभाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा स्थिति होने से तथा सर्वस्वरूप आत्मा में स्वप्नादि अवस्थाओं में सैकड़ों असंभावित वस्तुओं का भी दर्शन होने के कारण कहीं पर किसी की भी असंभावना नहीं करनी चाहिए ऐसा कहते हैं।

जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, ऐसे सर्वस्वरूप आत्मा में सब कुछ सर्वभाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा ही सम्भावित हो सकता है ॥३३॥

पूर्वोक्त अर्थ को ही स्पष्टरूप से कहते हैं।

विधि की नियति, अनन्त कार्यों के आरम्भ में निरत है और विचित्र है, अतः संनिवेशांश के वैचित्र्य से सब कुछ सब जगह दिखाई पड़ता है ॥३४॥

विधि कौन है ? इसे कहते हैं।

ब्रह्मा, दैव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, शिव, ईश्वर आदि परमात्मा के नामों से हम सब लोगों का प्रत्यक् चेतनरूप आत्मा ही कहा जाता है ॥३५॥

जहाँ पर अत्यन्त असंभावित भी वस्तु और अवस्तु दोनों एक दूसरे के भीतर संभावित हो जाती हैं, वहाँ पर दूसरा क्या असंभावित हो सकता है ? इस आशय से कहते हैं।

अवस्तु में भी भीतर वस्तु रहती है, जैसे बालू में सुवर्ण तथा वस्तु में भी अवस्तु रहती है, जैसे सुवर्ण के कणों के भीतर मालिन्य ॥३६॥ हे श्रीरामजी, जो युक्त नहीं है उसमें युक्ति से विमर्श करने पर युक्तता दिखाई पड़ती है, क्योंकि युक्ति से विचार करने पर फलतः भीषण होने से अत्यन्त युक्त पाप में भी पुरुष को धर्म में प्रवृत्त कराने का मनन गुण दिखाई पड़ता है ॥३७॥ हे साधो, असत्य में भी फलतः शाश्वती सत्यता दिखाई पड़ती है, क्योंकि शून्यात्मक ध्यान–योग से शाश्वत (अविनाशी) पद की प्राप्ति होती है ॥३८॥ असलियत में जो नहीं है, उसका भी देश और काल के विलास से शीघ्र प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसे ऐन्द्रजालिक सृष्टि में सींगवाले खरगोश भी दिखाई पड़ते हैं ॥३९॥ जिनका विनाश कभी भी संभावित नहीं था, ऐसे सुदृढ़ पदार्थ भी कल्प के अन्त में क्षय को प्राप्त हुए दिखाई पड़ते हैं। जैसे चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, समुद्र, देवता आदि ॥४०॥

असंभावित का भी संभव है, इसका प्रासंगिक जो उपादान हुआ, उसका भी प्रकृत ही फल है, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे महाबाहो, इस प्रकार के भाव–अभावात्मक संसृतिक्रम को देख रहे आप हर्ष, अमर्ष विषाद और अभिलाषाओं का परित्याग कर समभाव को प्राप्त हो जाइए ॥४१॥ इस संसार में जो असत् है, वह सत् भी प्रतीत होता है और जो सत् है, वह असत्–रूप भी प्रतीत होता है, इसलिए आस्था और अनास्था का परित्यागकर आप शीघ्र ही समता प्राप्त कीजिए ॥४२॥

यदि शंका हो कि ऐसा होने पर विदेह मुक्ति में भी फिर संसार प्राप्ति की संभावना हो जायेगी, तो इस पर कहते हैं।

हे राघव, मुक्ति हो जाने पर फिर इस संसार में किसी प्रकार जीवत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि करोड़ों मनुष्य असंसारी आत्मा के विवेक की यानी तत्त्वज्ञान की अप्रवृत्ति में ही अज्ञान–दशा में अत्यन्त असंभावित करोड़ों अनर्थों की संभावनारूपी भ्रम में निमग्न रहते हैं, मुक्ति में नहीं, क्योंकि संसारनिमज्जन के हेतु अज्ञान का विनाश हो चुका है ॥४३॥

मुक्ति नित्य–प्राप्त आत्मस्वरूप है, इससे भी उसके विनाश की आशंका नहीं हो सकती। विस्मृत गले के हार की नाईं आत्मा का आत्म अनात्मा के केवल विवेक से ही लाभ हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, चूँकि इस संसार में आत्मस्वरूप मुक्ति की सदा ही प्राप्ति है, इसलिए आत्मा अनात्मा के विवेक–विज्ञान की उपलब्धि होने पर करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं ॥४४॥ हे श्रीरामजी, विवेक और अविवेक से मुक्ति सुलभ और असुलभ हो जाती है, इसलिए आप मनोविनाश को प्राप्त कर विवेक का प्रदीपन कीजिए ॥४५॥

हे श्रीरामजी, जिसको मुक्ति की अभिलाषा हो, उसे आत्मा के अवलोकन में यत्न करना चाहिए। समस्त दुःखों का शिरोच्छेद आत्मा के अवलोकन से ही होता है ॥४६॥

यदि शंका हो कि पहले के महात्माओं की जीवन्मुक्ति का संभव होने पर भी वर्तमान काल के महात्माओं की जीवन्मुक्ति का संभव नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

राग से शून्य, अभिनिवेशों से रहित तथा उत्तम मेघा से सम्पन्न सुहोत्र, जनक इत्यादि की नाईं इस वर्तमान काल में भी अनेक जीवन्मुक्त विद्यमान हैं ।।४७।। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए आप भी वैराग्य और विवेक से उदित धीरबुद्धि से समन्वित मिट्टी के ढेले में पत्थर और कांचन में समदृष्टि तथा जीवन्मुक्त होकर विहार कीजिये ।।४८।। हे राघव, इस लोक में देहधारी जीवों की दो प्रकार की मुक्ति है एक तो सदेह–मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति । अब आप उनका विभाग सुनिये ।।४९।।

उसमें पहले सदेहमुक्ति और विदेह मुक्ति इन दोनों मुक्तियों में घटनेवाले मुक्ति शब्द के अर्थ का निर्वचन करते हैं ।

हे पापशून्य आकृतिवाले श्रीरामजी, पदार्थों के (विषयों के) असंग से जो मन की शान्ति होती है, वह विमुक्तता यानी मुक्ति शब्दार्थ है । विमुक्तता देह के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों अवस्थाओं में होती है ।।५०।। भद्र उसमें स्नेह बन्धन का विनाश ही यानी देहादि में आत्मस्वरूपत्व के विभ्रम से हुई प्रीति का विनाश ही उत्तम कैवल्य (मुक्ति) है, ऐसा तत्त्वज्ञ विद्वान् कहते हैं । वह कैवल्य देह की सत्ता रहे चाहे न रहे, दोनों अवस्थाओं में होता है ।।५१।। जो विद्वान् विषय–स्नेह से रहित होकर जीता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, जो विषय स्नेह से समन्वित होकर जीता है, वह बद्ध कहलाता है और इन दोनों से जो परे हैं, वह तीसरा मुक्त कहलाता है ।।५२।। भद्र, मोक्ष के लिए शम, दम आदि चार साधनों के मध्य में यत्न के द्वारा पूर्वपूर्व की सिद्धि हो जाने पर उत्तरोत्तर पर विजय पाने के लिए युक्तिपूर्वक (प्रमाणों का तात्पर्य और प्रमेय के स्वरूप का अवधारण करने के लिए अनुकूल जो तर्क है, तत्पूर्वक) प्रयत्न करना चाहिए । जो युक्तिपूर्वक प्रयत्न से वर्जित है, ऐसे पुरुष के लिए गाय का खुर मात्र प्रदेश भी अलंघ्य हो जाता है ।।५३।।

तथोक्त युक्तिपूर्वक प्रयत्न का अनुष्ठान वहाँ तक करना चाहिए, जहाँ तक कि आत्मा के स्वरूप का अवधारण न हो जाय, जब कि आत्मा का अध्यवसान हुआ हो, तब सहसा बीच में ही विरक्ति से प्रयत्न का उपराम कर उसे (आत्मा को) पुनः अनर्थ के वश में नहीं कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं ।

केवल मोह का अवलम्बन कर अध्यवसाय के न होने पर प्रयत्न के अनादर से असीम स्वरूपवाले आत्मा को दुःख के लिए परवश नहीं करना चाहिए ।।५४।।

कथित अर्थ को ही स्पष्टरूप से कहते हैं ।

हे रामजी, बड़े धैर्य का अवलम्बन कर फल की प्राप्ति तक अनुष्ठित सतत प्रयत्न से जनित दृढ़ निश्चय से युक्त मन से चिरकालिक सिद्धि के लिए यानी प्रतिबन्ध होने पर अनेक जन्मों से होनेवाली मोक्षात्मक सिद्धि के उद्देश्य से अपने द्वारा ही अपना विचार करना चाहिए । जो निरन्तर अध्यवसाय करनेवाला पुरुष है, उसके लिए जगत् गाय का खुरमात्र हो जाता है ।।५५।।

सुगम यानी बुद्ध और प्रकृति पुरुष भिन्नत्वरूप शोभन विवेक को प्राप्त हुए महामुनि कपिल इन दोनों ने खूब विचार करके भी अध्यवसाय करने की समार्थ्य न होने के कारण आत्मतत्त्व से विच्युत होकर क्षणिक विज्ञानों के सन्तानरूप और सत्त्वादि गुणत्रय की साम्यअवस्थारूप प्रधानपद को प्राप्त किया, एवं किसी यानी वेद का निन्दक होने के कारण जिसका नाम लेना समुचित नहीं है ऐसे अर्हद नाम के क्षत्रिय राजा ने भी असली ब्रह्मतत्त्व से विच्युत होकर आत्मा को चित्स्वभाव मानकर भी देह के तुल्य

परिमाणवाला मानने से हाथी, मच्छर आदियों के शरीरो में प्रवेश करने में अवयवों का उपचय प्राप्त होने के कारण अध्रुव ही माना है, इसलिए ये तीनों अनुत्तम मिथ्यापद में ही निमग्न हैं और जो वेद के रहस्य में निष्णात हैं, ऐसे महानुभावों ने तो उत्तम सत्यादिस्वरूप परमपद को यथार्थरूप से प्राप्त किया है, वह वेदोक्तमार्ग से प्राप्त किया गया पद प्रयत्न लक्षण कल्पतरू का महान् फल है, इसलिए उसी प्रकार दूसरे भी प्रयत्न करे ॥५६॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

संसाररूपी जलधि, स्त्रीरूपी तरंग, उसके तरण का उपाय और
तरने के अनन्तर सुखपूर्वक विचरण का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, ये समस्त जगत् अविज्ञात ब्रह्म से ही आविर्भूत होते हैं, आत्मा और अनात्मा के अविवेक से वे स्थिरता को प्राप्त होते हैं और विवेक से प्रशान्त (विनष्ट) ही हो जाते हैं ॥१॥ ब्रह्मरूपीसमुद्र में जगत्-समूहरूपी जल के तरंगों की गिनती कौन कर सकता है ? क्या कोई सूर्य किरणों से सम्बन्ध रखनेवाले त्रसरेणुओं की गिनती कर सकता है ? ॥२॥ हे रामजी, आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होना ही जगत् की स्थिति में कारण है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान ही संसार के विनाश में कारण है, यह आप जानिये ॥३॥ हे श्रीरामजी, यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इसके पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है, युक्ति और प्रयत्न के सिवा इसका तरण नहीं किया जा सकता ॥४॥

उसी संसार-सागर का वर्णन करते हैं।

जिसके मोहरूपी जल से भरा गया, पूर्ण यह संसाररूपी सागर जो कि मरणरूपी अगाध आवर्त से और बड़े बड़े तरंगों से व्याप्त कोटरों से युक्त है और जिसमें चक्कर काट रहे पुण्यरूपी फेन हैं, धधकता हुआ नरकरूपी बड़वानल है, और तुष्णारूप चंचल लहरियाँ हैं तथा जल में उत्पन्न हुआ मनरूपी जल-हाथी हैं, जिसमें जीवितरूपी नदियाँ लीन हो जाती हैं, एवं जो विषयोपभोगरूपी रत्नों की पिटारी है, क्षुब्ध रोगरूपी सर्पों से आक्रान्त है, जिसमें इन्द्रियरूपी मगरों की घर-घर ध्वनि होती है। श्रीरामजी देखिये तो सही, इसमें अत्यन्त चपल, बड़े-बड़े शिखरों की नाईं धीर महानुभावों का आकर्षण करने की क्षमता रखनेवाली मुग्ध अंगनारूपी विस्तृत बीचियाँ है, ये बीचियाँ दन्तच्छेदों की शोभा से पद्मराग मणियों से समन्वित, नेत्ररूपी नीलकमल से व्याप्त, दाँतरूपी मुकुलों से युक्त, स्मितरूपी फेन से सुशोभित, केशरूपी इन्दुनील मणि से वेष्टित, भौरों के विलासरूपी तरंगों से तरंगित, नितम्बरूपी पुलिन से स्फीत, कण्ठरूपी शंखों से विभूषित, ललाटरूपी मणिपट्टों से (रत्नफलकों से) आढ्य, विलासरूपी मगरों से युक्त, कटाक्षों की चपलता के कारण अतिगहन, देहकान्तिरूपी सुवर्ण बालुका से युक्त हैं, इस प्रकार की अतिचंचल लहरियों के कारण जो अत्यन्त भयंकर है उस में निमग्न हुआ पुरुष यदि बाहर हो जाय, तो यह परम पुरुषार्थ ही होगा ॥५-१२॥ प्रज्ञारूपी बड़ी नौका और विवेकरूपी नाविक के रहने पर यदि इस संसार रूपी सागर से जो पार

नहीं हुआ, तो उस पुरुष को धिक्कार है ॥१३॥

हे श्रीरामजी, अपारावार यानी असीम संसार समुद्र का आत्मतत्त्व के दर्शन से बाध कर उसको चारों ओर से प्रमेय ब्रह्मस्वरूप बनाकर जो प्रवेश करता है यानी प्रत्यग् आत्मा को भी जो तद्रूप प्राप्त करता है, वही पुरुष कहा जाता है ॥१४॥

हे श्रीरामजी, आर्य यानी बड़े–बड़े तत्त्वज्ञों के साथ ब्रह्म का विचारकर तथा वैसी बुद्धि से संसार–सागर का अवलोकन कर तदनन्तर यानी तत्त्वज्ञान के अनन्तर ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए जगत् में क्रीड़ा शोभित होती है, अन्यथा नहीं ॥१५॥ हे साधो, इस संसार में आप धन्य हैं, क्योंकि विचारप्रवीण बुद्धि से आप इसी बाल अवस्था में धन्यता के कारण ही इस संसार के विषय में विचार करते हैं ॥१६॥

हे श्रीरामजी, आपकी नाईं संसार का विचारप्रवीण आदि उत्तम बुद्धि से पहले विचारकर जो अधिकारी पुरुष ब्रह्म में अवगाहन करता है वह कभी संसार में फँसता नहीं है ॥१७॥ हे श्रीरामजी, जैसे गरुड़जी के द्वारा अमृत लाने के पहले सर्पों की उपेक्षा की गई थी, फिर माता के शापविमोचन के अनन्तर उनका निःशेष उपभोग किया जाता है, वैसे ही सबसे पहले इस प्रकार के समान भय देनेवाले भोगों के स्वरूप का बुद्धि से विचारकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए, और फिर उनका उपभोग करना चाहिए ॥१८॥

लोक में भी राजकीय विभूति के उपभोग में यह न्याय प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

विचारपूर्वक राजप्रसाद और राज–अनुग्रह आदि रहस्य का प्रत्यक्षकर जिन राज–विभूतियों का उपभोग किया जाता है, वे जन्तु को महान् मोक्षात्मक उदय देनेवाली होती हैं और बाकी की केवल दुःख के लिए हैं ॥१९॥

तत्त्वज्ञान के बाद ही भोगजरणोपपादक विशेषण सम्पत्ति प्राप्त होती है उसके पूर्व नहीं ऐसा कहते हैं।

जिसने तत्त्व को जान लिया है, ऐसे पुरुष के बल, बुद्धि और तेज उस प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वसन्त ऋतु से युक्त वृक्ष के सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी को भोगजरण की सामर्थ्य नहीं है, इस आशंका का परिहार करने के लिए तत्त्वबोध–सम्पत्ति दिखलाते हैं।

हे विदिततत्त्व श्रीरघुनन्दन तुम रसायन से परिपूर्ण, सुशीतल यानी त्रिविध तापों से शून्य, निर्मल, सम और विस्तृत श्री से पूर्णचन्द्र की नाईं अत्यन्त विराजित हो रहे हो ॥२१॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

मन्दारमाला की नाईं विद्वानों को मस्तक और
गले में धारण करने योग्य माला का जीवन्मुक्तों के गुणों से वसिष्ठजी द्वारा गुम्फन।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुनिवर, जिसने ब्रह्मतत्त्वरूप चमत्कार का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ विद्वान का उदार चरित्र आप हमसे समासतः (यानी यत्र–तत्र जहाँ कहीं कहा गया है, उसका

संग्रहकर) कहिए, क्योंकि आपके वचन में तृप्ति किसको हो सकती है ? ॥१॥ महाराज वसिष्ठ ने कहा : हे महाबाहो, अनेक बार मैंने आपसे जीवन्मुक्त के लक्षण कहे हैं, फिर भी मै जो यह संग्रहकर आपसे पुनः कह रहा हूँ, उसे सुनिये ॥२॥ भद्र जिसकी समस्त एषणाएँ यानी विषयाभिलाषाएँ निकल गई है, ऐसा आत्मवान् (तत्त्ववित्) पुरुष इस दृश्यमान अखिल जगत् को सर्वत्र सुषुप्त की नाईं यानी व्यवहार दृष्टि से सुषुप्त के समान तमःस्वरूपमात्र सदा देखता है और परमार्थ दृष्टि से बाधित की केवल अनुवृत्ति होने के कारण असत् की नाईं अनासक्तिपूवर्क देखता है ॥३॥ जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष कैवल्य को प्राप्त हुआ–सा चारों ओर प्रसुप्त मन से युक्त–सा तथा घूर्णमान आनन्दवान्–सा अवस्थित रहता है ॥४॥ तत्त्वज्ञ पुरुष पहले चक्षु आदि से देखे गये और पीछे हाथ आदि से परिगृहीत हुए भी अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं का बुद्धि से ग्रहण नहीं करता वह अन्तर्मुख होने के कारण अत्यन्त उदार और समस्वरूप है ॥५॥ श्रीरामजी जो शान्त बुद्धि से सम्पन्न विद्वान् है, वह अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से यह जनता का व्यवहार असंग, उदासीन आत्मा की केवल सन्निधि से प्रवृत्त होने के कारण काष्ठनिर्मित जड़ प्रतिमा के संचार के सदृश है, ऐसा जानकर हँसता रहता है ॥६॥ तत्त्ववित् भविष्य की न अपेक्षा करता है, न वर्तमान में अवस्थिति यानी समासक्ति करता है, न भूतकालीनवस्तु का स्मरण करता है, और सब कुछ करता भी है ॥७॥ व्यावहारिक वस्तुओं के विषय में सुप्तप्राय होता हुआ भी अपनी आत्मा में जाग्रत रहता है।

भगवान् ने गीता में कहा भी है – या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यानी अज्ञजीवों के प्रति सर्वथा अज्ञात होने के कारण उनके लिए निशास्वरूप जो आत्मा है, उस में ज्ञानी पुरुष जागता रहता है।

सब कुछ कर्म करता है, तथापि भीतर से कुछ नहीं करता। तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहार में अत्यन्त कुशल भी वह प्रसुप्त ही रहता है, अतः व्यवहार कौशल से जनित फल से सम्बद्ध नहीं होता ॥८॥

इसलिए उसकी स्थिति सदा ही एक–सी रहती है, ऐसा कहते हैं।

अपने भीतर सम्पूर्ण वस्तुओं का परित्याग करनेवाला तथा सदा भीतर इच्छाओं से वर्जित तत्त्ववेत्ता बाहर से यानी ऊपर–ऊपर से उन्मना होकर कार्यों को कर रहा भी एकरूप से ही स्थित रहता है ॥९॥ जिसने बाहर से समस्त वस्तुओं की इच्छा की है, जो समयानुसार प्राप्त हुए तत्–तत् देह, वर्ण और आश्रमों के उपयोगी कर्मों में तथा पिता, पितामह आदि क्रमपरम्परा से प्राप्त हुए राज्यादिकाम, बन्धुओं के कार्य तथा दान, मान आदि कर्मों में केवल अनुवृत्ति रखनेवाला, समस्त सुख भोगों का जो आत्मस्वरूप समझनेवाला अथवा समस्त सुख भोगों का स्वयं ही आत्मस्वरूप है, इसीलिए अज्ञानियों की दृष्टि में भोगकाल में समस्त विषयाभिलाषाओं में अवस्थित तत्त्ववेत्ता समस्त कर्मों को करता है, परन्तु उसने कर्तृत्वाभिमान का परित्याग कर रक्खा है ॥१०,११॥ प्रकृत तत्त्वज्ञ उदासीन पुरुष की नाईं अवस्थित रहता है। परम्पराक्रम से सम्प्राप्त कर्मों में प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट फलों को न चाहता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है ॥१२॥ जो तत्त्वज्ञ है, वह अनुकूल और प्रतिकूल आचरण में तत्पर प्राणी के ऊपर अनासक्त चित्त से, भक्त के विषय में भक्त के आचरण से और शठ के विषय में शठ के सदृश स्थित है ॥१३॥ बालकों में बालक, वृद्धों में वृद्ध, धीरों में धैर्यवान्,

यौवनवृत्तिवालों में युवा और दुःखितों में दुःखी–सा रहता है ॥१४॥

पूर्वोक्त बालादि के सदृश आचरण करनेवाले तत्त्वज्ञो में जो विशेष है, उसे कहते हैं।

तत्त्वज्ञ मुनि जब–जब अपने मुख से वाणी को प्रवृत्त करते हैं, तब पवित्र कथाओं को ही कहते हैं बालक आदि की नाईं व्यर्थ भाषण नहीं करते। उनका अन्तःकरण दीनता से वर्जित रहता है। वे धीरबुद्धिवाले, उदित आनन्द से युक्त तथा दक्ष रहते हैं और लोक में उसके पुण्य चरित्रों का वर्णन होता है ॥१५॥ प्राज्ञ, प्रसन्न और मधुर रहता है, अपनी प्रतिभा के उदय में पूर्ण, खेदरूपी दुर्गति से रहित तथा समस्त मनुष्यों में स्निग्ध बन्धुभाव रखनेवाला होता है ॥१६॥ तत्त्वज्ञ उदार चरित और उदार आकार से युक्त है, सम है, सौम्य सुख का समुद्र है, सुस्निग्ध है उसका स्पर्श सर्वविध संताप का अपहरण करनेवाला है और वह पूर्णचन्द्र की नाईं पूर्ण उदय से समन्वित है ॥१७॥ तत्त्वज्ञ महात्माओं को पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से न कोई प्रयोजन है और न भोगों से एवं लौकिक कर्मों से प्रयोजन है। न निषिद्ध कर्मों से, न भोगों के परित्याग से और न बन्धुओं से ही प्रयोजन है ॥१८॥ उसका न आवश्यक कार्यों के और ऐहिक और पारलौकिक फल के हेतु कर्मों के आरम्भ से प्रयोजन सिद्ध होता है एवं न कर्मों के अभाव से, न बन्ध से, न मोक्ष से, न पाताल से और न स्वर्ग से ही उसको प्रयोजन है ॥१९॥ तत्त्वज्ञ महानुभाव ने जब समस्त जगत की स्वरूपभूत अद्वितीय आत्मरूप यथार्थ वस्तु का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया, तब उसका मन सांसारिक सुख और दुःख एवं दुःखकारणों की निवृत्ति–स्वरूप मुक्ति इन दोनों के बीच में कहीं भी कार्पण्य से युक्त नहीं होता ॥२०॥ सम्यक्–ज्ञानरूपी अग्नि से जिसके सन्देहरूपी जाल (पिंजड़े) विनष्ट हो गये हैं, उस महात्मा का चित्तरूपी पक्षी निःसंशय पर्याप्त रूप से उड़ जाता है, ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञ के मन में कार्पण्य की संभावना ही नहीं है ॥२१॥

जिसका अन्तःकरण भ्रान्ति से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो गया हो, वह आकाश की नाईं सभी दृष्टियों में न अस्त को प्राप्त होता है और न उदय को प्राप्त होता है ॥२२॥

मन का यदि अभाव है, तो शरीर चेष्टा आदि की उपपत्ति कैसे हो सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

दोलारूपी सुखशय्या में उपविष्ट बालक का अन्तःकरण जैसे अंगोंकी आवली के अनुसन्धान से वर्जित होकर चेष्टा करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञ का अन्तःकरण भी किसी प्रकार के बाह्यों के अनुसन्धान से वर्जित होकर चेष्टा करता है अर्थात् तत्त्वज्ञ का अंगचलन स्वानन्द के आविर्भाव के उल्लास से ही होता है, श्रुति भी है : 'तद्यथा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा महाकुमारो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत' (जैसे छोटा बालक, स्वाधीन प्रकृतिवाला महाराज एवं विद्याविनय–सम्पन्न शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान करनेवाला विद्वान् दुःख विनाशक आनन्द की अवस्था प्राप्त कर सोता है, वैसे ही यह विज्ञानमय तत्त्ववेत्ता समस्त संसार–धर्मों से वर्जित होकर सोता है) ॥२३॥ जिसका पुनर्जन्म मन्द हो गया है, ऐसा आनन्द–सागर में निमग्न तत्त्ववेत्ता, घूर्णमान शराबी की नाईं, अनुपादेय बुद्धि से कृत का (किये गये कर्मों का) और अकृत का स्मरण नहीं करता, क्योंकि अनुपादेय बुद्धि से उसकी नियमतः कृताकृत की स्मारक क्रियाफलोपादेयता–बुद्धि नष्ट हो गई है ॥२४॥ श्रीरामजी, जिसके समस्त अर्थ अनुपादेय हो गये हैं, ऐसा तत्त्ववेत्ता सब प्रकार से समस्त वस्तुओं का ग्रहण भी करता है और परित्याग भी करता है, यों बालक के सदृश उसकी चेष्टा रहती है ॥२५॥ देश और काल के अनुसार प्राप्त हुए क्रियाकलापों

एवं तत्-तत् कार्यों में स्थित हुआ भी वह कामनाओं से जनित सुख और दुःखों से तनिक भी अभिभूत नहीं होता ॥२६॥ तत्त्वज्ञ ऊपर-ऊपर से समस्त अर्थों को करता है, पर भीतर किसी प्रकार की इच्छा न रहने के कारण बाह्य अर्थों में सत्यता-बुद्धि से किसी तरह की आस्था नहीं करता और न उससे जनित फलों की चाहना ही करता है ॥२७॥ सन्निहित भी दुःखावस्था की उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्था की अपेक्षा ही करता है। कार्यों के सफल होने पर न हर्ष करता है और न कार्यों के विनष्ट होने पर खिन्न होता है ॥२८॥ यदि सूर्य शीतल प्रकाशवाला हो जाय चन्द्रमा का मण्डल तपने लग जाय, अग्नि की ज्वाला नीचे की ओर हो जाय यानी अधोमुख होकर अग्नि जलने लगे, तो भी तत्त्वज्ञ को आश्चर्यबुद्धि नहीं होती ॥२९॥

क्यों आश्चर्य-बुद्धि नहीं होती ? तो इस पर कहते हैं।

चूँकि तत्त्ववेत्ता पुरुष यह जानता है कि परब्रह्म चिदात्मा की असीम ये मायाशक्तियाँ इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं, इसलिए सैकड़ों आश्चर्यजनक घटनाओं के होने पर भी उसको आश्चर्य नहीं होता ॥३०॥ तत्त्वज्ञ मुनि दया और दीनता का परिग्रह नहीं करता, न क्रूरता का आश्रय लेता है, न लज्जा का अनुसन्धान (अनुभव) करता है और न निर्लज्जता का अनुभव करता है ॥३१॥ वह कभी भी दीनतायुक्त स्वरूपवाला नहीं होता, कभी उद्धत स्वरूपवाला नहीं होता। और न कभी प्रमत्त न खिन्न न उद्विग्न और न हर्ष युक्त ही होता है ॥३२॥ शरत्कालिक आकाश की नाईं अत्यन्त निर्मल, विस्तृत इसके चित्त में उस प्रकार कोप आदि उत्पन्न नहीं होते, जिस प्रकार आकाश में धान के अंकुर उत्पन्न नहीं होते ॥३३॥ जिसमें प्राणी अविरत मरते और उत्पन्न होते हैं, ऐसी जगत् की स्थिति में कहाँ, किस प्रकार और कौन यह सुखिता और दुःखिता होगी ? 'किम्' शब्द का तीन बार विभिन्न रूप से उपयोग इसलिए किया गया है कि देश-काल से, प्रकार से और स्वरूप से असंभावितत्व का लाभ हो ॥३४॥

जो कहा गया है उसका दृष्टान्त से समर्थन करते हैं।

जल में तरंगजनित फेनों के वेगपूर्वक भ्रमण में तथा प्राणियों की परम्परा में यह स्थिरता कहाँ और कैसे हो सकती है ? इसलिए सुख-दुःख का प्रसंग क्या हो सकता है ? ॥३५॥ प्रातिभासिक जगत् की दृष्टिरूपी सृष्टि में सक्षम नर यानी 'मैं ही अपनी आत्मा में जगद्रूप माया का सर्जन करता हूँ' इस प्रकार अनुभव कर रहे जीवन्मुक्त महापुरुष न निरन्तर प्राणियों से जनित असीम भाव एवं अभावों से नष्ट और खिन्न होते हैं तथा न उत्पन्न और प्रसन्न ही होते हैं ॥३६॥

'प्रतिक्षणविपरिणामिनो हि सर्वे भावाः' (समस्त घट आदि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है) इस न्याय से हर एक क्षण में रूपान्तर को प्राप्त होनेवाले जगत् के धर्मों में अनुवर्तमान स्थायी सत्स्वरूप आत्मा, स्वप्न की नाईं, स्वस्वरूप में ही छः प्रकार के भाव-विकारों से युक्त दृश्य पदार्थों की प्रतिक्षण कल्पना कर रहा अनुभव करता है, यही जीवन्मुक्तों का निश्चय होने के कारण उनको हर्ष आदि की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे रात्रि में निमेष-निमेष में यानी क्षण क्षण में होनेवाली भिन्न-भिन्न स्वप्न दृष्टियाँ क्षणभर में उत्पत्ति और विनाश से युक्त होती हैं, वैसे ही ये लोकदृष्टियाँ भी क्षण-क्षण में उत्पत्ति और विनाश से युक्त होती है ॥३७॥

जो निरन्तर उत्पत्ति और निरन्तर विनाश से समन्वित है ऐसे दग्ध संसार में कारुण्य और आनन्द का क्या प्रसंग हो सकता है ? ॥३८॥

यदि शंका हो कि प्रसिद्ध शुभ कर्मों के फलों के विद्यमान रहते उनके विरोधी पुत्र-वियोगजनित दुःख आदि भी अपना अस्तित्व रख सकेंगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्तपुरुषों को शुभ कर्मों का अभाव होने से उन दोनों की प्रसक्ति ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

शुभ कर्मों का अभाव होने से सुखाभाव में स्थिति को प्राप्त होने पर शुभ फलों से विलक्षण दुःखसंविद् कैसी, किस प्रकार की और कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥३९॥ जो दुःखदशा सुखानुभव के बाद अपना अस्तित्व प्राप्तकर अपने कार्य शोक, मोह आदि कर्मों का विस्तार करती है, वह दुःखदशा शुभ कर्मों का अभाव होने से सुख के शान्त हो जाने पर खुद भी शान्त ही हो जाती है, इसलिए बिना कारण के अस्तित्व से वह कैसे हो सकती है, यों पूर्वोक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण किया गया है ॥४०॥ सुख, दुःख दोनों के क्षीण हो जाने से हेय और उपादेय दोनों का भी विनाश तथा शुभ और अशुभ का विनाश हो जाता है, ऐसी स्थित में इष्ट और अनिष्ट कहाँ रहेंगे ? ॥४१॥

उससे क्या हुआ ? इस पर कहते हैं।

रम्य और अरम्य दृष्टि के निरास से भोग अभिलाषा के निवृत्त हो जाने तथा नैराश्य के निरन्तर प्रौढ़ हो जाने पर अन्तःकरण हिम की नाईं गल जाता है ॥४२॥

मन का भले ही विनाश हो जाय, इससे भी क्या हुआ ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, तिलों के अत्यन्त दग्घ हो जाने पर तेल की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार मूल पर्यन्त मन के क्षीण हो जाने पर संकल्प की कथा ही कैसे हो सकती है ? ॥४३॥ हे श्रीरामजी, आत्मा से पृथक् कुछ भी पदार्थ नहीं है, इस प्रकार की दृढ़ भावना के कारण यानी निश्चल निश्चय के कारण समस्त दृश्य पदार्थों के संकल्पविकल्प के त्यागपूर्वक व्यापक ब्रह्मैकस्वभाव महात्मा तत्त्ववित् नित्यतृप्त तथा अपने निरतिशयानन्द-स्वरूप से आनन्दवान् होकर जाग्रत और स्वप्न में यथा प्राप्त अर्थों के आलोचनमात्ररूप चित्त के प्रति स्थित रहता है, उसका विलय होने पर सुषुप्ति में सोता है और जब तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक जीवित रहता है ॥४४॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

चित्त के स्पन्दन से होनेवाली जगत् की भ्रान्ति,
चित्तस्पन्दन के स्वरूप और उसके निरोध में हेतुभूत योग का भली प्रकार वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे रात्रि में जलती हुई लकड़ी को गोल घुमाने से असत् ही अग्निमयचक्र सत्-सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्त के प्रस्पन्दन से असत् जगत् सत्-सा दिखाई पड़ता है ॥१॥ हे श्रीरामजी, जैसे जल के परितः स्पन्दन से (भ्रमण से) जल के पृथक् वर्तुल (गोल) नाभि आकार का आवर्त (भँवरा) दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्त के स्पन्दन से जगत् दीखाई पड़ता है ॥२॥ जैसे आकाश में सूर्यताप के संमुख नेत्रों के परिस्पन्दन से यानी ईक्षण से असत् पिच्छाकार

(मोर के पंख) और दूसरी ओर उनके स्पन्दन से असत् मौक्तिक मण्डल सत्य–सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्त के स्पन्दन से असत् जगत् सत्य–सा दीखाई पड़ता है ॥३॥ श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जिस स्वभाव विशेष से चित्तप्रस्पन्दित होता है और जिस उपाय विशेष से वह वैसा प्रस्पन्दित नहीं होता है, उसे मुझसे कहिए, जिससे कि आपके दर्शित मार्ग से मैं उस चित्त को स्पन्दरहित बनाऊँ ॥४॥

चित्त के स्पन्दनस्वभाव को चित्त से अलग नहीं कर सकते, इसलिए दृष्टान्तों के ही द्वारा उसका दिग्दर्शन कराते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे शुक्लत्व और हिम, जैसे तिल और तेल का अंश, जैसे कुसुम और सुगंध तथा जैसे अग्नि और उष्णत्व परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध और अभिन्नरूप हैं, वैसे ही हे राघव, चित्त और स्पन्दन परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध और अभिन्नरूप हैं, उनके भेद की केवल मिथ्या कल्पना की गई है। सर्वत्र गुण–गुणी आदि स्थलों में अविचार से भेद सहिष्णु अभेद ही संश्लेष (सम्बन्ध) है, विचार करने से वहाँ पर भेदांश मिथ्या और अभेदांश वास्तव है, यह 'अभिन्नौ' इससे बतलाया ॥५,६॥

अभेदांश ही कल्पित क्यों नहीं है ? इस आशंका का परिहार कर रहे महाराज वसिष्ठजी 'येन न स्पन्दते तथा' (जिस उपाय से मन वैसे स्पन्दित नहीं होता) इस प्रश्नांश का उत्तर देते हैं।

चित्त और चित्त–परिस्पन्द इन दो पक्षों मे से एक पक्ष का संशय होने पर जो स्वयं गुण और गुणी इस रूप से कारणात्मा विकल्पित है, उस रूप से स्थित होकर ही दोनों गुण–गुणी नष्ट हो जाते हैं, इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए, तात्पर्य यह है कि जो गुण और गुणी शब्द से स्वयं कारण कल्पा गया है, उसी कारण के स्वरूप से स्थित होकर ही गुण और गुणी दोनों विकल्पों का भी विनाश मानना चाहिए, न कि निरन्वय विनाश मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में केवल कारणस्वरूप से स्थिति पाकर ही गुण और गुणी के भेद का विनाश अनुभूत होने से भेदांश ही कल्पित है, अभेदांश नहीं, यह सिद्ध होता है और मन एवं मन स्पन्द इन दोनों में से एकतरफे विनाश के अधीन आत्यान्तिक उभय निवृत्ति से ही स्पन्दन का निवारण नहीं किया जा सकता, यह भी सिद्ध होता है ॥७॥

अतएव स्पन्द के निरोध के द्वारा दोनों का नाश करने के लिए ज्ञानरूप उपाय शास्त्र में दिखलाया गया है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित्त के विनाश के लिए दो उपाय शास्त्रों में दिखलाये गये है– एक योग और दूसरा ज्ञान। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और आत्मा का सम्यक् अपरोक्ष साक्षात्कार ज्ञान है ॥८॥

उन दो में से पहले प्रथम उपाय की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, किस समय और कैसी प्राण और अपान के निरोध रूप योग नाम की युक्ति से मन असीम सुख को देनेवाली शान्ति को प्राप्त करता है ॥९॥

इस सर्ग की समाप्तिपर्यन्त इसी प्रश्न के उत्तर का वर्णन करनेवाले महाराज वसिष्ठ चित्तस्पन्द प्राण–स्पन्दन के अधीन है, यह बतलाने के लिए पहले प्राण के स्वरूप को कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे जलस्यन्दनमार्गभूत पृथ्वी के विवरों में जल चारों ओर व्याप्त होकर प्रस्फुरित होता है, वैसे ही इस देह में विद्यमान हजारो नाड़ियों में चारों ओर जो वायु

प्रस्फुरित होता है, वह प्राणवायु है ॥१०॥

यदि शंका हो कि प्राण वायु तो बाहर ही जाता है, हृदय में तो अन्य अपान आदि वायु संचरण करते हैं ? तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, स्पन्दनवश से भीतर क्रिया के वैचित्र्य को प्राप्त हुए उसी प्राणवायु के अपान आदि नामों की विद्वानों ने कल्पना की है, अतः अपान आदि प्राण के ही वृत्तिभेद है, उससे अन्य नहीं हैं, यह भाव है ॥११॥ जैसे आमोद का (सौगन्ध्य का) पुष्प तथा जैसे शुक्लत्व का हिम आश्रय है, वैसे ही चित्त का यह प्राण, जो चित्त के साथ अभिन्नता को प्राप्त हुआ है, आश्रय है ॥१२॥

(वारिदृष्टान्त की उपपत्ति के लिए 'रस' यह विशेषण दिया गया है। श्रुति भी कहती है : 'आपोमयः प्राणः', 'एतमेवांगिरसं मन्यन्ते प्राणो वा अंगानां रसः (प्राण जलमय है और प्राण को ही अंगिरस मानते हैं, क्योंकि वह (प्राण) अंगो का रस है। कोश की नाईं चारो ओर संश्लिष्ट होने से चित्त के साथ मानों अभिन्नता को प्राप्त हुआ प्राण चित्त का आश्रय होता है। श्रुति भी कहती है : 'प्राणबन्धनं हि सोम्यमनः' (हे सौम्य, मन प्राण के आधीन है)।

इसीलिए प्राणस्पन्द चित्तस्पन्द का हेतु है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, भीतर प्राण के परिस्पन्दन से संकल्प के (वृत्तिमात्र के) आकलन में उन्मुख जो संवित् उत्पन्न होती है, वही चित्त कहलाती है, यह आप जानिये ॥१३॥ प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है यानी चिदाभास से व्याप्त वृत्तिविशेष, उत्पन्न होता है और चित्त के स्पन्दन से ही संवित् यानी तत् तत् विषयाकार प्रथन उस प्रकार उत्पन्न होता हैं, जिस प्रकार जल के स्पन्दन से चक्र की तरह वर्तुल आकार की रचना करनेवाली उर्मियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१४॥

चित्त का परिस्पद प्राण परिस्पन्द के अधीन है, यह बात बड़े–बड़े महर्षि, जो 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इत्यादि वेदों का रहस्य जानते हैं, कहते हैं। अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य उपशान्त यानी निरुद्ध हो जाता है ॥१५॥

भले ही ऐसा हो, उससे प्रकृत में क्या हुआ, इस पर कहते हैं।

मन के स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर यह संसार उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाशरूप स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर व्यवहार विलीन हो जाता है ॥१६॥ श्रीरामजी ने कहा : महाराज, देहरूपी अपने घर में स्थित हृदयादि स्थानों में विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ीरूपी छिद्रों में निरन्तर संचरण कर रहे तथा मुख, नासिका आदि छिद्रोंरूपी बाह्य आकाशों में निरन्तर गमनशील प्राण आदि वायुओं का परिस्पन्दन कैसे रोका जा सकता है ? ॥१७॥

प्राणवायु की चंचलता के निरोध में निरालम्बन और सालम्बन आदि राजयोगरूपी उपायों का उपदेश देने के लिए महाराज वसिष्ठ उपक्रम करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, अध्यात्मशास्त्र का उपदेश, ब्रह्मवित् पुरुषों का संसर्ग, विषयों में अनास्थारूपी वैराग्य तथा समाधि के प्रयोजक यम, नियम आदि नियमों के अभ्यास इन उपायों से हृदय में पूर्वाभ्यस्त सांसारिक व्यवहारों में अत्यन्त अनादररूपी अनास्था के दृढ़ हो जाने पर प्राण का परिस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥१८॥

सबसे पहले स्थूल शिखर में, चन्द्रबिम्ब में, मणि, देवता की मूर्ति आदि स्थलों में अथवा जहाँ कहीं भी मन रमण करता हो, वहीं पर चित्त का निरोध करने के लिए अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

चिरकालपर्यन्त एकाग्ररूप से (एक-प्रकार-स्वरूप से) उत्पन्न यानी एकाग्र रूप परिणाम को प्राप्त कर उदित हुए अभिवांछित ध्यान से (जहाँ कहीं भी सरसवाहिनी इच्छा हुई, उसी पदार्थ के ध्यान से) जो एक वस्तु के स्वरूप का निरन्तर पुनः-पुनः अनुसन्धान होता है, उसी अनुसन्धान से प्राण का स्पन्दन (प्राणवायु का चांचल्य) निरुद्ध हो जाता है ॥१९॥

अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक के क्रम से प्राणवायु का निरोध करके दुर्दान्त मन का निरोध करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

दृढ़तापूर्वक पुनः-पुनः परिशीलनरूप अभ्यास लक्षण हेतु से प्रयास के बिना अनायास उत्पन्न हुए कुम्भक की सिद्धिपर्यन्त पूरक आदि के द्वारा किये गये अपने प्राण के नियमन से होनेवाले एकान्त ध्यानयोग से (नित्यानित्य वस्तु का यथार्थ रूप से विवेक कर नित्य अद्वितीय वस्तु में प्रवर्तित ध्यानयोग से) प्राणवायु की समग्र चंचलता निरुद्ध हो जाती है ॥२०॥ उच्चस्वर से प्रणव का उच्चारण होने पर प्रान्त में (अन्त्य में) जो शेष तुर्यमात्रा रूप शब्दतत्त्व अनुभूत होता है, उसका अनुसन्धान करने से बाह्य विषयों के विज्ञान का (बहिर्मुख चित्तवृत्ति का) जब आत्यन्तिक उपराम हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥२१॥

अब रेचक और पूरक इन दो में से किसी एक के द्वारा श्वास और प्रश्वास का जब शिथिलीकरण हो जाता है तब दीर्घकाल तक तथा अभिवर्धन सहित ध्यान का अभ्यास होता है, इससे भी प्राणस्पन्दन का निरोध होता है, यह कहते हैं।

रेचक का दृढ़ अभ्यास करने से, विच्छिन्न मेघों की आकाशरूपता की नाईं, विपुलीभूत प्राणवायु की शून्यरूपता हो जाती है और उससे जब नासिका के छिद्रों को प्राणवायु का स्पर्श नहीं होता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥२२॥ पूरक का दृढ़ अभ्यास होने पर, पर्वत के ऊपर मेघों की नाईं, शरीर के आभ्यन्तर विद्यमान हजारों नाड़ियों के भीतर प्राणवायु तब तक धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, जब तक वह सर्वत्र व्याप्त होकर निश्चल नहीं हो जाता, इस प्रकार प्राणसंचरण शान्त हो जाने पर प्राणस्पन्दन रुक जाता है ॥२३॥

पूर्ति के अनन्तर पूर्ण कुम्भ की नाईं कुम्भक के अनन्त काल तक स्थित होने पर और अभ्यास से प्राण का निश्चल स्तम्भन हो जाने पर प्राण वायु से स्पन्दन का निरोध हो जाता है। (रेचक, पूरक और कुम्भक इन त्रिविध प्राणायामों के विषय में पतंजलि निर्मित योगशास्त्र में विस्तार से वर्णन किया गया है 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (आसन के ऊपर विजय पा जाने पर श्वास (बाह्य वायु का आयमन-भीतर प्रवेश), प्रश्वास (कौष्ठ्य वायु का निःसारण), इन दोनों की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है यानी श्वास और प्रश्वास दोनों का अभाव ही प्राणायाम है, उसे करना चाहिए)। इस प्राणायाम के अवान्तर भेद भी हैं – 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।') जहाँ प्रश्वासपूर्वक गतिनिरोध होता है, वह बाह्य है यानी बाह्यवृत्ति रेचक है। जहाँ श्वासपूर्वक गतिनिरोध होता है, वह आभ्यन्तर है यानी आभ्यन्तर वृत्ति पूरक है। जहाँ पर श्वास और

प्रश्वास दोनों का अभ्यासनिरपेक्ष एक बार के प्रयत्न से गतिनिरोध होता है, वह स्तम्भवृत्ति है यानी कुम्भक है। इस कुम्भक में जैसे तप्त पत्थर के ऊपर प्रक्षिप्त जल चारों ओर से संकुचित हो जाता है, वैसे ही श्वास, प्रश्वास दोनों की भी गति एक साथ निरुद्ध होकर स्तम्भित हो जाती है। ये तीनों प्राणायाम देश परिदृष्ट हैं यानी इनका बाहर तूललव के स्पन्द आदि से और आभ्यन्तर नाभि आदि के स्पन्दन आदि से इतना देश विषय होता है, ऐसा निर्धारण किया गया है। काल से परिदृष्ट हैं – यानी क्षणों की इयत्ता के अवधारण से परिच्छिन्न हैं। संख्याओं से परिदृष्ट है यानी इतनी संख्यावाले श्वास–प्रश्वास कालों तक पहला प्राणायाम, दूसरा प्राणायाम और तीसरा प्राणायाम, यों उद्बोधित है। इसी प्रकार मृदु, इसी प्रकार मध्य और इसी प्रकार तीव्र हैं। यह प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म है यानी दीर्घता और सूक्ष्मता युक्त प्राणों से दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। 'अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे' इस वाक्य से यह सूचित किया कि रेचकादि तीन प्रकारों से पृथक् चतुर्थ भी एक प्राणायाम का प्रकार है। यह चतुर्थ प्रकार महर्षि पतंजलि ने यों बतलाया है : बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। पूर्वोक्त रेचक, पूरक के ऊपर विजय पा जाने से उनका आक्षेप करनेवाला यानी उन दोनों का अतिक्रमण कर स्वयं ही वर्तमान प्राण गति के अभाव रूप चतुर्थ प्राणायाम है। प्राणायाम की प्रतिष्ठा का फल भी कहा गया है : ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। धारणासु च योग्यता मनसः' (प्राणायाम के अभ्यास से योगियों का विवेकज्ञान को आवृत करनेवाला कर्म क्षीण हो जाता है, प्राणायाम के अभ्यास से धारणा में मन की योग्यता होती है)। इन सूत्रों के भाष्य में लिखा है : तपो न परमं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य। (प्राणायाम से बढ़कर तप नहीं है, प्राणायाम से मल शुद्ध हो जाते हैं और ज्ञान की दीप्ति होती है) ॥२४॥

जिह्वामूल के ऊपरी हिस्से में विद्यमान मुखान्तर्गत जो दो भाग है, उन्हें तालू कहते हैं। उन दो तालुओं के मध्यभाग में रहनेवाली घंटिका को (मुख बाने पर जिह्वा के मूलभाग में स्तन की नाईं लटक रही दृश्यमान इन्द्रयोनि को) प्रयत्न विशेष के द्वारा यानी वर्धनाभ्यास आदि यत्नों से भीतर प्राण के संचरण मार्गभूत मूर्धरन्ध्र में प्रवेशित जिह्वा से नीचे की ओर करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में (ब्रह्मरन्ध्र में अर्थात् कपालकुहर में जो सुषुम्ना के ऊपरी भाग का द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायु की चंचलता निरुद्ध हो जाती है। इसका प्रकार विशेष भगवान् स्कन्द ने इन शब्दों से प्रकाशित किया है :

रसनां तालुविवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतम्। धयन्निर्जरतां गच्छेदाषण्मासान्न संशयः॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः। मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥
आकाशं च मरीचिवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम्।
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा॥

(तालुछिद्र में जिह्वा को धारण कर ऊर्ध्वमुख योगी अमृत पी रहा छः महीनों के भीतर युवा बन जाता है। जिह्वा को ऊँची करके स्थिर हो कर जो सोमपान करता है, वह आधे ही मास में मृत्यु के ऊपर विजय पा जाता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। मरीचिवारि के सदृश, ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित, शान्त, हकार अक्षरवाला स्वामी सदाशिव से समन्वित जो आकाश है, उसमें पाँच घड़ी पर्यन्त प्राण का विलयकर चित्त को धारण करे, तो वह मोक्ष द्वार को खोलने में समर्थ नभोधारणा कही जाती है।) मुख

को फैलाने पर गले के अन्दर लटक रहीं माँस का टुकड़ारूप जो घण्टी है, उसे इन्द्रयोनि कहते हैं, इसमें श्रुति प्रमाण है : 'अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवालम्बते सेन्द्रयोनिः' (तालुओं के बीच में जो स्तन की नाईं लटकती है, वह इन्द्रयोनि है (इसीसे लम्बिका योग की भी सूचना होती है : जो 'खेचरी' शब्द से भी कही जाती है। कहा भी है :

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

(तालू के बीच में कपाल कुहर नाम की एक गुफा है, उसी में जीभ को विपरीत भाव से पहुँचा कर भ्रुयुगल के मध्य में अवलोकन करने से खेचरी मुद्रा होती है) इत्यादि योगशास्त्र में सविस्तार निरूपित है, यह लघुयोगवासिष्ठ की टीका के कर्ता का मत है ॥२५॥ समस्त विकारों से वर्जित अतएव किसी भी नाम से शून्य सूक्ष्म आकाश में यानी हृदयाकाश में बाह्य और आंतर संवेदन वृत्तिमात्र के निर्विकल्प समाधि से विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥२६॥

नासिका के अग्रभाग से उपलक्षित बारह अंगुलमात्र से परिमित बाह्य आकाश में चक्षु और मन का निरोध होने से भी प्राणस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

नासिका के अग्रभाग में बारह अंगुलपर्यन्त यानी नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल परिमित निर्मल आकाश भाग में नेत्रों की लक्ष्यभूत संविद्दृष्टि के (वृत्तिज्ञान के) विलीन हो जाने पर प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥२७॥

लम्बिकायोग से असमुच्चित अन्य उपायों से भी अभ्यस्त पूर्वोक्त नभोधारणा योग से प्राण स्पन्दन रुक जाता है, ऐसा कहते हैं।

अभ्यास से यानी योगशास्त्रों में दर्शित पवननिरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के द्वारा (सुषुम्नामार्ग से) तालू के ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब गलितप्राय हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। ('तालूर्ध्वद्वादशान्तगे' इस प्रकार के लघुयोगवासिष्ठकार के पाठ के अनुसार उक्त रीत्या प्राणवायु के तालू (विशुद्ध नाम का षोडशार चक्र), ऊर्ध्व (ब्रह्मरन्ध्र) और द्वादशान्त (अनाहत नामक द्वादशार चक्र) इनमें से किसी भी एक में चले जाने पर जब बहिर्मुख संवित् गलित हो जाती है, तब प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह अर्थ है) ॥२८॥

इसी प्रकार खेचरी मुद्रा भी प्राण स्पन्दन के निरोध में हेतु है, यह कहते हैं।

चिरकाल तक निरोध करने पर चक्षु की कनीनिकाओं के आलोक का यानी चक्षुरिन्द्रिय का उपराम हो जाने से तथा पूर्वोक्त रीति से कपाल कुहर में प्रवेश करने से जिह्वा के अग्रभाग के और प्राण के द्वादशान्त में प्राप्त हो जाने पर जब संकेतात्मक भ्रूमध्य यानी अविमुक्तस्थानात्मक चिन्मात्रस्वरूप परमेश्वर का आत्मस्वरूप से ज्ञान हो जाता है तब प्राण का स्पन्दन रुक जाता है ॥२९॥

गुरु या ईश्वर के अनुग्रह से काकतालीय न्याय से झटिति ज्ञान के उद्बुद्ध हो जाने पर तत्क्षण ही चित्तविकल्प के उपशम से प्राण का निरोध होता है, ऐसा कहते हैं।

ईश्वर या गुरु के अनुग्रह से झटिति उत्पन्न हुए आत्मज्ञान के दृढ़ीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से विनिर्मुक्त हो जाने पर प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥३०॥

('अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः') (उत्तम, मध्यम

अधिकारी के प्रति ब्रह्मज्ञान हेतुभूत शरीर में यह प्रसिद्ध छोटा कमलसदृश हृदयरूपी घर है, इसके अन्दर सूक्ष्म आकाश है) इत्यादि श्रुति से प्रसिद्ध दहराकाश में चिरकाल तक चित्त को लगाने से ब्रह्मसाक्षात्कार के होने पर भी प्राणस्पन्दन रुक जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे मननशील रामजी, हृदय में चिरकालपर्यन्त श्रुति प्रतिपादित दहराकाश की नियत भावना से जनित विषयवासना वर्जित चित्त से होनेवाले ध्यान से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। पांतजलयोग सूत्र में भी कहा है : 'हृदये चित्तसंवित्', '...स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्' (दहराकाश में संयम से सवासन चित्तसाक्षात्कार होता है, चित्स्वभाव में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है।)॥३१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, इस जगत् में प्राणियों का वह हृदय क्या है ? महाआदर्शस्वरूप जिसमें यह सब, दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं, स्फुरित होता है। हृदय शब्द का तीन जगह प्रयोग होता है एक तो पुण्डरीकाकार मांसखण्ड में, दूसरा मन में और तीसरा परमात्मा में। इन विभिन्न स्थानों में प्रयोग होने के कारण सन्देह को प्राप्त हुए भगवान् का प्रश्न उचित ही है॥३२॥

वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार के हृदय है – एक उपादेय और दूसरा हेय। अब आप इनका विभाग सुनिये॥३३॥

मांसखण्डरूप हृदय और मनरूप हृदय परिच्छिन्न होने के कारण उन दोनों को एक मानकर दो विभाग यहाँ बतलाये हैं, यह समझना चाहिए।

हे श्रीरामजी, इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस देह में वक्षःस्थल के भीतर शरीर के एक देश में अवस्थित जो हृदय है, उसे आप हेय हृदय जानिये॥३४॥ संवित्–मात्रस्वरूप से स्थित हृदय तो उपादेय कहा गया है। *(यदि शंका हो कि आत्मा के लिए जो हृदय शब्द का प्रयोग होता है वह गौण है, क्योंकि हृदय में स्थिति करने के कारण ही तो आत्मा हृदय कहा जाता है, इस पर कहते हैं।)* यह आत्मा सबके भीतर और बाह्य है और भीतर एवं बाह्य नहीं भी है॥३५॥ वह उपादेय हृदय प्रधान हृदय है, उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का आदर्श है और वही सम्पूर्ण संपत्तियों का कोष है, क्योंकि 'अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इसमें भीतर आकाश और पृथ्वी से उपलक्षित समस्त वस्तुजात विद्यमान हैं) यह श्रुति है॥३६॥

हे श्रीरामजी, संवित् ही सभी प्राणियों का हृदय कहा जाता है, न कि जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का एक अंश हृदय कहा जाता है॥३७॥ इसलिए संवित्–स्वरूप विशुद्ध हृदय में वासनाओं से वर्जित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है॥३८॥ इन पूर्वोक्त उपायों से तथा सम्प्रदाय क्रम से चले आ रहे अन्यान्य आचार्यों के मुख उपदिष्ट नाना संकल्पों से कल्पित उपायों से प्राण स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है॥३९॥

सहसा हठयोग में प्रवृत्ति का निरास करने के लिए कहते हैं।

ये जो पूर्वोक्त योगात्मक युक्तियाँ कही गई हैं, वे अभ्यास के द्वारा ही भव्यमति के लिए संसार के उच्छेदन करने में निराबाध उपाय हो सकती हैं, जबर्दस्ती निरोध करने पर तो रोग आदि की संभावना हो जायेगी॥४०॥ वैराग्यरूपी लांछन से समन्तात् लांछित यानी संसारासक्ति से वर्जित तथा अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त प्राणायाम वासना के अनुसार,सफल होता है यानी जिस समय जैसी जैसी वासनाएँ

होती हैं,उस समय उन–उन वासनाओं का निरोध करके सफल होता है अथवा मुमुक्षा की वासना होने पर मोक्षरूप फल से और भोग की वासना होने पर तत्–तत् विचित्र फलभोग सिद्धिरूप फल से सफल होता है ॥४१॥

अतएव तत्–तत् सिद्धिरूप फलभेद के लिए पातंजल शास्त्र में भ्रूमध्य आदि स्थानभेद से धारणाओं के भेद बतलाये गये हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे पर्वत का झरना दूर जाकर वहीं पर लीन हो जाता है, वैसे ही भ्रू, नासिका, तालू–संस्थान तथा कण्ठाग्र प्रदेश से लेकर बारह अंगुलिपरिमित प्रदेश में अभ्यासवश से प्राण लीन हो जाता है। पतंजलि ने कहा भी है– 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः', 'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्', 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' (नाभिचक्र में प्राण का संयम करने से कायव्यूह का कायस्थ वातादि पदार्थ का परिज्ञान होता है, कण्ठ के नीचे कूपप्रदेश में प्राण के संयम से क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति हो जाती है, कूप के नीचे वक्षःस्थल में कूर्माकार नाड़ी होती है, उस कूर्मनाड़ी में प्राण का संयम करने से स्थिरपद प्राप्त हो जाता है, कपालमध्य प्रभास्वर मूर्धज्योति में संयम करने से स्वर्ग और पृथ्वी के अन्तरालवर्ती सिद्धों का दर्शन होता है) ॥४२॥

'जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम्' यह जो पहले कहा गया था, उसमें उपाय कहते हैं।

पुनः–पुनः चिरकालिक अभ्यास से यदि जिह्वाप्रान्त के द्वारा घण्टिका आक्रान्त हो जाय, तो उससे प्राण अधिक गति नहीं कर सकता ॥४३॥

ये जो समाधिभेद बतलाये गये हैं, उनका तत्–तत् सिद्धि–फलों में विकल्पों का बाहुल्य होने पर भी निष्काम पुरुष के लिए परम विश्रान्तिरूप फल में उनकी विकल्पस्वरूपता का अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि ये समाधियाँ विकल्प प्रचुर है, तथापि निष्काम पुरुष के प्रति अपने अभ्यास के कारण परम विश्रान्ति के लिए झटिति (चटपट) विकल्प अभावरूपता को प्राप्त हो जाती है॥४४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अभ्यास से ही पुरुष आत्मा में रमण करनेवाला, वीतशोक, भीतरी सुख से पूर्ण होता है, अन्य उपाय से नहीं, इसलिए आप अभ्यासवान् हो जाइए ॥४५॥ श्रीरामजी, अभ्यास के द्वारा प्राणवायुओं का जब चांचल्य विनष्ट हो जाता है तब मन विश्रान्ति को प्राप्त करता है और निर्वाण (मोक्ष) अवशिष्ट रह जाता है ॥४६॥ हे श्रीरामजी, वासना से युक्त मन शरीर को ग्रहण करता है, तदनन्तर उसमें अभिमान से प्राण का ग्रहण करता है और वासना से रहित मन मोक्ष ग्रहण करता है, इसलिए आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिए ॥४७॥ चूँकि प्राणवायु का स्पन्दन मन का स्वरूप है और उससे संसाररूपी भ्रम उत्पन्न होता है, इसलिए तथोक्त अभ्यास से प्राण स्पन्दन का ही विनाश हो जाने पर संसाररूप ज्वर खण्डित हो जाता है यानी चिकित्सित हो जाता है ॥४८॥ हे श्रीरामजी, प्राणी का विकल्पांश विनष्ट हो जाने पर केवल वह पद (ब्रह्मपद) अवशिष्ट रह जाता है, जिस पद से अनैकविधकल्पनाओं से समन्वित शब्द निवृत्त हो जाते हैं ॥४९॥ वह पद ऐसा है कि उसमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत् का स्वरूपभूत है और वह इस जगत् के चारों और विद्यमान है। परमार्थ दशा में उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न तो उससे उत्पन्न हुआ है और

न उसके स्वरूपभूत ही जगत् है। वास्तव में दृश्यमान इस प्रकार का जगत् है ही नहीं ॥५०॥

यहाँ पर वसिष्ठजी 'इदं दृश्यं यत्र न' इस वाक्य से आधेयतारूप से, 'यतो न' इससे उपादेयतारूप 'यन्न' इससे तादात्म्य सम्बन्ध से जगत् में सच्चिदानन्दात्म सम्बन्ध का निषेध करने से किसी अंश से भी जगत् और ब्रह्म का सादृश्य नहीं है, यह सूचित हुआ। अतएव विनाशित्व आदि धर्मों से युक्त जगत् में कोई भी ब्रह्म का दृष्टान्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह जगत् विनाशी, विकल्पस्वरूप तथा अनेकविध गुणों से युक्त है, इसलिए समस्त गुणों से वर्जित उस आत्मा का इस जगत् में कोई भी सदृश दृष्टान्त दिखाई नहीं पड़ता ॥५१॥

यदि शंका हो कि इस जगत् में ब्रह्म का कोई भी सदृश दृष्टान्त नहीं है, तो उसका परिचय कैसे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

नित्य उदित स्वरूप यह चितिरूपी चन्द्रिका समस्त शालियों का (अन्नों का) आस्वाद देखनेवाली, सूर्यादि समस्त तेजों की दीपिका (प्रकाशिका) और आभ्यन्तर समस्त कामों की कल्पनात्मिका है। निष्कर्ष यह निकला कि रूप, रस आदि को विषय करनेवाली बाह्य वृत्तियों की त्रिपुटी की तथा आभ्यन्तर कामादि वृत्तियों की त्रिपुटी की भासक होने से इस चितिरूपी चन्द्र का परिचय करना चाहिए ॥५२॥

'फलमत उपपत्तेः' (इष्ट, अनिष्ट आदि कर्मों का फल ईश्वर से प्राप्त होता है क्योंकि इसी अर्थ में युक्ति है) इस न्याय से तथा विचित्र कर्मफलों के उदय और क्षय के प्रति निमित्तरूप होने से भी उसका परिचय करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

कल्पवृक्ष स्वरूप उसी आत्मा से ये अनेक संसारफलों की पंक्तियाँ, जो अनेक प्रकार के रसों से परिपूर्ण हैं, निरन्तर उत्पन्न और विनष्ट होती हैं ॥५३॥

उसका परिचय होने पर पुरुषार्थ सिद्धि को बतला रहे महाराज वसिष्ठ प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं।

हे भद्र श्रीरामजी, निखिल सीमाओं के अन्तभूत उस पद का अवलम्बन कर जो महात्मा स्थित रहता है, वह निश्चलबुद्धि, तत्त्वज्ञ और जीवन्मुक्त कहलाता है ॥५४॥

हे श्रीरामजी, जिस महात्मा की समस्त कामोपभोग की इच्छाएँ निवृत्त हो गई हैं, जिसकी कामोपभोग की उत्कण्ठाओं के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों में हित अहित वासनाएँ निवृत्त हो गई है तथा जिसका अन्तःकरण समस्त हितअहित व्यवहारों के होने पर भी हर्ष और विषाद से वर्जित हो गया है, वह मुक्त अन्तःकरण महात्मा सब पुरुषों मे श्रेष्ठ और साक्षात् नारायण हो जाता है ॥५५॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

चित्त के विनाश के लिए जिन योग और ज्ञानरूपी दो उपायों का उपक्रम किया था, उनमें से पहले का पूर्व सर्ग में परिज्ञान हो जाने से द्वितीय का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : हे भगवान्, पूर्व सर्ग 'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य' इत्यादि से उपक्रान्त दो उपायों में से आपने योगयुक्त पुरुष के चित्त का विनाश–प्रकार ही निरूपित किया है। अब आप अनुग्रह कर

मुझसे सम्यक् ज्ञान कहिये यानी सम्यक् ज्ञान निरूपण कीजिए ॥१॥

लक्षण, स्वरूप एवं साधन आदि से सम्यक् ज्ञान का निरूपण करनेवाले महाराज श्रीवसिष्ठजी पहले 'आत्मा के परिचय से किया गया जगत् का बाध ही सम्यक् ज्ञान है, यों उसका (सम्यक् ज्ञान का) लक्षण करते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस जगत् में आदि और अन्त से रहित अवभास स्वरूप परमात्मा का ही केवल अस्तित्व है, इस प्रकार का असाधारण एवं अपरिच्छिन्न आकारवाला जो निश्चय है, विद्वान् लोग उसी निश्चय को सम्यक् ज्ञान कहते हैं ॥२॥

इसी प्रकार जगत् का बाध कर आत्मा का परिचय करना भी सम्यक् ज्ञान का लक्षण है, ऐसा कहते हैं।

ये जो घट, पट आदि आकारों से युक्त पदार्थों की सैकड़ों पंक्तियाँ हैं, वे सब आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकार का निश्चय सम्यक् ज्ञान है ॥३॥

सम्यक् ज्ञान में मोक्ष देने की सामर्थ्य है, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामजी, आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होने से जन्म होता है और आत्मा के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष होता है। रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्परूप हो जाती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जु सर्परूप नहीं होती यानी सर्पभाव से रज्जु का मोक्ष हो जाता है, यह भाव है ॥४॥

तब मुक्ति में क्या बच जाता है ? उसे बतलाते हैं।

इस मुक्ति में संकल्पांशों से विनिर्मुक्त, समस्त संवेद्यों से (विषयों से) वर्जित तथा केवल स्वप्रकाशस्वभाव से ही चारों ओर प्रकाशमान केवल चिति ही बच जाती है, उससे अन्य कुछ भी नहीं बचता ॥५॥

हे श्रीरामजी, विद्वानों के द्वारा समस्त मलों से विनिर्मुक्त वह संवित् जब विज्ञात हो जाती है, तब परमात्मा कही जाती है और स्वतः निखिल मलों से वर्जित होने पर भी जब अध्यासवश भीतर से अशुद्धरूप होती है, तब अविद्या कही जाती है ॥६॥

ऐसी स्थिति में ज्ञान और विषय में अविज्ञानजनित ही भेद है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संवित्ति (ज्ञान) ही संवेद्य (विषय) है, वास्तव में इन दोनों की तनिक भी भेद-कल्पना नहीं है, आत्मा ही आत्मा का चयन करता है यानी आत्मा ही अज्ञान से आत्मा को नानारूप बना देता है और ज्ञान से आत्मा की एकरूपता का परिचय कर लेता है, आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है ॥७॥

सम्यक् ज्ञान का निचोड़ स्वरूप कहते हैं।

इस तीनों लोकों में यथार्थ आत्मदर्शिता इतनी ही है कि यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त करे ॥८॥ हे श्रीरामजी, यह सब आत्मस्वरूप ही है, कौन भाव और अभाव अलग कर निरूपित हो सकते हैं ? वे कहाँ रह सकते हैं ? बन्ध और मोक्ष की कल्पना कहाँ हो सकती ? आत्मा को छोड़ कर ऐसी कौन वस्तु है ? जिसके विषय में मूढ़ लोग शोक करते हैं ॥९॥ आत्मा से भिन्न न तो चेत्य है और न चित्त है, दृश्य रूप यह सब ब्रह्म ही शोभित हो रहा है, समस्त ब्रह्माण्ड अद्वितीय चिदाकाशस्वरूप ही है, अतः क्या मोक्ष है और किसको बन्ध है ? ॥१०॥ जितने

बड़े–से–बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे भी बड़ा ब्रह्म है। माया से नट की नाईं अपनी आत्मा में ही बढ़े हुए आकार से युक्त यह जगत्–रूप दृश्य अवस्थित है। आत्मा के ज्ञान से जागतिक द्वित्व तत्क्षण विलीन हो जाता है अतः आप अपने से ही आत्मस्वरूप हो जाइए ॥११॥ जैसे काष्ठ, पाषाण और वस्त्रों के तात्त्विक स्वरूप का भलीभाँति परिज्ञान हो जाने पर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता, वैसे ही अधिष्ठान भूतसन्मात्रस्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर तनिक भी भेद नहीं रह जाता, ऐसी स्थिति में आप संकल्प और विकल्प के उन्मुख कहाँ है ? यानी हेय और उपादेय की एकरूपता होने पर संकल्प और विकल्प का प्रसंग ही हो नहीं सकता ॥१२॥ हे राघव, आदि और अन्त में अविनाशी, पूर्ण शान्त जो स्वरूप है, वही प्रसिद्ध आत्मरूपत्व है, चूँकि आत्मा का वैसा स्वरूप है, इसलिए आप उसी स्वरूपवाले हो जाइए ॥१३॥

हे राघव, यह निखिल स्थावर और जंगमात्मकजगत् निरतिशयानन्दात्मक चिदाकाशस्वरूप ही है, अतः सुख और दुःख की प्रसक्ति कहाँ होगी अर्थात् कहीं नहीं होगी, इसलिए आप समस्त चिन्ता ज्वरों से निर्मुक्त हो जाइए ॥१४॥ जैसे जल विचित्र तरंगों से प्रस्फुरित होता है, वैसे ही द्वैत और अद्वैत विकल्पों से समुद्भूत जन्म, मरण और विभ्रम स्वरूप आत्माओं से आत्मा ही अज्ञानियों के लिए प्रस्फुरित होता है ॥१५॥ जो महात्मा शुद्ध आत्मा का आलिंगन कर अन्तःस्थ बुद्धि से सदा–सर्वदा अवस्थित रहता है, उस तत्त्वज्ञ आत्माभिलाषी को कौन भोग बाँधने के लिए समर्थ हो सकते हैं ? ॥१६॥ जैसे मन्द पवन पर्वत का भेदन नहीं कर सकते, वैसे ही जिस विद्वान् ने प्रकाशमान आत्मा का पूर्णरूप से विचार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण को काम आदि छः शत्रु तनिक भी भेदन नहीं कर सकते ॥१७॥ जैसे जल से निर्गत अथवा स्वल्प जल में स्थित मत्स्य को बगुले निगल जाते हैं, वैसे ही इस संसार में आशाओं में निरत, मूढ़, अज्ञानी और अविचारी पुरुष को दुःख निगल जाता हैं ॥१८॥ हे श्रीरामजी, समस्त जगत् आत्मस्वरूप ही है, कहीं पर भी अविद्या नाम की कोई वस्तु है नहीं, इस प्रकार की दृष्टि का अवलम्बन कर आप सम्यक् स्वरूपवाले होकर स्थित हो जाइए ॥१९॥ हे श्रीरामजी, जैसे अनेकविध सरोवरों में जल, फेन आदि जल से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही (दृश्य ब्रह्म से पृथक् नहीं हैं) केवल कल्पनाओं में यानी विकल्पात्मक बुद्धि में ही नानात्व है, वास्तव में नानात्व नहीं है, इस प्रकार विवेकपूर्वक भली प्रकार अर्थ को जान लेनेवाला उक्त एकविध निश्चय प्रधान पुरुष आत्यन्तिक चित्त विनाश के कारण विमुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥२०॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

जिस विचार के सुदृढ़ होने पर संमुख स्थित भी
दिव्य भोगों में इच्छा उत्पन्न नहीं होती, उस विचार का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी अपने हृदय में विचार (आगे कहा जानेवाला विचार) कर रहे विवेकी आत्मा को सर्वदा संमुख स्थित भी दिव्य भोगों में अभिरुचि उत्पन्न ही नहीं होती ॥१॥

उसमें पहले जिस स्थल में चक्षु के द्वारा इष्ट एवं अनिष्ट विषय गृहीत होने पर चक्षु में अहन्ता के

अभिमान से जीव को सुख-दुःख अनुभूत होते हैं; उस स्थल में चक्षु के प्रति जीव की स्वामिता ही है, अहन्ता नहीं है, ऐसा विचार करने से जीव को दुःख आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा दिखलाते हैं।

नेत्र केवल रूप देखने में ही निमित्त है और चक्षु का स्वामी जीव तो केवल चक्षु में अहन्ता के अभिनिवेश से सुख-दुःख का भोक्ता होता है। जैसे बैल बोझा ढोने के लिए ही है, उस ढोये हुए द्रव्य का उपभोग करनेवाला तो द्रव्य का स्वामी है ॥२॥

जीव का स्वामित्व केवल चक्षु पर ही नहीं है, किन्तु कार्यकारणसमूह, काम, कर्म, वासना तथा उसके अनेक विध फल भेदों पर भी है। इस स्थिति में अहंकार, बुद्धि, मन एवं प्राण की परम्परा से किसी तरह से स्वत्वकोटि में प्रविष्ट एक चक्षु का कभी अनिष्टरूप के साथ सम्बन्ध प्राप्त हुआ भी तो उसकी गणना ही क्या है और उससे जीव को दुःख की प्रसक्ति ही कैसे हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

नेत्र के अनिष्टरूप में निमग्न होने पर जीव को क्षोभ ही कैसे ? सेना के अन्तर्गत धोबी का गदहा अल्प जलाशय में यानी छोटे तालाब में डूबा, तो उससे सेनापति की क्षति ही क्या हुई ? ॥३॥

जीव का नेत्र पर स्वामित्व रहने से ही वह उसे रूप-मग्न होने से रोक सकता है, यह बतलाते हैं।

हे मूढ़तम नेत्र, स्त्री, पुत्र आदि के सौन्दर्यस्वरूपात्मक कीचड़ का तुम आस्वाद मत करो, यह तथोक्त रूप क्षण में ही नष्ट हो जायेगा और तुम्हें भी नष्ट कर डालेगा ॥४॥

शंका हो कि तब किस प्रकार का प्राज्ञ कहाँ निबद्ध होता है, तो उस पर कहते हैं।

तेज बुद्धिवाला प्राज्ञ पुरुष तो भीतर निवास कर रहे जिस चिदात्मा से बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का उनके सम्बन्ध द्वारा प्रकाश होता है, तथा जिस तथोक्त चिदात्मा से अनात्मभूत पाँच कोशों की परम्परा का आत्मा के तादात्म्य आरोप से अनुभव होता है, उस चिदात्मा के उदासीन तथा यथाप्राप्त पदार्थों के प्रकाशनरूप चरित्रों से अभ्यासवश सम्बद्ध होता है, मूर्खों की नाईं तथाविध सौन्दर्यरूपी रूपकर्दम के आस्वादनरूप कर्मों से सम्बद्ध नहीं होता। तात्पर्य यह निकला कि श्रीरामजी, आप भी अपने उदासीन सत्स्वरूप का प्रकाशन कीजिए, उसका आस्वादन मत कीजिए ॥५॥

हे नेत्र, जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है और जो केवल ऊपर-ऊपर से ही रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे असत्-स्वरूप रूप का(सौन्दर्य का) उस अवश्यम्भावी मृत्यु के मुख में प्रवेश करने के लिए आश्रय मत करो ॥६॥ हे नेत्र, जब किसी की अपेक्षा किये बिना समस्त अर्थों के प्रकाशन में सदा समर्थ परमात्मा रूप आदि विषयो में उदासीनस्वरूप से स्थित है, तब कालवश से यानी किसी समय दीप आदि के प्रकाश को पाकर प्रकाशन कर रहे तुम अकेले ही क्यों सन्तप्त होते हो ? ॥७॥

इसलिए तुम भी साक्षी की तरह स्थित सद्रूप को देखो, यह भाव है।

सम्प्रति चक्षु के द्वारा भ्रान्ति से रूप के देखे जाने पर भी चित्त को उसमें अभिनिवेश करने में कोई हेतु नहीं है, यह कहते हैं।

हे चित्त, नदी आदि के जल में दृश्यमान नाना प्रकार के विचित्र अनियत तरंगों की नाईं अनियत, आकाश में सूर्य के संमुख अश्रुसहित नेत्रवाले पुरुष को दिखाई पड़नेवाली मयूर पिच्छिका की (मोर के पंख की) नाईं मिथ्याभूत एवं 'यह घोड़ा है', 'यह गाय है', 'यह स्त्री है' इस तरह की अनेक अच्छी-बुरी जातियों

के विकल्पों से जनित यह नाना प्रकार की रूपदृष्टि (सौन्दर्यानुभूति) चक्षु को स्फुरित होती है, ऐसी परिस्थिति में तुम्हें क्या मिला, जिससे कि तुम उसमें अनुरक्त होते हो और वृथा सन्तप्त होते हो ? ॥८॥

चक्षु के द्वारा दृष्ट पदार्थाकार वृत्ति चित्त में भले ही हो, तथापि उसमें अभिनिवेश के हेतु अहंकार के होने में कोई हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, प्रलयकालीन जल में मछली की नाईं स्फुरण धर्मवाले चित्त में स्वयं रूप आदि विषयाकार का यदि स्फुरण होता है, तो वह भले ही हो,परन्तु अहंकाररूप से तुम किस निमित्त को लेकर उत्थित हुए हो ? ॥९॥ हे चित्त, आधारआधेयभूत तथा जड़स्वरूप प्रकाश और रूप के परस्पर स्फुरित होने पर तुम निरर्थक ही व्याकुल हो रहे हो। तात्पर्य यह है कि स्त्रीशरीर आदि रूप सूर्य आदि के प्रकाश का आश्रय लेकर स्फुरित होते हैं और सूर्यादि प्रकाश उक्त स्त्री-शरीरादिभूतरूप में आश्रित होकर स्फुरित होते हैं, यों परस्पर एक दूसरे का सम्बन्ध होने पर सुन्दरता की भ्रान्ति से कामादि दोष द्वारा चित्त में व्याकुलता होती है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु प्रकाश और रूप का चित्त के साथ सम्बन्ध न होने के कारण वह व्यर्थ ही है ॥१०॥

प्रकाश और रूप के साथ चित्त का सम्बन्ध ही नहीं है , इस विषय को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।

जैसे वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध मुख,दर्पण और प्रतिबिम्ब परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वैसे ही वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध रूप, प्रकाश और मन एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। चक्षु के द्वारा बाहर रूप का अवलोकन होता है और मन के द्वारा भीतर संकल्पादि मनस्कार ज्ञात होते हैं, यों भिन्न देशता होने के कारण वास्तव में उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह भाव है ॥११॥

वास्तव में असम्बद्ध होने पर भी जो सम्बद्धत्व भ्रान्ति होती है, उसमें ज्ञान ही निमित्त है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, ये पूर्वोक्त रूपादि अज्ञानरूपी जंतु के (लाख के) द्वारा ही निरन्तर एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हुए हैं, जब अज्ञानरूपी जंतु अज्ञान के ताप से पिघल जाता है, तब एक दूसरे से असम्बद्ध और बाधित होकर अधिष्ठान सन्मात्ररूप में अवस्थित रहते हैं ॥१२॥ जैसे दो काठ लाख से एक दूसरे से श्लिष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये रूप, प्रकाश और संकल्प आदि मनस्कार परस्पर चित्त की कल्पना से एक दूसरे से संश्लिष्ट हो जाते हैं ॥१३॥ मकड़ी के जाले के समान आप ने ही बन्धन में हेतुभूत अपने चित्त के संकल्प विकल्पात्मक तन्तु मन्द और मध्यम अधिकारी के लिए वैराग्य, शम, दम, विरोध आदि रूप मनोभ्यास से यत्नपूर्वक किये गये विचार से विनष्ट हो जाता है। और उत्तम अधिकारी के लिए सहसा उत्पन्न नित्य अनित्य विज्ञान से उस तन्तु के विच्छिन्न हो जाने पर स्वभावतः ही अज्ञान भावना प्रवृत्त नहीं होती ॥१४॥ अज्ञान के विनाश से क्षीण हुए मन में फिर ये रूप, प्रकाश और मनस्कार परस्पर एक दूसरे से कोई भी संघटित नहीं होते ॥१५॥

पहले यत्न से तो चित्त का उच्छेद कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

चित्त ही सभी इन्द्रियों का भीतर से प्रबोध (प्रेरणा) करता है, इसलिए जैसे मन्दिर से पिशाच का उच्छेद कर देते हैं, वैसे ही चित्त का उच्छेद कर देना चाहिए ॥१६॥

अब ललकार कर चित्त को ही बोधित करते हैं।

हे चित्त, तुम मिथ्या ही प्रलाप करते हो, मैंने तुम्हारे उच्छेद के लिए उपाय ढूँढ़ निकाला है। तुम आदि और अन्त दोनों में नितान्त तुच्छ (असत्) हो, इसलिए वर्तमान काल में भी असत् ही हो। पूर्व उत्तरकाल में असत् वन्ध्यापुत्र वर्तमान काल में सत् नहीं हो सकता ॥१७॥ हे चित्त, तुम इन्द्रियों से सम्बद्ध शब्द आदि पाँच आकारों के द्वारा अपने भीतर क्या गरजते हो, जो तुम्हारा अभिमान करनेवाला प्रमाता तुम्हें 'यह मेरा है' इस रूप से जानता है, उसी के विषय में तुम उपकरणरूप से गरज सकते हो, परन्तु असंग, उदासीन, चिदेकरस मेरे विषय में तुम नहीं गरज सकते ॥१८॥ हे दुष्ट चित्त, तुम्हारा गर्जन मेरे लिए तनिक भी हर्ष और विषाद के लिए नहीं है, ऐन्द्रजालिक माया से जनित मन के अनेक तरह की विषयदर्शनाकार चेष्टाओं की नाईं तुम अनेकविध विषयाकार वृत्तियों में क्यों निरर्थक दग्ध हो रहे हो ? ॥१९॥ हे चित्त, तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीते हो। अपने मिथ्यास्वभाव से तुम सदा मृतक (निरात्मक) ही हो और विचार से उस प्रकार स्मृत तुम अत्यन्त असत् हो ॥२०॥ हे चित्त, तुम तत्त्वरहित जड़, भ्रान्त और शठ हो, तुम्हारा आकार अत्यन्त असत् है, अज्ञानस्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुष को ही बाधा पहुँच सकती है, न कि विचारवान् ज्ञानी पुरुष को ॥२१॥ हे चित्त 'तुम तत्त्वशून्य हो' यह आज तक हम लोगों ने नहीं जाना था। आज आत्मतत्त्वदर्शन के प्रभाव से हम लोगों ने यह जान लिया कि तुम तत्त्वरहित ऐसे हो, जैसे दीपों के लिए अन्धकार ॥२२॥ हे चित्त, तुम शठ के द्वारा दीर्घकाल तक अवरुद्ध मेरा सम्पूर्ण देहरूपी घर शम, दम, विचार, प्रबोध आदि साधुओं के संसर्ग से वर्जित हुआ था ॥२३॥ हे चित्त, प्रेत के सदृश आकारवाले जड़ तुम्हारे मनरूपी शठ के चले जाने पर मेरा देहरूपी यह घर शम, दम आदि समस्त साधुओं के द्वारा सेवा करने योग्य हो गया ॥२४॥

हे जगत्रूपी चित्तवेताल, शठरूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमानकाल में भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे, इस प्रकार तीनोंकालों में निषिद्ध किये गये भी तुम इस समय जो अपनी स्थिति बनाये रक्खे हो, उसके लिए तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती, आश्चर्य है तुम्हारी निर्लज्जता का ॥२५॥

यदि तुम को लज्जा है तो तुम मेरे घर से बाहर निकल जाओ, ऐसा कहते हैं।

हे चित्तरूपी वेताल, तृष्णारूपी पिशाचिनियों के तथा क्रोध आदि गुह्यकों के साथ तुम मेरे शरीररूपी घर से बाहर निकल जाओ ॥२६॥ हे चित्त, भाग्यवश केवल आत्मा और अनात्मा के विवेकमात्र से तुम प्रमत्त चित्तरूपी वेताल मेरे देहरूपी मन्दिर से ऐसे निकल गये हो जैसे गुफा से दुष्ट क्रूर भेड़िया ॥२७॥

चित्त के द्वारा ठगे गये पुरुषों के विषय में शोक करते हैं।

बड़े आश्चर्य की बात है कि महान् जड़ एवं एकक्षणमात्र में विनष्ट हो जानेवाले शठ मन के द्वारा यह समस्त जनसमूह विवशता को प्राप्त हो गया है ॥२८॥ हे चित्त, मनुष्यों के बीच में मरनेवाले देह में आत्मबुद्धि रखनेवाले स्वतः मृत मनुष्य के प्रति यदि तुम गरजते हो तो तुम्हारा क्या पराक्रम है, क्या बल है और क्या समाश्रय है ? यदि एक अद्वितीय आत्मतत्त्वस्वरूप को समझनेवाले मेरे प्रति आकर तुम गरजो, तो मैं तुम्हारा पराक्रम, बल और समाश्रय समझूँ ॥२९॥ हे अज्ञानी गरीब चित्त, मैं आज तुमको मारता नहीं हूँ यानी तुम्हारा वध नहीं करता, क्योंकि तुम पहले से ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है। यही तुम्हारा वध है ॥३०॥ हे चित्त, इतने काल तक तुम्हारा अस्तित्व (स्वरूपसत्ता) जीवित की

नाईं था, यह जानकर चिरकाल तक संसार रात्रियों में तुम्हारे साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुआ था ॥३१॥ चित्त निस्तत्त्व है, अतः उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता– यह मैंने आज जान लिया, इसलिए तुम्हारी आशा का परित्याग कर केवल अपने स्वरूपभूत आत्मा में स्थित रहता हूँ ॥३२॥ भाग्यवश चित्त निस्तत्त्व है, यह मैंने आज स्वयं जान लिया।

बोध के अनन्तर जीवन्मुक्तों को चित्तशून्य होकर ही अवशिष्ट आयु का क्षेपण करना उचित है, यह कहते हैं।

अतः शठ मन के साथ अपने समस्त जीवन का क्षेपण नहीं करना चाहिए ॥३३॥ काम, क्रोध, लोभ आदि शठों के उत्सवभूत मन को देहरूपी घर से क्षणभर में निकालकर मैं वैताल से शून्य होकर भीतर से स्वस्थ होकर अवस्थित रहता हूँ ॥३४॥ चिरकाल तक चित्तरूपी वेताल के द्वारा ठगे गये उसके स्वरूपभूत मैंने अनेक तरह के विकारों को उत्पन्न किया; अब मैं स्वयं पदार्थभूत होकर उन विकारों का स्मरण कर हँसता हूँ ॥३५॥ भाग्यवश बहुत काल के अनन्तर अब विचाररूपी तलवार से मर्दित चित्तरूपी वेताल को, जो तालवृक्ष के सदृश उत्तंग ऊँचाई से युक्त है, हृदय मन्दिर से हटा दिया ॥३६॥ चित्तरूपी वेताल के शान्त हो जाने पर और काम आदि मलों का अभाव होने से पवित्र पदवी के यानी इन्द्रियों के द्वारभूत मार्ग को प्राप्त करने पर अब उत्तम भाग्य से शरीररूपी नगर में केवल मैं सुखपूर्वक अवस्थित हूँ ॥३७॥ विचाररूपी मन्त्र से मन मर गया, चिन्ता मर गई और अहंकाररूपी राक्षस भी मर गया, अब समस्त विषमताओं से रहित तथा स्वस्थ होकर केवल मैं ही स्थित हूँ ॥३८॥ कौन मेरा मन है ? कौन मेरी आशा है और कौन मेरा अहंकार है ? भाग्य से मेरा निरर्थक यह पोष्यवर्ग शेषरूप से विनष्ट हो गया ॥३९॥

अब अवशिष्ट निरतिशयआनन्दैकरसस्वरूप आत्मा को श्रद्धातिशय से नमस्कार करते हैं।

एक, कृतकृत्य, अविनाशी, विमलस्वरूप तथा निर्विकल्प चैतन्यनामधारी मद्रूप ही आत्मा को बार–बार नमस्कार हैं ॥४०॥ मुझे न तो शोक है और न मोह है न मैं अहम्अभिमान प्रधान जड़–अंशस्वरूप ही स्वयं हूँ। मैं अहंकार यानी प्रत्यक् चिदात्मस्वरूप नहीं हूँ, ऐसा नहीं है, किन्तु प्रत्यक्–चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं भेद का आश्रय नहीं हूँ यानी अद्वितीय हूँ। मद्रूप ही आत्मा को बार–बार नमस्कार करता हूँ ॥४१॥ न मुझे इच्छा है, न मेरे कर्म हैं, न मेरा संसार है, न मुझमें कर्तृत्व हैं, न मुझमें भोक्तृत्व है और न मेरी देह है। मद्रूप ही आत्मा को नमस्कार हैं ॥४२॥ मैं आत्मा यानी आत्मशब्दजन्य प्रतीति का विषय नहीं हूँ, मैं अनात्मा भी नहीं हूँ, तत्त्वदष्टि से अतिरिक्त ऐसे किस पदार्थ की संभावना की जा सकती है, जो मेरे स्वरूप हो सके, इसी प्रकार अहंशब्दजन्य प्रतीति का विषय और उससे भिन्न मैं नहीं हूँ, ऐसी स्थिति में मुझसे अन्य की अप्रसिद्धि होने से स्वयं ही मैं सर्वस्वरूप और सर्वात्मक ही हूँ, यह अर्थ है; ऐसे मद्रूप ही आत्मा को नमस्कार है ॥४३॥ मैं ही आदि यानी भुवनों का कारण हूँ, मैं ही धाता यानी धारणकरनेवाला हूँ, मैं चित्तस्वरूप हूँ, मैं भुवनस्वरूप हूँ, मेरा त्रिविधपरिच्छेद नहीं हो सकता, ऐसे मद्रूप आत्मा को ही बार–बार नमस्कार है ॥४४॥ विकारशून्य, नित्य, अंशशून्य, विशालतम, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक यानी सनातन मद्रूप आत्मा को ही बार–बार नमस्कार है ॥४५॥ रूपशून्य, नामशून्य, प्रकाशरूप, महदाकृति तथा स्वयं एक आत्ममात्र में स्थिति रखनेवाले मद्रूप आत्मा को ही बार–बार नमस्कार है ॥४६॥ मैं सर्वत्र समरूप, सर्वत्र व्यापक, सूक्ष्म और जगत् को एकमात्र प्रकाशित

करनेवाली सत्ता को भीतर से प्राप्त हुआ हूँ, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को ही नमस्कार है ॥४७॥ पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदी इनसे युक्त प्रसिद्ध यह वर्तमान दृश्य श्री मद्रूप है ही नहीं, इसी प्रकार अतीत, अनागत पदार्थों से परिपूर्ण यह जगत् भी मद्रूप है ही नहीं। अथवा उक्त सभी मद्रूप ही है, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को बार-बार नमस्कार है ॥४८॥ चूँकि मन के समस्त विकल्प विनष्ट हो चुके हैं, इसलिए सम और अत्यन्त अभिराम, समस्त विश्व का आविर्भाव करनेवाले, स्वतः विश्ववर्जित अनन्त, स्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणों से शून्य तथा अविनाशी ईश्वर के स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४९॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

पूर्व में अनेक प्रयत्नों से देहरूपी घर से निर्वासित हुए
चित्तरूपी वेताल की असत्ता का अनुभव और युक्ति से उपपादन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, पूर्वोक्त प्रकार से भली प्रकार विचार के द्वारा भीतर से तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर 'आत्मा ही अवश्य ज्ञातव्य है' इसलिए विचार तत्त्व को जाननेवाले महात्मा लोग फिर चित्त के विषय में वक्ष्यमाणरीति से विचार करते हैं ॥१॥ जिस चित्त के द्वारा 'यह समस्त जगत् आत्मस्वरूप ही है' इस प्रकार के परोक्ष साक्षात्कार से जगत् परिमार्जित किया गया है, वह चित्त कहाँ से उत्पन्न हुआ ? यह अत्यन्त आश्चर्य है, क्योंकि जगत् के अवस्तुस्वरूप होने से उसके अन्तर्गत हुआ चित्त भी स्वयं अवस्तुस्वरूप ही है ॥२॥

चित्त अवस्तुरूप ही है, इसका साधन कहते हैं।

जैसे आकाशवृक्ष भ्रमवश अन्यरूप से प्रतीत होता है, वास्तव में वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाशवृक्ष नहीं है यानी असत् ही है, वैसे ही चित्त जड़, चित्त अन्तर से शून्य और माया का कार्य होने से निश्चयरूप से असत् ही है, वह केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही है ॥३॥ जैसे नौका में अवस्थित अज्ञानी बालक को तटवर्ती स्थाणु में प्रतीत होनेवाला गति आदि परिस्पन्द केवल भ्रान्ति से ही दिखाई पड़ता है, वैसे ही यद्यपि अज्ञानी को चित्त दीखाई पड़ता है तो भी आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञ की दृष्टि में वह है ही नहीं, किन्तु असन्मय ही है ॥४॥ मूर्खताप्रयुक्त मोहरूपी भ्रम के शान्त हो जाने पर हम लोगों को चित्त का वैसा अनुभव नहीं होता, जैसे तेल या गन्ने को पेरने के यन्त्र के ऊपर आरोहण करने से उत्पन्न परिभ्रमण के बाद आरोही को पर्वत में परिभ्रमण का अनुभव नहीं होता ॥५॥ उक्त युक्तियों से चित्त का अस्तित्व है ही नहीं, चित्तात्मक केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है, चूँकि बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की भावनाएँ असदात्मक चित्त से ही विस्तार को प्राप्त होती है, इसलिए असत्स्वरूप उनका मैंने परित्याग कर दिया ॥६॥ मेरे समस्त सन्देह शान्त हो चुके हैं, समस्त चिन्ता ज्वरों से वर्जित होकर मैं अवस्थित हूँ, जिस पारमार्थिक स्वभाव से मैं अवस्थित रहता हूँ, उसी पारमार्थिक स्वभाव से इस समय स्वानुभव से भी इच्छाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हूँ॥७॥ जैसे प्रकाश का उपराम हो जाने पर विभिन्न-विभिन्नरूपों का प्रकाशन करनेवाली चक्षुआदि से जनित संवित्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं, वैसे ही चित्त का उपराम हो जाने पर चंचल तृष्णा आदि दुर्गुण विनष्ट हो गये ॥८॥ चित्त मर गया, तृष्णाएँ चली गयीं,

मोहरूप पंजर भली प्रकार क्षीण हो गया, अहंभावना विशीर्ण हो गयी और इस अहंरूप आत्मा के अज्ञानरूपी निद्रा से वर्जित होने पर मैंने अपने स्वाभाविक स्वरूप को जान लिया ॥९॥ जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप ही हो गया और भेदवस्तु सत् है ही नहीं, इसलिए मैं दूसरे किस विषय का विचार करूँ ? इस असत् अर्थों की कथा से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥१०॥ चिदाभासस्वरूप, जीवस्वरूप से वर्जित, आदि और अन्त से शून्य, परमपावन पद को मैं प्राप्त हुआ हूँ। मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन आत्मस्वरूप से स्थित हूँ ॥११॥ इस लोक में व्यवहार दृष्टि से और श्रुतिदृष्टि से क्रमशः चित्त आदि एवं आत्मा आदि जो अस्तित्वरूप से प्रसिद्ध वस्तुरूप पदार्थ हैं तथा रज्जु–सर्प आदि एवं वन्ध्या पुत्र आदि जो नास्तित्वरूप से प्रसिद्ध अवस्तुरूप पदार्थ हैं, वह सब आकाश से भी अत्यन्त निर्मल, स्वप्रकाश, शान्त, असीम, व्यापकस्वरूप ब्रह्मात्मक ही है, क्योंकि उसी में सत् असत्रूप विकल्पों का आरोप होता है ॥१२॥ चित्त रहे या न रहे, वह भीतर से मर जाय या जिन्दा रहे, उसके विषय में विचार करने से मेरा कौन–सा प्रयोजन है ? क्योंकि मैं तो चिरकाल से समरूप से उदित आत्मस्वरूप हूँ ॥१३॥ मैं तो इतने समय तक मूर्खतावश नित्यअनित्य वस्तु के विषय में किसी प्रकार का विचार न कर रहा केवल परिच्छिन्न देहादि के स्वभाव से युक्त होकर वर्तमान था। सम्प्रति विचार से परिच्छिन्न आत्मस्वभाव होकर विचार करनेवाला मैं कहाँ चला गया, इसका निरूपण करने में असमर्थ हूँ ॥१४॥ मन के मर जाने पर 'विचार करनेवाला है या नहीं' इस प्रकार की निरर्थक विकल्प श्री भी मनरूपी वेताल के पुनर्जीवन के लिए क्यों उत्पन्न होती है, इसलिए उस विकल्प श्री का मैं परित्याग करता हूँ ॥१५॥ तथोक्त इस भीतरी संकल्प–कलना का परित्याग करता हूँ, इस प्रकार का निश्चयकर ॐकार के लक्ष्यभूत तुरीय आत्मा में मौन की नाईं शान्तात्मा होकर स्थिर रहता हूँ ॥१६॥

किये गये विचार का उपसंहार कर रहे महाराज वसिष्ठजी उस की निरन्तर कर्तव्यता को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, खाते, जाते, सोते और स्थित रहते सदा सर्वदा सर्वत्र उस प्रकार की प्रज्ञा से युक्त चित्त से तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रतिदिन भली प्रकार विचार करे ॥१७॥ आत्मस्वरूप में अवस्थित, स्वस्थ अपने चित्त से भली प्रकार विचार करके सत्पुरुष अपने–अपने वर्ण और आश्रमों के अनुसार प्राप्त हुए कर्मों में किसी प्रकार का उद्वेग किये बिना स्थित रहते हैं ॥१८॥ जिनका मान और मद गलित हो चुका है,जिनका अन्तःकरण प्रमुदित है, जिनकी शरद् ऋतु से समन्वित चन्द्रमा की नाईं प्रसन्न मुख कान्ति है और जो प्राप्त हुए शास्त्रानुमोदित व्यवहारों में विहार करनेवाले हैं,ऐसे असीम बुद्धिवाले महापुरुष इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥१९॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

आत्मा की एकाग्रता की सिद्धि के लिए निरर्थक चेष्टादि हेतुओं से
देह, इन्द्रिय और मन को वीतहव्य के द्वारा बोधन।

पूर्व में किया गया विचार साम्प्रदायिक है, इसे बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पहले आपके सामने मैंने जिस विचार का दिग्दर्शन किया

है उस विचार को पहले विद्वान् संवर्त ने (बृहस्पति के छोटे भाई ने) किया था। विन्ध्याचल पर्वत के ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्त ने उक्त विचार को मुझसे कहा था ॥१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारप्रचुर बुद्धि से इसी दृष्टि का अवलम्बन कर आप इस संसारसागर के उत्तरोत्तर चित्त की विश्रान्ति के प्रकर्ष–परिपाक से जनित भूमिका आरोहण क्रम से पार हो जाइये ॥२॥ हे श्रीरामजी, अब आप इस दूसरी इन्द्रिय और मन की बोधरूपिणी दृष्टि का श्रवण कीजिए, जो परमपद को प्रदान करनेवाली है, इसी से महामुनि वीतहव्य ने निःशंक परमपद को प्राप्त किया था ॥३॥ पहले महान् तेजस्वी वीतहव्य मुनि अरण्य में समाधि के लिए अनुकूल विन्ध्य पर्वत की विस्तृत गुफा को खोजते हुए उस प्रकार परिभ्रमण कर रहे थे, जिस प्रकार सहस्रांशु (सूर्य) मेरु पर्वत की गुफाओं को खोजते हुऐ परिभ्रमण कर रहे हो ॥४॥

वीतहव्य को समाधि की इच्छा कैसे हुई इसे कहते हैं।

किसी समय की बात है कि संसाररूपी भ्रम को देनेवाले तथा घोर आधि और व्याधिमय आकारवाले इस सांसारिक क्रियाकलापों से महामुनि वीतहव्य उद्विग्न हो उठे ॥५॥ केवल निर्विकल्प समाधि से प्राप्त होनेवाले उदार परब्रह्म को जानने की इच्छा से ही उक्त महामुनि ने जगत्–रूपी जीर्ण–शीर्ण अपने व्यापारों की परम्परा का उपसंहार कर लिया यानी उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया ॥६॥ उसके बाद जैसे भ्रमर नीलकमल में प्रवेश करता है, वैसे ही महामुनि वीतहव्य ने कदली–पत्रों से विनिर्मित अपनी पर्णकुटी में प्रवेश किया, जिसमें कदली द्वारा श्वेत कपूर की रचना की गयी थी अतएव जो सुगन्ध से पूर्ण थी ॥७॥ महामुनि वीतहव्य नें उस पर्णकुटी में अपने द्वारा बिछाये गये सम और शुद्ध मृगचर्म के आसन के ऊपर उस प्रकार विश्रान्ति ली, जिस प्रकार बरस चुका मेघ तापशून्यपर्वत के ऊपर विश्रान्ति लेता है ॥८॥ पद्मासन बाँधकर, पैर के तलवों के मूल के ऊपरी भाग पर हाथ की अँगुलियों को रखकर तथा अपनी ग्रीवा को ऊँची तान कर उस प्रकार निश्चल होकर बैठे, जिस प्रकार निश्चल श्रृंग (शिखर) ॥९॥ जैसे सायंकाल के समय मेरुपर्वत की कन्दरा में प्रवेश कर रहा भानु अपनी दीप्तिकिरणों का अपने में उपसंहार कर लेता है, वैसे ही महामुनि वीतहव्य ने इन्द्रियालोकरूपी कारण से दिशाओं में बिखरे हुए मन का उसके निग्रह के उपायों से धीरे–धीरे यानी आगे कहे जानेवाले प्रबोधन से अपने हृदय में उपसंहार कर लिया ॥१०॥ तदनन्तर बाह्य और आभ्यन्तर स्पर्शों का यानी बाह्य इन्द्रियों के तथा भीतरी मन के विषयरूपी स्पर्शों का परित्याग कर रहे उस महामुनि ने पापशून्य मन से क्रमशः यह (आगे कहा जानेवाला) विचार किया ॥११॥ अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि यह मन इतना चंचल है। क्षणमात्र के लिए किसी एक निश्चित विषय में लगाया हुआ भी उस प्रकार स्थिरता को प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार तरंगो के द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिरता को प्राप्त नहीं होता ॥१२॥ निरंकुश चक्षुआदि इन्द्रियों से सम्बद्ध संभ्रमरूप अनेकविध विषयस्वरूपों को लेकर मन निरन्तर उस प्रकार नृत्य करता है, जिस प्रकार करतल से विताड़ित गेंद नृत्य करता है ॥१३॥

इन्द्रियों के द्वारा वर्धित मन पूर्व–पूर्व वृत्तियों का त्याग करते ही उत्तरोत्तर तदनुसारिणी इन वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है और जिस विषय से उसको हटाया जाता है, उसी विषय में अत्यन्त उन्मत्त की नाईं दौड़ता है ॥१४॥ मन घट से पट के ऊपर और पट से उत्कट शकट के ऊपर कूद जाता है यों यह चित्त अर्थों के ऊपर उस प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षों के ऊपर बन्दर दौड़ता है ॥१५॥

यों चित्त के दोषों की समालोचना करके मुनि वीतहव्य ने उसके निर्गमन के द्वारों की समालोचना की, यह कहते हैं।

अतिनिन्दित इन्द्रिय नामवाले ये चक्षु आदि मन के पांच द्वार है अब मैं उनके विषय में भली भाँति विचार करता हूँ ॥१६॥

अब इन्द्रियों को ही भर्त्सनापूर्वक बोधन करते हैं।

सागर के तरंगों की नाईं अतिचंचल हे हतभाग्य इन्द्रियगण, इस जन्म में समाधि के द्वारा आत्मदर्शन के लिए अभी तक तुम्हें अवसर प्राप्त नहीं हुआ क्या ? ॥१७॥ हे चंचल स्वभाववाले इन्द्रियगण, अब तुम लोग अनर्थ के लिए चंचलता मत करो, अपने दुःखदायक भूतकालीन कर्मों का तुम बार–बार खूब स्मरण कर लो ॥१८॥

हे इन्द्रियगण, तुम लोग मन ही के अलग–अलग द्वार के रूपों में कल्पित हो, अतएव निश्चित अधम और जड़ ही हो, हम जानते हैं कि जड़ में प्रवृत्ति और जल में तरंगरूपी प्रवृत्ति का आश्रयत्व मृगतृष्णा की नाईं मिथ्या है ॥१९॥

अनृत (असत्य) स्वरूपवाले आप लोगों की दुर्विनय से आत्मज्ञानशून्य कुमार्ग में जो प्रवृत्ति है, वह अन्धों की ही उपमा के लिए हो सकती है यानी अमार्ग में दौड़ रहे अन्धों के कूप–पतन की उपमा हो सकती है, यह भाव है ॥२०॥

यदि हम लोग जड़ हैं, तो कौन दर्शन आदि से सब व्यवहारो को करता है ? इस पर कहते हैं।

चिदात्मा भगवान्–स्वरूप मैं साक्षीरूप सब कुछ करता हूँ। हे जघन्य इन्द्रियवृन्द, तुम क्यों निरर्थक व्याकुल हो रहे हो ॥२१॥ हे चक्षुआदि इन्द्रियगण, सत्य स्वरूप से विरहित तुम लोग मेरे प्रति मिथ्या ही गरज रहे हो, तुम लोग अलातचक्र के सदृश और रज्जु में सर्प–भ्रम के सदृश मिथ्यारूप ही हो ॥२२॥ जिस सर्वावभासक साक्षीस्वरूप प्रत्यगात्मा ने चक्षु आदि इन्द्रियों के स्वरूप का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, उस प्रत्यगात्मा के साथ उनका तनिक भी वैसे समबन्ध नहीं है, जैसे स्वर्ग और पाताल तल में विद्यमान पर्वतों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अथवा पाताल के पर्वतों के साथ स्वर्ग का सम्बन्ध नहीं है ॥२३॥ जैसे सर्पों से डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है चाण्डालों से डरा हुआ ब्राह्मण चाण्डालों से दूर रहता है, वैसे ही चिदेकरसस्वरूप दोषशून्य प्रत्यगात्मा इन्द्रियों से दूर रहता है ॥२४॥

तब क्यों इन्द्रियों के व्यापारों में आत्मा की कारणता प्रसिद्ध है, इस पर कहते हैं।

हे इन्द्रियगण, केवल चैतन्यसत्ता की सन्निधि से ही तुम लोगों की परस्पर चेष्टा उस प्रकार पूर्णरूप से रहती है, जिस प्रकार आदित्य के रहने पर श्राद्ध और कृषि आदि कर्म करनेवाले पुरुषों के उनके इच्छानुसार तत्–तत् कर्म रहते हैं ॥२५॥

अब ललकार कर चित्त को प्रबुद्ध करते हैं।

हे चित्तरूपी चारण (इन्द्रियों की बहिर्मुखता के प्रचार में हेतुभूतः), हे चार्वाक (देह में आत्माभिमान करनेवाले), हे चारों दिशाओं में उदर भरण के लिए भिक्षा माँगनेवाले, तुम इस जगत् में कुत्ते की नाईं निरर्थक अनर्थ के लिए इस प्रकार विचरण मत करो ॥२६॥ हे शठ, 'मैं चेतनधर्मा हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी वासनारूपी भ्रान्ति मिथ्या और निरर्थक है, क्योंकि परस्पर एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न धर्मवाले

चित् और मन की एकता नहीं हो सकती ॥२७॥ हे चित्त, 'मैं ही जीता हूँ' इस प्रकार की यह तुम्हारी अहंकाररूपी दुर्बुद्धि दुःख के लिए मिथ्या ही उत्पन्न हुई है। वह सत्य नहीं है, क्योंकि वह परमात्मस्वरूप से वर्जित है। निष्कर्ष यह है कि अहंकार के अधीन जीवन सत्यभूत नहीं हो सकता, क्योंकि उसके (अहंकार के) न रहते हुए भी सुषुप्ति में जीवन देखने में आता है। अहंबुद्धि मिथ्यास्वरूप ही है, क्योंकि सत्यभूत परमात्मा का तनिक भी उसमें सम्बन्ध नहीं है। इस विषय में श्रुति भी है : न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ (मरणधर्मा न प्राणों से और न अपान से जीता है, प्रत्युत दूसरी वस्तु से ब्रह्म से ही जीता है, जिसमें ये प्राण और अपान समाश्रित हैं) ॥२८॥

हे चित्त, अहंकार का यानी अभिमानरूप तुम्हारे परिणाम का जब आविर्भाव होता है, तब 'कार्य-कारण संघातरूप मैं ही हूँ' इस प्रकार का जो तुम अभिमान करते हो, उसे छोड़ दो। हे मूर्ख, तुम कुछ भी नहीं हो, इसलिए क्यों व्यर्थ चंचल हो उठते हो ॥२९॥

जब तुम्हारा स्वरूप ही दुर्लभ है, तब तुम्हारा अभिमान के द्वारा दूसरों की रक्षा करना तो दूरतः ही निरस्त है, इस आशय से कहते हैं।

संविद्‌रूपी चैतन्य अनादि और अनन्त है, संविद् से दूसरा कुछ भी नहीं है, इसलिए हे महामूर्ख, इस शरीर में चित्त नामवाले तुम कौन हो ? ॥३०॥ हे चित्त, दुःख का विषय है कि भोग के उत्तरक्षण में विषय में पर्यवसित होनेवाली और भोगकाल में अमृत के समान उत्थित यह तुम्हारी कर्तृत्व, भोक्तृत्व की आशंका (अभिमानिता) व्यर्थ ही है ॥३१॥ हे मूर्ख चित्त, चक्षु आदि इन्द्रिय-गणों का आश्रय लेकर तुम उपहास के पात्र मत होओ। तुम न तो कर्ता हो और न भोक्ता हो, किन्तु जड़ हो। तुम दूसरे साक्षी के द्वारा बोधित होते हो ॥३२॥

भोगानुभव की सामर्थ्य से वर्जित, जड़ एवं मिथ्याभूत तुम्हारी भोगाभिलाषा निरर्थक ही है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, तुम भोगों के कौन होते हो अथवा भोग तुम्हारे कौन होते हैं ? जड़स्वरूप तुम्हारा जब स्वरूप (अस्तित्व) ही नहीं है, तब बन्धु, मित्र आदि तुम्हारे कैसे हो सकते हैं ॥३३॥ जो जड़स्वरूप है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। जैसे जपा कुसुम की लालिमा से स्फटिक में लालिमा दिखाई पड़ती है, वैसे ही परमात्मा के अस्तित्व से जड़ में अस्तित्व दिखाई पड़ता है। स्वयं तो असत्ता से समन्वित है, ज्ञातापन, कर्तापन,भोक्तापन और पूर्वापर अनुसन्धान का कर्तापन ये सब चैतन्य के बिना नहीं हो सकते ॥३४॥

जब ऐसी स्थिति है, तब मैं (चित्त) प्रत्यक्-चेतनस्वरूप ही क्यों न कहा जाऊँ ? ऐसी आशंका होने पर तब तो तुम्हारी निर्विकल्प ही स्थिति युक्तियुक्त है, दुःखप्रद कर्तृत्व-भोक्तृत्व भावअभावरूपा विकल्पमयी स्थिति युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, 'प्रत्यक्‌चेतनस्वरूप ही मैं हूँ' इस प्रकार तुम अपने को प्रत्यक् चेतनरूप मानते हो, तो तुम्हारा स्वरूप आत्मा ही हुआ, ऐसी स्थिति में दुःखप्रद भावअभावमयी तुम्हारी सत्ता कैसी ? ॥३५॥

निखिल विकल्पों का त्याग हो जाने पर तुम्हारी चित्तस्वरूपता हो नहीं सकती, यह भाव है। यदि तुम अपने को अचेतनरूप मानोगे, तो अनायास ही कर्तृत्व आदि का परिमार्जन कर सकते हो, यह कहते हैं।

हे चित्त, तुमने जिस रीति से जिन मिथ्या कर्तापन और भोक्तापन दोनों को जान लिया है, उनका मैं युक्ति से किस प्रकार परिमार्जन कर देता हूँ, उसे धीरे से सुनो ॥३६॥ हे चित्त, यह तुम अपने आप ही जड़भूत हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भला बतलाओ तो सही, जड़ में कैसे कर्तापन रह सकता है ? क्या यहाँ पत्थर की मूर्तियाँ भी किसी प्रकार नाच सकती है ? ॥३७॥ हे चित्त, यदि तुम यह कहो कि पत्थर की प्रतिमा किसी अन्य चेतन के व्यापार से नाच करती हुई देखी जाती है, तो इस पर मैं तुम्हें यह सदुपदेश देता हूँ कि तुम भी उस ईश्वर के चिदाभासरूपी अंश से दीर्घकाल तक अपना जीवन-निर्वाह करो, स्वतः तुम अपना जीवन निभा नहीं सकते। ऐसी स्थिति में प्रतिमा के नर्तनरूपी फल का उपभोक्ता जैसे चेतन ही है, प्रतिमा नहीं है, वैसे ही तुम्हारे द्वारा किये गये जीवन आदि फलों का उपभोक्ता चिदात्मा ही है अतः तुम जीवन, अभिलाषा, हनन, गमन और गर्जन के लिए वृथा ही दौड़-धूप करते हो ॥३८॥ जिसकी शक्ति से जो किया जाता है, वह उसी के द्वारा किया हुआ होगा। पुरुष की शक्ति से हँसुआ काटता है, पर काटनेवाला पुरुष कहलाता है ॥३९॥ जिसकी शक्ति से जिसका हनन किया जाता है, वह उसी के द्वारा हत कहा जायेगा, पुरुष की शक्ति से तलवार हनन करती है, हनन करनेवाला पुरुष ही कहा जाता है ॥४०॥ जिसकी शक्ति से जो पिया जाता है, वह उसी के द्वारा पिया गया कहा जायेगा, पात्र के द्वारा जल आदि पिये जाते हैं, पर जो मनुष्य है, वही पीनेवाला कहा जाता है, पात्र नहीं ॥४१॥ हे मेरे प्यारे चित्त, तुम स्वभाव से ही जड़ हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षी के द्वारा बोधित होते हो, क्योंकि आत्मा ही अपना अपने से भोक्ता, भोग्य, कारण, उपकारण आदि जगत् के रूप से स्वप्न की नाईं सर्जन करता है ॥४२॥ हे चित्त, आत्मारूपी परमात्मा ही निरन्तर तुम्हें चिदाभास-व्याप्ति से बोध प्रदान करते हैं, क्योंकि सैकड़ों बार आवृत्ति करके भी पण्डित लोगों को मूर्खों को बोध देना ही चाहिए ॥४३॥

इसलिए बोधसत्ता के अधीन ही तुम्हारा नाम और रूप से स्वरूप-लाभ है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, चूँकि इस ब्रह्माण्ड में केवल बोधमात्रस्वरूप आत्मसत्ता ही स्फुरित होती है, इसलिए उसी आत्मसत्ता से तुमने नाम और अर्थ को प्राप्त कर अपना अस्तित्व बना रक्खा है ॥४४॥

इस स्थिति में हे चित्त, आत्मा ही अपने ज्ञान से तुम्हारे जैसा हुआ है और अपने ज्ञान से तुम्हारे भाव से मुक्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, इस प्रकार तुम अज्ञानरूपी आत्मशक्ति से ही प्राप्त हुए हो। ज्ञान होने पर तुम ऐसे गलित हो जाते हो, जैसे तीव्र धूप में हिम ॥४५॥ इससे तुम तत्त्व रहित हो, तुम मूढ़ हो और परमार्थ दशा में तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए तुम्हे 'मैं तत्स्वरूप हीं हूँ' ऐसा निरर्थक तादात्म्य अध्यास, जन्म आदि दुःख के लिए, मत होवे ॥४६॥ ऐन्द्रजालिक लता की नाईं चित्त की कल्पना मिथ्या है। इस ब्रह्माण्ड में विज्ञान मात्रस्वभाव ब्रह्म का ही स्वरूप सर्वोपरि विराजित है ॥४७॥ ब्राह्मीशक्ति से यानी चितिशक्ति से युक्त माया ही मनुष्य, देवता और समस्त जगत्रूपों से आविर्भूत है। और तत्-तत् रूपों से वह ऐसी गरजती है, जैसे समुद्र के तरंगों के कलोलों से संवलित तट गरजता हो ॥४८॥

हे मूढ़ यदि तुम आत्मतत्त्व के परिज्ञान से चिन्मय हो जाओगे, तो चिद्भेद सम्पादक कारण के न रहने से तुम उस परम पद से निरन्तर अव्यतिरिक्त स्वरूपवाले ही हो जाओगे, फिर किस विषय में तुम

शोक करते हो ॥४९॥

उस समय अप्राप्त विषयों का अभाव होने के कारण विषयशून्य शोक की संभावना हीं नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

हे अज्ञानी चित्त, वह परम पद सर्वत्र जानेवाला, अतीत एवं अनागत सब पदार्थों में स्थिति रखनेवाला यानी काल कृत परिच्छेद से शून्य और सबका स्वरूपभूत है, उसकी प्राप्ति हो जाने पर सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है ॥५०॥ हे चित्त, इस समय ब्रह्म से न तो तुम पृथक् हो और न देह ही पृथक है, किन्तु व्यापक एवं प्रकाश स्वभाव ब्रह्म रूप ही सब हैं। चूँकि यहाँ 'अहम्', 'त्वम्' इस प्रकार का व्यवहार क्रियारहित ब्रह्म में स्फुरित होता है, इसलिए किसको क्या दुःख होगा ॥५१॥

कहे गये दोनों कल्पों को फिर स्पष्ट कहते हैं।

हे चित्त, तुम यदि आत्मस्वरूप हो जाओगे, तो तत्स्वरूप ही रहोगे, क्योंकि इस संसार में सर्वत्र व्यापक केवल आत्मा का ही अस्तित्व है, उससे भिन्न दूसरे किसी का अस्तित्व नहीं है। यदि कहो कि जड़ का अस्तित्व है, तो वह पृथक् तत्त्व ही नहीं है, परन्तु ब्रह्मरूप ही है। समस्त तीनों जगत् आत्मस्वरूप ही हैं, आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। इसलिए यदि तुम आत्मा से पृथक् किसी वस्तु के रूप में अपने को मानोगे, तो तुम कुछ भी नहीं हो यानी तुम परमार्थ रूप हो ही नहीं ॥५२,५३॥ हे चित्त, मैं बाल शरीर हूँ, मैं वृद्ध शरीर हूँ, बाल शरीर के सम्बन्धी क्रीड़ा के उपकरण आदि और वृद्ध शरीर के सम्बन्धी पुत्र, पौत्र आदि मेरे हैं इस प्रकार निरर्थक इच्छा क्यों करते हो, क्योंकि आत्मस्वरूप हो जानेवाले की दृष्टि में देह पारमार्थिक नहीं रहती, क्या असत्–शरीर यानी असत् स्वरूपवाला कहीं प्रस्फुरित होता है ? यदि कहो कि हाँ, तो बतलाओ कि कौन खरगोश के सींग के द्वारा मारा गया ॥५४॥

तब चित् और अचित् से पृथक् तृतीय स्वरूपवाला ही मैं क्यों न होऊँ, तो इस पर कहते हैं।

हे शठ, जैसे इस जगत् में छाया और धूप इन दो के बीच में से किसी एक का ही अनुरंजन (सम्बन्ध) सब पदार्थों में रहता है, तीसरे किसी का अनुरंजन नहीं रहता है, वैसे ही चित् और जड़ इन दो अंश–कलनाओं को छोड़कर भिन्न तीसरी कोई कलना ही नहीं रहती ॥५५॥

तब मेरा तात्त्विक स्वरूप क्या है ? ऐसी चित्त की आशंका होने पर 'अन्तिम आत्मसाक्षात्कारात्मक वृत्ति से अविद्या के साथ तुम्हारी जड़ता और तुम्हारे अन्दर रहनेवाले चिदाभासका क्षय हो जाने पर चरम साक्षात्कार से आविर्भूत जो स्वप्रकाश पूर्णात्मा का स्वरूप है, वही तुम्हारा तात्त्विक स्वरूप है, वही तुम हो, ऐसा कहते हैं।

त्रिकाल में बाधित न होनेवाले आत्मा के साक्षात्कार से चित्त और उसकी जड़ता का क्षय हो जाने पर उससे (चरम यथार्थ साक्षात्कार से) आविर्भूत स्वसंवेदनमात्र स्वरूप है, वही चित्त का तात्त्विक स्वरूप है ॥५६॥ हे मूढ़, इस कारण तुम्हारे में न तो कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व ही है। तुम उक्त परब्रह्मस्वरूप ही हो, इससे मूर्खता का परित्याग करो और आत्मवान् हो जाओ ॥५७॥

यदि मैं आत्मस्वरूप ही हूँ, तो 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मन से ही आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए), 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (मन से ही इसको प्राप्त करना चाहिए) इत्यादि श्रुतियों में मुझको आत्म–प्राप्त का उपकरण क्यों बतलाया गया है ? तो इस पर कहते हैं।

अज्ञान दशा में ही आत्मशास्त्र और आचार्य के द्वारा किये गये उपदेशों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए कारणरूप से कल्पित तुम्हारे द्वारा आत्मा शुद्धस्वरूप अपने तत्त्व को अन्तिम साक्षात्कार का विषय करता है, यह उक्त श्रुति द्वारा कहा जाता है। जैसे अपने मुख के स्वरूप को देखने की इच्छा करनेवाला पुरुष दर्पणरूप उपाधि के ऊपर अधिरूढ़ अपने मुखरूप ही करण से मुख को देखता है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए ॥५८॥

यदि तुम करणों का स्वभाव ही अपना स्वभाव मानते हो, तो चलने में भी तुम्हारी स्वतः सामर्थ्य नहीं है, इसलिए तुम्हारा कर्तृत्व–अभिमान व्यर्थ ही है ऐसा उपपादन करते हैं।

स्वतःस्पन्दन–शक्ति से रहित, असत्–स्वरूपवाला तथा अवलम्बन वर्जित जड़रूप करण चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्तव्यार्थ–प्रकाश के बिना स्पन्दन नहीं कर सकता ॥५९॥ कर्ता के द्वारा अधिष्ठित न हुए इस करण में किसी प्रकार की शक्ति नहीं रह सकती, काटनेवाला यदि न हो तो क्या हँसुए में कुछ करने की शक्ति रह सकती है ॥६०॥ हे चित्त, खड्ग प्रहार और तदुत्तरभावी छेदन क्रिया के लिए पुरुष में ही शक्ति है। अत्यन्त जड़ तलवार में मूल से लेकर समस्त अवयवरूप उपकरणों के होते हुए भी उक्त शक्ति नहीं रह सकती ॥६१॥ हे मित्र, तुम कर्ता नहीं हो, इसलिए निरर्थक दुःखभागी मत होओ। हे मूर्ख, पामर के सदृश प्रकृति के कार्यों में दूसरे के लिए क्लेश सहन शोभा नहीं देता ॥६२॥

यदि शंका हो कि मोह से जीवरूपता को प्राप्त हुए अशनाया आदि से पीड्यमान ईश्वर की मैं उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ अतः उसके लिए अनेक प्रयत्नों से संघटित हो रहा मैं ईश्वर के विषय में शोक करता हूँ, तो इस पर कहते हैं।

जो तुम्हारे सदृश होगा, उसी के लिए तुम्हें शोक करना चाहिए, ईश्वर तो तुम्हारे सदृश है नहीं, अतः उसका क्या शोक करोगे। क्योंकि न तो उसका कोई कृत कर्म से ही यहाँ प्रयोजन है और न कोई अकृत अकर्म से ही प्रयोजन है ॥६३॥ हे चित्त, कार्यकारणसंघात केअभिमान से 'इस आत्मा का मैं उपकार करता हूँ' इस भ्रम से तुम परिच्छिन्न बुद्धि को पीड़ित करते हो संघात में रहनेवाले पाँच प्राँण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रिय सभी अचेतन होने के कारण उनका भोगों से कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिए किसी का किसी के लिए कुछ भी उपयोग नहीं होता, यह भाव है ॥६४॥

अतः परिशेष से ईश्वर के लिए ही तुम्हें प्रवृत्ति कहनी चाहिए, पर उसका तो उत्तर कहा ही गया है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, यदि तुम्हारा यह अभिप्राय है कि भोग के स्वामी कर्ता परमात्मा के लिए मेरी तथोक्त प्रकार की अर्थों में प्रवृत्ति है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भोग के स्वामी परमात्मा की कुछ भी इच्छा नहीं है, कारण कि वह सदा ही तृप्त है ॥६५॥

परमात्मा परिपूर्ण और अद्वितीय है, अतः उसको इच्छा नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

स्वभावतः प्रकाशस्वभाव, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चैतन्यात्मा ने ही इस समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रक्खा है, इसलिए दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है ॥६६॥

समस्त जगत् की परमात्मा ने ही अपने स्वरूप में कल्पना की है, अतः कोई वस्तु अलभ्य न होने से परमात्मा को जगत् में किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अविद्याप्रयुक्त एक और अनेक के प्रकाशक समस्तस्वरूप आत्मा ने अपनी ही आत्मा के अन्दर जगत् का निर्माण किया है, ऐसी स्थिति में सब कुछ प्राप्त होने से अन्तरात्मा किसकी इच्छा करेगा ॥६७॥

यदि सभी कुछ ईश्वर का ही है, तो उसमें मेरी इच्छा कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

हे चित्त, तुम्हारे जैसे मूर्खों की दृष्टि से ही इस जगत् में व्यर्थ क्षोभ उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार राजा की स्त्री को देखकर मूर्ख युवा को मदमयी अवस्था उत्पन्न होती है ॥६८॥

तब उस परमात्मा के ही साथ सम्बन्ध स्थापन कर मैं उसके अनुग्रह से भोगों को प्राप्त करूँगा। इस पर कहते हैं।

(आत्मा के साथ सम्बन्ध बाँधने की इच्छा के कारण) हे सुन्दर चित्त, तुम आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध करने की इच्छा रखते हो, परन्तु तुम उसके सम्बन्धी यानी सम्बन्ध के योग्य उसी प्रकार नहीं हो सकते, जिस प्रकार कुसुम के सम्बन्ध के योग्य फल नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि कुसुम से उत्पन्न हुआ भी फल कुसुम से बहिर्मुख होने के कारण कुसुम में रहनेवाले सुगन्धि आदि के उपभोग हेतु सम्बन्ध के योग्य नहीं होता, क्योंकि फल की अभिवृद्धि होने पर कुसुम का तिरोभाव हो जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए ॥६९॥

सम्बन्ध की अयोग्यता का उपपादन करने के लिए मुख्य सम्बन्ध का लक्षण कहते हैं।

हे चित्त, एक पदार्थ की क्रिया से या उभय पदार्थों की क्रियाओं से एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ मे मिल जाने से एक का दूसरे में जो अन्तर्भाव हो जाता है या उस अन्तर्भाव से जो ऐक्य हो जाता है, वही सम्बन्धफलतः लक्षण है, यों सम्बन्धलक्षण विद्वानों के द्वारा कहा गया है। वैसा सम्बन्ध द्वैतावस्था में ही हो सकता है,पर अब द्वैत है नहीं, किन्तु अद्वैत है, अतः सम्बन्ध कैसे ? ॥७०॥ हे चित्त, तुम उक्त मुख्य सम्बन्ध में हेतु नहीं हो यानी मुख्य सम्बन्ध के लिए अयोग्य हो, क्योंकि तुम स्वतः एक प्रकार के नहीं हो, तुम्हारे कार्य भी नाना प्रकार के हैं और नाना प्रकार की विहित और निषिद्ध क्रियाओं की ओर झुकी हुई तुम्हारी सुख-दुःख दशाएँ भी चारों ओर से प्रसिद्ध हैं ॥७१॥ जो सम हैं, उनका यानी क्षीर और क्षीर का, जो अर्धसम हैं, उनका यानी क्षीर और नीर का भी परस्पर सम्बन्ध देखा गया है। परन्तु जो विलक्षण हैं यानी अग्नि और जल की नाईं अत्यन्त विरुद्ध हैं, उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विरोधियों का जमघट होने पर तो एक का विनाश ही देखा जाता है, सम्बन्ध का अवस्थान नहीं देखा जाता ॥७२॥

यदि शंका हो कि शब्द, स्पर्श, रूप आदि परस्पर विरुद्ध गुणवाले भी सूक्ष्म भूतों का पंचीकरण द्वारा जैसे सम्बन्ध होता है, वैसे ही मेरा आत्मा के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं होगा ? तो इस पर कहते हैं।

शब्द, स्पर्श आदि विरुद्ध गुणवान् पदार्थों में परस्पर विरुद्धता नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्यों के गुण भी परस्पर मेल मे पंचीकृत द्रव्यों का आश्रय करते हैं।

जैसे कहा है :

शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत्। शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते॥
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पंचगुणा मही॥

आकाश केवल शब्द गुणवाला है, वायु शब्द और स्पर्श गुणवाला है, तेज शब्द, स्पर्श और रूप - इन तीन गुणों से तीन गुणवाला कहा जाता है, जल शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार गुणों से युक्त है

और पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच गुणों से युक्त है। प्रकृत में संवित् और जड़ता का विरोध होने से जड़रूप तुम्हारे द्वारा यदि संवित् च्युत हो जायेगी तो साधक के भाव से जड़ अंश सिद्ध ही नहीं होगा, ऐसी स्थिति में तुम्हारी ही असिद्धि का प्रसंगरूप दुःख प्राप्त हो जायेगा। यदि संवित् के द्वारा तुम च्युत हो जाओगे तो तुमने अपने ही विनाश के लिए आत्मसम्बन्ध की इच्छा की, यह प्राप्त होगा। इसलिए आत्मा के साथ सम्बन्ध चाहनेवाले तुम दोनों प्रकार से भी संवित् से च्युत न हो, यह तात्पर्य है ॥७३॥ अथवा आत्मज्ञान से तुम्हारे जैसे दुःखप्रद दृश्यों का उच्छेद हो जाने पर दुःखशून्य निरतिशय आनन्दात्ममात्र का परिशेष रह जाता है। यदि इतने से तुम सन्तुष्ट रह सकते हो, तो एकाग्र ध्यान से दीर्घकाल तक विच्छिन्न समाधि से युक्त होकर आत्मदर्शी हो जाओ ॥७४॥

तुमको समाधि में ही सुख है, न कि संकल्पोन्मुखता में, क्योंकि शिला के ऊपर गिरा हुआ झरने का जल जैसे शिला से टकराकर अनेक तरह विभक्त हो जाता है, वैसे ही संकल्पों के द्वारा देह आदि के ऊपर गिरी हुई संवित् इन्द्रियों के दरवाजों से अनेक तरह विभक्त होकर विशीर्ण–सी हो जाती है, अतः वही दुःख है, ऐसा कहते हैं।

पाषाण के सदृश जड़ मन, देह, इन्द्रिय आदि में संकल्पोन्मुखता को तुम दुःखप्रद संवित् की च्युति समझो ॥७५॥

यदि शंका हो कि मैं संकल्प नहीं करता, किन्तु कर्तृत्वस्वभाव से आत्मा ही संकल्प करता है, तो यह शंका युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, कल्पनारूपी पंक से वर्जित तथा संकल्पादि मनन के ध्वंसरूप आत्मा में कर्तृता कैसी, क्या कहीं आकाश में पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? ॥७६॥ जैसे आकाश में हाथ, पैर आदि अंग हो ही नहीं सकते, वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व हो ही नहीं सकता। हे चित्त, तुम्हारे ही द्वारा कल्पित अनेकरूपता और एकरूपता से यह आत्मा अपने में केवल स्फुरित ही होता है, कल्पना नहीं करता ॥७७॥ जैसे समुद्र अपने अन्दर जलस्वरूप फेन, बुद्बुद् और तरंगों से स्फुरित होता है, वैसे ही आभासमात्र स्वरूप सर्वात्मक इस चिदात्मा में जगत् स्फुरित होता है ॥७८॥ जैसे समुद्र में तप्त अंगार नहीं रह सकता, वैसे ही आत्मा में दूसरी कोई कल्पना ही नहीं रह सकती, इस प्रकार जब आत्मदेव में कल्पना का अभाव है तथा मन एवं देह जड़ हैं, तब विवेक दृष्टि से यह अन्य है, यह अन्य नहीं है, यह शुभ है, यह अशुभ है 'इत्यादि असत् कल्पनाएँ कल्पक के भाव से ही नहीं रह सकती। ऐसी स्थिति में हे सुन्दर चित्त, संवेद्य से निर्मुक्त संवित् ही सारभूत वस्तु है, दूसरी नहीं ॥७९,८०॥ हे चित्त, जैसे आकाश में अरण्य नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त सत् कल्पनाएँ आत्मा में हैं ही नहीं, संवेद्य से वर्जित केवल संवित् ही इस जगत् के रूप में विस्तृत हुई है, इसलिए उसमें यह मैं हूँ, यह अन्य है' इस प्रकार की असत् कल्पनाओं का अवसर ही कैसे हो सकता है ? ॥८१॥ हे चित्त, अनादि रूपवर्जित, सर्वगामी और व्यापक आत्मा में कल्पनाओं का कौन आरोप कर सकता है ? क्या आकाश में ऋग्वेद आदि लेख्यमात्र को कोई लिपी बद्ध कर सकता है ? ॥८२॥

हे चित्त, अपने निर्मल स्वभाव से तुमने जब असंदिग्ध और प्रत्यक्ष रूप से यह जान लिया कि वस्तुरूप से प्रसिद्ध तथा पद और अर्थों में सारभूत केवल संवित्स्वभाव आत्मा ही समस्त दिशाओं को

पूर्ण कर स्थित है, तब मेरे सुख-दुःखों के लेश उस प्रकार क्षीण हो गये, जिस प्रकार मृगतृष्णा में प्रतीत जल, रज्जु में प्रतीत सर्प और शुक्तिसीपी में प्रतीत रजत सत्यज्ञान से क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि निश्चय ही पूर्वोक्त सुख-दुःख प्रत्यय भ्रान्तिरूप है, यथार्थ नहीं हैं ॥८३॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

चित्त और इन्द्रियों के रहते समस्त दोषरूपी अनर्थों की प्राप्ति होती है और उनके अभाव में समस्त गुणरूपी सुख की प्राप्ति होती है, यह वर्णन।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मुनियों में श्रेष्ठ धीर उस वीतहव्य मुनि ने विशुद्ध धारणा से समन्वित बुद्धि से एकान्त में स्थित होकर पुनः अपनी इन्द्रियों को सुन्दर रीति से यह बोधन किया ॥१॥ हे श्रीरामजी, इन्द्रियों के लिए उक्त मुनि वीतहव्य ने एकान्त में स्थित होकर जो बोध-प्रदान किया था, उसको मैं आप से स्पष्ट कहता हूँ , उसे श्रवण कीजिये। श्रवण करने से आप उस भावना को प्राप्त होकर मुक्त हो जाइए ॥२॥ हे इन्द्रियवृन्द, आप लोगों की यह जो विचार दृष्टि से प्रसिद्ध आत्मसत्ता है यानी अपना अस्तित्व है, वह जीवनकाल में अनर्थरूप दुःख का हेतु है और उसके बाद फिर-फिर मृत्यु, नरक आदि को देनेवाला है, इसलिए पूर्व में प्रदर्शित सद्विचार से आप लोग अपनी उक्त मिथ्याभूत सत्ता का परित्याग कर दीजिए ॥३॥ मेरे पूर्व में किये गये आत्मतत्त्व के उपदेश से आप लोगों की यह मिथ्याभूत सत्ता विनाश को प्राप्त ही हो गई, ऐसा मैं मानता हूँ, क्यों कि आप अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं, अतः उपदेश से अज्ञान का विनाश हो जाने पर सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥४॥

अब चित्त के प्रति भी वैसा उपदेश देते हैं।

हे तुच्छ चित्त, तुम्हारी अपनी सत्ता केवल तुम्हारे दुःख के लिए ही स्पष्टरूपता को उस प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार जलते समय तप्त कांचन की नाईं प्रज्वलित होकर शब्द करनेवाली अग्नि में की गई क्रीड़ा बालक और पक्षियों के पार्श्वभाग के दाह के लिए होती है ॥५॥

चित्त और इन्द्रिय समुदाय की सत्ता से हुई अनर्थ-परम्परा को दिखलाते हैं।

हे चित्त, तुम देखो कि तुम्हारा अस्तित्व होने पर भ्रमणशील मूर्खों के राग, द्वेषादि तरंगों से व्याप्त संसारूपी नदियों का समूह कालरूपी विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो रहा है ॥६॥ देखिए, परस्पर एक दूसरों के अहंकारों से होनेवाले एक दूसरों के वध, पराजय, उत्पीड़न आदि की चिन्ताओं से युक्त दुःख की पंक्तियाँ कहीं से उस प्रकार गिर रहीं है, जिस प्रकार महावृष्टि की धाराएँ गिर रही हों ॥७॥ असीम, हृदय का उन्मूलन करने में उद्यत, भीषण क्रन्दन करानेवाली तथा क्रूर संपत्ति-विपत्तिरूपी महामारी चारों ओर से प्रस्फुरित हो रही है ॥८॥ इस शरीररूपी जर्जर वृक्ष के ऊपर निर्मल तथा प्रकाशमान जरा-मरणरूपी मंजरी विकसित हो रही है, जिसमें कास-श्वास (खाँसी) रूपी गूँज रहे भ्रमर विद्यमान हैं ॥९॥ मनोरथों के तरंगरूपी सर्पों से वेष्टित, निहाररूपी यानी निबिड़ जड़तारूपी इन्द्रियों के छिद्ररूपी द्वारों से युक्त शरीर के कोटर में (हृदय में) जालनिर्माण में व्यग्र, चपल चिंतारूपी मकड़ी अपने भीतर घूम रही है ॥१०॥ लोभरूपी अपने विलासों से शब्द कर रहा चित्तरूपी पक्षी सुख-दुःखरूप तीक्ष्ण

चोंच से शम, दम, धर्मादि फलों के पुष्परूपी गुण समूहों को कतर रहा है ॥११॥ अपवित्र, दुष्ट आचरण करनेवाला कामरूपी कर्कश मुर्गा राग आदि वासनाओं से व्याप्त मनरूपी कूड़े के ढेर को इधर–उधर विस्तृत कर देता है यानी बार–बार अपने पैरों से फैला देता है ॥१२॥ मोहरूपी महारात्रि में भयावह अज्ञानरूपी उल्लू हृदयरूपी वृक्ष के ऊपर श्मशान में वेताल की नाईं चारों ओर से गरज रहा है ॥१३॥ हे इन्द्रियगण, आप लोगों के विद्यमान रहते ये और इनसे दूसरी भी बहुत सी अशुभ–श्रियाँरात्रि में पिशाचिनियों की नाईं गरजती रहती हैं ॥१४॥

अब चित्त और इन्द्रियगणों के न रहने पर समस्त गुणों की सम्पत्ति दिखलाते हैं।

हे साधो चित्त, तुम्हारे विद्यमान न रहते सम्पूर्ण शुभश्रियाँ (आगे कही जानेवाली गुणरूपीश्रियाँ) विवेकरूपी प्रकाश से युक्त उस प्रकार पूर्णरूप से विकसित होती है, जिस प्रकार प्रातःकाल में कमलिनियाँ ॥१५॥ मोहरूपी तुषार से वर्जित, निर्मल विवेक प्रकाश से समन्वित तथा मनरूपी रजोगुण से शून्य अब हृदयाकाशरूप ब्रह्म शोभित हो रहा है ॥१६॥ किसी प्रकार की आशंका के बिना आकाशमण्डल में पतित और वायु आदि से आकुलित वृष्टि धाराओं की नाईं विक्षेपों के हेतु विकल्प–समूह अब नहीं गिरते हैं ॥१७॥ सबको आनन्द देनेवाली, शान्त, परम पवित्र (सब भूतों में) मैत्री हृदय में ऐसे उत्पन्न होती है, जैसे तरुवर में मनोहर मंजरी उत्पन्न होती है ॥१८॥ भीतर से छिद्रवाली यानी अपूर्णता से युक्त तथा जड़ता से भरे मूर्खों में विद्या, कौशल आदि गुणों का सम्बन्ध करानेवाली चिन्ता उस प्रकार सूख रही है, जिस प्रकार हिमदग्ध कमलिनी ॥१९॥ अज्ञान का विनाश होने पर हृदय में अपने ज्ञान का प्रकाश उस प्रकार प्रकटरूपता को प्राप्त हो रहा है, जिस प्रकार शरत्काल में मेघों के शान्त हो जाने पर आकाश में सूर्यमण्डल प्रकटरूपता को प्राप्त होता है ॥२०॥ वायु के शान्त होने पर समुद्र जैसे समता को प्राप्त करता है, ऐसे ही प्रसन्न, विशाल गाम्भीर्य से युक्त, क्षोभशून्य तथा विषमता के सम्पादक हेतुओं से पराजित न हुआ मन समता को प्राप्त करता है ॥२१॥ आत्मारामरूपी अमृत–प्रवाह से पूर्ण तथा अविनाशी आनन्द से प्रचुर पुरुष शीतलता से युक्त होकर भीतर उस प्रकार स्थित रहता है, जिस प्रकार शीतल चन्द्रमा ॥२२॥ अज्ञान का विनाश हो जाने पर आत्माकार वृत्तियाँ भीतर से पूर्णता के सम्पादक विकास को प्राप्त करती है और उससे समग्र चराचरयुक्त जगत् बाधित होकर केवल संविदंशमात्र में विश्रान्त हो जाता है ॥२३॥ केवल संविन्मात्र में विश्रान्ति हो जाने पर आत्मस्वरूप का, जो निरतिशय आनन्द से व्याप्त है, पूर्णरूप से अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव आशारूपी फाँसी को उत्पन्न करनेवाले प्राण–सम्बद्ध देह आदि विद्यमानता–दशा में नहीं होता , अथवा संविदेक–विश्रान्ति हो जाने पर शरीर ब्रह्मानन्द के आविर्भाव से मन्थर (भारी) होकर मानों अमृत के प्राशन से भरिताकार (पूर्णरूप) अनुभूत होता है, परन्तु यह अनुभव अन्न, पान आदि आशारूपी पाशों का निर्माण करनेवाले आसक्ति–प्रयोजक प्राण आदि पापों की विद्यमानता–दशा में नहीं होता ॥२४॥ दावाग्नि से जिन वृक्षों के पत्ते और रस दग्ध हो गये हैं, उन वृक्षों मे वर्षा होने पर पुनः पल्लव और रसों का जिस प्रकार आविर्भाव हो जाता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जिनका संसार, जरा और जन्मों से उपलक्षित महामार्ग नष्ट हो गया है, उन तत्त्वज्ञों में भी आरोग्य, तुष्टि, पुष्टि, कान्ति आदि गुणों का पुनः आविर्भाव हो जाता है ॥२५॥

निरतिशय आनन्दरूपी आत्मा में पुनरावृत्तिशून्य विश्रान्ति ही समस्त गुणों की अवधि है, उसके प्रसंग से तत्त्वज्ञ महापुरुष में दूसरे भी अनन्त गुण आ जाते हैं पर उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

तत्त्वज्ञ पुरुष फिर जन्म न हो, इसलिए आत्मारूपी वृक्ष के ऊपर चिरकाल तक विश्रान्ति करता है। (हे चित्त, तुम्हारा विनाश हो जाने पर) इस तरह की एवं अन्य तरह की अनेक शुभ गुणों की सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥२६॥ हे सर्वभक्षक चित्त, समस्त आशारूपी क्षयरोग को आश्रय देनेवाले तुम्हारे अस्तित्व के मिट जाने पर (सर्वविध गुण प्राप्त हो जाते हैं, यह बात निश्चित हुई) हे चित्त, अब तुमसे कहता हूँ कि इन दो पक्षों में से यानी आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थिति और आत्यन्तिक निरात्मत्व का स्वीकार इन दोनों पक्षों में से तुम जिस किसी पक्ष से अपना कल्याण देखो उसीका क्षण भर में आश्रय ले लो ॥२७॥ मैं तो यह मानता हूँ कि हे मानियों में श्रेष्ठ चित्त, आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थित ही तुम्हारे लिए सुख प्रद है। अतः हे चित्त, तुम उसी अभाव की (भावान्तर शून्य आत्म स्थिति की) भावना करो, क्योंकि सुख का त्याग करना महामूर्खता है ॥२८॥

यदि शंका हो कि चेतन का अपने अन्दर अन्तर्भाव करनेवाले पूर्वसिद्ध मनोरूप से मेरा जीवन तुम क्यों नहीं चाहते और मेरा आत्यन्तिक अभाव क्यों चाहते हो, तो इस पर कहते हैं।

हे चित्त, तुम्हारा अन्तर्भावित चेतनस्वरूप जो प्रसिद्धरूप है, वह यदि सत्य होता, तो उस रूप से जी रहे तुम्हारा अभाव कौन चाहता। हे सुन्दर, परन्तु तुम उस रूप से नहीं हो, यानी असत् हो, यह मैं श्रुति, शास्त्र आदि के अनुभव से विचार कर तुमसे कहता हूँ, ऊपर ऊपर से नहीं कहता हूँ; *(इस आत्यन्तिक आत्मभाव से अवस्थान तुम्हारे लिए हितकारक भी है, ऐसा कहते हैं)* हे चित्त, इससे 'मैं जीता हूँ' इस प्रकार की मिथ्या आशा से तुम फूलो मत। जब तुम पहले से ही कल्पित हो, तुम्हारी सत्ता है ही नहीं, तब जो तुम्हारा अस्तित्व है, वह भ्रममूलक ही सिद्ध होता है। हे चित्त,अब वही भ्रान्ति विचार से आत्यन्तिक विनाश को प्राप्त हो गई॥२९-३१॥ हे साधो, तुम्हारा स्वरूप इतना ही है कि आत्मस्वरूप का विचार न करना। आत्मा और अनात्मा का भली प्रकार विचार करने पर तुम्हारे स्वरूप की सन्मात्ररूप तथा विक्षेपात्मक विषमता से शून्य स्थिति हो जाती है॥३२॥ विचार न करने पर तुम उस प्रकार उत्पन्न होते हो, जिस प्रकार प्रकाश के न रहने पर अन्धकार। हे चित्त, विचार से तुम्हारा स्वरूप उस प्रकार शान्त हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार का स्वरूप ॥३३॥ हे सखे, इतने समय तक तुम्हारे स्वरूप के विषय में बहुत कम विवेक रहा, इसलिए तुम्हारे स्वरूप का अल्प विवेक होने के कारण ही दुःख की हेतु तुम्हारी मोटाई उस प्रकार उत्पन्न हुई, जिस प्रकार मोहजनित संकल्पमात्र से बालक के शरीर में वेताल उत्पन्न होता है, तुम्हारे मोटेपन से सुख-दुःख आदि द्वन्द्व, जो ब्रह्माजी के द्वारा किये गये पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के संकल्प से संकल्प समय में ही नश्य सिद्ध हो जाने के कारण विनाशी हैं। जिस विवेक के प्रसाद से ज्ञानोदय क्षण में अविद्याजनित प्राक्तन अपने स्वरूप का विनाश होने पर नित्य यानी आदि और अन्त से शून्य आत्मा के स्वरूप का आविर्भाव हुआ उस विवेक को बार-बार नमस्कार हैं ॥३४-३६॥ हे तुच्छ चित्त, बहुत करके तुम स्वयं भी अब प्रबुद्ध हो चुके हो और शास्त्र से ही बोधित हो गये हो। चित्तता के विनष्ट होने पर तुम परमेश्वर स्वरूप हो। पूर्व में भी परमेश्वर स्वरूप

ही थे, वर्तमान काल में भी कल्याण के लिए बोध से तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूपविलास (परमेश्वरस्वरूपत्व) प्राप्त हुआ है, इसलिए समस्त वासनाओं से मुक्त तुम साक्षात् महेश्वर ही हो, दूसरे नहीं हो ॥३७,३८॥ जिसकी अविवेक से उत्पत्ति होती है, उसका विवेक से विनाश हो जाता है। प्रकाश से अन्धकार विनाश को प्राप्त होता है और प्रकाश का अभाव होने पर अन्धकार हो जाता है ॥३९॥ हे साधो, तुम्हारे परिच्छिन्न रहने पर भी विचार के दृढ़ होने पर सुख की सिद्धि के लिए तुम्हारा चारों ओर से यह विनाश प्राप्त हुआ ॥४०॥ इसलिए सिद्धान्तभूत युक्तियों से यह निर्णीत हुआ कि तुम असत् ही हो। हे इन्द्रियों के स्वामी चित्त, तुम संसार से पार हो जाओ, तुम्हारा कल्याण हो ॥४१॥

चित्तेन्द्रिय के स्थान में यदि 'वित्त्वेन्द्रिय' यह पाठ हो तो सिद्धान्तभूत युक्तियों से अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर संसार से पार हो जाओ, यह अर्थ करना चाहिए। मन की तीनों कालों में सत्ता नहीं है, यह कहते हैं।

पहले जो कभी भी नहीं था, वर्तमान में भी जो असत् है, उत्तरकाल में भी जिसकी होने की सम्भावना नहीं है, ऐसे हे स्वकीय मन, तुम्हारा कल्याण हो ॥४२॥

चित्त की असत्ता से ही पुरुषार्थ सिद्धि बतलाते हैं।

सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता–ज्वरों से निर्मुक्त हुआ हूँ, शान्त हुआ हूँ, और चारों ओर से तृप्त हो गया हूँ, तुरीयपद में स्थित मैं अपनी आत्मा में स्थित हो गया हूँ ॥४३॥ इसलिए इस संसार में जिसकी स्थिति हो ही नहीं सकती, वह चित्त है ही नहीं, है ही नहीं। आत्मा तो अवश्य ही है, अवश्य है ही, आत्मा को छोड़ कर और कुछ भी उससे भिन्न नहीं है ॥४४॥

यह आत्मा है, मैं तत्स्वरूप ही हूँ, मुझसे पृथक् दूसरा कुछ भी कहीं नहीं है। प्रकाशमान चित्स्वरूप बोधात्मा मैं ही सदा सर्वत्र रहता हूँ ॥४५॥

शुद्धचिदेकरस आत्मा में 'यह आत्मा है' इस प्रकार की जब कल्पना ही नहीं हो सकती, तब दूसरी कल्पनाओं के विषय में तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

सर्वविध मलों से वर्जित आत्मा के अन्दर 'यह आत्मा है' इस प्रकार की कल्पना ही नहीं हो सकती, यह मैं मानता हूँ, क्योंकि यह एक अद्वितीय आत्मा में प्रतियोगी के भेद से होनेवाली यानी अन्य वस्तु की सत्ता से होनेवाली कल्पना कैसे हो सकती है ॥४६॥

इसलिए परमात्मा वाणी का भी अविषय है, ऐसा कहते हैं।

उसी कारण से यानी अद्वितीय वस्तु में कोई कल्पना नहीं हो सकती, इस कारण से 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पना के अभिव्यंजक शब्दों का उच्चारण न करता हुआ मैं मौनी होकर उस प्रकार अपने स्वरूप में स्थित रहता हूँ, जिस प्रकार जल में तरंग ॥४७॥ मैं अपने हृदय में जड़ अंश से शून्य, जडांश की हेतु अविद्या का भी बाध हो जाने के कारण वासना से वर्जित, चिदाभास के भी पृथक् न रहने से चेतनांशता के आश्रय से वर्जित उसके अधीन क्रियाशक्ति का भी उपराम होने के कारण प्राण संचरण से शून्य, भेदक का अभाव होने के कारण भेदांश से शून्य, एकरस, चिन्मात्र स्वरूप, जगत् के बाध के आश्रयरूप से परिशिष्ट संविदंश को प्राप्त कर मन की चेष्टा और वाणी के व्यापार से शून्य होकर विश्रान्ति लेता हूँ ॥४८॥　　तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

वीतहव्य महामुनि की समाधि का, पृथ्वी के विवर में स्थिति का तथा उसके हृदय में विद्याधरत्व, इन्द्रत्व,गणत्व आदि के अनुभव का वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : भद्र उस प्रकार निर्णय कर वह मुनि वीतहव्य समस्त वासनाओं को छोड़कर विन्ध्याद्रि के गह्वर कोटर में समाधि लगाकर उसमें अटल रहे ॥१॥ उस समय महामुनि वीतहव्य किसी प्रकार के क्षोभ से शून्य परिपूर्ण संवित् प्रकाशरूप आनन्द युक्त होने के कारण अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ते थे, उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था, अतएव ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है ॥२॥ इस महामुनि का क्रमशः प्राणसंचार भीतर हृदय में ही उस प्रकार शान्त हो गया, जिस प्रकार इन्धन के जल जाने पर अग्नि में ज्वालाओं के समूह का संचरण शान्त हो जाता है ॥३॥

महामुनि वीतहव्य के, अर्धउन्मीलित नेत्रों का वर्णन करते हैं।

महामुनि वीतहव्य के चंचलताशून्य दो नेत्र अत्यन्त अन्तर्निष्ठ निमीलित नहीं थे अर्थात् आधे मूँदे हुए थे। (इससे उनके नेत्र बाह्य विषयों में लगे होंगे, यह भी नहीं) बाह्य विषयों में भी लगे नहीं थे, शेष यानी उन्मीलित अंश से अतिरिक्त अंशों से उनके नेत्रों ने भीतर स्थिति प्राप्त की थी यानी अन्तर्मुख-स्थिति प्राप्त की थी ॥४॥ महामुनि वीतहव्य के दोनों नेत्र ऐसे लक्षित होते थे मानों उनका स्वल्प से भी स्वल्प प्रकाश नासिका के अग्रभाग में दोनों ओर बराबर फैला हुआ है। इससे वे आधे विकसित पद्मों के सदृश शोभा को प्राप्त कर रहे थे ॥५॥ महाबुद्धि वीतहव्य ने अपने आसनबन्ध में शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रक्खा था, इसलिए वे ऐसे मालूम पड़ते थे, जैसे पर्वत से खोदी गई अथवा चित्र में लिखी गई मूर्ति हो ॥६॥ श्रीरामजी, विन्ध्याद्रि के किसी झरने के समीपस्थ प्रदेश के कोटर में उस प्रकार की समाधि का अनुष्ठान कर रहे उक्त महामुनि के तीन सौ संवत्सर आधे मुहूर्त की नाईं व्यतीत हो गये ॥७॥ आत्मवान् ध्याननिमग्न उस मुनि ने जीवन्मुक्तता के कारण इतने काल को कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीर का त्याग भी नहीं किया ॥८॥ योग के रहस्य को जाननेवाले परमभाग्यशाली वह मुनि महान् मेघों के चारों ओर फैलनेवाले शब्दों से भी; बरस रही वृष्टि की धाराओं के सम्पात से जनित घरघर शब्दों से भी, शिकार खेलने के समय आये हुए समीपस्थ प्रदेशों में रहनेवाले सामन्तों के मतवाले हाथियों के गर्जनों से भी, पक्षी और वानरों की किलकिलाहटों से भी, जंगल के हाथियों मातंगों के (परस्पर संघट्टन से जनित) अव्यक्त शब्दों से भी, सिंहों के क्रोधपूर्वक गर्जनों से भी, झरनों की दिग्व्यापी घर्घराहट ध्वनि से भी, भयंकर वज्रपातों से भी, मनुष्यों के घन कोलाहलों से भी, प्रमत्त गेंडों के भयंकर शब्दों से भी, भूकम्प के द्वारा छिन्न भिन्न हुए पर्वत-तटों के आस्फालनों से भी, वन दाहों के समय अग्नि के संयोग और उससे उत्पन्न शब्दों से भी, जल-प्रवाहों से आहत पशु आदि के आस्फालनों एवं गर्जनों से भी, बड़े-बड़े पर्वत तटों के आघातों से भी, जलप्रवाहों के आन्दोलनों से प्राप्त धरणीतल से फिसले हुए मिट्टी से मिले जल के शैत्य से भी तथा अग्नि की नाईं कर्कश ग्रीष्म आदि के तापों से भी, उतने समय तक समाधि से जागे नहीं ॥९-१३॥ श्रीरामजी, प्रयोजन के बिना केवल अपनी इच्छा के अनुसार समय के बीतने पर और जल में तरंगों की नाईं एक-के पीछे एक यों अनेक बार वर्षाओं के

बरसने पर थोड़े ही समय में उक्त पर्वत की कन्दरा में वर्षा के ओघ से भी प्राप्त हुए कीचड़ ने इस महामुनि को पृथ्वी के भीतर यानी भूगर्भ में कर दिया अर्थात् प्रवेशित कर दिया। तात्पर्य यह हुआ कि वर्षा से बहाया गया कीचड़ इनके शरीर के चारों ओर ऐसा घना जम गया था, जिससे कि वे बाहर से नहीं दिखाई पड़ते थे, पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट हो गये थे ॥१४,१५॥ जिसके भीतर अनेक संकट भरे पड़े थे, ऐसे उक्त कोटर की भूमि में यह मुनि कीचड़ से संश्लिष्ट कन्धे से युक्त होकर उस प्रकार रहते थे, जिस प्रकार पर्वत के अन्दर शिला ॥१६॥ तदनन्तर तीन सौ वर्षों के बीत जाने पर पृथ्वी के कोटर में संश्लिष्ट वे स्वयं ही निग्रहानुग्रहसमर्थ तथा आत्मस्वरूपता को प्राप्त हुए महामुनि समाधि से जाग गये ॥१७॥

उस प्रकार संकटों के बीच में रहनेवाले उक्त मुनि का जीवन कैसे रहा ? इस पर कहते हैं।

इस महामुनि वीतहव्य की पृथ्वी से दबी हुई देह को जीवनादृष्ट से प्राप्त लिंग शरीर में प्रतिबिम्बित संवित् ने ही ग्रहण कर पालन किया, प्राण–वृत्तिरूप स्पंदन ने पालन नहीं किया, क्योंकि वह सूक्ष्म था, इसलिए प्राण–संसरण नहीं हो सकता था ॥१८॥

तीन सौ वर्षों के बाद उनका जो व्यवहार रहा, उसे कहते हैं।

तीन सौ वर्षों की समाधि के अनन्तर उसकी जीवरूपा संवित् ने अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के लिए हृदय के भीतर उन्मेष–क्रम से स्थूलता को प्राप्त कर अपने मन की स्वरूपभूत होकर आगे कहे जानेवाले समस्त विषयों का कल्पना के द्वारा हृदय में ही अनुभव किया ॥१९॥

उन्होनें जिसका अनुभव किया, उसे ही कहते हैं।

कमनीय कैलास पर्वत के कानन में एक कदम्बवृक्ष के नीचे सौ वर्षों तक उन्होंने अपने हृदय में मुनित्व का अनुभव किया जो जीवन्मुक्त आत्मा के कारण विमल था ॥२०॥ सौ वर्षों तक उन्होंने मानसी व्याधि से वर्जित विद्याधरत्व का अनुभव किया और पाँच युगों तक देवताओं एवं चारणों से वन्दित देवराजत्व का अनुभव किया ॥२१॥ श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, उन इन्द्रत्व आदि के अनुभवों में देश और काल का नियम और अनियम कैसे हुआ, क्योंकि देश और काल की नियति को अन्यथा नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि : 'कैलासकानने' इत्यादि से देश का नियम, 'युगपंचकम्' इत्यादि से काल का नियम तथा थोड़े ही समय में और हृदय प्रदेश में ही उक्त अनुभव होने से देशकाल का अनियम यह कैसे हो सकता है, क्योंकि देश और काल के नियम का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता, इस प्रकार का प्रश्नार्थ है ॥२२॥

असर्वात्मकत्वरूप से ज्ञात चिति में स्वल्प–देश और काल में अन्य विस्तृत देश और काल की कल्पना करने में नियति का विरोध होता ही है, पर सर्वात्मकता और सर्वशक्तिसम्पन्नतारूप से परिज्ञात चिति में उक्त विरोध नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, यह सर्वात्मक चितिशक्ति जहाँ पर जिस जिस प्रकार से उदित होती है, वहाँ पर उसी प्रकार की शीघ्र हो जाती है, क्योंकि सर्वात्मकत्व का अनुभव करनेवाले अनुभविता की चिति का उक्त प्रकार से बन जाना एक स्वभाव ही है ॥२३॥

अपनी बुद्धि से अनुभूयमान देशकाल में ही संकोच और वैपुल्य के नियम और अनियम परस्पर विरुद्ध होते हैं, पर अनअनुभूयमान के साथ अनुभूयमान के वे विरुद्ध नहीं होते, क्योंकि अत्यन्त

अल्प नाड़ी छिद्रों में स्वल्प समय में ही विस्तृत देश-कालवाले स्वप्न का अनुभव होता है, इस आशय से कहते हैं ।

जहाँ पर जिस समय बुद्धि में जिस प्रकार का अनुभव होता है, वहाँ पर उस समय वैसा नियम रहता है, क्योंकि देश, काल आदि के नियमों के क्रम बुद्धिमय आत्मा में अध्यस्त हैं ॥२४॥ उन्हीं दो हेतुओं से समस्त वासनाओं से वर्जित इस महामुनि वीतहव्य ने हृदयस्थ संविदाकाश में अनेक तरह के लोकों का अनुभव किया ॥२५॥ हे श्रीरामजी, सम्यक् ज्ञानवान् पुरुषों की यह वासना (देवराजत्व आदि अनुभव की हेतु वासना) वासना ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि से अपनी शक्ति खो देने के कारण दग्ध और दिखाई पड़ने के कारण दग्घ हुए बीज की बीजता ही क्या होगी ? ॥२६॥ महामुनि वीतहव्य ने एक कल्प तक चन्द्रमौलि महादेवजी के गणता यानी शिवजी के गणों की स्वामिता की, जो शेष विद्याओं में निपुण और तीनों कालों में ज्ञानपूर्ण थी ॥२७॥

जीवन्मुक्त भी उस मुनि के भोगप्रद प्रारब्ध कर्मों से उद्‌बोधित दृढ़ संस्कार ही विलक्षण देहभोग आदि के अनुभव में कारण था, यह कहते हैं।

जो जिस विषय के दृढ़ संस्कार से युक्त होता है, वह उस विषय को एक उसी प्रकार का देखता है, क्योंकि उस प्रकार के दृढ़ संस्कार से ही जीवन्मुक्त होकर मुनि वीतहव्य ने उन-उन वस्तुओं का अनुभव किया था ॥२८॥

श्रीरामजी ने कहा : हे मुनिवर, ऐसी स्थिति होने पर तो जीवन्मुक्त पुरुष के अन्तःकरण में भी बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ होती है , यह मानना पड़ेगा, जैसे कि मुनि वीतहव्य के अन्तःकरण में हुई ॥२९॥

दग्धपट के दृष्टान्त से असत् पदार्थ का प्रारब्ध शेष से प्रतिभास बाधित की अनुवृत्तिमात्रस्वरूप है, बन्ध-स्वरूप नहीं है , इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जीवन्मुक्तों की दृष्टि में जिस प्रकार का यह जगत् विद्यमान है, वह प्रशान्त,आकाश की नाईं अत्यन्त निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है , फिर उनको बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ कैसे हो सकती हैं ॥३०॥ जिस जिस स्थल में जिस जिस प्रकार से संविद्रूपी आकाश भासता है उस उस स्थल में उस-उस प्रकार से उतने उतने रूपों में व्याप्त होकर वह प्राप्त-सा हो जाता है ॥३१॥

जैसे ईश्वर को हमारे जगत् का प्रतिभास बन्धन का हेतु नहीं होता है, वैसे ही मुनि वीतहव्य को भी तत्-तत् स्वरूप का अनुभव बन्धन का हेतु नहीं हुआ, इस आशय से कहते हैं।

हे राघव, महामुनि वीतहव्य ने सब भूतों में आत्मभाव होने के कारण अनेक लोकों का ब्रह्मरूप से अनुभव किया और वर्तमान समय में कर भी रहे हैं ॥३२॥

महामुनि वीतहव्य का हृदय (हृदय से उपलक्षित आत्मा) हम लोगों के समस्त आत्माओं के स्वरूपभूत था, इसलिए सम्पूर्ण प्राणियों को होनेवाले जगत् के अनुभव भी उन्हीं के अनुभव हैं, ऐसा भी कहने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

हे राघव, ब्रह्माण्ड के एक कोने में अवस्थित महामुनि वीतहव्य की आत्मरूपता को प्राप्त हुए वास्तविक स्वरूपसत्ता से वर्जित और भ्रान्तिवश अत्यन्त विशाल मालूम पड़ने वाले उन अंसख्य भुवनों में, जाकर आत्मा के तत्त्वज्ञान से वंचित अज्ञानी इन्द्र हुआ था, वही आज 'दीन' नाम के देशों में राजा

होकर इस समय भी जंगल में शिकार खेलने में प्रवृत्त हुआ है ॥३३,३४॥ पितामह के पाद्मकल्प के समय, जबकि मुनि वीतहव्य शिवजी के गणों के अधिपति थे, उनकी क्रीड़ा के लिए आत्मबोध से शून्य जो हंस था, वही इस समय निषादों का राजा होकर स्थित है ॥३५॥ इसी प्रकार उस समय पृथ्वी के सौराष्ट्र प्रदेश में जो आत्मज्ञान से रहित राजा था, वही आज आन्ध्रदेश के एक गाँव में अवस्थित है, जहाँ अनेकविध वृक्ष हैं ॥३६॥

गुरु महाराज वसिष्ठजी की उक्ति का अभिप्राय सर्वात्मता के प्रतिपादन में है, इसको न समझ रहे मनुष्यों को, उनकी शंका के उद्‌घाटन द्वारा गुरुमुख से ही बोध करानेवाले श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, मुनि वीतहव्य की यह सृष्टि तो मानससृष्टि है, उस सृष्टि में विद्यमान देही यदि भ्रान्ति स्वरूप है, तो वे इन्द्र, हंस आदि देहों के आकारवाले चेतन युक्त कैसे हुए ? ॥३७॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, महामुनि वीतहव्य का वह जगत् यदि केवल भ्रान्तिस्वरूप ही आपको मालूम पड़ता है, तो फिर आपका यह प्रसिद्ध जगत् किस हेतु से यथार्थरूप से भासित हो सकता है ? तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण जगत् मन ही का कार्य और केवल भ्रान्तिस्वरूप ही है, यह तत्–तत् स्थल में अनेक बार कहा गया है, इसलिए यह आपका प्रसिद्ध जगत् वीतहव्य की मानसी सृष्टि के सदृश भ्रान्तिमात्र स्वरूप ही ठहरा, ऐसी स्थिति में आप ही बतलाइए कि आपका भी यह जगत् चेतनों से भरा कैसे प्रतीत हो रहा है ? ॥३८॥

दोनों सृष्टियों की समानता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, आपका यह जगत् भी मनोमय भ्रमतुल्य एवं परमार्थ दशा में जिस प्रकार से चिन्मात्रस्वरूप है, उसी प्रकार से महामुनि वीतहव्य का भी वह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ–दशा में व्योमरूपी चिन्मात्रस्वरूप है ॥३९॥ हे श्रीरामजी, वास्तव में तो वह (मुनि वीतहव्य का) जगत् न तो आपके इस जगत् के सदृश है और न इस जगत् से विलक्षण ही है, क्योंकि वस्तु की समानता और असमानता वस्तु की सिद्धि के बिना नहीं हो सकती, आपके भी जगत् की सत्ता नहीं है, केवल ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासता है ॥४०॥ जैसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान् जगत् है, वैसे ही दूसरा भी जगत् है। समस्त दृश्यभूत जगत् संविन्मात्ररूप से अवशिष्ट जो मन है, तत्स्वरूप ही है अतिरिक्त नहीं है ॥४१॥ हे श्रीरामजी, जब तक इस प्रकार के जगत् को संविन्मात्र स्वरूप नहीं जान लेते, तब तक वह वज्रसार की नाईं अत्यन्त दृढ़ रहता है। और ज्ञात हो जाने पर त्रिकालाबाधित परम चिदाकाश–स्वरूप हो जाता है ॥४२॥ अज्ञान से यह मन ही उत्पत्ति और वृद्धि आदि परिणामों से जगत् के रूप में ऐसा विकसित होता है, जैसे समुद्र में जल ॥४३॥

हे श्रीरामजी, अविकृत चिदाकाश स्वभाव से अवस्थित ब्रह्म माया से 'मैं किसी को मानों चेतन करनेवाला हूँ' यों अपनी कल्पना कर चित्तरूप हो जाता है, तदनन्तर उसी का पुनः पुनः मनन करने से मन नामवाला हो जाता है। उसीसे यह विशाल जगत् प्राप्त हुआ है, इसीलिए इस प्रकार यह दृश्य जगत् विस्तृत है। वास्तव में कुछ भी विस्तृत नहीं है ॥४४॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

वीतहव्य मुनि की सूर्य के पिंगलनामक गण में प्रवेशकर
अपनी देह की उद्धृति, जीवन्मुक्त स्थिति और अन्त समाधि का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, अब कृपापूर्वक मुझसे यह बतलाइए कि महामुनि वीतहव्य ने उस भूगर्भ में स्थित अपनी देह का कैसे उद्धार किया ? उसका प्रकार क्या था ? उसके बाद उनकी दिनचर्या क्या रही और देहमुक्ति में अवशिष्ट उनका स्वरूप कैसे था ? ॥१॥ वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर समाधि में उक्त मुनि ने अपनी वीतहव्य नामक मन को आत्मा का एक चमत्कारमात्र और परिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप समझ लिया ॥२॥ जब वह महादेवजी के गण थे, तब किसी समय चिदात्मा का ध्यान करते समय उनकी यह इच्छा हुई कि मैं पहले अपने समस्त जन्मों का अवलोकन करूँ ॥३॥ तदन्तर उन्होंने कुछ नष्ट हुई और कुछ नष्ट न हुई अपनी समस्त देहों को प्रत्यक्ष देखा। देखने के बाद जो शरीर नष्ट नहीं हुए थे उनके मध्य में तत्-तत् कोटर में अवस्थित यही तत्-तत् अनष्ट देहों के हृदय कोटर में जीवट के उपाख्यान में कही जानेवाली रीति के अनुसार अपनी कल्पना से ही अवस्थित वीतहव्य शरीर का उद्धार करने के लिए अकस्मात् ही उनकी इच्छा हुई ॥४॥ वहाँ पर पृथ्वी के उदर-कोटर में पीड़ित उस वीतहव्य नामक शरीर को कीचड़ में स्थित कीड़े की नाईं देखा। वह वर्षा के प्रवाह से कुछ दूर बहाया गया था, उसके पृष्ठभाग पर कीचड़ का स्तर जम गया था और उनके त्वचा, हाथ आदि अवयव तथा पीठस्थ मिट्टी ये सब काश आदि घासों के समूहों से व्याप्त हो गये थे। 'पीठस्थ' शब्द से यह सूचित होता है कि वे जलप्रवाहों से उलटे मुँह गिराये गये थे ॥५,६॥

महान् तेजस्वी वीतहव्य ने इस प्रकार धरा के विवर में पीड़ित अपनी देह को देखकर उत्तम बोध से युक्त बुद्धि से पुनरपि विचार किया ॥७॥ सम्पूर्ण अवयवों में पीड़ा होने के कारण प्राणवायु से यानी प्राण-संचारों से निर्मुक्त मेरी देह चलने-फिरने में तथा कुछ करने में तनिक भी समर्थ नहीं है ॥८॥ इसलिए उद्धार के उपाय को जानकर मैं परकीय शरीर में प्रवेश के लिए योग शास्त्र में उपदिष्ट मार्ग से सूर्य के शरीर में प्रवेश करता हूँ। उसमें प्रवेश करने से सूर्य का सेवक पिंगल नाम का गण उनकी आज्ञा से मेरे शरीर का उद्धार कर देगा ॥९॥

उनकी दूसरी चिन्ता बतलाते हैं।

अथवा इस प्रपंच से मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं इस शरीर से निर्विघ्नतापूर्वक विदेह मुक्ति के द्वारा शान्त हो जाता हूँ। मैं निर्वाण को प्राप्त कर लेता हूँ। अपने पद को जाता हूँ। देह लीला से मेरा कौन प्रयोजन है ? ॥१०॥

हे महामते उस प्रकार मन से विचार कर महामुनि वीतहव्य क्षणभर भूतल में चुपचाप बैठकर फिर विचार करने लगे ॥११॥ मुझे देह का त्याग न तो उपादेय (अपेक्षणीय) है और न देह का आश्रय ही उपादेय है, क्योंकि जैसे देह का परित्याग है, वैसे ही देह का समाश्रय है, दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है ॥१२॥ इसलिए जब तक यह शरीर है और जब तक वह अणु परमाणु रूप नहीं बन जाता, तब तक मैं इसका आश्रय कर कुछ विहार कर लूँ ॥१३॥ सूर्य सेवक पिंगल नामक गण के द्वारा अपने शरीर का

उद्धार करने के लिए आकाश में स्थित सूर्य के शरीर में मैं उस प्रकार प्रवेश करता हूँ, जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब ॥१४॥ उस प्रकार विचार कर वायुरूपधारी यानी सूक्ष्म स्वरूप मुनि वीतहव्य ने पूर्व में व्याख्यात पुर्यष्टक शरीर होकर सूर्य में उस प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार भस्त्राकाश में (चमड़े की धौंकनी के अन्तर्गत आकाश में) वायु प्रवेश करे ॥१५॥ उदार बुद्धिवाले भगवान् मननशील सूर्य ने भी हृदय में प्रविष्ट उक्त मुनिनायक को देखा और उनके कार्य को तथा पूर्वापर शरीरों को देखा। तदनन्तर विन्ध्यपर्वत के भूगर्भ के अन्तर्गत तृण और पत्थर से चारों ओर ढके हुए तथा मृतप्राय मुनि वीतहव्य के शरीर को देखा ॥१६,१७॥

उसके बाद सूर्य ने क्या किया ? उसे कहते हैं।

आकाश के मध्य में संचरण करनेवाले सूर्य भगवान् ने मुनि वीतहव्य के अभीष्ट को जानकर पृथ्वी से मुनिशरीर का उद्धार करने के लिए अपने अग्रगामी पिंगलनाम के गण को आदेश दिया ॥१८॥

सूर्य के हृदय में प्रविष्ट हुई मुनि वीतहव्य की संवित् ने क्या किया ? उसे कहते हैं।

मुनि वीतहव्य की पुर्यष्टकरूपी वायुमय उक्त संवित् ने पूजनीय भगवान् भास्कर को अन्तःकरण से तुरंत प्रणाम किया ॥१९॥ सूर्य के द्वारा अत्यन्त मानपूर्वक आज्ञा को प्राप्त हुए उक्त वीतहव्य मुनि ने विन्ध्याद्रि की गुफा की ओर जा रहे अग्रगामी पिंगलनामक गण के शरीर में प्रवेश किया ॥२०॥ सूर्य भगवान् के गण पिंगल ने आकाश का परित्याग कर लतागृह और कुंजर से सुन्दर तथा वर्षाकाल में मत्त मेघों से युक्त आकाश की नाईं दैदीप्यमान विन्ध्याचल के अरण्य को प्राप्त किया ॥२१॥ जिसने अपने नखों से भूतल को खोद दिया है, ऐसे पिंगल ने भूगर्भ से मुनि वीतहव्य के कलेवर को उस प्रकार उद्धृत किया, जिस प्रकार सारस पक्षी कीचड़ से मृणाल (कमलनाल) को उद्धृत करता है ॥२२॥ तदनन्तर मुनि वीतहव्य–सम्बन्धी पुर्यष्टक शरीर पिंगल के शरीर से निकलकर अपने शरीर में उस प्रकार प्रविष्ट हुआ, जिस प्रकार आकाशतल में चारों ओर परिभ्रमण करनेवाले पक्षी अपने घोंसले में प्रवेश करता है ॥२३॥ प्राप्त मूर्ति वीतहव्य तथा आकाशगामी पिंगल दोनों ने परस्पर प्रणाम किया। तदनन्तर तेज के निधि वे दोनों अपने अपने कार्यों में ही तत्पर हो गये ॥२४॥ पिंगल आकाश की ओर चले गये और मुनि वीतहव्य निर्मल सरोवर की ओर, जो कुमुदरूपी ताराओं से युक्त तथा बाल सूर्य के राग से रंजित जल से युक्त था, स्नानार्थ चले गये ॥२५॥

विकसित कमलों से युक्त उस सरोवर में मुनि वीतहव्य ने तुरंत उस प्रकार मज्जन किया, जिस प्रकार कीचड़ से भरे तालाब में क्रीड़ा के अनन्तर हाथी का बच्चा वन में मज्जन करता हो ॥२६॥ उसमें स्नानकर तदनन्तर जपकर और उसके बाद सूर्य की पूजाकर मनन आदि व्यवहारों से युक्त शरीर से पुनः पूर्ववत् सुशोभित हो गये ॥२७॥ पूर्वोक्त समान शीलों में मैत्री, एकरूप सर्वातिशायीशान्ति, सुन्दर प्रज्ञा, मुदित कृपा तथा उत्तम श्री से युक्त मुनि वीतहव्य ने, सकलसंगों से निर्मुक्त चित्तवाले होकर विन्ध्याचल में नदी के तट पर केवल एक ही दिन रमण किया यानी समाधि से प्रच्युत होकर स्थित रहे ॥२८॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

मुनि वीतहव्य की छः रात्रि तक पुनः समाधि, चिरकाल तक जीवनमुक्त स्थिति,
राग आदि को तिलांजलि और मुक्ति में समाधि का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, दिन की समाप्ति के बाद उक्त मुनि ने पुनः भी मन की एकाग्रतारूप समाधि के लिए किसी अतिविस्तृत पूर्वपरिचित विन्ध्याद्रि की गुफा में प्रवेश किया ॥१॥ लोक में क्या सार है और क्या असार है , इसका भली प्रकार परिज्ञान रखनेवाले महामुनि वीतहव्य उसी आत्मा के अनुसन्धान का परित्याग न करते हुए इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण से विचारने लगे ॥२॥

उन्होंने क्या विचार किया ? उसे कहते हैं।

मैंने पहले से ही इन्द्रियों का भली प्रकार परित्याग कर लिया है, अब फिर उन के विषय में अधिक चिन्ता करने से मेरा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होनेवाला है ॥३॥

अस्ति और नास्ति यों दो प्रकार दृश्य कल्पनाओं का, कोमल लता की नाईं, विनाश कर उन दो कल्पनाओं के साक्षीरूप से अवशिष्ट चैतन्यमात्र का अवलम्बन कर शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रखकर दृढ़ासन होकर मैं उस प्रकार अचल बैठता हूँ, जिस प्रकार पर्वत का शिखर ॥४॥ मैं यद्यपि सदा उदित स्वभाव (प्रकाश स्वभाव) हूँ, तथापि अज्ञ दृष्टि से अन्धकार को प्राप्त हुआ-सा हूँ एवं यद्यपि सदा जीवित-स्वभाव हूँ, तथापि अज्ञदृष्टि से मृत-सा हूँ। तत्त्वदृष्टि से तो उससे विपरीत निर्मल स्वभाव को प्राप्त हुआ एकरस चिन्मात्रस्वरूप होकर अवस्थित हूँ ॥५॥ मैं यद्यपि प्रबुद्ध यानी उत्तमज्ञान से सम्पन्न जाग्रत् अवस्था से युक्त हूँ, तथापि सुषुप्ति में ही स्थित रहता हूँ। क्योंकि घट आदि द्वैत पदार्थों को अब मैं नहीं देख रहा हूँ। इसी प्रकार यद्यपि मैं सुषुप्ति में स्थित रहता हूँ। तथापि जाग्रत् अवस्था से युक्त ही हूँ, क्योंकि मुझे अपने स्वरूप का सदा स्पष्टरूप से अनुभव हो रहा है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण से निर्मुक्त तुर्य पद का अवलम्बन कर अचल स्थितिवाला होकर शरीर के भीतर रहता हूँ ॥६॥ मन से परे यानी मन के अविषय चारों ओर अवस्थित, पूर्ण सत्तासामान्यरूप परम साम्यभूत परमात्मा में विकारमुक्त होकर स्थाणु की तरह मैं स्थित हूँ ॥७॥ इस प्रकार विचार कर वह ध्यान में छः दिन तक फिर बैठ गये। तदनन्तर उस प्रकार प्रबोध को प्राप्त हुए, जिस प्रकार क्षणभर में सोया हुआ पथिक प्रबोध को प्राप्त होता है ॥८॥ तदनन्तर उस समय व्युत्थान दशा में भी समाहित स्थितिवाले सिद्ध, महान् तपस्वी, भगवान् वीतहव्य ने जीवन्मुक्त स्वरूप से चिरकाल तक यत्र-तत्र विचरण किया ॥९॥ ये महामुनि वीतहव्य न तो गुण दृष्टि से किसी वस्तु की स्तुति करते थे और न दोषदृष्टि से किसी की निन्दा भी कभी करते थे। वे न तो कभी उद्वेग को प्राप्त होते थे और न कभी हर्ष को प्राप्त होते थे ॥१०॥ चलते-फिरते उठते-बैठते चित्त से शून्य हुए उस वीतहव्य मुनि के हृदय में अपने मन के (बाधित-अनुवृत्त मन के) साथ विनाश के लिए इस प्रकार की कथा यानी वक्ष्यमाण विचारात्मक कथा हुई ॥११॥ विषयों के उपभोग से सामर्थ्य के व्यय से रहित, इन्द्रियों के स्वामी हे मन, देखो कि शम से समन्वित तुमने किस प्रकार के समस्त जगत् को आनन्द देनेवाले व्यापक सुख को अथवा निरतिशय आनन्दरूपी सुन्दर ब्रह्मरूप आकाश को प्राप्त किया है ॥१२॥ हे चंचल पदार्थों में

सर्वश्रेष्ठ मन, इसलिए तुमको आगे भी इस रागशून्य दशा का ही अवलम्बन करना चाहिए और अपनी चंचल वृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए ॥१३॥ हे इन्द्रिय नाम को धारण करनेवाले चोर और हे नष्ट आशावृन्द, यह मेरे द्वारा अनुभूयमान आत्मा तुम्हारा नहीं है और तुम लोग आत्मा के नहीं हो ॥१४॥ हे इन्द्रियगण, इस प्रकार आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने के कारण अब तुम लोग अवशिष्ट अपने असत्त्व स्वरूप को ही प्राप्त हो जाओ। तुम्हारी समग्र अभिलाषाएँ निष्फल कर दी गई है। अब विनष्ट आश्रयवाले तुम लोग मेरे ऊपर आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो ॥१५॥

तब पहले हम लोगों में तुम्हारे ऊपर आक्रमण करने की सामर्थ्य कहाँ से थी ? तो आत्मा के साथ तादात्म्य आदि के अध्यास से थी, ऐसा कहते हैं।

हे इन्द्रियगण, 'हम आत्मा हैं' इस प्रकार की जो यह तुम लोगों को वासना हुई थी, वह आत्मतत्त्व की विस्मृति से उस प्रकार उत्पन्न हुई , जिस प्रकार रज्जु तत्त्व की विस्मृति से रज्जु में सर्पवासना उत्पन्न होती है ॥१६॥ उक्त यह वासना अनात्मा में आत्मत्वरूपा भ्रान्ति और वस्तु में अवस्तुत्वरूपा भ्रान्ति थी। वह आत्मा के अविचार से उत्पन्न हुई थी और आत्मा के विचार से विनाश को प्राप्त हो गई ॥१७॥

इस प्रकार विवेकज्ञान हो जाने पर किसी को भी आपके द्वारा उत्पन्न दोषों के साथ सम्बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

हे इन्द्रियगण, करणस्वरूप आप लोग दूसरे हैं, अभिमान करनेवाले हम लोग दूसरे हैं, अद्वितीय ब्रह्म दूसरा है , प्राण हेतुक क्रिया कारणता दूसरी है, चिदाभासरूपी भोक्ता दूसरा है और ग्रहण करनेवाला मन दूसरा है, ऐसी स्थिति में किस का किस प्रकार कौन–सा दोष हो सकता है ? ॥१८॥

यदि ऐसी बात है, तो व्यवहाररूपी कार्य की सिद्धि किस रीति से होगी ? तो काकतालीय न्याय से होगी, यों गृहदृष्टान्त से कहते हैं।

अरण्य से लकड़ी उत्पन्न हुई, बाँसों की त्वचा से लकड़ी के बोझ को बाँधने की पूर्ति रज्जु हुई, वसुला, कुठार आदि लोहे से उत्पन्न हुए और बढ़ई अपने उदर की पूर्ति के लिए ही प्रवृत्त हुआ, न कि घर की सिद्धि के लिए ॥१९॥ यों इस लोक में अपने–अपने भिन्न–भिन्न प्रयोजन के लिए अवस्थित पदार्थों की यानी क्रिया–कारकरूप पदार्थों की सामग्री से अर्थतः उत्पद्यमान दृढ़ गृहाकृति जैसे काकतालीय ही है यानी काकतालीय न्याय से ही सिद्ध होती है, वैसे ही प्रकृत कार्यकरणसंघात स्थल में भी काकतालीय न्याय से ही दर्शन, श्रवण, आदान आदि अपनी–अपनी शक्तियों से नियत ज्ञान–कर्मेन्द्रियों से समन्वित तत्–तत् उस प्रकार की व्यवहाररूप कार्यकलिका चंचलतापूर्वक उत्पन्न हुई है, उसमें किसी की क्या क्षति है अर्थात् किसी को कोई क्षति नहीं है ॥२०,२१॥ अब अविद्या दूर से ही विस्मृत हो गई, आत्मविद्या विस्पष्टरूप से अनुभूत हो गई, जो सत् था वही सत् रहा, असत् असत् ही रहा, विघ्न क्षीण हो गया और जो स्थिति के योग्य था, वही स्थित रह गया ॥२२॥ हे श्रीरामजी, इस प्रकार के विचार से युक्त होकर उन महान् तपस्वी मुनि श्रेष्ठ भगवान वीतहव्य ने अनेक बरसों तक इस लोक में अपनी स्थिति की ॥२३॥ श्रीरामजी जिस पद के प्राप्त होने पर पुनर्जन्म के लिए चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढ़ता कोसों दूर भाग जाती है,उस परम पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूप पद में निरन्तर ये मुनि अवस्थित थे ॥२४॥ किसी समय भ्रान्ति से चित्र–विचित्र पदार्थों के समूह के दर्शन से प्राा्प्त हुए यथास्थित

आत्मभूत वस्तु में अविश्वास का वारण करने के लिए बार-बार ध्यान में विश्वास का अवलम्बन कर वह सुखानुभव को प्राप्त करते हुए सदा स्थित रहते थे ॥२५॥

शेष प्रारब्ध का विनाश हो जाने पर मुनि वीतहव्य का मन किस प्रकार का रहा, उसे कहते हैं।

त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति हो जाने पर भी त्याग और ग्रहण की बुद्धि का क्षय हो जाने के कारण महामुनि वीतहव्य का अन्तःकरण इच्छा और अनिच्छा का अतिक्रमण कर गया था ॥२६॥ देहापगम दशा में एक अद्वितीय रूप से स्थित, जन्म और कर्मों की अवधि के अवसानरूप तथा प्रतिभासमात्र से भी अवस्थित देह आदि संसार के संग का त्याग हो जाने पर परिशेष में रहनेवाली ब्रह्मरसरूपी मकरन्द में उनको उत्कण्ठा हुई और उसके बाद उन्होंने उसी इच्छा के साथ सह्य पर्वत की सुवर्णकन्दरा में प्रवेश किया ॥२७॥ फिर देह आदि के साथ संगति न हो, इसलिए शीघ्र जगत्रूपी जाल का भली प्रकार अवलोकन कर वे महामुनि पद्मासन लगाकर बैठ गये और तदनन्तर वहाँ अपने आप ही अपने अन्दर कहने लगे ॥२८॥

स्वाभाविक शत्रुभूत राग, द्वेष आदि में भी द्वेषअभावरूपता और मैत्री की भावना करते हुए मोक्षपद को जानने की इच्छावाले-से होकर हित का उपदेश कर रहे प्रणाम करके उनको संबोधित करते हैं :

हे राग, अब तुम नीरागस्वरूप हो जाओ। हे द्वेष, तुम द्वेषअभावरूप हो जाओ। आप दोनों ने इस लोक में मेरे साथ दीर्घकाल तक क्रीड़ा की है ॥२९॥ हे भोग, मैं आप लोगों को प्रणाम करता हूँ। आप लोगों ने मेरा इस लोक में सौ करोड़ों वर्ष तक उस प्रकार लालन-पालन किया है, जिस प्रकार प्यार करनेवाले पिता आदि ने बालक का लालन-पालन किया हो ॥३०॥ सबसे पुण्यतम इस मोक्षपद का भी जिसने मुझको विस्मरण कराया था, उस अंशरूप विषयसुख को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥३१॥ हे दुःख, तुम्हारे द्वारा सन्तप्त हुए मैंने अत्यन्त आदर से आत्मा का अन्वेषण किया है, इसलिए इस मोक्षमार्ग का तुमने ही मुझको उपदेश दिया। अतः मेरा तुम्हें प्रणाम हो ॥३२॥ हे दुःख के तत्त्वभूत सुखद आत्मन्, तुम्हारी ही अनुकम्पा से मैंने यह अत्यन्त शीतल पदवी (निरतिशयसुखरूप मोक्ष पदवी) प्राप्त की है, अतः दुःख नामधारी तुम्हें मेरा प्रणाम हो ॥३३॥

अब ज्ञान के प्रादुर्भाव में उपकारक देह की प्रार्थना कर उसको संबोधित करते हैं।

संसार में सारहीन जीवनवाले हे मित्र देह, तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि तुम्हारी ही कृपा से हम अपने स्थान को जा रहे हैं। हे देह, यह अपने लोगों की वियोग की अवस्था आज की नहीं है, किन्तु अनादि नियति का यही स्वभाव है, कारण कि जो संयोग होता है, उसका अन्त में वियोग में ही पर्यवसान होता है ॥३४॥ आश्चर्य है कि प्राणियों के स्वार्थों की अत्यन्त विषम गति है, क्योंकि वस्तु की प्राप्ति के लिए घनिष्ठ मित्र आदि स्वजनों को भी छोड़कर पुरुष दूर-दूर दौड़ जाते हैं। इसी न्याय के अनुसार सैकड़ों जन्म तक साथी रहकर मैं भी आज अपने प्यारे मित्र शरीर से अलग हो रहा हूँ ॥३५॥ हे मित्र देह, चिरकाल से बन्धुरूप तुम मेरे द्वारा जो त्यागे जा रहे हो वह एक स्वार्थ की ही लीला है। (*यह मेरा अपराध नहीं है, किन्तु तुमने अपना ही नाश करने के लिए मेरा उपकार किया है, यों मानों शोक कर रहे कहते हैं।*) हे देह, तुमने ही अपने लिए आत्मज्ञानवश उस प्रकार की क्षति उठा ली है ॥३६॥ तुमने आत्मा के विज्ञान की प्राप्ति कर अपना विनाश किया है, अतः हे देह, तुम्हारे द्वारा ही यह तुम्हारा

विनाश किया गया है, दूसरे के द्वारा नहीं किया गया है ॥३७॥

अब तृष्णा की प्रार्थना करते हैं।

हे मातृरूप तृष्णे, मैं अब जा रहा हूँ। मेरे जाने पर तुम अकेली, शुष्क और दीन हो जाओगी, पर दुःख मत करना ॥३८॥ हे काम भगवान्, तुम्हारे ऊपर विजय पाने के लिए मैंने तुम्हारे विरोधी वैराग्य–सेवन आदि दोष किये थे, उन दोषों के लिए मुझे क्षमा–प्रदान कीजिए। अब मैं उत्तम विश्रान्ति की ओर जा रहा हूँ। मेरी मंगल कामना करिए ॥३९॥

अब फिर पुनरावृत्ति के द्वारा तृष्णा के मुख का दर्शन न हो, इसलिए उसका निवारण कर रहे मुनि वीतहव्य कहते हैं।

हे मातृरूप तृष्णे, अब से लेकर अपने दोनों का संयोग के दोष से ही सदा के लिए वियोग हो रहा है। इसलिए मैं तुम्हें यह आखिरी प्रणाम कर रहा हूँ॥४०॥ हे पुण्यदेव, आपको मैं प्रणाम करता हूँ, आप ही ने पहले मेरा नरकों से उद्धार कर स्वर्ग के साथ सम्बन्ध करवाया था ॥४१॥ निषिद्ध आचरणरूपी खेत में उत्पन्न हुए, नरकरूपी बड़ी–बड़ी शाखाओं को धारण करनेवाले और यातनारूपी पुष्प–समूह से युक्त पापरूपी वृक्ष को मेरा नमस्कार हो ॥४२॥ जिसके साथ मैंने दीर्घकाल तक प्रकृत योनियों का उपभोग किया था, आज तक प्रत्यक्ष नहीं हुए उस मोहस्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ॥४३॥ शब्द कर रहे बाँस जिसके मधुर शब्द हैं और शीर्ण पत्ते ही जिसके पहनने के लिए वस्त्र हैं, समाधि में प्रेयसी स्त्री के सदृश व्यवहार करनेवाली उस गुहारूपी तपस्विनी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४४॥ हे सखी गुहातपस्विनि, संसाररूपी महामार्ग में खिन्न हुए मेरे लिए तुम ही अकेली आश्वासन देने में समर्थ, अत्यन्त स्नेह से समन्वित, पूर्ण आत्मा में विश्रान्ति–प्रदान द्वारा समस्त लोभों को नाश करनेवाली तपस्या (मित्र) हुई॥४५॥ अनेक दुःखों से खिन्न तथा दोषों से (समाधि के विघ्नों से) द्रवीभूत हुए मैंने शोक का विनाश करने के लिए उत्तम सखीभूत तुम अकेली का ही आश्रय किया ॥४६॥

अब दण्डकाष्ठ के गुणोंका वर्णन कर उसको नमस्कार करते हैं।

कुत्ते, सर्प आदि से होनेवाले भयों में, विषम प्रदेशों में तथा गड्ढे और कुंजो में हाथ को अवलम्बन देनेवाला, वृद्धावस्था के एकमात्र मित्र दण्डरूप काष्ठ तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ॥४७॥

अब सम्पूर्ण देहभाग देह को ही समर्पण करते हैं।

हे देह, के अस्थिपंजर और दूसरा रक्त तथा आँतरूपी सूत्र बस इन्हीं दो तत्त्वों से समन्वित तुम्हारा असाधारण विभाग है, इस अपने विभाग को लेकर तुम अपनी प्रकृति की ओर चले जाओ ॥४८॥ हे देह, तुम्हारे मल, दुर्गंध, स्वेद आदि के द्वारा दूषित हो जाने के कारण हुए जो जलके अपराध हैं, उनके प्रकार–विशेष–स्वरूप तुम्हारी विशुद्धि का सम्पादन करनेवाले स्नानरूप उपायों को भी मैं प्रणाम करता हूँ तथा तुम्हारे भोजन, अलंकरण आदि व्यवहारों को एवं भोजनादि सामग्री के सम्पादन के लिए इतस्ततः दौड़धूप करने की प्रवृत्तियों को मैं प्रणाम करता हूँ॥४९॥ हे पुराने सजग मित्ररूप प्राण, आज मैंने मित्रों की नमस्कार–परम्परा में आप लागों को भी ऊँचा बना दिया है यानी आप लोगों को भी नमस्कार किया है, आपका कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ॥५०॥

पहले के मित्र भाव का वर्णन करते हैं।

हे प्राणवृन्द, आप लोगों के साथ मैंने चित्र-विचित्र अनेक योनियों में विश्राम किया और पर्वत के कुंजों में तथा लोकान्तरों में भी विश्राम किया था ॥५१॥ आप लोगों के साथ ही मैंने नगरों में और सिद्धों के क्षेत्रों में क्रीड़ा की, पर्वतों में निवास किया, कार्यों के विलासों में स्थिति की और विविध प्रकार के मार्गों में प्रस्थान किया ॥५२॥ हे प्राणवृन्द, संसार के कोश में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसको आप लोगों के साथ मैंने अपने हाथों से न किया हो, न अपहृत किया हो, न दिया हो, और जो पैरों से न गत हुआ हो और मन से जो अवलम्बित न हुआ हो ॥५३॥ हे प्रिय प्राण-समुदाय, आप अपनी प्रकृति में जाइये और मैं ब्रह्म में जाता हूँ, आप लोग यह शंका न करें कि हम लोगों का प्रकृति में प्रविलाप क्यों कराते हैं ? कार्यकरणसंघातरूप से ही स्थित होकर भोग्यसमुदाय को ही पहले के समान प्राप्त किये जाय, क्योंकि जितने भोग्य समूह हैं, वे अन्त में नाशवान हैं, और जितने उन्नत हैं, वे अन्त में पतनशील हैं। संसार-मार्ग में जितने संयोग है वे सब अन्त में वियोग को ही प्राप्त होते हैं ॥५४,५५॥

अब प्रत्येक इन्द्रिय आदि के द्वारा प्राप्त करने योग्य प्रकृति को विभागपूर्वक बतलाते हैं।

यह चक्षु का प्रकाश आदित्य मण्डल में प्रवेश करे। सुगन्धिहेतुक आनन्दज्ञान की करण घ्राणेन्द्रिय गन्ध की आश्रय पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाय ॥५६॥ शब्दों की श्रवणशक्ति यानी श्रोत्रेन्द्रिय आकाश कुक्षि में प्रविष्ट हो जाय और रसना की रसग्रहणशक्ति यानी रसनेन्द्रिय चन्द्रमण्डलरूपी जल में प्रविष्ट हो जाय ॥५७॥

उस प्रकार उपाधिभूत आप लोगों के अपनी-अपनी प्रकृतियों में प्रविष्ट हो जाने पर आपमें प्रतिबिम्बित चिदाभासस्वरूप मैं जीवात्मा भी अपने बिम्बरूप प्रणव की चतुर्थ अर्धमात्रा से लक्षित ब्रह्मात्मा में प्रविष्ट हो जाता हूँ यानी विश्रान्ति लेता हूँ, यों कहते हैं।

मन्दराचल के अभाव में समुद्र की नाईं, सूर्य के अभाव में दिन की नाईं, शरत् कालमें अपने उपादान कारण में विलय को प्राप्त हुए मेघ की नाईं, इन्धनों के दग्ध होने पर अग्नि की नाईं तथा स्नेह (तेल) के अभाव में दीपक की नाईं ओंकार की अन्तिम अर्धमात्रा से लक्षित परब्रह्मस्वरूप अपने में अपने आपसे ही मैं आत्यन्तिक मनःशान्तिपूर्वक विश्रान्ति लेता हूँ ॥५८,५९॥

सम्पूर्ण कार्यों की परम्परा से शून्य,समस्त दृश्यों की अवस्था को अतिक्रमण कर स्थिति रखनेवाला, दीर्घ उच्चारित प्रणव की ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्ति का अनुसरण कर ब्रह्माकारता की प्राप्ति से उपरत बुद्धि तथा प्रारब्ध से प्रतिबद्ध अवशिष्ट अविद्यारूपी मल से रहित यह मैं पूर्णरूप से अवस्थित हूँ ॥६०॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

ॐकार की अन्तिम मात्रा का अवलम्बन कर जिस क्रम से
महामुनि वीतहव्य विदेहमुक्ति को प्राप्त हुए, उस क्रम का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, आगे कहे जानेवाले प्रकार से अत्यन्त उच्च स्वर से प्रणव का धीरे-धीरे दीर्घता के सम्पादन द्वारा उच्चारण कर रहे महामुनि वीतहव्य ने मनन (संकल्प) और एषणाओं से (पुत्र आदिकी अभिलाषाओं से) क्रमशः वर्जित होकर छठी या सप्तम भूमिका को

प्राप्त कर अपने हृदय में ब्रह्म का लाभ किया ॥१॥

'ओमित्येतदक्षरं सर्वम्' इत्यादि माण्डूक्य श्रुति में प्रदर्शित क्रम से अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा से कल्पित स्थूल, सूक्ष्म, अव्याकृत और तुरीयरूप पादों के भेद से ॐकार का स्मरण कर रहे महामुनि संन्यासी वीतहव्य पंचीकरण- प्रक्रिया में बतलाये गये विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृतरूप पादोंका पहले तुर्य में 'जागरितस्थानों' इत्यादि श्रुति-प्रदर्शित रीति के अनुसार अध्यारोप और तदनन्तर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति-प्रदर्शित रीति के अनुसार अपवाद कर तीन लोकों की रचना के लिए किये गये ब्रह्माजी के संकल्प से कल्पपर्यन्त कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर विभाग से युक्त स्थूल,सूक्ष्म और कारण स्वरूप पदार्थों का भी परित्याग कर अविनाशी विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार कर इन्द्रिय और तन्मात्राओं का परित्याग कर दिया ॥२,३॥ जिस प्रकार क्षोभशून्य चिन्तामणि अपने स्वरूप में रहता है, वैसे ही क्षोभशून्य आकारवाले महामुनि वीतहव्य अपने स्वरूप में ही स्थित थे, वे पूर्णचन्द्र की नाईं परिपूर्ण थे तथा मन्थनरहित मन्दराचल की नाईं स्थिर विश्रान्ति से युक्त थे ॥४॥ भ्रमण से रोकने पर कुम्हार के घर में चक्र जिस प्रकार अक्षुब्ध आकारवाला रहता है, वैसे ही ये मुनि अक्षुब्ध आकारवाले थे और शान्त अत्यन्त निर्मल समुद्र की नाईं परिपूर्ण थे ॥५॥ (उस प्रकार के अनेक शुभ विशेषणों से सम्पन्न महामुनि वीतहव्य ने पूर्वोक्त रीति से अध्यारोप और अपवाद से समस्त कल्पनाओं का परित्याग कर विशुद्धि आदि गुणों से युक्त तथा) तेज और तम दोनों के समूह से रहित; सूर्य, चन्द्र और ताराओं से शून्य; धूम्र, अभ्र और धूलि से वर्जित; शरत्कालीन आकाश के समान अत्यन्त स्वच्छ; असीम ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार कर प्रणव के अग्रभाग के दीर्घनादरूपी सूत्र के साथ ही इन्द्रिय और शब्दादि तन्मात्राओं के जाल को उस प्रकार त्याग दिया, जिस प्रकार वायु ने गन्ध को त्याग दिया हो ॥६,७॥ तदनन्तर आकाश-मण्डल में चक्षु द्वारा दिखाई पड़नेवाले तमो भाग की नाईं चिदाकाश में साक्षी के द्वारा सिद्ध तथा प्रकाशित हो रहे तमोमात्र को (अविद्या के तामस वृत्ति-विशेष को) ऐसे त्याग दिया, जैसे बुद्धिमान् क्रोधांश को त्याग देता है ॥८॥ तदनन्तर आधा क्षण विचार कर उक्त मुनि ने प्रकाशित हो रहे तेज का भी (अविद्या के सात्त्विक वृत्तिविशेष का भी) परित्याग कर दिया। तम और तेज दोनों का परित्याग करने से वे मुनि न तम और न प्रकाशरूप थे यानी तम और प्रकाश दोनों से शून्य अवस्था को प्राप्त हुए थे ॥९॥ अनन्तर तम और प्रकाश से शून्य अवस्था को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य ने कल्पना के हेतुभूत मनरूपी तृण को, जो किंचित् प्रकाशित भी था, आधे निमेष में मन से ही काट दिया ॥१०॥ हे श्रीरामजी, तदनन्तर वायुशून्य प्रदेश में स्थित दीपक की नाईं विस्पष्ट प्रकाश को प्राप्त हुए अपने स्वरूप में स्थित संवित् का, जो तत्क्षण उत्पन्न हुए बालक के ज्ञान के सदृश वासनादि से वर्जित थी, अवलम्बन कर चिति की चेत्यदशारूप कल्पना को उसकी उत्पत्ति के पहले ही समर्थ मुनि वीतहव्य ने निमेष के चतुर्थ भागात्मक काल में ही उस प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार वायु स्पन्दन शक्ति का परित्याग कर देता है ॥११,१२॥ श्रीरामजी, तदनन्तर इस रीति से साक्षिमात्र के परिशेषस्वरूप 'पश्यन्ती' पद को प्राप्तकर अनन्तर 'पश्यन्ती' पद ही आकाश आदि के बाधाश्रय रूप से अवशिष्ट सत्तामात्र स्वरूप कारणतत्त्व होने के कारण तद्भाव में स्थितिरूप सुषुप्त स्थान को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य पर्वत की नाईं अचल होकर स्थित हो गये ॥१३॥

तदनन्तर समर्थ मुनि वीतहव्य पहले उक्त सुषुप्त स्थान में किंचित् किंचित् स्थित होकर अनन्तर उसमें स्थिरता को प्राप्तकर तुर्य रूप में लीन हो गये। 'तुर्यरूप मुपाययौ' इस वाक्य से पहले सदेहावस्थ छठी और सप्तम भूमिका को बतलाकर साक्षी की सदेकरसता सिद्ध हो जाने पर निरतिशय अखण्ड आनन्द के आविर्भाव से अवशिष्ट प्रारब्ध के साथ जगत्-प्रतिभास का आत्यन्तिक विनाश आरै तदनन्तर विदेह कैवल्य की प्राप्ति बतलाई गई है ॥१४॥

तदनन्तर उनका स्वरूप कैसा था ? इस चतुर्थ प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे रात्रि में देखनेवाले उल्लू आदि को अन्धकार ही प्रकाशरूप होता है, वैसे ही उस तुर्य अवस्था में वे मुनि विषयप्रयुक्त आनन्द से वर्जित होते हुए भी स्वरूपभूत आनन्द से युक्त थे, स्वभिन्नसत्ता से शून्य होते हुए भी स्वरूपतः सत्तारूप थे, स्वभिन्न वस्तुस्वरूप से अकिंचिद्रूप होते हुए भी स्वतः किंचिद्रूप थे ॥१५॥ वे चेत्य का अभाव होने से अचिन्मय और स्वतः चित्स्वरूप थे। तदनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणी का भी अगोचर है, उस तत्त्व को ये मुनि प्राप्ति हो गये ॥१६॥ इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थों में अवस्थित, समस्त भावों से वर्जित, निरतिशय समता से पूर्ण प्रकाशमान परम पवित्र पदस्वरूप हो गये ॥१७॥

इससे समस्त वादियों के द्वारा अनैकविध विकल्पों से अपने-अपने सिद्धान्त रूप से विकल्पित जो पद है, वही पद वीतहव्य का था, ऐसा कहते हैं।

जो शून्यवादी बुद्धों का शून्यरूप प्राप्य पद है, जो ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्मरूप श्रेष्ठ प्राप्त पद है, जो विज्ञानवादी बौद्धों का विज्ञानरूप निर्मल प्राप्य पद है, उस पदरूप होकर ही ये मुनि वीतहव्य स्थित थे ॥१८॥ कपिलमुनि-निर्मित सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित पुरुषरूप, पतंजलि निर्मित योगशास्त्र में प्रतिपादित क्लेश आदि से वर्जित पुरुष विशेषात्मक ईश्वररूप, चन्द्रचिह्नवाले महादेवजी के अनुयायी पाशुपत मत में प्रदर्शित शिवरूप और काल ही एक तत्त्व है – इस प्रकार प्रतिपादन करनेवाले कालवादियों के मत में प्रदर्शित कालरूप जो तत्त्व है, तत्स्वरूप होकर ये महामुनि वीतहव्य अवस्थित थे ॥१९॥ आत्मा के स्वरूप को भली प्रकार जाननेवाले आत्मवादियों के मत में जो आत्मतत्त्व है, सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत में प्रतिपादित स्थायित्व से अभासमान क्षणिक विज्ञानरूपी जो नैरात्म्यतत्त्व है, चित् और चित् के बीच में शून्यात्मक तत्त्व है, जीवन्मुक्त महापुरुषों के मत में परिपूर्ण ब्रह्मात्मक जो तत्त्व है, तत्स्वरूप होकर ही ये महामुनि अवस्थित थे। शून्यवादियों से उपक्रम कर सर्ववादियों से उपसंहार इसलिए किया गया है कि उनकी परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता-वाद में परम अवधि है और अन्यान्य मध्यपतित मतों में उभय का संमिश्रण है तथा तारतम्य से उनका उत्थान हुआ है, यह द्योतन हो ॥२०॥ जो तत्त्व समस्त शास्त्र का सिद्धान्तभूत है, जो सबके हृदय में अनुगत है, जो सर्वात्मक है और जो सबका स्वरूप है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥२१॥ जो सर्वथा स्पन्दन क्रिया से रहित है, जो समस्त प्रकाशमान सूर्य आदि तेजों का भी भासक बनकर प्रकाशित हो रहा है तथा जो केवल अपने अनुभव के स्वरूपभूत है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि विराजित थे ॥२२॥ जो तत्त्व वास्तव में अद्वितीय होने के कारण एक और मायावश अनेक भी है, जो आचार्य-वाक्य से गम्य होने के कारण व्यवहार में अविद्या से युक्त तथा परमार्थ दशा में स्वतः प्रकाश होने के कारण विद्या से रहित भी है, जो सर्वात्मक होने से सर्वस्वरूप तथा प्रपंचातीत

होने से असर्वात्मक भी है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥२३॥ वह वीतहव्य मुनि उक्त क्रम से मुक्त लोगों की दृष्टि में आकाश के स्वरूप की अपेक्षा निर्मल स्थितिवाले होकर उत्पत्ति शून्य, जरारहित, कारणवर्जित, अद्वितीय, मल से रहित एवं अवयवरहित पद स्वरूप होकर अवस्थित थे और बद्ध लोगों की दृष्टि में क्षण में ईश्वर होकर अपने कार्यों के भेद से अनेक और अवयवयुक्त होकर अवस्थित थे ॥२४॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

वीतहव्य के विमुक्त होने पर हृदय में उनके प्राणों का लय हुआ,
कारण में देह का लय और कलाओं का लय हुआ, यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी उक्त रीति से संसार की अवधि के अन्तिम स्थानभूत पर ब्रह्म को प्राप्त करने के अनन्तर दुःखसागर के पार को प्राप्त हुए महामुनि वीतहव्य आत्यन्तिक मनोनाश होने पर परम विश्रान्त हो गये ॥१॥ महामुनि वीतहव्य के उस प्रकार परम विश्रान्त होने पर निरतिशयसुखात्मक मोक्ष को प्राप्त हो जाने पर तथा समुद्र में जलकण की नाईं अपने पद में प्रतिष्ठित हो जाने पर उसी प्रकार अवस्थित हो रहा क्रियाशून्य वह देह भीतरी विरसता को प्राप्त होकर उस प्रकार म्लान हो गया, जिस प्रकार हेमन्त–ऋतु में कमल म्लान हो जाता है (कुम्हला जाता है) ॥२,३॥

समस्त देह में व्याप्त होकर रहनेवाले प्राणों का हृदय में उपसंहार कहते हैं।

देहरूपी वृक्ष के भीतर अवस्थित, पक्षी की नाईं आचरण करनेवाले उसके तत्–तत् नाड़ी स्थान का परित्याग कर हृदयरूपी घोंसले की ओर उस प्रकार आ गये, जिस प्रकार यन्त्रों से उन्मुक्त शिलाएँ। यहाँ 'देहरूपी वृक्ष के अन्दर अवस्थित हृदयरूपी नीड़ का परित्याग कर प्राण बाहर आ गये' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (तत्त्वज्ञ के वाक् आदि प्राण जाते नहीं है, यहीं लीन हो जाते हैं, वह जीवित दशा में ही ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुति के साथ विरोध होगा और समस्तकर्म और तज्जनित वासनाओं का क्षय हो जाने के कारण उस प्रकार के उत्क्रमण में कोई बीज या प्रयोजन नहीं है ॥४॥

'इति तु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय' इत्यादि श्रुति के अनुसार तथा 'तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' इत्यादि बादरायणसूत्र के अनुसार पहले के जन्मों में अनुष्ठित अग्निहोत्र आदि कर्मों में समवायी अप्शब्दवाच्य सोम, आज्य, पय आदि भूतमात्राओं से युक्त ही लिंगशरीर की – जो चन्द्रमण्डल में आरूढ़ है, भोग के अन्त में आकाशादि क्रम से पृथ्वी में व्रीही, यव, पुरुष और योषित्–रूपी अग्नि में प्रवेश करने से पुरुषाकारता की प्राप्ति का अवगम होने से उन भूतमात्राओं का कारण में अनुप्रवेश कहते हैं।

प्राण से लेकर नाम पर्यन्त सोलह कलाओं से युक्त भूत पृथ्वी आदि महाभूतों में ही लीन हो गये और जो पिता और माता के मल से उत्पन्न स्थूल अंश स्वरूप मांस, अस्थि और आँत–रूपी देह था, वह अरण्य में पृथ्वीतल में मिल गया ॥५॥ लिंग शरीर में प्रतिबिम्बित जीवभूता चिति स्वबिम्बभूत चैतन्य–समुद्र में जा मिली। त्वचा–असृक्, मांस आदि धातु अपने उपादानभूत धातु में मिल गये।

महामुनि के विश्रान्त हो जाने पर सब अपने-अपने उपादानों में ही अवस्थित हो गये ॥६॥

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महामुनि वीतहव्य की यह सैकड़ों विचारों से समन्वित विश्रान्ति कथा आपसे मैंने कही, अब आप अपनी प्रज्ञा से इसका विवेचन कीजिए ॥७॥ हे राघव, इस प्रकार की रमणीय अपनी उत्कृष्ट विचारधारा से तत्त्व का अवलोकन कर उक्त सार का ग्रहण कीजिए और तैयार हो जाइए ॥८॥

अब भगवान् वसिष्ठजी कृपा के आधिक्य से कहे गये, कहे जा रहे और कहे जानेवाले ग्रन्थ का; चिरायु और सर्वदर्शी हम लोगों के द्वारा सब प्रकारों से अनेक बार किये गये विचारों का; लोक, शास्त्र, श्रुति तथा अन्वय और व्यतिरेक से परीक्षा करके किये गये पुनः-पुनः दर्शन को एकात्म्यदृष्टि को अवलम्बित कर ज्ञानप्रतिष्ठा प्राप्त करना ही फल है, इससे अधिक और कुछ पुरुष को सम्पादन करने का नहीं है, यह निर्णीत हुआ, यों विश्वास को दृढ़ करने के लिए कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिसका आपके सामने मैंने वर्णन किया, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकाल को प्रत्यक्षरूप से देख रहे तथा चिरकाल तक जीनेवाले हम लोगों ने उसके विषय में विचार किया है और पूर्णरूप से उसको स्वयं देखा भी है ॥९,१०॥ हे महामते, इस निर्मल दृष्टि का अवलम्बन कर उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करो, क्योंकि ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त की जाती है ॥११॥ हे श्रीरामजी, ज्ञान से ही मनुष्य दुःख के अभाव को प्राप्त होता है, ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि मिलती है, वास्तव में वह दूसरे किसीसे नहीं मिलती ॥१२॥ ज्ञान से समस्त आशाओं का चारों ओर से खण्डन कर महामुनि वीतहव्य अपने चित्तरूपी पर्वत को निःशेषरूप से खण्डन कर अवस्थित थे ॥१३॥

महामुनि वीतहव्य ने अपने हृदय में संकल्पमय जगत् का और उसमें गणत्व का अनुभव किया, ऐसा पहले कहा गया है, ऐसी स्थिति में उन्होंने उस संकल्पमय जगत् के अन्तर्गत सूर्य में प्रवेश कर वहाँ के पिंगल नामक गण के द्वारा इस दृश्यमान जगत् के भूभाग में अवस्थित अपनी देह का उद्धार किस प्रकार किया ? क्योंकि स्वप्न के कुदालों से जाग्रत् की निधियों का खनन नहीं देखा जाता है, इस प्रकार की श्रीरामजी की शंका को चिन्हों से ताड़कर वसिष्ठजी कहते हैं।

उस वीतहव्यात्मिका संवित् ने अपने हृदय से उपलक्षित ब्रह्म में हम लोगों के साधारण दृश्य को ही अपना संकल्प जगत् है, ऐसा अनुभव किया, दूसरे अपूर्व जगत् का अनुभव नहीं किया ॥१४॥

इससे भी यही वह जगत् था, ऐसा कहते हैं।

हम लोगों के चक्षु आदि से दिखलाई पड़ रहे मुनि वीतहव्य हम लोगों के मनोमात्रस्वरूप ही हैं, क्योंकि हम लोगों का मन ही 'अहम्' और 'त्वम्' के रूप में मानों बसता है, मन ही यह समस्त जगत् है, अतः उसमें अन्यत्व और अनन्यत्व क्या होगा ? वन्ध्या के भेद से उसके पुत्रों में कहीं भेदन हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥१५॥

इस प्रकार श्रीरामजी की शंका का समाधान कर प्रकृत अर्थ का ही उपसंहार करते हैं।

जिन्होंने परम प्रयोजनस्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान कर लिया था, जिनके राग आदि दोष क्षीण हो चुके थे, जो समस्त अविद्या,काम, कर्म आदि मलों से, तत्प्रयुक्त इन्द्रिय-विकारों से, देहत्रयरूप

उपाधियों से तथा इन उपाधियों से होनेवाले प्रियादि-संगों से रहित थे, वह विवेकी वीतहव्य मुनि चिरकाल तक चित्तशुद्धि के शोकशून्य उपायों के अनुष्ठानों से यानी श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साक्षात्कार प्रयोजक समाधि भूमिका के अभ्यासों से अपने हृदय में अनुसृत यानी अनुसरण द्वारा साक्षात्कृत अपने स्वभावभूत, निर्मल असीम मोक्षपद को प्राप्त हुए ॥१६॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

जिनका मोह शान्त हो चुका है, ऐसे महात्माओं को आकाशगमन आदि सिद्धियों की इच्छा नहीं होती तथा उनके शरीरों को व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी घर्षित नहीं कर सकते, यह कथन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, महामुनि वीतहव्य की नाईं अपने को तत्त्वज्ञानी बनाकर आप राग, भय और उद्वेग से वर्जित होकर सदा स्थित रहिए ॥१॥ हे राघव, इस ब्रह्माण्ड में तीस हजार वर्षों तक महामुनि वीतहव्य ने शोकवर्जित होकर सुखपूर्वक विहार किया था, आप भी उसी प्रकार शोकशून्य होकर सुख पूर्वक विहार कीजिए ॥२॥ हे दीप्ति सम्पन्न महामते, जिस प्रकार अन्य महामति विदित वेद्य मननशील महात्मा निवास करते थे, उसी प्रकार आप भी अपने राष्ट्र में निवास कीजिए ॥३॥

हे महाबाहो, यद्यपि आत्मा सर्वत्र व्यापक है, तथापि सुख-दुःखों की परम्परा से कभी भी वह पराभूत नहीं होता, अतः आप निरर्थक क्यों शोक कर रहे हैं ? ॥४॥ हे प्रिय श्रीरामजी, आत्मस्वरूप को जान लेने वाले बहुत से महात्मा इस लोक में विचरण कर रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई भी आपकी नाईं दुःख के अधीन नहीं होते ॥५॥ हे श्रीरामजी, आप अपने ही स्वरूप में स्थित हो जाइए, भीतर से सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग करनेवाले हो जाइए,सर्वत्र समबुद्धि हो जाइए और सुखी हो जाइए। आप सर्वत्र व्यापक है,आप आत्मस्वरूप ही है, आपका पुनः जन्म नहीं हैं ॥६॥ जैसे मयुरों के वश में सिंह नहीं हो जाते, वैसे ही आपके सदृश जीवन्मुक्त कोई भी महानुभाव हर्ष, अमर्ष आदि विकारों के वश में नहीं हो जाते ॥७॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, इसी प्रसंग से मुझको यह एक संशय हुआ है, उसको आप मेघ को शरत्काल की नाईं नष्ट कर दीजिए ॥८॥ हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ, जीवन्मुक्त शरीरवाले महात्माओं की आकाशगमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दिखलाई पड़ती हैं ? ॥९॥

'शरीराणाम्' इस शब्द से प्रारब्ध होने पर वीतहव्य मुनि को अपने में जैसे विद्याधरत्व आदि का साक्षात्कार हुआ,वैसे ही मानसिक सिद्धियाँ भी हो ही सकती हैं, यह आशय है।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलभूषण, जो ये देवताओं की आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्रमाणों से उपलब्ध होती है, वे अग्नि में ऊर्ध्व ज्वलन की नाईं स्वभावतःसिद्ध हैं ॥१०॥ हे श्रीरामजी, जो चित्र विचित्र आकाशगमन आदि क्रियाकलाप दिखाई पड़ता है या प्रमाण से उपलब्ध होता है, वह तत्-तत् योनियों में उत्पन्न देह का स्वभाव है, क्योंकि मच्छर आदि में भी आकाशगमन शक्ति दिखाई पड़ती है। इसलिए वह आत्मतत्त्वज्ञों को वांछित नहीं है ॥११॥

तब मनुष्यों को योग की सिद्धि के द्वारा आकाशगमन आदि की प्राप्ति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

हे राघव, आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य प्राकृत अमुक्त जीव भी मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से, उसके परिपाक प्रयोजक काल की शक्ति से आकाशगमन आदि किसी समय प्राप्त कर सकता है। जैसे कि चींटी ग्रीष्म की समाप्ति में कालशक्ति के प्रभाव से पंख-प्रादुर्भाव द्वारा आकाशगमन प्राप्त करती है ॥१२॥ तुच्छ होने के कारण आकाशगमन आदि सिद्धियाँ आत्मज्ञ विद्वान् की अभिलाषा की विषय नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मस्वरूप ज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर चुका है। इसलिए वह अपनी आत्मा में ही तृप्त रहता है, अतः अविद्यामय फलवाले पदार्थों की ओर नहीं दौड़ता ॥१३॥ संसार में जो कोई भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं, इसलिए अविद्या से वर्जित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे डूब सकता है ॥१४॥ जो योगाभ्यास आदि सैकड़ों परिश्रमों से अविद्या को भी आकाशगमन आदि सिद्धियों के द्वारा सुखसाधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं, क्योंकि आकाशगमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं ॥१५॥

तब क्या तत्त्वज्ञ पुरुषों में आकाशगमन आदि सिद्धियों को सम्पादन करने की सामर्थ्य है ही नहीं ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा उत्तर देते हैं।

तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी चिरकालिक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य कर्मों से शास्त्रोक्त उपाय का अनुष्ठान करता है, वह आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है ॥१६॥ यहाँ धन आदि की अभिलाषाओं से वर्जित आत्मस्वरूपज्ञ पुरुष सबसे अतीत हो जाता है, वह अपने ही स्वरूप में सदा सन्तुष्ट रहता है, इसलिए न कुछ चाहता है और न कुछ करता है ॥१७॥ आत्मज्ञ पुरुष को न तो कोई आकाशगमन से, न सिद्धि से, न तुच्छ भोगों से, न निग्रह अनुग्रह सामर्थ्य से, न अपने उत्कर्ष के ख्यापक (घोषणा करनेवाले) अभिमानों से और न आशा, मरण तथा जीवन से ही प्रयोजन है ॥१८॥ सदा सन्तुष्ट, प्रशान्तस्वरूप, रागवर्जित, वासनाशून्य तथा आकाश के सदृश निर्मल आकारवाला तत्त्वज्ञ विद्वान् अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है ॥१९॥ अपने जीवन और मरण की आसक्ति से वर्जित तत्त्वज्ञ पुरुष आकस्मिक प्राप्त हुए सुख और दुःख से अपनी स्वाभाविक तृप्ति का परित्याग नहीं करता ॥२०॥ जैसे समुद्र नदी-प्रवाह और नदी-प्रवाह से प्राप्त तृण, काष्ठ आदि के अपने भीतर प्रवेश से उपचयापचयरूप विकृति प्राप्त नहीं करता, वैसे ही तत्त्वज्ञ प्रारब्ध क्रम के अनुसार प्राप्त हुए अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओं से भी किसी प्रकार की विकृति प्राप्त न कर अपने आत्मा की अखण्डाकारवृत्तिरूपी पुष्पों से पूजा करता हुआ ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥२१॥ तत्त्वज्ञ को यहाँ न तो कृत कर्म से (विधियुक्त अनुष्ठान से) ही प्रयोजन (पुण्य) है और न अकृत कर्म से ही (विहिताकरण से ही) प्रयोजन (प्रत्यवाय-प्राप्ति) है, क्योंकि ज्ञानवान् को ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब भूतों में कोई भी पदार्थ प्रयोजन के लिए आश्रय योग्य नहीं है ॥२२॥ जो आत्मज्ञान से शून्य है, वह भी आकाशगमन आदि सिद्धियों को चाहता है और वह तथाविध सिद्धियों के साधक द्रव्यों से क्रमशः उन्हें सिद्ध करता है ॥२३॥ मणि, मन्त्र आदि युक्तियों से ही इस प्रकार की आकाशगमन आदि सिद्धि हो सकती है। तत्-तत् शास्त्रों में प्रसिद्ध नियति के क्रम को (स्वभाव की सामर्थ्य को) तत्-तत् नियति का विधान करनेवाले त्रिनेत्र आदि श्रेष्ठ देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते ॥२४॥

जो देवता आदि की स्वतः आकाशगमन आदि सिद्धियाँ है, यह वस्तु स्वभाव ही है, अतएव उनमें वे

उत्पत्ति से लेकर जीवनपर्यन्त ही हैं, ऐसा कहते हैं।

देवता आदि में जो आकाशगन आदि सिद्धियाँ हैं, वह वस्तुस्वभाव ही है। दूसरे किसी से वे नहीं आती। जैसे चन्द्रमा शीतलता का परित्याग नहीं करता, वैसे ही नियति का (स्वभावका) परित्याग कोई नहीं कर सकता ॥२५॥ चाहे सर्वज्ञ हो, चाहे बहुज्ञ हो, चाहे भगवान् लक्ष्मीपति हों, चाहे उमापति हों, कोई भी नियति को अन्यथा करने में समर्थ नहीं है ॥२६॥ हे श्रीरामजी, मणि आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्र प्रयोगों में उक्त प्रकार की शक्तियाँ, जो आकाशगमन आदि शब्दों से कही जाती हैं, स्वभावतः सिद्ध हैं ॥२७॥

जैसे विष को हरण करनेवाले औषध आदि द्रव्यों की शक्ति अपने कार्य में समर्थ है, वैसे मणि, मन्त्र आदि की शक्ति भी अपने-अपने कार्य में समर्थ है, ऐसा कहते हैं।

जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र आदि द्रव्य की शक्तियाँ विष का विनाश कर देती हैं, जैसे मदिरा मत्त कर देती है, जैसे माक्षिक मधु अथवा मदनफल खाने पर वमन करा देता है, वैसे योगादि उपायों में कुशल पुरुषों द्वारा प्रयुक्त मणि आदि द्रव्य, काल, क्रिया आदि उपाय स्वभाववश से सिद्धियों को अवश्य उत्पन्न करते हैं ॥२८,२९॥ हे पापशून्य राघव, द्रव्य-काल-क्रियाक्रमस्वरूप आविद्यक विषयों से परे तथा अज्ञान को बाधित कर देनेवाले आत्मज्ञान में आकाशगमन आदि सिद्धियों के प्रति कारणता और विरोधिता नहीं है ॥३०॥

जैसे क्रिया-फल स्वर्गादि में आत्मज्ञान का उपयोग नहीं है, वैसे ज्ञानफलमुक्ति में द्रव्य, देश, क्रिया आदि का भी उपभोग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आत्मतत्त्वज्ञान के फलभूत परमात्मा के पद के लाभ में यानी मोक्ष में द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ कोई भी उपकार नहीं कर सकती ॥३१॥ यदि आकाशमन आदि की किसी पुरुष को इच्छा होती है, तो वह उसकी सिद्धि का साधन पूर्णरूप से करते हैं। आत्मज्ञानी पूर्ण है, अतः उसको कहीं इच्छा नहीं होती ॥३२॥

आत्मज्ञानी को इच्छा क्यों नहीं होती ? इसे कहते हैं।

हे निष्कलंक श्रीरामजी, जो आत्मा की प्राप्ति होती है, वह सब इच्छाओं की शान्ति होने पर ही होती है, अतः आत्मज्ञ को आत्मलाभ की विरोधिनी इच्छा कैसै और किससे हो सकती है ? ॥३३॥

यद्यपि तत्त्ववेत्ता इच्छा से वर्जित है, तथापि वह यदि कौतुकवश यत्नानुष्ठान करे, तो उसे आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

चाहे तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जिसकी जिस प्रकार इच्छा उदित होगी, वह उस प्रकार से उसी इच्छा से यत्न करता है और समय आने पर वह उस सिद्धि को प्राप्त करता है ॥३४॥

तब वीतहव्य को क्यों सिद्धियाँ नहीं हुई ? तो इस पर कहते हैं।

आत्मज्ञान की इच्छावाले वीतहव्य ने सिद्धियों की इच्छा से किसी प्रकार का यत्न नहीं किया और ज्ञान की इच्छा से तो उसने शीघ्र यत्न किया था। जैसे कि इसने अरण्य में ज्ञानाभ्यास के लिए उद्योग किया था, यह पहले वर्णित हो चुका है ॥३५॥

इस प्रकार क्रिया, कर्म और द्रव्यरूपी युक्तियों के स्वभाव से उत्पन्न होनेवाली क्रम प्राप्त सिद्धियाँ

अपनी इच्छा के ही अनुसार सिद्ध हो जाती हैं ॥३६॥

सिद्धि के विषय में या ज्ञान के विषय में अनुपरत प्रयत्न ही अवश्य फलवान् है, इसका मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण में सविस्तार वर्णन किया जा चुका है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, जो-जो आकाशगमन आदि सिद्धिनामक फलो की पंक्तियाँ जिस पुरुष के द्वारा प्राप्त की गई देखी जाती हैं, वे उस पुरुष के द्वारा अपने प्रयत्नरूपी वृक्ष से ही प्राप्त की गई हैं ॥३७॥ जिन्होंने अपना अन्तःकरण पवित्र कर लिया है, जो आत्मतत्त्व-ज्ञान से सम्पन्न है, जो सदा सन्तुष्ट हैं तथा जो सबके द्वारा वांछित परमप्रेमास्पद आत्मसुख को प्राप्त हुए हैं, उन महात्माओं के लिए सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं ॥३८॥

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, मुझे यह एक संशय हो रहा है कि महामुनि वीतहव्य की वह देह हिंसक बाघ आदि द्वारा भक्षित क्यों नहीं हुई और पृथ्वी में कीचड़ आदि के क्लेद से विशीर्ण क्यों नहीं हुई ॥३९॥ भगवान्, अरण्य-स्थित ये वीतहव्य मुनि उसी समय (जब पृथ्वी में ढक गये थे, उसी समय) तत्काल विदेहमुक्त क्यों नहीं हुए ? इन दो प्रश्नों का यथार्थ उत्तर मुझसे कहिए ॥४०॥

प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जो ज्ञानी की संवित् राग आदि मलों से दूषित वासनारूपी ('देह ही मैं हूँ' इस प्रकार देह में अहंभाव की वासनारूपी) तन्तु से बँधी हुई रहती है, वही यहाँ देह के छेदन-भेदन से जनित सुख-दुःख दशारूपी दाह की आश्रय होती है ॥४१॥ देहाभिमान-वासना से विनिर्मुक्त जीवन्मुक्त महात्मा की देह बाधित होने से अधिष्ठानभूत विशुद्ध संवित्-स्वरूप रहती है, अतः उसके छेदन में कोई भी हिंसक प्राणी समर्थ नहीं होते, क्योंकि 'अच्छेद्योऽयम अदाह्योऽयम अक्लेद्योऽशोष्य एव च' (यह आत्मारूपा संवित् न छेद्य है, न दाह्य है, न क्लेद्य है और न शोष्य है) इत्यादि भगवान् का वाक्य है ॥४२॥ *उपपत्ति बतलाने के अनन्तर अब वक्तव्य के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।*

हे महाबाहो, अब आप यह सुनिये कि किस युक्ति से योगी हजारों बरसों तक भी शरीरच्छेदन आदि विभ्रमों के द्वारा आक्रान्त नहीं होता ॥४३॥ श्रीरामजी, चित्त जिस-जिस पदार्थ में जब-जब गिरता है यानी आसक्त होता है, तब-तब उस-उस पदार्थ में आसक्त होकर वह तत्काल ही तद्रूप हो जाता है ॥४४॥ जैसे जब मन शत्रु को देख लेता है, तब वह उस शत्रु के द्वेष के प्रतिबिम्ब से युक्त-सा होकर द्वेष आदि विकार प्राप्त कर लेता है और जब मित्र को देख लेता है, तब वह उसके हृदय के प्रेम के प्रतिबिम्ब से युक्त-सा होकर उत्तम प्रीति को प्राप्त कर लेता है, यह विषय सब लोगों को प्रत्यक्षरूप से अनुभूत है ॥४५॥

इसीलिए यदि एक राग-द्वेष से शून्य रहता है, तो दूसरे में भी राग-द्वेष आदि अनुभूत नहीं होते, यह कहते हैं।

राग और द्वेष से वर्जित पथिक यानी उदासीन पुरुष का, वृक्ष और पर्वत के विषय में तो मन राग और द्वेष से रहित होता है, यह भी सबको अनुभूत है ॥४६॥

इसी प्रकार अचेतन भोज्य आदि पदार्थों के विषय में भी प्रीति, अप्रीति और उदासीनता ये सब उनमें रहनेवाले गुण-दोष और गुण-दोष दोनों के अभाव का मन में प्रतिबिम्ब पड़ने से ही प्रसिद्ध है,

इस आशय से कहते हैं।

सरस स्वादु पदार्थ के विषय में यह मन लालची बन जाता है, नीरस स्वादु पदार्थ के विषय में स्पृहारहित हो जाता है और कटुपदार्थ के विषय में विरस हो जाता है, यह स्वयं सब लोग अनुभव करते हैं ॥४७॥

वैसा मन भले ही हो, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

हे भद्र जो हिंसक जन्तुओं का मन है, वह जब राग, द्वेष एवं विषमता से रहित संवित् के (चैतन्य के) विलास से नितान्त समन्वित योगी की देह में गिरता है, तब तत्काल ही योगी के चैतन्य की समता का प्रतिबिम्ब पड़ने से मानों समता प्राप्त कर लेता है, इसलिए उनके द्वारा हिंसा की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥४८॥

इस विषय में पतंजलि मुनि ने हिंसा प्रतिष्ठा का उपक्रम कर कहा है : 'तत्संनिधौ वैरत्यागः' (अहिंसा–सिद्ध होने पर योगी की संनिधि में हिंसक प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।)

हिंसक प्राणी समदर्शी यति के संसर्ग से द्वेष आदि से मुक्त हो जाता है, इसलिए वह किसी की भी हिंसा करने में उस प्रकार प्रवृत्त नहीं होता, जिस प्रकार पथिक गाँव के समीपस्थ वन में उत्पन्न लता आदि के छेदन में प्रवृत्त नहीं होता ॥४९॥ योगी के शरीर के समीप से हिंसक प्राणी जब अन्यत्र चला जाता है, तो वहाँ जाकर द्वेष आदि से भरा जैसा जैसा जन्तु–समूह मिलता है, वैसा वैसा तदनुरूप वह हिंसक भाव को प्राप्त कर लेता है ॥५०॥ हे श्रीरामजी, इन्हीं दो कारणों से हिंसक मृग, बाघ, सिंह, कीट और सर्पों ने भूगर्भ में प्रकाशित हो रही महामुनि वीतहव्य की देह को क्षत–विक्षत नहीं किया ॥५१॥

'कथं क्लिन्ना न भूतले' (वीतहव्य की देह पृथ्वी में सड़ क्यों नहीं गई) इसका उत्तर देते हैं।

काष्ठ, लोष्ट (मिट्टी का ढेला), पत्थर आदि सर्वत्र स्थानों में मूक बालक के समान सामान्यरूप से संवित्–सत्ता अवस्थित रहती है ॥५२॥

तब पुर्यष्टकों में (सूक्ष्म शरीरों में) ही वह क्यों उपलब्ध होती है ? इस पर कहते हैं।

जैसे जल में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, वैसे ही असमाहित चित्त से संयुक्त पुरुषों को वह संवित् सत्ता केवल पुर्यष्ट कें में ही हजारों विषम परिणामोंवाली, परिच्छिन्न तथा तैर रहे पदार्थ की नाईं चपल दिखाई पड़ती है ॥५३॥

हे राघव, उस वीतहव्य–सम्बन्धी पुर्यष्टक ने तत्त्वज्ञान और तदनुकूल समाधि से अविषम स्वभाव को प्राप्त की गई पृथ्वी, जल, वायु और तेज की संवित् के द्वारा उक्त मुनि–शरीर को समस्त विकारों से शून्य ब्रह्मभाव प्राप्त कराया था, इसलिए वह विकृत नहीं हुआ, यह भाव है ॥५४॥

हे श्रीरामजी, इस विषय में मुझसे आप दूसरी भी युक्ति सुनिए। वह यह है कि स्पन्दन ही नाश में कारण है और यह स्पन्द चित्त से जनित अथवा वात से जनित एक प्रकार का विकार है, यह बात लौकिक व्यवहार में प्रसिद्ध है ॥५५॥ प्राणन–वृत्ति ही प्राण–वायुओं का स्पन्द है। हे राघव, चूँकि वीतहव्य की देह में धारणा द्वारा उक्त प्राणन–वृत्ति के शान्त हो जाने पर वे प्राण पत्थर की नाईं दृढ़ होकर स्थित थे, इसलिए मुनि की वह देह नष्ट नहीं हुई ॥५६॥ जिस महामति के हाथ, पैर तथा प्राण आदि से युक्त शरीर में चित्तजनित अथवा वातजनित स्पन्दन नहीं रहता, उसके शरीर में वृद्धि आदि तथा क्षय आदि विकार उत्पन्न नहीं होते ॥५७॥

हे तत्त्वज्ञ-शिरोमणे, हाथ आदि बाह्य और प्राण आदि आन्तर अवयवों से युक्त शरीर में स्पन्दन-वृत्ति के प्रशान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपनी पूर्वावस्था का कभी भी परित्याग नहीं करतीं ॥५८॥ इसी तरह चित्तजनित और वातजनित देह-स्पन्दन के शान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपने चंचल स्वरूप से भलीभाँति स्तम्भित होकर मेरु पर्वत के सदृश दृढ़ स्थिरता धारण करती हैं ॥५९॥ इसीलिए प्राणस्पन्द के शान्त हो जाने पर काष्ठ के सदृश योगियों के शरीरों में दृढ़ स्थिति और मुर्दे में कम्पन-शून्यता लोक में देखी जाती है ॥६०॥ इस युक्ति से हजारों बरसों तक योगियों के शरीर इस लोक में मेघों की नाईं न तो क्लिन्न (गीले) होते हैं और न भूगर्भस्थित शिला की नाईं विशीर्ण होते हैं ॥६१॥

अन्तिम प्रश्न का अनुवादपूर्वक उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामजी, अब आप यह सुनिये कि जिन उपायों से ब्रह्म ज्ञात होता है, उस उपायों से समन्वित बड़े महात्माओ में सर्वश्रेष्ठ यह महामुनि वीतहव्य उसी समय अपनी देह का उत्सर्जन कर मुक्त क्यों नहीं हो गये ? ॥६२॥ हे भद्र, जो विषयअभिलाषाओं से वर्जित, अज्ञानग्रन्थि से निर्मुक्त तथा विदित वेद्य महामति महात्मा हैं, वे सब अपनी देह के विषय में स्वतंत्र होकर स्थित रहते हैं यानी देह को रखना या छोड़ना उनकी इच्छा की बात है। क्योंकि श्रुति भी है 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति' (तत्त्वज्ञ महाविद्वान् का देवता अभूति के लिए यानी सर्वात्मक ब्रह्मभाव-प्राप्ति के निराकरण के लिए समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह देवताओं के आत्मस्वरूप हो जाता है) ॥६३॥

अब योगियों की स्वतन्त्रता का ही उपपादन करते हैं।

हे श्रीरामजी, दैव (पूर्व के अनुष्ठित कर्मों का फल देनेवाले ईश्वर), कर्मों की प्रधानतावाद में प्रतिपादित प्राक्तन या वर्तमान कर्म और वासना ये सब उन योगियों के चित्त को, जो अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का उपभोग करने के लिए प्रवृत्त है, अन्यथारूप से प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं हैं ॥६४॥

हे प्रीतिपात्र श्रीरामजी, इसलिए तत्त्वज्ञों का अन्तःकरण काकतालीय की नाईं अकस्मात् जिस क्षण में जिस किसी की यानी प्रारब्ध प्राप्त जीवन या मरण की भावना करता है, उसी क्षण में उस को ठीक रूप से कर डालता है ॥६५॥ काकतालीय न्याय से वीतहव्य की संवित् ने उस समय जीने की भावना की और उसी को तत्काल स्थिर कर डाला ॥६६॥ प्रारब्ध की समाप्ति हो जाने पर जब वीतहव्य की प्रतिभा (संवित्) विदेहमुक्तता की ओर झुक गई यानी उसने विदेहमुक्ति की भावना की, तब वह विदेहमुक्त हो गये, क्योंकि यह मुनि अपने जीने आदि में स्वतन्त्र थे ॥६७॥

उक्त अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, समस्त वासनाओं से विनिर्मुक्त तथा अज्ञानरूपी बन्धन से वर्जित होने के कारण तत्काल ही अन्तःकरणउपाधिक वीतहव्य का जीव पारमार्थिक आत्मस्वभाव उदित हुआ। चूँकि वह सकल शक्तियों के निधि महेश्वर ही थे, अतः जो चाहते थे, उसी समय वह हो जाता था। कहा भी है :

तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावे तु तण्डुलः। पाशबद्धः सदा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥

जैसे छिलकों से युक्त चावल धान कहा जाता है और छिलकों के अभाव में यानी शुद्ध तंदुल कहा जाता है, वैसे ही अज्ञानरूपी पाश से युक्त चेतन सदा जीव कहा जाता है और अज्ञानपाश से वर्जित चेतन शुद्ध सदा शिव कहा जाता है ॥६८॥ नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

मैत्री आदि गुणों से उपेत तथा निष्कल भाव को प्राप्त दो प्रकार के चित्त-नाश का विस्तारपूर्वक वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : महाभाग, वीतहव्य का चित्त जब विचार से, भूँजे बीज की नाईं, अंकुरशक्ति से रहित हो गया था और प्रतिभास से रहित नहीं हुआ था, तब उसमें मैत्री आदि गुणों का आविर्भाव हो गया ॥१॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, आत्मा और अनात्मा के विचार से महामुनि वीतहव्य के बाधित हुए अन्तःकरण-स्वरूप में मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथन का क्या अभिप्राय है ? ॥२॥ हे वाग्मियों के शिरोमणि, जब चित्त ब्रह्म में बाध हो गया, तब किसमें मैत्री आदिगुण उत्पन्न होंगे और कहाँ वे प्रस्फुरित होंगे, यह आप मुझसे कहिए। तात्पर्य यह है कि उस परिस्थिति में यह शंका होती है कि क्या जिसका बाध हुआ है, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए ? या क्या जिस अधिष्ठान में बाध हुआ है, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए एवं उक्त गुण क्या चिदाभास में प्रस्फुरित होते हैं अथवा बिम्बभूत चैतन्य में ? इनमें से किसी भी पक्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि बाधित मृगतृष्णा नदी में या उसके अधिष्ठान मरुभूमि में शैत्य आदि गुण उत्पन्न होते नहीं देखे जाते। इसी प्रकार वहाँ उनका भासक कोई पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होता ॥३॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है – एक सरूप विनाश दूसरा अरूप विनाश, सारांश यह है कि स्फटिक आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब में जिस प्रकार अन्य पुरुष के भ्रम का आभास होता है, उस प्रकार चित् में पड़े हुए चित्त प्रतिबिम्ब में चिदन्तरत्व (अन्य चित् का) का आभास होता है, उस भासमानरूप से युक्त एक चित्तविनाश होता है और दूसरा तादृश रूप से शून्य चित्त विनाश होता है। पहला सरूप विनाश तो जीवनमुक्ति होने से होता है और दूसरा अरूप विनाश विदेहमुक्ति से हो जाता है ॥४॥ इस संसार में चित्त का अस्तित्व (चित्तदर्शनपूर्वक आत्मा का अदर्शन) दुःख का कारण है और चित्त का विनाश (चित्तअदर्शनपूर्वक आत्मदर्शन) सुख का कारण है। अतः पहले चित्त की अस्तिता का विनाश कर तदनन्तर चित्त का विनाश कर देना चाहिए ॥५॥

तब किस तरह की चित्त सत्ता है ? उसे कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिसका बाध नहीं हुआ है, उस अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जो जन्मकारण मन है, वही विद्यमान मन है, यह आप जानिए। वह विद्यमान मन केवल दुःख का ही कारण है ॥६॥ प्राक्तन अनादि अध्यास से सिद्ध देह, इन्द्रिय, विषय आदि के धर्मों में आत्मा के संसर्गाध्यास से ममता होती है और उससे 'वे मेरे हैं' यों जीव घना अभिमान कर लेता है। इसी एकमात्र अभिमान से जो आत्मतत्त्व को न पहचाननेवाला दुःखग्रस्त अज्ञानी चित्त है, वही जीव कहा जाता है ॥७॥ जब तक मन का अस्तित्व है, तब तक दुःख का विनाश कैसे ? जब मन अस्त हो जाता है, तब प्राणी का संसार भी अस्त हो जाता है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस अज्ञानी जीव में ही वासनारूपी अंकुरों के समूहों से दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुआ विद्यमान मन ही दुःखरूपी वृक्ष का मूल है, यह आप जानिए। दुःखरूप वृक्षों के जंगल के अंकुर उसी मन से उत्पन्न होते हैं ॥९॥

श्रीरामजी ने कहा : ब्रह्मन्, किस महात्मा का मन विनष्ट हुआ था ? विनाश को प्राप्त हुए मन का स्वरूप किस प्रकार का होगा ? चित्त का नाश कैसा है ? और नाश को प्राप्त हुए मन की व्यवहार क्षमता का लक्षण क्या है ? ॥१०॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ रघुकुलवाहक श्रीरामजी, मैंने 'तामसैर्वासना-जालैः' इत्यादि पूर्व वाक्य से चित्त की सत्ता का स्वरूप बतलाया है। अब आप इसके विनाश का स्वरूप सुनिए ॥११॥ हे श्रीरामजी, जैसे निःश्वास वायु पर्वतराज को अपने स्वरूप से विचलित नहीं करते, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सुख-दुःख दशाएँ जिस धीर पुरुष को सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस स्वात्मनिष्ठा से विचलित नहीं करती, विद्वान् लोग उस महात्मा के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥१२॥ 'यह सात बित्ते का शरीर ही प्रसिद्ध मैं हूँ, यह उससे अतिरिक्त घट आदि सब मैं नहीं हूँ', इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस पुरुष को भीतर से संकुचित नहीं करती, विद्वान् उस पुरुष के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥१३॥ जिस नररत्न को आपत्ति, कार्पण्य यानी दरिद्रता, उत्साह यानी पुत्रादि प्राप्ति प्रयुक्त हर्ष, मद, मन्दता (अपटुता) और महोत्सव यानी विवाह आदि विरूपता की (विकारिता की) ओर नहीं ले जाते, विद्वान् लोग उसके चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥१४॥

लक्षण की उक्ति का उपसंहार करते हैं।

हे साधो, इस लोक में यही चित्त का विनाश है और इसीको नष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महानुभाव की चित्त नाश-दशा है ॥१५॥

हे निष्पाप श्रीरामजी, मनस्ता (परमार्थरूपता की भ्रान्ति से घटादिदृश्य पदार्थों का मनन करना) ही मूढ़ता है, यह आप जानिए। जब उसका विनाश हो जाता है, तब चित्त विनाश नामक शुद्ध सत्स्वभावता का भली प्रकार उदय होता है ॥१६॥

हे राघव, उस विशुद्ध सत्स्वभावत्वरूप चित्त विनाश का, जो जीवन्मुक्त स्वभावात्मक है, किन्हीं लोगों ने चित्त नाम रक्खा है ॥१७॥ हे पापशून्य रामजी, जीवन्मुक्त मन मैत्री आदि शुभ गुणों से सम्पन्न उत्तम वासनाओं से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है ॥१८॥ हे श्रीरामजी, ब्रह्माकार वासना से ओतप्रोत, पुनर्जन्म से निर्मुक्त जो जीवन्मुक्त मन की सत्ता है, वह सत्त्वनाम से व्यवहृत होती है ॥१९॥

भद्र, व्युत्थानकाल में ही प्रतिभासरूप से अनुभूत होने से मानों साकार स्वरूप को प्राप्त तथा सन्मात्रस्वभाव की प्राप्ति होने के कारण देह आदि-परिच्छेद के संस्पर्श से शून्य जो जीवन्मुक्त का स्वरूप है, यह मननीय विषय के न रहने से उसका सरूप मनोनाश है ॥२०॥

इससे 'सत्ता नाशस्य कीदृशी' इस प्रश्नांश का समाधान हुआ, यह समझना चाहिए। इसीलिए मैत्री आदि गुणों की भी वहाँ प्रतिभासित रूप से उपपत्ति हो सकती है, यह कहते हैं।

तदनन्तर जिस प्रकार चन्द्रमा में प्रसन्न ज्योत्सनाएँ रहती है, वैसे ही जीवन्मुक्त मनोविनाश में प्रसन्नता, मैत्री आदि गुण सदा सब तरह से रहते हैं ॥२१॥ संतोषरूपी शीतलता के आश्रय, सत्त्वनामक जीवन्मुक्तस्वरूप मनोनाश-दशा में गुणरूपी सम्पत्तियाँ उस प्रकार प्रस्फुरित होती है, जिस प्रकार हिमालय में वसन्त ऋतु में मंजरियाँ प्रस्फुरित होती हैं ॥२२॥

दूसरे अरूप मनोनाश का दिग्दर्शन कराते हैं।

हे रघुकुलभूषण, जो मैंने पहले अरूप मनोनाश कहा था, वह विदेहमुक्त का ही विषय है तथा अवयवादि विकारों से वर्जित है ॥२३॥ श्रीरामजी, परम पवित्र विदेहमुक्तिरूपी निर्मल पद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रय भी प्रातिभासिक मन विलीन हो जाता है ॥२४॥ भद्र, विदेहमुक्त महात्माओं के प्राप्य विषय उस सत्त्वविनाशरूप अरूप चित्तनाश दशा में किसी भी दृश्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि 'यत्र नाऽन्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (जिस परब्रह्म पद की प्राप्ति–दशा में न दूसरा दिखाई पड़ता है, न दूसरा सुनाई पड़ता है, न दूसरा ज्ञात होता है, वह भूमा है) इत्यादि श्रुति है ॥२५॥

कथित अर्थ का ही विस्तार करते हैं।

वहाँ यानी अरूप चित्त विनाश दशा में न मैत्री आदि गुण है, न गुणाभाव यानी मनोदोष हैं, न श्री (गुणसमृद्धि) है, न श्री का अभाव (दोषसमृद्धि) है, न चपलता है, न उदय है, न अस्त है, न हर्ष है, न अमर्ष है और न पृथक् तदीय परिज्ञान है ॥२६॥ न तेज (मायिक सत्त्ववृत्ति) है, न कुछ तम (मायिक तमोवृत्ति) है, न सन्ध्या है, न दिन है, न रात है, न दिशाएँ हैं, न आकाश है, न नीचा प्रदेश है और न अनर्थरूपता है ॥२७॥ न कोई वासना है, न किसी प्रकार की रचना है, न इच्छा है, न अनिच्छा है, न राग है, न भाव है, न अभाव है और न उक्त पद साध्य है ॥२८॥ वह परमपद तम और तेज से शून्य; तारे, चन्द्र, सूर्य और वायु से वर्जित; सन्ध्या, रजःकरण और सूर्यकान्ति से रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाश के सदृश अत्यन्त निर्मल है ॥२९॥ जिस प्रकार वायु का विशाल आकाश प्रतिष्ठा स्थान है, वैसे ही वह विशाल पद उन लोगों का प्रतिष्ठा स्थान है, जो लोग संसार के कारण चित्त और तज्जनित निरन्तर भ्रमण से परे हो गये हैं ॥३०॥ विविध दुःख से निर्मुक्त, स्वयं चैतन्यरूप होता हुआ ही सुप्त पुरुष, की नाईं उन्मेष आदि क्रियाओं से शून्य, ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण तथा रज और तम से रहित जो पद है , उस पद में वे महात्मा अपुनरावृत्ति से स्थिरता पूर्वक रहते हैं, जो प्रतिभासिक चित्तांश से भी शून्य, विदेहमुक्त (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से रहित) एवं आकाश कोश के सदृश सूक्ष्म (इन्द्रिय अगम्य) हो गये हैं ॥३१॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

संसाररूपी लता का कारण शरीर है,
शरीर का कारण मन है तथा मन के कारण प्राण स्पन्द और वासना ये दो हैं, यह वर्णन।

परब्रह्म में अध्यस्त चौदह भुवन–स्वरूप जगत् में विस्तृतरूप से फैली हुई जीव सृष्टिरूपी लता के बीजों की परम्परा की सीमा कहाँ तक है ? इसको मूल का उच्छेद करने में उपाय जानने की अभिलाषा से पूछने की इच्छावाले श्रीरामजी पहले जगत् का वन के रूप में वर्णन करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : महाराज, (यह जगत् एक तरह का बड़ा भारी वन है, वहाँ पर) निर्विशेष पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में पर्वत की नाईं प्रतिबन्धक होने से पर्वत तुल्य अव्याकृत में उत्पन्न चित्रविचित्र

पृथक् पृथक् ब्रह्माण्ड ही वृक्ष हैं, उन वृक्षों पर तारागण ही फूल लगे हैं, देवता और असुर पक्षी हैं। विद्युत्-रूपी मंजरियों से समन्वित दिशारूपी शाखाओं के अग्रभागों में नील आदि वर्णवाले मेघ ही पल्लव हैं। वह सब ऋतुओं में सुन्दर चन्द्रमा और सूर्यरूपी विकास-रमणीय पुष्पों से उन्नत दाँत से युक्त होकर हँसता हुआ-सा स्थित है, सात समुद्ररूपी बावड़ियों से वेष्टित है, सैकड़ों नदियों से मनोहर है, लोकभेद से चौदह प्रकार के और व्यक्तिशः असंख्य भूतगणों से उपजीवित है यानी उनके जीवन का साधन है ॥१-३॥ हे ब्रह्मन्, इस प्रकार के जगत्-रूपी महाअरण्य का आक्रमण करके यानी वासना-प्रतानों (विस्तारों) से चारों ओर संवेष्टन करके जालरचनापूर्वक स्थित हुई जीवसृष्टिरूपी द्राक्षलता, - जिसका विस्तृत आकार है, जरा और मरण ही जिसकी पर्व-काण्ड-ग्रन्थियाँ (पोर) हैं, जिस पर सुख-दुःखरूपी फलों की पंक्तियाँ लगी हैं, माया ही जिसका दृढ़ मूल है, मोह ही जिसकी सिंचन-साधन जलों की अंजलियाँ है उसका बीज क्या है ?। उस बीज का भी बीज क्या है, उस बीज के बीज के बीज क्या है और तृतीय बीज का भी बीज क्या है ॥४-६॥ हे वाग्मियों में सर्वश्रेष्ठ, संक्षेप से इन चार प्रश्नों का मुझको उत्तर दीजिए, जिससे कि फिर मुझमें ज्ञान की अभिवृद्धि हो और ज्ञानरूप तत्त्वांश की सिद्धि हो ॥७॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : राघव, लिंगदेह में प्रच्छन्न (छिपे हुए) चित्र विचित्र अनन्त कार्यों के उत्पादक शुभाशुभ कर्म ही जिसके बड़े-बड़े अंकुर हैं, वह शरीर ही जीव-सृष्टिरूपी लता की बीज है, यह आप जानिए ॥८॥ जिस प्रकार शरत्-काल में शाखाओं के विस्तारों से गहन तथा फल और पल्लवों से शोभित होकर पृथ्वी शस्य-सम्पत्ति से (हरियाली से) बढ़ जाती है, वैसे ही यह जीव-संसृतिलता उससे यानी उक्त शरीर से अत्यन्त बढ़ जाती है ॥९॥

'तस्य किं बीजमुच्यते' (उस शरीर का बीज क्या है ?) इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

वैभव की वृद्धि और क्षति इन दो दशाओं के निधिभूत तथा विविध दुःखरूपी रत्नों की पिटारीस्वरूप चित्त उक्त शरीर का बीज है, जो कि आशाओं का वश में रहनेवाला एक तरह से अनुचरभूत है ॥१०॥ एकमात्र तथोक्त सर्वोपरि चित्त से ही यह वर्तमान, भूत और भविष्यत् के शरीर समूह उत्पन्न हुए हैं। और यह बात सबको स्वप्न के भ्रमों में स्वयं अनुभूत होती है ॥११॥ हे रघुश्रेष्ठ, जिस प्रकार मुमूर्षु मरणासन्न पुरुष के उत्पात प्रदर्शनसंकल्प से युक्त चित्त से ही झरोखे आदि से युक्त तथा सुन्दर आकारवाला गन्धर्व नगर उत्पन्न होता है, वैसे ही तत्-तत् शरीरसंकल्प से युक्त चित्त से ही तत्-तत् शरीर उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

इस प्रतिपादित अर्थ की असंभावना करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि समस्त जगत् हिरण्यगर्भ का एकमात्र मनोविकाररूप है, यह सब श्रुति और पुराणों में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सम्पूर्ण उपचारों से परिपूर्ण जो मिथ्या जगत् का स्वरूप दृश्यता को प्राप्त है, वह चित्त से उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मृत्तिका से घट आदि स्वरूप उत्पन्न होते हैं ॥१३॥

तदनन्तर उसका भी बीज क्या है, इस तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

राघव अनेक तरह की वृत्तियाँ धारण करनेवाले चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं एक प्राण परिस्पन्द और दूसरा दृढ़ वासना ॥१४॥

प्रथम बीज का उपपादन करते हैं।

जब हृदय की नाड़ियों में संचरण के लिए उद्युक्त होकर प्राण वायु अपना व्यापार करने लगता है, तब चेतनविकार–प्रायः (वृत्तिज्ञान प्रचुर) चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है ॥१५॥ जब बाह्य पदार्थों के अनुभव से जिन संस्कारों का उद्‌बोधन होने के कारण बहत्तर हजार नाड़ी मार्गों के छिद्रों में प्राण अपना व्यापार छोड़ देता है, तब उससे चित्त अन्दर उत्पन्न नहीं होता ॥१६॥

हिरण्यगर्भ की चिति की जगदाकारता भी समष्टि–प्राण के परिस्पन्दन से ही युक्त होती है, यह बात अपने चित्त के स्पन्दन के दृष्टान्त से लक्षित होती है, यह कहते हैं।

यह प्राण–प्रस्पन्दन–स्वरूप ही इस प्रकार का जगत् नामधारी पदार्थ चित्त के द्वारा उस प्रकार लक्षित होता है, जिस प्रकार आकाश में नीलत्व आदि लक्षित होते हैं ॥१७॥ समष्टि प्राणस्पन्दन के विषय में उपरत उस चिति की शान्ति यानी निष्क्रियता ही शान्ति अर्थात् जगत्–प्रलय या मोक्ष कहा जाता है, प्राण के स्पन्दन से संवित् करतल से विताड़ित गेंद की नाईं, ऊपर नीचे होती रहती है ॥१८॥ श्रीरामजी, प्राण –स्पन्दन से बोध को प्राप्त हुई संवित् देहों में चक्राकार आवर्तों से उस प्रकार प्रस्फुरित होती है, जिस प्रकार करतल से विताड़ित गेंद आँगन में चक्राकार आवर्त से प्रस्फुरित होता है ॥१९॥ जिस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म–स्वरूपवाली गन्धलेखा वायु से बोधित होती है, वैसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आकारवाली सत्स्वरूपिणी सर्वगता संवित् प्राण प्रस्पन्दन से बोधित होती है ॥२०॥

हे राघव, संवित् की विक्षिप्तता न होने पर मोक्षरूप सर्वातिशायी कल्याण प्राप्त होता है, यह आप जानिए। क्षोभ हेतु प्राण स्पन्दन का जहाँ पर प्राणायाम के अभ्यास से विनाश हो जाता है, वहाँ पर क्षोभ होता ही नहीं है ॥२१॥

संवित् का संरोध करने से क्या फल है ? और संवित् यदि चित्ताकार हो जाय तो कौन दोष है ? इस पर कहते हैं।

भली प्रकार उदित हुई संवित् तत्काल ही बाह्य विषयों की ओर राग वश चली जाती है, तदनन्तर उनके उपभोग के संवेदन से चित्त को अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं ॥२२॥ जब संवित् बाह्य विषयों में उदासीन होकर आत्मबोध के लिए उद्युक्त होती है, तब प्राप्त करने योग्य वह निर्मल मोक्षरूप पद प्राप्त हो जाता है ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए जिस प्रकार मूढ़ पुरुष प्राण–परिस्पन्दों से तथा रागातिशय के द्वारा वासनाओं के उत्पादनों से संवित् को विस्तृतत्वप्रयुक्त मनस्त्व की संपत्ति से युक्त करते हैं, उस प्रकार यदि आप संवित् को विस्तृत नहीं करते हैं, तो जन्म आदि समस्त विकारों से शून्य होकर मुक्त ही हो जायेंगे ॥२४॥ श्रीरामजी, संवित् की स्थूलता को (मोटेपन को) आप चित्त जानिये, संवित् के स्थूलतारूपी उसी चित्त ने इस अनर्थ जाल का विस्तार किया है, जिसने कि मनुष्य जीवों को खण्डित और जर्जर कर डाला है ॥२५॥ योगी लोग चित्त की शान्ति के लिए योगशास्त्र में बतलाये गये प्राणायाम, ध्यान तथा सद्‌गुरु के सम्प्रदाय आदि से सिद्ध युक्ति–कल्पित शान्तिकारक उपायों के अभ्यास से प्राण का निरोध करते हैं ॥२६॥

फल की एकता के रूप से प्राण के संरोधन की ही प्रशंसा करते हैं।

हे श्रीरामजी, बड़े बड़े विद्वान लोग प्राण–निरोध को ही चित्त–शान्ति रूप फल का दाता, उत्तम

समता का हेतु, छः प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त तथा संवित् की स्वस्थता कहते हैं ॥२७॥

चित्त के अन्य बीज का वर्णन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

हे राघव, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा भली प्रकार उपदिष्ट तथा स्वयं अनुभूत वासनाओं से जीवन पर्यन्त उज्जीवित इस चित्त की दूसरे प्रकार से उत्पत्ति सुनिए ॥२८॥

उसमें पहले वासना का स्वरूप कहते हैं।

पहले के जन्मों की दृढ़ भावना से देह आदि जड़ पदार्थों का जो 'अहम्' 'मम' इत्यादि संस्काररूप से आदान (ग्रहण) होता है, वह यदि पूर्वापर विचार से शून्य हो जाता है तो वह वासना शब्द से व्यवहृत होता है 'वासयति भावयति इति वासना' व्युत्पत्ति से आत्मा को देह आदि भावों में भावित करनेवाला संस्कार वासना कहा जाता है। पूर्वापर के विचारों से युक्त जीवन्मुक्त महात्माओं का देह आदि संस्कार वासना नहीं है, क्योंकि विरोधी पूर्वापर विचारों से समन्वित होने के कारण उनको उक्त संस्कार देहादि भावों में भावित नहीं कर सकता, यह भाव है ॥२९॥

अज्ञानी आत्माओं को तो वह संस्कार, किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण, तीव्र संवेग और भावना की दृढ़ता के देहादिभाव में भावित कर सकता है, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो, तीव्र संवेग से आत्मा के द्वारा जिस पदार्थ की भावना की जाती है, तत्काल ही वह महात्मा अन्य संस्मरणों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है ॥३०॥

वह भावना जिस प्रकार देह में आत्मता दीखलाती है, उसी प्रकार बाह्य अर्थों में सत्ता भी दीखलाती है, ऐसा कहते हैं।

वासना के द्वारा अत्यन्त वशीकृत उस भावना से भावित वह पुरुष, जिस किसी को देख लेता है, उस सबको वह यह सत्-वस्तु है, इस प्रकार मोह कर लेता है ॥३१॥ वासना के वेग से पुरुष अपने रूप को छोड़ देता है और जिस प्रकार मदिरा के मद से दुष्टदृष्टि होकर वासना के द्वारा उपस्थापित समस्त भ्रान्त जगत् के रूप को देखता है ॥३२॥ आत्ममिथ्याज्ञान से युक्त हुए पुरुष भीतरी वासनाओं से वशीकृत होकर, विष से वशीकृत पुरुष की नाईं, अनेक मानसी आपत्तियों से विकल रहता है ॥३३॥

वही चित्त की चित्तता के रूप से वासना प्रयुक्त उत्पत्ति है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिससे अनात्म-वस्तु में आत्मत्वबुद्धिरूप अयथार्थ ज्ञान और अवस्तु में वस्तुत्व-रूप अयथार्थ ज्ञान होता है, उसको आप चित्त जानिए ॥३४॥

हे भद्र, दृढ़ अभ्यास के कारण देह आदि पदार्थों में 'अहम्, मम' आदि आत्माध्यासरूप एकमात्र वासना से ही जन्म, जरा और मरण में हेतुभूत अतिचपल चित्त की उत्पत्ति होती है ॥३५॥

इसीलिए वासना के विनाश से चिति की स्वस्थतारूप मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जो कुछ भी हेयस्वरूप और उपादेय स्वरूप वस्तु है, वह जब अस्तित्व प्राप्त नहीं करती और सबका परित्याग कर अवस्थित रहती है, तब चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥३६॥ हे श्रीरामजी, निरन्तर वासना का अभाव होने से जब मन मनन नहीं करता, तब अमनस्ता का उदय होता है, जो निरतिशय मोक्षस्वरूप शान्ति प्रदान करती है ॥३७॥ आकाश में मेघ की नाईं संविदाकाश में जब कुछ भी स्फुरित नहीं होता, तब आकाश में कमल की नाईं चिदाकाश में चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥३८॥ जब जगद्रूप

वस्तु में किसी पदार्थ की भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाश में चित्त कैसे उत्पन्न होगा ? ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बस, इतना ही चित्त का स्वरूप मैं मानता हूँ कि राग से जगत्–रूपी वस्तु के अन्दर आत्मरूप वस्तुत्व से भावना करना ॥४०॥ हे श्रीरामजी, इस कारण कोई भी दृश्य युक्तियों से समर्थन करने योग्य नहीं है, इस प्रकार की भावना कर रहे तथा आकाशकोश की नाईं अति स्वच्छ आत्मपदार्थ में चित्त का उदय कैसे होगा ? ॥४१॥

अब अचित्तत्व का लक्षण कहते हैं।

हे श्रीरामजी, बाह्यवस्तुओं से अस्मरणरूप निरोधयोग का अवलम्बन करने से समस्त दृश्यों के परिमार्जन–स्वरूप अभाव का सम्पादक पारमार्थिक आत्मदर्शन से जो स्वरूप आविर्भूत होता है, वह अचित्त कहा जाता है ॥४२॥

तब वृत्ति से विशिष्ट चित्त के रहने पर जीवन्मुक्त अचित्त कैसे ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, भीतर से सब कुछ का परित्याग कर सुशीतल ब्रह्मरूप आशय में लगा हुआ जो चित्त है, वह कदाचित् वृत्ति से युक्त हो गया, तो भी वह असत् स्वरूप ही है ॥४३॥

दग्धपट के अवभास से सत्यपटरूपता नहीं कही जा सकती, किन्तु असत्यपटरूपता ही कही जा सकती है, यह तात्पर्य है।

हे श्रीरामजी, जिस महामति पुरुष को संस्कार से जनित विषयरसास्वाद के संस्मरण से विषयानुरक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस महामति पुरुष का चित्त अचित्तरूपता को तथा विशुद्ध सत्त्व को यानी पटभस्म की नाईं अवशिष्ट अधिष्ठानभूत सत्ता को प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है ॥४४॥

तब जीवन्मुक्त पुरुष व्यवहार क्यों करता है ? इस शंका पर कृतकार्य कुम्हार के चक्रभ्रमण की नाईं वह व्यवहार करता है, ऐसा समाधान देते हैं।

जिस महापुरुष में पुनर्जन्म की उत्पादक वासना है नहीं, वह चक्र की भ्रमि के सदृश जगत् के व्यवहार में निरत होता हुआ भी जीवन्मुक्त और सत्त्वस्थ है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुम्हार के व्यापार के अभाव में भी चक्र का भम्रण तब तक होता रहता है, जब तक कि उसमें संस्कार (वेग) रहता है, उसी प्रकार अविद्या के क्षीण होने पर भी संस्कार के अवशिष्ट रहने से जीवन्मुक्त शरीर और उसका व्यवहार दोनों प्रारब्ध भोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं ॥४५॥ इन महानुभावों की वासना भूँजे बीज के सदृश पुनर्जन्म से शून्य और रस से वर्जित यानी विषयानुरक्ति से रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त होकर अवस्थित रहते हैं ॥४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका चित्त सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञान के पारंगत हुए वे महात्मा 'अचित्त' शब्द से व्यवहृत होते हैं। प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर वे चिदाकाशस्वरूप हो जाते हैं ॥४७॥

वासना के बीज का विनाश होने पर अन्य बीज से चित्त की उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ? तो इस पर कहते हैं।

हे रामजी, चित्त के दो कारण है, एक प्राणस्पन्दन और दूसरा वासना। उन दो कारणों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर तत्काल दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥४८॥ हे श्रीरामजी, जैसे घटाकाश के द्वारा जल का स्वीकार करने में घट और जलाशय दोनों मिलकर कारण होते हैं। वैसे ही चित्त की उत्पत्ति में

ये दोनों परस्पर मिल कर ही कारण होते हैं, एक कारण नहीं होता ॥४९॥ श्रीरामजी, केवल एक मात्र घनीभूत वासना ही बलपूर्वक पुनर्जन्म उत्पन्न नहीं करती। *'उसका भी क्या बीज है' इस चतुर्थ प्रश्न का भी, अनवस्था का परिहार करते हुए, उत्तर देते हैं।* ये प्राणस्पन्दन और वासना दोनों, तिलो में तेल की नाईं, एक दूसरे के भीतर स्थित हैं और बीजांकुरन्याय से काल की अपेक्षा रखनेवाले क्रम से युक्त होकर एक दूसरे का कारण है ॥५०॥

इसी प्रकार चित्त की भी उन दोनों के प्रति और ऐन्द्रियक सुख-दुःख आदि के प्रति कारणता है, ऐसा कहते हैं। संवित्-स्वरूप यह चित्त सबको यथाक्रम से यानी पहले प्राण को, तदनन्तर इन्द्रियों को और तत्-प्रयुक्त आनन्द को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार पूर्व में उपभुक्त विषयानन्द और तात्कालिक जीवनस्वरूप पवनस्पन्द में वासनारूप से भी चित्त की उत्पादकता है, ऐसा कहते हैं।

जब आनन्द और पवन दोनों वासनास्वरूप हो गये, तब उन्होंने साथ मिल कर ही चित्त का उत्पादन किया। वे पुष्प में सुगंधि तथा तिल में तेल के समान व्यवस्थित हैं, इसलिए एक दूसरे का एक दूसरा आश्रय और एक दूसरा का एक दूसरे हेतु हो सकता है, अनावस्था दोष का प्रसंग नहीं हो सकता ॥५१,५२॥

हे श्रीरामजी, चित्तरूप बीज में वासना से ही प्राण स्पन्दन होता है प्राण-स्पन्दन से वासना होती है और उससे बीज का अंकुरक्रम उत्पन्न होता है ॥५३॥

दोनों में चित्तउत्पादकता है, इसका प्रकार बतलाते हैं।

वासना का ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से वह संवित् के क्षोभकारक कर्म से प्राण प्रस्पन्दन का उद्बोधन करती है उससे चित्त उत्पन्न होता है ॥५४॥ स्पन्दनधर्मवान् होने से हृदयगत राग आदि गुणों की प्रेरणा करनेवाला प्राण संवित् का उद्बोधन करता है और क्रम से चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है ॥५५॥ हे श्रीरामजी, उस प्रकार वासना और प्राणस्पन्द दोनों चित्त के कारण हैं, उनमें से किसी एक का क्षय हो जाने पर दोनों का और उनके कार्य चित्त का विनाश हो जाता है ॥५६॥

चित्त का वृक्षरूप से वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी वासना के क्षय से चित्त विनाश होता है, यों कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सुख और दुःख के मननात्मक स्पन्दन से उक्त, शरीररूपी महान् फल से समन्वित, कार्यरूपी पल्लवों से पूर्ण आकार को धारण करनेवाला, तृष्णारूपी काले साँपों से वेष्टित, राग तथा रोग रूपी बगुलों का आश्रय, अज्ञानरूपी दृढ़ मूल से संयुक्त, इन्द्रियरूपी पक्षियों से आक्रान्त चित्तरूपी वृक्ष को क्षीणता-प्राप्त वासना उस प्रकार गिरा देती है, जिस प्रकार काल से परिपक्व फल को वायु प्रवाह गिरा देता है ॥५७-५९॥

उसी चित्त का आँधी से उड़ाये गये धूलि के ढेर के रूप में वर्णन करते हुए, जिस प्रकार पवन के निरोध से धूलिपटल का नाश हो जाता है, उसी प्रकार प्राणस्पन्दन के निरोध से मनरूपी धूलि-पटल का विनाश हो जाता है, यों कहते हैं।

हे श्रीरामजी, समस्त दिशाओं को मलिन करनेवाली, पूर्ण चैतन्य रूपी (पक्ष में सर्वजननेत्ररूपी) अखिलदर्शन को ढक देनेवाली, चंचलमेघ के सदृश आकारवाली, अज्ञानरूपी झाडु से आविर्भूत,

तृष्णारूपी तृणखण्डों से व्याप्त, स्तम्भ के सदृश आकारवाली देह से (पक्ष में वात्यासंस्थान से यानी धूलिस्तम्भ से) युक्त, प्रस्फुरित हो रहे स्वल्प स्वल्प वृत्तियों से (पक्ष में विभिन्न दिशाओं से आनेवाले वायुओं के झुंडों से) क्षुब्ध, सब दिशाओं में उड़ने में दक्ष और भीतर में स्थित ब्रह्म के (पक्ष में सूर्य के प्रकाश के) प्रत्यक्षीकरण में असमर्थ पवन से उड़ाई गई चित्तरूपी धूलि प्राणस्पन्दन के निरोध से अनायास क्षणभर में विलीन हो जाती है ॥६०–६२॥

अब दूसरे बीज का निर्वचन करते हैं।

हे श्रीरामजी, वासना और प्राणस्पन्दन इन दोनों का संवेद्य यानी प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषय बीज है, क्योंकि उन्हीं से वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं ॥६३॥ हृदय में प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का स्मरण करके ही प्राणस्पन्द और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं, इसलिए संवेद्य ही उन दोनों का बीज है ॥६४॥ हे भद्र, जिस प्रकार मूल के उच्छेद से वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है,उस प्रकार संवेद्य का (प्रिय–अप्रिय विषय का) परित्याग करने से प्राणस्पन्दन और वासना दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं ॥६५॥

संवित् के साथ अभेद–भावना ही संवेद्य का परित्याग है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, संवित् ही अपनी धीरता का परित्याग कर संवेद्यस्वरूप–सी बनकर चित्त बीजरूप हो जाती है, यह आप जानिए, जिस प्रकार तिल तेल से रहित नहीं है,उस प्रकार संवित् से रहित कोई भी संवेद्य पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है ॥६६॥ न बाहर और न तो भीतर कोई भी संवेद्य संवित् से अलग रहता है, अपने संकल्प से संवित् ही प्रस्फुरित होती हुई स्वयं संवेद्य को देखती है ॥६७॥ जिस तरह स्वप्न में अपना मरण और भिन्न देश में स्थिति दोनों अपने चमत्कार के योग से ही होते है, उसी तरह जाग्रत्कालीन संवेद्य भी संवित् के चमत्कारमात्र से ही होते हैं ॥६८॥ हे रघुनन्दन जिस विवेक अवस्था में अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव होता है, वह स्वस्वरूपानुभव भी अपने संकल्प से जनित स्वप्न के सदृश ही है, क्योंकि अद्वय परमात्मा में स्वस्वरूपानुभव और विवेक आदि परमार्थतः नहीं हो सकते हैं ॥६९॥

हे राघव, जैसे बालक को अपने संकल्प से जनित भ्रम से ही वेताल का उद्भव होता है अथवा जैसे स्थाणु में पुरुषरूपता होती है, वैसे ही संकल्पजनित भ्रम से ही संवित की संवेद्यरूपता होती है ॥७०॥ जैसे खिड़की आदि छिद्रों में से प्रविष्ट चन्द्र या सूर्य की किरणों की दण्डाकारता और उसके भीतर घूम रहे त्रसरेणुओं की आकाररूपता प्रतीत होती है अथवा जैसे नौका में अवस्थित पुरुष को पर्वत आदि अचल पदार्थों में स्पन्दन दिखाई पड़ता है, वैसे ही संवित् से संवेद्य प्रतीत होता है ॥७१॥ श्रीरामजी, यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्यारूप है, उसका यथार्थ आत्मज्ञान से उस प्रकार विलय हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्र के निर्दोष दर्शन से रज्जु में सर्पभ्रान्ति और एक चन्द्र में दो चन्द्ररूपता की भ्रान्ति का विलय हो जाता है ॥७२॥

तब यथार्थ ज्ञान किस तरह का है, उसे कहते हैं।

हे श्रीरामजी, ये जो तीन लोक हैं, वे विशुद्ध संवित्–स्वरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं है, इस प्रकार का भीतरी जो दृढ़ ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञान है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ॥७३॥

उस यथार्थ ज्ञान से जिसका मार्जन करना है, उसे बतलाते हैं।

पहले देखा गया या नहीं देखा गया पदार्थ इस संवित् को जो भासता है, उसका इस यथार्थ ज्ञान से विद्वान को परिमार्जन कर देना चाहिए ॥७४॥ उक्त प्रतिभास का मार्जन न करना ही बड़े भारी संसार के साथ आत्मा का संसर्ग करना है और उसका परिमार्जन करना ही मोक्ष है, यह अनुभवसिद्ध बात है ॥७५॥ श्रीरामजी, प्रिय–अप्रिय शब्द आदि विषयों का अनुभव जन्मरूप अनन्त दुःख का हेतु है और चिदेकरसस्वभाव में प्रतिष्ठित असंविति यानी विषयों का अदर्शन पुनर्जन्म से वर्जित नित्य आत्मस्वरूप सुख का हेतु है ॥७६॥ हे रघुद्वह, इसलिए आप भी शब्द आदि प्रिय–अप्रिय विषयों के दर्शन से विमुख होकर जड़तारहित, एकरसस्वरूप तथा पूर्णानन्दात्मक हो जाइए। जो असंवेद्य भी स्वतः प्रबुद्ध आत्मा है, तद्रूप ही आप हो जायेंगे, अन्यरूप नहीं हो जायेंगे ॥७७॥ श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, एक ही पदार्थ अजड़ भी और असंवित्तिरूप भी कैसे हो सकता है ? असंवित्तिरूप होने पर वह जड़ता कैसे निवृत्त होगी ? तात्पर्य यह है कि जड़ता का परित्याग होने पर संवेदन का शेष अवश्य रहेगा और संवेदन का परित्याग होने पर जड़ता का शेष अवश्य रहेगा, ऐसी स्थिति में एक ही पदार्थ अजड़ और असंवित्ति रूप – यों विरुद्ध स्वभाववाला कैसे हो सकता है ? यह आप मुझसे कहिए ॥७८॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, संवित्–शब्द का एक अर्थ है – बाह्य अर्थों को सत्यरूप से जानना। इस अर्थ को लेकर बाधित अर्थों के अनुभवों से व्यवहार आभास को दिखला रहा भी जीवन्मुक्त महात्मा समस्त वर्तमान विषयों में आस्था नहीं रखता एवं वासना का क्षय हो जाने के कारण भूत और भविष्यत् की वस्तुओं में भी कहीं आस्था नहीं रखता, इसलिए किसी भी वेद्य को सत्यरूप से न जानने के कारण उतने अंश को लेकर काष्ठ–लोष्ट की नाईं असंवित् रूप और स्वतः तो स्वप्रकाश चिदेकरस से पूर्ण होने के कारण अजड़रूप कहा जाता है, यह तात्पर्यार्थ है ॥७९॥

संवित्–शब्द का पूर्वोक्त अर्थ बतलाते हुए कथित भाव का ही समर्थन करते हैं।

श्रीरामजी, सत्यत्व बुद्धि से चिति का बाह्य अर्थों का अवलम्बन करना ही संवित् कहा जाता है, उक्त प्रकार की संवित् जिस महापुरुष को नहीं होती, वह असंवित् अजड़ कहा जाता है, फिर वह सैकड़ों कार्यों में व्यस्त ही क्यों न हो ? इससे *'सर्वत्रानवस्तास्थः'* इस पद का तात्पर्य प्रकट किया ॥८०॥

'विश्रान्तास्थो न कुत्रचिद्' इस अंश का भी अतीत विषयों में तात्पर्य खोलते हुए उसे ही कहते हैं।

हे श्रीरामभद्र, जिस महात्मा की बुद्धि प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों से तनिक भी आसक्त नहीं होती, वही अजड़ संवित् और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥८१॥

उक्त वाक्य का अनागत विषयों में भी तात्पर्य खोलते हुए उसे कहते हैं।

वासना वर्जित होने के कारण अपनी आत्मा में जब किसी भविष्यत् पदार्थ की भावना नहीं की जाती और बालक एवं मूक के विज्ञान के सदृश स्थिर होकर स्थिर रहता है, तब जड़ता से विनिर्मुक्त, विशाल एवं स्वच्छ विज्ञान का अवलम्बन हो जाता है, इससे प्राज्ञ पुनः लिप्त नहीं होता ॥८२,८३॥

शंका का समाधान कर अब प्रकृत विषय का समर्थन कर रहे महात्मा वसिष्ठ जी कहते हैं :

समस्त वासनाओं के त्याग के अनन्तर होनेवाली निर्विकल्प समाधि से असीम आनन्द उस प्रकार प्रतीत होता है, जिस प्रकार आकाश से असीम नीलापन प्रतीत होता है ॥८४॥ श्रीरामभद्र, संवेदन से रहित (घटादि आकार वृत्तियों से वर्जित) योगी लोग उसी असीम आनन्द में स्थित रहते हैं।

यदि शंका हो कि अन्याकार संवेदन का अभाव होने पर भी ब्रह्माकार वृत्तिरूप संवेदन का समाधि में तो निवारण नहीं कर सकते, ऐसी स्थिति में असंवित्त्व कैसे ? तो इस पर कहते हैं :

आनन्दमय ध्येयरूप होने से अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार वह संवेदन भी अपने द्वारा प्रदीप्त ब्रह्मरूप ज्योति से बाधित होकर उसी के अन्दर लीन हो जाता है ॥८५॥ इसलिए वह घटादि आकार वृत्तियों का त्याग करनेवाला योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते इन सब अवस्थाओं में भी अजड़, आनन्द से पूर्ण और सुखी कहा जाता है ॥८६॥ हे असीम गुणों के सागर श्रीरामजी, प्राणायाम आदि परिश्रम से साध्य यत्नपूर्वक चेष्टा से इस जाड्यरहित संविद्रूपी दृष्टि का अवलम्बन कर आप दुःख सागर के पार तैर जाइए ॥८७॥

चिदात्मा स्वयं ही अपने मिथ्याभूत बन्ध और मोक्ष की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे काल पाकर बीज महान् वृक्ष होकर आकाश को व्याप्त कर लेता है, वैसे ही यह अपने संकल्प से ही उत्पन्न हुआ असत् विषय–समूह काल पाकर चिदाकाश को व्याप्त कर लेता है ॥८८॥

कब किस प्रकार उत्थित हुआ ? उसे कहते हैं।

बार–बार संकल्प करके जब संवित् अपना संकल्पमय स्वरूप प्राप्त कर लेती है, तब वही इस जन्मजात की बीजता को प्राप्त हो जाती है ॥८९॥ हे राघव, अपने आपसे अपना उत्पादन कर और अपने आपसे ही अपने को बार–बार मोहित कर तदनन्तर हृदयस्थ आत्मतत्त्व को जान रही संवित् स्वयं अपने को मोक्ष की ओर ले जाती है, यह बात विद्वानों के अनुभव से प्रसिद्ध है ॥९०॥ हे श्रीरामजी, यह संवित् जिसकी भावना करती है, तत्काल ही तद्रूप हो जाती है।

तब उसी समय सब प्राणियों की संवित् अपने स्वरूप की भावना से अपने स्वरूपभूत मोक्ष को यथेच्छ क्यों प्राप्त नहीं होती, तो इस पर कहते हैं।

राग आदि की भूमिकाओं से मुक्त नहीं हुई संवित् दीर्घ–काल होने पर भी अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकती ॥९१॥

इसीलिए देव, गन्धर्व आदि स्वरूप भी इसके कल्पित वेष ही है, वास्तव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

न यह देव है, न सुर है, न राक्षस है, न यक्ष है, न किन्नर है और न तो मनुष्य ही है, किन्तु आदि सिद्ध विलासिनी अपनी माया से आत्मा जगत् रूपी नाटक खेलता है जैसे मायावी नट ॥९२॥

जैसे कोशकारकृमि अपने आपको बाँधता हुआ तथा छुड़ाता हुआ देखा जाता है, वैसे ही प्रकृत आत्मा के विषय में भी जानना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

जैसे कोवे का निर्माण करनेवाला रेशम का कीट अपने आपको स्वभाववश से बाँधकर और दुःखभोग कर दीर्घकाल के अनन्तर केवलता प्राप्त करता है, वैसे ही संवित् भी अपने आपको संसार में बाँधकर और दुःखभोग कर दीर्घकाल के अनन्तर स्वभाववश से स्वयं ही बन्धन आदि से निर्मुक्त होकर केवलता

प्राप्त करती है ॥९३॥ जगत्‌रूपी समुद्रों का संवित् ही पर्याप्त जल है, यही अपूर्व दिशाओं का मण्डल है और यही पर्वत आदि भावों को प्राप्त होकर प्रस्फुरित होती है ॥९४॥ हे श्रीरामजी, संवित्–रूपी जलसंतति के द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ ये सब तरंग हैं ॥९५॥

हे भद्र, जगत् केवल संविन्मात्रस्वरूप ही है, उससे पृथक् दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान से ही संवित् अद्वयरूपता प्राप्त करती है ॥९६॥

कब संवित् को सम्यक् ज्ञान होता है, इस पर कहते हैं।

जब संवित् कुछ विषय प्राप्त नहीं करती, जब साधारण चलन और असाधारण कम्पन नहीं करती एवं जब अपने स्वरूप में अवस्थान करती है, तब वह लिप्त नहीं होती ॥९७॥

पूर्वोक्त प्रणाली से भली प्रकार शोधन करने के अनन्तर परिशेषरूप से अवशिष्ट हुई संवित् अन्तःकरण में संवित्–प्रतिबिम्बस्वरूप ही है, इस प्रकार की श्रोतृ–वर्ग की भ्रान्ति का निरास कर रहे श्रीवसिष्ठ महाराज अग्निविस्फुलिंगन्याय से प्रतिबिम्ब की बीजभूत सन्मात्रस्वरूप ब्रह्मसंवित् ही उक्त संवित् है, यों दिखलाते हैं।

हे श्रीरामजी, इस संवित् का सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही बीज कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य आदि तेज से प्रभा उदित होती है, उस प्रकार यह प्रतिबिम्बभूत संवित् बिम्बभूत संविन्मात्रस्वरूप ब्रह्म से ही उदित होती है ॥९८॥

जो पहले श्लोक में 'सन्मात्ररूप ब्रह्मबीज है' ऐसा कहा गया है, वहाँ पर घट, पट आदि में रहनेवाली अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यावहारिक सत्ता ही उसकी बीज है, ऐसा किसीको भ्रम न हो, इसलिए व्यावहारिक सत्त्व से विलक्षण सत्त्व बतलाने के लिए पहले सत्ता की द्विविधता बतलाते हैं।

श्रीरामजी, सत्ता के दो रूप स्थित हैं – एक तो अनेक आकारवाला होकर स्थित है और दूसरा एकरूप होकर स्थित है। अब उनका विभाग सुनिए ॥९९॥ घटादिरूपों के विभाग से जो घटत्व, पटत्व, त्वत्त्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति सत्तास्वरूप है ॥१००॥

घटत्व, पटत्व आदि उपाधियाँ, जो अर्थक्रियाओं का भेद होने पर स्वरूपयोग्यतारूप है, वे व्यावहारिक सत्तारूप ही है, यह आशय है।

विभाग का परित्याग कर सत्तारूप से व्याप्त समस्त जगत् के अधिष्ठान स्वरूप साधारण स्वभाव से जो सत्ता का रूप विद्यमान है, वह एकरूप कहलाता है ॥१०१॥

विशेषांश का परित्याग कर सन्मात्रस्वरूप जो लिप्त न करनेवाला सत्ता का एक रूप स्वरूप है, वही व्यापकरूप और वस्तुतत्त्व है, ऐसा विद्वान कहते हैं ॥१०२॥

व्यावहारिक सत्ता तो वास्तव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सत्ता का रूप नाना आकार के रूप में कभी नहीं है, चूँकि तद्‌घटत्व आदिरूप कपाल,चूर्ण, धूलि आदि अवस्थाओं में असंवेद्य होकर अनुवर्तमानता के रूप से दिखाई नहीं पड़ता है, अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता ॥१०३॥

समस्त अवस्थाओं में अनुगत सद्रूप तो वैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सत्ता का जो विमलात्मा एकरूप स्वरूप है, वह कभी भी नाश प्राप्त नहीं करता और न कभी

विस्मृति प्राप्त करता है, अर्थात् सदा प्रकाशमान–रूप होने से वह नित्य चैतन्यैकरसस्वरूप हैं ॥१०४॥ हे श्रीरामजी, यह कालसत्ता है और यह वस्तुसत्ता है, इस प्रकार की भी विभागकल्पना का परित्याग कर आप एकमात्र सत्स्वरूप में ही आश्रित हो जाइए। तात्पर्य यह है कुछ लोग कहते हैं कि अतीत और अनागत वस्तुओं में 'अस्ति' इस प्रकार का व्यवहार न होने के कारण वर्तमान काल ही सब वस्तुओं की सत्ता है यानी सब पदार्थों की सत्ता वर्तमानकाल–सत्ता है। कुछ लोग कहते हैं कि समूह बन कर अवयव ही अवयवी के रूप में स्फुरित होते हैं अतः कला ही परमाणुरूप अवयव ही जगत् की सत्ता है, और कुछ लोग यह कहते हैं कि अवयवी पदार्थों में भी अनुगत सत्ता जाति है, इसी प्रकार अन्यान्य लोग भी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अन्यान्य सत्ताओं की कल्पना करते हैं, हे श्रीरामजी इस तरह की तत्–तत् मत में कल्पित विभाग कल्पना का त्याग कर आप समन्मात्रस्वरूप एकमात्र ब्रह्म का ही अवलम्बन कीजिए, इसी से आपके मनोरथों की सिद्धि हो जायेगी ॥१०५॥ हे भद्र, जिस प्रकार अध्यस्त भेद का परित्याग करने पर अधिष्ठान सन्मात्र के परिशेष से समस्त जगत् उत्तम सत्तास्वरूप है, वैसे ही अध्यस्त भेदकल्पना का परित्याग करने पर यद्यपि कालादि सत्ता भी उत्तम सत्तास्वरूप ही हो जाती है, तथापि वह विभक्त रूप से बाधयोग्य होने के कारण पारमार्थिक नहीं है ॥१०६॥ जहाँ विभिन्न–विभिन्न पदों को देनेवाली विभाग कल्पना नानारूपता का कारण देखी जाती है, वहाँ वह पावन पद कैसे हो सकता है ? ॥१०७॥ हे श्रीरामजी, एकमात्र सामान्य सत्तात्मक ही समस्त जगत् है, इस प्रकार की भावना करते हुए आप परिपूर्ण आनन्द से युक्त तथा सब दिशाओं और उनमें स्थित पदार्थों को व्याप्त करनेवाले हो जाइए ॥१०८॥ हे विज्ञ जनों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, सामान्य सत्तामात्र की परम अवधिभूत जो सत्ता है, वही इस जगत् की और प्रतिबिम्ब चित् की बीजरूप हुई है और उसी से यह समस्त जगत् प्रवृत्त हुआ है ॥१०९॥ हे श्रीरामभद्र, समस्त सत्ताओं की चरम अवधि में जो कल्पनाओं से निर्मुक्त पद है, वही पद आदि (उत्पत्ति) और विनाश से शून्य हैं, उसका कोई बीज है नहीं ॥११०॥ जिस पद में सद्धर्मता भी लीन हो जाती है और जो निर्विकाररूप से अवस्थित है, उस पद में अपना दृढ़ स्थान कर लेनेवाला पुरुष कभी इस दुःखमय संसार में आता नहीं है और वही असलियत में पुरुष है, दूसरा तो स्त्रीप्राय है, यह भाव है ॥१११॥

परम पुरुषार्थरूपता बतलाने के लिए उसीकी प्रशंसा करते हैं।

वही पद समस्त हेतुओं का हेतु है, उसका कोई दूसरा हेतु नहीं है, वही सम्पूर्ण सारों में सारभूत है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है ॥११२॥ श्रीरामजी, जैसे तालाब में तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं,वैसे ही उस प्रत्यक् रूप असीम ब्रह्मात्मक दर्पण में ये सब वस्तुदृष्टियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं ॥११३॥ उसी प्रत्यक्रूप ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ये सब पदार्थ इन्द्रियप्रीति उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार जीभ से छः रस स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं, वैसे ही आनन्द के सागर उसी ब्रह्म से सभी प्रकार के आनन्द स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं ॥११४॥ चूँकि अस्वादु पदार्थ भी आनन्दसमुद्र ब्रह्म के संसर्ग से इन्द्रिय–प्रीति उत्पन्न करते हैं, इसलिए वह चिदाकाश का पद यानी स्वरूप स्वादु और प्रिय पदार्थों के बीच में सबसे बढ़ चढ़ कर आनन्दरूप और प्रियतम है ॥११५॥

'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि' (आनन्दात्मा ब्रह्म से ही ये सब भूतपदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसीसे उत्पन्न

होकर उसीसे जीवित रहते हैं और उसी की ओर जाकर उसीमें लीन हो जाते हैं) इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित जगत् के जन्म आदि के कारणत्वरूप ब्रह्म–लक्षण का समन्वय भी उसी में है, यह दिखलाते हैं।

हे प्रिय श्रीरामजी, उसी आनन्दाब्धि ब्रह्म में सब जगतों के समूह उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं, वृद्धिगत होते हैं, विपरिणाम से युक्त होते हैं, अपक्षयोन्मुख रहते हैं और लीन हो जाते हैं ॥११६॥

यह भारी है, यह हलका है, इत्यादि वैचित्र्य का वही सामान्यात्मक पद निर्वाहक है, ऐसा से कहते हैं।

वह ब्रह्म भारी पदार्थों में अत्यन्त भारी, हलके पदार्थों में अत्यन्त हलका स्थूलों में अत्यन्त स्थूल (मोटा) और सूक्ष्मों में अत्यन्त सूक्ष्म प्रसिद्ध है ॥११७॥ वह दूरवृत्तियों में अत्यन्त दूरतम, समीप वृत्तियों में अत्यन्त समीपतम, छोटों में अत्यन्त छोटा, और बड़ों में अत्यन्त बड़ा भी है ॥११८॥ हे प्रिय श्रीरामजी, वह सूर्य आदि तेजों का भी तेज, अन्धकारों का भी अन्धकार, वस्तुओं का भी वस्तु और दिशाओं का भी पर दिशारूप है ॥११९॥ वह ब्रह्मात्मक पद लोक में प्रसिद्ध कोई वस्तुरूप नहीं है और स्वल्प से भी स्वल्पतर प्रसिद्ध वस्तुरूप भी है, वह सत्ताश्रय (भावात्मक) और असत्ताश्रय (अभावात्मक) भी है, वह दृश्यरूप और अदृश्यरूप भी है, वह अहंरूप और अहंरूप नहीं भी है ॥१२०॥ हे निष्पाप श्रीरामजी, सम्पूर्ण प्रयत्नों से उस परम पावन पद में जिस प्रकार आप स्थित हों, उस प्रकार यत्न कीजिए ॥१२१॥

हे श्रीरामजी, उक्त सत्तासामान्यकोटि में (शोधित तत्पदार्थ की चरमावधि में) स्थित वह पद निर्मल और विकारवर्जित है, वही आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप है, उसका साक्षात्कार करने पर चित्त बाधित हो जाता है। इसलिए ज्यों ही आप एकमात्र व्यापक उक्त स्वरूप अवगत कर लेगें, त्यों ही चिरकालिक अपुनरावृत्ति के लिए संसाररूप भय से निर्मुक्त परम पद स्वरूप ही हो जायेंगे ॥१२२॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

पूर्वोक्त स्थितिविशेषों में यत्न के गौरव और लाघव का तथा
वासना आदि के प्रक्षयपूर्वक ज्ञान के सहाभ्यास का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : मान्यतम, आपने ये जो पूर्वोक्त जीवसृष्टि–लता के बीज बतलाये, उनमें से किस बीज की निवृत्ति करने से परमपद प्राप्त किया जा सकता है ? यह तो एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ इस प्रकार है : हे भगवान्, आपने ये जो अभी मोक्ष के 'अथाऽस्याः संविदो राम' इत्यादि से भूमिका विशेषरूप बीज बतलाये, उनमें से किस बीज का अवलम्बन करने से परम पद प्राप्त किया जा सकता है ? यह कृपाकर मुझसे कहिए ॥१॥

श्रीरामजी के इस प्रश्न पर महाराज वसिष्ठजी पहले अर्थ के अनुसार उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र , मैंने आपसे इन दुःखों के बीजों के विषय में जो–जो उत्तर दिया है उस उस की निवृत्ति करने से तत्काल ही पुरुष परम पद प्राप्त करता है ॥२॥

अब द्वितीय अर्थ के अनुसार उत्तर देते हैं।

हे रामभद्र, शोधित तत्पदार्थरूप सत्ता सामान्य की पराकाष्ठा में स्थित पद में यानी चैतन्यरूप

शोधित त्वंपदार्थ का अभेद होने के कारण अखण्ड एकरसरूप पद में यदि आप बलपूर्वक वासना का परित्याग कर पुरुष प्रयत्न से क्षणभर के लिए भी स्थिति–चित्त की निश्चलता बाँधे, तो हे तत्त्वज्ञ, आप उसी क्षण में उक्त उत्तम पद को पूर्णरूप से प्राप्त कर लें ॥३,४॥

यदि वैसी स्थिति बनाने की शक्ति न हो, तो भी कहते हैं।

हे प्रिय श्रीरामजी, अथवा यदि सत्तासामान्यरूप शोधित जगत्कारणात्मक तत्त्व में आप स्थिति (चित्त की निश्चलता) करते हैं, तो कुछ अधिक प्रयत्न से यहाँ उक्त आत्मपद प्राप्त कर लेंगे। अखण्डऐक्य के बोध में यत्न की कुछ अधिक आवश्यकता होती है, इससे 'अधिकेन यत्नेन' कहा ॥५॥

हे अघशून्य श्रीरामजी, शोधित त्वंपदार्थरूप संवित्–तत्त्व में ध्यानसम्पन्न होकर यदि स्थित रहते हैं तो और कुछ ऊँचे अधिक प्रयत्न से उक्त पद प्राप्त करेंगे ॥६॥

यदि शंका हो कि शोधन से संवित्–अंश का त्याग होने पर एकमात्र संवेद्यांश का ध्यान भी उपाय क्यों नहीं होगा, तो नहीं, क्योंकि वह अशक्य है, ऐसा उत्तर देते हैं।

हे राघव, केवल संवेद्य के विषय में यानी केवल विषय में ध्यान ही नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र सब अवस्थाओं में इसी संवित् का ही संभव है यानी विषयों से पहले प्रस्फुरित हो रही संवित् का तिरोधान अशक्य है और उसका यदि तिरोधान हो जायेगा, तो विषय की स्फूर्ति न होने से उसका ध्यान ही नहीं हो सकेगा ॥७॥

चिन्तन, चिन्तनीय आदि जो पदार्थ हैं, उस सबकी सिद्धि संवित् के अधीन है यह दिखलाते हैं।

हे श्रीरामजी, जो आप चिन्तन करते हैं, जाते हैं, स्थित रहते हैं और करते हैं वहाँ वहाँ स्थित संवित् ही वह सब कुछ करती है, अतः चिन्तन, चिन्तनीय आदि सभी संवित्स्वरूप हैं, क्येंकि सभी का तत्त्व संवित् ही है, यह भाव है ॥८॥

अन्य उपाय भी कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप यदि वासना के परित्याग में प्रयत्न करते हैं, तो आपकी सम्पूर्ण आधि–व्याधियाँ क्षण भर में विनष्ट हो जायेगी ॥९॥

क्या यह उपाय पहले बतलाए गये उपायों से सरल है ? 'नहीं' यह कहते हैं।

श्रीरामजी, पूर्व में प्रदर्शित प्रयत्नों की अपेक्षा यह प्रयत्न अत्यन्त कठिन कहा गया है, क्योंकि वासना का परित्याग सुमेरु पर्वत के उन्मूलन से भी अधिक दुष्कर है ॥१०॥

असौकर्य का उपपादन करने के लिए परस्पराधीनत्व का उपपादन करते हैं।

जब तक मन नष्ट नहीं होता, तब तक वासनाका विनाश नहीं होता और जब तक वासना विनष्ट नहीं होती, तब तक चित्त की शान्ति नहीं होती ॥११॥

इसी प्रकार इन की तत्त्वज्ञान के साथ भी परस्पराश्रयता है, यह कहते हैं।

जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक चित्त की शान्ति कहाँ ? और जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती, तब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता ॥१२॥ जब तक वासना का नाश नहीं होता, तब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता। जब तक वासना का नाश नहीं होता, तब तक तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा ? और जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक वासना का क्षय नहीं होगा ॥१३॥ तत्त्वज्ञान, मनोनाश और

वासनाक्षय ये तीनों की एक दूसरे के प्रति कारणभाव को प्राप्त होकर अवस्थिति है अतः अत्यन्त दुःसाध्य हैं ॥१४॥

तब कौन ऐसा उपाय है, जिससे उनकी सिद्धि हो सके ? इस प्रश्न पर 'वैराग्यपूर्वक एक साथ तीनों का अभ्यास ही उनकी सिद्धि में उपाय है', ऐसा उत्तर देते हैं ।

हे राघव, विवेक से युक्त पौरुष प्रयत्न से भोग्च्छा का दूर से ही परित्याग कर इन तीनों का आश्रय करना चाहिए ॥१५॥ हे श्रीरामजी, जब तक उन तीन उपायों का साथ में भली प्रकार बार बार प्रयास न किया जाय, तब तक सैकड़ों बरसों तक भी परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१६॥ हे महामुने, वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश इन तीनों का एक साथ दीर्घकाल तक अभ्यास जब किया जाता है, तब वे मननशील महात्मा के लिए फलप्रद होते हैं ॥१७॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार मन्त्रशास्त्रोक्त मूर्च्छा, मरण आदि प्रतिबन्धकों से प्रतिबद्ध मन्त्र फलप्रद नहीं होते, वैसे ही उन तीनों में से एक का चिरकाल तक अभ्यास यद्यपि किया जाय, तो भी वे फलप्रद नहीं हो सकते ॥१८॥ जैसे पारितोषिक आदि से स्वाधीन बनाकर दीर्घकाल तक तत्–तत् कार्य में प्रेरित भी सेना के वीर योद्धा लोग एक एक करके अपने स्वामी राजा के अभिमुख जाने में समर्थ नहीं होते, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा दीर्घकाल तक सेवा आदि से स्वाधीन कर तत्–तत् कार्यों में योजित भी ये वासनाक्षय आदि एक एक करके अपने स्वामी परमात्मा के पास जाने में समर्थ नहीं होते ॥१९॥ बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा एक साथ तत्–तत् कार्यों में योजित हुए वासनाक्षय आदि संसाररूपी सागर को उस प्रकार विशीर्ण कर देते हैं, जिस प्रकार जलप्रवाह पर्वततट को विशीर्ण कर देते हैं ॥२०॥ हे प्रिय श्रीरामजी, वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश इन तीनों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक आपको सेवन करना चाहिए, उस सेवन से आप लिप्त नहीं होंगे अर्थात् लिप्त नहीं करनेवाले स्वभाव में स्थित हो जायेंगे ॥२१॥

जिस प्रकार कमलनाल के उच्छेदन से बिसतन्तु टूट जाते हैं, वैसे ही भली प्रकार उन तीनों का चिरकाल तक अभ्यास करने से अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ (अन्तःकरण एवं उसके धर्म आदि के अध्यास) निःशेषरूप से टूट जाती हैं ॥२२॥

वासनाक्षय आदि तीनों का भी चिरकाल तक अभ्यास क्यों करना चाहिए ? इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, यह संसार की स्थिति सैकड़ों जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा अभ्यस्त है, अतः उन उपायों का चिरकाल तक अभ्यास किये बिना कहीं पर भी वह नष्ट नहीं हो सकती ॥२३॥ हे भद्र, जाते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, स्थित रहते, जागते, सोते सब अवस्थाओं में उत्तम मोक्षरूपी कल्याण के लिए इन तीन उपायों के अभ्यास में ही आप निरत हो जाइए ॥२४॥

तीनों के साथ चतुर्थ प्राणायाम का भी अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं ।

हे रामभद्र, तत्त्वज्ञों का मत है कि वासनाओं के परित्याग के सदृश प्राणायाम भी उपाय है । इसलिए वासना परित्याग के साथ साथ प्राणनिरोध का भी अभ्यास करना आवश्यक है ॥२५॥ वासनाओं का भली प्रकार परित्याग करने से चित्त अचित्तरूप हो जाता है । और प्राणवृत्तियों का परित्याग करने से भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है, इसलिए आप जैसे चाहें वैसा कीजिए ॥२६॥

चिरकाल तक प्राणायाम के अभ्यासों से, योगाभ्यास में कुशल गुरुजी के द्वारा दी गई यानी उपदिष्ट युक्ति से तथा स्वस्तिक आदि आसनों के जय और हित, मित एवं पवित्र पदार्थों के भोजन से प्राण–स्पन्दन रुक जाता है ॥२७॥ हे श्रीरामजी, यथाभूत अर्थ के यानी त्रिकाल में बाधित न होने वाले अर्थ के साक्षात्कार से वासना अपने कार्य के लिए प्रवृत्त नहीं होती। आदि, मध्य और अन्त में कभी भी पृथक् न होनेवाला सत्तामात्र स्वरूप जो पदार्थ सर्वत्र स्थित रहता है, वही सत्यभूत अर्थ है, उसको भलीभाँति जान लेना ज्ञान कहलाता है। यही ज्ञान वासना का विनाश कर देता है ॥२८॥ भद्र, केवल बाह्य विषयों में आसक्ति रखनेवाले मनुष्यों का संसर्ग छोड़कर या संकल्प छोड़कर समय अनुसार प्राप्त हुए व्यवहारों के अनुष्ठान से, सांसारिक मनोरथों के त्याग से तथा शरीर में विनाशित्वबुद्धि से वासना प्रवृत्त नहीं होती ॥२९॥ जिस प्रकार पवन–स्पन्द के शान्त हो जाने पर आकाश–तल में धूलि नहीं उड़ती, वैसे ही वासनारूपी धनसम्पत्ति का विनाश हो जाने पर लज्जावश चित्त यत्र तत्र उड़ता नहीं है ॥३०॥ जो प्राणवायु का व्यापार है, वही चित्तस्पन्दन है, उसी से समस्त जगत् उस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार धूलि आदि के ढेर से रज उत्पन्न होती है ॥३१॥

हे श्रीरामजी, बुद्धिमान् पुरुष को एकाग्र चित्त से एकान्त में बैठकर प्राणवायु के स्पन्दन पर विजय पाने के लिए बार बार खूब यत्न करना चाहिए ॥३२॥

हठयोग के अभ्यास की यदि शक्ति न रहे, तो राजयोग का अभ्यास करना चाहिए, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, अथवा इस उपाय को छोड़कर अन्य उपाय से यदि आप चित्त के ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं, तो बहुत काल के अनन्तर उस पद को प्राप्त करेगें ॥३३॥ अध्यात्मविद्या और साधुसंगति इन दो उपायों से युक्त प्रदर्शित दो प्रकार के योगों को छोड़कर अन्य किसी उपाय से दुर्दान्त मन का जय उस प्रकार नहीं कर सकते, जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी का अंकुश के बिना दूसरे उपाय से जय नहीं कर सकते ॥३४॥

उसीका दिग्दर्शन करते हैं।

अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधुसंगति, वासना का परित्याग और प्राणस्पन्दन का निरोध ये ही युक्तियाँ चित्त के ऊपर विजय पाने के लिए निश्चित रूप से पुष्ट उपाय हैं। इनसे तत्काल ही चित्त उस प्रकार विजित हो जाता है, जिस प्रकार जलधाराओं से भूमि की धूलि विजित हो जाती है ॥३५,३६॥ इन सुन्दर युक्तियों के रहते जो पुरुष हठयोग से चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं, उनके लिए मेरा यही मत है कि वे दीपक का परित्याग कर अंजनों से अन्धकार का निवारण करना चाहते हैं। (एक बात यहाँ यह जान लेनी चाहिए, वह यह कि पहले बतलाया गया प्राणनिरोध भी दुर्दान्त मन के दमन में हेतु होने से एक तरह का हठरूप उपाय ही है, तथापि सत्–शास्त्र और सद्गुरु से बोधित मार्ग से शून्य जो दूसरे उपवेशन, शयन, शरीरशोषण, मन्त्र, यन्त्र श्मशानसाधन आदि साहसस्वरूप हठात्मक उपाय है, उन्हींका यहाँ निवारण किया गया है) ॥३७॥ जो मूढ़ पुरुष हठयोग से चित्त का जय करने के लिए उद्योगशील रहते हैं, वे उन्मत्त नागेन्द्र को मानों कमलतन्तुओं से बाँधने के लिये उद्यत हैं ॥३८॥ बतलाई गई इन चार युक्तियों का त्यागकर जो पुरुष चित्त या चित्त के निकटवर्ती अपने शरीर को स्थिर करने के लिए दूसरा यत्न करते हैं उन पुरुषों को ज्ञानमार्ग

के साम्प्रदायिक लोग वृथा परिश्रमी कहते हैं ॥३९॥

सत्-शास्त्रोक्त मार्ग से भ्रष्ट होने के कारण उन्हें अनर्थ परम्परा ही प्राप्त होती है, चित्त जय प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, वे वृथाश्रमी लोग, एक भय से दूसरा भय, एक दुःख से दूसरा दुःख प्राप्त करते हैं। भाग्यहीन पापी जन्तुओं की नाईं वे कहीं भी उत्तम धैर्यरूपी विश्रान्ति प्राप्त नहीं करते ॥४०॥ पर्वत-प्रान्तों में फल और पत्तों का भक्षण कर रहे वे अत्यन्त मुग्धबुद्धि एवं भीरु होकर बिचारे हरिणों की नाईं इधर-उधर परिभ्रमण किया करते हैं ॥४१॥ जिस प्रकार गाँव में आई हुई मृगी किसी का विश्वास नहीं करती, वैसे ही उन पुरुषों की चारों ओर से छिन्न, शीर्ण तथा तुच्छ अंगवाली बुद्धि किसी पदार्थ में विश्वास नहीं करती ॥४२॥ उनका तरंगसदृश अतिचपल मन, जल में तरंगों की नाईं, भयस्थानों में ही उत्तरोत्तर जाता रहते हैं और पर्वत की चोटी से गिर रही प्रबल प्रवाह से युक्त नदियों में गिरा हुआ तृण जिस प्रकार अति दूर बह जाता है, वैसे ही उनका विषयानुपातिस्वभाव चित्त राग आदि से बलपूर्वक अति दूर खिंच जाता है ॥४३॥

अब मोक्षरूप फल जिसका निश्चित है, उस धर्ममेघनामक (आत्मविवेक ज्ञान-प्रवाहरूप) समाधि का परित्याग कर यज्ञ, दान आदि का, जिनके अनुष्ठान में क्लेश अधिक, फल कम तथा मोक्षफलकत्व में सन्देह है, अनुष्ठान भी केवल क्लेशमय ही है, यों प्रकृत विषय की प्रशंसा के लिए कहते हैं।

जिस प्रकार मृग कालक्षेप करते हैं, वैसे ही यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, देवार्चन आदि भ्रमों के कारण असंख्य मानस पीड़ाओं से युक्त होकर मनुष्य वृथा कालक्षेप करते हैं ॥४४॥

श्रीरामजी, राग आदि सैकड़ों दोषों से झुलस गये वे आत्मस्वरूप नहीं जान पाते और उनमें से कोई लोग ही कभी दैववश आत्मस्वरूप जान पाते हैं ॥४५॥ उत्पत्ति एवं विनाशशील, एकत्र स्थिर न रहनेवाले तथा स्वर्ग, नरक और मनुष्य के भोगविशेषों के कारण, गेंद की नाईं, निपतन और उत्पतनकारक शरीर वाले होकर वे मरण आदि से पीड़ित हो जाते हैं ॥४६॥ जिस प्रकार तालाब में तरंगें आती जाती रहती हैं, वैसे ही वे इस मृत्युलोक से नरक की ओर जाते हैं, तदनन्तर वहाँ से स्वर्ग की ओर आते हैं और फिर यहीं मृत्युलोक में आते हैं, यों सैकड़ों आवर्तनों से घूमते रहते हैं ॥४७॥

हे रघुनन्दन, इसलिए आप वर्णित हठादिरूप दुष्टबुद्धि का परित्याग कर शुद्ध संवित्ति का आश्रय (परिज्ञान) कर रागशून्य होकर सुस्थिर हो जाइए ॥४८॥ इस संसार में ज्ञानी ही सुखी है, ज्ञानी ही जीवित है और ज्ञानी ही बलवान् है, इसलिए आप ज्ञानप्रचुर बन जाइए ॥४९॥ हे महात्मन्, विषयों से शून्य, अति-उत्तम, समस्त पदार्थों के हेतु तथा विकल्पों से वर्जित अद्वितीय संवित्-पद की भावना करते हुए तथा चित्त के संकल्प-विकल्पों से विमुख यानी चित्त की बहिर्मुखता से शून्य होकर आप ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो जाइए। और व्युत्थानकाल में तो विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी असंग एवं शम से प्राप्त हुई जीवन्मुक्त-गुण-सम्पत्ति से राजित होकर अकर्तापद की प्राप्ति करके स्थित होइए ॥५०॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

तिरानबेवाँ सर्ग

विचार की प्रौढ़ता, वैराग्य एवं सद्‌गुणों से तत्त्वज्ञान होने पर विषयों से
घर्षित न होने के कारण ज्ञानी की एकरूप स्थित होती है, यह वर्णन।

उसमें पहले थोड़े से भी विचार और मनोनिग्रह का रुचि के उत्पादन और प्रवृत्ति के द्वारा क्रमशः मोक्ष में पर्यवसान होता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, थोड़े से भी विचार से जिसने अपने चित्त का तनिक भी निग्रह कर लिया, उसने जन्म का फल पा लिया। इससे यह ध्वनित हुआ कि मनुष्य जन्म पाकर जो आत्मविचारपूर्वक मनोनिग्रह नहीं करता, उसका जन्म निष्फल है ॥१॥

विचार एवं चित्तनिग्रह का जन्म की सफलता में उपयोग बतलाते हैं।

श्रीरामजी, यदि हृदय में पूर्वोक्त इस विचाररूपी कल्पवृक्ष का कोमल अंकुर प्रस्फुरित हो जाय, तो वही अंकुर अभ्यासयोग से सैकड़ों शाखाओं में फैल जाता है ॥२॥ जिसने वैराग्यपूर्वक कुछ प्रौढ़-विचार कर लिया है, उस नररत्न का तो पूर्वोक्त शम, दम आदि शुद्ध गुण उस प्रकार आश्रय करते हैं, जिस प्रकार जल से परिपूर्ण सरोवर का पक्षी और मत्स्य आश्रय करते हैं ॥३॥ श्रीरामजी, भली प्रकार आत्म-विचार से युक्त तथा स्वस्वरूप परब्रह्म का अवलोकन करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे मेधावी विद्वान् को प्रचय और प्रकर्ष से विख्यात भी हिरण्यगर्भपद आदि अविद्याकार्यरूप वैभव लुब्ध नहीं करते ॥४॥ आत्मा के यथार्थ ज्ञान से जिसकी बुद्धि परिष्कृत हो गई है, उस महात्मा को यहाँ विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि ये सब कौन विकार उत्पन्न कर सकते हैं अर्थात् कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि वह निर्विकार आत्म-स्वरूप है ॥५॥

हिरण्यगर्भ आदि के वैभव वीतराग महात्मा को लुब्ध करने में समर्थ नहीं हैं, इसी विषय को अन्योक्तियों से दृढ़ करते हैं।

हे भद्र श्रीरामजी, भला बतलाइए तो सही कि खूब चल रहे पवनों से व्याप्त तथा विद्युत्-समुह से श्वेतरक्त प्रलय काल का पुष्करावर्तनामक मेघ का बालकों की मुष्टियों से कहीं ग्रहण हुआ है ? ॥६॥ श्रीरामजी, भला बतलाइए कि क्या विकासरम्य रात्रि-कमलों से अपने नेत्रों का पराभव हो जायेगा, इस शंका से मुग्ध अंगनाओं ने सुन्दर मणिमय पिटारियों में कमल-विकास में हेतुभूत गगन-मध्यगत चन्द्रमा कहीं बद्ध किया ? ॥७॥ श्रीरामजी, भला बतलाइए कि गण्डस्थलों से चलायमान भ्रमरमण्डलरूप नील कमल जिनके मस्तकों में हैं, ऐसे हाथियों का मुग्ध अंगनाओं के श्वासों के द्वारा गजवध के लिए प्रेरित होने के कारण उत्साहरम्य मच्छरों ने कहाँ मन्थन किया ? ॥८॥ अपने से विदारित हुए मत्त गजों के मुक्ताफलों की कान्तियों से सुशोभित हो रहे जिनके नखपंजर है, ऐसे युद्ध में निपुण सिंह हरिणों के द्वारा कहीं मर्दित हुए हैं ? ॥९॥ विष की अधिकता के कारण अपने आप निकलनेवाले रस के सदृश स्वयं निकलनेवाले बड़े-बड़े विष-बिन्दुओं से अरण्यवृक्ष जिन्होंने दग्ध किये हैं, ऐसे क्षुधित अजगरों को कहीं क्षुद्र मेढ़कों ने निगल लिया ? ॥१०॥ जिसने चतुर्थ, पंचम आदि भूमिका प्राप्त कर ली है और जिसने ज्ञेय तत्त्व जान लिया है, ऐसा विवेकी वीर विद्वान्,

जो आगे की भूमिकाओं के ऊपर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील है, विषय तथा इन्द्रियरूपी चोरों के द्वारा कहीं पर अभिभूत हो सकता है ? ॥११॥

अतः जिनका चित्त परिपक्व नहीं हुआ है, वे पहले की भूमिकाओं में ही विघ्नों से आक्रान्त होते हैं, आगे की भूमिकाओं में जा ही नहीं पाते, ऐसा कहते हैं ।

विषयरूपी शत्रु अप्रौढ़ विचारबुद्धि का उस प्रकार अपहरण कर डालते हैं, जिस प्रकार प्रचण्ड पवन छिन्नवृन्त (छिन्नआश्रय) लता का अपहरण कर डालते हैं ॥१२॥ जिस प्रकार अवान्तर कल्पों के क्षोभों में महान् धीर होकर रहनेवाले मेरु आदि पर्वतों का उच्चाटन करने में मन्द पवन समर्थ नहीं होते, उस प्रकार प्रौढ़ताप्राप्त विवेक के लवमात्र का भी विनाश करने में दुष्ट राग आदि वृत्तियाँ समर्थ नहीं होती ॥१३॥ श्रीरामजी, जिसने दृढ़मूल ग्रहण नहीं किया है, ऐसे विचाररूपी पुष्प वृक्ष को चिन्तारूपी झंझावात कँपा देते हैं, परन्तु चारों ओर की सुदृढ़ स्थिति से भली प्रकार सुस्थित हुए विचाररूपी पुष्पवृक्ष को नहीं कँपाते ॥१४॥

अतएव विचार के विच्छेद काल में प्रमाद से राग आदि रूप मृत्यु से यह आक्रान्त होता है, इस आशय से कहते हैं ।

जिस पुरुष का अन्तःकरण जब जाते या बैठते, जागते या सोते, इन सभी अवस्थाओं में आत्मविचार से ओतप्रोत नहीं रहता, तब वह मृत कहा जाता है ॥१५॥ श्रीरामजी, इस जगत् का स्वरूप क्या होगा ? इस देह का स्वरूप क्या होगा यों निरन्तर धीरे-धीरे एकान्त में या स्वयं अकेले या गुरु, सज्जन महात्मा आदि के साथ अध्यात्मदृष्टि से विचार कीजिए ॥१६॥

विचार करने से फल अवश्य होता है, यह कहते हैं ।

प्रमादरूपी अन्धकार का अपहरण करनेवाले आत्मविचार से तत्काल ही सर्वातिशायी निर्मल ब्रह्मरूप पद उस प्रकार दिखाई पड़ता है, जिस प्रकार प्रकाशमान दीपक से घटादि वस्तु दिखाई पड़ती है ॥१७॥

ज्ञान से दो फल होते हैं, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, आत्मस्वरूप के विज्ञान से समस्त दुःखों का विनाश उस प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश के द्वारा मनोरंजन करनेवाले सूर्य से अंधकार का विनाश हो जाता है ॥१८॥ जब ज्ञान अपनी प्रकाशरूपता प्राप्त कर लेता है, तब ज्ञेय ब्रह्म का पूर्ण रूप से उदय उस प्रकार स्वतः हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य का अभ्युदय हो जाने पर भूभाग पर विमल प्रकाश का उदय स्वतः हो जाता है ॥१९॥

ज्ञान का स्वरूप बतलाते हैं ।

श्रीरामजी, जिस शास्त्रसम्बन्धी विचार से ब्रह्मस्वरूप अवगत हो जाता है, वही शास्त्रीय भाषा में ज्ञान कहा जाता है । ज्ञेय ब्रह्म का आकाररूप और भेद का बाधरूप होने के कारण ज्ञेय ब्रह्म से वह अभिन्न ही बनकर दृढ़ प्रतिष्ठित रहता है ॥२०॥ हे भद्र, पण्डित लोग आत्मविचार से उत्पन्न आत्मविज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं । उसी ज्ञान के अन्दर ज्ञेय उस प्रकार प्रच्छन्न रहता है, जिस प्रकार दूध के अन्दर माधुर्य प्रच्छन्न रहता है ॥२१॥ जैसे मैरेय (मदिराविशेष) पी लेनेवाला पुरुष

सदा मदप्रचुर रहता है, वैसे सम्यक् ज्ञानरूपी सुंदर प्रकाश से युक्त पुरुष स्वयं अनुभूयमान ब्रह्मानंद से प्रचुर रहता है ॥२२॥ जिसका स्वरूप सैन्धव घन की नाईं एकरस है, ऐसा निर्मल पर ब्रह्म ही ज्ञेय कहा जाता है । वह ज्ञेयरूप ब्रह्मज्ञान के आविर्भावमात्र से ही स्वयं समस्त अविद्या और उसके कार्यरूपी मलों से निर्मुक्त हो जाता है ॥२३॥ ज्ञानसम्पन्न तथा आनन्द प्राप्त विद्वान् किसी भी विषय में लिप्त नहीं होता । समस्त संगों से निर्मुक्त एवं जीवन्मुक्त वह ज्ञानी, राजाधिराज सम्राट् की आत्मा की नाईं, परिपूर्ण मनोरथ होकर स्थित रहता है ॥२४॥

रागीजनों द्वारा स्पृहणीय भावों में उस विद्वान की अनासक्ति बतलाते हैं ।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञ पुरुष है, वह वीणा, बाँसुरी की मधुरध्वनि आदि मनोहर शब्दों में, कामिनियों के शृंगाररस मिश्रित कमनीय गीतों में; वसन्तकाल में मदमत्त हुए भ्रमरों की गुंजार ध्वनियों में, वर्षा के विस्तार से जनित पुष्पों में, मेघों के गर्जनों में; मयूरों के ताण्डव नृत्यों तथा उनकी मधुर कूकध्वनियों में, शब्द किये हुए मेघों के खण्डों में, सरोवरस्थ सारस पक्षियों के श्रवणप्रिय, शब्दों में; करताल आदि वाद्यविशेषों में, चमड़े से मढ़े गये गम्भीर मृदंग आदि वाद्यों में, तन्त्री से निर्मित वीणा आदि, भीतर के छिद्र से युक्त बाँसुरी आदि तथा चित्र विचित्र कांस्यताल आदि वाद्यों की ध्वनियों में; कहीं पर भी चित्त नहीं लगाता, श्रीरामजी, चाहे ध्वनि रूक्ष हो चाहे मधुर, कहीं भी यह उस प्रकार प्रेम नहीं करता, जिस प्रकार कमलों में चन्द्रमा प्रेम नहीं करता ॥२५–२९॥ भद्र, आसक्तिवर्जित ज्ञानी पुरुष कोमल कदली के स्तम्भों की पल्लवपंक्तियों से युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वों की कन्याओं के अंगों के सदृश अतिकोमल अवयववाली लताओं से युक्त नन्दनवन की क्रीड़ाओं में कहीं किसी समय भी चित्त नहीं लगाता । हे श्रीरामजी, जिस प्रकार हंस मरुभूमि में भोग की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषयों में भी आसक्ति नहीं रखनेवाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषय में भोग की इच्छा नहीं करता ॥३०,३१॥ ज्ञानवान् पुरुष पिण्डखजूर (एक प्रकार की खजूर) कदम्ब, कटहल, द्राक्ष, खरबूजा, अखरोट, बिम्ब (कुँदरू) तथा नारंगी आदि जाति के फलों में; मद्य, मधु, मैरेय, माध्वीक, आसव आदि मद्यविशेषों में; दही, दूध, घी, आमिक्षा (गर्म दूध में दही डालने से पिंडीभूत द्रव्य), मक्खन, ओदन (भात) आदि भोज्य पदार्थों में; लेह्य, पेय आदि विलास–पूर्ण चित्र–विचित्र छः प्रकार के रसों में; अन्यान्य फल, कन्दमूल, शाक एवं मांस आदि पदार्थों में कहीं पर चित्त नहीं लगाता । वह तृप्तस्वरूप एवं असक्तमति है, अतः वह भोग्य पदार्थों में उस प्रकार प्रवृत्त नहीं होता, जिस प्रकार आस्वादन में प्रेम रखनेवाला ब्राह्मण अपने शरीर के टुकड़ों में प्रवृत्त नहीं होता ॥३२–३४॥ श्रीरामजी जो ज्ञानी श्रीमान् महात्मा है, वह यमराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायु के स्थानों में; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वत के पल्लव समूहों से युक्त शिखरों में; चन्द्रबिम्ब की कला आदि में, दिव्य शरीरसम्पत्ति से क्रियमाण क्रीड़ाओं से युक्त कल्पवृक्षों के निकुंजों में; रत्नयुक्त सुवर्णभित्ति से निर्मित मोति और मणिप्रचुर सुन्दर घरों में; तिलोत्तमा, ऊर्वशी, रम्भा, मेनका आदि अंगलताओं में कहीं पर भी असक्तमति होने के कारण दृष्टिपात नहीं चाहता, वह परिपूर्ण, मौनी एवं शत्रुओं के विषय में अचल है यानी द्वेष से कम्पित नहीं होता ॥३५–३९॥ जो समबुद्धि, प्रिय, अप्रिय सब स्थानों में समदृष्टि रखनेवाला

तथा अप्रिय में क्षोभशून्य ज्ञानवान् पुरुष है, वह कनेर, मन्दार , कल्हार, कमल आदि में; कुईं, नील कमल, चंपा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पों में; कदम्ब, आम्र, जामुन, पलाश एवं अशोक वृक्षों में; जपा, माधवी, बेर, बिम्ब, पाटल तथा चमेली आदि में; चन्दन, अगर, कपूर, लाह एवं कस्तुरी में; केसर, लवंग, एला, कंकोल (शीतल चीनी के वृक्ष का भेद), तगर आदि अंगरागों में से किसी की सुगन्ध में प्रेम उस प्रकार नहीं करता, जिस प्रकार मदिरा की गन्ध में श्रोत्रिय द्विज प्रेम नहीं करता ॥४०-४३॥

इसी प्रकार भयजन्य ध्वनियों में उसको भय नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

गड़गड़ाहट ध्वनि से युक्त सागर , प्रतिध्वनिरूप आकाशजनित शब्द के, पर्वत में सिंहों के गर्जनों के होने पर ज्ञानी तनिक भी क्षुब्ध नहीं होता ॥४४॥ शत्रुओं के नगारे आदि के शब्दों से, डमरू के शब्द से, कर्ण कटु धनुष के टंकार से ज्ञानी तनिक भी भयभीत नहीं होता ॥४५॥ मदोन्मत्त हाथियों के चिंघाड़ने के शब्द, वेतालों की कलह आदि ध्वनि तथा पिशाच एवं राक्षसों का सिंहनाद होने पर ज्ञानी पुरुष जरा भी कम्पित नहीं होता ॥४६॥ जो परब्रह्म में ध्यान लगानेवाला विद्वान् है, वह वज्र के भयावह शब्द से, पर्वत के विस्फोट से एवं ऐरावत के चिंघाड़ने से कम्पित नहीं होता ॥४७॥ ज्ञानी पुरुष चल रहे आरे के घर्षण से, चमचमाती हुई तलवार के विदलन से, बाण एवं वज्र के सम्पात से अपनी स्वरूपस्थितिरूप समाधि से विचलित नहीं होता ॥४८॥ ज्ञानी पुरुष वाटिका में न आनन्द प्राप्त करता है और न तो खेद। एवं मरुभूमि में न खेद प्राप्त करता है और न तो आनन्द ॥४९॥ भस्म से रहित उज्जवल अंगारों के सदृश असह्य बालू से युक्त मरुप्रदेशों में, पुष्पों के समूहों से आच्छादित मृदु घासमय भूमियों में, तीक्ष्ण छुरे की धारों में, नवीन कमलों से निर्मित शय्याओं में, उन्नत पर्वत के प्रदेशों में, कुओं के अन्दर की निम्न भूमियों में सूर्यकिरणों से प्रतप्त शिलाओं में, कोमल ललनाओं में, संपत्तियों में, उग्र विपत्तियों में, क्रीड़ाओं में तथा उत्सवों में विहार कह रहा भी ज्ञानी न उद्वेग प्राप्त करता है और न तो आनन्द प्राप्त करता है। वह भीतर से सदा मुक्त और बाहर से कर्मकर्ता की नाईं स्थित रहता है ॥५०-५३॥ ज्ञानी पुरुष महर्षि माण्डव्य की नाईं प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त हुई अंगों को संकुचित करनेवाली नरक की अरण्यभूमियों में, जहाँ पर एक दूसरों के द्वारा अनेक बर्छी तोमर आदि शस्त्रविशेषों की वृष्टि हो रही है, न भयभीत होता है, न व्याकुल होता है और न तो दीन होता है, परन्तु वह सम, स्वस्थमन, मौनी और धीर होकर पर्वत की नाईं अटल रहता है ॥५४,५५॥ ज्ञानी पुरुष अपवित्र, अपथ्य, विषयुक्त, गोमय आदि मल, आर्द्र तथा रसवर्जित पदार्थों को खाकर भी तत्क्षण उस प्रकार पचा देता है, जिस प्रकार साधारण मनुष्य परिष्कृत अन्न को खाकर पचा देता है ॥५६॥ श्रीरामजी, जिसके अन्तःकरण में किसी प्रकार की विषयासक्ति नहीं है, वह तत्त्वज्ञ तत्क्षण बुद्धि का विनाश करनेवाला बिम्ब का फल (कुन्दरू का फल), विषप्राय सब ओर से कषाय लगनेवाला फल, क्षीर, इक्षुरस, जल और ओदन इन सब विषयों के आस्वादन में सम यानी तुल्यचित्त रहता है ॥५७॥

राक्षस, पिशाच आदि में भी जीवन्मुक्त हो सकते है, इसलिए उनका भी संग्रह करने के लिए तत्साधारण कहते हैं।

मैरेय (मद्यविशेष), मदिरा, क्षीर, रक्त, चरबी, आसव, रुक्ष हड्डी, तृण और केश इन सबसे ज्ञानी न प्रसन्न होता है और न तो कुपित ही होता है ॥५८॥

तत्त्वज्ञ की शत्रु और मित्र में समदृष्टि रहती है, ऐसा कहते हैं।

जीवन का विनाश करनेवाला तथा जीवन का दान देनेवाला इन दोनों पुरुषों को ज्ञानी पुरुष प्रसन्नता एवं मधुरता से शोभित दृष्टि से यानी समदृष्टि से देखता है ॥५९॥ ज्ञानवान् चिरस्थायी देवशरीर तथा कुछ काल तक स्थायी मर्त्य शरीर, एवं उनके भोग्य रमणीय तथा अरमणीय वस्तु इन सबके विषय में न हर्ष करता है और न तो ग्लानि करता है, क्योंकि उसकी समता की भावना सदा प्रदीप्त रहती है ॥६०॥ श्रीरामजी, अपने चित्त में आसक्ति का अभाव तथा विषयस्वरूप का भलीप्रकार ज्ञान हो जाने के कारण जगत की स्थिति में ज्ञानी आस्था नहीं रखता एवं मिथ्या विषय आस्था के अयोग्यरूप होने से ज्ञानी साधु पुरुष किसी भी समय किसी इन्द्रिय को विषयप्रवृत्ति के लिए अवसर नहीं देता, क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीड़ाओं से निर्मुक्त हो चुकी है ॥६१,६२॥

तब इन्द्रियाँ किसको निगल जाती हैं, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार हरिण पल्लव निगल जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान से शून्य विश्रान्ति से वर्जित, अप्राप्त– आत्मा तथा स्थिति शून्य मनुष्य को तत्काल निगल जाती है ॥६३॥ संसार–समुद्र में बह रहे, वासनारूपी वीचियों (गतिशील तरंग) से वेष्टित अतएव निरन्तर महान् क्रन्दन करने में तत्पर उस अज्ञानी को इन्द्रियरूपी मगर निगल जाते हैं ॥६४॥

लोभ आदि विकल्प भी आत्मज्ञ को विचलित नहीं करते, ऐसा कहते हैं।

जैसे जल प्रवाहों से पर्वत बहाया नहीं जा सकता, वैसे ही विचारवान्, एकमात्र ब्रह्मरूप पद में समासीन तथा आत्मा में बुद्धि की विश्रान्ति लेनेवाला महामति लोभ आदि विकल्प समूहों से बहाया नहीं जा सकता ॥६५॥ समस्त संकल्पों की सीमा के अन्तभूत परम पद में जो महानुभाव विश्रान्ति कर चुके हैं, उस प्राप्त स्वरूप महात्माओं की दृष्टि में मेरु पर्वत ही तृण के सदृश है ॥६६॥ श्रीरामजी, जिन महात्माओं का चित्त परिपूर्ण आत्माकार के प्रतिफलन से विशाल हो गया है, उनकी दृष्टि में जगत्, जीर्ण तिनके का टुकड़ा, विष, अमृत, क्षण और हजारों कल्प ये सभी समानरूप हैं ॥६७॥ जगत् चिन्मात्रस्वरूप है, यों जानकर ये प्रमुदितमति तथा समस्त जगत् में आन्तर प्रत्यगात्मरूपता के अवलोकन से अन्तःस्थ जगत्–वाले महात्मा संविन्मय होकर सर्वत्र विहार करते हैं ॥६८॥ संविन्मात्र के परिस्पन्दनस्वरूप जगत् के पिंजड़े में क्या हेय और क्या उपादेय हो सकता है ? अर्थात् न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय है, यह तत्त्वज्ञों का मत है ॥६९॥ हे पापशून्य श्रीरामजी, यह समस्त जगत् संवितात्मक ही है, अतः आप अन्यता–भ्रान्ति का परित्याग कर दीजिए। जो प्रकाशात्मक चित्प्रचुर स्वरूपवाला तत्त्व है, वह क्या त्यागेगा और क्या ग्रहण करेगा ? ॥७०॥ भूतकालीन पदार्थों में किसी की इच्छा नहीं होती, अतः अज्ञानीरूपी हरिणों के द्वारा वर्तमानकालीन जो कुछ भूमि से पल्लवांकुरप्राय पदार्थ उत्पन्न होते है और भविष्यत्कालीन जो कुछ भूमि से पल्लवांकुररूप पदार्थ उत्पन्न होनेवाले हैं, ये ही स्पृहणी हैं, उन सबका जैसे तत्त्वज्ञ की दृष्टि से संविद्रूप से प्रथन होता है, वैसे ही आकाशादि तत्त्वों के अंकुर की नाईं स्थित शब्द, स्पर्श आदि

अन्य विषयों का भी तत्त्वज्ञ की दृष्टि से संविद्रूप से ही प्रथन होता है ॥७१॥

प्रतिपादित अर्थ की सिद्धि में युक्ति बतलाते हैं।

श्रीरामजी, जिसकी आदि और अन्त में अस्तिता है नहीं; उसकी यदि वर्तमान काल में यानी बीच में कुछ-काल तक सत्ता देखी जाय तो वह संवित् का एक भ्रम ही है ॥७२॥ श्रीरामभद्र, इस उक्त अर्थ का युक्तिपूर्वक मनन से दृढ़ीकरण कर तथा 'यह भावरूप है और यह अभावरूप है' इस प्रकार विकल्पयुक्त मति का त्यागकर भाव के बाधस्वरूप ब्रह्म में प्राप्त होकर आप संगशून्य प्रकाशमान संविद्रूप हो जाइए ॥७३॥ शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्ति दोष से वर्जित इन्द्रियों से व्युत्थानकाल में चाहे कर्म करे या समाधिकाल में चाहे न करे, ज्ञानी असंग होने के कारण कर्म या अकर्म किसी से लिप्त नहीं होता ॥७४॥ हे महाबाहो, जिस प्रकार कोई भी मनोराज्य की संपत्तियों के नष्ट होने या न होने पर, तज्जनित सुखदुःखों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संगरहित मन से कर्मानुष्ठान करे, चाहे न करे, तज्जनित सुख दुःखों से लिप्त नहीं होता ॥७५॥ आत्मा में अकर्तापन और अभोक्तापन का अनुभव हो जाने के कारण बुद्धि को वीतसंग बना रहा तथा शरीर आदि उपकरणों से व्यवहार निरत हो रहा भी ज्ञानी सुखदुःखात्मक अनुकूल प्रतिकूल भावों से उस तरह लिप्त नहीं होता, जिस तरह मनोराज्य के वैभवों के आगमापायों से अज्ञानी लिप्त नहीं होता ॥७६॥ विषयों के साथ संसर्ग से शून्य अन्तःकरणवाला महात्मा चक्षु से विषयों को देख रहा भी उन्हें नहीं देखता, क्योंकि उसका चित्त तो अन्यत्र परब्रह्म में लगा हुआ है। जिसका चित्त अन्यत्र रहता है, वह विषय नहीं देखता, यह बात बालक को भी ज्ञात है ॥७७॥ विषयसंग से शून्य मनवाला प्राणी सुनता हुआ भी नहीं सुनता, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता। इस अर्थ की प्रतिपादक श्रुति भी है - 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (अन्यत्र मना था, अतएव मैंने नहीं देखा, अन्यत्रमना था, अतएव मैंने नहीं सुना) ॥७८॥ यह अन्यत्रमना योगी भली प्रकार सूँघ रहा भी नहीं सूँघता, नेत्र उन्मीलित कर रहा भी उन्मीलित नहीं करता, पदार्थों में यानी अपने अपने विषयों में संस्कारवश कर्मेन्द्रियों के संसृत होने पर भी यह संसृत नहीं होता ॥७९॥ भद्र जिनका मन अन्यत्र चला गया है, ऐसे अपने घर में रहनेवाले मूर्ख एवं अप्रौढ़मति बालक, पशु आदि इस विषय का यानी देख रहा भी नहीं देखता आदि उक्त अर्थ का अनुभव करते हैं, इस विषय में उनको किसी प्रकार का विवाद नहीं है ॥८०॥

इन पूर्वोक्त वाक्यों से यह निष्कर्ष निकला कि आसक्तिपूर्वक पदार्थों का अनुभव करना ही बन्धन में हेतु है, वह आसक्तिशून्य ज्ञानी को होता नहीं, इस आशय से कहते हैं।

आसक्ति ही संसार की कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थों की हेतु है, आसक्ति ही रम्य विषयों की अभिलाषाओं की जनक है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियों की उत्पादिका है ॥८१॥ हे निर्मल श्रीरामजी, संगपरित्याग मोक्ष (वर्तमान देह आदि से सम्बन्ध की निवृत्ति) है, यह महर्षियों का मन्तव्य है। संगत्याग से जन्म (भावी देहादिबन्धन) छूट जाता है, अतः आप पदार्थों का संसर्ग छोड़ दीजिए और जीवन्मुक्त हो जाइए ॥८२॥ श्रीरामजी ने कहा : अखिल संशयरूपी कुहरे के लिए शरत्काल के वायुरूप हे महामुने, संग किसे कहते हैं ? हे प्रभो, यह मुझसे कहिये ॥८३॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति तथा अप्राप्ति होने पर हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करनेवाली मलिन जो यह रागादि वासना है, वही संग है, ऐसा मुनि कहते हैं ॥८४॥ जीवन्मुक्त स्वरूपवाले तत्त्ववेत्ताओं को पुनर्जन्म न देनेवाली हर्ष एवं विषाद दोनों से निर्मुक्त शुद्ध वासना होती है ॥८५॥ रामभद्र, उस शुद्ध वासना का दूसरा नाम असंग है, इसे आप जानिये। वह तब रहती है, जब तक अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का विनाश नहीं हो जाता। उस वासना से जो कुछ किया जाता है, वह पुनःसंसार का कारण नहीं होता ॥८६॥ जो जीवन्मुक्त स्वरूप से सम्पन्न नहीं है एवं जो दीन एवं मूढ़मति हैं, उनकी वासना हर्ष तथा विषाद इन दोनों से मिली हुई रहती है, यह वासना बन्ध (संसार) देनेवाली होती है ॥८७॥ श्रीरामजी, इसी बन्धकारक वासना का दूसरा नाम संग है, यह पुनर्जन्म प्रदान करती है, इस वासना से जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धन का ही हेतु होता है ॥८८॥ श्रीरामजी, अपनी आत्मा में विकार पैदा करनेवाले उक्त स्वरूप के संग का त्यागकर यदि आप स्वस्थ होकर स्थित रहें, तो व्यवहार में व्यस्त होते हुए भी आप उससे लिप्त नहीं होंगे ॥८९॥ हे राघव, यदि हर्ष, अमर्ष एवं विषाद से आप अन्यरूपता प्राप्त नहीं करेंगे, तो राग, भय, और क्रोध से वर्जित होकर असंगरूप हो जायेंगे, यह निश्चित है ॥९०॥ हे राघव, यदि दुःखों से ग्लानि नहीं करते, सुखों से फूल नहीं जाते,तो आशाओं की परवशता का परित्याग कर असंग ही हो जायेंगे ॥९१॥ व्यवहारों एवं सुख–दुःख की अवस्थाओं में विचरण करते हुए भी आप यदि ब्रह्मैकरसता छोड़ते नहीं, तो आप असंग ही हैं ॥९२॥ हे राघव, संवेद्य पदार्थ चित्स्वभाव ही है, ज्ञान होने पर वह यदि आपको एकरूप लक्षित होता है और यदि आप जिस समय जैसे व्यवहार प्राप्त हुआ, तदनुसार वर्तन करते हैं, तो आप असंग हैं ॥९३॥ हे अनघ, असंगता ही बिना परिश्रम से सिद्ध हुई सुदृढ़ जीवन्मुक्त की अवस्था है, अतःउसका अवलम्बन कर आप एकरूप, स्वस्थ और वीतराग हो जाइए ॥९४॥ जीवन्मुक्तों के ज्ञान से सम्पन्न, मौनव्रतधारी और इन्द्रियरूपी पाशों को वश में रखनेवाला ज्ञानवान् आर्यपुरुष मान, मद और मात्सर्य से रहित तथा चिन्ताज्वर से शून्य होकर स्थित रहता है ॥९५॥ श्रीरामजी, भोग, विक्षेप आदि के हेतुभूत प्रचुरतर पदार्थों के सदा रहते हुए भी सबमें समानभाव रखनेवाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि दीनता से शून्य अन्तःकरणवाला यह महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम–प्राप्त व्यापार से पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता ॥९६॥ जो कुछ भी वर्णाश्रमानुसार परम्परा–प्राप्त अपना कर्तव्य रहता है, यह ज्ञानी उसी का क्रियाभिनिवेश और लाभ की अभिलाषा से वर्जित बुद्धि से खेद छोड़कर अनुष्ठान करता हुआ अपनी आत्मा में रमण करता है ॥९७॥ जिस प्रकार मन्दराचलपर्वत से मणित क्षीरप्रचुर वारिसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता, उस प्रकार आपत्ति पाकर अथवा उत्तम सम्पत्ति पाकर महामति तत्त्वज्ञ अपना पूर्वसिद्ध शम, दम, प्रसन्नता, समदर्शन आदि स्वभाव नहीं छोड़ता ॥९८॥ जैसे चन्द्रमा कलाओं की वृद्धि और कलाओं के ह्रास या उदय एवं अस्तमय काल में एकरूप रहते है, वैसे ही ज्ञानी साम्राज्य और दरिद्रता आदि आपत्ति तथा सर्पादि योनि अथवा देवताओं की स्वामिता प्राप्त कर खेदशून्य तथा हर्षशून्य होकर एक रूप से स्थित रहता है ॥९९॥

बतलाये गये लक्षणों से युक्त जीवन्मुक्तिरूपी सुख की प्राप्ति राग, द्वेष और भेदवासना के विनाश तथा ज्ञान के अभ्यास से युक्त आत्मविचार ही उपाय है, इसलिए उसी का श्रीरामचन्द्रजी, को उपदेश दे रहे महर्षि वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, मन में दीनता को त्याग आप क्रोध, आत्मा और अनात्मा के भेद व नानाफलक तुच्छस्वरूप कर्मों के त्यागपूर्वक आत्मा का विचार कीजिए, जिससे उत्तम कार्य निष्ठ हो जाय यानी अवश्य संपादन करने के लिए योग्य अंतिम पुरुषार्थ में स्थित हो जाय ॥१००॥ श्रीरामजी, उक्त आत्मविचार के द्वारा प्राप्त समाधि के विलास से समस्त वासनाओं का विनाश हो जाने से अतिस्वच्छ, समाधिगत आत्मतत्त्वरूप अवश्य दृष्टव्य पदार्थ से युक्त तथा विद्या और अविद्याकार्य के विनाश में समर्थ होने के कारण दीप्त बुद्धि से दुःखवर्जित निरतिशयात्मक सुखस्वरूप परमपद का अवलंबन कर आप अवस्थित हो जाइए।

परमपद का अवलम्बन करने से पुनरावृत्ति की शंका नहीं रह जाती, ऐसा कहते हैं।

भद्र, आप फिर इस संसार में जन्मों के बंधनों से बद्ध न होंगे। इससे एकमात्र तत्त्वसाक्षात्कार से ही अविद्या और उसके कार्यरूप समस्त अनर्थों के उपशम के अनंतर नित्य निरतिशयआनंदस्वरूप में प्रतिष्ठा होती है, यह सिद्ध हुआ ॥१०१॥

तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

इति श्री योगवासिष्ठ हिन्दीभाषानुवाद में उपशम प्रकरण समाप्त।

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

भाग-२

(स्थिति प्रकरण और उपशम प्रकरण)

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

श्री योग वेदान्त सेवा समिति

संत श्री आसारामजी आश्रम

संत श्री आसारामजी बापू आश्रम मार्ग, अमदावाद-380005. फोन : (079) 27505010-11.

आश्रम रोड, जहाँगीरपुरा, सूरत-395005. फोन : (0261) 2772201-2.

वन्दे मातरम् रोड, रवीन्द्र रंगशाला के सामने, नई दिल्ली-60. फोन : (011) 25729338, 25764161.

पेरूबाग, गोरेगाँव (पूर्व), मुंबई- 400063. फोन : (022) 26864143-44.

e-mail : ashramindia@ashram.org web-site : www.ashram.org

रु. 115.00

श्री योगवासिष्ठ महारामायण विषय-सूची

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

विषय सूची | II से VIII तक

स्थिति प्रकरण

सर्ग	विषय	पृष्ठ क्रमांक

उपशम प्रकरण